The Hindu Philosophy of Life, Ethics and Religion

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र

गीताकी बहिरंगपरीक्षा, मूल संस्कृत श्लोक, भाषा-अनुवाद, अर्थ-निर्णायक टिप्पणियाँ, पूर्वी और पश्चिमी मतोंकी तुलना, इत्यादिसहित ।

लेखक

लो. बाल गंगाधर तिलक

अनुवाद

श्रीमान् माधवरावजी सप्रे

पंद्रहवाँ संस्करण

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
—गीता ३.१९

शके १९१० : सन् १९८८

मूल्य १०० रुपये

प्रकाशक
दी ज तिलक
शै श्री. तिलक
५६८ नारायण पेठ,
लो तिलक-मंदिर,
पूना - ४११ ०३०

मुद्रक
गीता प्रिंटर्स
५६८ नारायण पेठ
पुणे-३०

। अथ समर्पणम् ।

श्रीगीतार्थः क्व गंभीरः व्याख्यातः कविभिः पुरा ।
आचार्यैर्यश्च बहुधा क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥

तथापि चापलादस्मि वक्तुं तं पुनरुद्यतः ।
शास्त्रार्थान् संमुखीकृत्य प्रयत्नान् नव्यैः सहोचितैः ॥

तमार्याः श्रोतुमर्हन्ति कार्याकार्य-दिदृक्षवः ।
एवं विज्ञाप्य सुजनान् कालिदासाक्षरैः प्रियैः ॥

बालो गंगाधरिश्चाऽहं तिलकान्वयजो द्विजः ।
महाराष्ट्रे पुण्यपुरे वसन् शांडिल्यगोत्रभृत् ॥

शाके मुन्यग्निवसुभू-संमिते शालिवाहने ।
अनुसृत्य सतां मार्गं स्मरंश्चापि वचो* हरेः ॥

समर्पये ग्रंथमिमं श्रीशाय जनतात्मने ।
अनेन प्रीयतां देवो भगवान् पुरुषः परः ॥

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
— गीता ९. २७

गीतारहस्यके भिन्न भिन्न संस्करण

मराठी –	पहला	संस्करण	जून १९१५
	दूसरा	"	सितंबर १९१५
	तीसरा	"	१९१८
	चौथा	"	१९२३
	पाँचवाँ	"	(दो भागोंमें पहला संस्करण १९२४-१९२६
	छठा	"	१९५०
	सातवाँ	"	१९५६
	आठवाँ	"	१९६३
	नवाँ	"	१९६८
	दसवाँ	"	१९७१
	ग्यारहवाँ	"	१९७६
	बारहवाँ	"	१९७९
	तेरहवाँ	"	१९८०
	चौदहवाँ	"	१९८२
	पंधरहवाँ	"	१९८६
हिन्दी –	पहला	"	१९१७
	दूसरा	संस्करण	१९१८
	तीसरा	"	१९१९
	चौथा	"	१९२४
	पाँचवाँ	"	१९२५
		(दो भागोंमें पहला संस्करण)	१९२६
	छठा	"	१९२८
	सातवाँ	"	१९३३
	आठवाँ	"	१९४८
	नवाँ	"	१९५०
	दसवाँ	"	१९५५
	ग्यारहवाँ	"	१९५९
	बारहवाँ	"	१९६२
	तेरहवाँ	"	१९६५
	चौदहवाँ	"	१९६९
	पंद्रहवाँ	"	१९७३
	सोलहवाँ	"	१९७५
	सत्रहवाँ	"	१९७६
	अठारहवाँ	"	१९७८
	उन्नीसवाँ	"	१९८०
	बीसवाँ	"	१९८२
	इक्कीसवाँ	"	१९८४
	बाईसवाँ	"	१९८८
गुजराती –	पहला	"	१९१७
	दूसरा	"	१९३४
	तीसरा	"	१९५६
	चौथा	"	१९७३

भारतीय आध्यात्मिकताका सुमधुर फल

"प्रत्यक्ष अनुभवसे यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युगमेंभी उतनीही नव्यतापूर्ण एव स्फूर्तिदात्री है, जितनीकी महाभारतमें समाविष्ट होते समय थी। गीताके सदेशका प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चाका विषय नही है, अपितु आचार-विचारोंके क्षेत्रमेभी वह सदैव जीता-जागता प्रतीत होता है। एक राष्ट्र तथा सस्कृतिका पुनरुज्जीवन, गीताका उपदेश, करता रहा है। ससारके अत्युच्च शास्त्रविषयक ग्रथोमें गीताका अविरोधसे समावेश हुआ है। गीता-ग्रथ-पर स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजीकी यह व्याख्या निरी मल्लीनाथी व्याख्या नही है, वह एक स्वतत्र प्रबध है और उसमें नैतिक सत्यका उचित निरूपणभी है। अपनी सूक्ष्म और व्यापक विचारप्रणाली तथा प्रभावोत्पादक लेखनशैलीके कारण मराठी भाषाकी पहली श्रेणीका

बाबू अरविंद घोष

यह पहला प्रचड गद्य-ग्रथ अभिजात वाङ्मयमें समाविष्ट हुआ है। इस एकही ग्रथसे सिद्ध होता है, कि यदि तिलकजी चाहते, तो मराठी साहित्य और नीतिशास्त्रके इतिहासमे एक अनोखा स्थान पा सकते। किंतु विधाताने उनकी महत्ताके लिये वाङ्मय-क्षेत्र नहीं रखा था, इसलिये केवल मनोरजनार्थ उन्होंने अनुसधानका महान् कार्य किया। यह घटना अर्थपूर्ण है, कि उनकी कीर्ति अजरामर करनेवाले उनके अनुसधान-ग्रथ, उनके जीवितकार्योंसे विवशतापूर्वक लिये गये विश्रांति-कालमे निर्मित हुए हैं। स्वर्गीय तिलकजीकी प्रतिभाके ये गौण आविष्कारभी इस हेतुसे सबद्ध है, कि इस राष्ट्रका महान् भवितव्य उसके उज्ज्वल गतेतिहासके योग्य हो। गीतारहस्यका विषय जो गीता-ग्रथ है, वह भारतीय आध्यात्मिकताका परिपक्व सुमधुर फल है। मानवी श्रम, जीवन और कर्मकी महिमाका उपदेश अपनी अधिकारवाणीसे देकर, सच्चे अध्यात्मका सनातन सदेश गीता दे रही है, जो कि आधुनिक कालके ध्येयवादके लिये आवश्यक है।"

— बाबू अरविंद घोष

दिव्य 'टीका'-मौक्तिक

"अपनी बाल्यावस्थामेंही मुझे ऐसे शास्त्रीय ग्रथकी आवश्यकता प्रतीत हुई, कि जो जीवितावस्थाके मोह तथा कसौटीके समय मेरा अचूक मार्गदर्शन करे। मैंने कही पढा था, कि केवल सात सौ श्लोकोमें गीताने सारे शास्त्रोका और उपनिषदोका सार – गागरमें सागर – भर दिया है। मेरे मनका निश्चय हुआ। गीता-पठनके उद्देश्यसे मैंने सस्कृतका अध्ययन किया। गीता मेरा बाइबल या कुराणही नही, बल्कि प्रत्यक्ष माताही है। अपनी लौकिक मातासे तो कई दिनोंसे मै बिछुडा हूँ, किंतु तभीसे गीतामैयाने मेरे जीवनमें माताका स्थान ग्रहण कर लिया है। आपत्कालमें वही मेरा सहारा है।

महात्मा गाधी

स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी अपने अभ्यास एव विद्वत्ताके ज्ञानसागरसे, 'गीताप्रसाद'के बलपरही, यह दिव्य 'टीका'-मौक्तिक पा सके। बुद्धिसे खोज निकालनेके व्यापक सत्यका भडारही उन्हे गीतामें प्राप्त हुआ।

गीतापर तिलकजीकी यह टीकाही उनका शाश्वत स्मारक है। स्वतत्रताके युद्धमें विजयश्री प्राप्त होनेपरभी वह सदाके लिये बनाही रहेगा। भविष्यमेंभी, तिलकजीका विशुद्ध चारित्र्य और गीतापर उनकी महान् टीका, इन दोनो बातोंसे उनकी स्मृति चिरप्रेरक होगी। उनके जीवन-कालमें अथवा साप्रतभी ऐसा कोई व्यक्ति मिलना असभव है, जिसका उनसे अधिक व्यापक और गहरा शास्त्रज्ञान हो। गीतापर उनकी जो अधिकारयुक्त टीका है, उससे अधिक अच्छे और मौलिक ग्रथकी निर्मिति न अभीतक हुई है और न निकट भविष्यमें उसके होनेकीभी सभवना है। गीता और वेदसे उत्पन्न समस्याओका तिलकजीने जिस शास्त्रीय रीतीसे निराकरण किया है, आजतक उससे अधिक शोध-कार्य किसीनेभी नही किया है। अथाह विद्वत्ता, असीम स्वार्थत्याग और आजन्म देशसेवाके कारण जनताजनार्दनके हृन्मंदिरमे तिलकजीने अद्वितीय स्थान पा लिया है।"

– महात्मा गांधी

(वाराणसी-कानपुरके अभिभाषण)

प्रकाशकोंका निवेदन

हमारे पितामह स्वर्गीय लोकमान्य बाल गगाधर तिलक महोदय प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र ग्रथका बाइसवाँ सस्करण प्रकाशित करने का सुअवसर आज प्राप्त हुआ है । इसके तीन सस्करण लोकमान्यजीके जीवनकालमेंही प्रसिद्ध हो चुके थे । चतुर्थ सस्करणमें इस ग्रथका थोडेमें इतिहास दिया था । यहाँभी इसको दुहराना हम उचित मानते हैं ।

यह सर्वत्र सुविदितही है, कि यह गीतारहस्य ग्रथ लो तिलक महोदयने ब्रह्मदेश (बर्मा) के मडाले नगरके कारागृह-वासके समय लिखा था । हमारे पासकी इस ग्रथकी पेन्सिलने लिखी हुई मूल चार हस्तलिखित बहियोंसे ज्ञात होता है कि मडालेमें दि २ नवबर सन् १९१० को इस ग्रथके लेखनका आरभ करके, लगभग ९०० पृष्ठों के इस सपूर्ण ग्रथका लेखन दि ३० मार्च १९११ के रोज, अर्थात् केवल पाच महीनोंमें, उन्होंने पूर्ण कर दिया । सोमवार दि ८ जून १९१४ के रोज लोकमान्य महोदयकी मडालेके कारागृहसे मुक्तता हुई । वहाँसे पूना लौट आनेपर कई सप्ताहोंतक राह देखनेपरभी, मडालेके कारागृहके अधिकारीको सौपे गये गीतारहस्यके हस्तलिखितोंको जल्द लौटा देनेका सरकारका इरादा नहीं पडा । ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों सरकारके हेतुके बारेमें लोग अधिकाधिक साशंक होते गये और कोई कोई तो आखिर स्पष्ट कहने लगे, "कि सरकारका लक्षण कुछ ठीक नहीं लगता, मालूम होता है, बहियाँ न देनेका विचार है।" ऐसे शब्द जब किसीके मुँहसे लोकमान्यजी सुनते थे, तब वे कहा करते थे, कि "डरनेका कोई कारण नहीं । यद्यपि बहियाँ सरकारके पास हैं, तोभी ग्रथका एक-एक शब्द मेरे मस्तिष्कमें है । विश्रामके समय 'सिंहगढ' किलेपर जाकर अपने बगलेमें बैठकर मैं फिरसे ग्रथ यथापूर्व लिख डालूँगा ।" आत्मविश्वासकी यह तेजस्वी भाषा ढलती उम्रवाले अर्थात् ६० वर्षके वयोवृद्ध गृहस्थकी है, और ग्रथभी मामूली नहीं, बल्कि गहन तत्त्वज्ञानविषयक पूरे ९०० पृष्ठोंका है । इन बातोंपर ध्यान देनेसे लोकमान्य महोदयके प्रवृत्तिप्रधान प्रयत्नवादकी यथार्थ कल्पना त्वरित की जा सकती है । सौभाग्य से तदनतर जल्दीही सरकारसे सभी बहियाँ सुरक्षित प्राप्त हुई, और लोकमान्यके जीवन-कालमेंही इस ग्रथके तीन हिंदी सस्करण प्रकाशित हुए ।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है, कि गीतारहस्यका मूल हस्तलिखित चार बहियोंके सबधमें अधिक जानकारी इस प्रकार है –

वही	विषय	पृष्ठ	लेखन-काल
१	रहस्य प्र १ से ८	१ से ४१३	२ नवबर १९१० से ८ दिसबर १९१०
२	रहस्य प्र ९ से १३	१ से ४०२	१३ दिसबर १९१० से १५ जनवारी १९११

३	रहस्य प्र १४ से १५	१ से १४७	
	बहिरगपरीक्षण	१५१ से २४४	१५ जनवरी १९११
		४०१ से ४१२	से
		२४५ से २४७	३० जनवरी १९११
	मुखपृष्ठ, समर्पण		
	श्लोकोंका अनुवाद		
	(अध्याय १ से ३)	२४९ से ३९९	
४	श्लोकोंका अनुवाद	१ से ३४०	
	(अध्याय ४ से १८)	३४४ से ३७४	१० मार्च १९११
		३८५ से ४०७	से
	प्रस्तावना	३४१ से ३४३	३० मार्च १९११
		३७५ से ३८४	

ग्रथकी अनुक्रमणिका, समर्पण और प्रस्तावनाभी लोकमान्य महोदयने कारागृहमेंही लिखी थी, और स्थान-स्थानपर ऐसी सूचनाएँ लिखकर, कि किस विषयके बाद कौन विषय हो, ग्रथ परिपूर्ण कर रखा था। इससे ज्ञात होता है, कि उनको यह विश्वास नहीं था, कि अपने जीते जी कारागृहसे मुक्तता होगी या नहीं, और उनकी यह अत्युत्कट इच्छा थी, कि यदि मुक्तता न हो, तोभी अपना परिश्रमपूर्वक सपादन किया हुआ ज्ञान और उससे सूझे हुए विचार व्यर्थ न जायें, बल्कि उनका लाभ अगली पीढीको मिले। पहली दो बहियोंके आरभमें उन बहियोंमें वर्णित विषयोंकी अनुक्रमणिका है। ग्रथका मुखपृष्ठ और समर्पण तीसरी बहीके २४५ से २४७ पृष्ठोंमें है और प्रस्तावना चौथी बहीके ३४१ से ३४३ और ३७५ से ३८४ पृष्ठोंमें है। कारागृहसे मुक्तता होनेपर प्रस्तावनामें कुछ सुधार किया गया है और वह प्रकाशन-कालमें सहायक व्यक्तियोंके निर्देशतकही सीमित है। यह विषय प्रथम सस्करणकी प्रस्तावनाके अतिम परिच्छेदके पहलेके परिच्छेदमें है। अतिम परिच्छेद तो कारागृहमेंही लिखा हुआ था।

इनमेंसे पहली बहीके पहले आठ प्रकरणोंको 'पूर्वार्ध' सज्ञा दी गई है (यह प्रथम बहीके प्रथम पृष्ठके चित्रसे ज्ञात होगा), दूसरीको उत्तरार्ध भाग पहला और तीसरीको उत्तरार्ध भाग दूसरा, इस प्रकार सज्ञाएँ दी गई है। इससे ज्ञात होता है, कि ग्रथके दो भाग करनेका उनका विचार था। इनमेंसे पहली बहीके आठ प्रकरणोंका हस्तलिखित केवल एक महीनेमेंही लिखकर तैयार हुआ था और येही प्रकरण अत्यत महत्त्वके है। इससे लोकमान्य महोदयकी इस विषयकी ओतप्रोत तैयारीका और उनके लेखनके अस्खलित प्रवाहका यथार्थ ज्ञान पाठकोंको सहजही होगा। बहीके पृष्ठ फाड देनेकी अथवा नये जोडनेकी, कारागृहके नियमानुसार उनको आज्ञा न थी, किंतु पुनर्विचारसे सूझी बातोके नये पृष्ठ बीच-बीचमें जोडनेकी सुविधा उनको मिली थी। यह जानकारी दूसरी और तीसरी बहीके आवरणके

अदरके बाजूमें लिखी है। पहली तीन वहियाँ केवल एक-एक महीनेमें लिखी गई है और अंतिम वही सिर्फ एक पखवाडेमे लिखी गई है। मुख्य विषय दाहिने हाथके पृष्ठोंपर लिखके उनके पीछेके कोरे पृष्ठोंपर आगले पृष्ठोमें समावेश करनेके लिये नयी बाते लिखी हुई है। आशा है कि, मूल हस्तलिखित प्रतिसंबंधी जिज्ञासा उक्त जानकारीसे पूर्ण होगी।

इस ग्रथका जन्म होनेके पहलेभी प्रस्तुत विषयके संबंधमें उनका व्यासंग जारी था, इसका उत्तम प्रमाण उनके अन्य दो ग्रथ है। 'मासाना मार्गशीर्षोऽह' (गीता १०-३५ गीतार पृष्ठ ७७४) इस श्लोकका अर्थ निश्चित करते समय, उन्होंने वेदोंके महोदधिमे डुबकी लगा कर, 'ओरायन' रूपी रत्न जनताको दे दिया और वेदोदधिका पर्यटन करते करते आर्योंके मूल वसतिस्थानका पता लगाया है। कालानुक्रमसे गीतारहस्य यद्यपि अंतिम ग्रथ है, तोभी उक्त दो ग्रथोंका पूर्व वृतान्त ध्यानमें रखनेसे, महत्त्वकी दृष्टिसे गीतारहस्यकोही आद्यस्थान देना पडता है। गीताविषयक व्यासगसेही ये ग्रथ निर्माण हुए है। 'ओरायन' ग्रथकी प्रस्तावनामें लोकमान्य महाशयने गीताके अभ्यासका उल्लेख किया है।

'ओरायन' और 'आर्योका मूल वसतिस्थान ये दोनो अंग्रजी ग्रथ यथावकाश प्रकाशित हुए और जगत्भरमें विख्यात हो गये। परतु गीतारहस्य लिखनेका मुहूर्त लोकमान्यके तीसरे दीर्घ कारावाससे प्राप्त हुआ। गीतारहस्यके पहलेके दोनो ग्रंथोंका लेखनभी कारागृहमेही हुआ है। सार्वजनिक कार्य-प्रवृत्तियोंकी उपाधिसे मुक्त होकर ग्रथलेखनके लिये आवश्यक स्वस्थता कारागृहमें मिल सकी, परंतु प्रत्यक्ष ग्रथलेखनका आरभ करनेके पूर्व उनको जिन बडी भारी मुसीबतोंका सामना करना पडा, उन्हे उनकेही शब्दोमे इस जगह कहना उचित है — "ग्रथके संबंधमे तीन बार तीन हुक्म आये कुछ दिनके बाद मेरे पास सब पुस्तके रखनेकी मनाही की गयी और सिर्फ चार पुस्तकेही एक समय रखनेका हुक्म हुआ। उसपर बर्मा सरकारसे अर्ज करनेपर ग्रथ लेखनके लिये आवश्यक सब पुस्तके मेरे पास रखनेकी आज्ञा हुई। जब मै वहाँसे लौटा, तब पुस्तकोंकी संख्या ३५० से ४०० तक पहुँची थी। ग्रथलेखनके लिये जो कागज देते थे, वेभी छूटे न दे कर, जिल्ददार किताब, भीतरके पृष्ठ गिनके और उनपर दोनो ओर क्रमाक लिखकर, देते थे और लिखनेको स्याही न देके सिर्फ नोकदार पेन्सिले देते थे।" (लोकमान्य तिलक महाशयके कारागारसे छूटनेके बादकी पहली मुलाकात — केसरी दि ३० जून १९१४)

इस प्रकार वाचकवृन्द कल्पना कर सकते है, कि तिलक महोदयको ग्रंथलेखनमें कैसी कैसी मुसीबतोंका सामना करना पडा होगा, परतु उनकी चिंता न करके सन् १९१० के जाडेमे उन्होने हस्तलिखित प्रति तैयार कर दी। ग्रंथके हस्तलिखितके तैयार होनेका समाचार उन्होने सन १९११ के आरभके एक पत्रमे दिया था और वह पत्र सन १९११ के मार्च महीनेके 'मराठा' पत्रके एक अकमे समग्र प्रसिद्ध हुआ है। गीतारहस्यमे किया गया विवेचन लोगोंको अधिक सुगम हो,

इसलिये तिलक महोदयने सन १९१४ के गणेशोत्सवमे चार व्याख्यान दिये, और बादमे ग्रथ छापनेके कामका आरभ होकर १९१५ के जून महीनेमे उसका पूर्णावतार हुआ। इसके आगेका इतिहास सबको सुविदितही है।

सोलहवाँ सस्करणको सशोधित तथा दोषरहित बनानेके लिये श्री भगवान नारायण कानडेजीने अत्याधिक परिश्रम किये थे। इक्कीसवाँ सस्करणके सभी ग्रथ बीक चुके है और इस मौलिक तथा शास्त्रीय ग्रथके लिये सतत माँग हो रही है। इसलिये यह बाइसवाँ सस्करण तुरन्त प्रकाशित किया है।

कागजका मूल्य अधिकाधिक बढ रहा है और छपाईकी दरोमेंभी वृद्धि होती रही है अत इस ग्रथका मूल्य बढा देना अपरिहार्य सा हो गया है।

इस प्रकार ग्रथकी सजावटमे अनेकोने परिश्रम उठाये है। पाठकोंके हाथमें आज यह ग्रथ हम दे रहे है। आशा है पाठक इसका सहर्ष और सानन्द स्वीकार करेगे।

पूना — दी. ज टिळक

दि १-७-१९८८ — शै श्री टिळक

अनुवादककी भूमिका

भूमिका लिखकर महात्मा तिलकके ग्रथका परिचय कराना, मानो सूर्यको दीपकसे दिखलानेका प्रयत्न करना है। यह ग्रथ स्वय प्रकाशमान् होनेके कारण अपना परिचय आपही दे देता है। परतु भूमिका लिखनेकी प्रणाली-सी पड गई है। ग्रथको पातेही पन्न उलट-पलटकर पाठक भूमिका खोजने लगते हैं। इसलिये उक्त प्रणालीकी रक्षा करने और पाठकोकी मनस्तुष्टि करनेके लिये इस शीर्षकके नीचे दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया है।

सतोषकी बात है, कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकी अशेष कृपासे, तथा सद्गुरु श्रीरामदासानुदास महाराजके (हनुमानगढ, वर्धा निवासी श्रीधर विष्णु पराजपे) प्रत्यक्ष अनुग्रहसे, जब मेरे हृदयमे अध्यात्म-विषयकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, तभीमे इस विषयके अध्ययनके महत्त्वपूर्ण अवसर अनायास मिलते जाते हैं। यह उसी कृपा और अनुग्रहका फल था, कि मै सवत् १९७० में श्रीसमर्थके दासबोधका हिंदी अनुवाद कर सका। अब उसी कृपा और अनुग्रहके प्रभावसे लोकमान्य बाल गगाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीतारहस्यके अनुवाद करनेका अनुपम अवसर हाथ लग गया है।

जब मुझे यह काम सौपा गया, तब ग्रथकारने अपनी यह इच्छा प्रकट की, कि मूल ग्रथमें प्रतिपादित सब भाव ज्यो-के-त्यो हिंदीमे पूर्णतया व्यक्त किये जायें, ग्रथमें प्रतिपादित सिद्धान्तोपर जो आक्षेप होगे, उनके उत्तरदाता मूल लेखकही है। इसलिये मैंने अपने लिये दो कर्तव्य निश्चित किये – (१) यथा-मति मूल भावोकी पूरी पूरी रक्षा की जावे, और (२) अनुवादकी भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो। अपनी अल्पबुद्धि और सामर्थ्यके अनुसार इन दोनो कर्तव्योके पालन करनेमे मैंने कोई बात उठा नही रखी है, और मेरा आतरिक विश्वास है, कि मूल ग्रथके भाव यत्किंचितभी अन्यथा नही हो पाये है। परतु सभव है, कि विषयकी कठिनता और भावोकी गभी-रताके कारण मेरी भाषाशैली कही कही क्लिष्ट अथवा दुर्बोध-सी हो गई हो, और यहभी सभव है, कि ढूंढनेवालोको इसमें 'मराठीपनकी बू'भी मिलजाय। परतु इसके लिये क्या किया जाय? लाचारी है। मूल ग्रथ मराठीमे है, मैं स्वय महाराष्ट्रका हूँ, मराठीही मेरी मातृभाषा है, महाराष्ट्र देशके केद्रस्थल पूनामेंही यह अनुवाद छापा गया है। और मै हिंदीका कोई 'धुरधर' लेखकभी नही हूँ। ऐसी अवस्थामे, यदि इस ग्रथमे उक्त दोष न मिले, तो बहुत आश्चर्य होगा।

यद्यपि मराठी 'रहस्य'को हिंदी पोशाक पहनाकर सर्वांगसुदर रूपसे हिंदी पाठकोके उत्सुक हृदयोमें प्रवेश करानेका यत्न किया गया है, और ऐसे महत्त्वपूर्ण

विषयको समझानेके लिये उन सब साधनोकी सहायता ली गई है, कि जो हिंदी साहित्य-ससारमें प्रचलित है, फिरभी स्मरण रहे, कि यह केवल अनुवादही है — इसमें वह तेज नही आ सकता, कि जो मूलग्रथमें है। गीताके सस्कृत श्लोकोके मराठी अनुवादके विषयमें स्वय महात्मा तिलकने उपोद्घातमें (पृष्ठ ६००) यह लिखा है — "स्मरण रहे, कि अनुवाद आखिर अनुवादही है। हमने अपने अनुवादमें गीताके सरल, खुले और प्रधान अर्थको ले आनेका प्रयत्न किया है सही , परतु सस्कृत शब्दोमें और विशेषत भगवानकी प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और क्षण-क्षणमें नई रुचि उत्पन्न करानेवाली वाणीमें लक्षणासे अनेक व्यग्यार्थ उत्पन्न करनेकी जो सामर्थ्य है, उसे ज़राभी न घटा-वढाकर, दूसरे शब्दोमें ज्यो-का-त्यो झलका देना असभव है ।" ठीक यही वात महात्मा तिलकके ग्रथके हिंदी अनुवादके विषयमें कही जा सकती है।

एक तो विषय तात्त्विक, दूसरे गभीर, और फिर महात्मा तिलककी वह ओजस्विनी, व्यापक एव विकट भाषा कि जिसके मर्मको ठीक ठीक समझ लेना कोई साधारण वात नही है। इन दुहरी-तिहरी कठिनाइयोंके कारण यदि वाक्यरचना कही कठिन हो गई हो, दुरूह हो गई हो, या अशुद्धभी हो गई हो, तो उसके लिये सहृदय पाठक मुझे क्षमा करे। ऐसे ग्रथके अनुवादमें किन किन कठिनाइयोका सामना करना पडता है और अपनी स्वतन्नताका त्यागकर पराधीनताके किन किन नियमोंसे वध जाना होता है, इसका अभव वे सहानुभूतिशील पाठक और लेखकही कर सकते हैं, कि जिन्होंने इस ओर कभी ध्यान दिया हो।

राष्ट्रभाषा हिंदीको इस बातका अभिमान है, कि वह महात्मा तिलकके गीता-रहस्यसवधी विचारोको अनुवाद-रूपमें उस समय पाठकोको भेंट कर सकी है, जव कि और किसीभी भाषाका अनुवाद प्रकाशित नही हुआ, — यद्यपि दो-एक अनुवाद तैयार थे। इससे, आशा है, कि हिंदीप्रेमी अवश्य प्रसन्न होंगे।

अनुवादका श्रीगणेश जुलाई १९१५ में हुआ था और दिसबरमें उसकी पूर्ति हुई। जनवरी १९१६ से छपाईका आरभ हुआ, जो जून सन् १९१६ में समाप्त हो गया। इस प्रकार एक वर्षमें यह ग्रथ तैयार हो पाया। यदि मित्रमडलीने मेरा पूर्ण सहायता न की होती, तो मैं, इतने समयमें, इस कामको कभी पूरा न कर सकता। इनमें वैद्य विश्वनाथराव लुखे और श्रीयुत मौलिप्रसादजीका नाम उल्लेख करने-योग्य है। कविवर वा मैथिलीशरण गुप्तने कुछ मराठी पद्योका हिंदी रूपातर करनेमें अच्छी सहायता दी है, इसलिये वे धन्यवादके भागी हैं। श्रीयुत प लल्लीप्रसाद पाडेयने जो सहायता की है, वह अवर्णनीय एव अत्यत प्रशसाके योग्य है। लेख लिखनेमें, हस्तलिखित प्रतिको दुहरानेमें और प्रूफका सशोधन करनेमें आपने दिन-रात कठिन परिश्रम किया है। अधिक क्या कहा जाय, घर छोडकर महीनोतक आपको इस कामके लिये पूनामें रहना पडा है। इस सहायता और उपकारका वदला केवल

धन्यवाद दे देनेसेही नही हो जाता, हृदय जानता है, कि मैं आपका कैसा ऋणी हूँ। हिं चि ज के सपादक श्रीयुत भास्कर रामचद्र भालेरावने तथा औरभी अनेक मित्रोने समय-समयपर यथाशक्ति सहायता की है। अत इन सब महाशयोको मैं आतरिक धन्यवाद देता हूँ।

एक वर्षसे अधिक समयतक इस ग्रथके साथ मेरा अहोरात्र सहवास रहा है। सोते-जागते इसी ग्रथके विचारोकी मधुर कल्पनाएँ नजरोमें झूलती रही हैं। इन विचारोसे मुझे मानसिक तथा आत्मिक अपार लाभ हुआ है। अत जगदीश्वरसे यही विनय है, कि इस ग्रथके पढनेवालोकोभी इससे लाभान्वित होनेका मगलमय आशीर्वाद दीजिये।

श्रीरामदासी मठ, रायपूर (सी पी)
देवशयनी ११, मगलवार, माधवराव सप्रे
सवत् १९७३ वि

प्रस्तावना

सन्तो की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूं उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी ।।*

श्रीमद्भगवद्गीतापर अनेक सस्कृत भाष्य, टीकाएँ अथवा देशी भाषाओमें अनुवाद या सर्वमान्य विस्तृत निरूपण है, फिरभी यह ग्रथ क्यो प्रकाशित किया गया ? यद्यपि इसका कारण ग्रथके आरभमेंही वतलाया गया है, तथापि कुछ वाते ऐसी है, कि जिनका ग्रथके प्रतिपाद्य विषयके विवेचनमें उल्लेख न हो सकता था, अत उन बातोको प्रकट करनेके लिये प्रस्तावनाको छोड और दूसरा स्थान नही है। इनमें सबसे पहली वात स्वय ग्रथकारके विषयमें है। कोई तैतालीस वर्ष हुए जब हमारा भगवद्गीतासे प्रथम परिचय हुआ था। सन् १८७२ ईसवीमें हमारे पूज्य पिताजी अतिम रोगसे आक्रान्त हो शय्यापर पडे हुए थे, उस समय उन्हे 'भाषा-विवृत्ति' नामक भगवद्गीताकी मराठी टीका सुनानेका काम हमें मिला था। तव, अर्थात् अपनी आयुके सोलहवे वर्षमें गीताका भावार्थ पूर्णतया समझमे न आ सकता था। फिरभी छोटी अवस्थामें मनपर जो सस्कार होते है, वे दृढ हो जाते है, इस कारण उस उमय भगवद्गीताके सवधमें जो चाह उत्पन्न हो गई थी, वह स्थिर बनी रही और आगे जब सस्कृत और अग्रेजीका अधिक अभ्यास हो गया, तव हमने गीताके सस्कृत भाष्य, अन्यान्य टीकाएँ और अनेक पडितोंके मराठी तथा अग्रेजीमे लिखे हुए विवेचनभी समय-समयपर पढे। परतु तव मनमें शका उत्पन्न हुई, कि जो गीता अपने स्वजनोके साथ युद्ध करनेको बडा भारी कुकर्म समझकर खिन्न होनेवाले अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये वतलाई गई है, उस गीतामे ब्रह्मज्ञानसे या भक्तिसे मोक्ष-प्राप्तिकी विधिका – निरे मोक्ष-मार्गका – विवेचन क्यो किया गया है ? यह शका इसलिये औरभी दृढ होती गई, कि गीताकी किसीभी टीकामे इस विषयका योग्य उत्तर ढूंढे न मिला। कौन जानता है, कि हमारे समानही और लोगोकोभी यही शका हुई न होगी ! परतु टीकाओपरही निर्भर रहनेसे, टीकाकारोका दिया हुआ उत्तर समाधानकारक न भी जँचे, तोभी उसको छोड और दूसरा उत्तर सूझताही नही है। इसीलिये जब हमने गीताकी समस्त टीकाओ और भाष्योको लपेटकर एक ओर धर दिया और केवल गीताकेही स्वतत्र विचार-पूर्वक अनेक पारायण किये, तव टीकाकारोके चगुलसे छूटे, और यह बोध हुआ, कि मूल गीता निवृत्ति-प्रधान नही है, वह तो कर्म-प्रधान है, और अधिक क्या कहे ! गीतामें अकेला 'योग' शब्दही 'कर्मयोग'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। महा-

---

* साधु तुकारामके एक 'अभग'का भाव।

भारत, वेदान्तसूत्र, उपनिषद् और वेदान्तशास्त्रविषयक अन्यान्य संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाके ग्रंथोंके अध्ययनसेभी वही मत दृढ होता गया, और चार-पाँच स्थानोंपर इसी विषयपर व्याख्यान इस इच्छासे दिये, कि सर्वसाधारणमें उस विषयके सबंधमें उक्त मत प्रकट कर देनेसे, अधिक चर्चा होगी, एव सत्य तत्त्वका निर्णय करनेमें औरभी सुविधा हो जायगी। इनमेंसे पहला व्याख्यान नागपुरमें जनवरी सन् १९०२ में हुआ और दूसरा सन् १९०४ ईसवीके अगस्त महीनेमें करवीर एव सकेश्वर मठके जगद्गुरु श्रीशकराचार्यकी उपस्थितिमें उन्हीकी आज्ञासे, सकेश्वर मठमें हुआ था, और उस समय नागपुरवाले व्याख्यानका विवरणभी समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त जब जब समय मिल गया, तब तब इसी विचारसे, कुछ विद्वान् मित्रोंके साथ समय-समयपर वाद-विवादभी किया। इन्ही मित्रोंमें स्वर्गीय श्रीपतिबाबा भिगारकर थे। इनके सहवाससे भागवत सप्रदायके कुछ प्राकृत ग्रंथ देखनेमें आये, और गीतारहस्यमें वर्णित कुछ बाते तो आपके और हमारे वाद-विवादमेंही पहले निश्चित हो चुकी थी। यह बडे दु खकी बात है, कि आप इस ग्रंथको देख न पाये। अस्तु, इस प्रकार यह मत निश्चित हो गया, कि गीताका प्रतिपाद्य विषय प्रवृत्ति प्रधान है, और इसको लिखकर ग्रंथरूपमे प्रकाशित करनेका विचार कियेभी अनेक वर्ष बीत गये। वर्तमान समयमें पाये जानेवाले भाष्यो, टीकाओं या अनुवादोंमें जो गीता-तात्पर्य स्वीकृत नही हुआ है, केवल उसेही यदि पुस्तकरूपसे प्रकाशित कर देते, और इसका कारण न बतलाते, कि प्राचीन टीकाकारोका निश्चित किया हुआ तात्पर्य हमें ग्राह्य क्यो नही है, तो बहुत सभव था, कि लोग कुछका कुछ समझने लग जाते – उनको भ्रम हो जाता, और समस्त टीकाकारोंके मतोंका सग्रह करके उनकी सकारण अपूर्णता दिखला देना, एव अन्य धर्मों या तत्त्वज्ञानोंके साथ गीता-धर्मकी तुलना करना कोई ऐसा साधारण काम न था, जो शीघ्रतापूर्वक चटपट हो जाय। अतएव यद्यपि हमारे मित्र श्रीयुत दाजीसाहेब खरे और दादासाहेब खापर्डेने कुछ पहलेही यह प्रकाशित कर दिया था, कि हम गीतापर एक नवीन ग्रंथ शीघ्रही प्रसिद्ध करनेवाले हैं, तथापि ग्रंथ लिखनेका काम इस समझसे टलता गया, कि हमारे पास जो सामग्री है वह अभी, अपूर्ण है, जब सन् १९०८ ईसवीमें सजा देकर हम मडाले भेज दिये गये, तब तो इस ग्रंथके लिखे जानेकी आशा बहुत कुछ घटही गई थी। किंतु कुछ समय बाद ग्रंथ लिखनेके लिये आवश्यक पुस्तके आदि सामग्री पूनासे मँगा लेनेकी अनुमति जब सरकारकी मेहरबानीसे मिल गई, तब सन् १९१०–११ के कुछ कालमें (सवत् १९६७, कार्तिक शुक्ल १ से चैत्र कृष्ण ३० के भीतर) इस ग्रंथकी पाडुलिपि (मसविदा) मडालेके जेलखानेमे पहले पहल लिखी गई। और फिर समयानुसार जैसे जैसे विचार सूझते गये, वैसे वैसे उसमें काट-छाँट होती गई, उस समय समग्र पुस्तके वहाँ न होनेके कारण कई स्थानोमें जो अपूर्णता रह गई थी, उसे वहाँसे छुटकारा हो जानेपर पूर्ण तो कर लिया गया है परतु अभीभी यह नहीं कहा

जा सकता, कि यह ग्रथ सर्वांशमें पूर्ण हो गया। क्योंकि मोक्ष और नीति-धर्मके तत्त्व गहन तो हैंही, साथही उनके सबधमें अनेक प्राचीन और अर्वाचीन पडितोंने इतना विस्तृत विवेचन किया है, कि व्यर्थ फैलावसे बचकर यह निर्णय करना कई बार कठिन हो जाता है, कि उसमेंसे इस छोटे-से ग्रंथमें किन किन बातोका समावेश किया जावे? परतु अब हमारी स्थिति महाराष्ट्रके कविकी इस उक्तिके अनुसार हो गई है –

यम-सेना की विमल ध्वजा अब 'जरा' दृष्टिमें आती है।
करती हुई युद्ध रोगोसे देह हारती जाती है॥*

और हमारे सासारिक साथीभी पहलेही चल बसे हैं। अतएव अब इस ग्रथको यह समझकर प्रसिद्ध कर दिया है, कि हमें जो बाते मालूम हो गई हैं और जिन विचारोंको हमने सोचा है, वे सब लोगोंकोभी ज्ञात हो जाएँ, फिर कोई-न-कोई समानधर्मा अभी या आगे उत्पन्न होकर उन्हें पूर्ण करही लेगा।

आरभमेंही यह कह देना आवश्यक है, कि यद्यपि हमें यह मत मान्य नही है, कि सासारिक कर्मोंको गौण अथवा त्याज्य मानकर, ब्रह्मज्ञान और भक्ति प्रभृति निरे निवृत्ति-प्रधान मोक्ष-मार्गकाही निरूपण गीतामें है, तथापि हम यहभी नही कहते, कि मोक्ष-प्राप्ति-मार्गका विवेचन भगवद्गीतामें बिलकुलही नही हैं। हमनेभी इस ग्रथमें स्पष्ट दिखला दिया है, कि गीताशास्त्रके अनुसार इस जगतमें प्रत्येक मनुष्यका पहला कर्तव्य यही है, कि वह परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अपनी बुद्धिको, जितनी हो सके उतनी, निर्मल और पवित्र कर ले, परतु यह गीताका मुख्य विषय नही है। युद्धके आरभमें अर्जुन इस कर्तव्य-मोहमें फँसा था, कि, कि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म भलेही हो, परतु विपरीत पक्षमें कुलक्षय आदि घोर पातक होनेसे जो युद्ध मोक्ष-प्राप्तिरूप आत्मकल्याणका नाशकर डालेगा, उस युद्धको करना चाहिये अथवा नही। अतएव हमारा यह अभिप्राय है, कि उस मोहको दूर करनेके लिये शुद्ध वेदान्तशास्त्रके आधारपर कर्म-अकर्मका और साथही साथ मोक्षके उपायोंकाभी पूर्ण विवेचन कर, इस प्रकार निश्चय किया गया है, कि एक तो कर्म कभी छूटतेही नही है, और दूसरे, उनको छोडनाभी नही चाहिये, एव गीतामें उस युक्तिका, अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान-कर्मयोगकाही प्रतिपादन किया गया है, कि जिससे कर्म करनेपर कोईभी पाप नही लगता तथा अतमें उसीसे मोक्षभी मिल जाता है। कर्म-अकर्मके या धर्म-अधर्मके इस विवेचनकोही वर्तमानकालीन निरे आधिभौतिक पडित नीतिशास्त्र कहते हैं। सामान्य पद्धतिके अनुसार गीताके श्लोकोंके क्रमसे टीका लिखकरभी यह दिखलाया जा सकता था, कि यह विवेचन गीतामें किस प्रकार किया गया है, परतु वेदान्त,

* महाराष्ट्र-कविवर्य **मोरोपतकी** 'केका'का भाव।

मीमासा, साख्य, कर्मविपाक अथवा भक्ति प्रभृति शास्त्रोंके जिन अनेक वादो अथवा प्रमेयोंके आधारपर गीतामे कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है, और जिनका उल्लेख कभी कभी बहुतही सक्षिप्त रीतिसे पाया जाता है, उन शास्त्रीय सिद्धान्तोका पहलेसेही ज्ञान हुए विना गीताके विवेचनका पूर्ण रहस्य सहसा ध्यानमे नही जमता। इसीलिये गीतामें जो जो विषय अथवा सिद्धान्त आये है, उनके शास्त्रीय रीतिमे प्रकरणोमें विभाग करके उनकी प्रमुख प्रमुख युक्तियोसहित गीतारहस्यमें उनका पहले सक्षेपमे निरूपण किया गया है, और फिर उसीमे वर्तमान युगकी आलोचनात्मक पद्धतिके अनुसार गीताके प्रमुख सिद्धान्तोकी तुलना अन्यान्य धर्मोंके और तत्त्वज्ञानोके साथ प्रसगानुसार सक्षेपमे कर दिखलाई गई है। इस रीतिसे इस पुस्तकके पूर्वार्धमें जो गीतारहस्य नामक निबध है, वह कर्मयोगविषयक एक छोटासा किंतु स्वतत्र ग्रथही कहा जा सकता है। जो हो, इस प्रकारके सामान्य निरूपणमें गीताके प्रत्येक श्लोकका पूर्ण विचार हो नही सकता था। अतएव अतमें गीताके प्रत्येक श्लोकका अनुवाद दे दिया है, और उसीके साथ स्थान-स्थानपर यथेष्ट टिप्पणियाँभी इसलिये जोड दी गई है, कि जिसमे पूर्वापर सदर्भ पाठकोकी समझमें भली भाँति आ जाय, अथवा पुराने टीकाकारोने अपने सप्रदायकी सिद्धिके लिये गीताके कुछ श्लोकोकी जो खीचातानी की है, उसे पाठक समझ जायँ (गीता ३ १७–१९, ६ ३, १८ २), या वे सिद्धान्त सहजही ज्ञात हो जाय कि जो गीतारहस्यमे बतलाये गये है, और यहभी ज्ञात हो जाय, कि उनमेंसे कौनकौनसे सिद्धान्त गीताकी सवादात्मक प्रणालीके अनुसार कहाँ कहाँ किस प्रकार आये है? इसमें सदेह नही, कि ऐसा करनेसे कुछ विचारोकी द्विरुक्ति अवश्य हो गई है, परतु गीतारहस्यका विवेचन गीताके अनुवादसे इसलिये पृथक् रखना पडा है, कि गीता-ग्रथके तात्पर्यके विषयमे साधारण पाठकोमे जो भ्रम फैल गया है, वह भ्रम अन्य रीतिसे पूर्णतया दूर नही हो सकता था, और इस पद्धतिसे पूर्व इतिहास और आधारसहित यह दिखलानेमे सुविधा हो गई है, कि वेदान्त, मीमासा और भक्ति प्रभृतिविषयक गीताके सिद्धान्त भारत, साख्यशास्त्र, वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् और मीमासा आदि मूल ग्रथोसे कैसे और कहाँ आये है? इससे यहभी स्पष्टतया बतलाना सुगम हो गया है, कि सन्यास-मार्ग और कर्मयोग-मार्गमें क्या भेद है, तथा अन्यान्य धर्ममतो और तत्त्वज्ञानोंके साथ गीताकी तुलना करके व्यावहारिक कर्म-दृष्टिसे गीताके महत्त्वका योग्य निरूपण करना सरल हो गया है। यदि गीतापर अनेक प्रकारकी टीकाएँ न लिखी गई होती और अनेकोने अनेक प्रकारसे गीताके तात्पर्यार्थोका प्रतिपादन न किया होता, तो हमें अपने ग्रथके सिद्धान्तके लिये पोषक और आधारभूत मूल सस्कृत वचनोंके अवतरण स्थान-स्थानपर देनेकी कोई आवश्यकताही न थी। किन्तु वर्तमान समय दूसरा है, और लोगोंके मनमें यह शका हो सकती थी, कि हमने जो गीतार्थ अथवा सिद्धान्त बतलाया है, वह ठीक है या नही? इसीलिये

आधिभौतिक ज्ञानसे परे है, और वे यहभी जान जायँगे, कि इसीसे प्राचीन-कालमें हमारे शास्त्रकारोंने इस विषयमें जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, उनके आगे मानवी ज्ञानकी गति अबतक नहीं पहुँच पाई है, यही नहीं, किन्तु पश्चिमी देशोंमेंभी अध्यात्म-दृष्टिसे इन प्रश्नोंका विचार अभीतक हो रहा है, और इन आध्यात्मिक ग्रंथकारोंके विचार गीताशास्त्रके सिद्धान्तोंसे कुछ अधिक भिन्न नहीं है। गीता-रहस्यके भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें जो तुलनात्मक विवेचन है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। परन्तु यह विषय अत्यंत व्यापक है, इस कारण पश्चिमी पंडितोंके मतोंका जो सारांश विभिन्न स्थलोंपर हमने दे दिया है, उसके संबंधमें यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि गीतार्थको प्रतिपादन करनाही हमारा मुख्य काम है, अतएव गीताके सिद्धान्तोंको प्रमाण मानकर पश्चिमी मतोंका अनुवाद हमने केवल यही दिखलानेके लिये किया है कि इन सिद्धान्तोंसे पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों अथवा पंडितोंके सिद्धान्तोंका कहाँ तक मेल है, और यह काम हमने इस ढँगसे किया है, कि जिससे सामान्य पाठकोंको उनका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई न हो। अब यह निर्विवाद है, कि इन दोनोंके बीच जो सूक्ष्म भेद हैं — और वे हैं भी बहुतही, अथवा इन सिद्धान्तोंके जो पूर्ण उपपादन या विस्तार हैं, उन्हें जाननेके लिये मूल पश्चिमी ग्रंथही देखने चाहिये। पश्चिमी विद्वान् कहते है, कि कर्म-अकर्मविवेक अथवा नीतिशास्त्रपर पहला नियमबद्ध ग्रंथ यूनानी तत्ववेत्ता अरिस्टाटलने लिखा है। परन्तु हमारा मत है, कि अरिस्टाटलसेभी पहले, उससे अपेक्षा अधिक व्यापक और तात्त्विक-दृष्टिसे, इन प्रश्नोंका विचार महाभारत एवं गीतामें हो चुका था, तथा अध्यात्म-दृष्टिसे गीतामें जिस नीतितत्वका प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न कोई और नीतितत्व अबतक नहीं निकला है। "सन्यासियोंके समान रहकर तत्त्वज्ञानके विचारमें शांतिसे आयु बिताना अच्छा है, अथवा अनेक प्रकारकी राजकीय उथल-पुथल करना भला है" — इस विषयका जो स्पष्टीकरण अरिस्टाटलने किया है, वह गीतामें है, और साक्रेटीजके इस मतकाभी गीतामें एक प्रकारसे समा-वेश हो गया है, कि "मनुष्य जो कुछ पाप करता है, वह अज्ञानसेही करता है।" क्योंकि गीताका तो यही सिद्धान्त है, कि ब्रह्मज्ञानसे बुद्धिकेसम हो जानेपर, फिर मनुष्यसे कोईभी पाप हो नहीं सकता। एपिक्युरियन और स्टोइक पंथोंके यूनानी पंडितोंका यह कथनभी गीताको ग्राह्य है, कि पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए परम ज्ञानी पुरुषका व्यवहारही नीति-दृष्टिसे सबके लिये आदर्शके समान प्रमाण है, और इन पंथवालोंने परम ज्ञानी पुरुषका जो वर्णन किया है, वह गीताके स्थितप्रज्ञके वर्णनके समानही है। इसी प्रकार मिल, स्पेन्सर, और कांट प्रभृति आधिभौतिकवादियोंका यह जो कथन है, कि नीतिकी पराकाष्ठा अथवा कसौटी यही है, कि प्रत्येक मनुष्यको सारी मानव-जातिके हितार्थ उद्योग करना चाहिये, उसकाभी गीतामें वर्णित स्थित-प्रज्ञके 'सर्वभूतहिते रतः' इस बाह्य लक्षणमें समावेश हो गया है, एवं, कांट और

उठा नही रखी है, और ऐसा करनेमें यद्यपि कहीं कहीं द्विरुक्ति हो गई है, तोभी हमने उसकी कोई परवाह नही की, और जिन शब्दोंके अर्थ अबतक भाषामें प्रचलित नही हो पाये हैं उनके पर्याय शब्द उनके साथ-ही-साथ अनेक स्थलोंपर दे दिये है, इसके अतिरिक्त इस विषयके प्रमुख सिद्धान्त सारांशरूपसे स्थान-स्थानपर, उपपादनसे पृथक्कर दिखला दिये गये हैं। फिरभी शास्त्रीय और गहन विषयोंका थोडे शब्दोंमे विचार करना सदैव कठिन है, और इन विषयोंकी हिंदी परिभाषाभी अभी स्थिर नही हो पाई है, अतः हम जानते हैं, कि भ्रमसे, दृष्टिदोषसे, अथवा अन्यान्य कारणोंसे, हमारे इस नये ढंगके विवेचनमें कठिनाई, दुर्बोधता, अपूर्णता अथवा अन्य दोषभी रह गये होंगे। परन्तु भगवद्गीता पाठकोंसे अपरिचितभी नही है। ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य नियमसे भगवद्गीताका पाठ किया करते हैं, और ऐसे लोगभी थोडे नही है, कि इसका जो शास्त्रीय दृष्टिसे अध्ययन कर चुके हैं या कर रहे हैं। अतः ऐसे अधिकारी पुरुषोंसे हमारी एक प्रार्थना है, कि जब उनके हाथमें यह ग्रंथ पहुँचे, और यदि उन्हे इसमें उक्त प्रकारके कुछ दोष मिल जाएँ, तो वे कृपा कर हमें उनकी सूचना दे दें, जिससे हम उनका विचार करेंगे, और यदि इस ग्रंथके द्वितीय संस्करणके प्रकाशित करनेका अवसर आयेगा, तो इसमें यथायोग्य संशोधन कर दिया जावेगा। संभव है, कुछ लोग समझें, कि हमारा कोई विशेष संप्रदाय है और उसी संप्रदायकी सिद्धिके लिये हम गीताका एक विशेष प्रकारका अर्थ कर रहे हैं। इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है, कि यह गीतारहस्य ग्रंथ किसीभी व्यक्तिविशेष अथवा संप्रदायके उद्देश्यसे लिखा नही गया है। हमारी बुद्धिके अनुसार गीताके मूल संस्कृत श्लोकका जो सरल अर्थ होता है, वही हमने लिखा है। ऐसा सरल अर्थ कर देनेसे, – और आजकल संस्कृतका बहुत-कुछ प्रचार हो जानेसे बहुतेरे लोग समझ सकेंगे, कि अर्थ सरल है या नही, – यदि इसमें कुछ सांप्रदायिकता आ जावे, तो वह गीताकी है, हमारी नही। अर्जुनने भगवानसे स्पष्टही कहा था, कि "मुझे दो-चार मार्ग बतलाकर उलझनमें न डालिये, निश्चयपूर्वक ऐसा एकही मार्ग बतलाइये, कि जो श्रेयस्कर हो" (गीता ३ २, ५ १) इससे प्रकटही है, कि गीतामें किसी-न-किसी एकही विशेष मतका प्रतिपादन होना चाहिये (गीता ३ ३१), और मूल गीताकाही अर्थ करके निराग्रह-बुद्धिसे हमें देखना है, कि वह विशेष मत कौन-सा है, और हमें पहलेहीसे कोई मत स्थिर करके, गीताके अर्थकी इसलिये खीचातानी नही करनी है, कि उस पहलेसेही निश्चित किये हुए मतसे गीताका मेल नही मिलता। सारांश, गीताके वास्तविक रहस्यका, – फिर चाहे वह रहस्य किसीभी संप्रदायका अथवा पंथका हो – गीताभक्तोंमें प्रसार करके, भगवानकेही अंतिम कथनानुसार यह ज्ञान-यज्ञ करनेके लिये हम प्रवृत्त हुए है, और हमें आशा है, कि इस ज्ञान-यज्ञकी अव्यंगताकी सिद्धिके लिये, ऊपर जो ज्ञानभिक्षा माँगी गई है, उसे हमारे देशबंधु और धर्मबंधु बडे आनंदसे दे देंगे।

संबधमें गीता और कांटकी समता दिखलाई गई है। हमारे मतमें यह साम्य इससेभी कही अधिक व्यापक है, और कांटकी अपेक्षा ग्रीनकी नैतिक उपपत्ति गीतामें कही अधिक मिलती-जुलती है। परंतु इन दोनों प्रश्नोका स्पष्टीकरण इस ग्रंथमें कियाही गया है, अत यहां उसको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पंडित सीतानाथ तत्त्वभूषण-कर्तृक 'कृष्ण और गीता' नामक एक अंग्रेजी ग्रंथभी इन दिनों प्रकाशित हुआ है और उसमें उक्त पंडितजीके गीतापर दिये हुए बारह व्याख्यान हैं। किंतु उक्त ग्रंथोंके पाठ करनेसे कोईभी जान लेगा, कि तत्त्वभूषणजीके अथवा मि ब्रुक्सके प्रतिपादनमें और हमारे प्रतिपादनमें बहुत अंतर है। फिरभी इन लेखोंसे ज्ञात होता है, कि गीताविषयक हमारे विचार कुछ अपूर्व नही हैं, और इस सुचिन्हकाभी ज्ञान होता है, कि गीताके कर्मयोगकी ओर लोगोका ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है, अतएव यहांपर हम इन सब आधुनिक लेखकोका अभिनंदन करते हैं।

यह ग्रंथ मंडालेमें लिखा तो गया था, पर लिखा गया पेन्सिलसे, और काटछांटके अतिरिक्त इसमें औरभी कितनेही नये सुधार किये गये थे। इसलिये इसके सरकारके यहांसे लौट आनेपर प्रेसमें देनेकेलिये इसकी नकल शुद्ध करनेकी आवश्यकता हुई, और यदि यह काम हमारेही भरोसेपर छोड दिया जाता, तो इसके प्रकाशित होनेमें न जाने और कितना समय लग गया होता। परंतु श्रीयुत वामन गोपाल जोशी, नारायण कृष्ण गोगटे, रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर, अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी प्रभृति सज्जनोंने इस काममें बडे उत्साहसे सहायता दी, एतदर्थ उनका उपकार मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रीयुत कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकरने, और विशेषतया वेदशास्त्रसंपन्न दीक्षित काशीनाथ-शास्त्री लेलेने बंबईसे यहां आकर, ग्रंथकी हस्तलिखित प्रतिको पढनेका कष्ट उठाया, एवं अनेक उपयुक्त तथा मार्मिक सूचनाएं दी, जिसके लिये हम उनके ऋणी हैं। फिरभी स्मरण रहे, कि इस ग्रंथमें प्रतिपादित मतोंकी जिम्मेदारी सर्वथा हमारीही है। इस प्रकार ग्रंथ छापनेयोग्य तो हो गया, परंतु युद्धके कारण कागजकी कमी होनेवाली थी। इस कमीको बंबईके स्वदेशी कागजके पुतलीघरके मालिक मेसर्स 'डी पदमजी और सन'ने हमारी इच्छाके अनुसार अच्छा स्वदेशी कागज समयपर दे करके, दूर कर दिया। इससे गीता-ग्रंथको छापनेके लिये अच्छा स्वदेशी कागज मिल सका। किंतु ग्रंथ अनुमानसे अधिक बढ गया, इससे कागजकी फिर कमी हुई। इस कमीकी, पूनेके 'रे पेपर मिल'के मालिकोंने पूर्ति यदि दूर न कर दी होती, तो पाठकोंको और कुछ महीनोतक ग्रंथके प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षा करनी पडती। अत उक्त दोनो पुतलीघरोंके मालिकोको न केवल हमही, प्रत्युत पाठकभी धन्यवाद दें। अब अंतमें प्रूफ-संशोधनका काम रह गया, जिसे श्रीयुत रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर और हरि रघुनाथ भागवतने स्वीकार किया।

उसमेंभी स्थान-स्थानपर अन्यान्य ग्रथोका जो उल्लेख हैं, उनको मूल ग्रथोसे ठीक ठीक जाँचने, एव यदि कही कोई व्यग रह गया हो, तो उसे दिखलानेका काम श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवतने अकेलेही किया है। तात्पर्य यह है, कि बिना इन लोगोकी सहायताके इस ग्रथको हम इतनी शीघ्रतासे प्रकाशित न कर पाते। अतएव हम इन सबको हृदयसे धन्यवाद देते हैं। अब रही छपाई, चित्रशाला छापाखानेके स्वत्वाधिकारीने इस ग्रथको सावधानीपूर्वक और शीघ्रतासे छाप देना स्वीकारकर तदनुसार इस कामको पूर्ण कर दिया, इस निमित्त अतमें उनकाभी उपकार मानना आवश्यक है। खेतमें फसल हो जानेपरभी फसलसे अन्न तैयार करके भोजन करनेवालोंके मुंहमे पहुँचनेतक, जिस प्रकार अनेक लोगोकी सहायता अपेक्षित रहती है, वैसीही कुछ अशोमें ग्रथकारकी – कमसे कम हमारी तो स्थिति है। अतएव उक्त रीतिसे जिन लोगोंने हमारी सहायता की है, – फिर चाहे उनके नाम यहाँ आये हो अथवा नभी आये हो, – उन सबको फिर एक बार धन्यवाद देकर हम इस प्रस्तावनाको समाप्त करते हैं।

प्रस्तावना समाप्त हो गई। अब जिस विषयके विचारमें आजतक बहुतेरे वर्ष वीत गये हैं और जिसके नित्य सहवास एव चिंतनसे मनको समाधान होकर आनद होता गया, वह विषय आज ग्रथके रूपमें हमसे पृथक् हानेवाला है, इसलिये यद्यपि दुख होता है, तथापि ये विचार – सध गये तो व्याजसहित, अन्यथा कमसे कम ज्यो-के-त्यो – अगली पीढीके लोगोको देनेके लियेही हमें प्राप्त हुए थे, अतएव वैदिक धर्मके राजगुह्यके इस पारसको कठोपनिपद्के "उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत !" (कठ ३ १४) – उठो ! जागो ! और (भगवानके दिये हुए) इस वरदानको समझ लो ! इस मत्रसे हम होनहार पाठकोको प्रेमोदपूर्वक सोपते हैं। इसीमें कर्म-अकर्मका सारा वीज है, और स्वय भगवानकाही निश्चयपूर्वक यह आश्वासन है, कि सृष्टिके इस नियमपर ध्यान देकर कि इस धर्मका स्वल्प आचरणभी वडे-वडे सकटोसे बचाता है। इससे अधिक और क्या चाहिये ! बिना किये कुछभी होता नही है, तुमको वस केवल "निष्काम वुद्धिसे कर्म करते रहना चाहिये" (निरी स्वार्थपरायण-वुद्धिसे गृहस्ती चलाते चलाते जो लोग हारकर थक गये हो, उनका समय वितानेके लिये, अथवा ससारको छोड देनेकी तैयारीके लियेभी, गीता नही कही गई है, गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति प्रत्युत इसलिये हुई है, कि वह और तात्त्विक दृष्टिसे इस वातका उपदेश करे, कि मोक्ष-दृष्टिसे ससारके कर्मही किस प्रकार किये जावे, ससारमें मनुष्यमात्रका सच्चा कर्तव्य क्या है, अत अतमें उमारी यही विनती है, कि प्रत्येक मनुष्य पूर्व अवस्थामेंही – चढती हुई उम्रमे ही – गृहस्थाश्रमके, अथवा, ससारके, इस प्राचीन शास्त्रको, जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी समझे विना न रहे।

पूना, अधिक वैशाख
सवत् १९७२ वि

गीतारहस्यके प्रत्येक प्रकरणके विषयोंकी अनुक्रमणिका

पहला प्रकरण – विषयप्रवेश

दूसरा प्रकरण – कर्मजिज्ञासा

तीसरा प्रकरण – कर्मयोगशास्त्र

नवाँ प्रकरण – अध्यात्म

दसवाँ प्रकरण – कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य

ग्यारहवाँ प्रकरण – संन्यास और कर्मयोग

मार्ग – गृहस्थाश्रमका महत्त्व – भावगतधर्म – भागवत और स्मार्तके मूल अर्थ – गीतामें कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्मही प्रतिपाद्य – गीताके कर्मयोग और मीमासकोंके कर्ममार्गका भेद – स्मार्त सन्यास और भागवत सन्यासका भेद – दोनोकी एकता – मनुस्मृतिके वैदिक कर्मयोगकी और भागवतधर्मकी प्राचीनता – गीताके अध्याय-समाप्तिसूचक सकल्पका अर्थ – गीताकी अपूर्वता और प्रस्थानत्रयीके तीन भागोकी सार्थकता (पृ ३५३)– सन्यास (साख्य) और कर्मयोग (योग), दोनो मार्गोंके भेद-अभेदका नकशेमें सक्षिप्त वर्णन – आयु वितानेके भिन्न भिन्न मार्ग – गीताका सिद्धान्त, कि कर्मयोगही सवसे श्रेष्ठ – उस सिद्धान्तका प्रतिपादक ईशावास्योप-निषदका मन्त्र – उस मन्त्रपर शाकरभाष्यका विचार – मनु और अन्यान्य स्मृतियोंके ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक वचन । पृ ३०३–३६७

बारहवॉ प्रकरण – सिद्धावस्था और व्यवहार

समाजकी पूर्णावस्था – पूर्णावस्थामें सभी स्थितप्रज्ञ – नीतिकी परमावधि – पश्चिमी स्थितप्रज्ञ – स्थितप्रज्ञकी विधिनियमोंसे परेकी स्थिति – कर्मयोगी स्थितप्रज्ञका आचरणही परम नीति – पूर्णावस्थावाली परमावधिकी नीतिमें और लोभी समाजकी नीतिमें भेद – दासबोधमे वर्णित उत्तम पुरुपका लक्षण – परतु इस भेदसे नीति-धर्मकी नित्यता नही घटती (पृ ३७९) – स्थितप्रज्ञ इन भेदोको किस दृष्टिसे करता है ? – समाजका श्रेय, कल्याण अथवा सर्वभूतहित – तथापि इस वाह्य-दृष्टिकी अपेक्षा साम्यबुद्धिही श्रेष्ठ – अधिकाश लोगोंके अधिक हित और साम्यबुद्धि, इन तत्त्वोकी तुलना – साम्यवुद्धिसे जगतमें वर्ताव करना – परोपकार और अपना निर्वाह – आत्मौपम्यवुद्धि – उसका व्यापकत्व, महत्त्व और उपपत्ति – 'वसुधैव कुटुवकम्' (पृ ३९२) – वुद्धि सम हो जाय, तोभी पात्र-अपात्रका विचार नही छूटता – निर्वैरका अर्थ निष्क्रिय अथवा निष्प्रतिकार नही है – जैसेको तैसा – दुष्ट निग्रह – देशाभिमान, कुलाभिमान इत्यादिकी उपपत्ति – देशकाल-मर्यादापरिपालन और आत्मरक्षा – ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य – लोकसग्रह और कर्मयोग – विषयोपसहार – स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ । पृ ३६८–४०६

तेरहवाँ प्रकरण – भक्तिमार्ग

अल्पवुद्धिवाले साधारण मनुष्योके लिये निर्गुण ब्रह्मस्वरूपकी दुर्बोधता – ज्ञान-प्राप्तिके साधन, श्रद्धा और बुद्धि – दोनोकी परस्परापेक्षा – श्रद्धासे व्यवहारसिद्धि – श्रद्धासे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपरभी निर्वाह नही होता – मनमें उसके प्रति-फलित होनेके लिये निरतिशय और निर्हेतुक प्रेमसे परमेश्वरका चिंतन करना पडता है, – इसीको भक्ति कहते हैं – सगुण अव्यक्तका चिंतन कष्टमय और दु साध्य – अतएव उपासनाकेलिये प्रत्यक्ष वस्तु होनी चाहिये – ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

परिणाममें एकही – तथापि ज्ञानके समान भक्ति निष्ठा नहीं हो सकती – भक्ति करनेके लिये ग्रहण किया हुआ परमेश्वरका प्रेमगम्य और प्रत्यक्ष रूप – प्रतीक शब्दका अर्थ – राजविद्या और राजगुह्य शब्दोंके अर्थ – गीताका प्रेमरस (पृ. ४२०) – परमेश्वरकी अनेक विभूतियोंमेंसे कोईभी प्रतीक हो सकती है – बहुतेरोंके अनेक प्रतीक और उनसे होनेवाला अनर्थ – उसे टालनेका उपाय – प्रतीक और तत्संबंधी भावनामें भेद – प्रतीक कुछभी हो, भावनाके अनुसार फल – विभिन्न देवताओंकी उपासनाएँ – उसमेंभी फलदाता एकही परमेश्वर है, देवता नहीं – किसीभी देवताको भजो, वह परमेश्वरकाही अविधिपूर्वक भजन होता है – इस दृष्टिसे गीताके भक्तिमार्गकी श्रेष्ठता – श्रद्धा और प्रेमकी शुद्धता-अशुद्धता – उद्योग करनेसे क्रमशः सुधार और अनेक जन्मोंके पश्चात् सिद्धि – जिसे न श्रद्धा है न बुद्धि, वह डूबा – बुद्धिमें और भक्तिमें अंतमें एकही अद्वैत – ब्रह्मज्ञान होता है (पृ. ४३१) – कर्मविपाकप्रक्रियाके और अध्यात्मके सब सिद्धान्त भक्तिमार्गमेंभी स्थिर रहते हैं – उदाहरणार्थ, गीताके जीव और परमेश्वरका स्वरूप – तथापि इस सिद्धान्तमें कभी कभी शब्दभेद हो जाता है – उदा० कर्म अब परमेश्वरही हो गया – ब्रह्मार्पण और कृष्णार्पण – परंतु अर्थका अनर्थ होता हो, तो शब्दभेदभी नहीं किया जाता – गीताधर्ममें प्रतिपादित श्रद्धा और ज्ञानका मेल – भक्तिमार्गमें संन्यासधर्मकी अपेक्षा नहीं है – भक्तिका और कर्मका विरोध नहीं है – भगवद्भक्त और लोकसंग्रह – स्वकर्ममेंही भगवानका यजन-पूजन – ज्ञानमार्ग त्रिवर्गके लिये है, तो भक्तिमार्ग स्त्री, शूद्र आदि सबके लिये खुला – अंतकालमेंभी अनन्य भावसे परमेश्वरके शरणापन्न होनेपर मुक्ति – अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा गीताके धर्मकी श्रेष्ठता। पृ. ४०७-४४२

चौदहवाँ प्रकरण – गीताध्यायसंगति

विषय-प्रतिपादनकी दो रीतियाँ – शास्त्रीय और संवादात्मक – संवादात्मक पद्धतिके गुणदोष – गीताका आरंभ – प्रथमाध्याय – द्वितीय अध्यायमें 'सांख्य' और 'योग', इन दो मार्गोंसेही आरंभ – तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायमें कर्मयोगका विवेचन – कर्मकी अपेक्षा साम्यबुद्धिकी श्रेष्ठता – कर्म छूट नहीं सकते – सांख्य-निष्ठाकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेयस्कर है – साम्यबुद्धिको पानेके लिये इंद्रियनिग्रहकी आवश्यकता – छठे अध्यायमें वर्णित इंद्रियनिग्रहका साधन – कर्म, भक्ति और ज्ञान, इस प्रकार गीताके तीन स्वतंत्र विभाग करना उचित नहीं है – ज्ञान और भक्ति कर्मयोगकी साम्यबुद्धिके साधन हैं अतएव त्वम्, तत्, असि इस प्रकारभी षडध्यायी नहीं होती – सातवे अध्यायसे लेकर बारहवे अध्यायतक ज्ञानविज्ञानका विवेचन कर्मयोगकी सिद्धिके लियेही है, स्वतंत्र नहीं है – सातवेंसे लेकर बारहवे अध्यायतकका तात्पर्य – गीताके इन अध्यायोंमेंभी भक्ति और ज्ञान पृथक् पृथक

वह क्यों उत्पन्न हुआ है, इस विषयमें पुराने ईसाई पंडितोंकी राय – एसीन पंथ और यूनानी तत्त्वज्ञान – ईसाई धर्मके साथ बौद्ध धर्मकी अद्भुत समता – इनमें बौद्ध-धर्मकी निर्विवाद प्राचीनता – इस बातका प्रमाण, कि यहूदियोंके देशमें बौद्ध यतियोंका प्रवेश प्राचीन समयमेंही हो गया था – अतएव ईसाई धर्मके तत्त्वोंका बौद्ध धर्मसेही अर्थात् पर्यायसे वैदिक धर्मसेही अथवा गीतासेही लिया जाना पूर्ण संभव है – इससे सिद्ध होनेवाली गीताकी निस्सन्दिग्ध प्राचीनता। पृ ५१०–५९५

गीतारहस्यके संक्षिप्त चिन्होका ब्योरा, और संक्षिप्त चिन्होसे जिन ग्रंथोंका उल्लेख किया है, उनका परिचय

अथर्व. अथर्व वेद । काड, सूक्त और ऋचाके क्रमसे आगेके अक है ।

अष्टा. अष्टावक्रगीता । अध्याय और श्लोक । अष्टेकर और मडलीका गीतासग्रहका सस्करण ।

ईश ईशावास्योपनिषद् । आनदाश्रमका सस्करण ।

ऋ ऋग्वेद । मडल, सूक्त और ऋचा ।

ऐ. अथवा **ऐ उ** ऐतरेयोपनिषद् । अध्याय, खड और श्लोक । आनन्दाश्रमका सस्करण ।

ऐ ब्रा., ऐतरेय ब्राह्मण । पचिका और खड । डॉ हौडाका सस्करण ।

क अथवा **कठ** कठोपनिषद् । वल्ली और मत्र । आनदाश्रमका सस्करण ।

केन. केनोपनिषद् (=तलवकारोपनिषद्) । खड और मत्र । आनदाश्रमका सस्करण ।

कै. कैवल्योपनिषद् । खड और मत्र । २८ उपनिषद्, निर्णयसागरका सस्करण ।

कौषी कौषीतक्युपनिषद् अथवा कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् । अध्याय और खड । कही कही इस उपनिषदके पहले अध्यायकोही ब्राह्मणानुक्रमसे तृतीय अध्याय कहते है । आनदाश्रमका सस्करण ।

गा तुकाराम महाराजकी गाथा (मराठी) दामोदर सावलाराम सस्करण ई सन १९०० ।

गी भगवद्गीता । अध्याय और श्लोक । **गी. शा भा** गीता शाकरभाष्य । **गी रा भा** गीता रामानुजभाष्य । आनदाश्रमवाली गीता, और शाकर-भाष्यकी प्रतिके अतमे शब्दोकी सूचि है, जो अत्यत उपयोगी सिद्ध हुई । हमने निम्नलिखित टीकाओका उपयोग किया – श्रीवेकटेश्वर प्रेसका रामानुजभाष्य, कुभकोणके कृष्णाचार्यद्वारा प्रकाशित माध्वभाष्य, जगद्धितेच्छु छापाखानेमे (पूना) छपी हुई आनदगिरीकी टीका और परमार्थप्रपा टीका, नेटिव ओपिनियन छापाखाने (बम्बई) में छपी हुई मधुसूदनी टीका, निर्णयसागरमें छपी हुई श्रीधरी और वामनी (मराठी) टीका, आनदाश्रममें छपा हुआ पैशाचभाष्य, गुजराती प्रिंटिग प्रेसकी वल्लभसप्रदायी तत्त्वदीपिका, बम्बईमें छपे हुए महाभारतकी नीलकण्ठी, और मद्रासमे छपी हुई ब्रह्मानदी । परतु इनमेसे पैशाचभाष्य और ब्रह्मानदीको छोडकर शेष टीकाएँ और निम्बार्क सप्रदायकी एव दूसरी कुछ और टीकाएँ – कुल पद्रह सस्कृत टीकाएँ – गुजराती प्रिंटिग प्रेसने अभी अभी छाप कर प्रकाशित की है, अत अब इस एकही ग्रथसे सारा काम हो जाता है ।

गी र अथवा गीतार गीतारहस्य। हमारे ग्रंथका पहला निबंध।

छा छान्दोग्योपनिषद्। अध्याय, खंड और मंत्र। आनंदाश्रमका संस्करण।

जै सू जैमिनीके मीमांसासूत्र। अध्याय, पाद और सूत्र। कलकत्तेका संस्करण।

ज्ञा ज्ञानेश्वरी, माथी इंदिरा प्रेस संस्करण।

तै अथवा तै उ तैत्तिरीय उपनिषद्। वल्ली, अनुवाक और मन्त्र। आनंदाश्रमका संस्करण।

तै ब्रा तैत्तिरीय ब्राह्मण। काण्ड प्रपाठक, अनुवाक और मंत्र। आनंदाश्रमका संस्करण।

तै स तैत्तिरीय संहिता। काण्ड प्रपाठक, अनुवादक और मंत्र।

दा अथवा दास श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकृत दासबोध। धुलिया सत्कार्योत्तेजक सभाकी प्रतिका, चित्रशाला प्रेसमें छपा हुआ हिंदी अनुवाद।

ना प नारदपंचरात्र। कलकत्तेका संस्करण।

ना सू नारदसूत्र। बम्बईका संस्करण।

नृसिंह उ नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्।

पातंजलसू पातंजलयोगसूत्र। तुकाराम तात्याका संस्करण।

पंच पंचदशी। निर्णयसागरका सटीक संस्करण।

प्रश्न प्रश्नोपनिषद्। प्रश्न और मंत्र। आनंदाश्रमका संस्करण।

बृ अथवा बृह बृहदारण्यकोपनिषद्। अध्याय, ब्राह्मण और मंत्र। आनंदाश्रमका संस्करण। साधारण पाठ काण्व केवल एक स्थानपर माध्यंदिन शाखाके पाठका उल्लेख है।

ब्र सू आगे वे सू देखो।

भाग श्रीमद्भागवतपुराण। निर्णयसागरका संस्करण।

भा ज्यो भारतीय ज्योतिःशास्त्र। स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षितकृत।

मत्स्य मत्स्यपुराण। आनंदाश्रमका संस्करण।

मनु मनुस्मृति। अध्याय और श्लोक। डॉ जालीका संस्करण। मंडलिकके अथवा अन्य किसीभी संस्करणमें येही श्लोक प्रायः एकही स्थानपर मिलेंगे। मनु पर जो टीका है, वह मंडलीकके संस्करणकी है।

म भा श्रीमन्महाभारत। इसके आगेके अक्षर विभिन्न पर्वोंके दर्शक है, अंकके अध्यायके और श्लोकोंके है। कलकत्तेके बाबू प्रतापचंद्र र. के द्वारा मुद्रित संस्कृत प्रतिकाही हमने सर्वत्र उपयोग किया है। बम्बईके संस्करणमें येही श्लोक कुछ आगे-पीछे मिलेंगे।

मि प्र मिलिंदप्रश्न। पाली ग्रंथ। अंग्रेजी अनुवाद।

मु अथवा मुंड मुंडकोपनिषद्। मुंडक, खंड और मंत्र। आनंदाश्रमका संस्करण।

मैत्र्यु मैत्र्युपनिषद् अथवा मैत्रायण्युपनिषद् । प्रपाठक और मत्र । आनदाश्रमका सस्करण ।

याज्ञ याज्ञवल्क्यस्मृति । अध्याय और श्लोक । वम्बईका छापा हुआ । इसकी अपराके टीकाकाभी (आनदाश्रमका सस्करण) दो-एक स्थानोपर उल्लेख है ।

यो. अथवा योग. योगवाशिष्ठ । प्रकरण, सर्ग और श्लोक । छठे प्रकरणके दो भाग है, (पू) पूर्वार्ध, और (उ) उत्तरार्ध । निर्णयसागरका सटीक सस्करण ।

रामपू रामपूर्वतापिन्युपनिषद् । आनदाश्रमका सस्करण ।

वाज. स. वाजसनेयि सहिता । अध्याय और मत्र । वेवरका सस्करण ।

वाल्मीकिरा अथवा वा रा वाल्मीकिरामायण । काड, अध्याय और श्लो । बम्बईका सस्करण ।

विष्णु विष्णुपुराण, अश, अध्याय और श्लोक । बम्बईका सस्करण ।

वेसू वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र । अध्याय, पाद और सूत्र । वे शू शा भा वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य । आनदाश्रमवाले सस्करणकाही सर्वत्र उपयोग किया है ।

शा सू शाडिल्यसूत्र । वम्बईका सस्करण ।

शिव शिवगीता । अध्याय और श्लोक । अप्टेकर और मडलीके गीतासग्रहका सस्करण ।

श्वे श्वेताश्वतरोपनिषद् । अध्याय और मत्र । आनदाश्रमका सस्करण ।

सा का साख्यकारिका । तुकाराम तात्याका सस्करण ।

सूर्यगी सूर्यगीता । अध्याय और श्लोक । मद्रासका सस्करण ।

हरि हरिवश । पर्व, अध्याय और श्लोक । वम्बईका सस्करण ।

S B E – Sacred Books of the East Series

टिप्पणी – इनके अतिरिक्त और कितनेही सस्कृत, अग्रेजी, मराठी एव पाली ग्रथोका स्थान-स्थानपर उल्लेख है । परतु उनके नाम यथास्थानपर प्राय पूरे लिख दिये गये है, अथवा वे समझमे आ सकते है, इसलिये उनके नाम इस सूचिमें शामिल नही किये गये ।

लोकमान्य तिलकजीकी जन्मकुंडली, राशिकुंडली
तथा
जन्मकालीन स्पष्टग्रह

शके १८७८ आषाढ कृष्ण ६, सूर्योदयात् गत घटि २, पल ५

जन्मकुंडली
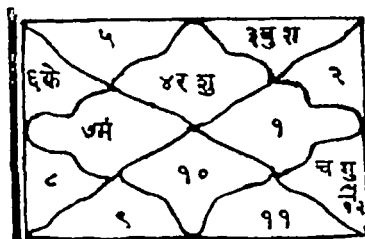
राशिकुंडली
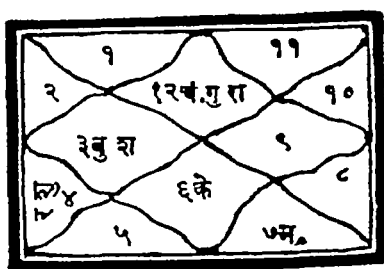
जन्मकालीन स्पष्टग्रह

रवि	चंद्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	लग्न
३	११	६	२	११	३	२	११	५	३
८	१६	४	२४	१७	१०	१७	२७	२७	१९
१९	३	३८	२९	५२	८	१८	३९	३९	२१
५१	८६	३७	१७	१६	२	७	१६	१६	३१

श्रीगणेशाय नम ।

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र

पहला प्रकरण

विषयप्रवेश

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ *

— महाभारत, आदिम श्लोक ।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रथोका एक अत्यत तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माड-ज्ञानसहित आत्मविद्याके गूढ और पवित्र तत्त्वोको थोडेमें और स्पष्ट रीतिसे समझा देनेवाला, उन्ही तत्त्वोके आधारपर मनुष्यमात्रके पुरुषार्थकी – अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी – पहचान करा देनेवाला, भक्ति, और ज्ञानका मेल कराके इन दोनोका शास्त्रोक्त व्यवहारके साथ सयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा ससारसे त्रस्त मनुष्यको शाति देकर उसे निष्काम कर्तव्यके आचरणमे लगानेवाला गीताके समान बालबोध ग्रथ, सस्कृतकी कौन कहे, समस्त ससारके साहित्यमेभी नही मिल सकता। केवल काव्यकीही दृष्टिसे यदि इसकी परीक्षा की जाय तोभी यह ग्रथ उत्तम काव्योमें गिना जा सकता है, क्योकि इसमे आत्मज्ञानके अनेक गूढ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषामे लिखे गये हैं, कि वे बूढो और बच्चोको एकसमान सुगम है, और इसमे ज्ञानयुक्त भक्तिरसभी भरा पडा है। जिस ग्रथमे समस्त वैदिक धर्मका सार स्वय श्रीकृष्ण भगवानकी वाणीसे सग्रहित

---

* नारायणको, मनुष्योमे जो श्रेष्ठ नर है उसको, सरस्वती देवीको और व्यासजीको नमस्कार करके फिर 'जय' अर्थात् महाभारतको पढना चाहिये – यह

किया है, उसकी योग्यताका वर्णन कैसे किया जाय? महाभारतकी लडाई समाप्त होनेपर एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे थे। उस समय अर्जुनके मन इच्छा हुई कि श्रीकृष्णसे एक बार फिर गीता सुने। तुरत अर्जुनने विनती की, "महाराज! आपने जो उपदेश मुझे युद्धके आरभमें दिया था उसे मैं भूल गया हूँ। कृपा करके फिर एक बार उसे बतलाइये।" तब श्रीकृष्ण भगवानने उत्तर दिया कि – उसे "उस समय मैंने अत्यत योगयुक्त अत करणसे उपदेश किया था। अब सभव नही कि मैं वैसेही उपदेश फिर कर सकूं।" यह बात अनुगीताके प्रारभ (महाभारत अश्वमेध अध्याय १६, श्लोक १० से १३) में दी हुई है। सच पूछें तो भगवान् श्रीकृष्णचद्रके लिये कुछभी असभव नही है, परतु उनके उक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है, कि गीताका महत्त्व कितना अधिक है। यह ग्रथ, वैदिक धर्मके भिन्न भिन्न सप्रदायोंमे, वेदके समान, आज करीब ढाई हजार वर्षोंसे सर्वमान्य तथा प्रमाणस्वरूप हो गया है, इसका कारणभी उक्त ग्रथका महत्त्वही है। इसी लिये गीता-ध्यानमें इस स्मृतिकालीन ग्रथका अलकार-युक्त, परतु यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया गया है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन ।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत् ॥

अर्थात् जितने उपनिषद् है वे मानो गौएँ है, श्रीकृष्ण स्वय दूध दुहनेवाले (ग्वाला) है, बुद्धिमान् अर्जुन (उन गौओको पन्हानेवाला) भोक्ता बछडा (वत्स) है, और जो दूध दुहा गया वही मधुर गीतामृत है। इसमें कुछ आश्चर्य नही, कि हिंदुस्थानकी सब भाषाओमें इसके अनेक अनुवाद, टीकाएँ और विवेचन हो चुके है, परतु जबसे पश्चिमी विद्वानोको सस्कृत भाषाका ज्ञान होने लगा है, तबसे ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच, अग्रेजी आदि यूरोपकी भाषाओमेंभी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए है। तात्पर्य यह है, कि इस समय यह अद्वितीय ग्रथ समस्त ससारमें प्रसिद्ध है।

श्लोकका अर्थ है। महाभारत (उ ४८ ७–९ और २०–२२, तथा वन १२ ४४–४६) में लिखा है, कि नर और नारायण ये दोनो ऋषि दो स्वरूपोमें विभक्त – साक्षात् परमात्मा – ही है, और इन्ही दोनोंने आगे चलकर अर्जुन तथा श्रीकृष्णका अवतार लिया। सब भागवतधर्मीय ग्रथोके आरभमें इन्हीको प्रथम इसलिये नमस्कार करते है, कि निष्काम कर्म-युक्त नारायणीय तथा भागवत-धर्मको इन्होंनेही पहलेपहल जारी किया था। इस श्लोकमें कही कही 'व्यास'के बदले 'चैव' पाठभी है, परतु हमे यह युक्तिसगत नही मालूम होता, क्योकि, जैसे भागवत-धर्मके प्रचारक नर-नारायणको प्रणाम करना सर्वथा उचित है, वैसेही इस धर्मके दो मुख्य ग्रथो (महाभारत और गीता) के कर्ता व्यासजीकोभी नमस्कार करना उचित है। महाभारतका प्राचीन नाम 'जय' है (सभा आ ६२ २०)।

इस ग्रथमे मब उपनिपदोका सार आ गया है, इसीमे इसका पूरा नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषत्' है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अतमे जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक सकल्प है, उसमे "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे" इत्यादि शब्द है। यह सकल्प यद्यपि मूलग्रथ (महाभारत) मे नही है, तथापि यह गीताकी सभी प्रतियोमे पाया जाता है। इसमे अनुमान होता है, कि गीताकी किसीभी प्रकारकी टीका हो जानेके पहलेही, जब महाभारतसे गीता नित्यपाठके लिये अलग निकाल ली गयी तभीमे उक्त सकल्पका प्रचार हुआ होगा। इस दृष्टिसे, गीताके तात्पर्यका निर्णय करनेके कार्यमे उसका महत्त्व कितना है, यह आगे चलकर वताया जायगा। यहाँ इस सकल्पके केवल दो पद (भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) विचारणीय है। उपनिषत् शब्द हिंदीमे पुल्लिग माना जाता है, परतु वह सस्कृतमें स्त्रीलिंग है। इसलिये "श्रीभगवानसे गाया गया अर्थात् कहा गया उपनिषद्" यह अर्थ प्रकट करनेके लिये सस्कृतमें "श्रीमद्-भगवद्गीता उपनिषत्" ये दो विशेषण-विशेष्यरूप स्त्रीलिग शब्द प्रयुक्त हुए है, और यद्यपि ग्रथ एकही है, तथापि सम्मानके लिये 'श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु' ऐसा सप्तमीके वहुवचनका प्रयोग किया गया है। शकराचार्यके भाष्यमेभी इस ग्रथको लक्ष्य करके 'इति गीतासु' यह बहुवचनात प्रयोग पाया जाता है। परतु नामको सक्षिप्त करनेके समय आदरसूचक प्रत्यय, पद तथा अतिम सामान्य जाति-वाचक 'उपनिषत्' शब्दभी उडा दिया गया, जिससे 'श्रीमद्भगवदगीता उपनिषद्' इन प्रथमाके एकवचनान्त शब्दो के वदले पहले 'भगवद्गीता' और फिर केवल 'गीता'-ही सक्षिप्त नाम प्रचलित हो गया। ऐसे बहुत-मे सक्षिप्त नाम प्रचलित है। जैसे — कठ, छादोग्य, केन इत्यादि। यदि 'उपनिषद्' शब्द मूल नाममे न होता तो 'भागवतम्', 'भारतम्', 'गोपीगीतम्' इत्यादि शब्दोके समान इस ग्रथका नामभी 'भगवद्गीतम्' या केवल 'गीतम्' बन जाता, जैसा कि नपुसकलिगके शब्दोका स्वरूप होता है। परतु जव कि ऐसा हुआ नही है और 'भगवद्गीता' या 'गीता' यही स्त्रीलिग शब्द अवतक वना रहा है, तव उसके सामने 'उपनिपत्' शब्दको नित्य अध्याहृत समझना-ही चाहिये। अनुगीताकी अर्जुनमिश्रकृत टीकामे 'अनुगीता' शब्दका अर्थभी इसी रीतिमे किया गया है।

परन्तु सात सौ श्लोकोकी भगवद्गीताकोही गीता नही कहते। अनेक ज्ञान-विषयक ग्रथभी गीता कहलाते है। उदाहरणार्थ, महाभारतके शातिपर्वातर्गत मोक्ष-पर्वके कुछ फुटकर प्रकरणोको पिंगलगीता, शपाकगीता, मकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारितगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता और हमगीता कहते है। अश्वमेघ पर्वकी अनुगीताके एक भागका विशेषनाम 'ब्राह्मणगीता' है। इनके सिवा अवधूत-गीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता, देवीगीता, पाडवगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुगीता, यमगीता, रामगीता, व्यासगीता, शिवगीता,

सूतगीता, सूर्यगीता इत्यादि अनेक गीताएँ प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे कुछ तो, स्वतन्त्र रीतिसे निर्माण की गयी हैं और शेष भिन्न भिन्न पुराणोंमें हैं। जैसे, गणेशपुराणके अंतिम क्रीडाखंडके १३८ से १४८ अध्यायोंमें गणेशगीता कही गयी है। इसे यदि थोडें हेर-फेरके साथ भगवद्गीताकी नकल कहे तो कोई हानि नही। कूर्मपुराणके उत्तरभागके पहले ग्यारह अध्यायोमे ईश्वरगीता है। इसके बाद व्यासगीताका आरंभ हुआ है। स्कंदपुराणांतर्गत सूतसंहिताके चौथे अर्थात् यज्ञवैभवखंड के उपरिभागके आरंभ (१ से १२ अध्यायतक) मे ब्रह्मगीता है और इसके बादके अध्यायोंमें सूतगीता, है। यह तो हुई आठ स्कंदपुराणकी ब्रह्मगीता, दूसरी एक और ब्रह्मगीता है, जो योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्ध (सर्ग १७३ से १८१ तक) में आ गयी है। यमगीताएँ तीन प्रकारकी है। पहली विष्णुपुराणके तीसरे अंशके सातवे अध्यायमें, दूसरी, अग्निपुराणके तीसरे खंडके ३८१ वे अध्यायमें, और तीसरी, नृसिंहपुराणके आठवे अध्यायमें है। यही हाल रामगीताका है। महाराष्ट्रमें जो रामगीता प्रचलित है वह अध्यात्मरामायणके उत्तरकांडके पाँचवे सर्गमें है, और यह अध्यात्मरामायण ब्रह्मांडपुराणका एक भाग माना जाता है, परंतु इसके सिवा एक दूसरी रामगीता 'गुरुज्ञान-वासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक ग्रंथमें है, जो मद्रासकी ओर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ वेदान्तविषयपर लिखा गया है। इसमें ज्ञान, उपासना और कर्म-संबंधी तीन कांड है। इसके उपासनाकांडके द्वितीय पादके पहले अठारह अध्यायोमें रामगीता है और कर्मकांडके तृतीय पादके पहले पाँच अध्यायोमें सूर्यगीता है। कहते है कि शिवगीता पद्मपुराणके पातालखंडमें है। पर इस पुराणकी जो प्रति पूणेके आनंदाश्रममें छपी है उसमे शिवगीता नही है। पंडित ज्वालाप्रसादने अपने 'अष्टादशपुराणदर्शन' ग्रंथमें लिखा है कि शिवगीता गौडीय पद्मोत्तरपुराणमें है। नारदपुराणमें अन्य पुराणोके साथ साथ, पद्मपुराणकीभी जो विषयानुक्रमणिका दी गयी है, उसमें शिवगीताका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमद्-भागवतपुराणके ग्यारहवे स्कंधके तेरहवे अध्यायमें हंसगीता और तेईसवे अध्यायमें भिक्षुगीता कही गयी है। तीसरे स्कंधके कपिलोपाख्यान (अ २३–३३) को कई लोग 'कपिलगीता' कहते है, परंतु 'कपिलगीता' नामक एक छपी हुई स्वतंत्र पुस्तक हमारे देखनेमें आई है, जिनमें हठयोगका प्रधानत वर्णन किया गया है, और लिखा है, कि यह कपिलगीता पद्मपुराणसे ली गयी है, परंतु यह गीता पद्मपुराणमें हैही नही। इसमें एक स्थान (४ ७) पर जैन, जंगम और सूफीका उल्लेख किया गया है, जिससे कहना पडता है, कि यह गीता मुसलमानी शासनकालके बादकी होगी। भागवतपुराणहीके समान देवीभागवतमेंभी, सातवे स्कंधके ३१ से ४० अध्यायतक एक गीता है, और देवीसे कही जानेके कारण उसे देवीगीता कहते है। केवल भगवद्गीताहीका सार अग्निपुराणके तीसरे खंडके ३८० वे अध्यायमें, तथा गरुडपुराणके पूर्वखंडके २४२ वे अध्यायमें दिया हुआ है। इसी तरह कहा

जाता है, कि रामावतारमे वसिष्ठजीने जो उपदेश रामचद्रजीको दिया, उसीको योगवासिष्ठ कहते है, परतु इस ग्रथके अतिम (अर्थात् निर्वाण) प्रकरणमे 'अर्जुनोपाख्यान'भी शामिल है, जिसमे उस भगवद्गीताका साराश दिया गया है, कि जिसे कृष्णावतारमे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था। इस उपाख्यानमें भगवद्गीताके अनेक श्लोक ज्यो-कि-त्यो पाये जाते है (योग ६ पू सर्ग ५२–५८)। ऊपर कहा जा चुका है कि पुणेमे छपे हुए पद्मपुराणमे शिवगीता नही मिलती, परतु उसके न मिलनेपरभी इस प्रतिके उत्तरखडके १७१ से १८८ अध्यायतक भगवद्गीताके महात्म्यका वर्णन है, और भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायके लिये महात्म्यवर्णनका एक एक अध्याय है, और इसके सबधमें कथाभी कही गयी है। इसके सिवा वराहपुराणमे एक गीतामहात्म्य है और शिवपुराणमें तथा वायुपुराणमेभी गीता-महात्म्यका होना बतलाया जाता है, परतु कलकत्तेके छपे हुए वायुपुराणमें वह हमें नही मिला। भगवद्गीताकी छपी हुई पुस्तकोंके आरभमें 'गीता-ध्यान' नामक नौ श्लोकोका एक प्रकरण पाया जाता है। नही जान पडता, कि यह कहाँसे लिया गया है, परतु इसका "भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला०" श्लोक, थोडे हेरफेरके साथ, हालहीमें प्रकाशित 'ऊरुभग' नामक भास कविकृत नाटकके आरभमें दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है, कि उक्त 'ध्यान' भास कविके समयके अनतर प्रचार-मे आया होगा। क्योकि यह माननेकी अपेक्षा कि भाससरीखे प्रसिद्ध कविने इस श्लोकको गीता-ध्यानमे लिया है, यही कहना अधिक युक्तिसगत होगा, कि गीता-ध्यानकी रचना भिन्न भिन्न स्थानोसे लिये हुए, और कुछ नये बनाये हुए श्लोको-मे की गयी है। भास कवि कालिदाससे पहिले हो गया है। इसलिये उसका समय कम-से-कम सवत् ४३५ (शक तीन सौ) से अधिक अर्वाचीन नही हो सकता।*

ऊपर कही गयी बातोंसे यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आ सकती है, कि भगवद्-गीताके तौर-पे और कितने अनुवाद तथा कुछ हेरफेरके साथ कितनी नकले, तात्पर्य और महात्म्य-पुराणोमें मिलते है। इस बातका पता नही चलता, कि अवधूत और अष्टावक्र आदि दो-चार गीताओको कब और किसने स्वतत्र रीतिसे रचा, अथवा वे किस पुराणसे ली गयी है। तथापि इन सब गीताओकी रचना तथा विषय-विवेचन-को देखनेसे यही मालूम होता है, कि ये सब ग्रथ, भगवद्गीताके जगप्रसिद्ध होनेके बादही, बनाये गये है। इन गीताओंके सबधमें यह कहनेमेभी कोई हानि नही कि वे इसी लिये रची गयी है, कि किसी विशिष्ट पथ या विशिष्ट पुराणमें भगवद्गीताके समान एक-आध गीताके रहे बिना उस पथ या पुराणकी पूर्णता नही हो सकती थी। जिस तरह श्रीभगवान्ने भगवद्गीतामें अर्जुनको विश्वरूप दिखाकर

---

* उपर्युक्त अनेक गीताओ तथा भगवद्गीताको श्री हरि रघुनाथ भागवतने पूनेमें प्रकाशित किया।

ज्ञान वतलाया है, उसी तरह शिवगीता, देवीगीता और गणेशगीतामेंभी वर्णन है। शिवगीता, ईश्वरगीता आदिमे तो भगवद्गीताके अनेक श्लोक अक्षरश पाये जाते है। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन सब गीताओमें भगवद्गीताकी अपेक्षा कुछ अधिक विशेषता नही है, और भगवद्गीतामें अध्यात्मज्ञान और कर्मका मेल कर देनेकी जो अपूर्व शैली है वह इनमेंसे किसीभी गीतामें नही है। भगवद्गीतामें पातजलयोग अथवा हठयोग और कर्मत्यागरूप सन्यासका यथोचित वर्णन न देखकर, उसकी पूर्तिके लिये कृष्णार्जुन-सवादके रूपमें, किसीने उत्तरगीता वादमें लिख डाली है। अवधूत और अष्टावक्र आदि गीताएँ विलकुल एकदेशीय है। क्योकि इनमे केवल सन्यासमार्गकाही प्रतिपादन किया गया है। यमगीता और पाडवगीता तो केवल भक्तिविपयक सक्षिप्त स्तोत्रोके समान है। शिवगीता, गणेशगीता और सूर्यगीता ऐसी नही है। यद्यपि इनमे ज्ञान और कर्मके समुच्चयका युक्तियुक्त समर्थन अवश्य किया गया है, तथापि इनमें नवीनता कुछभी नही है, क्योकि यह विषय प्राय भगवद्गीतासेही लिया गया है। इन कारणोसे भगवद्गीताके प्रगल्भ तथा व्यापक तेजके सामने वादकी वनी हुई कोईभी पौराणिक गीता ठहर नही सकी, और इन नकली गीताओंसे उलटे भगवद्गीताकाही महत्त्व अधिक वढ गया है। यही कारण है, कि 'भगवद्गीता'का 'गीता'नाम प्रचलित हो गया है। (अध्यात्म-रामायण और योगवासिष्ठ यद्यपि विस्तृत ग्रथ है तोभी वे वादमें वने है। और यह वात उनकी रचनासेही स्पष्ट मालूम हो जाती है। मद्रासका 'गुरुज्ञानवासिष्ठ तत्त्वसारायण' नामक ग्रथ कइयोके मतानुसार बहुत प्राचीन है, परतु हम ऐसा नही मानते, क्यो कि उसमें १०८ उपनिषदोका उल्लेख है, जिनकी प्राचीनता सिद्ध नही हो सकती)। सूर्यगीतामें विशिष्टाद्वैत मतका उल्लेख पाया जाता है (३ ३०), और कई स्थानोमें भगवद्गीताहीका युक्तिवाद लिया हुआ-सा जान पडता है (१ ६८)। इसलिये यह ग्रथभी बहुत पीछेसे – श्रीशकराचार्यकेभी बाद – बनाया गया होगा।

अनेक गीताओके होनेपरभी भगवद्गीताकी श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। इसी कारण उत्तरकालीन वैदिकधर्मीय पडितोने, अन्य गीताओपर अधिक ध्यान नही दिया, और भगवद्गीताहीकी परीक्षा करने और उसीका तात्पर्य अपने बधुओको समझा देनेमें, अपनी कृतकृत्यता मानने लगे। ग्रथकी दो प्रकारसे परीक्षा की जाती है। एक अतरग-परीक्षा और दूसरी बहिरग-परीक्षा कहलाती है। पूरे ग्रथको देखकर उसके मर्म, रहस्य, मथितार्थ और प्रमेय ढूंढ निकालना 'अतरग-परीक्षा' है। ग्रथको किसने और कब बनाया, उसकी भाषा सरस है या नीरस, काव्य-दृष्टिसे उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण है या नही, शब्दोंकी रचनामें व्याकरणपर ध्यान दिया गया है या उस ग्रथमें अनेक आर्ष प्रयोग है, उसमे किनकिन मतो-स्थलो और व्यक्तियोका उल्लेख है, इन बातोंसे ग्रथके कालनिर्णय और तत्कालीन समाज-

स्थितिका कुछ पता चलता है या नही, ग्रथके विचार स्वतत्र हैं अथवा चुराये हुए हैं, यदि उसमें दूसरोंके विचार भरे है, तो वे कौनसे हैं और कहाँसे लिये गये है, इत्यादि बातोके विवेचनको 'बहिरग-परीक्षा' कहते है। जिन प्राचीन पडितोंने गीतापर टीका और भाष्य लिखे हैं उन्होंने उक्त बाहरी बातोंपर अधिक ध्यान नही दिया। इसका कारण यही है, कि वे लोग भगवद्गीतासरीखे अलौकिक ग्रथकी परीक्षा करते समय उक्त बाहरी बातोपर ध्यान देनेको ऐसाही समझते थे, जैसे-कि कोई मनुष्य एक-आध उत्तम सुगधयुक्त फूलको पाकर उसके रग, सौंदर्य, सुवास आदिके विषयमें कुछभी विचार न करे, और केवल उसकी पँखुरियाँ गिनता रहे अथवा जैसे कोई मनुष्य मधुमक्खीका मधुयुक्त छत्ता पाकर केवल उसके छिद्रोको गिननेमेंही समय नष्ट कर दे! परतु अब पश्चिमी विद्वानोंके अनुकरणसे हमारे आधुनिक विद्वान् लोग गीताकी बाह्य-परीक्षाभी बहुत कुछ करने लगे है। गीताके आर्ष प्रयोगोको देखकर एकने यह निश्चित किया है कि यह ग्रथ ईसासे कई शतक पहलेही बन गया होगा। इससे यह शका बिलकुलही निर्मूल हो जाती है, कि गीताका भक्तिमार्ग उस ईसाई धर्मसे लिया गया होगा, कि जो गीताके बहुत पीछेसे प्रचलित हुआ है। गीताके सोलहवे अध्यायमें जिस नास्तिक मतका उल्लेख है उसे बौद्धमत समझकर दूसरेने गीताका रचना-काल बुद्धके बाद माना है। तीसरे विद्वान्का कथन है कि तेरहवे अध्यायमें 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव०' श्लोकमें ब्रह्मसूत्रका उल्लेख होनेके कारण गीता ब्रह्मसूत्रके बाद बनी होगी। इसके विरुद्ध कई लोग कहते है, कि ब्रह्मसूत्रमें अनेक स्थानोपर गीताहीका आधार लिया गया है, जिससे गीताका उसके बाद बनना सिद्ध नहीं होता। कोई कोई ऐसाभी कहते हैं कि भारतीय युद्धमें रणभूमिपर अर्जुनको सात सौ श्लोकोकी गीता सुनानेका समय मिलना सभव नही है। हाँ, यह सभव है कि श्रीकृष्णने अर्जुनको लडाईकी जल्दीमें दस-बीस श्लोक या उनका भावार्थ सुना दिया हो, और उन्ही श्लोकोंके विस्तारको सजयने धृतराष्ट्रसे, व्यासने शुकसे, वैशपायनने जनमेजयसे और सूतने शौनकसे कहा हो, अथवा महाभारतकारनेभी उसको विस्तृत रीतिसे लिख दिया हो। गीताकी रचनाके सबधमें मनकी ऐसी प्रवृत्ति होनेपर गीता-सागरमें डुबकियाँ लगाकर किसीने सात,* किसीने अठ्ठाईस, किसीने छत्तीस और किसीने सौ, इस तरह गीताके मूल श्लोक खोज निकाले है। कोई कोई तो यहाँतक कहते हैं कि अर्जुनको

---

* आजकल एक सप्तश्लोकी गीता प्रकाशित हुई है, उसमें केवल येही सात श्लोक है – ॐ इत्येकाक्षर ब्रह्म इ० (गीता ८ १३), (२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या इ० (गीता ११ ३६), (३) सर्वत पाणिपाद तत् इ० (गीता १३ १३), (४) कवि पुराणमनुशासितार इ० (गीता ८ ९), (५) ऊर्ध्वमूलमध शाख इ० (गी १५ १) (६) सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्टो इ० (१५ १५), (७) मन्मना भव मद्भक्तो इ० (गीता १८ ६५) इसी तरह औरभी अनेक सक्षिप्त गीताएँ बनी है।

रणभूमिपर गीताका ब्रह्मज्ञान बतलानेकी कोई आवश्यकताही नही थी और वेदान्त विषयका यह उत्तम ग्रथ पीछेसे महाभारतमे जोड दिया गया है। यह नहीं कि बहिरग-परीक्षाकी ये सब बाते सर्वथा निरर्थक हो। उदाहरणार्थ, ऊपर कही गयी फूलकी पँखुरियो तथा मधुके छत्तेके छिद्रोकी बातकोही लीजिये। वनस्पतियोके वर्गीकरणके समय फूलोकी पँखुरियोकाभी विचार अवश्य करना पडता है। इसी तरह गणितकी सहायतासे यह सिद्ध किया गया है, कि मधुमक्खियोके छत्तेमें जो छेद होते हैं उनका आकार ऐसा होता है, कि मधुरसका घनफल तो कम होने नही पाता, और बाहरके आवरणका पृष्ठफल वहुत कम हो जाता है, जिससे मोमकी पैदाइश घट जाती है। इससे मधुमक्खियोका जन्मजात चातुर्य व्यक्त होता है। इसी प्रकारके उपयोगोपर दृष्टि देते हुए हमनेभी गीताकी बहिरग-परीक्षा की है, और उसके कुछ महत्त्वके सिद्धान्तोका विचार इस ग्रथके अतमें, परिशिष्टमें किया है, परतु जिनको ग्रथका रहस्यही जानना है, उनके लिये बहिरग-परीक्षाके झगडेमें पडना अनावश्यक है। वाग्देवीके रहस्यको जाननेवालो तथा उसकी ऊपरी और बाहरी बातोंके जिज्ञासुओमें जो भेद है उसे मुरारि कविने बडीही सरसताके साथ दरशाया है. —

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरताम्।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

अर्थात्, समुद्रकी अगाध गहराई जाननेकी यदि इच्छा हो तो किससे पूछा जाय? इसमें सदेह नही, कि राम-रावण-युद्धके समय सैकडो वानरवीर धडाधड समुद्रके ऊपरसे कूदते हुए लकामें चले गये थे, परतु उनमेंसे कितनोको समुद्रकी गहराईका ज्ञान था? समुद्र-मथनके समय देवताओंने मथनदड बनाकर जिस बडे भारी पर्वतको नीचे छोड दिया था और जो सचमुच समुद्रके नीचे पातालतक पहुँच गया था, वही मदराचल पर्वत समुद्रकी गहराईको जान सकता है। मुरारि कविके इस न्यायानुसार, गीताके रहस्यको जाननेके लिये, अब हमें उन पडितो और आचार्योंके ग्रथोकी ओर ध्यान देना चाहिये, जिन्होंने गीता-सागरका मथन किया है। इन पडितोमें महाभारतके कर्ताही अग्रगण्य हैं। अधिक क्या कहे, आजकल जो गीता प्रसिद्ध है, उसके येही एक प्रकारसे कर्ताभी कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रथम उन्हीके मतानुसार सक्षेपमे गीताका तात्पर्य दिया जाएगा।

'भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवानसे गाया गया उपनिषत्' इस नामहीसे बोध होता है, कि गीतामें अर्जुनको उपदेश किया गया है वह प्रधान रूपसे भागवतधर्म — भगवान्के चलाये हुए धर्म — के विषयमें होगा। क्योकि श्रीकृष्णको 'श्रीभगवान्'का नाम प्राय भागवतधर्ममेंही दिया जाता है। यह उपदेश कुछ नया नही है। पूर्व कालमें यही उपदेश भगवानने विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको किया था। यह बात गीताके चौथे अध्यायके आरभ (गीता ४.१)

में दी हुई है। महाभारतके, शांतिपर्वके अंतमें नारायणीय अथवा भागवत धर्मका विस्तृत निरूपण है, जिसमें ब्रह्मदेवके अनेक जन्मोमें अर्थात् कल्पांतरोमें भागवत-धर्मकी परंपराका वर्णन किया गया है। और अंतमें यह कहा गया है –

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

अर्थात् ब्रह्मदेवके वर्तमान जन्मके त्रेतायुगमें इस भागवत-धर्मने विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकुकी परंपरासे विस्तार पाया है (मभा शा ३४८ ५१, ५२)। यह परंपरा गीतामें दी हुई उक्त परंपरासे मिलती है (गीता ४ १ पर हमारी टीका देखो)। दो भिन्न धर्मोकी परंपराका एक होना संभव नही है, इसलिये परंपराकी एकताके कारण यह अनुमान सहजही किया जा सकता है कि गीताधर्म और भागवतधर्म ये दोनो एकही है। इन धर्मोकी यह एकता केवल अनुमानही पर अवलंबित नही है। क्योंकि नारायणीय या भागवत-धर्मके निरूपणमे वैशंपायन जनमेजयसे कहते है –

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

अर्थात् हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय! यही उत्तम भागवत-धर्म, विधियुक्त और संक्षिप्त रीतिसे हरिगीता अर्थात् भगवद्गीतामें, तुझे पहलेही बतलाया गया है (मभा शा ३४६ १०)। इसके बाद एक अध्याय छोड कर दूसरे अध्याय (मभा शा ३४८ ८) मे नारायणीय धर्मके संबधमें फिरभी स्पष्ट रीतिसे कहा गया है कि –

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

अर्थात् कौरव-पाण्डव-युद्धके समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था तब स्वयं भगवानने उसे यह उपदेश किया था। इसमें यह स्पष्ट है, कि 'हरिगीता'से भगवद्गीताहीका मतलब है। गुरुपरंपराकी एकताके अतिरिक्त यहभी ध्यानमें रखने योग्य है, कि जिस भागवत-धर्म या नारायणीय धर्मके विषयमें दो-बार कहा गया है, कि वही गीताका प्रतिपाद्य विषय है, उसीको 'सात्वत' या 'एकांतिक' धर्मभी कहा है। इसका विवेचन करते समय (शा ३४७ ८०, ८१) दो लक्षण कहे गये है –

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभ ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक ॥

अर्थात् यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिमार्गका होकरभी पुनर्जन्मको टालनेवाला अर्थात् पूर्ण मोक्षका दाता है। फिर इस बातका वर्णन किया गया है, कि यह धर्म प्रवृत्तिमार्ग-का कैसे है। प्रवृत्तिका यह अर्थ प्रसिद्धही है, कि संन्यास न लेकर मरणपर्यंत चातुर्वर्ण्य

विहित निष्काम कर्मही करता रहे। इसलिये यह स्पष्ट है, कि गीतामें जो उपदेश अर्जुनको किया गया है, वह भागवतधर्मका है, और उसको महाभारतकार प्रवृत्ति-विषयकही मानते है, क्योकि उपर्युक्त धर्मभी प्रवृत्ति-विषयक है। साथ साथ यदि ऐसा कहा जाय, कि गीतामें केवल प्रवृत्तिमार्गकाही भागवतधर्म, है, तो यहभी ठीक नही। क्योकि वैशपायनने जनमेजयसे फिर कहा है (मभा शा ३४८ ५३)।

यतीना चापि यो धर्म. स ते पूर्व नपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पित ॥

अर्थात् हे राजा! यतियो – अर्थात् सन्यासियो – के निवृत्तिमार्गका धर्मभी तुम्हे पहले भगवद्गीतामें सक्षिप्त रीतिसे भागवतधर्मके साथ वतला दिया गया है, परतु यद्यपि गीतामे प्रवृत्तिधर्मके साथही यतियोका निवृत्तिधर्मभी वतलाया गया है, तथापि मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि गीताधर्मकी जो परपरा गीतामें दी गयी है, वह यतिधर्मको लागू नही हो सकती। वह केवल भागवत-धर्महीकी परपरासे मिलती है। साराश यह है, कि उपर्युक्त वचनोसे महाभारतकारका यही अभिप्राय जान पडता है, कि गीतामें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, वह विशेषकरके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परपरासे चले आये प्रवृत्ति-विषयक भागवतधर्महीका है, और उसमें निवृत्ति-विषयक यतिधर्मका जो निरूपण पाया जाता है वह केवल आनुषगिक है। पृथु, प्रियव्रत और प्रल्हाद आदि भक्तोकी कथाओसे, तथा भागवतमे दिये गये निष्काम कर्मके वर्णनोसे (भागवत ४ २२ ५१, ५२, ७ १० २३ और ११ ४ ६) यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि महाभारतका प्रवृत्ति-विषयक नारायणीय धर्म और भागवत-पुराणका भागवतधर्म, ये दोनो मूलत एक ही है। परतु भागवतपुराणका मुख्य उद्देश्य यह नही है, कि वह भागवतधर्मके कर्मयुक्त-प्रवृत्तितत्त्वका समर्थन करे। यह समर्थन, महाभारतमें और विशेषकरके गीतामें किया गया है, परतु इस समर्थनके समय भागवतधर्मीय भक्तिका यथोचित रहस्य दिखलाना व्यासजी भूल गये थे। इसलिये भागवतके आरभके अध्यायोमें लिखा है, कि (भागवत १ ५ १२) बिना भक्तिके केवल निष्काम कर्म व्यर्थ है यह सोच – कर, और महाभारतकी उक्त न्यूनताको पूर्ण करनेके लियेही, भागवत-पुराणकी रचना बादमें की गयी। इससे भागवतपुराणका मुख्य उद्देश्य स्पष्ट रीतिसे मालूम हो सकता है। यही कारण है कि भागवतमें अनेक प्रकारकी हरिकथाएँ कहकर भागवतधर्मकी भगवद्भक्तिके महात्म्यका जैसा विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वैसा भागवतधर्मके कर्मविषयक अगोका विवेचन उसमें नही किया है। अधिक क्या कहे, भागवतकारका यहाँतक कहना है, कि बिना भक्तिके सब कर्मयोग वृथा है (भाग १ ५ ३४)। अतएव गीताके तात्पर्यका निश्चय करनेमें जिस महाभारतमें गीता कही गयी है, उसी नारायणीयोपाख्यानका जैसा उपयोग हो सकता है, वैसा भागवतधर्मीय होनेपरभी, भागवत-पुराणका उपयोग नही हो सकता, क्योकि वह

केवल भक्तिप्रधान है। यदि उसका कुछ उपयोग कियाभी जाय, तो इस बातपरभी ध्यान देना पडेगा, कि महाभारत और भागवतपुराणके उद्देश्य और रचना-काल भिन्न भिन्न हैं। निवृत्ति-विषयक यतिधर्म और प्रवृत्तिविषयक भागवतधर्मका मूल स्वरूप क्या है? इन दोनोमें भेद क्यो है? मूल भागवतधर्म इस समय किस रूपातरसे प्रचलित है? इत्यादि प्रश्नोका विचार आगे चलकर किया जायगा।

यह मालूम हो गया, कि स्वय महाभारतकारके मतानुसार गीताका क्या तात्पर्य है। अब देखना चाहिये कि गीताके भाष्यकारो और टीकाकारोने गीताका क्या तात्पर्य निश्चित किया है। इन भाष्यो तथा टीकाओमे आजकल श्रीशकराचार्य-कृत गीता-भाष्य अतिप्राचीन ग्रथ माना जाता है। यद्यपि इसकेभी पूर्व गीतापर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी थी, तथापि वे अब उपलब्ध नही है, और इसी लिये जान नही सकते, कि महाभारतके रचना-कालसे शकराचार्यके समय-तक गीताका अर्थ किस प्रकार किया जाता था। तथापि शाकरभाष्यहीमें इन प्राचीन टीकाकारोके मतोका जो उल्लेख है (गीता शाभा अ २ और ३ का उपोद्‌घात) उससे साफ साफ मालूम होता है, कि शकराचार्यके पूर्वकालीन टीकाकार, गीताका अर्थ, महाभारत-कर्ताके अनुसारही ज्ञानकर्म समुच्चयात्मक किया करते थे। अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति-विषयक अर्थ लगाया जाता था, कि ज्ञानी मनुष्यको ज्ञानके साथ साथ मृत्युपर्यंत स्वधर्मविहित कर्म करना चाहिये। परतु वैदिक कर्मयोगका यह सिद्धान्त शकराचार्यको मान्य नही था। इसलिये उसका खण्डन करने और अपने मतके अनुसार गीताका तात्पर्य बतानेहीके लिये उन्होने गीता-भाष्यकी रचना की है। यह बात उक्त भाष्यके आरभके उपोद्‌घात-में स्पष्ट रीतिसे कही गई है। 'भाष्य' शब्दका अर्थभी यही है। 'भाष्य' और 'टीका' -का बहुतकरके समानार्थी उपयोग होता है, परतु सामान्यत 'टीका' मूलग्रथके सरल अन्वय और उसके सुगम अर्थ करनेहीको कहते हैं। भाष्यकार इतनीही बातोसे सतुष्ट नही रहता, वह उस ग्रथकी न्याययुक्त समालोचना करता है, अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बतलाता है, और उसीके अनुसार वह यहभी बतलाता है, कि ग्रथका अर्थ कैसे लगाना चाहिये। गीताके शाकरभाष्यका यही स्वरूप है। परतु गीताके तात्पर्यके विवेचनमें शकराचार्यने जो भेद किया है उसका कारण जाननेके पहले थोडासा पूर्वकालीन इतिहासभी यहीपर जान लेना चाहिये। वैदिक धर्म केवल तात्विक धर्म नही है। उसमे जो गूढ तत्त्व है, उनका सूक्ष्म विवेचन प्राचीन समयहीमें उपनिषदोमे हो चुका है, परतु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न ऋषियो-के द्वारा भिन्न भिन्न समयमे बनाए गये है। इसलिये उनमे कही कही विचार-विभिन्नता और परस्परविरुद्धताभी आगयी है। इस विचार-विरोधको मिटानेके लियेही बादरायणाचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोमें सब उपनिषदोकी विचारैक्यता कर दी है, और इसी कारणसे वेदान्तसूत्रभी उपनिषदोंके समानही प्रमाण माने जाते

है। इन्ही वेदान्तसूत्रोंके दूसरे नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरकसूत्र' हैं। तथापि वैदिकधर्मके तत्त्वज्ञानका पूर्ण विचार इतनेसेही नही हो सकता। क्योंकि उपनिषदोंका ज्ञान प्राय वैराग्यविषयक अर्थात् निवृत्तिपरक है, और वेदान्तसूत्र तो सिर्फ उपनिषदोंका मतैक्य करनेहीके उद्देश्यसे बनाए गये हैं। इसलिये उनमेंभी वैदिक प्रवृत्तिमार्गका विस्तृत तात्त्विक विवेचन कहींभी नही किया है। इसीलिये उपर्युक्त कथनानुसार जब प्रवृत्तिमार्ग-प्रतिपादक भगवद्गीताने वैदिक धर्मकी तत्त्वज्ञान-सबधी इस न्यूनताकी पूर्ति पहले पहल की, तब उपनिषदों और वेदान्तसूत्रोंके मार्मिक तत्त्वज्ञानकी पूर्णता करनेवाला यह भगवद्गीता ग्रथभी, उन्हींके समान सर्वमान्य और प्रमाणभूत हो गया। और, अतमें उपनिषदो, वेदान्तसूत्रो और भगवद्गीताका 'प्रस्थानत्रयी' नाम पड़ा। 'प्रस्थानत्रयी'का यह अर्थ है कि उसमें वैदिकधर्मके आधारभूत तीन मुख्य ग्रथ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मार्गोंका नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया है। इस तरह प्रस्थानत्रयीमें गीताके गिने जानेपर और प्रस्थानत्रयीका दिनादिन अधिकाधिक प्रचार होनेपर वैदिक धर्मके लोग उन मतो और सप्रदायोंको गोण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रथोमे नही किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्मके पतनके बाद वैदिकधर्मके जो जो सप्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिंदुस्थानमें प्रचलित हुये, उनमेंसे प्रत्येक सप्रदायके प्रवर्तक आचार्यको, प्रस्थानत्रयीके तीनो भागोंपर (अर्थात् भगवद्गीतापरभी) भाष्य लिखकर, यह सिद्धकर दिखानेकी आवश्यकता हुई, कि इन सब सप्रदायोंके जारी होनेके पहलेही जो तीन 'धर्मग्रथ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हींके आधारपर हमारा सप्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य सप्रदाय इन धर्मग्रथोंके अनुसार नही है। ऐसा करनेका कारण यही है, कि यदि कोई आचार्य यह स्वीकार कर लेते कि अन्य सप्र-दायभी प्रमाणभूत धर्मग्रथोंके आधारपर स्थापित हुये हैं, तो उनके सप्रदायका महत्त्व घट जाता – और, ऐसा करना किसीभी सप्रदायको इष्ट नहीं था। साप्रदायिक दृष्टिसे प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखनेकी यह रीति जब चल पडी, तब भिन्न भिन्न पडित अनेक सप्रदायोके भाष्योंके आधारपर टीकाएं लिखने लगे। और गीतार्थ प्रतिपादन करने लगे। यह टीका उसी सप्रदायके लोगोंको अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्यके अनुसार वह लिखी जाती थी। इस समय गीतापर जितने भाष्य और जितनी टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमेंसे प्राय सब इसी साप्रदायिक रीतिसे लिखी गयी हैं। इसका परिणाम यह हुआ, कि यद्यपि मूल गीतामे एकही अर्थ सुबोध रीतिसे प्रतिपादित हुआ है तथापि गीता भिन्न भिन्न सप्रदायोकी समर्थक समझी जाने लगी। इन सब सप्रदायामें शकराचार्यका सप्रदाय अतिप्राचीन है और तत्त्व-ज्ञानकी दृष्टिसे वही हिंदुस्थानमे सबसे अधिक मान्यभी हुआ है। श्रीमदाद्य-शकराचार्यका जन्म सवत् ८४५ (शक ७१०) मे हुआ था। बत्तीसवे वर्षमे उन्होंने

गहा-प्रवेश किया (सवत् ८४५ से ८७७)।* श्रीशकराचार्य बडे भारी अलौकिक विद्वान् तथा ज्ञानी थे। उन्होने अपनी दिव्य अलौकिक शक्तिसे उस समय चारो ओर फैले हुए जैन और बौद्धमतोका खडन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया, श्रुतिस्मृति-विहित वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये, भरतखडकी चारो दिशाओमे चार मठ बनवाकर, वैदिक सन्यास-धर्म या सप्रदायको कलियुगमें पुनर्जन्म दिया, यह कथा किसीसे छिपी नही है। आप किसीभी धार्मिक सप्रदाय-को लीजिये, उसके दो स्वाभाविक विभाग अवश्य होगे। पहला तत्त्वज्ञानका और दूसरा आचरणका। पहलेमें पिड-ब्रह्माडके विचारोंसे परमेश्वरके स्वरूपका निर्णय करके मोक्षकाभी शास्त्ररीत्यानुसार निर्णय किया जाता है। दूसरेमें इस बातका विवेचन किया जाता है, कि मोक्षकी प्राप्तिके साधन या उपायकी दृष्टिसे इस ससारमें मनुष्यको किस तरह वर्ताव करना चाहिए। इनमेंसे पहली अर्थात् तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर शकराचार्यका कथन यह है कि – (१) मैं, तू अथवा मनुष्यकी आँखसे दिखनेवाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टिके पदार्थोकी अनेकता सत्य नही है। इन सबमें एकही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा हुआ है और उसीकी मायासे मनुष्यकी इद्रियोको भिन्नताका भास हुआ करता है, (२) मनुष्यकी आत्माभी मूलत परब्रह्मरूपही है, और (३) आत्मा और परब्रह्मकी एकताका पूर्ण ज्ञान अर्थात् अनुभवसिद्ध पहचान हुए बिना कोईभी मोक्ष नही पा सकता। इसीको 'अद्वैतवाद' कहते हैं। क्योकि एक शुद्ध, बुद्ध, नित्य और मुक्त परब्रह्मके सिवा दूसरी कोईभी स्वतत्र और सत्य वस्तु नही है, दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टिका भ्रम, या मायाकी उपाधिसे होनेवाला आभास है, माया कुछ सत्य या स्वतत्र वस्तु नही है – वह मिथ्या है यही उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य है। केवल तत्त्वज्ञान-काही यदि विचार करना हो तो शाकर मतकी इससे अधिक चर्चा करनेकी आव-श्यकता नही है। परतु शाकर-सप्रदाय इतनेसेही पूरा नही हो जाता। अद्वैत तत्त्व-ज्ञानके साथही शाकर-सप्रदायका औरभी एक सिद्धान्त है जो आचार-दृष्टिसे पहलेके समान महत्त्व का है। उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता पानेके लिये स्मृति ग्रथोमे कहे गये गृहस्था-श्रमके कर्म अत्यत आवश्यक हैं, तथापि इन कर्मोका आचरण सदैव नही करते रहना चाहिये,' क्योकि उन सब कर्मोका त्याग करके अतमे सन्यास लिये बिना मोक्ष नही मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अधकार और प्रकाशके समान परस्परविरोधी हैं। इसलिये सब वासनाओ और कर्मोके छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञानकी पूर्णताही नही हो सकती। इसी दूसरे सिद्धान्तको 'निवृत्तिमार्ग' कहते

*यह बात आजकल निश्चित हो चुकी है, परतु हमारे मतसे श्रीमदाद्य-शकराचार्यका समय इसके औरभी सौ वर्षपूर्व समझना चाहिये। इस आधारके लिये परिशिष्ट प्रकरण देखो।

हैं, और सब कर्मोका सन्यास करके ज्ञानहीमें निमग्न रहते है, इसलिये 'सन्यास-निष्ठा' या 'ज्ञाननिष्ठा' भी कहते है। गीतापर श्रीशकराचार्यका जो भाष्य है उसमें यह प्रतिपादन किया है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रमें केवल अद्वैत ज्ञानही नही है, किंतु उनमे सन्यासमार्गका, अर्थात् शाकर-सप्रदायके उपर्युक्त दोनो भागोका-भी उपदेश है (गीता शाभा उपोद्घात और ब्रह्म सू शाभा २ १ १४)। इसके प्रमाण-स्वरूप गीताके कुछ वाक्यभी दिये गये है, जैसे "ज्ञानाग्नि सर्व-कर्माणि भस्ममात्कुरुते" अर्थात् ज्ञानरूपी अग्निसेही सब कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं (गीता ४ ३७) और "सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" – अर्थात् सब कर्मोका अत ज्ञानहीमें होता है (गीता ४ ३३)। साराश यह है, कि बौद्ध धर्मकी हार होनेपर प्राचीन वैदिक धर्मके जिस विशिष्ट मार्गको श्रेष्ठ ठहराकर श्रीशकराचार्यने स्थापित किया, उसीसे अनुकूल गीताकाभी अर्थ है। गीतामें ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन नही किया गया है, जैसे कि पहलेके टीकाकारोंने कहा है, किंतु उसमे शाकर-सप्रदायके उसी सिद्धान्तका उपदेश भगवानने अर्जुनको दिया गया है, कि कर्म ज्ञान-प्राप्तिका गौण साधन है और सर्व-कर्म-सन्यासपूर्वक ज्ञानहीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है – येही बाते बतलानेके लिये शाकरभाष्य लिखा गया है। श्रीशकराचार्यके पूर्व यदि एक-आध और भी सन्यास-विषयक टीका लिखी गयी हो तो वह इस समय उपलब्ध नही है। इसलिये यही कहना पडता है कि गीताके प्रवृत्ति-विषयक स्वरूपको बदल करके उसे निवृत्ति मार्गका साप्रदायिक रूप शाकरभाष्यके द्वाराही मिला है। श्रीशकराचार्यके बाद उनके सप्रदायके अनुयायी मधुसूदन आदि जो अनेक टीकाकारहो गये है, उन्होंने इस विषयमे मुख्यत शकराचार्यहीका अनुकरण किया है। इसके बाद एक और अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ, कि अद्वैत मतके मूलभूत महावाक्योमें से 'तत्त्वमसि' नामक जो महावाक्य छादोग्योपनिषद्मे है, उसीका विवरण गीताके अठारह अध्यायोमे किया गया है। परतु इस महावाक्यके क्रमको बदलकर, पहले 'त्व' फिर 'तत्' और फिर 'असि' इन पदोको लेकर, इस नये क्रमानुसार प्रत्येक पदके लिये गीताके आरभसे छ छ अध्याय श्रीभगवानने निष्पक्षपात बुद्धिसे बाँट दिये हैं। कयी लोग समझते है, कि गीतापर जो पैशाच भाष्य है वह किसीभी सप्रदाय-का नही है - बिलकुल स्वतन्त्र है, और हनुमानजी (पवनसुत) कृत है। परतु यथार्थ बात ऐसी नही है। भागवतके टीकाकार हनुमान पडितनेही इस भाष्यको बनाया है और यह सन्यासमार्गका है। इसमे कुछ स्थानोपर शाकरभाष्यकाही अर्थ शब्दश दिया गया है। मराठीमें पहले और आजतक गीताके जो अनुवाद या निरूपण हुए है, वेभी प्राय शाकरभाष्यके अनुसार हुए है। प्रोफेसर मेक्समूलर-की प्रकाशित 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला'मे स्वर्गवासी काशीनाथपत तेलगकृत भगवद्गीताका अग्रेजी अनुवादभी है। इसकी प्रस्तावनामें लिखा है कि इस

अनुवादमे श्रीशकराचार्य और शाकर-सप्रदायी टीकाकारोका, जितना हो सका उतना, अनुकरण किया गया है।

गीता और प्रस्थानत्रयीके अन्य ग्रथोपर जब इस भाँति साप्रदायिक भाष्य लिखनेकी रीति प्रचलित हो गयी, तब दूसरे सप्रदायभी इस बातका अनुकरण करने लगे। मायावाद, अद्वैत और सन्यासका प्रतिपादन करनेवाले शाकरसप्रदायके लगभग ढाई सौ वर्ष बाद, श्रीरामानुजाचार्य (जन्म सवत् १०७३) ने विशिष्टाद्वैत सप्रदाय चलाया। अपने सप्रदायको पुष्ट करनेके लिये उन्होंनेभी, शकराचार्यहीके समान, प्रस्थानत्रयीपर (और गीतापरभी) स्वतत्र भाष्य लिखे है। इस सप्रदाय का मत यह है, कि शकराचार्यका माया-मिथ्यात्व-वाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनो झूठे है। जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न है, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनो एकही ईश्वरके शरीर है। इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एकही है, और ईश्वर शरीरके इस सूक्ष्म चित्-अचित्सेही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीव और जगत्की उत्पत्ति हुई है। तत्त्व-ज्ञान-दृष्टिसे रामानुजाचार्यका कथन है (गीता रा भा २ १२, १३ २) कि इसी मतका (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) उपनिषदो, ब्रह्मसूत्रो और गीतामेभी प्रतिपादन हुआ है। अब यदि कहा जाय कि इन्हीके ग्रथोके कारण भागवतधर्ममें विशिष्टाद्वैत मत समिलित हो गया है तो कुछ अतिशयोक्ति नही होगी, क्योकि इनके पहले महाभारत और गीतामे भागवतधर्मका जो निरूपण पाया जाता है उसमें केवल अद्वैत मतहीका स्वीकार किया गया है। रामानुजाचार्य भागवतधर्मी थे। इसलिये यथार्थमे उनका ध्यान इस बातकी ओर जाना चाहिये था, कि गीतामें प्रवृत्ति-विषयक कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है। परतु उनके समयमे मूल भागवतधर्मका कर्मयोग प्राय लुप्त हो गया था, और उसको तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विशिष्टाद्वैत स्वरूप तथा आचरणकी दृष्टिसे मुख्यत भक्तिका स्वरूप प्राप्त हो चुका था। इन्ही कारणोंसे रामानुजाचार्यने (गीता रा भा १८ १ और ३ १) यह निर्णय किया है, कि गीतामे यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्तिका वर्णन है तथापि तत्त्वज्ञान-दृष्टिसे विशिष्टाद्वैत और आचार-दृष्टिसे वासुदेवभक्तिही गीताका साराश है और कर्मनिष्ठा कोई स्वतत्र वस्तु नही है — वह केवल ज्ञाननिष्ठाकी उत्पादक है। शाकर-सप्रदायके अद्वैतज्ञानके बदले विशिष्टाद्वैत और सन्यासके बदले भक्तिको स्थापित करके रामानुजाचार्यने भेद तो किया, परतु उन्होने आचार-दृष्टिसे भक्तिहीको अतिम कर्तव्य माना है। इससे वर्णाश्रम-विहित स्वधर्मोक्त सासारिक कर्मोका मरणपर्यत किया जाना गौण हो जाता है, और यह कहा जा सकता है, कि गीताका रामानुजीय तात्पर्यभी एक प्रकारसे कर्मसन्यासविषयकही है। कारण यह है कि कर्माचरणसे चित्तशुद्धि होनेके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर चतुर्थाश्रमका स्वीकार करके ब्रह्मचिंतनमे निमग्न रहना, या प्रेमपूर्वक निस्सीम

वासुदेव-भक्तिमें तत्पर रहना, कर्मयोगकी दृष्टिसे एकही बात है। दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक हैं। यही आक्षेप, रामानुजके बाद प्रचलित हुए सम्प्रदायोंपरभी हो सकता है। मायाको मिथ्या कहनेवाले सम्प्रदायको झूठा मानकर वासुदेव-भक्तिकोही सच्चा मोक्ष-साधन बतलानेवाले रामानुज सम्प्रदायके बाद तीसरा सम्प्रदाय निकला। उसका मत है कि परब्रह्म और जीवको कुछ अंशोंमें एक, और कुछ अंशोंमें भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असंबद्ध बात है। इसलिए दोनोंको सर्दैव भिन्न मानना चाहिए, क्योंकि इन दोनोंमें पूर्ण अथवा अपूर्ण रीतिसेभी एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे सम्प्रदायको 'द्वैत सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदायके लोगोंका कहना है, कि इसके प्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य (श्रीमदानंदतीर्थ) थे, जो संवत् १२५५में समाधिस्थ हुए और उस समय उनकी अवस्था ७९ वर्षकी थी। परंतु डाक्टर भांडारकरने जो एक अंग्रेजी ग्रंथ—"वैष्णव, शैव, और अन्य पंथ" नामका हालहीमें प्रकाशित किया है उसके पृष्ठ ५६ में शिलालेख आदि प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया है, कि मध्वाचार्यका समय संवत् १२५४ से १३३३ तक था। प्रस्थानत्रयी पर (अर्थात् गीतापरभी) श्रीमध्वाचार्यके जो भाष्य हैं, उनमें प्रस्थानत्रयीके सब ग्रंथोंका द्वैतमत-प्रतिपादक होनाही बतलाया गया है। गीताके अपने भाष्यमें मध्वाचार्य कहते हैं, कि यद्यपि गीतामें निष्काम कर्मके महत्त्वका वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है, और भक्तिही अंतिम निष्ठा है। भक्तिकी सिद्धि हो जानेपर कर्म करना या न करना एकही बात है। "ध्यानात् कर्म-फलत्याग"—परमेश्वरके ध्यान अथवा भक्तिकी अपेक्षा कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है इत्यादि गीताके कुछ वचन इस सिद्धान्तके विरुद्ध हैं, परंतु गीताके माध्वभाष्य (गीता मा भा १२ १३)में लिखा है, कि इन वचनोंको अक्षरश सत्य न समझकर अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। चौथा सम्प्रदाय श्रीवल्लभाचार्य (जन्म संवत् १५३६) का है। रामानुजीय और माध्वसम्प्रदायोंके समानही यह सम्प्रदाय वैष्णवपंथी है। परंतु जीव, जगत और ईश्वरके संबंधमें इस सम्प्रदायका मत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतोंसे भिन्न है। यह पंथ इस मतको मानता है, कि मायारहित अर्थात् शुद्ध जीव और परब्रह्म एकही वस्तु है, दो नहीं। इसलिये इसको 'शुद्धाद्वैती' सम्प्रदाय कहते हैं। तथापि वह श्रीशंकराचार्यके समान इस बातको नहीं मानता, कि जीव और ब्रह्म एकही है, और इसके सिद्धान्त कुछ ऐसे है—जैसे जीव अग्निकी चिनगारीके समान ईश्वरके अंश हैं, मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है, माया परमेश्वरकी इच्छासे उससे विभक्त हुई एक शक्ति है, मायाधीन जीवको बिना ईश्वरकी कृपाके मोक्षज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मोक्षका मुख्य साधन भगवद्भक्तिही है जिससे यह सम्प्रदाय शांकर-सम्प्रदायसेभी भिन्न हो गया है। इस मार्गवाले परमेश्वरके अनुग्रहको 'पुष्टि' और 'पोषण'भी कहते हैं, जिससे यह पंथ 'पुष्टिमार्ग'भी कहलाता है। इस सम्प्रदायके तत्त्वदीपिका आदि

जितने गीतासबधी ग्रथ है, उनमें यह निर्णय किया गया है, कि भगवानने अर्जुनको पहले साख्यज्ञान और कर्मयोग बतलाया है, एव अतमें उसको भक्त्यमृत पिलाकर कृतकृत्य किया है। इसलिये भगवद्भक्ति और विशेषत निवृत्ति-विषयक पुष्टिमार्गीय भक्तिही गीताका प्रधान तात्पर्य है। यही कारण है कि भगवानने गीतामें यह उपदेश दिया है, कि "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज" — सब धर्मोंको छोडकर केवल मेरीही शरण ले (गीता १८ ६६)। उपर्युक्त सप्रदायोंके अतिरिक्त निंबार्कका चलाया हुआ एक और वैष्णव सप्रदाय है, जिसमें राधाकृष्णकी भक्ति कही गयी है। डाक्टर भाडारकरने निश्चित किया है, कि ये आचार्य रामानुजके बाद और मध्वाचार्यके पहले करीब सवत् १२१६ में हुए थे। जीव, जगत् और ईश्वरके सबधमें निंबार्काचार्यका यह मत है, कि यद्यपि ये तीनो भिन्न हैं, तथापि जीव और जगतका व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर अवलबित है स्वतत्र नही है और परमेश्वरमही जीव और जगतके सूक्ष्म तत्त्व रहते है। इस मतको सिद्ध करनेके लिये निबार्काचार्यने वेदान्तसूत्रोपर एक स्वतत्र भाष्य लिखा है। इसी सप्रदायके केशव काश्मीरिभट्टाचार्यने गीतापर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है, और उसमें यह बतलाया है, कि गीताका वास्तविक अर्थ इसी सप्रदायके अनुकूल है। रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत पथसे इस सप्रदायको अलग करनेके लिये इसे 'द्वैताद्वैत' सप्रदाय कह सकेगे। यह बात स्पष्ट है, कि ये सब भिन्न भिन्न भक्तिपर सप्रदाय शाकर-सप्रदायके मायावादको स्वीकृत न करकेही पैदा हुए है, क्योंकि इनकी यह समझ थी, कि आंखसे दिखनेवाली वस्तुको सच्ची माने विना व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति निराधार या कुछ अशोमें मिथ्याभी हो जाती है। परतु यह कोई आवश्यक बात नही है, कि भक्तिकी उपपत्तिके लिये अद्वैत और मायावादको बिलकुल छोड देनाही चाहिये। क्योंकि महाराष्ट्रके और अन्य साधु-सतोने, मायावाद और अद्वैतका स्वीकार करकेभी भक्तिका समर्थन किया है, और मालूम होता है, कि यह पथ श्रीशकराचार्यके पहलेहीसे चला आ रहा है। इस पथमें शाकर-सप्रदायके कुछ सिद्धान्त अद्वैत, मायाका मिथ्या होना, और कर्मत्यागकी आवश्यकता ग्राह्य और मान्य है। परतु इस पथका यहभी मत है, कि ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्षकी प्राप्तिका सबसे सुगम साधन भक्ति है। गीतामें भगवानने पहले यही कारन बतलाया है, कि "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" (गीता १२ ५) अर्थात् अव्यक्त ब्रह्ममें चित्त लगाना अधिक क्लेशमय है, और फिर अर्जुनको यही उपदेश दिया है, कि "भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया" (गीता १२ २०) अर्थात् मेरे भक्तही मुझको अतिशय प्रिय हैं। अतएव यह बात है कि अद्वैतपर्यवसायी भक्तिमार्गही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। श्रीधरस्वामीनेभी गीताकी अपनी टीका (गीता १८ ७८) मे गीताका ऐसाही तात्पर्य निकाला है। मराठी भाषामें इस सप्रदायका

गीतासंबंधी सर्वोत्तम ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' है। इसमें कहा है कि गीताके अठारह अध्यायोंमेंसे प्रथम चार अध्यायोंमें कर्म, बीचके सात अध्यायोंमें भक्ति और अंतिम सात अध्यायोंमें ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है, और स्वयं ज्ञानेश्वरमहाराजने अपने ग्रंथके अंतमें कहा है, कि मैंने गीताकी यह टीका शंकराचार्यके भाष्यानुसार की है। परंतु ज्ञानेश्वरीको इस कारणसे बिलकुल स्वतंत्र ग्रंथही मानना चाहिये, कि इसमें गीताका मूल अर्थ बहुत बढाकर अनेक सरस दृष्टान्तोंसे समझाया गया है, और इसमें विशेष करके भक्तिमार्गका तथा कुछ अंशमें निष्काम-कर्मका भी शंकराचार्यसेभी उत्तम विवेचन किया गया है। ज्ञानेश्वरमहाराज स्वयं योगी थे, इसलिये गीताके छठवें अध्यायके जिन श्लोकोंमें पातंजल योगाभ्यासका विषय आया है, उसकी उन्होंने विस्तृत टीका की है। उनका कहना है, कि श्रीकृष्ण भगवानने इस अध्यायके अंत (गीता ६.४६) में अर्जुनको यह उपदेश करके कि "तस्माद्योगी भवार्जुन" – इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो। अर्थात् योगाभ्यासमें प्रवीण हो – अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है, कि सब मोक्षपंथोंमें पातंजल योगही सर्वोत्तम है, और इसलिये आपने उसे 'पंथराज' कहा है। सारांश यह है, कि भिन्न भिन्न सांप्रदायिक भाष्यकारोंने तथा टीकाकारोंने गीताका अर्थ अपने मतोंके अनुकूलही निश्चितकर लिया है। प्रत्येक संप्रदायका यही कथन है, कि गीताका प्रवृत्तिविषयक कर्ममार्ग अप्रधान (गौण) है अर्थात् केवल ज्ञानका साधन है। गीतामें वही तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जो उनके संप्रदायमें स्वीकृत हुआ है। उनके संप्रदायमें मोक्षकी दृष्टिसे जो आचार अंतिम कर्तव्य माने गये हैं, उन्हींका वर्णन गीतामें किया गया है – अर्थात् मायावादात्मक अद्वैत और कर्मसंन्यास, मायासत्यत्व-प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत और वासुदेव-भक्ति, द्वैत आणि विष्णुभक्ति, शुद्धाद्वैत और भक्ति, शांकराद्वैत और भक्ति, पातंजल योग आणि भक्ति, केवल भक्ति, केवल योग या केवल ब्रह्मज्ञान (अनेक प्रकारके निवृत्तिविषयक मोक्षमार्ग) ही गीताके प्रधान तथा प्रतिपाद्य विषय है।* भगवद्गीतामें कर्मयोग प्रधान माना गया है, इस प्रकार कोईभी नही कहता। हमाराही नही किंतु प्रसिद्ध महाराष्ट्र-कवि वामन पंडितकाभी मत ऐसाही है। गीतापर आपने 'यथार्थदीपिका' नामक विस्तृत मराठी टीका लिखी है। उसके उपोद्घातमें ये पहले लिखते हैं – "हे भगवन्! इस कलियुगमें जिसके मतमे जैसा जँचता है, उसी प्रकार हरएक आदमी गीताका अर्थ लिख देता है" और फिर शिकायतके तौरपर लिखते हैं –

---

* भिन्न भिन्न सांप्रदायिक आचार्योंके गीताके भाष्य और मुख्य मुख्य पंद्रह टीकाग्रंथ बंबईके गुजराती प्रिंटिंग प्रेसके मालिकने, हालहीमें एकत्र प्रकाशित किये हैं। भिन्न भिन्न टीकाकारोंके अभिप्रायको एकत्र जाननेके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है।

"हे परमात्मन्! सब लोगोंने किसी-न-किसी बहानेसे गीताका मनमाना अर्थ किया है, परंतु इन लोगोका मनमाना अर्थ मुझे पसद नही। भगवन्! मै क्या करू?" अनेक साप्रदायिक टीकाकारोके मतोकी इस भिन्नताको देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि जब कि ये सब मोक्ष-सप्रदाय परस्परविरोधी है, और जब कि इस बातका निश्चय नही किया जा सकता, कि इनमेंसे कोई एकही सप्रदाय गीतामें प्रतिपादित किया गया है, तब तो यही मानना उचित है, कि इन सब मोक्ष-साधनोका – विशेषत कर्म, भक्ति और ज्ञानका – वर्णन स्वतत्र रीतिसे सक्षेपमें और पृथक् पृथक् करके भगवानने गीतामें अर्जुनका समाधान किया है। कुछ लोग कहते हैं, कि मोक्षके अनेक उपायोका यह सब वर्णन पृथक् पृथक् नही है, किंतु इन सबकी एकताही गीतामें सिद्ध की गयी है। और, अतमें, कुछ लोग तो यहभी कहते है, कि गीतामें प्रतिपादित ब्रह्मविद्या ऊपर ऊपरपर देखनेसे यद्यपि सुलभ मालूम होती है, तथापि उसका वास्तविक मर्म अत्यत गूढ है, जो बिना गुरुके किसीकीभी समझ-में नही आ सकता (गीता ४ ३४) गीतापर भलेही अनेक टीकाएँ हो जायँ, परतु उसका गूढार्थ जाननेके लिये गुरुदीक्षाके सिवा और कोई उपाय नही है।

अब यह बात स्पष्ट है, कि गीताके अनेक प्रकारके तात्पर्य कहे गये है। पहले तो स्वय महाभारतकारने भागवत-धर्मानुसार अर्थात् प्रवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इसके बाद अनेक पडित, आचार्य, कवि, योगी और भक्तजनोने अपने अपने सप्रदायोंके अनुसार शुद्ध निवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इन भिन्न भिन्न तात्पर्योंको देखकर कोईभी मनुष्य घबडाकर सहजही यह प्रश्न कर सकता है! – क्या, ऐसे परस्पर-विरोधी अनेक तात्पर्य एकही गीताग्रथसे निकल सकते है? और, यदि निकल सकते है, तो इस भिन्नताका हेतु क्या है? इसमें सदेह नही, कि भिन्न भिन्न भाष्योके आचार्य बडे विद्वान्, धार्मिक और सुशील थे। यदि कहा जाय, कि शकराचार्यके समान महातत्त्वज्ञानी आजतक ससारमें कोईभी नही हुआ है, तोभी अतिशयोक्ति न होगी। तब फिर इनमें और इनके बादके आचार्योंमें इतना मतभेद क्यो हुआ? गीता कोई इद्रजाल नहीं है, कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जावे। उपर्युक्त सप्रदायके जन्मके पहलेही गीता बन चुकी थी और भगवानने अर्जुनको गीताका उपदेश इसलिये दिया था कि उसका भ्रम दूर हो, कुछ इसलिये नही कि उसका भ्रम औरभी बढ जाय। गीतामें एक-ही विशेष और निश्चित अर्थका उपदेश किया गया है (गीता ५ १, २) और अर्जुनपर उस उपदेशका अपेक्षित परिणामभी हुआ है। इतना सब कुछ होनेपरभी गीताके तात्पर्यार्थके विषयमे इतनी गडबड क्यो हो रही है? यह प्रश्न कठिन है सही; परतु इसका उत्तर उतना कठिन नही है, जितना पहले पहल मालूम पडता है। उदाहरणार्थ, एक मीठे और सुरस पक्वान्न (मिठाई)को देखकर अपनी अपनी रुचिके अनुसार किसीने उसे गेहूँका, किसीने घीका और किसीने शक्करका

बना हुआ बतलाया, तो हम उनमेंसे किसको झूठ समझें ? और अपने मतानुसार तीनोंका कहना ठीक है। इतना होनेपरभी इस प्रश्नका निर्णय नहीं हुआ कि यह पक्वान्न (मिठाई) क्या किस चीजसे है। गेहूँ, घी और शक्करसे अनेक प्रकारके पक्वान्न (मिठाई) बन सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत पक्वान्नका निर्णय केवल इतना कहनेसेही नहीं हो सकता। कि यह गोधूमप्रधान, घृतप्रधान, या शर्करप्रधान है। समुद्र-मथनके समय किसीको अमृत, किसीको विष, किसीको लक्ष्मी, ऐरावत, कौस्तुभ, पारिजात आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मिले, परन्तु इतनेहीसे समुद्रके यथार्थ स्वरूपका कुछ निर्णय नहीं हो गया। ठीक इसी तरह साम्प्रदायिक रीतिसे गीतासागरका मथन करनेवाले टीकाकारोंकी अवस्था हो गई है। दूसरा उदाहरण लीजिये। कंसवधके समय भगवान् श्रीकृष्ण जब रंग-मण्डपमें आये तब वे प्रेक्षकोंको भिन्न भिन्न स्वरूपमें – जैसे योद्धाको वज्र-सदृश, स्त्रियोंको कामदेव-सदृश, माता पिताको पुत्र-सदृश – दिखने लगे थे। (भाग १०, पू ४३ १७)। इसी तरह गीताके एक होनेपरभी वह भिन्न भिन्न सम्प्रदायवालोंको भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें दिखती रही है। आप किसीभी सम्प्रदायको ले, यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी, कि उसको सामान्यत प्रमाणभूत धर्मग्रंथोंका अनुसरणही करना पडता है, क्योंकि ऐसा न करनेसे यह सम्प्रदाय सब लोगोंकी दृष्टिमें सर्वथा अप्रमाणित स्यम् अमान्य हो जायगा। इसलिये वैदिक धर्ममें अनेक सम्प्रदायोंके होनेपरभी कुछ विशेष बातोंको छोड़कर – जैसे ईश्वर, जीव और जगतका परस्पर संबध – शेष सब बाते सब सम्प्रदायोंमें प्राय एकही-सी होती हैं। इसका परिणाम यह देख पडता है, कि हमारे धर्मके प्रमाणभूत ग्रंथोंपर जो साम्प्रदायिक भाष्य या टीकाएँ हैं, उनमें मूलग्रंथोंके फी – सदी नब्बेसेभी अधिक वचनों या श्लोकोंका भावार्थ, एकही-सा है। जो कुछ भेद है वह शेष वचनों या श्लोकोंके विषयहीमें है। यदि इन वचनोंका सरल अर्थ लिया जाय तो वह सभी सम्प्रदायोंके लिये समान अनुकूल नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार इन वचनोंमेंसे जो अपने सम्प्रदायके लिये अनुकूल हो, उन्हींको प्रधान मानकर और अन्य सब वचनोंको गौण समझकर, अथवा प्रतिकूल वचनोंके अर्थको किसी युक्तिसे बदलकर, या सुबोध तथा सरल वचनोंमेंसे अपने अनुकूल श्लेषार्थ या अनुमान निकालकर, यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि हमाराही सम्प्रदाय उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, गीता २ १२ और १६, ३ १९, ६ ३, और १८ २ श्लोकोंपर हमारी टीका देखो। परतु यह बात सहजही किसीकोभी समझमे आ सकती है, कि उक्त साम्प्रदायिक रीतिसे ग्रंथका तात्पर्य निश्चित करना, और इस बातका अभिमान न करके, कि गीतामें अपनाही सम्प्रदाय प्रतिपादित हुआ है, अथवा अन्य किसीभी प्रकारका अभिमान न करके समग्र ग्रंथकी स्वतंत्र रीतिसे परीक्षा करना, और उस परीक्षाहीके आधारपर ग्रंथका मथितार्थ निश्चित करना, ये दोनो बाते स्वभावत अत्यंत भिन्न हैं।

ग्रथके तात्पर्य-निर्णयकी साप्रदायिक दृष्टि सदोष है, इसलिये उसे यदि छोड दें, तो अब यह बतलाना चाहिये, कि गीताका तात्पर्य जाननेके लिये दूसरा साधन कौनसा है। ग्रथ, प्रकरण और वाक्योंके अर्थका निर्णय करनेमें मीमासक लोग अत्यत कुशल होते हैं। इस विषयमें उन लोगोका एक प्राचीन और सर्वमान्य श्लोक है –

> उपक्रमोपसहारो अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
> अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

जिसमें वे कहते है – किसीभी लेख, प्रकरण अथवा ग्रथके तात्पर्यका निर्णय करनेमे, उक्त श्लोकमे कही हुई सात बाते साधन-(लिंग) स्वरूप है, इसलिये इन सब बातोका अवश्य विचार करना चाहिये। इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसहारो' अर्थात् ग्रथका आरभ और अत है। कोईभी मनुष्य अपने मनमें कुछ विशेष हेतु रखकरही ग्रथ लिखना आरभ करता है, और उस हेतुके सिद्ध होनेपर ग्रथको समाप्त करता है। अतएव ग्रथके तात्पर्यनिर्णयके लिये उपक्रम और उपसहारहीका सबसे पहले विचार किया जाना चाहिये। सीधी रेखाकी व्याख्या करते-समय भूमितिशास्त्रमे ऐसा कहा गया है, कि आरभके बिंदुसे जो रेखा दाहिने-बाएँ या ऊपर-नीचे किसी तरफ नही झुकती और अतिम बिंदुतक सीधी चली जाती है, उसे सरल रेखा कहते है। ग्रथके तात्पर्य-निर्णयमेंभी यही सिद्धान्त उपयुक्त है। जो तात्पर्य ग्रथके आरभ और अतमें साफ साफ झलकता है वही ग्रथका सरल तात्पर्य है। आरभसे अततक जानेके लिये यदि अन्य मार्ग होभी, तो उन्हें टेढे समझना चाहिये। आद्यत देखकर ग्रथका तात्पर्य पहले निश्चित करलेना चाहिये, और तब यह देखना चाहिये, कि उस ग्रथमें 'अभ्यास' अर्थात् पुनरुक्ति-स्वरूपसे बार बार क्या कहा गया है। क्योकि ग्रथकारके मनमे जिस बातको सिद्ध करनेकी इच्छा होती है, उसके समर्थनके लिये वह अनेक बार कई कारणोका उल्लेख करके बार बार एकही निश्चित सिद्धान्तको प्रकट किया करता है और हर बार कहा करता है, कि "इसलिये यह बात सिद्ध हो गयी," या "अतएव ऐसा करना चाहिये" इत्यादि। ग्रथके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये जो चौथा साधन है उसको 'अपूर्वता' और पाँचवे साधनको 'फल' कहते है। 'अपूर्वता' कहते है 'नवीनता'को। कोईभी ग्रथकार जब ग्रथ लिखना शुरु करता है, तब वह कुछ नई बात बतलाना चाहता है। बिना नवीनता या विशेष वक्तव्यके वह ग्रथ लिखने प्रवृत्त नही होता। विशेष करके यह बात उस जमानेमें पाई जाती थी जब की छापा-खाने नही थे। इसलिये किसी ग्रथके तात्पर्यका निर्णय करनेसे पहले यहभी देखना चाहिये, कि उसमें अपूर्वता, विशेषता या नवीनता क्या है। इसी तरह लेख अथवा ग्रथके फलपरभी – अर्थात् उस लेख या ग्रथसे जो परिणाम हुआ हो उसपरभी – ध्यान देना चाहिये। क्योंकि अमुक फल हो, इसी हेतुसे ग्रथ लिखा जाता है। इसलिये

यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रंथकारोंका आशय बहुत ठीक ठीक व्यक्त हो जाता है। छठा और सातवाँ साधन 'अर्थवाद' और 'उपपत्ति' है। 'अर्थवाद' मीमांसकोंका पारिभाषिक शब्द है (जै. सू. १. २. १. १८)। इस बातके निश्चित हो जानेपरभी, कि हमें मुख्यतः किस बातको बतलाकर जमा देना है अथवा किस बातको सिद्ध करना है, कभी कभी ग्रंथकार दूसरी अनेक बातोंका प्रसंगानुसार वर्णन किया करता है, जैसे प्रतिपादनके प्रवाहमें दृष्टान्त देनेके लिये, तुलना करके एकवाक्यता करनेके लिये, समानता और भेद दिखलानेके लिये, प्रतिपक्षियोंके दोष बतलाकर स्वपक्षका मंडन करनेके लिये, अलंकार और अतिशयोक्तिके लिये, और युक्तिवादके पोषक किसी विषयका पूर्व-इतिहास बतलानेके लिये कुछ और वर्णनभी कर देता है। उक्त कारणों या प्रसंगोंके अतिरिक्त औरभी अन्य कारण हो सकते हैं, और कभी तो विशेष कारणभी नहीं होता। ऐसी अवस्थामें ग्रंथकार जो वर्णन करता है, वह यद्यपि विषयांतर नहीं हो सकता, तथापि वह केवल गौरवके लिये या स्पष्टीकरणके लियेही किया जाता है, इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि उक्त वर्णन हमेशा सत्यही होगा।* अधिक क्या कहा जाय, कभी कभी स्वयं ग्रंथकार यह देखनेके लिये सावधान नहीं रहता, कि ये अप्रधान बातें अक्षरशः सत्य हैं या नहीं। अतएव ये सब बातें प्रमाणभूत नहीं मानी जातीं, अर्थात् यह नहीं माना जाता, कि इन भिन्न भिन्न बातोंका ग्रंथकारके सिद्धान्त पक्षके साथ कोई घना संबंध है। उलटे यही माना जाता है, कि ये सब बातें अनावश्यक अथवा केवल प्रशंसा या स्तुतिहीके लिये हैं – ऐसा समझकरही मीमांसक लोग इन्हें 'अर्थवाद' कहा करते हैं, और इन अर्थवादात्मक बातोंको छोडकर फिर ग्रंथका तात्पर्य निश्चित किया करते हैं। इतना कर लेनेपरभी उपपत्तिकी ओर ध्यान देनाही चाहिये। किसी विशेष बातको सिद्धकर दिखलानेके लिये बाधक प्रमाणोंका खंडन करना और साधक प्रमाणोंका तर्कशास्त्रानुसार मंडन करना 'उपपत्ति' अथवा 'उपपादन' कहलाता है। उपक्रम और उपसंहार-रूप आद्यंतके दो छोरोंके स्थिर हो जाने पर, बीचका मार्ग अर्थवाद और उपपत्तिकी सहायतासे निश्चित किया जा सकता है। अर्थवादसे यह मालूम हो सकता है, कि कौनसा विषय अप्रस्तुत या आनुषंगिक (अप्रधान) है। एक बार अर्थवादका निर्णय हो जानेपर ग्रंथ-तात्पर्यका निश्चय करनेवाला मनुष्य सब टेढे मेढे रास्तोंको छोड देता है, और ऐसा करनेपर जब पाठक या परीक्षक सीधे और प्रधान मार्गपर आ जाता है, तब वह उपपत्तिकी सहायतासे ग्रंथके आरंभसे अंतिम तात्पर्यतक आप-

---

* अर्थवादका वर्णन यदि वस्तुस्थिति (यथार्थता) के आधारपर किया गया हो तो उसे 'अनुवाद' कहते हैं, यदि विरुद्ध रीतिसे किया गया हो तो उसे 'गुणवाद' कहते हैं, और यदि इससे भिन्न प्रकारका हो तो उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं। 'अर्थवाद' सामान्य शब्द है, उसके सत्यासत्यके अनुसार उक्त तीन भेद किये गये हैं।

ही-आप पहुँच जाता है। हमारे प्राचीन मीमासकोके निश्चित किये ग्रंथ तात्पर्य-निर्णय के ये नियम सब देशोंके विद्वानोको एकसमान मान्य हैं। इसलिये उपयोगिता और आवश्यकताके सबधमें यहाँ अधिक विवेचन करनेकी आवश्यकता नही है।*

इसपर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि क्या मीमासकोके उक्त नियम सप्रदाय चलानेवाले आचार्योंको मालूम नही थे? यदि ये सब नियम उनके ग्रथोहीमें पाये जाते है, तो फिर उनका बताया हुआ गीताका तात्पर्य एकदेशीय कैसे कहा जा सकता है? उसका उत्तर इतनाही है, कि एक बार किसीकी दृष्टि साप्रदायिक (सकुचित) बन जाती है, तब वह व्यापकताका स्वीकार नही कर सकता – तब वह किसी-न-किसी रीतिसे यही सिद्ध करनेका यत्न किया करता है, कि प्रमाणभूत धर्मग्रथोमें अपनेही सप्रदायका वर्णन किया गया है। इन ग्रथोके तात्पर्यके विषयमें साप्रदायिक टीकाकारोकी पहलेसेही ऐसी धारणा हो जाती है, कि यदि उक्त ग्रथोका, उनके साप्रदायके अर्थसे भिन्न कुछ दूसरा अर्थ हो सकता हो, तो वे यह समझते हैं, कि वह अर्थ सत्य नही है, उसका हेतु कुछ औरही है। इस प्रकार जब वे पहलेसे निश्चित किये हुए अपनेही सप्रदायके अर्थको सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्धकर दिखानेका यत्न करने लगते है, कि वही अर्थ सब धार्मिक ग्रथोमें प्रतिपादन किया गया है, तब वे इस बातकी परवाह नही करते कि हम मीमासा-शास्त्रके कुछ नियमोका उल्लघन कर रहे है। हिंदु धर्मशास्त्रके मिताक्षरा, दायभाग इत्यादि ग्रथोमें स्मृतिवचनोकी व्यवस्था या एकता इसी तत्त्वानुसारकी जाती हैं। ऐसा नही समझना चाहिये कि यह बात केवल हिदु धर्मग्रथोमेंही पाई जाती है। क्रिस्तानोंके आदिग्रथ बायबल और मुसलमानोंके कुरानमेंभी इन लोगोंके सैकडो साप्रदायिक ग्रथकारोंने ऐसाही अर्थांतर कर दिया है, और इसी तरह ईसाइयोंने पुरानी बायबलके कुछ वाक्योका अर्थ यहूदियोंके अर्थसे भिन्न माना है। यहाँतक देखा जाता है, कि जब कभी यह बात पहलेहीसे निश्चित कर दी जाती है, कि किसी विषयपर अमुक ग्रथ या लेखहीको प्रमाण मानना चाहिये और जब कभी इस प्रमाणभूत तथा नियमित ग्रथहीके आधारपर सब बातोका निर्णय करना पडता है, तब तो ग्रथार्थ-निर्णयकी उसी पद्धतिका स्वीकार किया जाता है, जिसका

* ग्रथ-तात्पर्य-निर्णयके ये नियम अग्रेजी अदालतोंमेंभी पाले जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि किसी फैसलेका कुछ मतलब नही निकलता। तब हुक्मनामेको देखकर फैसलेके अर्थका निर्णय किया जाता है। और यदि किसी फैसलेमें कुछ ऐसी बातें हो जो मुख्य विषयका निर्णय करनेमें आवश्यक नही हैं, तो वे दूसरे मुकदमोमें प्रमाण (नजीर) नही मानी जाती। ऐसी बातोको अग्रेजीमें 'आबिटर डिक्टा (Obiter Dicta) अर्थात् 'व्यर्थ विधान' कहते है, यथार्थमें यह अर्थवादहीका एक भेद है।

उल्लेख ऊपर किया गया है। आजकालके बडे बडे कायदे-पडित, वकील और न्यायाधीश लोग, पहलेके प्रमाणभूत कानूनी किताबो और फैसलोका अर्थ करनेमें जो खीचातानी करते है, उसका रहस्यभी यही है। यदि सामान्य लौकिक बातोका यह हाल है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नही कि हमारे प्रमाणभूत धर्मग्रथो – उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और गीता – परभी इसी खीचातानीके कारण, भिन्न भिन्न सप्रदायोंके अनेक भाष्य, टीकाग्रथ लिखे गये है। परतु इस साप्रदायिक पद्धतिको छोडकर, यदि उपर्युक्त मीमासकोंकी पद्धतिसे भगवद्गीताके उपक्रम, उपसहार आदिको देखें, तो मालूम हो जावेगा कि भारतीय युद्धका आरभ होनेके पहले जब कुरुक्षेत्रमें दोनो पक्षोकी सेनाएँ लडाईके लिये सुसज्जित हो गई थी, और जब एक दूसरेपर शस्त्र चलानेहीवाला था, कि इतनेमें अर्जुन ब्रह्मज्ञानकी बडी बडी बाते बतलाने लगा और 'विमनस्क' होकर सन्यास लेनेको तैयार हो गया, तभी उसे अपने क्षात्रधर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये भगवानने गीताका उपदेश दिया है। जब अर्जुन यह देखने लगा कि दुष्ट दुर्योधनके सहायक बनकर उससे लडाई करनेके लिये कौन-कौन-से शूर वीर आये है, तब वृद्ध भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने बधु कौरव-गण, अन्य सुहृद् तथा आप्त, मामा-चाचा आदि रिश्तेदार, अनेक राजा और राजपुत्र आदि सब लोग उसे दीख पडे। तब वह मनमें सोचने लगा कि इन सबको केवल एक छोटेसे हस्तिनापुरके राज्यकी प्राप्तिके लिये निर्दयतासे मारना पडेगा और अपने कुलका क्षय करना पडेगा। इस महत्पापके भयसे उसका मन एकदम दु खित और क्षुब्ध हो गया। एक ओर तो क्षात्रधर्म उससे कह रहा था, कि 'युद्ध कर', और दूसरी ओर पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बधुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे जबरदस्ती पीछे खीच रहे थे! यह बडा भारी सकट था। यदि लडाई करे तो अपनेही रिश्तेदारोंकी, गुरुजनोकी, और बधु-मित्रोकी हत्या करके महापातकका भागी बनेगा और लडाई न करे तो क्षात्रधर्मसे च्युत होना पडेगा!! इधर देखो तो कुआँ और उधर देखो तो खाई!!! उस समय अर्जुनकी अवस्था वैसीही हो गयी थी जैसी जोरसे टकराती हुई दो रेलगाडियोके बीचमें किसी असहाय मनुष्यकी हो जाती है। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नही था, वह एक बडा भारी योद्धा था, तथापि धर्माधर्मके इस महान् नैतिक सकटमें पडकर बेचारेका मुंह सूख गया, शरीरपर रोगटे खडे हो गये, धनुष्य हाथसे गिर पडा और वह "मै नही लडूगा" कहकर अति दु खित चित्तसे रथमें बैठ गया। और अतमें समीपवर्ती बधुस्नेहका प्रभाव – उस ममत्वका प्रभाव जो मनुष्यको स्वभावत प्रिय होता है – दूरवर्ती क्षत्रियधर्मपर जमही गया! तब वह मोहवश हो कहने लगा, "पिता-सम पूज्य वृद्ध और मित्रोको मारकर तथा अपने कुलका क्षय करके घोर पाप करके, राज्यका एक टुकडा पानेसे भीख माँगकर जीवन निर्वाह करना कही श्रेयस्कर है! चाहे मेरे शत्रु मुझे

अभी नि शस्त्र देखकर मेरी गर्दन उडा दें; परतु मैं अपने स्वजनोकी हत्या करके उनके खून और शापसे ग्रस्त सुखोका उपभोग नही करना चाहता। क्या क्षात्रधर्म इसीको कहते है? भाईको मारो, गुरुकी हत्या करो, पितृवध करनेसे न चुको, अपने कुलका नाश करो – क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्र-धर्ममें और गाज गिरे ऐसी क्षात्रनीतिपर! दुश्मनोको ये सब धर्मसबधी बातें मालूम नही है, वे दुष्ट हैं, तो क्या उनके साथ मैंभी पापी हो जाऊँ? कभी नही। मुझे यह देखना चाहिये कि मेरी आत्माका कल्याण कैसे होगा। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप करना श्रेयस्कर नही जँचता; फिर चाहे क्षात्रधर्म शास्त्रविहित हो, तोभी इस समय मुझे उसकी आवश्यकता नही है।" इस प्रकार विचार करते करते उसका चित्त डाँवाडोल हो गया और वह किंकर्तव्यविमूढ होकर भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गया। तब भगवानने उसे गीताका उपदेश देकर उसके चचल चित्तको स्थिर और शात कर दिया। इसका यह फल हुआ, कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनोकी हत्याके भयके कारण युद्धसे पराङ्मुख हो रहा था, वही अब गीताका उपदेश सुनकर अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया, और अपनी इच्छासे युद्धके लिये तत्पर हो गया। यदि हमें गीताके उपदेशका रहस्य जानना है, तो इस उपक्रमोप-सहार और परिणामको अवश्य ध्यानमें रखना पडेगा। भक्तिसे मोक्ष कैसे मिलता है? ब्रह्मज्ञान या पातजल योगसे मोक्षकी सिद्धि कैसे होती है? इत्यादि, केवल निवृत्ति-मार्ग या कर्मत्यागरूप सन्यास-धर्म-सबधी प्रश्नोकी चर्चा करनेका वहाँ कोई प्रयोजन नही था। भगवान् श्रीकृष्णका यह उद्देश्य नही था, कि, अर्जुन सन्यास-दीक्षा लेकर और बैरागी बनकर भीख मागता फिरे, या लगोटी लगा-कर और नीमके पत्ते खाकर मृत्युपर्यंत हिमालयमें योगाभ्यास साधता रहे। अथवा भगवानका यहभी उद्देश्य नही था कि अर्जुन धनुष्य-बाणको फेंक दे और हाथमें वीणा तथा मृदग लेकर कुरुक्षेत्रकी धर्मभूमिमें उपस्थित भारतीय क्षात्रसमाजके सामने भगवन्नामका उच्चारण करता हुआ, बृहन्नडाके समान और एक बार अपना नाच दिखावे। अब तो अज्ञातवास पूरा हो गया था और अर्जुनको कुरुक्षेत्रमे खडे होकर औरही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते स्थान स्थानपर भगवानने अनेक प्रकारके अनेक कारण बतलाये हैं, और अतमें अनुमानदर्शक अत्यत महत्त्वके 'तस्मात्' ('इसलिये') पदका उपयोग करके अर्जुनको यही निश्चितार्थक कर्म-विषयक उपदेश दिया है कि "तस्माद्युध्यस्व भारत" – इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गीता २ १८), "तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चय" – इसलिये हे कौंतेय अर्जुन! तू युद्धका निश्चय करके उठ (गीता २ ३७), "तस्मादसक्त. सतत कार्यं कर्म समाचर" – इसलिये तू मोह छोडकर अपना कर्तव्य-कर्म कर (गीता ३. १९), "कुरु कर्मैव तस्मात् त्व" – इसलिये तू कर्मही कर (गीता ४ १५), "मामनुस्मर युध्य च" – इसलिये मेरा स्मरण कर और

लड (गीता ८ ७), " करने-करानेवाला सब कुछ मैं ही हूँ, तू केवल निमित्त है, इसलिये युद्ध करके शत्रुओको जीत " (गीत ११. ३३), " शास्त्रोक्त कर्तव्य करना तुझे उचित है " (गीता १६ २४) । अठारहवे अध्यायके उपसहारमें भगवानने अपने निश्चित और उत्तम मतको औरभी एक वार प्रकट किया है – " इन सब कर्मोंको करना चाहिये " (गीता १८ ६) । और अतमें (गीता १७ ७२), भगवानने अर्जुनसे प्रश्न किया है, कि " हे अर्जुन ! तेरा अज्ञानमोह अभीतक नष्ट हुआ कि नही ? " इसपर अर्जुनने सतोषजनक उत्तर दिया –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसदेह: करिष्ये वचन तव ॥

अर्थात् " हे अच्युत ! स्वकर्तव्यसवधी मेरा मोह और सदेह नष्ट हो गया है, अव मैं आपके कथानानुसार सव काम करूँगा । " यह अर्जुनका केवल मौखिक उत्तर नहीं था, उसने सचमुच उस युद्धमें भीष्म-कर्ण-जयद्रथ आदिका वधभी किया । इस-पर कुछ लोग कहते हैं, कि " भगवानने अर्जुनको जो उपदेश दिया है वह केवल निवृत्तविषयक ज्ञान, योग या भक्तिकाही है, और यही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषयभी है । परतु युद्धका आरभ हो जानेके कारण वीच बीचमें, कर्मकी थोडी-सी प्रशसा करके भगवानने अर्जुनको युद्ध पूरा करने दिया है, अर्थात् युद्धका समाप्त करना मुख्य बात नही है – उसे आनुषगिक या अर्थवादात्मकही मानना चाहिये " परतु ऐसे अधूरे और कमजोर युक्तिवादसे गीताके उपक्रमोपसहार और परिणाम-की उपपत्ति ठीक ठीक नही हो सकती । यहाँ (कुरक्षेत्र) पर तो इसी वातके महत्त्व और आवश्यकताको दिखाना याकि स्वधर्मसम अपने कर्तव्यको मरणपर्यंत अनेक कष्ट और वाधाएँ सहकरभी करते रहना चाहिये । और इस वातको सिद्ध करनेके लिये श्रीकृष्णने गीताभरमें कहीभी बे-सिर-पैरका कारण नही वतलाया है, जैसा ऊपर लिखे हुए कुछ लोगोंके आक्षेपमें कहा गया है । यदि ऐसा युक्तिहीन कारण वतलाया भी गया होता तो अर्जुनसरीखा बुद्धिमान और छानबीन करनेवाला पुरुष इन वातोका विश्वास कैसे कर लेता ? उसके मनमें मुख्य प्रश्न क्या था ? यही न, कि भयकर कुलक्षयको प्रत्यक्ष आँखोके आगे देखकरभी मुझे युद्ध करना चाहिये या नही, और युद्ध करनाही हो तो कैसे करे, जिससेकी पाप न लगे ? इस विकट प्रश्नके (इस प्रधान विषयके) उत्तरको, कि " निष्काम बुद्धिसे युद्ध कर " या " कर्म कर " – अर्थवाद कहकरभी नही टाल सकते । ऐसा करना मानो घरके मालिकको उसीके घरमें मेहमान वना देना है । हमारा यह कहना नही है, कि गीतामें वेदान्त, भक्ति और पातजल योगका उपदेश बिलकुल दियाही नही गया है । परन्तु इन तीनो विषयोका गीतामें जो मेल किया गया है, वह केवल ऐसाही होना चाहिये, कि जिससे परस्पर-विरुद्ध धर्मोके भयकर सकटमें पडे हुए, " यह करूँ कि वह " कहनेवाले कर्तव्य-मूढ अर्जुनको अपने कर्तव्यके विषयमें कोई निष्पाप मार्ग मिल जाय, और वह क्षात्रधर्मके

अनुसार अपने शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्त हो जाय। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि प्रवृत्तिधर्महीका ज्ञान गीताका प्रधान विषय है, और अन्य सब बातें उस प्रधान विषयहीकी सिद्धिके लिये कही गयी हैं। अर्थात् वे सब आनुषगिक है। अतएव गीताधर्मका रहस्यभी प्रवृत्तिविषयक अर्थात् कर्मविषयकही होना चाहिये। परतु इस बातका स्पष्टीकरण किसी टीकाकारने नही किया है, कि वह प्रवृत्तिविषयक रहस्य क्या है, और वेदान्तशास्त्रहीसे कैसे सिद्ध हो सकता है। जिस टीकाकारको देखो, वही गीताके आद्यत के उपक्रम-उपसहार तथा फलपर ध्यान न देकर निवृत्ति-दृष्टिसे इस बातका विचार करनेहीमें निमग्न दीख पडता है, कि गीताका ब्रह्मज्ञान या भक्ति अपनेही सप्रदायके कैसे अनुकूल है। मानो ज्ञान और भक्तिका कर्मसे निन्य सबध बतलाना एक बडा भारी पाप है। यही शका एक टीकाकारके मनमें हुई थी, और उसने लिखा था, कि स्वय श्रीकृष्णके चरित्रको आँखोके सामने रखकर भगवद्गीताका अर्थ करना चाहिये*। श्रीक्षेत्र काशीके सुप्रसिद्ध अद्वैती परमहस श्रीकृष्णानद स्वामीका – जो हालहीमें समाधिस्थ हुए है – भगवद्गीता-पर लिखा हुआ 'गीतार्थ-परामर्श' नामक सस्कृतमें एक निबध है, उसमें स्पष्ट रीतिसे यही सिद्धान्त लिखा हुआ है, कि "तस्मात् गीता नाम ब्रह्मविद्यामल नीतिशास्त्रम्' अर्थात् – इसलिये गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्तव्यधर्मशास्त्र है जो कि ब्रह्म-विद्यासे सिद्ध होता है †यही बात जर्मन पडित प्रो डॉयसेनने अपने 'उपनिषदो-का तत्त्वज्ञान' नामक ग्रथमें कही है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी और पूर्वी गीता-परीक्षक अनेक विद्वानोकाभी यही मत है। तथापि इनमेंसे किसीने समस्त गीता-ग्रंथकी परीक्षा करके यह स्पष्टतया दिखलानेका प्रयत्न नही किया है, कि कर्मप्रधान दृष्टिसे उसके सब प्रतिपादनो और अध्यायोका मेल कैसा है। बल्कि डॉयसेनने अपने ग्रथमें कहा है‡ कि यह प्रतिपादन कष्टसाध्य है। इसलिये प्रस्तुत ग्रथका मुख्य उद्देश्य यही है, कि उक्त रीतिसे गीताकी परीक्षा करके उसके विषयोका मेल अच्छी तरह प्रकटकर दिया जावे परतु। ऐसा करनेसे पहले, गीताके आरभमें परस्परविरुद्ध नीतिधर्मोकी पकडमें फसे अर्जुनपर जो सकट आया था उसका असली रूपभी दिखलाना चाहिये, नही तो गीतामें प्रतिपादित विषयोका मर्म पाठकोंके ध्यानमें पूर्णतया नही जम सकेगा। इसलिये अब यह जाननेके लिये कर्म-अकर्म

---

* इस टीकाकारका नाम और उसकी टीकाके कुछ अवतरण बहुत दिन हुए एक महाशयने हमको पत्रद्वारा बतलाये थे। परतु हमारी परिस्थितिकी गडबडमें यह पत्र न जाने कहाँ खो गया।

† श्रीकृष्णानदस्वामीकृत चारो निबध (श्रीगीतारहस्य, गीतार्थप्रकाश, गीतार्थपरामर्श और गीतासारोद्धार) एकत्र करके राजकोटमें प्रकाशित किये गये हैं।

‡ Prof Deussen's '*Philosophy of the Upanishads*' P 362 (English Translation, 1906)

के झगडे कैसे विकट होते हैं और अनेक वार " इसे करूँ कि उसे " यह सूझ न पडनेके कारण मनुष्य कैसा घवडा उठता है, ऐसेही प्रसगोंके अनेक उदाहरणोका विचार किया जायगा, जो हमारे शास्त्रोमे – विशेषत महाभारतमें – पाये जाते है।

दूसरा प्रकरण

कर्मजिज्ञासा

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः

— गीता ४ १६

भगवद्गीताके आरभमें, परस्पर-विरुद्ध दो धर्मोकी उलझनमें फँस जानेके कारण अर्जुन जिस तरह कर्तव्यमूढ हो गया था, और उसपर जो आपत्ति आ पडी थी वह कुछ अपूर्व नही है। उन असमर्थ और अपनाही पेट पालनेवाले लोगोकी बातही भिन्न है, जो सन्यास लेकर और ससारको छोडकर वनमें चले जाते हैं अथवा जो कमजोरीके कारण जगतके अनेक अन्यायोको चुपचाप सह लिया करते हैं। परन्तु समाजमें रहकरही जिन महान् तथा कार्यकर्ता पुरुषोको अपने सासारिक कर्तव्योका पालन धर्म तथा नीतिपूर्वक करना पडता है, उनपर ऐसी आपत्तियाँ अनेक बार आया करती हैं। युद्धके आरभहीमे अर्जुनको कर्तव्य-जिज्ञासा और मोह हुआ। ऐसाही मोह युधिष्ठिरको — युद्धमें मरे हुए अपने रिश्तेदारोका श्राद्ध करते समय — हुआ था। उसके इस मोहको दूर करनेके लिये 'शातिपर्व' कहा गया है। कर्माकर्मसशयके ऐसे अनेक प्रसग ढूंढ कर अथवा कल्पित करके उनपर बडे बडे कवियोने सुरस काव्य और उत्तम नाटक लिखे हैं। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयरका हैमलेट नाटक लीजिये। डेन्मार्क देशके प्राचीन राजपुत्र हैमलेटके चाचाने अपने राजकर्ता भाई — हैमलेटके बाप — को मार डाला। हैमलेट-की माताको अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दीभी छीन ली। तब उस राज-कुमारके मनमें यह सघर्ष पैदा हुआ, कि ऐसे पापी चाचाका वध करके पुत्र-धर्मके अनुसार अपने पिताके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ, अथवा अपने सगे चाचा, अपनी माताके पति और गिद्दीपर बैठे हुए राजापर दया करूँ? इस मोहमें पड जानेके कारण कोमल अत करणके हैमलेटकी कैसी दशा हुई और श्रीकृष्णके समान कोई मार्ग-दर्शक और हितकर्ता न होनेके कारण वह कैसे पागल हो गया और अतमें 'जियें या मरें' इसी बातकी चिंता करते उसका अत कैसे हो गया, इत्यादि बातोका चित्र इस नाटकमें बहुत अच्छी तरहसे दिखाया गया है। 'कोरियोलेनस' नामके दूसरे नाटकमेंभी इसी तरह एक और प्रसगका वर्णन शेक्सपीयरने किया है।

---

* "पंडितोकोभी इस विषयमें मोह हो जाया करता है, कि कर्म कौन-सा है और अकर्म कौन-सा है।" इस स्थानपर अकर्म शब्दको 'कर्मके अभाव' और 'बुरे कर्म' दोनो अर्थोमें यथासभव लेना चाहिये। मूल श्लोकपर हमारी टीका देखो।

रोम नगरमें कोरियोलेनस नामका एक शूर सरदार था। नगरवासियोंने उसको शहरसे निकाल दिया। तब वह रोमन लोगोंके शत्रुओंमें जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की, कि "मै तुम्हारा साथ कभी नही छोडूगा।" कुछ समयके बाद इन शत्रुओंकी सहायतासे उसने रोमन लोगोंपर हमला किया और वह अपनी सेना लेकर रोम शहरके दरवाजेके पास आ पहुँचा। उस समय रोम शहरकी स्त्रियोंने कोरियोलेनसकी पत्नी और माताको सामने करके, मातृभूमिके सबधके कर्तव्यका उसको उपदेश किया। अतमे उसको रोमके शत्रुओंको दिये हुए वचनका भग करना पडा। कर्तव्य-अकर्तव्यके मोहमे फस जानेके ऐसे औरभी कई उदाहरण दुनियाके प्राचीन और आधुनिक इतिहासमें पाये जाते है। परतु हम लोगोको इतना दूर जानेकी कोई आवश्यकता नही। हमारा महाभारत-ग्रथ ऐसे उदाहरणोंकी एक बडी भारी खानही है। ग्रथके आरभ (आ २) में भारतका वर्णन करते हुए स्वय व्यासजीने उसको 'सूक्ष्मार्थन्याययुक्त', 'अनेकसमयान्वित' आदि विशेषण दिये है। उसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र, सब कुछ आ गया है। इतनाही नही, किंतु उसकी महिमा इस प्रकार गाई गयी, कि "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" – अर्थात् जो कुछ इसमें है वही और स्थानोंमें है, जो इसमें नही है वह और किसीभी स्थानमें नही है (आ ६२ ५३)। साराश यह है, कि इस ससारमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसे समय बडे बडे प्राचीन पुरुषोंने कैसा बर्ताव किया, इसका सुलभ आख्यानों-के द्वारा साधारण जनोको बोध करा देनेहीके लिये 'भारत'का 'महाभारत' हो गया है। नही तो सिर्फ भारतीय युद्ध अथवा 'जय'नामक इतिहासका वर्णन करनेके लिये अठारह पर्वोंकी कुछ आवश्यकता नही थी।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है, कि श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातें छोड दीजिये, हमारे-तुम्हारे लिये इतने गहरे पानीमें पैठनेकी क्या आवश्यकता है? क्या मनु आदि स्मृतिकारोने अपने ग्रथोंमें इस बातके स्पष्ट नियम नही बना दिये है, कि मनुष्य ससारमे किस तरह बर्ताव करे? किसीकी हिंसा मत करो, नीति-पर चलो, सच बोलो, गुरु और बडोका सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो, इत्यादि सब धर्मोंमें पाई जानेवाली साधारण आज्ञाओंका यदि पालन किया जाय, तो ऊपर लिखे कर्तव्य अकर्तव्यके झगडेमे पडनेकी क्या आवश्यकता है? परतु इसके विरुद्ध यहभी प्रश्न किया जा सकता है कि जबतक इस ससारके सब लोग उक्त आज्ञाओंके अनुसार बर्ताव नही करते हैं, तबतक सज्जनोको क्या करना चाहिये? क्या ये लोग अपने सदाचारके कारण दुष्ट जनोके फदेमें अपनेको फँसा ले? या अपनी रक्षाके लिये 'जैसे को तैसा' इस न्यायसे उन लोगोंका प्रतिकार करें? इसके सिवा एक बात और है। यद्यपि उक्त साधारण नियमों-को नित्य और प्रमाणभूत मान ले, तथापि कार्यकर्ताओंको अनेक बार ऐसी आपत्तियोंका सामना करना पडता है कि उस समय उक्त साधारण नियमोंसे दो

या अधिक नियम एकसाथ लागू होते है। उस समय "यह करूँ या वह करूँ" इस चिंतामें पडकर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अर्जुनपर ऐसीही आपत्ति आ पडी थी, परतु अर्जुनके सिवा और लोगोपरभी ऐसे कठिन प्रसग अक्सर आया करते है। इस बातका मार्मिक विवेचन महाभारतमें कई स्थानोमें किया गया है। उदाहरणार्थ, मनुने सब वर्णोंके लोगोके लिये नीतिधर्मके पाच नियम बतलाये है– "अहिसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह" (मनु १० ६३)–अहिसा, सत्य, अस्तेय, काया, वाचा और मनकी शुद्धता, एव इद्रियनिग्रह–इन नीतिधर्मोंमेंसे एक अहिसाही का विचार कीजिये। "अहिसा परमो धर्म" (मभा आ ११ १३) यह तत्त्व सिर्फ हमारे वैदिक धर्महीमें नही, किंतु अन्य सब धर्मोमेंभी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्मग्रथोमें जो आज्ञाएँ हैं, उनमें अहिसाको मनुकी आज्ञाके समान पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ किसीकी जान ले लेनाही हिंसा नही है तो उसमें किसीके मन अथवा शरीरको दुख देनेकाभी समावेश किया जाता है। अर्थात्, किसी सचेतन प्राणीको किसी प्रकार दु खित न करनाही अहिसा है। पितृवध, मातृवध और मनुष्यवध–ये हिसाके भयानक प्रकार है, अत इस ससारमें सब लोगोकी समतिके अनुसार यह अहिसाधर्म सब धर्मोमें श्रेष्ठ माना गया है। परतु अब कल्पना कीजिये, कि हमारी जान लेनेके लिये या हमारी पत्नी अथवा कन्यापर बलात्कार करनेके लिये, अथवा हमारे घरमें आग लगानेके लिये, या हमारा धन छीन लेनेके लिये, कोई दुष्ट मनुष्य हाथमें शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो, तो उस समय हमको क्या करना चाहिये? क्या, "अहिसा परमो धर्म" कहकर ऐसे आततायी मनुष्यपर दया की जाय? या, यदि वह दुष्ट सीधी तरहसे न माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय? मनुजी कहते हैं–

गुरु वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

अर्थात् "ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्यको अवश्य मार डाले, उस समय यह विचार न करें कि वह गुरु है, बुढा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है।" शास्त्रकार कहते है कि (मनु ८ ३५०) ऐसे समय हत्या करनेका पाप हत्या करनेवालेको नही लगता, किंतु आततायी मनुष्य अपने अधर्महीसे मारा जाता है। आत्मरक्षाका यह हक–कुछ मर्यादाके भीतर–आधुनिक फौजदारी कानूनमेंभी स्वीकृत किया गया है। ऐसे प्रसगोपर अहिसासे आत्मरक्षाकी योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूणहत्या सबसे अधिक निंदनीय मानी है, परतु जब बच्चा पेटमें टेढा होकर अटक जाता है तब क्या उसको काटकर निकाल नही डालना चाहिये? यज्ञमें पशुका वध करना वेदनेभी प्रशस्त माना है (मनु ५ ३१), परतु पिष्टपशुके द्वारा वह टलभी सकता है (मभा शा. ३३७, अनु ११५.५६)। तथापि हवा, पानी,

फल इत्यादि सब स्थानोंमें जो सैंकडो सूक्ष्म जीव-जतु है उनकी हत्या कैसे टाली जा सकती है ? महाभारतमें (शा १५ २६) अर्जुन कहता है –

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ।।

" इस जगत्में ऐसे असख्य सूक्ष्म जतु हैं, कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रोसे देख नही पडता, तथापि तर्कसे सिद्ध है। और यदि हम अपनी आँखोकी पलक हिलावे, तो उतनेहीसे, उन जतुओका नाश हो जाता है ! " ऐसी अवस्थामें यदि हम मुखसे कहते रहे, कि " हिंसा मत करो, हिंसा मत करो," तो उससे क्या लाभ होगा ? इसी सारासार विचारके अनुसार अनुशासन पर्वमें (अनु ११६) शिकार करनेका समर्थन किया गया है। वनपर्वमें एक कथा है, कि कोई ब्राह्मण क्रोधसे किसी पति-व्रता स्त्रीको भस्मकर डालना चाहता था, परतु जब उसका यत्न सफल नही हुआ तब वह उस स्त्रीकी शरणमें गया। तब धर्मका सच्चा रहस्य समझ लेनेके लिये उस ब्राह्मणको उस स्त्रीने किसी व्याधके यहाँ भेज दिया। यह व्याध मास बेचा करता था, परतु था अपने माता-पिताका बडा भक्त ! व्याधका वह व्यवसाय देख-कर ब्राह्मणको अत्यत विस्मय और खेद हुआ। तब व्याधने उसे अहिंसाका सच्चा तत्त्व समझाकर बतला दिया कि इस जगत्में कौन किसको नही खाता ? " जीवो जीवस्य जीवनम् " (भाग १ १३ ४६) – यही नियम सर्वत्र दीख पडता है। आपत्कालमें तो " प्राणस्यान्नमिद सर्वम् " यह नियम सिर्फ स्मृतिकारोहीने नही, (मनु ५ २८, मभा शा १५ २१) कहा है तो उपनिषदोमेंभी स्पष्ट कहा गया है। (वे सू ३ ४ २८, छा ५ २ ८, बृ ६ १ १४) यदि सब लोग हिंसा छोड दे तो क्षात्रधर्म कहाँ और कैसे शेष रहेगा। यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजाकी रक्षा कैसे होगी ? साराश यह है कि नीतिके सामान्य नियमोहीसे सदा काम नहीं चलता, नीतिशास्त्रके प्रधान नियम – अहिंसा – मेंभी कर्तव्य-अकर्तव्यका सूक्ष्म विचार करनाही पडता है।

अहिंसाधर्मके अनुसारही क्षमा, दया, शाति आदि *गुण शास्त्रोमें* कहे गये हैं, परन्तु सब समय शातिसे कैसे काम चल सकेगा ? सदा शात रहनेवाले मनुष्योके बाल-बच्चोकोभी दुष्ट लोग हरण किये बिना नही रहेगे। इसी कारणका प्रथम उल्लेख करके प्रल्हादने अपने नाती, राजा बलिसे कहा है –

न श्रेय. सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
. . . .
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ।।

" सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नही होता। इसी लिये, हे तात ! पण्डितोने क्षमाके लिये कुछ अपवादभी कहे हैं (मभा वन २८ ६, ७) इसके बाद कुछ प्रसगोका वर्णन किया गया है, जो क्षमाके लिये उचित है, तथापि प्रल्हाद-

ने इस बातका उल्लेख नही किया, कि इन प्रसगोको पहचाननेका तत्त्व या नियम क्या है। यदि इन प्रसगोको पहचाने विना, सिर्फ अपवादोकाही कोई उपयोग करे, तो वह दुराचरण समझा जाएगा, इसलिये यह जानना अत्यत आवश्यक और महत्वका है, कि इन प्रसगोको पहचाननेका नियम क्या है।

दूसरा तत्त्व 'सत्य' है, जो सब देशो और धर्मोमें भलीभांति माना जाता है और प्रमाण समझा जाता है। सत्यकी महानताका वर्णन कहांतक किया जाय? वेदमें सत्यकी महिमाके विषयमें कहा है, कि सारी सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले 'ऋत' और 'सत्य' उत्पन्न हुए, और सत्यहीसे आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पचमहाभूत स्थिर है – "ऋतुच्च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ १० १९० १), "सत्येनोत्तभिता भूमि" (ऋ १० ८५ १) आदि मत्र देखो। 'सत्य' शब्दका धात्वर्थभी यही है – "रहनेवाला अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाला।" अथवा 'त्रिकाल-अवाधित', इसीलिये सत्यके विषयमें कहा गया है, कि 'सत्यके सिवा और धर्म नही है, सत्यही परब्रह्म है।" महाभारतमें कई जगह इस वचनका उल्लेख किया गया है, कि "नास्ति सत्यात्परो धर्म" (मभा शा १६२ २४) और यहभी लिखा है कि –

अश्वमेधसहस्र च सत्य च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

"हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की गयी तो सत्यही श्रेष्ठ सिद्ध हुआ" (आ ७४ १०२)। यह वर्णन सामान्य सत्यके विषयमें हुआ। सत्यके विषयमे मनुजी एक और विशेष बात कहते है (मभा मनु ४ २५६) –

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नर.॥

"मनुष्योंके सब व्यवहार वाणीसे हुआ करते है। एकके विचार दूसरेको बतानेके लिये शब्दके समान अन्य साधन नही है। वही सब व्यवहारोका आश्रय-स्थान और वाणीका मूल स्रोत है। जो मनुष्य उसको मलिन कर डालता है, अर्थात् जो वाणीकी प्रतारणा करता है, वह सब पूजीहीकी चोरी करता है।" इसलिये मनुने कहा है, कि "सत्यपूता वदेद्वाच" (मनु ६ ४६) – जो सत्यसे पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय। और धर्मोकी अपेक्षा सत्यहीको पहला स्थान देनेके लिये उपनिषद्मेंभी कहा है, "सत्य वद। धर्म चर" (तै १ ११ १)। जब वाणोकी शय्यापर पडे पडे भीष्म पितामह शांति और अनुशासन पर्वोमे युधिष्ठिरको सब धर्मोका उपदेश देचुके, तब प्राण छोडनेके पहले "सत्येषु यतितव्य व सत्य हि परम बलं" इस वचनको सब धर्मोंका सार कहकर उन्होंने सत्यहीके अनुसार बर्ताव करनेके लिये सब लोगोको उपदेश किया है (मभा अनु १६७ ५०)। बौद्ध और ईसाई धर्मोंमेंभी इन्ही नियमोका अनुवाद पाया जाता है।

क्या उस बातकी कभी कल्पनाकी जा सकती है, कि जो सत्य इस प्रकार स्वयसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लियेभी कुछ अपवाद होंगे ? परतु दुष्ट जनोंसे भरे हुए इस जगतका व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिये, कि कुछ आदमी चोरोंसे पीछा किये जानेपर तुम्हारे सामने किसी स्थानमें जाकर छिप गये। इनके बाद हाथमें तलवार लिये हुए चोर तुम्हारे पास आकर पूछने लगे, कि वे आदमी कहाँ चले गये ? ऐसी अवस्थामें तुम क्या कहोगे ? क्या तुम सच बोलकर सब हाल कह दोगे, या उन निरपराधी जीवोकी हिंसाको रोकोगे ? क्यो कि निरपराधोंकी हिंसाको रोकना सत्यहीके समान महत्त्वका धर्म है। मनु कहते है, "नापृष्ट कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छत" (मनु २ ११०, मभा शा २८७ ३४) – जबतक कोई प्रश्न न करे, तबतक किसीसे बोलना न चाहिये, और यदि कोई अन्यायसे प्रश्न करे तो पूछनेपरभी उत्तर नही देना चाहिये। यदि मालूमभी हो, तो सिडी या पागलके समान कुछ हूँ-हूँ करके बात बना देनी चाहिये – "जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।" अच्छा, पर हूँ-हूँ कर देना और बात बना देना एक तरहसे असत्य भाषण करना नही है ? महाभारत (मभा आ २१५ ३४) में कई स्थानोंमें कहा है, "न व्याजेन चरेद्धर्मम्" – धर्मसे प्रतारणा करके मनका समाधान नही कर लेना चाहिये, क्योकि तुम धर्मको धोखा नही दे सकते। तुम खुद धोखा खा जाओगे। अच्छा, यदि हूँ-हूँ करके कुछ बात बना लेनेकाभी समय न हो, तो क्या करना चाहिये ? मान लीजिये, कोई चोर हाथमें तलवार लेकर छातीपर आ बैठा है, और पूछ रहा है, कि तुम्हारा धन कहाँ है ? यदि कुछ उत्तर न दोगे, तो जानहीसे हाथ धोना पडेगा। ऐसे समयपर क्या बोलना चाहिये ? सब धर्मोंका रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण – ऐसेही चोरोकी कहानीका दृष्टान्त देकर – कर्णपर्व (मभा क ६९ ६१) में अर्जुनसे और आगे शातिपर्वके सत्यानृत अध्याय (मभा शा १०९ १५ १६) में भीष्म पितामह युधिष्ठिरसे कहते है –

> अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथचन।
> अवश्य कूजितव्ये वा शकेरन् वाप्यकूजनात्।
> श्रेयस्तत्रानृत वक्तु सत्यादिति विचारितम्॥

अर्थात् 'यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है, कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके, तोभी हो, बोलना नही चाहिये, और यदि बोलना आवश्यक हो, अथवा न बोलनेसे (दूसरो को) कुछ सदेह होना सभव हो, तो उस समय सत्यके बदले असत्य बोलनाही अधिक प्रशस्त है।' इसका कारण यह है, कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चारहीके लिये नही है। अतएव जिस आचरणसे सब लोगोका कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ इसी कारणसे निद्य नही माना जा सकता, कि शब्दोच्चार अयथार्थ है। जिससे सभीकी हानि हो, वह न तो सत्यही है, और न अहिंसाही।

शांतिपर्व (मभा शा ३१९ १३, २८७ १९) में सनत्कुमारके आधारपर नारदजी शुकजीसे कहते हैं –

सत्यस्य वचन श्रेयः सत्यादपि हित वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्त एतत्सत्य मत मम ।।

"सच बोलना अच्छा है, परतु सत्यसेभी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियोका हित हो। क्योकि जिससे सब प्राणियोका अत्यत हित होता है, वही हमारे मतमें सत्य है।" 'यद्भूतहित' पदको देखकर आधुनिक उपयोगितावादी अग्रेजो का स्मरण करके यदि कोई उक्त वचनको प्रक्षिप्त कहना चाहे, तो उन्हे स्मरण रखना चाहिये, कि वह वचन महाभारतके वनपर्वमे – ब्राह्मण और व्याधके सवादमे – दो-तीन बार आया है। उनमेंसे एक जगह तो "अहिसा सत्यवचन सर्वभूतहित परम्" पाठ है (मभा वन २०६ ७३), और दूसरी जगह "यद्भूतहिमत्यन्त तत्सत्यमिति धारणा" (वन २०८ ४), ऐसा पाठभेद किया गया है। सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यसे "नरो वा कुजरो वा" कहकर उन्हे सदेहमें क्यो डाल दिया? इसका कारण वही है, जो ऊपर दिया गया है, और कुछ नही। ऐसेही और बातोम्भी यही नियम लगाया जाता है। हमारे शास्त्रोका यह कथन नही है, कि झूठ बोलकर किसी खूनीकी जान बचाई जाये। शास्त्रोमें खून करनेवाले आदमीके लिये देहात प्रायश्चित्त अथवा वधदडकी सजा कही गयी है। इसलिये वह सजा पाने योग्य अथवा वध्य है। सभी शास्त्रकारोने कहा है कि इसीके समान और किसी समय जो आदमी झूठी गवाही देता है वह अपने सात या अधिक पूर्वजोसहित नरकमें जाता है। (मनु ८ ८९–९९, मभा आ ७ ३)। परतु जब कर्णपर्वमे वर्णित उक्त चोरोके दृष्टान्तके समान हमारे सच बोलनेसे निरपराधी आदमियोकी जान जानेकी शका हो, तो उस समय क्या करना चाहिये? ग्रीन नामक एक अग्रेज ग्रथकारने अपने 'नीतिशास्त्र का उपोद्घात' नामक ग्रथमे लिखा है, कि ऐसे अवसरोपर नीतिशास्त्र मूक हो जाते है। यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य ऐसे प्रसगोकी गणना सत्यापवादोमे करते है, तथापि यह भी उनके मतसे गौण बात है। इसलिये अतमें उन्होने इस अपवादके लिये भी प्रायश्चित्त बतलाया है – "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरु सारस्वतो द्विजै" (याज्ञ २ ८३, मनु ८ १०४–१०६)।

कुछ बडे अग्रेजोने – जिन्हे अहिंसाके अपवादके विषयमे आश्चर्य नही मालूम होता – हमारे शास्त्रकारोको सत्यके विषयमें दोष देनेका यत्न किया है। इसलिये यहाँ इस बातका उल्लेख किया जाता है, कि सत्यके विषयमें प्रामाणिक ईसाई धर्मोपदेशक और नीतिशास्त्रके अग्रेज ग्रथकार क्या कहते है। क्राइस्टका शिष्य पॉल नये बाइबलमें कहता है, 'यदि मेरे असत्य भाषणसे प्रभुके सत्यकी महिमा और बढती है (अर्थात् ईसाई धर्मका अधिक प्रचार होता है), तो इससेमै पापी कैसे हो सकता हूँ'? (रोम ३ ७) ईसाई धर्मके इतिहासकार मिलमैलने लिखा है, कि

प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशक कई वार इसी तरह आचरण किया करते थे। यह बात सच है, कि वर्तमान समयके पाश्चिमात्य नीतिशास्त्रज्ञ किसीको धोखा देकर या भुलाकर धर्मभ्रष्ट करना न्याय्य नही मानेंगे, परतु वेभी यह कहनेको तैयार नहीं है, कि सत्यधर्म अपवादरहित है। उदाहरणार्थ, यह देखिये, कि सिजविक नामके जिस पडितका नीतिशास्त्र हमारे कॉलिजोमें पढाया जाता है, उसकी क्या राय है। कर्म और अकर्मके सदेहका निर्णय जिस तत्त्वके आधारपर यह ग्रथकार किया करता है, उसको "सबसे अधिक लोगोका सबसे अधिक सुख" (बहुत लोगोका बहुत सुख) कहते है। इसी नियमके अनुसार उसने यह निर्णय किया है, कि छोटे लडकोको, पागलोको, और इसी प्रकार बीमार आदमियोको (यदि सच बात सुना देनेसे उसके स्वास्थ्यके बिगड जानेका भय हो), अपने शत्रुओको, चोरोको और (यदि बिना बोले काम चल न सकता हो तो) जो अन्यायसे प्रश्न करें, उसको उत्तर देनेके समय, अथवा वकीलोको अपने व्यवसायमें झूठ बोलना अनुचित नही है।* मिलके नीतिशास्त्रके ग्रथमेंभी इसी अपवादका समावेश किया गया है।† इन अपवादोके अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रथमें यहभी लिखता है, कि 'यद्यपि कहा गया है, कि सब लोगोको सच बोलना चाहिये, तथापि हम यह नही कह सकते, कि जिन राज-नीतिज्ञोको अपनी कारवाई गुप्त रखनी पडती है, वे औरोंके साथ, तथा व्यापारी अपने ग्राहकोंसे हमेशा सचही बोला करें।'‡ किसी अन्य स्थानमें वह लिखता है, कि यही छूट पादरियो और सिपाहियोंको मिलती है। लेस्ली स्टीफन नामका एक और अग्रेज ग्रथकार है। उसने नीतिशास्त्रका विवेचन आधिभौतिक दृष्टिसे किया है। वहभी अपने ग्रथमे ऐसेही उदाहरण देकर अतमें लिखता है, 'किसी कार्यके परिणामकी ओर ध्यान देनेके बादही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मुझे यह विश्वास हो, कि झूठ बोलनेहीसे कल्याण होगा, तो मै सत्य बोलनेके लिये कभी तैयार नही रहूँगा। मेरे इस विश्वासमें यह भाव हो सकता है, कि इस समय झूठ बोलनाही मेरा कर्तव्य है।'§ ग्रीन साहबने नीति-शास्त्र का विचार अध्यात्मदृष्टिसे किया है। आप उक्त प्रसगोका उल्लेख करके स्पष्ट

---

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book III Chap XI § 6 p 355 (7th Ed) Also, see pp 315—317 (same Ed)

† Mill's *Utilitarianism*, Chap II pp 33-34 (15th Ed Longmans, 1907)

‡ Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book IV Chap III, § p 454 (7th Ed), and Book II Chap V § 3 p 169

§ Leslie Stephen's *Science of Ethics* (Chap IV § 29 p 369 (2nd Ed) " And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie "

रीतिसे कहते है, कि ऐसे समय नीतिशास्त्र मनुष्यके सदेहकी निवृत्ति कर नही सकता। अतमें आपने यह सिद्धान्त लिखा है, "नीतिशास्त्र यह नही कहता, कि किसी साधारण नियमके अनुसार – सिर्फ यह समझकर कि वह है – हमेशा चलनेमे कुछ विशेष महत्त्व है, किंतु उसका कथन सिर्फ यही है, कि 'सामान्यत' उस नियमके अनुसार चलना हमारे लिये श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है, कि ऐसे समय हम लोग केवल नीतिके लिये अपनी लोभमूलक नीच मनोवृत्तियोको त्यागनेकी शिक्षा पाया करते है।"* नीतिशास्त्रपर ग्रथ लिखनेवाले वेन, वेवेल आदि अन्य अग्रेज पडितोकाभी ऐसाही मत है। ‡

यदि उक्त अग्रेज ग्रथकारोंके मतोकी तुलना हमारे धर्मशास्त्रकारोंके बनाये हुए नियमोके साथ की जाय, तो यह बात सहजही ध्यानमें आ जाएगी, कि सत्यके विषयमें अधिक अभिमानी कौन है। इसमें सदेह नही, कि हमारे शास्त्रोमें कहा है –

न नर्मयुक्त वचन हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पचानृतान्याहुरपातकानि ।।

अर्थात् "हँसीमें, स्त्रियोंके साथ, विवाहके समय, जब जानपर आ बने तब, और सपत्तिकी रक्षाके लिये झूठ बोलना पाप नही है" (मभा आ ८२ १६ और महा शा १०९ तथा मनु ८ ११०)। परतु इसका मतलब यह नही है, कि स्त्रियोंके साथ हमेशा झूठही बोलना चाहिये। जिस भावसे सिजविक साहबने 'छोटे बच्चे, पागल और बीमार' के विषयमें अपवाद किया है, वही भाव महाभारतके उक्त कथनकाभी है। अग्रेज ग्रथकार पारलौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकी ओर कुछ ध्यान नही देते। उन लोगोने तो खुल्लमखुल्ला यहाँतक प्रतिपादन किया है कि व्यापारियोका अपने लाभके लिये झूठ बोलना अनुचित नही है। किंतु वह बात हमारे शास्त्रकारोको समत नही है। इन लोगोंने कुछ ऐसेही प्रसगोपर असत्य बोलनेकी अनुमति दी है, जबकि केवल सत्य शब्दोच्चारण (अर्थात् केवल वाचिक सत्य) और सर्वभूतहित (अर्थात् वास्तविक सत्य) में विरोध हो जाता है, और व्यवहारकी दृष्टिसे झूठ बोलना अपरिहार्य हो जाता है। इनकी राय है, कि सत्य आदि नीतिधर्म नित्य – अर्थात् सब समय एक समान अबाधित – है। अतएव यह अपरिहार्य झूठ बोलनाभी थोडा-सा पापही है, और उसके लिये प्रायश्चित्तभी कहा गया है। सभव है, कि आजकलके आधिभौतिक पडित इन प्रायश्चित्तोको निरर्थक हौवा कहेगे, परतु जिन्होने ये प्रायश्चित्त कहे है और जिन लोगोके

---

* Greens's *Prolegomena to Ethics*, § 315 p 379, (5th Cheaper edition)

‡ Bain's *Mental and Moral Science*, p 445 (Ed 1875), and Whewell's *Elements of Morality* Book II Chaps XIII and XIV (4th Ed, 1864)

लिये ये कहे गये हैं, वे दोनो ऐसा नही समझते। वे तो सब उक्त सत्य अपवादको गौण ही मानते है। और इस विषयकी कथाओमेंभी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है। देखिये, युधिष्ठिरने अडचनके समय एकही वार दवी हुई आवाजसे 'नरो वा कुजरो वा' कहा था। इसका फल यह हुआ, कि उसका रथ, जो पहले जमीनमे चार अगुल ऊपर अतरिक्षमे चला करता था, अव और मामूली लोगोके रथोके समान धरतीपर चलने लगा। और अतमें एक क्षणभरके लिये उसे नरकलोकमे रहना पडा (मभा द्रोण १९१ ५७ ५८ तथा स्वर्ग ३ १५)। दूसरा उदाहरण अर्जुनका लीजिये। अश्वमेधपर्व (मभा अश्व ८१ १०) में लिखा है कि यद्यपि अर्जुनने भीष्मका वध शास्त्रधर्मके अनुसार कियाथा, तथापि उसने शिखडीके पीछे छिपकर यह काम किया था, इसलिये उसको अपने पुत्र वभ्रुवाहनसे पराजित होना पडा। इन सब बातोसे यही प्रकट होता है, कि विशेष प्रसगोके लिये कहे गये उक्त अपवाद मुख्य या प्रमाण नही माने जा सकते। हमारे शास्त्रकारोका अतिम तात्त्विक सिद्धान्त वही हैं, जो महादेवने पार्वतीसे कहा है –

आत्महेतो परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नरा स्वर्गगामिन ॥

"जो लोग, इस जगतमें स्वार्थके लिये, परार्थके लिये, या मजाकमेंभी कभी झूठ नही वोलते, उन्हीको स्वर्गकी प्राप्ति होती हैं" (मभा अनु १४४ १९)।

अपनी प्रतिज्ञा या वचनको पूरा करना सत्यहीमें शामिल है। भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्म पितामह कहते है, "चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, अथवा अग्नि शीतल हो जाय, परतु हमारा वचन टल नही सकता" (मभा आ १०३ तथा उ ८१ ४८) भर्तृहरिनेभी सत्पुरुषोका वर्णन इस प्रकार किया है –

तेजस्विन. सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति।
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुन प्रतिज्ञाम् ॥

"तेजस्वी पुरुष आनदसे अपनी जानभी दे देंगे, परतु वे अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कभी नही करेंगे" (नीतिश ११०) इसी तरह श्रीरामचद्रजीके एकपत्नी-व्रतके साथ उनका एक-बाण और एक-वचनका व्रतभी प्रसिद्ध है, जैसा इस सुभाषितमें कहा है – "द्विशर नाभिसधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।" हरिश्चद्रने तो अपने स्वप्नमें दिये हुए वचनको सत्य करनेके लिये डोमकी नीच सेवाभी की थी। इसके उलटे, वेदमें यह वर्णन है, कि इद्रादि देवताओंने वृत्रासुरके साथ जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हे मेट दिया और उसको मार डाला। ऐसीही कथापुराणोमे हिरण्यकशिपू की है। व्यवहारमेभी कुछ कौल-करार ऐसे होते है, कि जो न्यायालयमें वे-कायदा समझे जाते है, या जिनके अनुसार चलना अनुचित माना जाता है। अर्जुनके विषयमें ऐसीही कथा महाभारत (मभा कर्ण ६९) में है। अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी, कि जो कोई मुझसे कहेगा, कि "तू अपना गाडीव धनुष्य किसी दूसरेको दे दे, उसका सि

मैं तुरतही काट डालूंगा।" इसके बाद युद्धमें जब युधिष्ठिर कर्णसे पराजित हुआ तब उसने निराश होकर अर्जुनसे कहा, "तेरा गाडीव हमारे किस कामका है? तू इसे छोड दे!" यह सुनकर अर्जुन हाथमें तलवार ले युधिष्ठिरको मारने दौडा। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वही थे। उन्होंने तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सत्य धर्मका मार्मिक विवेचन करके अर्जुनको यह उपदेश किया, कि "तू मूढ है। तुझे अबतक सूक्ष्म-धर्म मालूम नही हुआ है। तुझे वृद्धजनोसे इस विषयकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, 'न वृद्धा सेवितास्त्वया' – तूने वृद्धजनोकी सेवा नही की है। यदि तू प्रतिज्ञाकी रक्षा करनाही चाहता है, तो तू युधिष्ठिरकी निर्भर्त्सना कर, क्योकि सभ्यजनोको निर्भर्त्सना मृत्युहीके समान है।" इस प्रकार बोध करके उन्होने अर्जुनको ज्येष्ठ भ्रातृवधके पापसे बचाया। इस समय भगवान् श्रीकृष्णने जो सत्यानृत-विवेक अर्जुनको बताया है, उसीको आगे चलकर शातिपर्वके सत्यानृत नामक अध्यायमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है (शा १०९)। यह उपदेश व्यवहारमें लोगोको ध्यानमें रखना चाहिये। इसमें सदेह नही, कि इन सूक्ष्म प्रसगोको जानना बहुत कठिन काम है। देखिये, इस स्थानमें सत्यको अपेक्षा भ्रातृधर्मही श्रेष्ठ माना गया है, और गीताका प्रसग इसके उलटे है, जहाँ बधुप्रेमकी अपेक्षा क्षात्रधर्म प्रबल माना है।

जब अहिसा और सत्यके विषयमें इतना वाद-विवाद है, तब आश्चर्यकी बात नही, कि यही हाल नीतिधर्मके तीसरे तत्त्व अर्थात् अस्तेयकाभी हो। यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि न्यायपूर्वक प्राप्त किसीकी सपत्तिको चुरा ले जाने या लूट लेनेकी स्वतत्रता यदि दूसरोको मिल जाय, तो द्रव्यका सचय करना बदहो जाएगा, समाजकी रचना बिगड जाएगी, चारो तरफ अनवस्था हो जाएगी और सभीकी हानि होगी। परतु इस नियमकेभी अपवाद है। जब दुर्भिक्षके समय मोल देने, मजदूरी करने या भिक्षा माँगनेसेभी अनाज नहीं मिलता, तब ऐसी आपत्तिमें यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे, तो क्या वह पापी समझा जाएगा? महाभारत (शा १४१) में यह कथा है कि किसी समय बारह वर्षतक दुर्भिक्ष रहा और विश्वामित्रपर ऐसीही बडी आपत्ति आयी। तब उन्होंने किसी श्वपच (चाडाल) के घरसे कुत्तेका मास चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजनसे अपनी रक्षा करनेके लिये प्रवृत्त हुए। उस समय श्वपचने विश्वामित्रको पचनखा भक्ष्या ' (मनु ५ १८)* इत्यादि शास्त्रार्थ बतलाकर अभक्ष्य-भक्षण और वहभी चोरी न करनेके विषयमें बहुत उपदेश किया। परतु विश्वामित्रने उसको डाँटकर यह उत्तर दिया –

---

* मनु और याज्ञवल्क्यने कहा है कि कुत्ता, बदर आदि जिन जानवरोंके पाँच पाँच नख होते है उन्हीमेंसे खरगोश, कछुआ, गोह आदि पाँच प्रकारके जानवरोका मास भक्ष्य है (मनु ५ १८, याज्ञ १ १७७)। इन पाँच जानवरोंके अतिरिक्त मनुजीने 'खड्ग' अर्थात् गेडेकोभी भक्ष्य माना है। परतु टीकाकारका कथन है,

पिबन्त्येवोदक गावो मडूकेषु रुवत्स्वपि ।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशसक. ।।

"अरे ! यद्यपि मेंढक टर्र टर्र किया करते है, तोभी गौएँ पानी पीना वद नही करती, चुप रह ! मुझे धर्मज्ञान वतानेका तेरा अधिकार नही है । व्यर्थ अपनी प्रशसा मत कर ।" उस समय विश्वामित्रने यह भी कहा है, कि " जीवित मरणात्श्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात् " – अर्थात् यदि जिंदा रहेंगे तो धर्मका आचरण कर सकेंगे। इसलिये धर्मकी दृष्टिसेभी मरनेकी अपेक्षा जीवित रहना अधिक श्रेयस्कर है । मनुजीने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियोके उदाहरण दिये है, जिन्होंने ऐसे सकट समय इसी प्रकार आचरण किया है (मनु १० १०५–१०८) । हाव्स नामक अग्रेज ग्रथकार लिखता है, " किसी कठिन अकालके समय जव अनाज मोल न मिले, या दानभी न मिले, तव यदि पेट भरनेके लिये कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो उसका यह अपराध माफ समझा जाता है ।"* और मिलने तो यहाँ तक लिखा है, कि ऐसे समय चोरी करके अपने प्राण वचाने यही मनुष्यका कर्तव्य है ।

"मरनेसे जिंदा रहना श्रेयस्कर है " – क्या विश्वामित्रका यह तत्त्व सर्वथा अपवादरहित कहा जा सकता है ? । इस जगत्में सिर्फ जिंदा रहनाही पुरुषार्थ नही है। कौएभी काकवलि खाकर कई वर्षोंतक जीते रहने है । इसलिये वीरपत्नी विदुला अपने पुत्रसे कहती है, कि विछौनेपर पडे पडे सड जाने या घरमें सौ वर्षकी आयुको व्यर्थ व्यतीतकर देनेकी अपेक्षा, यदि तू एक क्षणभी अपने पराक्रमकी ज्योति प्रकट करके मर जाएगा तो अच्छा होगा – " मुहूर्तं ज्वलित श्रेयो न धूमायित चिरम् " (मभा उ १३२ १५) । यदि यह वात सच है, कि आज नही तो कल, अतमें सौ वर्षके वाद तो मरना जरूरी है (मभा १० १, ३८, गीता २ २७), तो फिर उसके लिये रोने या डरनेसे क्या लाभ है ? अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे तो आत्मा नित्य और

कि इस विषयमें विकल्प है। इस विकल्पको छोड देनेपर शेप पाँचही जानवर रहते हैं, और उन्हीका माम भक्ष्य समझा गया है। "पच पचनखा भक्ष्या "का यही अर्थ है। तथापि मीमासकोंके मतानुसार इस व्यवस्थाका भावार्थ यही है, कि जिन लोगोको मास खानेकी समति दी गई है, वे उक्त पचनखी पाँच जानवरोके सिवा और किसी पचनखी जानवरका मास न खाये। इसका भावार्थ यह नही है, कि इन जानवरोंका मास खानाही चाहिये। इस पारिभाषिक अर्थको वे लोग 'परिसख्या' कहते हैं।" पच पचनखा भक्ष्या " इसी परिसख्याका मुख्य उदाहरण है। जवकि मास खानाही निषिद्ध माना गया है तव इन पांच जानवरोका मास खानाभी निषिद्धही समझा जाना चाहिये ।

* Hobbes, *Leviathan* Part II Chap XXVII p 139 (Morley's Universal Library Edition) Mill's *Utilitarianism* Chap V p 95 (15th Ed) Thus, to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal etc "

अमर है। इस लिये मृत्युका विचार करते समय प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त सिर्फ इस शरीरकाही विचार बाकी रह जाता है। अच्छा यह तो सब जानते है, कि यह शरीर नाशवान् है, परन्तु आत्माके कल्याणके लिये, इस जगतमें जो कुछ करना है, उसका एकमात्र साधन यही नाशवान् मनुष्यदेह है। इसीलिये मनुने कहा है, "आत्मान सतत रक्षेत् दारैरपि धनैरपि"—अर्थात् स्त्री और सपत्तिकी अपेक्षा हमको पहले स्वय अपनीही रक्षा करनी चाहिये (मनु ७ २१३)। यद्यपि मनुष्य-देह दुर्लभ और नाशवानभी है, तथापि जब उसका नाश करके उससेभी अधिक किसी शाश्वत वस्तुकी प्राप्ति कर लेनी होती है, (जैसे देश, धर्म और सत्यके लिये, अपनी प्रतिज्ञा, व्रत और बिरदकी रक्षाके लिये, एव इज्जत, कीर्ति और सर्वभूतहितके लिये) तब ऐसे समयपर अनेक महात्माओंने इस तीव्र कर्तव्याग्निमें अपने प्राणोकीभी आनदसे आहुति दे दी है। रघुवशमें कहा है कि जब राजा दिलीप अपने गुरु वसिष्ठकी गायकी सिंहसे रक्षा करनेके लिये उसको अपने शरीरका बलिदान देनेको तैयार हो गया, तब वह सिंहसे बोला, कि हमारे समान पुरुषोकी "इस पचभौतिक शरीरके विषयमें अनास्था रहती है। अतएव तू मेरे इस जड शरीरके बदले मेरे यश स्वरूपी शरीरकी ओर ध्यान दे।" (रघु २ ५७)। कथासरित्सागर और नागानद नाटकमें यह वर्णन है, कि सर्पोकी रक्षा करनेके लिये जीमूतवाहनने गरुडको स्वय अपना शरीर अर्पण कर दिया। मृच्छकटिक नाटक (१० २७) में चारुदत्त कहता है —

न भीतो मरणादस्मि केवल दूषित यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल ॥

"मैं मृत्युसे नही डरता, मुझे यही दु ख है, कि मेरी कीर्ति कलकित हो गई। यदि कीर्ति शुद्ध रहे, और मृत्यु आ जाय, तो मैं उसको पुत्रके जन्मके उत्सवके समान मानूंगा।" इसी तत्त्वके आधारपर महाभारतके वनपर्व और शातिपर्व (मभा वन १०० तथा १३१, शा ३४२)में राजा शिबि और दधीचि ऋषिकी कथाओका वर्णन किया है। जब धर्म-(यम)राज श्येन पक्षीका रूप धारण करके कपोतके पीछें उडे और जब वह कपोत अपनी रक्षाके लिये राजा शिबिकी शरणमें गया, तब राजाने स्वय अपने शरीरका मास काटकर उस श्येन पक्षीको दिया, और शरणागत कपोतकी रक्षा की। वृत्रासुर नामका देवताओका एक शत्रु था। उसको मारनेके लिये दधीचि ऋषिकी हड्डियोंके वज्रकी आवश्यकता हुई। तब सब देवता मिलकर उक्त ऋषिके पास गये और बोले, "शरीरत्याग लोकहितार्थं भवान् कर्तुमर्हति" — हे महाराज! सब लोगोंके कल्याणके लिये आप देहत्याग कीजिये। यह बिनती सुनकर दधीचि ऋषिने बडे आनदसे अपना शरीर त्याग दिया और अपनी हड्डियां देवताओको दे दी। एक समयकी बात है, कि इद्र ब्राह्मणका रूप धारण करके, दानशूर कर्णके पास कवच और कुडल मांगने आया। कर्ण इन कवच-कुडलोको पहने हुएही

जन्मा था। जब सूर्यने जाना, कि इद्र कवच-कुडल मांगने जा रहा है, तव उसने पहलेहीसे कर्णको सूचना दे दी थी, कि तुम अपने कवच-कुडल किसीको दान मत दो। यह सूचना देते समय सूर्यने कर्णसे कहा, "इसमें सदेह नही, कि तू बडा दानी है, परतु यदि तू अपने कवच-कुडल दानमें देगा, तो तेरे जीवनहीकी हानि हो जाएगी। इसलिये तू इन्हें किमीको न दो। क्योकि मर जानेपर कीर्तिका क्या उपयोग?" "मृतस्य कीर्त्या किं कार्यम्।" यह सुनकर कर्णने स्पष्ट उत्तर दिया, कि "जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम्" – अर्थात् जान भलेही चली जाय तोभी कुछ परवाह नही, परतु अपनी कीर्तिकी रक्षा करनाही मेरा व्रत है (मभा वन २९९ ३८) साराश यह है, कि "यदि मर जाएगा, तो स्वर्गकी प्राप्ति होगी, और जीत जाएगा तो पृथ्वीका राज्य मिलेगा" इत्यादि क्षात्रधर्म (गीता २ ३७) और 'स्वधर्मे निधन श्रेय' (गीता ३ ३५) यह सिद्धान्त उक्त तत्त्वपरही अवलबित है। इसी तत्त्वके अनुसार श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं, 'कीर्तिकी ओर देखनेसे सुख नही है, और सुखकी ओर देखने से कीर्ति नही मिलती (दासबोध १२ १० १९, १९ १० २५), और वे उपदेशभी करते है, कि "हे सज्जन मन! ऐसा काम कर, जिससे मरनेपर कीर्ति बची रहे।" यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यद्यपि परोपकारसे कीर्ति प्राप्त होती है, तथापि मृत्युके वाद कीर्तिका क्या उपयोग है? अथवा किसी सभ्य मनुष्यको अपकीर्ति की अपेक्षा मर जाना (गीता २ ३४), या जिदा रहनेसे परोपकार करना अधिक प्रिय क्यो मालूम होता है? इस प्रश्नका उचित उत्तर देनेके लिये आत्म-अनात्म विचारमें प्रवेश करना होगा। और इसीके साथ कर्म-अकर्मशास्त्रकाभी विचार करके यह जान लेना होगा, कि किम समयपर जान देनेके लिये तैयार होना उचित या अनुचित है। यदि इस वातका विचार नही किया जाएगा, तो जान देनेसे यशकी प्राप्ति तो दूरही रही, मूर्खतासे आत्महत्या करनेका पाप माथे चढ जाएगा।

माता, पिता, गुरु आदि वदनीय और पूजनीय पुरुषोकी पूजा तथा शुश्रूषा करनाभी सर्वमान्य धर्मोंमेंसे एक प्रधान धर्म समझा जाता है। यदि ऐसा न हो तो कुटुव, गुरुकुल और सारे समाजकी व्यवस्था ठीक ठीक कभी रह न सकेगी। यही कारण है, कि सिर्फ स्मृति-ग्रथोहीमें नही, किंतु उपनिषदोमभी, "सत्य वद, धर्मं चर" कहा गया है। और जव शिष्यका अध्ययन पूरा हो जाता, और वह अपने घर जाने लगता, तव प्रत्येक गुरुका उसे यही उपदेश होता था, कि "मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।" (तै १ ११ १ और ६) महाभारतके ब्राह्मण-व्याध आख्यानका तात्पर्यभी यही है (वन अ २१३)। परतु इसमेभी कभी कभी अकल्पित वाधाएँ खडी हो जाती हैं। देखिये, मनुजी कहते हैं (२ १४५)

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणा शत पिता।
सहस्र तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

"दस उपाध्यायोंसे आचार्य और सौ आचार्योंसे पिता, एव हजार पिताओंसे माताका गौरव अधिक है।" इतना होनेपरभी यह कथा प्रसिद्ध है, (मभा वन ११६ १४) कि परशुरामकी माताने कुछ अपराध किया था, इसलिये उसने अपने पिताकी आज्ञासे अपनी माताको मार डाला। शातिपर्व (मभा शा २६५) के चिरकारिकोप-आख्यानमें अनेक साधक-बाधक प्रमाणोसहित इस बातका एक स्वतत्न अध्याय में विस्तृत विवेचन किया गया है, कि पिताकी आज्ञासे माताका वध करना श्रेयस्कर है या पिताकी आज्ञाका भग करना श्रेयस्कर है। इससे स्पष्ट जाना जाता है, कि महाभारतके समय ऐसे सूक्ष्म प्रसगोकी नीतिशास्त्नकी दृष्टिसे चर्चा करनेकी पद्धति जारी थी। यह बात छोटोसे लेकर बडोतक सब लोगोको मालूम है, कि पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये उनकी आज्ञासे रामचद्रने चौदह वर्ष वनवास किया। परतु माताके सबधमें जो न्याय ऊपर कहा गया है, वही पिताके सबधमेंभी उपयुक्त होनेका समय कभी कभी आ सकता है। जैसे, मान लीजिये, कोई लडका अपने पराक्रमसे राजा हो गया, और उसका पिता एक अपराधीके नाते इन्साफके लिये उसके सामने लाया गया, इस अवस्थामें वह लडका क्या करे? – राजाके नाते अपने अपराधी पिताको दड दे या उसको अपना पिता समझ कर छोड दे? मनुजी कहते हैं –

> पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहित.।
> नावण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥

"पिता, आचार्य, मित्न, माता, स्त्नी, पुत्न या पुरोहित – इनमेंसे कोईभी यदि अपने धर्मके अनुसार न चले, तो वह राजाके लिये दडय नही हो सकता, अर्थात् राजा उसको उचित दड दे" (मनु ८ ३३५, मभा शा १२१ ६०)। क्योकि इस जगह पुत्नधर्मकी योग्यतासे राजधर्मकी योग्यता अधिक है। इस न्यायका उदाहरण (मभा वन १०७, रामा १ ३८ में) भारत और रामायण – दोनोमें है, कि सूर्यवशके महापराक्रमी सगर राजाने अपने लडकेको देशसे निकाल दिया था, क्योकि वह 'नासमझ और दुराचारी' था, और प्रजाको दु ख दिया करता था। मनुस्मृतिमेंभी यह कथा है, कि आगिरस नामक एक ऋषिको छोटी अवस्थाहीमें बहुत ज्ञान हो गया था। इसलिये उसके काका-मामा आदि बडे बूढे रिश्तेदार उसके पास अध्ययन करने लगे। एक दिन पाठ पढाते पढाते आगिरसने कहा, "पुत्नका इति होवा च ज्ञानेन परिगृह्य तान्।" बस, यह सुनकर सब वृद्धजन क्रोधसे लाल-पीले हो गये, और कहने लगे, कि यह लडका मस्त हो गया है। उसको उचित दड दिलानेके लिये उन लोगोंने देवताओंसे शिकायत की। देवताओंने दोनो पक्षोका कहना सुन लिया और यह निर्णय किया, कि "आगिरसने जो कुछ तुम्हे कहा वही न्याय्य है।" इसका कारण यह है –

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर ।
यो वै युवाप्यधीयानस्त देवा' स्थविर विदुः ।।

“सिरके वाल सफेद हो जानेसेही कोई मनुष्य वृद्ध नही कहा जा सकता, देवगण उसी को वृद्ध कहते हैं, जो तरुण होनेपरभी ज्ञानवान् हो” (मनु २ १५६ और मभा वन १३३ ११, शल्य ५१ ४७)। यह तत्त्व मनुजी और व्यासजीहीको नही, किंतु वुद्धकोभी मान्य था। क्योकि, मनुस्मृतिके उक्त श्लोकका पहला चरण ‘धम्मपद’* नामके पाली भाषाके प्रसिद्ध नीतिविषयक वौद्ध ग्रथमें अक्षरश आया है (धम्मपद २६०)। और उसके आगे यहभी कहा है, कि जो सिर्फ अवस्थाहीसे वृद्ध हो गया है, उसका जीना व्यर्थ हैं, यथार्थमे धर्मिष्ठ और वृद्ध होनेके लिये सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणोकी आवश्यकता है। ‘चुल्लवग्ग’ नामक दूसरे ग्रथ (चुल्लवग्ग ६ १३ १) में स्वय वुद्धकी यह आज्ञा है, कि यद्यपि धर्मका निरूपण करनेवाला भिक्षु नया हो, तथापि वह ऊँचे आसनपर वैठें और उन वयोवृद्ध भिक्षुओकोभी उपदेश करे, जिन्होने उसके पहले दीक्षा पाई हो। यह कथा सव लोग जानते है, कि प्रल्हादने अपने पिता हिरण्यकशिपुकी अवज्ञा करके भगवत्प्राप्ति कैसे कर ली थी। इससे यह जान पडता हैं कि छोटेवडेकाही नही तो जव कभी पिता-पुत्रके सर्वमान्य नातेसेभी कोई दूसरा अधिक वडा सवध उपस्थित होता है, तव उतने समयके लिये निरुपाय होकर पिता-पुत्रका नाता भूल जाना पडता हैं। परतु ऐसे अवसरके न होते हुएभी, यदि कोई मुँहज़ोर लडका उक्त नीतिका अवलव करके अपने पिताको गालियाँ देने लगे, तो वह केवल पशुके समान समझा जाएगा। पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है, ‘गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मति’ (मभा शा. १०८ १७) – अर्थात् गुरु, माता-पितासेभी श्रेष्ठ है, परतु महाभारतमे यहभी लिखा है, कि एक समय मरुत्त राजाके गुरुने लोभवश होकर स्वार्थके लिये उसका त्याग किया, तव मरुत्तने कहा :–

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानत ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्य भवति शासनम् ।

“यदि कोई गुरु इस वातका विचार न करे, कि क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये, और यदि वह अपनेही घमडमें रहकर टेढे रास्तेसे चले, तो उसको

---

* ‘धम्मपद’ ग्रथका अग्रेजी अनुवाद ‘प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला’ (*Sacred Books of the East*, Vol X) में किया गया है, और चुल्लवग्गका अनुवादभी उसी मालाके Vol XVII और XX मे प्रकाशित हुआ है। धम्मपदका पाली श्लोक यह है –

न तेन थेरो होति येनस्स पलित सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति ।।

‘थेर’ शव्द वृद्ध भिक्षुओके लिये प्रयुक्त हुआ है। यह सस्कृत ‘स्थविर’का अपभ्रश है।

शासन करना उचित है।" उक्त श्लोक महाभारतमें चार स्थानोमे पाया जाता है (मभा आ १४२ ५२, ५३, उ १७९, २४, शा ५७ ७, १४० ४८)। इनमेंसे पहले स्थानमे वही पाठ है, जो ऊपर दिया गया है। अन्य स्थानोमे चौथे चरणके स्थानमें "दण्डो भवति शाश्वत " "अथवा परित्यागो विधीयते" यह पाठातरभी है। परतु वाल्मीकिरामायण (रामा २ २१ १३,) मे जहाँ यह श्लोक है, वहाँ ऐसाही पाठ है, जैसा ऊपर दिया गया है। इसलिये हमने इस ग्रथमे उसीको स्वीकार किया है। इस श्लोकमें जिस तत्त्वका वर्णन किया गया है, उसीके आधारपर भीष्म पितामहने परशुरामसे और अर्जुनने द्रोचाणार्यसे युद्ध किया, और जव प्रल्हादने देखा, कि अपने गुरु, जिन्हे हिरण्यकशिपूने नियत किया है, भगवत्प्राप्तिके विरुद्ध उपदेशकर रहे है, तव उसने इसी तत्त्वके अनुसार उनका निषेध किया है। शातिपर्वमे भीष्म पितामह श्रीकृष्णसे कहते है, कि यद्यपि गुरु पूजनीय है, तथापि उसकोभी नीतिकी मर्यादाका पालन करना चाहिये, नही तो–

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रिय स हि धर्मवित् ।।

"हे केशव ! जो गुरु मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचारका भग करते है और जो लोभी या पापी है, उन्हे लडाईमे मारनेवाला क्षत्रियही धर्मज्ञ कहलाता है" (मभा शा ५५ १६)। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद्मेंभी प्रथम 'आचार्य देवो भव' कहकर उसीके आगे कहा है, कि हमारे जो कर्म अच्छे हो उन्हीका अनुकरण करो, औरोका नही–'यान्यस्माक सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि' (तै १ ११ २)। इससे उपनिषदोका वह सिद्धान्त प्रकट होता है, कि यद्यपि पिता और आचार्यको देवताके समान मानना चाहिये, तथापि यदि वे शराब पीते हो, तो पुत्र और छात्रको अपने पिता या आचार्यका अनुकरण नही करना चाहिये क्योकि नीतिकी मर्यादा और धर्मका अधिकार माँ-बाप या गुरुसे अधिक वलवान् होता है। मनुजीकी निम्न आज्ञाकाभी यही रहस्य है–"धर्मका पालन करो, यदि कोई धर्मका नाश करेगा, अर्थात् धर्मकी आज्ञाके अनुसार आचरण नही करेगा, तो धर्म उस मनुष्यका नाश किये विना नही रहेगा।" (मनु ८ १४–१६) राजा तो गुरुसेभी अधिक श्रेष्ठ एक देवता है (मनु ७ ८ और मभा शा ६८ ४०), परतु वहभी इस धर्मसे मुक्त नही हो सकता। यदि वह इस धर्मका त्याग कर देगा, तो उसका नाश हो जाएगा – यह वात मनुस्मृतिमे कही गई है, और महाभारतमें वही भाव, वेन तथा खनीनेत्र राजाओकी कथामें, व्यक्त किया गया है (मनु ७ ४१ और ८. १२८, मभा शा ५९ ९२ १०० तथा अश्व ४)।

अहिंसा, सत्य और अस्तेयके साथ इद्रिय-निग्रहकीभी गणना सामान्य धर्ममें की जाती है (मनु १० ६३)। काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्यके शत्रु है। इसलिये जवतक मनुष्य इनको जीत नही लेगा, तवतक उसका या समाजका कल्याण

नही होगा। यह उपदेश सब शास्त्रोमें किया गया है। विदुरनीति और भगवद्-गीतामेंभी कहा है –

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रय त्यजेत् ॥

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनो नरकके द्वार हैं। इनसे हमारा नाश होता है। इस लिये इनका त्याग करना चाहिये" (गीता १६ २१ मभा उ ३२ ७०)। परतु गीताहीमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपका यह वर्णन किया है, "धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" – हे अर्जुन ! प्राणिमात्रमे धर्मके अनुकूल जो 'काम' है, वहीमें हूँ (गीता ७ ११)। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि जो 'काम'-धर्मके विरुद्ध है वही नरकका द्वार है। इसके अतिरिक्त जो दूसरे प्रकारका 'काम' है, अर्थात् जो धर्मके अनुकूल है, वह ईश्वरको मान्य है। मनुनेभी यही कहा है – "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्याता धर्मवर्जितौ" – जो अर्थ और काम धर्मके विरुद्ध हो उनका त्याग कर देना चाहिये (मनु ४ १७६)। यदि सब प्राणी कलसे 'काम' का त्याग कर दें और मृत्युपर्यत ब्रह्मचर्यव्रतमे रहनेका निश्चय कर ले, तो सौ-पचास वर्षहीमे सारी सजीव सृष्टिका लय हो जाएगा, और जिस सृष्टिकी रक्षाके लिये भगवान् बार बार अवतार धारण करते है, उसका अल्पकालहीमें उच्छेद हो जाएगा। यह बात सच है कि, काम और क्रोध मनुष्यके शत्रु हैं, परतु कब ? जब वे अपने वशमें न रहें तब। यह बात मनु आदि शास्त्रकारोको समत है, कि सृष्टिका क्रम जारी रखनेके लिये – उचित मर्यादाके भीतर – काम और क्रोधकी अत्यत आवश्यकता है (मनु ५ ५६)। इन प्रबल मनोवृत्तियो का उचित रीतिमे निग्रह करना ही सब सुधारोका प्रधान उद्देश्य है, उनका नाश करना कोई सुधार नही कहा जा सकता, क्योकि भागवत (भाग ११ ५ ११) में कहा है –

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

"इस दुनियामें किसीसे यह कहना नही पडता, कि तुम मैथुन, मास और मदिराका सेवन करो। ये तीनो मनुष्यको स्वभावहीसे पसद हैं। इन तीनोकी कुछ व्यवस्था कर देनेके लिये – अर्थात् इनके उपयोगको कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देनेके लिये – (शास्त्रकारोने) अनुक्रमसे विवाह, सोमयाग और सौत्रामणी यज्ञकी योजना की है, परतु तिस परभी निवृत्ति अर्थात् निष्काम आचारण इष्ट है।" यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है, कि जब 'निवृत्ति' शब्दका सबध पचम्यत पदके साथ होता है, तब उसका अर्थ "अमुक वस्तुसे निवृत्ति अर्थात् अमुक कर्मका सर्वथा त्याग" हुआ करता है, तोभी कर्मयोगमें 'निवृत्ति' विशेषण कर्महीके लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये 'निवृत्तिकर्म'का अर्थ "निष्काम बुद्धिसे किया जानेवाला कर्म" होता है। यही अर्थ मनुस्मृति और भागवतपुराणमें स्पष्ट रीतिसे पाया जाता

है (मनु १२ ८९, भाग ११ १० १ और ७ १५ ४७) क्रोधके विषयमें किरात-काव्यमें (१ ३३) भारविका कथन है –

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादर.।

"जिस मनुष्यको अपमानित होनेपरभी क्रोध नही आता, उसकी मित्रता और द्वेष दोनो बराबर है।" क्षात्रकर्मके अनुसार देखा जाय तो विदुलाने यही कहा है –

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुन. पुमान् ॥

"जिस मनुष्यको (अन्यायपर) क्रोध आता है, जो (अपमान को) सह नही सकता, वही पुरुष कहलाता है। जिस मनुष्यमें क्रोध या चिढ नही है, वह नपुसकहीके समान है" (मभा उ १३२ ३३)। इस बातका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कि इस जगतके व्यवहारके लिये न तो सदा तेज या क्रोधही उपयोगी है, और न क्षमा। यही बात लोभके विषयमें कही जा सकती है, क्योकि सन्यासीकोभी मोक्षकी इच्छा होती है।

व्यासजीने महाभारतमें अनेक स्थानोपर भिन्न भिन्न कथाओके द्वारा यह प्रतिपादन किया है, कि शूरता, धैर्य, दया, शील, मित्रता, समता आदि सब सद्गुण अपने अपने विरुद्ध गुणोंके अतिरिक्त देश-काल आदिसे मर्यादित है। यह नही समझना चाहिये, कि कोई एकही सद्गुण सभी समय शोभा देता है। भर्तृहरिका कथन है –

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम.।

"सकटके समय धैर्य, अभ्युदयके समय (अर्थात् जब शासन करनेकी सामर्थ्य हो तब) क्षमा, सभामें वक्तृता और युद्धमे शूरता शोभा देती है" (नीति ६३)। शातिके समय 'उत्तर'के समान बकबक करनेवाले पुरुष कुछ कम नही हैं। घर बैठे बैठे अपनी स्त्रीकी नथनीमेंसे तीर चलानेवाले कर्मवीर बहुतेरे होगे, पर उनमेंसे रणभूमिपर धनुर्धर कहलानेवाला एक-आधही दीख पडता है। धैर्य आदि सद्गुण ऊपर लिखे समयपरही शोभा देते है, इतनाही नही, किंतु ऐसे प्रसगके बिना उनकी सच्ची परीक्षाभी नही होती। सुखके साथी तो बहुतेरे हुआ करते है, परतु "निकष-ग्रावा तु तेषा विपत्"– विपत्तिही उनकी परीक्षाकी सच्ची कसौटी है। 'प्रसग' शब्दहीमें देश-कालके अतिरिक्त पात्रापात्र आदि बातोकाभी समावेश हो जाता है। समतासे बढकर कोईभी गुण श्रेष्ठ नही है। भगवद्गीतामे स्पष्ट रीतिसे लिखा है, "सम सर्वेषु भूतेषु" यही सिद्ध पुरुषोका लक्षण है। परतु समता कहते किसे है ? यदि कोई मनुष्य योग्यता-अयोग्यताका विचार न करके सब लोगोको समान रूपमे दान करने लगे, तो क्या हम उसे अच्छा कहेंगे ? इस प्रश्नका निर्णय भगवद्-गीताहीमें इस प्रकार किया है – "देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्त्विक विदु" –

देश, काल और पात्रता का विचार करके जो दान किया जाता है, वही सात्त्विक कहलाता है (गीता १७ २०)। कालकी मर्यादा सिर्फ वर्तमान कालहीके लिये नही होती। ज्यो ज्यो समय बदलता जाता है, त्यो त्यो व्यावहारिक धर्ममेंभी परिवर्तन होता जाता है। इसलिये जब प्राचीन समयकी किसी बातकी योग्यता या अयोग्यताका निर्णय करना हो, तव उस समयके धर्म-अधर्मसबधी विश्वासकाभी अवश्य विचार करना पडता है (मनु १ ८५)। और व्यास (मभा शा २५९ ८) कहते है –

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपत. ॥

"युगमानके अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलिके धर्मभी भिन्न भिन्न होते है।" महाभारत (मभा आ १२२, और ७६) में यह कथा है, कि प्राचीन कालमें स्त्रियोंके लिये विवाहकी मर्यादा नही थी, वे इस विषयमें स्वतत्र और अनावृत थी, परन्तु जव इस आचारणका बुरा परिणाम दीख पडा तब श्वेतकेतुने विवाहकी मर्यादा स्थापित कर दी, और मदिरापानका निषेधभी पहले पहल शुक्राचार्यहीने किया। तात्पर्य यह है, कि जिस समय ये नियम जारी नही थे, उस समयके धर्म-अधर्मका और उसके वादके धर्म-अधर्मका विवेचनभी भिन्न भिन्न रीतिसे किया जाना चाहिये। इसी तरह यदि वर्तमान समयका प्रचलित धर्म आगे चलकर बदल जाय तो उसके साथ भविष्य कालके धर्म-अधर्मका विवेचनभी भिन्न रीतिसे किया जाएगा। कालमानके अनुसार देशाचार कुलाचार और जातिधर्मकाभी विचार करना पडता है। क्योकि आचारही सव धर्मोकी जड है। तथापि आचारोमेंभी बहुत भिन्नता हुआ करती है। पितामह भीष्म कहते है –

न हि सर्वहित कश्चिदाचार सप्रवर्तते ।
तेनैवान्य. प्रभवति सोऽपर बाधते पुन ॥

"ऐसा आचार नही मिलता, जो हमेशा सव लोगोको समान हितकारक हो। यदि किसी एक आचारका स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे बढकर मिलता है, यदि इस दूसरे आचारका स्वीकार किया जाय, तो वह किसी तीसरे आचारका विरोध करता है" (मभा शा २५९ १७ १८)। जब आचारोमें ऐसी भिन्नता हो, तव भीष्म पितामहके कथनके अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार-दृष्टिसे विचार करना चाहिये।

कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्मके विषयमें सब सदेहोका यदि निर्णय करने लगें तो दूसरा महाभारतही लिखना पडेगा। उक्त विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जाएगी, कि गीताके आरभमें क्षात्र धर्म और बधुप्रेमके बीच झगडा उत्पन्न हो जानेसे अर्जुनपर जो गुजरी वह कुछ लोक-विलक्षण नही है, इस ससारमे ऐसी कठिनाइयाँ कार्यकर्ताओ और बडे आदमियोपर अनेक वार आयाही करती है,

और जब ऐसी कठिनाइयाँ आती है, तब कभी अहिसा और आत्मरक्षाके बीच, कभी सत्य और सर्वभूतहितमें, कभी शरीररक्षा और कीर्तिमें, और कभी भिन्न भिन्न नातोसे उपस्थित होनेवाले कर्तव्योमें झगडा होने लगता है। तब शास्त्रोक्त, सामान्य तथा सर्वमान्य नीति-नियमोसे काम नही चलता, और उनके लिये अनेक अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे विकट समयपर साधारण मनुष्योसे लेकर बडे पडितोकोभी यह जाननेकी स्वाभाविक इच्छा होती है, कि कार्य-अकार्यकी व्यवस्था – अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य धर्मका निर्णय – करनेके लिये कोई चिरस्थायी नीति अथवा युक्ति है या नही। यह बात सच है, कि शास्त्रोमें दुर्भिक्ष जैसे सकटके समय 'आपद्धर्म' कहकर कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, स्मृतिकारोने कहा है, कि यदि आपत्कालमें ब्राह्मण कहीभी अन्न ग्रहणकर ले, तो वह दोषी नही होता, और उषस्ति चाक्रायणके इसी तरह बर्ताव करनेकी कथाभी छादोग्योपनिषद (याज्ञ ३ ४१, छा १ १०) में है, परतु उसमें और उक्त कठिनाइयोमें बहुत भेद हैं। दुर्भिक्ष जैसे आपत्कालमें शास्त्रधर्म और भूख, प्यास आदि इद्रियवृत्तियोके बीचमेंही झगडा हुआ करता है। उस समय हमको इद्रियाँ एक ओर खीचा करती है और शास्त्रधर्म दूसरी ओर खीचा करता है। परतु जिन कठिनाइयोका वर्णन ऊपर किया गया है, उनमेंसे बहुतेरी ऐसी है, कि उस समय इद्रियवृत्तियोका और शास्त्रका कुछभी विरोध नही होता, किंतु ऐसे दो धर्मोमें परस्पर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, जो शास्त्रोहीसे विहित है। और फिर उस समय सूक्ष्म विचार करना पडता है, कि किस बातका स्वीकार किया जाए। यद्यपि कोई मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इनमेंसे कुछ बातोका निर्णय प्राचीन सत्पुरुषोके ऐसेही समयपर किये हुए बर्तावसे कर सकता है, तथापि अनेक प्रसग ऐसे होते है, कि उनमें बडे बडे बुद्धिमानोकाभी मन चक्करमे पड जाता है। कारण यह है, कि जितना अधिक विचार किया जाता है, उतनीही अधिक उपपत्तियाँ और तर्क उत्पन्न होते है, और अतिम निर्णय असभव-सा हो जाता है। जब उचित निर्णय होने नही पाता तब अधर्म या अपराध हो जानेकीभी सभावना होती है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होता है, कि धर्म-अधर्मका या कर्म-अकर्मका विवेचन एक स्वतत्र, शास्त्रही है, जो न्याय तथा व्याकरणसेभी अधिक गहन है। प्राचीन सस्कृत ग्रथोमें 'नीतिशास्त्र' शब्दका उपयोग प्राय राज-नीतिशास्त्र विषयके लियेही किया गया है, और कर्तव्य-अकर्तव्यके विवेचनको 'धर्मशास्त्र' कहते हैं। परतु आज-कल 'नीति' शब्दहीमे कर्तव्य अथवा सदा-चरणकाभी समावेश किया जाता है, इसलिये हमने वर्तमान पद्धतिके अनुसार, इस ग्रथमें धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्मके विवेचनहीको 'नीतिशास्त्र' कहा है। नीति, कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्मके विवेचनका यह शास्त्र बडा गहन है, यह भाव प्रकट करनेहीके लिये "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य" – अर्थात् धर्म या व्यावहारिक नीतिधर्मका स्वरूप सूक्ष्म है – यह वचन महाभारतमें कई जगह उपयुक्त हुआ है। पाँच

पाण्डवोंने मिलकर अकेली द्रौपदीके साथ विवाह कैसे किया? द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय भीष्म-द्रोण आदि सत्पुरुष शून्य-हृदय होकर चुपचाप क्यों बैठे रहे? दुष्ट दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करते समय भीष्म और द्रोणाचार्यने अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये जो यह सिद्धान्त बतलाया, कि "अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्" – पुरुष अर्थ (संपत्ति) का दास है, अर्थ किसीका दास नहीं हो सकता – (मभा भी ४३ ३५) यह सच है या झूठ? यदि सेवाधर्म कुत्तेकी वृत्तिके समान निन्दनीय माना है – जैसे "सेवा श्ववृत्तिराख्याता" (मनु ४ ६), तो अर्थके दास हो जानेके बदले भीष्म आदिकोंने दुर्योधनकी सेवाहीका त्याग क्यों नहीं कर दिया? इन अनेकों प्रश्नोंका निर्णय करना बहुत कठिन है, क्योंकि प्रसंगोंके अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्योंसे भिन्न भिन्न अनुमान या निर्णय हुआ करते हैं। यही नहीं समझना चाहिये, कि धर्मके तत्त्व सिर्फ सूक्ष्म ही हैं – "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य" – (मभा अनु १० ७०), किन्तु महाभारत (वन २०८ २) में यह भी कहा है, कि "बहुशाखा ह्यनन्तिका" – अर्थात् उसकी शाखाएँभी अनेक हैं, और उससे निकलनेवाले अनुमानभी भिन्न भिन्न हैं। तुलाधार और जाजलिके संवादमें धर्मका विवेचन करते समय तुलाधारभी यही कहता है, कि "सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः" अर्थात् धर्म बहुत सूक्ष्म और पेचीदा होता है। इसलिये वह समझमें नहीं आता (मभा शां २६१ ३७)। महाभारतकार व्यासजी इन सूक्ष्म प्रसंगोंको अच्छी तरह जानते थे, इसलिये उन्होंने यह समझा देनेके उद्देश्यहीसे अपने ग्रंथमें अनेक भिन्न भिन्न कथाओंका संग्रह किया है, कि प्राचीन समयके सत्पुरुषोंने ऐसे कठिन प्रसंगोंपर कैसा बर्ताव किया था। परन्तु शास्त्र-पद्धतिसे सब विषयोंका विवेचन करके उसका सामान्य रहस्य महाभारत सरीखे धर्मग्रंथमें कहीं बतला देना आवश्यक था। इस रहस्य या मर्मका प्रतिपादन – अर्जुनकी कर्तव्य-मूढताको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने पहले जो उपदेश दिया था, उसीके आधारपर – व्यासजीने भगवद्गीतामें किया है। इससे 'गीता' महाभारतका रहस्योपनिषद और शिरोभूषण हो गयी है। और महाभारत गीतामें प्रतिपादित मूलभूत सर्मत-त्त्वोंका उदाहरणसहित विस्तृत व्याख्यान हो गया है। इस बातकी ओर उन लोगोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये, जो यह कहा करते हैं, कि महाभारत ग्रंथमें 'गीता' बादमें घुसेड दी गई है। हम तो यही समझते हैं, कि यदि गीताकी कोई अपूर्वता या विशेषता है, तो यह यही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कारण यह है, कि यद्यपि केवल मोक्षशास्त्र अर्थात् वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् आदि, तथा अहिंसा आदि सदाचारके सिर्फ नियम बनानेवाले स्मृति आदि अनेक ग्रंथ हैं, तथापि वेदान्तके गहन तत्त्वज्ञानके आधारपर 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' करनेवाला, गीताके समान कोई दूसरा प्राचीन ग्रंथ संस्कृत साहित्यमें दीख नहीं पडता। गीताभक्तोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' शब्द गीताही (गीता १६ २४) मे

प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द हमारा मनगढत नही है। भगवद्गीताहीके समान योग-वासिष्ठमेंभी वसिष्ठ मुनिने श्रीरामचद्रजीको ज्ञान-मूलक प्रवृत्तिमार्गहीका उपदेश किया है। परतु यह ग्रथ गीताके बादका है, और उसमें गीताहीका अनुकरण किया है। अतएव ऐसे ग्रथोंसे गीताकी उस अपूर्वता या विशेषतामें—जो ऊपर कही गई है—कोई बाधा नही आती।

तीसरा प्रकरण

कर्मयोगशास्त्र

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।*

—गीता २ ५०

यदि किसी मनुष्यको किसी शास्त्रके जाननेकी इच्छा पहलेहीसे न हो, तो वह उस शास्त्रके ज्ञानको पानेका अधिकारी नही हो सकता। ऐसे अधिकार-रहित मनुष्यको उस शास्त्रकी शिक्षा देना मानो चलनीमें दूध दुहनाही है। शिष्यको तो इस शिक्षामे कुछ लाभ होता नही, परतु गुरुकोभी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पडता है। जैमिनी और वादरायणके सूत्रोके आरभमें इसी कारणसे "अथातो धर्मजिज्ञासा" और "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मो-पदेश मुमुक्षुओको और धर्मोपदेश धर्मेच्छुओको देना चाहिये, वैसेही कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्यको देना चाहिये, जिसे यह जाननेकी इच्छा या जिज्ञासा हो, कि ससारमें कर्म कैसे करना चाहिये। इसीलिये हमने पहले प्रकरणमें, 'अथातो' कहकर, दूसरे प्रकरणमें 'कर्मजिज्ञासा'का स्वरूप और कर्मयोगशास्त्रका महत्त्व वतलाया है। जवतक पहलेहीसे इस वातका अनुभव न कर लिया जाय, कि अमुक काममे अमुक रुकावट है, तवतक उस रुकावटसे छुटकारा पानेकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रका महत्त्व ध्यानमे नही आता, और महत्त्वको न जाननेसे केवल रटा हुआ शास्त्र समयपर ध्यानमें रहताभी नही है। यही कारण है, कि जो सद्गुरु है, वे पहले यह देखते है, कि शिष्यके मनमें जिज्ञासा है या नही; और यदि जिज्ञासा न हो, तो वे पहले उसीको जागृत करनेका प्रयत्न किया करते है। गीतामे कर्मयोगशास्त्रका विवेचन इसी पद्धतिसे किया गया है। जव अर्जुनके मनमें यह शका आई, कि जिस लडाईमें मेरे हाथसे पितृवध और गुरुवध होगा, तथा जिसमें सभी राजाओ और अपने सव वधुओका नाश हो जाएगा, उसमें शामिल होना उचित है या अनुचित, और जव वह युद्धसे पराङमुख होकर सन्यास लेनेको तैयार हुआ, और जव भगवानके इस सामान्य युक्तिवादसेभी उसके मनका समाधान नही हुआ, कि "समयपर किये जानेवाले

---

* "इसलिये तू योगका आश्रय ले। कर्म करनेकी जो रीति चतुराई या कुशलता है उसे योग कहते है" यह 'योग' शब्दकी व्याख्या अर्थात लक्षण है। इसके सवधमे अधिक विचार इसी प्रकरणमें आगे चलकर किया है।

कर्मका त्याग करना मूर्खता और दुर्बलताका सूचक है, इससे तुझे स्वर्ग तो मिलेगाही नही, उलटे दुष्कीर्ति अवश्य होगी।" तब श्रीभगवानने पहले "अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे" अर्थात् जिस बातका शोक नही करना चाहिये, उसीका तो तू शोक कर रहा है, और साथ साथ ब्रह्मज्ञानकीभी बडी बडी बाते छाँट रहा है – कहकर अर्जुनका कुछ थोडा-सा उपहास किया, और फिर उसको कर्मके ज्ञानका उपदेश दिया। अर्जुनकी शका निराधार नही थी। गत प्रकरणमें हमने यह दिखलाया है, कि अच्छे अच्छे पडितोकीभी कभी कभी "क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये ?" यह प्रश्न चक्करमें डाल देता है। परतु कर्म-अकर्मकी चितामें अनेक अडचनें आती है इसलिये कर्म छोड देना उचित नही है। विचारवान् पुरुपोको ऐसी युक्ति अर्थात् 'योग'का स्वीकार करना चाहिये, जिससे सासारिक कर्मोका लोप तो होने न पावे, और कर्माचरण करनेवाला किसी पाप या बधनमेंभी न फँसे, – यह कहकर श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले यही उपदेश दिया है, "तस्माद्योगाय युज्यस्व" – अर्थात् तूभी इसी युक्तिका स्वीकार कर। यही 'योग' कर्मयोगशास्त्र है। और जब कि यह बात प्रगट है, कि अर्जुनपर आया हुआ संकट कुछ लोक-विलक्षण या अनोखा नही था – ऐसे अनेक छोटे-बडे सकट ससारमें सभी लोगोपर आया करते है – तब तो यह बात आवश्यक है, कि इस कर्मयोगशास्त्रका जो विवेचन भगवद्गीतामें किया है, उसे हर-एक मनुष्य सीखे। किसीभी शास्त्रके प्रतिपादनमें कुछ मुख्य और गूढ अर्थको प्रकट करनेवाले शब्दोका प्रयोग किया जाता है। अतएव उनके सरल अर्थको पहले जान लेना चाहिये, और यहभी देख लेना चाहिये, कि उस शास्त्रके प्रतिपादनकी मूल शैली कैसी है। नही तो फिर उसके समझनेमें कई प्रकारकी आपत्तियाँ और बाधाएँ उत्पन्न होती है। इसलिये कर्मयोगशास्त्रके कुछ मुख्य मुख्य शब्दोंके अर्थकी परीक्षा यहाँपर की जाती है।

सबसे पहला शब्द 'कर्म' है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातुसे बना है। उसका अर्थ 'करना, व्यापार, हलचल' होता है, और इसी सामान्य अर्थमें गीतामें उसका उपयोग हुआ है – अर्थात् यही अर्थ गीतामें विवक्षित है। ऐसा कहनेका कारण यही है, कि मीमासाशास्त्रमें और अन्य स्थानोपरभी इस शब्दके जो सकुचित अर्थ दिये गये हैं, उनके कारण पाठकोंके मनमें कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पावे। किसीभी धर्मको लीजिये, उसमें ईश्वर प्राप्तिके लिये कुछ-न-कुछ कर्म करनेके लिये कहा है। प्राचीन वैदिक धर्मके अनुसार देखा जाय, तो यज्ञयागही वह कर्म है, जिससे ईश्वरकी प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रथोमें यज्ञ-यागकी विधि बताई गयी है, परतु इसके विषयमें कही कही परस्पर-विरोधी वचनभी पाये जाते हैं। अतएव उनकी एकता और मेल दिखलानेकेही लिये जैमिनीके पूर्वमीमासाशास्त्रका प्रचार हुआ है। जैमिनीके मतानुसार वैदिक या श्रौत यज्ञ-याग करनाही प्रधान और प्राचीन धर्म

है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब यज्ञके लिये करता है। यदि उसे धन कमाना है, तो यज्ञके लिये और धान्य-संग्रह करना है, तो यज्ञहीके लिये (मभा शां २६ २५)। जबकि यज्ञ करनेकी आज्ञा वेदोंहीने दी है, तब यज्ञके लिये मनुष्य कुछभी कर्म करे, वह उसको बंधक नही होगा। वह कर्म यज्ञका एक साधन है – वह स्वतंत्र रीतिसे साध्य वस्तु नहीं है। इसलिये यज्ञसे जो फल मिलनेवाला है, उसीमें उस कर्मके फलकाभी समावेश हो जाता है – उस कर्मका कोई अलग फल नही होता। परंतु यज्ञके लिये किये गये ये कर्म यद्यपि स्वतंत्र फल देनेवाले नही है, तथापि स्वयं यज्ञसे स्वर्गप्राप्ति (अर्थात् मीमांसकोंके मतानुसार एक प्रकारकी सुखप्राप्ति) होती है, और इस स्वर्गप्राप्तिके लियेही यज्ञकर्ता मनुष्य बडे चावसे यज्ञ करता है। इसीसे स्वयं यज्ञकर्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है, क्योंकि जिस वस्तुसे किसी मनुष्यकी प्रीति होती है और जिसे पानेकी उसके मनमें इच्छा होती है, उसे 'पुरुषार्थ' कहते है (जै सू ४ १ १ और २)। यज्ञका पर्यायवाची 'क्रतु' शब्द है। इसलिये 'यज्ञार्थ'के बदले 'क्रत्वर्थ'भी कहा करते है। इस प्रकार सब कर्मोके दो वर्ग हो गये एक 'यज्ञार्थ' (क्रत्वर्थ) कर्म, अर्थात् जो स्वतंत्र रीतिसे फल नही देते, अतएव अबंधक है, और दूसरे 'पुरुषार्थ' कर्म, अर्थात् जो पुरुषको लाभकारी होनेके कारण बंधक है। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथोमें सारा वर्णन यज्ञ-यागादिकोकाही है। ऋग्वेद संहितामें इंद्र आदि देवताओंकी स्तुति-संबंधी सूक्त है, तथापि मीमांसकगण कहते है, कि सब श्रुतिग्रंथ यज्ञ आदि कर्मोंहीके प्रतिपादक है, क्योंकि उनका विनियोग यज्ञके समयमेंही किया जाता है। इन कर्मठ, याज्ञिक या केवल कर्मवादियोंका कहना है, कि वेदोक्त यज्ञ-याग आदि कर्म करनेसेही स्वर्गप्राप्ति होती है, अन्यथा नही होती। चाहे ये यज्ञ-याग अज्ञानसे किये जायें या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदोंमें ये यज्ञ ग्राह्य माने गये है, तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञानसे कम ठहराई गयी है। इसलिये निश्चय किया गया है, कि यज्ञ-यागसे स्वर्गप्राप्ति भलेही हो जाय, परंतु इनके द्वारा सच्चा मोक्ष नही मिल सकता। मोक्षप्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानहीकी नितान्त आवश्यकता है। भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें जिन यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मोंका वर्णन किया है – "वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन" (गीता २ ४२) – वे ब्रह्मज्ञानके बिना किये जानेवाले उपर्युक्त यज्ञ-याग आदि कर्मही है। इसी तरह यहभी मीमांसकोंहीके मतका अनुवाद है, कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधन" (गीता ३ ९) अर्थात् यज्ञार्थ किये गये कर्म बंधक नही है, शेष सब कर्म बंधक है। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मोके अतिरिक्त, अर्थात् श्रौत कर्मोंके अतिरिक्त औरभी चातुर्वर्ण्यके भेदानुसार दूसरे आवश्यक धार्मिक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रंथोमें वर्णित है, जैसे क्षत्रियके लिये युद्ध और वैश्यके लिये वाणिज्य। पहले पहल इन वर्णाश्रम-कर्मोंका प्रतिपादन स्मृति-ग्रंथोमें किया गया था। इसलिये इन्हे 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ'भी कहते है। इन श्रौत-स्मार्त कर्मोके सिवा औरभी

धार्मिक कर्म है, जैसे व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन पहलेपहल सिर्फ पुराणोमें किया गया है, इसलिये इन्हे 'पौराणिक कर्म' कह सकेंगे। इन सब कर्मोंके औरभी तीन – नित्य, नैमित्तिक और काम्य – भेद किये गये है। स्नान, सध्या आदि जो हमेशा किये जानेवाले कर्म हैं, उन्हें नित्यकर्म कहते हे। इनके करनेसे कुछ विशेष फल अथवा अर्थकी सिद्धि नही होती, परतु न करनेसे दोष अवश्य लगता हैं। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें किसी कारणके उपस्थित हो जानेसे करना पडता है, जैसे अनिष्ट ग्रहोकी शाति, प्रायश्चित्त आदि, जिसकेलिये हम शाति या प्रायश्चित्त करते है, वह निमित्त यदि पहले न हो गया हो, तो हमें नैमित्तिक कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नही। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलताके लिये शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं, तब उसे काम्य कर्म कहते हैं, जैसे वर्षा होनेके लिये या पुत्रप्राप्तिके लिये यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंके सिवा कुछ और कर्म है, जैसे मदिरापान इत्यादि, जिन्हे शास्त्रोने त्याज्य कहा है। इसलिये ये कर्म निषिद्ध कहलाते है। नित्य कर्म कौन कौन है, नैमित्तिक कौन कौन है और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन कौन है – ये सब बातें धर्मशास्त्रोमें निश्चित कर दी गयी है। यदि कोई किसी धर्मशास्त्रीसे पूछे कि अमुक पुरुषका कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक, तो वह सबसे पहले इस बातका विचार करेगा, कि शास्त्रोकी आज्ञाके अनुसार वह कर्म यज्ञार्थ है या पुरुषार्थ, नित्य है या नैमित्तिक, अथवा काम्य है या निषिद्ध, और इन बातोका विचार करके फिर वह अपना निर्णय करेगा। परतु भगवद्गीताकी दृष्टि उससेभी व्यापक और विस्तीर्ण है। मान लीजिये, कि अमुक एक कर्म शास्त्रोमें निषिद्ध नही माना गया है, अथवा उसे विहित कर्मही कहा गया है – जैसे युद्धके समय क्षात्रधर्मही अर्जुनके लिये विहित कर्म था। पर इतनेहीमे यह सिद्ध नही होता, कि हमें वह कर्म हमेशा करतेही रहना चाहिये, अथवा उस कर्मका करना हमेशा श्रेयस्करही होगा। यह बात पिछले प्रकरणमें कही गयी है, कि कही कही तो शास्त्रकी आज्ञाएँभी परस्पर-विरुद्ध होती हैं। ऐसे समयमें मनुष्यको किस मार्ग स्वीकार करना चाहिये, इस बातका निर्णय करनेके लिये कोई युक्ति है या नही ? यदि है तो वह कौन-सी ? बस, यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। इस विषयमें कर्मके उपर्युक्त अनेक भेदोपर ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नही। यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों तथा चातुर्वर्ण्यके कर्मोंके विषयमें मीमांसकोंने जो सिद्धान्त किये है, वे गीतामे प्रतिपादित कर्मयोगसे कहाँतक मिलते है, यह दिखानेके लिये प्रसगानुसार गीतामें मीमासकोंके कथनकाभी कुछ विचार किया गया है, और अतिम अध्याय (गीता १८ ६) में इसपरभी विचार किया है, कि ज्ञानी पुरुषको यज्ञयाग आदि कर्म करना चाहिये या नही। परतु गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषयका क्षेत्र इससे व्यापक है। इसलिये गीताके प्रतिपादनमें 'कर्म' शब्दका "केवल श्रौत अथवा स्मार्त कर्म" इतनाही सकुचित अर्थ नही लिया जाना

चाहिये, किंतु उससे अधिक व्यापक रूप लेना चाहिये। साराश, मनुष्य जो कुछ करता है – जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूंघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लडना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा या निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती या व्यापारधधा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि इत्यादि – ये सब भगवद्गीताके अनुसार 'कर्म'ही है, चाहे वे कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो (गीता ५ ८, ९)। और तो क्या, जीना-मरनाभी कर्मही है। प्रसग आनेपर यहभी विचार करना पडता ह कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मोंमेसे किसका स्वीकार किया जाये? इस विचारके उपस्थित होनेपर कर्म शब्दका अर्थ 'कर्तव्य कर्म' अथवा 'विहित कर्म' हो जाता है। (गीता ४ १६)। मनुष्यके कर्मके विषयमें यहांतक विचार हो गया। अव इससे आगे बढ़कर सब चर-अचर सृष्टिके – अचेतन वस्तुकेभी – व्यापारमें 'कर्म' शब्दहीका उपयोग होता है। इस विषयका विचार आगे कर्मविपाक-प्रक्रियामें किया जाएगा।

कर्म शब्दसेभी अधिक भ्रमकारक शब्द 'योग' है। आजकल इस शब्दका रूढार्थ "प्राणायामादिक साधनोंसे चित्तवृत्तियो या इद्रियोंका निरोध करना" अथवा "पातजल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग" है। उपनिषदोंमेंभी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है (कठ ६ ११)। परतु ध्यानमें रखना चाहिये, कि ये सकुचित अर्थ भगवद्गीतामें विवक्षित नही है। 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ "जोड, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति" इत्यादि होता है। और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके "उपाय, साधन, युक्ति या कर्म" कोभी योग कहते है। यही सब अर्थ अमरकोश (अ ३ ३ २२) में इस तरहसे दिये हुए है – "योग सहननोपायध्यानसगतियुक्तिषु।" फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हो, तो उन ग्रहोका 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है, और 'योगक्षेम' पदमें 'योग' शब्दका अर्थ "अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना" लिया गया है (गीता ९ २२)। भारतीय युद्धके समय द्रोणाचार्यको अजेय देखकर श्रीकृष्णने कहा है, कि "एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय" (मभा द्रो १८१ ३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतनेका एकही 'योग' (साधना या युक्ति) है, और आगे चलकर उन्होंने यहभी कहाना है कि हमने पूर्वकालमे धर्मकी रक्षाके लिये जरासध आदि राजाओको 'योग'हीसे मारा था। उद्योगपर्व (अ १७२) में कहा गया है, कि जब भीष्मने अबा, अबिका और अबालिकाको हरण किया, तब अन्य राजा लोग 'योग, योग' कहकर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारतमें 'योग' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें अनेक स्थानोपर हुआ है। गीतामें 'योग', 'योगी' अथवा योग शब्दसे बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये है, परतु चार-पांच स्थानोको छोड (गीता ६ १२ और २३) योग शब्दसे 'पातजल योग' अर्थ कहीभी अभिप्रेत नही

है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड, मेल' ये ही अर्थ कुछ हेरफेरसे सारी गीतामें पाये जाते है। अतएव कह सकते है, कि गीताशास्त्रके व्यापक शब्दोमेंसे 'योग'भी एक शब्द है, परतु योग शब्दके उक्त सामान्य अर्थोसेही – जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदिसेही – काम नही चल सकता। क्योकि वक्ता इच्छाके अनुसार यह साधन सन्यासकाभी हो सकता है, कर्म और चित्तनिरोधका हो सकता है, मोक्षका अथवा औरभी किसीका हो सकता है। उदाहरणार्थ, गीतामे कही कही अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी भगवानकी ईश्वरी कुशलता और अद्‌भुत सामर्थ्यको 'योग' कहा गया है (गीता ७ २५, ९ ५; १० ७, ११ ८) और इसी अर्थमे भगवानको 'योगेश्वर' कहा है (गीता १८ ७५)। परतु यह गीताके 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ नही है। इसलिये, वह बात स्पष्ट रीतिसे प्रकटकर देनेके लिये 'योग' शब्दसे किस विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपायको गीतामें विवक्षित समझना चाहिये, उस ग्रथमें योग शब्दकी व्याख्या-यो की गयी है – "योग कर्मसु कौशलम्" (गीता २ ५०) अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। शाकरभाष्यमेंभी 'कर्मसु कौशलम्'का यही अर्थ लिया गया है – "कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बधकत्वको तोडनेकी युक्ति"। यदि सामान्यत देखा जाय, तो एकही कर्मको करनेके लिये अनेक 'योग' या 'उपाय' होते है। परतु उनमेंसे जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको 'योग' कहते है। जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं – जैसे चोरी करना, जालसाजी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातुके अर्थानुसार इनमेंसे हरएकको 'योग' कह सकते है, तथापि यथार्थ 'द्रव्यप्राप्ति-योग' उसी उपाय कहते हैं, जिसमे हम अपनी "स्वतत्रता कायम रखकर मेहनत करते हुए धन प्राप्त कर सके।"

जब स्वय भगवानने गीतामें 'योग' शब्दकी निश्चित और स्वतत्र व्याख्या कर दी है (योग कर्मसु कौशलम् – अर्थात् कर्म करनेकी एक प्रकारकी विशेष युक्तिको योग कहते हैं), तब सच पूछो, तो इस शब्दके मुख्य अर्थके विषयमें कुछभी शका नही रहनी चाहिये, परतु स्वय भगवानकी बतलाई हुई इस व्याख्यापर ध्यान न दे कर टीकाकारोने गीताका मथितार्थभी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रमको दूर करनेके लिये 'योग' शब्दका कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना चाहिये। यह शब्द पहलेपहल गीताके दूसरे अध्यायमें आया है, और वही इसका स्पष्ट अर्थभी बतला दिया है। भगवानने अर्जुनको पहले साख्यशास्त्रके अनुसार यह समझा दिया, कि युद्ध क्यो करना चाहिये, इसके बाद उन्होने कहा, कि "अब हम तुझे योगके अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं" (गीता २ ३९)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्य कर्मोमें निमग्न रहते है और उनकी

वुद्धि फलाशासे कैसे व्यग्र हो जाती है (गीता २.४१–४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है, कि वुद्धिको अव्यग्र, स्थिर या शात रखकर, "आसक्तिको छोड दे, परतु कर्मोको छोड देनेके आग्रहमें न पड" और "योगस्थ होकर कर्मोका आचरण कर" (गीता २ ४८)। यहीपर पहले पहल 'योग' शव्दका अर्थभी स्पष्ट कर दिया है, कि "सिद्धि और असिद्धि दोनोमें समत्ववुद्धि रखनेको योग कहते हैं।" इसके वाद यह कहकर, कि "फलकी आशासे काम करनेकी अपेक्षा ममत्ववुद्धिका यह योगही श्रेष्ठ है" (गीता २ ४९) और वुद्धिकी समता हो जानेपर कर्म करनेवालेको कर्मसवधी पाप-पुण्यकी वाधा नही होती। इसलिये तू इस 'योग'को प्राप्त कर।' तुरतही योगका यह लक्षण फिरभी वतलाया है कि "योग कर्मसु कौशलम्" (गीता २ ५०)। इससे सिद्ध होता है, कि पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्ववुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले वतलाई गई है, वही 'कौशल' है, और इसी कुशलता अर्थात् युक्तिसे कर्म करनेको गीतामें 'योग' कहा है। इसी अर्थको अर्जुनने आगे चलकर "योऽय योगस्त्वया प्रोक्त साम्येन मधुसूदन" (गीता ६ ३३) – समताका अर्थात् समत्व-वुद्धिका यह योग जो आपने वतलाया – इस श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है। इसके सवधमें, कि ज्ञानी मनुष्यको इस ससारमें कैसे वर्ताव करना चाहिये, श्रीशकराचार्यके पूर्वही प्रचलित हुए वैदिक धर्मके अनुसार दो मार्ग है एक मार्ग यह है, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर सव कर्मोका सन्यास अर्थात् त्यागकर दें, और दूसरा यह, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जाने परभी कर्मोको न छोडें – उनको जन्मभर ऐसी युक्तिके साथ करते रहे, कि उनके पाप-पुण्यकी वाधा न होने पावे। इन्ही दो मार्गोको गीतामें सन्यास और कर्म-योग कहा है (गीता ५ २)। सन्यास कहते हैं त्यागको, और योग कहते है मेल को। अर्थात् कर्मके त्याग और कर्मके मेलहीके उक्त दो भिन्न मार्ग है। इन्ही दो भिन्न मार्गोको लक्ष्य करके आगे (गीता ५ ४) (साख्य और योग) 'साख्ययोगी' ये सक्षिप्त नामभी दिये गये है। वुद्धिको स्थिर करनेके लिये पातजलयोग-शास्त्रके आसनोका वर्णन छठे अध्यायमें है सही, परतु वह किसके लिये है? तपस्वीके लिये नही, किंतु वह कर्मयोगी – अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यको 'समता'की युक्ति सिद्ध करनेके लिये वतलाया गया है। नही तो फिर "तपस्विभ्योऽधिको योगी" इस वाक्यका कुछ अर्थ ही नही हो सकता। इसी तरह इस अध्यायके अत (६ ४६) में अर्जुनको जो उपदेश दिया गया है, कि 'तस्माद्योगी भवार्जुन' उसका अर्थ ऐसा नही हो सकता, कि "हे अर्जुन! तू पातजल-योगका अभ्यास करनेवाला वन जा।" इसलिये उक्त उपदेशका अर्थ "योगस्थ कुरु कर्माणि" (२ ४८), "तस्माद्योगाय युज्यस्व योग कर्मसु कौशलम्" (गीता २ ५०), 'योगमात्तिष्ठोत्तिष्ठ भारत' (४ ४२) इत्यादि वचनोंके अर्थके समानही होना चाहिये। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है कि, "हे अर्जुन! तू युक्तिसे कर्म करनेवाला योगी अर्थात्

कर्मयोगी बन जा।" क्योकि यह कहनाही सभव नही कि, "तू पातजल योगका आश्रय लेकर युद्धके लिये तैयार रह।" इसके पहलेही साफ साफ कहा गया है, कि "कर्मयोगेण योगिनाम्" (गीता ३ ३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करनेवाले होते हैं। महाभारतके (मभा शा ३४८ ५६) नारायणीय अथवा भागवत धर्मके विवेचनमेंभी कहा गया है, कि इस धर्मके लोग अपने कर्मोंका त्याग किये विनाही युक्तिपूर्वक कर्म करके (सुप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनो शब्द गीतामें समानार्थक हैं, और इनका अर्थ "युक्तिसे कर्म करनेवाला" होता है, तथा 'कर्मयोग' शब्दका प्रयोग करनेके बदले, गीता और महाभारतमें छोटेसे 'योग' शब्दकाही अधिक उपयोग किया गया है। "मैंने तुझे जो यह योग बतलाया है, इसीको पूर्वकालमें विवस्वानसे कहा था (गीता ४ १), और विवस्वानने मनुको बतलाया था, परतु उस योगके बादमें नष्टसा हो जानेपर फिर वही योग तुझसे कहना पडा" – इस अवतरणमें भगवानने जो 'योग' शब्दका तीन वार उच्चारण किया है, उसमें पातजल-योगका विवक्षित होना नही पाया जाता, किंतु "कर्म करनेकी किसी प्रकारकी विशेष युक्ति, साधन या मार्ग" अर्थ ही लिया जा सकता है। इसी तरह जब सजय गीताके कृष्ण-अर्जुन सवादको 'योग' कहता है। (गीता १८.७५) तवभी यही अर्थ पाया जाता है। श्रीशकराचार्य स्वय सन्यासमार्गवाले थे। तोभी उन्होंने अपने गीता-भाष्यके आरभमेंही वैदिकधर्मके दो भेद – प्रवृत्ति और निवृत्ति – बतलाये हैं, और 'योग' शब्दका अर्थ श्रीभगवानकी की हुई व्याख्याके अनुसार कभी 'सम्यक्-दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्' (गीता ४४ २) और कभी "योग युक्ति" (गीता १० ७) किया है। इसी तरह महाभारतमेंभी 'योग' और 'ज्ञान' दोनो शब्दोंके विषयमें स्पष्ट लिखा है, कि "प्रवृत्तिलक्षणो योग ज्ञान सन्यासलक्षणम्" (मभा अश्व ४३.२५)। अर्थात् योगका अर्थ प्रवृत्तिमार्ग और ज्ञानका अर्थ सन्यास या निवृत्ति-मार्ग है। शातिपर्वके अतमें, नारायणीयोपाख्यानमें 'साख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थमें अनेक बार आये हैं, और इसकाभी वर्णन किया गया है, कि ये दोनो मार्ग सृष्टिके आरभमें भगवानने क्यो और कैसे निर्माण किये। (मभा शा २४० और ३४८)। पहले प्रकरणमें महाभारतसे जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है, कि यही नारायणीय अथवा भागवतधर्म भगवद्गीताका प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिये कहना पडता है, कि 'साख्य' और 'योग' शब्दोका जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (साख्य = निवृत्ति, योग = प्रवृत्ति) नारायणीय धर्ममें दिया गया है, वही अर्थ गीतामेंभी विवक्षित है। यदि इसमें किसीको शका हो, तो गीतामें दी हुई इस व्याख्यासे – "समत्व योग उच्यते" या "योग कर्मसु कौशलम्" – तथा उपर्युक्त "कर्मयोगेण योगिनाम्" इत्यादि गीताके वचनोसे उसे शकाका समाधान हो सकता है। इसलिये अब यह निर्विवाद सिद्ध है, कि

गीतामें 'योग' शब्द प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् 'कर्मयोग'के अर्थहीमें प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रंथोकी कौन कहे, यह 'योग' शब्द, पाली और संस्कृत भाषाओंके बौद्ध-धर्म-ग्रंथोमेंभी, इसी अर्थमें प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ, संवत् ३३५के लगभग लिखे 'मिलिंदप्रश्न' नामक पालीग्रंथमें 'पुब्बयोगो' (पूर्वयोग) शब्द आया है, और वहाँ उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है (मि प्र १ ४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत – जो शालिवाहन शकके आरंभमें हो गया है – 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्यके पहले सर्गके पचासवे श्लोकमें यह वर्णन है –

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

अर्थात् "ब्राह्मणोको योगविधिकी शिक्षा देने राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गये। इनके पहले यह आचार्यत्व किसीकोभी प्राप्त नही हुआ था"। यहाँपर 'योग-विधि'का अर्थ निष्काम-कर्मयोगकी विधिही समझना चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रंथ मुक्त कंठसे कह रहे है कि जनकजीके बर्तावका यही रहस्य है, और अश्वघोषने अपने 'बुद्धचरित' (बु च ९ १९ और २०) में यह दिखलानेके लिये, कि "गृहस्थाश्रममें रहकरभी मोक्षकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है" जनकहीका उदाहरण दिया है। जनकके दिखलाये हुए मार्गका नाम 'योग' था, और यह बात बौद्ध-धर्म-ग्रंथोंसेभी सिद्ध होती है। इसलिये गीताके 'योग' शब्दकाभी यही अर्थ लगाना पडता है। क्योंकि गीताहीके कथनानुसार (गीता ३ २०) जनककाही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योग इन दो मार्गोंके विषयमें अधिक विचार आगे किया जाएगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है, कि गीतामें 'योग' शब्दका उपयोग किस अर्थमें किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि गीतामें 'योग'का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी'का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है, तो फिर यह कहनेकी आवश्यकता नही, कि भगवद्गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेशको 'योग' कहते है (गीता ४ १–३), बल्कि छठे (गीता ६ ६३) अध्यायमें अर्जुनने और गीताके अंतिम उपसंहार (गीता १८ ७५) में संजयनेभी गीताके उपदेशको 'योग'ही कहा है। इसी तरह गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें, जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प है, उसमेंभी साफ साफ कह दिया है, कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र'ही है। परन्तु जान पडता है, कि उक्त संकल्पके शब्दोंके अर्थपर टीकाकारोंने ध्यान नही दिया। आरंभके दो पदो – "श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु"के बाद इस संकल्पमें दो शब्द "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" औरभी जोडे गये है। पहले दो शब्दोंका अर्थ है – "भगवानसे गाये गये उपनिषदमें", और पिछले दो शब्दोका अर्थ "ब्रह्मविद्याका योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र" है, जो कि इस गीताका विषय है। ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान एकही बात है, और इसके प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुषके लिये दो निष्ठाएँ या मार्ग खुले होते है (गीता ३ ३)। एक

साख्य अथवा सन्यास मार्ग – अर्थात् वह मार्ग जिसका ज्ञान होनेपर कर्म करना छोड कर विरक्त होकर रहना पडता है, और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग – अर्थात् वह मार्ग, जिसमें कर्मोंका त्याग न करके ऐसी युक्तिमे नित्य कम करते रहना चाहिये जिससे मोक्ष-प्राप्तिमें कुछभी बाधा न हो। पहले मार्गका दूसरा नाम 'ज्ञाननिष्ठा'भी है, जिसका विवेचन उपनिषदोंमें अनेक ऋषियोंने और ग्रंथकारोंनेभी किया है। परतु ब्रह्मविद्याके अतर्गत कर्मयोगका या योगशास्त्रका तात्त्विक विवेचन भगवद्गीताके सिवा अन्य ग्रथोमें नही है। इस बातका उल्लेख पहले किया जा चुका है, कि अध्याय-समाप्ति-दर्शक सकल्प गीताकी सब प्रतियोमें पाया जाता है, और इससे प्रकट होता है, कि गीताकी सभी टीकाओंके रचे जानेके पहलेही उसकी रचना हुई होगी। इस सकल्पके रचयिताने इस सकल्पमें " ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे " इन दो पदोको व्यर्थही नही जोड दिया है, किंतु उसने गीताशास्त्रके प्रतिपाद्य विषयकी अपूर्वता दिखानेहीके लिये उक्त पदोको उस सकल्पमें साधार और हेतुसहित स्थान दिया है। अत इस बातकाभी सहज निर्णय हो सकता है, कि गीतापर अनेक साप्रदायिक टीकाओंके होनेके पहले गीताका तात्पर्य कैसे और क्या समझा जाता था। यह हमारे सौभाग्यकी बात है, कि इस कर्मयोगका प्रतिपादन स्वय भगवान् श्रीकृष्णहीने किया है, जो इस योगमार्गके प्रवर्तक और सब योगोंके साक्षात् ईश्वर (योगेश्वर = योग × ईश्वर) है, और लोकहितके लिये उन्होंने अर्जुनको उसका रहस्य बतलाया है। गीताके 'योग' और 'योगशास्त्र' शब्दोंसे हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोगशास्त्र' शब्द कुछ बडे हैं सही, परतु अब हमने कर्मयोगशास्त्र सरीखा बडा नामही इस ग्रथ और प्रकरणको देना इसलिये पसद किया है, कि जिससे गीताके प्रतिपाद्य विषयके सबधमें कुछभी सदेह न रह जावे।

एकही कर्म करनेके जो अनेक योग, साधन या मार्ग है, उनमेंसे सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है, उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नही, नही किया जा सकता, तो कौन कौन अपवाद उत्पन्न होते है, और वे क्यो उत्पन्न होते हैं; जिस मार्गको हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यो है, जिस मार्गको हम बुरा समझते है, वह बुरा क्यो है, यह अच्छापन या बुरापन किसके द्वारा या किस आधारपर निश्चित किया जा सकता है, अथवा इस अच्छेपन या बुरेपनका रहस्य क्या है – इत्यादि बातें जिस शास्त्रके आधारसे निश्चित की जाती हैं, उसको 'कर्मयोगशास्त्र' या गीताके सक्षिप्त रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनो साधारण शब्द हैं। इन्हीके समान अर्थमें कभी कभी शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, पाप-पुण्य, धर्म्य-अधर्म्य इत्यादि शब्दोका उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय्य-अन्याय्य इत्यादि शब्दोकाभी अर्थ वैसेही होता है। तथापि इन शब्दोका उपयोग करनेवालोंके सृष्टिरचनाविषयक मत भिन्न भिन्न होनेके कारण 'कर्मयोग'शास्त्रके

निरूपणके पथभी भिन्न भिन्न हो गये है। किसीभी शास्त्रको लीजिये, उसमें विषयोकी चर्चा साधारणत तीन प्रकारसे की जाती है। (१) इस जड सृष्टिके पदार्थ ठीक वैसेही है, जैसे कि वे हमारी इन्द्रियोको गोचर होते है। इससे परे उनमें और कुछ नही है – इस दृष्टिसे उनके विषयमें विचार करनेकी एक पद्धति है, जिसे आधिभौतिक विवेचन कहते है। उदाहरणार्थ, सूर्यको देवता न मानकर केवल पांचभौतिक जड पदार्थोका एक गोला माने, और उष्णता, प्रकाश, वजन दूरी, और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुणधर्मोहीकी परीक्षा करे, तो उसे सूर्यका आधिभौतिक विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेडका लीजिये। उसका विचार न करके, कि पेडके पत्ते निकलना, फूलना, फलना आदि क्रियाएँ किस अतर्गत शक्तिके द्वारा होती है, जब केवल बाहरी दृष्टिसे विचार किया जाता है, कि जमीनमें बीज बोनेसे अकुर फूटते है, फिर वे बढते है, और उसीमे पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रकट होते हैं, तब उसे पेडका आधिभौतिक विवेचन कहते है। रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युच्छास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रोका विवेचन इसी ढगका होता है। और तो क्या, आधिभौतिक पडितभीको यह मानते है, कि उक्त रीतिसे किसी वस्तुके दृश्य गुणोका विचार कर लेनेपर उनका काम पूरा हो जाता है – सृष्टिके पदार्थोका इससे अधिक विचार करना निष्फल है। (२) जब उक्त दृष्टिको छोडकर इस बातका विचार किया जाता है, कि जड सृष्टिके पदार्थोंके मूलमें क्या है, क्या, इन पदार्थोका व्यवहार केवल उनके गुण-धर्मोहीसे होता है, या उसके लिये किसी तत्त्वका आधारभी है, तो केवल आधिभौतिक विवेचनसेही काम नही चलता, हमको कुछ आगे बढना पडता है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते है, कि पांचभौतिक सूर्यके जड या अचेतन गोलेमें सूर्य नामक एक देवताका अधिष्ठान है, और इसीके द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य)के सब व्यापार या व्यवहार होते रहते है, तब उसको उस विषयका आधिदैविक विवेचन कहते है। इस मतके अनुसार यह माना जाता है, कि पेडमे, पानीमें, हवामें अर्थात् सब पदार्थोमें, अनेक देवता है, जो उन जड तथा अचेतन पदार्थोसे भिन्न तो है, किंतु उनके व्यवहारोको वे ही चलाते है। (३) परतु जब यह माना जाता है, कि सृष्टिके हजारो जड पदार्थोमें हजारो स्वतत्र देवता नही है, किन्तु बाहरी सृष्टिके सब व्यवहारोको चलानेवाली, मनुष्यके शरीरमें आत्मस्वरूपसे रहनेवाली, और मनुष्यको सारी सृष्टिका ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली एकही चित्-शक्ति है, जो कि इन्द्रियातीत है और जिसके द्वाराही इस जगतका सारा व्यवहार चल रहा है, तब उस विचार-पद्धतिको आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियोका मत है, कि सूर्य-चद्र आदिका व्यवहार, यहांतक कि वृक्षोके पत्तोका हिलनाभी, इसी अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे हुआ करता है। सूर्य-चद्र आदिमे या अन्य स्थानोमे भिन्न भिन्न तथा स्वतत्र देवता नही हैं। प्राचीन कालमे किसीभी विषयका विवेचन करनेके

लिये ये तीन मार्ग प्रचलित है, और इनका उपयोग उपनिषद-ग्रंथोंमभी किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानेंद्रियाँ श्रेष्ठ है या प्राण श्रेष्ठ हैं, इस बातका विचार करते समय बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें एक बार उक्त इद्रियोके अग्नि आदि देवता-ओको और दूसरी बार उनके सूक्ष्म रूपो (अध्यात्म) को ले कर उनके बलाबल का विचार किया गया है (बृ १ ५ २१ और २२, छा १ २ और ३, कौषी २ ८), और, गीताके सातवे अध्यायके अतमे तथा आठवेके आरभमे ईश्वरके स्वरूपका जो विचार बतलाया गया है, वहभी इसी दृष्टिसे किया गया है। "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" (गीता १० ३२) इस वाक्यके अनुसार हमारे शास्त्रकारोंने उक्त तीन मार्गोंमें, आध्यात्मिक विवरणकोही अधिक महत्त्व दिया है। परतु आजकल उप-र्युक्त तीन शब्दो (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) के अर्थको थोडा-सा बदलकर प्रसिद्ध आधिभौतिक फ्रेंच पडित कोटने* आधिभौतिक विवेचनकोही अधिक महत्त्व दिया है। उसका कहना है, कि सृष्टिके मूल-तत्त्वको खोजते रहनेमे कुछ लाभ नही, यह तत्त्व अगम्य है। अर्थात् इसको समझ लेना कभीभी सभव नही। इसलिये इसकी कल्पित नीवपर किसी शास्त्रकी इमारतको खडा कर देना न तो सभव है और न उचित। असभ्य और जगली मनुष्योने पहले पहल जब पेड, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि हिलते-चलते पदार्थोंको देखा, तब उन लोगो ने अपने भोलेपनसे इन सब पदार्थोंको देवताही मान लिया। यह कोटके मतानुसार, 'आधिदैविक' विचार हुआ, परतु मनुष्योंने उक्त कल्पनाको शीघ्रही त्याग दिया और वे समझने-लगें कि इन सब पदार्थोंमे कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व अवश्य भरा हुआ है। कोटके मतानुसार मानवी ज्ञानकी उन्नतिकी यह दूसरी सीढी है। इसे वह 'आध्यात्मिक' कहता है, परतु जब इस रीतिसे सृष्टिका विचार करने परभी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञानकी कुछ वृद्धि नही हो सकी, तब अतमें मनुष्य सृष्टिके पदार्थोंके दृश्य गुण-धर्मोंहीका और अधिक विचार करने लगा, जिससे

---

* फ्रान्स देशमे ऑगस्ट कोट (Auguste Comte) नामक एक बडा पडित गतशताब्दीमें हो चुका है। इसने समाजशास्त्रपर एक बहुत बडा ग्रथ लिखकर बतलाया है, कि समाजरचनाका शास्त्रीय रीतिसे किस प्रकार विवेचन करना चाहिये। अनेक शास्त्रोंकी आलोचना करके इसने यह निश्चित किया है, कि किसीभी शास्त्रको लो, उसका विवेचन पहले पहल Theological पद्धतिसे किया जाता है, फिर Meta-physical पद्धतिसे होता है, और अतमे उसको Positive स्वरूप मिलता है। उन्ही तीन पद्धतियोंको हमने इस ग्रथमें आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन प्राचीन नाम दिये हैं। ये पद्धतियाँ कुछ कोटकी निकाली हुई नही है, ये सब पुरानीही है तथापि उसने उनका ऐतिहासिक क्रम नई रीतिसे बाँधा है, और उनमे आधिभौतिक (Positive) पद्धतिकोही श्रेष्ठ बतलाया है, बस इतनाही कोटका नया शोध है। कोटके अनेक ग्रथोका अग्रेजीमे अनुवाद हो गया है।

अब वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारोंको ढूंढ कर सृष्टिपर अपना अधिक प्रभाव जमाने लग गया है। इस मार्गको कोटने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। उसने निश्चित किया है, कि किसीभी शास्त्रया विषयका विवेचन करनेके लिये अन्य मार्गोंकी अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोटके मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोगशास्त्रका तात्त्विक विचार करनेके लिये इसी आधिभौतिक मार्गका अवलंब करना चाहिये। इस मार्गका अवलंब करके इस पंडितने इतिहासकी आलोचना की, और सब व्यवहारशास्त्रोंका यही मथितार्थ निकाला है, कि इस संसारमें प्रत्येक मनुष्यका परम धर्म यही है, कि वह समस्त मानव-जातिसे प्रेम करें और सब लोगोंके कल्याणके लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अंग्रेज पंडित इसी मतके पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। इसके उलटे कांट, हेगेल, शोपेनहोएर आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने, नीतिशास्त्रके विवेचनके लिये इस आधिभौतिक पद्धतिको अपूर्ण माना है और हमारे वेदान्तियोंकी नाई अध्यात्मिवुद्धिसेही नीतिके समर्थन करने के मार्गको आजकल उन्होंने युरोपमें फिर स्थापित किया है। इसके विषयमें और अधिक आगे चलकर लिखा जाएगा।

एकही अर्थके विवक्षित होनेपरभी 'अच्छा और बुरा'के पर्यायवाची भिन्न भिन्न शब्दों का – जैसे 'कार्य-अकार्य' और 'धर्म्य-अधर्म्य'का – उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है, कि विषय-प्रतिपादनका मार्ग या दृष्टि प्रत्येककी भिन्न भिन्न होती है। अर्जुनके सामने यह प्रश्न था, कि जिस युद्धमें भीष्म, द्रोण आदिका वध करना पडेगा, उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गीता २ ७) और यदि इसी प्रश्नका उत्तर देनेका प्रसंग किसी आधिभौतिक पंडितपर आता, तो वह पहले इस बातका विचार करता, कि भारतीय युद्धसे स्वयं अर्जुनको दृश्य हानि या लाभ कितना होगा, और कुल समाजपर उसका क्या परिणाम होगा। यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता, कि युद्ध करना 'न्याय्य' है या 'अन्याय्य'। इसका कारणय ह है कि किसी कर्मके अच्छेपन या बुरेपनका निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पंडित यही सोचा करते हैं, कि इस संसारमें उस कर्मका आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या होगा – ये लोग इस आधिभौतिक कसौटीके सिवा और किसी साधन या कसौटीको नहीं मानते। परंतु ऐसे उत्तरसे अर्जुनका समाधान होना संभव नहीं था। उसकी दृष्टि उससेभी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सांसारिक हितका विचार नहीं करना था, किंतु उसे पारलौकिक दृष्टिसेभी यह निर्णय कर लेना था, कि इस युद्धका परिणाम मेरी आत्मा के लिये श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे इस बातकी कुछभी शंका नहीं थी, कि युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिओंका वध होनेपर तथा राज्य प्राप्ति होनेपर मुझे ऐहिक सुख मिलेगा या नहीं, और मेरा शासन लोगोंको दुर्योधनसे अधिक सुख-

दायक होगा या नही। उसे यही देखना था, कि मैं जो कर रहा हूँ वह 'धर्म्य' है या 'अधर्म्य', अथवा 'पुण्य' है या 'पाप', और गीताका विवेचनभी इसी दृष्टिसे किया गया है। केवल गीतामेंही नही, किंतु महाभारतमे कई स्थानोपरभी कर्म-अकर्मका जो विवेचन है, वह पारलौकिक और अध्यात्मदृष्टिसेही किया गया है। और वहाँ किसीभी कर्मका अच्छापन या बुरापन दिखलानेके लिये प्राय सर्वत्र 'धर्म' और 'अधर्म' इन दो शब्दोका उपयोग किया गया है। परतु 'धर्म' और उसका प्रतियोगी 'अधर्म' ये दोनो शब्द अपने व्यापक अर्थके कारण कभी कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसलिये यहाँपर इस बातकी कुछ अधिक मीमासा करना आवश्यक है कि कर्मयोगशास्त्रमें इन शब्दोका उपयोग मुख्यत किस अर्थमे किया जाता है।

नित्य व्यवहारमें 'धर्म' शब्दका उपयोग केवल "पारलौकिक सुखका मार्ग" इसी अर्थमें किया जाता है। जब हम किसीसे प्रश्न करते है, कि "तेरा कौनसा धर्म है?" तब उससे हमारे पूछनेका यही हेतु होता हैकि तू अपने पारलौकिक कल्याणके लिये किस मार्ग -- वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी -- पर चलता है, और वह हमारे प्रश्नके अनुसारही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्तिके लिये साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयोकी मीमासा करते समय "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि धर्मसूत्रोमेंभी धर्म शब्दका यही अर्थ लिया गया है, परतु 'धर्म' शब्दका इतनाही सकुचित अर्थ नही है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सासारिक नीति-बधनोकोभी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्दके इन दो अर्थोको यदि पृथक् करके दिखलाना हो, तो पार-लौकिक धर्मको 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीतिको केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुपार्थकी गणना करते समय हम लोग 'धर्म अर्थ, काम, मोक्ष' कहा करते हैं। इसके पहले शब्द 'धर्म'मेंही यदि मोक्षका समावेश हो जाता, तो अतमें मोक्षको पृथक् पुरुषार्थ बतलानेकी आवश्यकता न रहती। अर्थात् यह कहना पडता है, कि 'धर्म'पदसे इस स्थानपर ससारके सैकडो नीतिधर्मही शास्त्रकारोको अभिप्रेत हैं। उन्हीको हम लोग आज-कल कर्तव्यकर्म, नीति, नीतिधर्म अथवा सदाचरण कहते है, परतु प्राचीन सस्कृत ग्रथोमें 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दोका उपयोग विशेप करके राजनीतिहीके लिये किया जाता है। इसलिये पुराने जमानेमे कर्तव्यकर्म अथवा सदाचारके सामान्य विवेचनको 'नीतिप्रवचन' न कहकर 'धर्मप्रवचन' कहा करते थे। परतु 'नीति' और 'धर्म' इन दो शब्दोका यह पारिभाषिक भेद सभी सस्कृत-ग्रथोमें नही माना गया है। इसलिये हमनेभी इस ग्रथमे 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दोका उपयोग एकही अर्थमें किया है, और मोक्षका विचार जिन स्थानोपर करना है, उन प्रकरणोके 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतत्र नाम रखे है। महाभारतमें

धर्म शब्द अनेक स्थानोपर आया है, और जिस स्थानमें कहा गया है, कि " किसी-को कोई काम करना धर्म-सगत है ", उस स्थानमें धर्म शब्दसे कर्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्रहीका अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थानमें पारलौकिक कल्याणके मार्ग बतलानेका प्रसग आया है, उस स्थानपर अर्थात् शातिपर्वके उत्तरार्धमें 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्दकी योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रथोमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके विशिष्ट कर्मो अर्थात् चारो वर्णोके कर्मोंका वर्णन करते समय केवल 'धर्म' शब्दकाही अनेक स्थानोपर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्‌गीतामेंभी जब भगवान् अर्जुनसे यह कहकर लडनेके लिये कहते है, कि " स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य " (गीता २ ३१) तब – और उसके बाद " स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह " (गीता ३ ३५) इस स्थानपरभी – 'धर्म' शब्द 'इस लोकके चातुर्वर्ण्यके धर्म' अर्थमेंही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमानेके ऋषियोने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य-सस्था इसलिये चलाई थी, कि समाजके सब व्यवहार सरलतासे होते जावे, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्गपरही सारा बोझ न पडने पावे, और समाजका सभी दिशाओसे सरक्षण और पोषण भलीभांति होता रहे। यह बात भिन्न है, कि कुछ समयके बाद चारो वर्णोके लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये, अर्थात् सच्चे स्वकर्मको भूलकर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें सदेह नही, कि आरभमें यह व्यवस्था समाजधारणार्थही की गई थी। और यदि चारो वर्णोमेंसे कोईभी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड दे, यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थानपूर्ति दूसरे लोगोसे न की जाय, तो कुल समाज उतनाही पगु होकर धीरे धीरे नष्टभी होने लग जाता है, अथवा वह निकृष्ट अवस्थाको तो अवश्यही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है, कि यूरोपमें ऐसे समाज है, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके बिनाही हुआ है, तथापि स्मरण रहे, कि उन देशोमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो, परतु चारो वर्णोके सब धर्मजातिरूपसे नही तो गुण-विभागरूपहीसे जागृत अवश्य रहते है। साराश, जब हम धर्म शब्दका उपयोग व्यावहारिक दृष्टिसे करते है, तब हम यही देखा करते है कि, सब समाजाका धारण और पोषण कैसे होता है। मनुने कहा है – " असुखोदर्क अर्थात् जिसका परिणाम दु खकारक होता है, उस धर्मको छोड दें " (मनु ४ १७६) और शाति-पर्वके सत्यानृताध्याय (मभा शा १०९ १२) में धर्म-अधर्मका विवेचन करते हुए भीष्म और उसकेपूर्व कर्णपर्वमें श्रीकृष्ण कहते है –

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा. ।
यत्स्याद्धारणसमुक्त स धर्म इति निश्चय ॥

" धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातुसे बना है। धर्मसेही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है, कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है वही धर्म

है" (मभा कर्ण ६९ ५९)। यदि यह धर्म छूट जाय, तो समझ लेना चाहिये, कि समाजके सारे वधनभी टूट गये, और यदि समाजके वधन टूटे, तो आकर्षण-शक्तिके विना आकाशके सूर्यादि ग्रहमालाओकी जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्रमें मल्लाहके विना नावकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाजकीभी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्थासे समाजको नाशसे वचानेके लिये व्यासजीने कई स्थानोपर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पानेकी इच्छा हो, तो 'धर्मके द्वारा' अर्थात् समाजकी रचनाको न बिगाडते हुए प्राप्त करो, और यदि काम आदि वासनाओको तृप्त करना हो, तो वह भी 'धर्मसेही' करो। महाभारतके अतमें यही कहा है कि –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते ॥

"अरे! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ, (परतु) कोईभी मेरी नही सुनता! धर्मसेही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, (इसलिये) इस प्रकारके धर्मका आचरण तुम क्यो नही करते हो?" अव इससे पाठकोके ध्यानमे यह वात अच्छी तरह जम जायगी, कि महाभारतको जिस धर्म-दृष्टिसे पाँचवा वेद अथवा 'धर्मसहिता' मानते हैं, उस 'धर्मसहिता' शब्दके 'धर्म' शब्दका मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है, कि पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा इन दोनो पारलौकिक अर्थके प्रतिपादक ग्रथोके साथही – धर्मग्रथके नातेसे – 'नारायण नमस्कृत्य' इन प्रतीक शब्दोके द्वारा – महाभारतकाभी समावेश ब्रह्मयज्ञके नित्यपाठमे कर दिया है।

धर्म-अधर्मके उपर्युक्त निरूपणको सुनकर कोई यह प्रश्न करे कि, यदि तुम्हे 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरणके सत्यानृतविवेकमे कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनो तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टिमे और आधिभौतिक दृष्टिमे भेदही क्या है? क्योकि ये दोनो तत्त्व वाह्यत प्रत्यक्ष दिखनेवाले या आधिभौतिकही हैं। इस प्रश्नका विस्तृत विचार अगले प्रकरणोमें किया गया है। यहाँ इतनाही कहना वस है, कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है, कि समाज-धारणही धर्मका मुख्य वाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मतकी विशेषता यह है, कि वैदिक अथवा अन्य सव धर्मोका जो परम उद्देश्य आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उसपरभी हमारी दृष्टि वनी है। समाज-धारणको लीजिये, चाहे सर्वभूतहितहीको, यदि ये वाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याणके मार्गमे वाधा डाले, तो हमें इनकी जरूरत नही। हमारे आयुर्वेदग्रथ यदि यह प्रतिपादन करते हैं, कि वैद्यकशास्त्रभी शरीररक्षाके द्वारा मोक्षप्राप्तिका साधन होनेके कारण सग्रहणीय है, तो यह कदापि सभव नही, कि जिस शास्त्रमे इस महत्त्वके विपयका विचार किया गया है, कि सासारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, उस कर्मयोगशास्त्रको हमारे शास्त्रकार आध्यात्मिक मोक्षज्ञानसे अलग वतलावे। इसीलिये हम समझते हैं, कि जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी

आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल हो, वही पुण्य है, वही धर्म और वही शुभकर्म है, और जो कर्म उसके प्रतिकूल वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है। यही कारण है, कि हम 'कर्तव्य-अकर्तव्य', 'कार्य-अकार्य' शब्दोके बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दोकाही (यद्यपि वे दो अर्थके अतएव कुछ सदिग्ध हो, तोभी) अधिक उपयोग करते है। यद्यपि बाह्य-सृष्टिके व्यावहारिक कर्मो अथवा व्यापारोका विचार करनाही प्रधान विषय हो, तोभी उक्त कर्मोके बाह्य परिणामके विचारके साथही साथ यह विचारभी हम लोग हमेशा करते है, कि ये व्यापार हमारी आत्माके कल्याणके अनुकूल है या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादीसे कोई यह प्रश्न करे, कि " मै अपना हित छोडकर लोगोका हित क्यो करूँ ? " तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर दे सकता है, कि " यह तो सामान्यत मनुष्यस्वभावही है। " हमारे शास्त्र-कारोकी दृष्टि इससे परे पहुँची हुई है, और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिहीसे महाभारतमे कर्मयोगशास्त्रका विचार किया गया है, एव श्रीमद्भगवद्गीतामे वेदान्तका निरूपणभी इतनेहीके लिये किया गया है। प्राचीन यूनानी पडितोकीभी यही राय है, कि ' अत्यत हित ' अथवा ' सद्गुणकी पराकाष्ठा 'के समान कुछ-न-कुछ परम उद्देश्य कल्पित करके फिर उसी दृष्टिसे कर्म-अकर्मका विवेचन करना चाहिये। और ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्रके ग्रथ (१ ७, ८) मे कहा है, कि आत्माके हितमेंही इन सब बातोका समावेश हो जाता है। तथापि इस विषयमें आत्माके हितको जितनी प्रधानता देनी चाहिये थी, उतनी ॲरिस्टॉटलने नही दी है। हमारे शास्त्रकारोकी बात इस प्रकार नही है। उन्होने निश्चित किया है कि, आत्माका कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्थाही प्रत्येक मनुष्यका पहला और परम उद्देश्य है। अन्य प्रकारके हितोकी अपेक्षा उसीको प्रधान जानना चाहिये और तदनुसार कर्म-अकर्मका विचार करना चाहिये। अध्यात्म-विद्याको छोडकर कर्म-अकर्मका विचार करना ठीक नही है। जान पडता है कि वर्तमान समयमें पश्चिमी देशोंके कुछ पडितोनेभी कर्म-अकर्मके विवेचनकी इसी पद्धतिको स्वीकार किया है। उदा-हरणार्थ जर्मन तत्त्वज्ञानी काटने पहले " शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धिकी मीमासा " नामक आध्यात्मिक ग्रथ लिखकर फिर उसकी पूर्तिके लिए " व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धिकी मीमासा " नामका नीतिशास्त्रविषयक ग्रथ लिखा है* और इग्लैंडमेंके ग्रीनने अपने " नीतिशास्त्रके उपोद्घात "का सृष्टिके मूलभूत आत्म-तत्त्वसेही आरभ किया है। परतु इन ग्रथोंके बदले केवल आधिभौतिक पडितोंकेही

---

* काट एक जर्मन तत्त्वज्ञानी था। इसे अर्वाचीन तत्त्वज्ञानशास्त्रका जनक समझते है। इसके *Critique of Pure Reason* (शुद्ध बुद्धिकी मीमासा) और *Critique of Practical Reason* (वासनात्मक बुद्धिकी मीमासा) ये दो ग्रथ प्रसिद्ध है। ग्रीनके ग्रथका नाम *Prolegomena to Ethics* है।

नीतिग्रथ आजकल हमारे यहाँकी अग्रेजी पाठशालाओमें पढाये जात । जिसका परि-णाम यह दीख पडता है, कि गीतामें बतलाये गये कर्मयोगशास्त्रके मूलतत्त्वोका – हमारे अग्रेजी सीखे हुये कुछ विद्वानोकोभी – स्पष्ट बोध नहीं होता ।

उक्त विवेचनसे ज्ञात हो जायगा, कि व्यावहारिक नीतिबधनोंके लिये अथवा समाज-धारणकी व्यवस्थाके लिये हम 'धर्म' शव्दका उपयोग क्यो करते हैं।-महाभारत, भगवद्गीता आदि सस्कृत ग्रथोमें, तथा प्राकृत भाषा ग्रथोमेभी, व्यावहारिक कर्तव्य अथवा नियमके अर्थमें धर्म शव्दका हमेशा उपयोग किया जाता है। कुलधर्म और कुलाचार, दोनो शव्द समानार्थक समझे जाते हैं। भारतीय युद्धमें एक समय कर्णके रथका पहिया पृथ्वीने निगल लिया था, उसको उठा कर ऊपर लानेके लिये जब कर्ण अपने रथसे नीचे उतरा तब अर्जुन उसका वध करनेके लिये उद्युक्त हुआ। यह देखकर कर्णने कहा, "नि शस्त्र शत्रुको मारना धर्मयुद्ध नही है।" इसे सुनकर श्रीकृष्णने कर्णको पिछली कई वातोका स्मरण दिलाया, जैसे कि द्रौपदीका वस्त्रहरण और सव लोगोंने मिलकर अकेले अभिमन्युका किया वध इत्यादि। और प्रत्येक प्रसगपर यह प्रश्न किया कि "हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था?" इन सव बातोका वर्णन महाराष्ट्र-कवि मोरोपतने किया है। और महाभारतमेंभी इस प्रसगपर "क्व ते धर्मस्तदा गत"में 'धर्म' शव्दकाही प्रयोग किया गया है। तथा अतमें कहा गया है, कि जो इस प्रकार अधर्म करे उसके साथ शठ प्रति शाठ्यका वर्ताव करनाही उसको उचित दड देना है। साराश, क्या सस्कृत और क्या प्राकृत सभी ग्रथोमें 'धर्म' शव्दका प्रयोग उन सव नीति-नियमोके लिये किया गया है, जो समाज-धारणके लिये शिष्टजनोके द्वारा अध्यात्म-दृष्टिसे वनाये गये हैं। इसलिये उसी शव्दका उपयोग हमनेभी इस ग्रथमे किया है। उक्त दृष्टिसे विचार करनेपर नीतिके उन नियमो अथवा 'शिष्टाचारो'को धर्मकी वुनियाद कह सकते हैं, जो समाज-धारणके लिये शिष्टजनोके द्वारा प्रचलित किये गये हो, और जो सर्वमान्य हो चुके हो। और, इसलिये महाभारत (अनु १०४ १५७) मे एव स्मृति-ग्रथोमें 'आचारप्रभवो धर्म' अथवा 'आचार. परमो धर्म' (मनु १ १०८), अथवा धर्मका मूल वतलाते समय 'वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन' (मनु २ १२) इत्यादि वचन कहे हैं। परतु कर्मयोगशास्त्रमें इतनेहीसे काम नही चल सकता, इस बातका भी पूरा और मार्मिक विचार करना पडता है, (जैसे कि दूसरे प्रकरणमें किया है।) कि उक्त आचारकी प्रवृत्तिही क्यो हुई – इस आचारकी प्रवृत्तिका कारण क्या है।

'धर्म' शव्दकी दूसरी जो व्याख्या प्राचीन ग्रथोमे दी गई है, उसकाभी यहाँ थोडा विचार करना चाहिये। यह व्याख्या मीमासकोंकी है 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' (जै सू १ १ २)। अर्थात् 'चोदना' याने प्रेरणा किसी अधिकारी पुरुषका यह कहना तू 'अमुक कर' अथवा 'मत कर' जवतक इस प्रकार कोई प्रवध

नही कर दिया जाता, तबतक कोईभी काम किसीकोभी करनेकी स्वतन्त्रता होती है। इसका आशय यही है, कि पहलेपहल निर्बंध या प्रबंधके कारण धर्म निर्माण हुआ। धर्मकी यह व्याख्या कुछ अंशमें, प्रसिद्ध अंग्रेज ग्रंथकार हॉब्सके मतमें मिलती है। असभ्य तथा जंगली अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका आचरण, समय-समयपर उत्पन्न होनेवाली उसकी मनोवृत्तियोंकी प्रबलताके अनुसार हुआ करता है। परंतु कुछ समयके बाद यह मालूम होने लगता है, कि इस प्रकारका मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नही है, और यह विश्वास होने लगता है, कि इंद्रियोंके स्वाभाविक व्यापारोंकी कुछ मर्यादा निश्चित करके उसीके अनुसार बर्ताव करनेहीमें सब लोगोंका कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओंका पालन कायदेके तौरपर करने लगता है, जो शिष्टाचारसे, या अन्य रीतिसे सुदृढ हो जाया करती हैं। और जब इस प्रकारकी मर्यादाओंकी संख्या बहुत बढ जाती है, तब उन्हींका एक शास्त्र बन जाता है। पिछले प्रकरणमें बतलाया गया है कि पूर्वसमयमें विवाहव्यवस्थाका प्रचार नही था। पहलेपहल उसे श्वेतकेतुने चलाया, और शुक्राचार्यने मदिरापानको निषिद्ध ठहराया। यह न देखकर, कि इन मर्यादाओंको निश्चित करनेमें श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्यका क्या हेतु था, केवल इसी एक बातपर ध्यान देकर, कि इन मर्यादाओंके निश्चित करनेका काम या कर्तव्य इन लोगोंको करना पडा, धर्म शब्दकी "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" व्याख्या बनाई गई है। धर्मभी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्तिके ध्यानमें आता है, और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है। "खाओ-पीओ, मौज करो" ये बातें किसीको सिखलानी नही पडती, क्योंकि ये इंद्रियोंके स्वाभाविक धर्मही हैं। मनुजीने जो कहा है, कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनु ५. ५६) — अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई (सृष्टि-कर्म-विरुद्ध) दोष नही है — उसका तात्पर्यभी यही है। ये सब बातें मनुष्यहीके लिये नही, किंतु प्राणिमात्रके लिये स्वाभाविक हैं — "प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।" समाज-धारणके लिये अर्थात् सब लोगोंके सुखके लिये इस स्वाभाविक आचरणका उचित प्रतिबंध करनाही धर्म है। महाभारतके शांतिपर्व (मभा. शां. २९४. २९) मेंभी कहा है —

> आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् "आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यो और पशुओंके लिये एकही समान स्वाभाविक है। मनुष्यो और पशुओमे कुछ भेद है तो केवल धर्मका (अर्थात् इन स्वाभाविक वृत्तियोंको मर्यादित करनेका)। जिस मनुष्यमें यह धर्म नही है, वह पशुके समानही है।" आहारादि स्वाभाविक वृत्तियोंको मर्यादित करनेके विषयमें भागवतका श्लोक पिछले प्रकरणमें दिया गया है। इसी प्रकार भगवद्गीतामेंभी जब अर्जुनसे भगवान् कहते हैं (गीता ३. ३४) —

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥

"इंद्रियों तथा इन इंद्रियोंमें अपने उपभोग्य अथवा त्याज्य पदार्थके विषयमें, जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभावतः सिद्ध है। इनके वशमें हमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं" – तब भगवानको धर्मका वही लक्षण अभिप्रेत है, जो स्वाभाविक तथा स्वैर मनोवृत्तियोंको मर्यादित करनेके विषयमें ऊपर दिया गया है। मनुष्यकी इंद्रियाँ उसे पशुके समान आचरण करनेके लिये कहा करती हैं, और उसकी बुद्धि उसको विरुद्ध दिशामें खींचा करती है। इस कलहाग्निमें जो लोग अपने शरीरमें संचार करनेवाले पशुत्वका यज्ञ करके कृतकृत्य (सफल) होते हैं, उन्हेंही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिये, और वेही धन्य हैं।

धर्मको 'आचार-प्रभव' कहिये, 'धारणात्' धर्म मानिये अथवा 'चोदनालक्षण' धर्म समझिये, धर्मकी यानी व्यावहारिक नीतिबंधनोंकी कोईभी व्याख्या अपनाइये, परंतु जब धर्म-अधर्मका संशय उत्पन्न होता है, तब उसका निर्णय करनेके लिये उपर्युक्त तीनों लक्षणोंका कुछ उपयोग नहीं होता। पहली व्याख्यासे सिर्फ यह मालूम होता है, कि धर्मका मूलस्वरूप क्या है, उसका बाह्य उपयोग दूसरी व्याख्यासे मालूम होता है, और तीसरी व्याख्यासे यही बोध होता है, कि पहले पहल किसीने धर्मकी मर्यादा निश्चित कर दी है। परंतु अनेक आचारोंमें भेद पाया जाता है, इतनाही नहीं तो एकही कर्मके अनेक परिणाम होते हैं, और अनेक ऋषियोंकी आज्ञाएँ अर्थात् 'चोदना'भी भिन्न भिन्न हैं। इन कारणोंसे संशयके समय धर्मनिर्णयके लिये किसी दूसरे मार्गको ढूँढनेकी आवश्यकता होती है। यह मार्ग कौन-सा है? यही प्रश्न यक्षने युधिष्ठिरसे किया था। उसपर युधिष्ठिरने उत्तर दिया है कि –

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः ॥

"यदि तर्कको देखें तो वह चंचल है, अर्थात् जिसकी बुद्धि जैसी तीव्र होती है वैसेही अनेक प्रकारके अनेक अनुमान तर्कसे निष्पन्न हो जाते हैं। श्रुति अर्थात् वेदाज्ञाएँ देखी जायें तो वेभी भिन्न भिन्न हैं, और यदि स्मृतिशास्त्रको देखें तो ऐसा एकभी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियोंकी अपेक्षा अधिक प्रमाणभूत समझा जाय। अच्छा, (इस व्यावहारिक) धर्मका मूलभूतत्त्व देखा जाय, तो वहभी अंधकारमें छिपा हुआ है अर्थात् वह साधारण मनुष्योंकी समझमें नहीं आ सकता। इसलिये महाजन जिस मार्गसे गये हों, वही (धर्मका) मार्ग है" (मभा वन ३१२ ११५) ठीक है! परंतु महाजन किसको कहना चाहिये? उसका अर्थ "बड़ा अथवा बहुतसा जनसमूह" नहीं हो सकता। क्योंकि इन साधारण लोगोंके मनमें धर्म-अधर्मकी शंका कभी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाये मार्गसे जाना मानो कठोपनिषद्में वर्णित 'अंधेनैव नीयमाना यथांधाः'–वाली नीतिहीको चरितार्थ करना है। अब यदि

महाजनका अर्थ "बड़े बड़े सदाचारी पुरुष" लिया जाय – और यही अर्थ उक्त श्लोकमें अभिप्रेत है – तो उन महाजनोंके आचरणमेंभी एकता कहाँ है? निष्पाप श्रीरामचन्द्रने अग्निद्वारा शुद्ध हो जानेपरभी अपनी पत्नीका त्याग केवल लोकापवादके लिये किया, और सुग्रीवको अपने पक्षमें मिलानेके लिये उससे 'तुल्यारिमित्र' – अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु, और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र, इस प्रकार समझौता करके बेचारे वालीका वध किया, यद्यपि उसने श्रीरामचन्द्रका कुछ अपराध नही किया था। परशुरामने तो पिताकी आज्ञासे प्रत्यक्ष अपनी माताका शिरच्छेद कर डाला। यदि पाण्डवोंका आचरण देखा जाय तो पांचोंकी एकही स्त्री थी। स्वर्गके देवताओंको देखें तो कोई अहल्याका सतीत्व भ्रष्ट करनेवाला है, और कोई (ब्रह्मा) मृगरूपसे अपनीही कन्याका अभिलाष करनेके कारण रुद्रके बाणसे विद्ध होकर आकाशमें पड़ा हुआ है। (ऐ ब्रा ३ ३३) इन्हीं बातोंको मनमें लाकर 'उत्तररामचरित' नाटकमें भवभूतिने लवके मुखसे कहलाया है, कि "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता" – इन वृद्धोंके कृत्योंका बहुत विचार नही करना चाहिये। अंग्रेजीमें शैतानका इतिहास लिखनेवाले एक ग्रंथकारने लिखा है, कि शैतानके साथियों और देवदूतोंके झगड़ोंका हाल देखनेसे मालूम होता है, कि कई बार देवताओंने ही दैत्योंको कपटजालमें फँसा लिया है। इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी ३ १ और ऐ ब्रा ७ २८) में इन्द्र प्रतर्दनसे कहता है कि "मैंने वृत्रको (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला, अरुन्मुख संन्यासियोंके टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियोंको (खानेके लिये) दिये, और अपनी कई प्रतिज्ञाओंका भंग करके प्रल्हादके नातेदारों और गोत्रजोंका तथा पौलोम और कालखंज नामक दैत्योंका वध किया। (इससे) मेरा एक बालभी बांका नही हुआ – "तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते!" यदि कोई कहे, कि "तुम्हें इन महात्माओंके बुरे कर्मोंकी ओर ध्यान देनेका कुछभी कारण नही है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद (तैत्ति १ ११ २) में बतलाया है, उनके जो कर्म अच्छे हों, उन्हीका अनुकरण करो, बाकी सब छोड दो। उदाहरणार्थ, परशुरामके समान पिताकी आज्ञाका पालन करो, परंतु माताकी हत्या मत करो', तो वही पहला प्रश्न फिरभी उठता है, कि बुरा कर्म और भला कर्म समझनेके लिये साधन क्या है? इसलिये अपनी करनीका उक्त प्रकारसे वर्णनकर इन्द्र प्रतर्दनसे फिर कहता है, "जो पूर्ण आत्मज्ञानी है, उसे मातृवध, पितृवध भ्रूणहत्या अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसीभी कर्मका दोष नही लगता। इस बातको भलीभाँति समझ ले, कि आत्मा किसे कहते हैं – ऐसा करनेसे तेरे सारे संशयोंकी निवृत्ति हो जायगी।" इसके बाद इन्द्रने प्रतर्दनको आत्मविद्याका उपदेश दिया। साराश यह है, कि "महाजनो येन गतः स पन्था" यह युक्ति यद्यपि सामान्य लोगोंके लिये सरल है, तोभी सब बातोंमें इससे निर्वाह नही हो सकता, और अंतमें महाजनोंके आचरणका सच्चा तत्त्व कितनाभी गूढ हो, तोभी आत्मज्ञानमें

घुसकर विचारवान् पुरुषोको उसे ढूंढ निकालनाही पडता है। "न देवचरितं चरेत्" – देवताओके केवल वाहरी चरित्रके अनुसार आचरण नही करना चाहिये – इस उपदेशका रहस्यभी यही है। इसके सिवा, कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये कुछ लोगोने एक और सरल युक्ति बतलाई है। उनका कहना है, कि कोईभी सद्गुण हो, उसकी अधिकता न होने देनेके लिये हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिये, क्योकि इस अधिकतामेही अतमे सद्गुण दुर्गुण वन वैठता है। जैसे, दान सचमुच सद्गुण है, परतु 'अतिदानाद्बलिर्बद्ध' – दानकी अधिकता होनेसेही राजा बलिने धोखा खाया। प्रसिद्ध यूनानी पडित ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्रके ग्रथमें कर्म-अकर्मके निर्णयकी यही युक्ति वतलाई है, और स्पष्टतया दिखलाया है, कि प्रत्येक सद्गुणकी अधिकता होनेपर दुर्दशा कैसे हो जाती है। कालिदासनेभी रघुवशमें वर्णन किया है, कि केवल शूरता व्याघ्र सरीखे श्वापदका क्रूर काम है, और केवल नीतिभी डर-पोकपन है, इसलिये अतिथि राजा तलवार और राजनीतिके योग्य मिश्रणसे अपने राज्यका प्रवध करता था (रघु १७ ४७)। भर्तृहरि आदियोनेभी कुछ गुण-दोषोका वर्णन कर कहा है, कि यदि ज्यादा बोलना वाचालताका लक्षण है, और कम बोलना गुम्मापन है, ज्यादा खर्च करे तो उडाऊ और कम करे तो कजूस, आगें वढे तो दु साहसी और पीछे हटे तो ढीला, अतिशय आग्रह करे तो जिद्दी और न करे तो चचल, ज्यादा खुशामत करे तो नीच और ऐंठ दिखलावे तो घमडी है, परतु इस प्रकारकी स्थूल कसौटीसे अततक निर्वाह नही हो सकता। क्योकि, 'अति' किसे कहते है और 'नियमित' किसे कहते है – इसकाभी तो कुछ निर्णय होना चाहिये न, तथा, यह निर्णय कौन और किस प्रकार करे ? किसी एकको अथवा किसी एक समयपर जो वात 'अति' होगी वही दूसरेको, अथवा दूसरे समयपर कम हो जायगी। हनुमानजीको, पैदा होतेही सूर्यको पकडनेके लिये उडान भरना कोई कठिन काम नही मालूम पडा (वा रामा ७ ३५), परतु यही बात औरोके लिये कठिन क्या असभव जान पडती। इसलिये जव धर्म-अधर्मके विषयमें सदेह उत्पन्न हो, तव प्रत्येक मनुष्यको ठीक वैसाही निर्णय करना पडता है, जैसा श्येनने राजा शिवीसे कहा है –

अविरोधात्तु यो धर्म. स धर्म. सत्यविक्रम ।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
न बाधा विद्यते यत्र त धर्मं समुपाचरेत् ।।

अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मोका तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देखकरही, प्रत्येक प्रसगपर, अपनी वुद्धिके द्वारा सच्चे धर्म अथवा कर्मका निर्णय करना चाहिये (मभा वन १३१ ११, १२ और मनु ९ २९९)। परतु इतनेहीसे यहभी नही कहा जा सकता, कि धर्म-अधर्मके सार-असारका विचार करनाही शकाके समय, धर्म-निर्णयकी एक सच्ची कसौटी है। क्योकि व्यवहारमें अनेक वार देखा जाता है, कि अनेक पडित लोग अपनी वुद्धिके अनुसार सार-असारका विचारभी

भिन्न भिन्न प्रकारसे किया करते है, और एकही वातकी नीतिमत्ताका निर्णयभी भिन्न भिन्नसे किया करते हैं। यही अर्थ उपर्युक्त 'तर्कोऽप्रतिष्ठ' वचन प्रकारमें दिया गया है। इसलिये अव हमे यह जानना चाहिये, कि धर्म-अधर्म-सशयके इन प्रश्नोका अचूक निर्णय करनेके लिये अन्य कोई साधन या उपाय है या नही, यदि हैं तो कौनसे है, और यदि अनेक उपाय हो तो उनमें श्रेष्ठ कौन है। वस, इस, वातका निर्णय कर देनाही शास्त्रका काम है। शास्त्रका यही लक्षण है, कि "अनेक सशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्" – अर्थात् अनेक शकाओंके उत्पन्न होनेपर, सवसे पहले उन विषयोंके गुत्थमगुत्थेको सुलझा दे, जो समझमें नही आ सकते है, फिर उनके अर्थको सुगम और स्पष्ट कर दे और जो वातें आँखोंसे दीख न पडती हो उनका, अथवा आगे होनेवाली वातोकाभी यथार्थ ज्ञान करा दे। जव हम इस वातको सोचते है, कि ज्योतिपशास्त्रके सीखनेसे आगे होनेवाले ग्रहणोकाभी सब हाल मालूम हो जाता है, तव उक्त लक्षणके "परोक्षार्थस्य दर्शकम्" इस दूसरे भागकी सार्थकता अच्छी तरह दीख पडती है। परतु अनेक सशयोका समाधान करनेके लिये पहले यह जानना चाहिये, कि वे कोन-सी शकाएँ हैं। इसीलिये प्राचीन और अर्वाचीन ग्रथकारोकी यह रीत है, कि किसीभी शास्त्रका सिद्धान्तपक्ष वतलानेके पहले उस विषयमें जितने पक्ष हो गये हो, उनका विचार करके उनके दोप और उनकी न्यूनताए दिखलाई जाती है। इसी रीतिका स्वीकार करके गीतामें कर्म-अकर्म निर्णयके लिये प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त-पक्षीय योग अर्थात् युक्ति बतलानेके पहले, इसी कामके लिये जो अन्य युक्तियाँ पडित लोग वतलाया करते है, उनकाभी अब हम विचार करेंगे। यह वात सच है, कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले विशेष प्रचारमें न थी, और विशेष करके पश्चिमी पडितोंनेही वर्तमान समयमें उनका प्रचार किया है, परतु इतनेहीसे यह नही कहा जा सकता, कि उनकी चर्चा इस ग्रथमें न की जावे। क्योकि न केवल तुलनाहीके लिये, परतु गीताके आध्यात्मिक कर्मयोगका महत्त्व ध्यानमें लानेके लियेभी इन युक्तियोको – सक्षेपमेंभी क्यो न हो – जान लेना अत्यत आवश्यक है।

चौथा प्रकरण

आधिभौतिक सुखवाद

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।*

— महाभारत, शांति १३९ ६१

मनु आदि शास्त्रकारोने, "अहिंसा सत्यमस्तेय" इत्यादि जो नियम बनाये हैं उनका कारण क्या है, वे नित्य हैं कि अनित्य, उनकी व्याप्ति कितनी है, उनका मूलभूततत्त्व क्या है, यदि इनमेंसे कोई दो परस्परविरोधी धर्म एकही समयमें प्राप्त हो तो किस मार्गका स्वीकार करना चाहिये, इत्यादि प्रश्नोका निर्णय ऐसी सामान्य युक्तियोसे नही हो सकता, जो "महाजनो येन गत स पथा" या "अति सर्वत्र वर्जयेत्" आदि वचनोसे सूचित होती हैं। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि इन प्रश्नोका उचित निर्णय कैसे हो, और श्रेयस्कर मार्ग निश्चित करनेके लिये निभ्रांत युक्ति क्या है, अर्थात् यह जानना चाहिये, कि परस्परविरुद्ध धर्मोकी लघुता और गुरुता – न्यूनाधिक महत्ता – किस दृष्टिसे निश्चित की जावे। अन्य शास्त्रीय प्रतिपादनोके अनुसार कर्म-अकर्म विवेचनसबधी प्रश्नोकीभी चर्चा करनेके तीन मार्ग हैं, जैसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक। इनके भेदोका वर्णन पिछले प्रकरणमें करचुके हैं। हमारे शास्त्रकारोके मतानुसार आध्यात्मिक मार्गही इन सब मार्गोमें श्रेष्ठ है, परतु अध्यात्ममार्गका महत्त्व पूर्ण रीतिसे ध्यानमें लानेके लिये दूसरे दो मार्गोकाभी विचार करना आवश्यक है, इसीलिये इस प्रकरणमे पहले कर्म-अकर्म-परीक्षाके आधिभौतिक मूलतत्त्वोकी चर्चा की गई है। जिन आधिभौतिक शास्त्रोकी आजकल बहुत उन्नति हुई है, उनमें व्यक्त पदार्थोके बाह्य और दृश्य गुणोहीका विचार विशेषतासे किया जाता है। इसलिये जिन लोगोने आधिभौतिक शास्त्रोके अध्ययनहीमें अपनी उम्र बिता दी है और जिनको इस शास्त्रकी विचारपद्धतिका अभिमान है, उन्हे बाह्य परिणामोकाही विचार करनेकी आदत-सी पड जाती है। इसका परिणाम यह होता है, कि उनकी तत्त्वज्ञानदृष्टि थोडी-सी सकुचित हो जाती है, और किसीभी बातका विवेचन करते समय वे लोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, अव्यक्त या अदृश्य कारणोको विशेष महत्त्व नही देते। परतु यद्यपि वे लोग उक्त कारणसे आध्यात्मिक और पारलौकिक दृष्टिको छोड द तथापि उन्हे यह मानना पडेगा कि मनुष्योके सासारिक व्यवहारोको सरलता-पूर्वक चलाने और लोकसग्रह करनेके लिये नीति-नियमोकी अत्यत आवश्यकता

---

* "दु खसे सभी ऊब जाते हैं और सुखकी इच्छा सभी करते हैं।"

है। इसीलिये हम देखते हैं, कि उन पडितोंकोभी कर्मयोगशास्त्र वहुत महत्त्वका मालम होता है, कि जो लोग पारलौकिक विषयोंमें अनास्था रखते हैं, या जिन लोगोका अव्यक्त अध्यात्मज्ञानमें (अर्थात् परमेश्वरमेंभी) विश्वास नही है। ऐसे पडितोंने पश्चिमी देशोमें इस वातकी वहुत चर्चा की है – और वह चर्चा अवतक जारी है – कि केवल आधिभौतिक शास्त्रकी रीतिसे (अर्थात् केवल सासारिक दृश्य युक्तिवादसेही) कर्म-अकर्म-शास्त्रकी उपपत्ति दिखलाई जा सकती है या नही। इस चर्चासे उन लोगोने यह निश्चय किया है, कि नीतिशास्त्रका विवेचन करनेमें अध्यात्मशास्त्रकी कुछभी आवश्यकता नही है। किसी कर्मके भले या वुरे होनेका निर्णय उस कर्मके वाह्य परिणामोंसे – जो प्रत्यक्ष दीख पडते हैं – किया जाना चाहिये, और ऐसाही कियाभी जा सकता है। क्योकि, मनुष्य जो जो कर्म करता है, वह सव सुखके लिये या दु ख-निवारणार्थही किया करता है। और तो क्या 'सव मनुष्योका सुख' ही ऐहिक परमोद्देश है, और यदि सव कर्मोका अतिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णयका सच्चा मार्ग यही होना चाहिये, कि सव कर्मोकी नीतिमत्ता, सुखप्राप्ति या दु खनिवारणका तारतम्य अर्थात् लघुता – गुरुता देखकर, निश्चित की जावे। जव कि व्यवहारमें किसी वस्तुका भला-वुरापन केवल वाहरी उपयोगहीसे निश्चित किया जाता है, – जैसे, जो गाय छोटे सीगोवाली और सीधी होकरभी अधिक दूध देती है, वही अच्छी समझी जाती है – तव इसी प्रकार जिस कर्मसे सुख-प्राप्ति या दु ख-निवारणात्मक वाह्य फल अधिक हो, उसीको नीतिकी दृष्टिसेभी श्रेयस्कर समझना चाहिये। जव हम लोगोको केवल वाह्य और दृश्य परिणामोकी लघुता-गुरुता देखकर नीतिमत्ताके निर्णय करनेकी यह सरल और शास्त्रीय कसौटी प्राप्त हो गई है, तव उसके लिये आत्म-अनात्मके गहरे विचार-सागरमें चक्कर खाते रहनेकी कोई आवश्यकता नही है। "अर्के चेन्मधु विंदेत किमर्थं पर्वत व्रजेत"* – पासहीमें मधु मिल जाय तो मधु-मक्खीके छत्तेकी खोजमें जगलमें क्यो जाएँ? किसीभी कर्मके केवल वाह्य फलको देखकर नीति और अनीतिका निर्णय करनेवाले उक्त पक्षको हमने "आधि-भौतिक सुखवाद" कहा है। क्यो कि नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये इस मतके अनुसार जिन सुख-दु खोका विचार किया जाता है, वे सव प्रत्यक्ष दिखनेवाले, और केवल वाह्य अर्थात् वाह्य पदार्थोका इद्रियोके साथ सयोग होनेपर उत्पन्न होने-वाले, यानी आधिभौतिक हैं, और यह पथभी सव ससारका केवल आधिभौतिक

* कुछ लोग इस श्लोकमें 'अर्क' शब्दसे 'आर्क या मदार' के पेडकाभी अर्थ लेते हैं। परतु ब्रह्मसूत्र ३ ४ ३ के शाकरभाष्यकी टीकामें आनदगिरीने 'अर्क' शब्दका अर्थ 'समीप' किया है। इस श्लोकका दूसरा चरण यह है – "सिद्धस्यार्थस्य सप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्।"

दृष्टिसे विचार करनेवाले पडितोसेही चलाया गया है। इसका विस्तृत वर्णन इस ग्रथमें करना असभव है – भिन्न भिन्न ग्रथकारोके मतोका सिर्फ साराश देनेके लियेही स्वतत्र ग्रथ लिखना पडेगा, इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताके कर्मयोगशास्त्रका स्वरूप और महत्त्व पूरी तौरसे ध्यानमें आ जानेके लिये नीतिशास्त्रके इस आधि-भौतिक पथका जितना स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है, उतनाही सक्षिप्त रीतिसे इस प्रकरणमें एकत्रित किया गया है। इससे अधिक बातें जाननेके लिये पाठकोको पश्चिमी विद्वानोके मूल ग्रथही पढने चाहिये। ऊपर कहा गया है, कि परलोक या आत्मविद्याके विषयमें आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते है, परतु इसका यह मतलव नही है, कि इस पथके सव विद्वान् लोग स्वार्थसाधक, अपस्वार्थी अथवा अनीतिमान् हूआ करते है। यदि इन लोगोमे पारलौकिक दृष्टि नही है तो न सही। ये मनुष्यके कर्तव्यके विषयमे यही कहते है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी ऐहिक दृष्टिहीको – जितनी वन सके उतनी – व्यापक वना कर समूचे जगत्के कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह अत करणसे और उत्साहके साथ उपदेश करनेवाले काट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्त्विक वृत्तिके अनेक पडित इस पथमे है, और उनके ग्रथ अनेक प्रकारके उदात्त और प्रगल्भ विचारोसे भरे रहनेके कारण सब लोगोके पढने योग्य है। यद्यपि कर्मयोगशास्त्रके पथ भिन्न है, तथापि जवतक "ससारका कल्याण" यह बाहरी उद्देश्य छूट नही गया है तवतक भिन्न रीतिसे नीतिशास्त्रका प्रतिपादन करनेवाले किसी मार्ग या पथका उपहास करना अच्छी वात नही है। अस्तु, आधिभौतिकवादियोमें इस विपयपर मतभेद है, कि नैतिक कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये जिस आधिभौतिक वाह्य सुखका विचार करना है वह किसका है? स्वय अपना है या दूसरेका, एकही व्यक्तिका है, या अनेक व्यक्तियोका? अब सक्षेपमें इस बातका क्रमश विचार किया जायगा, कि नये और पुराने सभी आधिभौतिक-वादियोंके मुख्यत कितने वर्ग हो सकते है, और उनके ो पथ कहाँतक उचित अथवा निर्दोष है।

इनमेंसे पहला वर्ग केवल स्वार्थ-सुखवादियोका है। इस पथका कहना है, कि परलोक और परोपकार सब झूठ है। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रोको चालाक लोगोने अपना पेट भरनेके लिये लिखा है। इस दुनियामे स्वार्थही सत्य है, और जिस उपायसे स्वार्थ सिद्ध हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वय अपने आधिभौतिक सुखकी वृद्धि हो उसीको न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिये। हमारे हिंदुस्थानमें वहुत पुराने समयमे चार्वाकने वडे उत्साहसे इस मतका प्रतिपादन किया था और रामायणमे जावालिने अयोध्याकाडके अतमें श्रीरामचद्रजीको जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारतमें वर्णित कणिकनीति (मभा आ १४२)भी इसी प्रकारकी है। चार्वाकका मत है, कि जब पचमहाभूत एकत्र हो जाते है, तब उनके मिलापसे आत्मा नामका एक गुण उत्पन्न हो जाता है, और देहके जलनेपर

उसके साथ साथ वहभी चल जाता है। इसलिये विद्वानोका कर्तव्य है, कि आत्म-विचारके झझटमें न पडकर जबतक यह शरीर जीवित अवस्थामें है, तबतक "ऋण ले कर भी त्योहार मनावे" – ? "ऋण कृत्वा घृत पिवेत्" – क्योंकि मरने पर कुछ नही है। चार्वाक हिंदुस्थानमे पैदा हुआ था, इसलिये उसने घृतहीसे अपनी तृष्णा बुझा ली। नही तो उक्त सूत्रका रूपातर "ऋण कृत्वा सुरा पिवेत्" हो गया होता। कहांका धर्म और कहांका परोपकार! इस ससारमें जितने पदार्थ परमेश्वरने, – शिव, शिव! भूल हो गई। परमेश्वर आया कहांसे? – इस ससारमें जितने पदार्थ है, वे सब मेरेही उपभोगके लिये है। उनका दूसरा कोईभी उपयोग नही दिखाई पडता – अर्थात् है ही नही! मै मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जबतक मै जीता हूँ, तब आज यह तो कल वह, इस प्रकार सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओको तृप्त कर लूंगा। यदि में तप करूगा, अथवा कुछ दान दूंगा तो वह सब मै अपने महत्त्वको बढानेहीके लिये करूँगा, और यदि मै राजसूय या अश्वमेध यज्ञ करूँगा, तो उसे मै यही प्रकट करनेके लिये करूँगा, कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित है। साराश, इस जगतका मैंही केंद्र हूँ, और केवल यही सब नीतिशास्त्रोका रहस्य है। बाकी सब झूठ है। ऐसेही आसुरी मताभिमानियोका वर्णन गीताके सोलहवे अध्यायमें किया गया है – "ईश्वरोऽहमह भोगी सिद्धोऽह बलवान् सुखी" (गीता १६ १४) – "मैंही ईश्वर, मैंही भोगनेवाला, और मैंही सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ।" यदि श्रीकृष्णके बदले जाबालिके समान इस पथवाला कोई आदमी अर्जुनको उपदेश करनेके लिये होता, तो वह पहले अर्जुनके कान मलकर यह बतलाता, कि "अरे तू मूर्ख तो नही है? लडाईमे सबको जीत कर अनेक प्रकारके राजभोग और विलासोंके भोगनेका यह बढिया मौका पाकरभी तू "यह करूँ कि वह करूँ?" इत्यादि व्यर्थ भ्रममे कुछका कुछ बक रहा है। यह मौका फिरसे मिलनेका नही। कहांका आत्मा और कहांके कुटुबियोको लिये बैठा है। उठ, तैयार हो, सब लोगोको ठोक-पीटकर सीधा कर दे, और हस्तिनापुरके साम्राज्यका सुखसे नष्कटक उपभोग कर! इसीमें तेरा परम कल्याण है। स्वय अपने दृश्य तथा ऐहिक सुखके सिवा इस ससारमे और रखाही क्या है?" परतु अर्जुनने इस घृणित, स्वार्थ-साधक और आसुरी उपदेशकी प्रतीक्षा नही की – उसने पहलेही श्रीकृष्णसे कह दिया कि –

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो किं नु महीकृते॥

"पृथ्वीहीका क्यो, परतु यदि तीनो लोकोका राज्य (इतना बडा विषय-सुख) भी (इस युद्धके द्वारा) मुझे मिल जाय, तोभी मै कौरवोको मारना नही चाहता। भलेही वे मेरी गर्दन उडा दे!" (गीता १ ३५)। अर्जुनने पहलेहीसे जिस स्वार्थ-परायण और आधिभौतिक सुखवाद-पथका इस तरह निषेध किया है, उसके आसुरी

मतका केवल उल्लेख करनाही उसका खडन करना कहा जा सकता है। दूसरोंके हित-अनहितकी कुछभी परवाह न करके सिर्फ अपने खुदके विषयोपभोग-सुखको परम-पुरुषार्थ मान कर नीतिमत्ता और धर्मको ठुकरा देनेवाले आधिभौतिक वादियोकी यह अत्यत कनिष्ठ श्रेणी कर्मयोगशास्त्रके सब ग्रथकारोंके द्वारा और सामान्य लोगोके द्वाराभी बहुतही अनीति की, त्याज्य और गर्ह्य मानी गई है। अधिक क्या कहा जाय, यह पथ नीतिशास्त्र अथवा नीतिविवेचनके नामकोभी पात्र नही हैं। इसलिये इसके बारेमें अधिक विचार न करके आधिभौतिक सुखवादियोंके दूसरे वर्गकी ओर ध्यान देना चाहिये।

खुल्लमखुल्ला या प्रकट स्वार्थ ससारमें चल नही सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है, कि यद्यपि आधिभौतिक विषयसुख प्रत्येकको इष्ट होता है, तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगोके सुखोपभोगमें बाधा डालता है, तब वे लोग विना विघ्न उपस्थित किये नही रहते। इसलिये दूसरे कई आधिभौतिक पडित प्रतिपादन किया करते है, कि यद्यपि स्वय अपना सुख या स्वार्थ-साधनही हमेशा उद्देश्य है, तथापि सब लोगोको अपनेही समान रियायत दिये विना सुखका मिलना सभव नही है। इसलिये अपने सुखके लियेही दूरदर्शिताके साथ अन्य लोगोंके सुखकी ओरभी ध्यान देना चाहिये। इन आधिभौतिकवादियोकी गणना हम दूसरे वर्गमें करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये, कि नीतिकी आधिभौतिक उपपत्तिका यथार्थ आरभ यहींसे होता है। क्योंकि इस वर्गके लोग चार्वाकके मतानुसार यह नही कहते, कि समाज-सुधारके लिये नीतिके बधनोंकी कुछ आवश्यकताही नही है। किंतु इन लोगोंने अपनी विचारदृष्टिसे इस बातका कारण बतलाया है, कि सभी लोगोको उनका पालन क्यो करना चाहिये। इनका कहना यह है, कि यदि इस बातका सूक्ष्म विचार किया जाय, कि ससारमें अहिसा-धर्म कैसे चला और लोग उसका पालन क्यों करते है, तो यही मालूम होगा, कि ऐसे स्वार्थमूलक भयके सिवा उसका दूसरा कोई कारण नही है, जो इन वाक्यमें प्रकट होता है – "यदि मैं लोगोको मारूंगा तो वे मुझेभी मार लेंगे, और फिर मुझे अपने सुखोंसे हाथ धोना पडेगा।' अहिसा-धर्मके अनुसारही अन्य सब धर्मभी इसी या ऐसेही स्वार्थ-मूलक कारणोंसे प्रचलित हुए है। हमें दुःख हुआ, तो हम रोते हैं, और दूसरोंको हुआ, तो हमें दया आती है। क्यो? इसी लिये न, कि हमारे मनमें यह डर पैदा होता है, कि कहीं भविष्यमें हमारीभी ऐसीही दुःखमय अवस्था न हो जाय। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगोंके सुखके लिये आवश्यक मालूम देते हैं, वे सब – यदि उनका मूलस्वरूप देखा जाय तो – अपनेही सुखके लिये या अपनेही दुःखनिवारणार्थ हैं। कोई किसीकी सहायता करता है, या कोई किसीको दान देता है। क्यों? इसीलिये न कि जब हमपरभी आ बीतेगी, तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य लोगोंको इसलिये प्यार करते

है, कि वेभी हमको प्यार करें। और कुछ नही तो हमारे मनमें यह स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है कि लोग हमें अच्छा कहे। परोपकार और परार्थ दोनो शब्द केवल भ्रांतिमूलक है। यदि कुछ सच्चा है तो स्वार्थ, और स्वार्थ कहते है अपने लिये सुख-प्राप्ति या अपने दु खनिवारणको। माता बच्चेको दूध पिलाती है, उसका कारण यह नही है, कि वह बच्चेसे प्रेम करती हो, सच्चा कारण तो यही है, कि उसके स्तनोमे दूध भर जानेसे उसे जो दु ख होता है, उसे कम करनेके लिये – अथवा भविष्यमें यही लडका मुझे प्यार करके सुख देगा, इस स्वार्थ-सिद्धिके लियेही वह उपाय करती है – इस प्रकार उक्त कथनका अर्थ होता है। इस बातको दूसरे वर्गके आधिभौतिकवादी मानते है, कि स्वय अपनेही सुखके लियेभी क्यो न हो, परतु भविष्यपर दृष्टि रखकर ऐसे नीतिधर्मका पालन करना चाहिये, कि जिससे दूसरोको भी सुख हो। बस, यही इस मतमें और चार्वाकके मतमें भेद है। तथापि चार्वाक मतके अनुसार इस मतमेभी यह माना जाता है, कि मनुष्य केवल विषय-सुखमें, रूप स्वार्थमें ढला हुआ एक पुतला है। इग्लैडमें हॉब्स और फ्रान्समें हेल्वेशिअसने इस बातका प्रतिपादन किया है। परतु इस मतके अनुयायी अब न तो इग्लैंडमेंही और न कही बाहरभी अधिक मिलेगे। हॉब्सके नीतिधर्मकी इस उपपत्तिके प्रसिद्ध होनेपर बटलरसरीखे* विद्वानोंने उसका खडन करके सिद्ध किया, कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नही है, स्वार्थके समानही उसमे जन्मसेही भूतदया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुणभी कुछ अशमें रहते है। इसलिये किसी व्यवहार या कर्मका नैतिक दृष्टिसे विचार करते समय केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थकी ओर ही ध्यान न दे कर मनुष्य-स्वभावकी दो स्वाभाविक प्रवृत्तियो (अर्थात् स्वार्थ और परार्थ) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। जब हम देखते है कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवरभी अपने बच्चोकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार हो जाते हैं, तब हम यह कभी नही कह सकते कि मनुष्यके हृदयमें प्रेम और परोपकारबुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थहीसे उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है, कि धर्म-अधर्मकी परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थसे करना शास्त्रकी दृष्टिसेभी उचित नही है। यह बात हमारे प्राचीन पडितोकोभी अच्छी तरहसे मालूम थी, कि केवल ससारमे लिप्त रहनेके कारण जिस मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध नही रहती है, वह मनुष्य जो कुछ परोपकारके नामसे करता है, बहुधा अपनेही हितके लिये' करता है। महाराष्ट्रमे तुकाराम महाराज एक बडे भारी भगवद्भक्त हो गये है। वे कहते है, कि " वह

---

* हॉब्सका मत उसके *Leviathan* नामक ग्रथमें सग्रहीत है, तथा बटलरका मत उसके *Sermon on Human Nature* नामक निबधमें है। हेल्वेशिअसकी पुस्तकका साराश मोर्लेने अपने *Diderot* विषयक ग्रथ (*Vol II, Chap* V) में दिया है।

दिखलानेके लिये तो रोती है सामके हितके लिये, परतु हृदयका भाव कुछ औरही रहता है। (तु गा ३५८३ २)" वहुतसे पडित तो हेल्वेशिअससेभी आगे वढ गये है। उदाहरणार्थ, "मनुष्यकी स्वार्थप्रवृत्ति तथा परार्थप्रवृत्तिभी दोषमय होती है" – "प्रवर्तनालक्षणा दोषा" इस गौतम-न्यायसूत्र (१ १ १८) के आधारपर ब्रह्मसूत्रभाष्यमें श्रीशकराचार्यने जो कुछ कहा है (वे सू शा भा २ २ ३), उसपर टीका करते हुए आनदगिरि लिखते है, कि "जव हमारे हृदयमें कारुण्यवृत्ति जागृत होती है, और हमको उससे जो दु ख होता है, उस दु खको हटानेके लिये हम अन्य लोगोपर दया या परोपकार किया करते है।" आनदगिरिका यही युक्तिवाद प्राय हमारे सव सन्यासमार्गीय ग्रथोमें पाया जाता है, जिससे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न दीख पडता है, कि सव कर्म स्वार्थमूलक होनेके कारण त्याज्य है। परतु वृह-दारण्यकोपनिषद् (वृ २ ४ ४ ५) में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयीका जो सवाद दो स्थानोपर है, उसमे इसी युक्तिवादका उपयोग एक दूसरीही अद्भुत रीतिसे किया गया है। मैत्रेयीने पूछा "हम अमर कैसे वनेंगे?" इस प्रश्नका उत्तर देते समय याज्ञवल्क्य उससे कहते है, "हे मैत्रेयी! स्त्री अपने पतिको चाहती है, वह पतिहीके लिये नही किंतु वह अपनी आत्माके लिये उसे चाहती है। इसी तरह हम अपने पुत्रसे उसके हितार्थ प्रेम नही करते, किंतु हम स्वय अपनेही लिये उससे प्रेम करते हैं।* द्रव्य, पशु और अन्य वस्तुओके लियेभी यही न्याय उपयुक्त है। "आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति" – अपने आत्माके प्रीत्यर्थही सव पदार्थ हमें प्रिय लगते है। और यदि इस तरह सव प्रेम आत्ममूलक है, तो क्या हमको सबसे पहले यह जाननेका प्रयत्न नही करना चाहिये, कि आत्मा (हम) क्या है?" यह कहकर अतमें याज्ञवल्क्यने यही उपदेश दिया है, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मतव्यो निधिध्यासितव्य" – अर्थात् "सबसे पहले यह देखो, कि आत्मा कौन है, फिर उसके विषयमें सुनो और उसका मनन तथा ध्यान करो।" इस उपदेशके अनुसार एक वार आत्माके सच्चे स्वरूपकी पहचान होनेपर सव जगत् आत्ममय दिख पडने लगता है, और स्वार्थ तथा परार्थका भेदही मनमें रहने नही पाता। याज्ञवल्क्यका यह युक्तिवाद दिखनेमें तो हॉव्सके मतानुसारही है, परतु यह वातभी किसीसे छिपी नही है, कि इन दोनोंके निकाले गये अनुमान एक दूसरेके विरुद्ध है। हॉव्स स्वार्थहीको प्रधान मानता है, और सब परार्थोंको दूरदर्शी स्वार्थ काही

* "What say you of natural affection? Is that also a species of self-love? Yes, All is self-love *Your* children are loved only because they are yours *Your* friend for a like reason And *Your* country engages you only so far as it has a connection with *Yourself*" ह्यूमनेभी इसी यक्तिवादका उल्लेख अपने *Of the Dignity or Meanness of Human Nature* नामक निवधमे किया है। स्वय ह्यूमका मत इससे भिन्न है।

कि लोक-सुखके लिये अपने कितने सुखका त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थको एक समान प्रबल मान ले, तो सत्यके लिये प्राण देने और राज्य खो देनेकी बात तो दूरही रही, परतु इस पथके मतमे यहभी निर्णय नही हो सकता, कि बहुतसी द्रव्यकी बहुतसी हानिभी सहनी चाहिये या नही। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थके लिये प्राण दे दें, तो इस पथवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देगे, परतु जब उनपर आबीतेगी तब स्वार्थ-परार्थ दोनोहीका आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थकी ओरही अधिक झुकेगे। ये लोग, हॉब्सके समान परार्थको एक प्रकारका दूरदर्शी स्वार्थ नही मानते, किंतु ये समझते है, कि हम स्वार्थ और परार्थको तराजूमे तोल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकताका विचार करके बडी चतुराईसे अपने स्वार्थका निर्णय किया करते है। अतएव ये लोग अपने मार्गको 'उदात्त' या बुद्धिमान स्वार्थ (परतु है तो स्वार्थही) कहकर उसकी बडाई मारते है,* परतु देखिये, भर्तृहरिने क्या कहा है –

एके सत्पुरुषाः परार्थघटका. स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत' स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थक परहित ते के न जानीमहे॥

"जो अपने लाभको त्याग कर दूसरोका हित करते है, वेही सच्चे सत्पुरुष है। स्वार्थको न छोड कर जो लोग लोकहितके लिये प्रयत्न करते है, वे पुरुष सामान्य है और अपने लाभके लिये जो दूसरोका नुकसान करते है वे केवल नीच मनुष्यही नही है, उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये। परतु एक प्रकारके मनुष्य औरभी है, जो लोकहितका निरर्थक नाश किया करते है – मालूम नही पडता कि ऐसे मनुष्योको क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ नी श ७४) इसी तरह राजधर्मकी उत्तम स्थितिका वर्णन करते समय कालिदासनेभी कहा है –

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतो.।
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविधैव॥

अर्थात् "तू अपने सुखकी परवाह न करके लोकहितके लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है। अथवा तेरी वृत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकु ५ ७) भर्तृहरि या कालिदास यह जानना नही चाहते थे, कि कर्मयोगशास्त्रमे स्वार्थ और परार्थको स्वीकार करके उन दोनो तत्त्वोके तारतम्य-भावसे धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्मका निर्णय कैसे करना चाहिये, तथापि परार्थके लिये स्वार्थ छोड देनेवाले पुरुषोको उन्होने जो प्रथम स्थान दिया है, वही नीतिकी दृष्टिसेभी न्याय्य है। इसपर

* अंग्रेजीमे इसे enlightened self-interest कहते है। enlightened का भाषातर 'उदात्त' या बुद्धिमान शब्दोंसे किया है।

लोगोका अधिक सुख होना सभव है तो भीष्म पितामहकोभी मारकर युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। दीखनेमें तो यह उपदेश बहुत सीधा और सहज दीख पडता है, परतु कुछ विचार करनेपर इसकी अपूर्णता और कठिनाई समझमें आ जाती है। पहले यही सोचिये, कि अधिक यानी कितना ? पाडवोकी सात अक्षौहिणियां थीं और कौरवोकी ग्यारह। इसलिये यदि पाडवोकी हार हुई होती तो कौरवोको सुख हुआ होता। क्या, इसी युक्तिवादसे पाडवोका पक्ष अन्याय्य कहा जाता ? भारतीय युद्धहीकी बात कौन कहे, औरभी अनेक अवसर ऐसे है कि जहाँ नीतिका निर्णय केवल सख्यासे कर बैठना बडी भारी भूल है। व्यवहारमें सब लोग यही समझते है कि लाखो दुर्जनोको सुख होनेकी अपेक्षा एकही सज्जनको जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है। इस समझको सच बतलानेके लिये एकही सज्जनके सुखको लाख दुर्जनोके सुखकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् मानना पडेगा, और ऐसा करनेपर "अधिकाश लोगोका अधिक बाह्य" सुखवाला (जो कि नीतिमत्ताकी परीक्षाका एकमात्र साधन माना गया है) सिद्धान्त उतनाही शिथिल हो जायगा। इसलिये कहना पडता है कि, लोकसख्याकी न्यूनाधिकताका नीतिमत्ताके साथ कोई नित्य-सबध नही हो सकता। यह बातभी ध्यानमें रखनेयोग्य है, कि कभी जो बात साधारण लोगोको सुखदायक मालूम होती है, वही बात किसी दूरदर्शी पुरुपको परिणाममें सबके लिये हानिप्रद दीख पडती है। उदाहरणार्थ, साक्रेटीज और ईसामसीहकोही लीजिये। दोनो अपने अपने मतमे परिणाममें कल्याणकारक समझ करही अपने देशबधुओंको उपदेश करते थे, परतु इनके देशबधुओंने इन्हें "समाजके शत्रु" समझकर मौतकी सजा दी। इस विपयमें "अधिकाश लोगोंका अधिक सुख" इसी तत्त्वके अनुसार उस समय लोगोंने और उनके नेताओंने मिल कर आचरण किया था, परतु अब हम नही कह सकते कि उन लोगोका बर्ताव न्याययुक्त था। साराश, यदि "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख" को ही क्षणभरके लिये नीतिका मूलतत्त्व मान ले, तोभी उससे ये प्रश्न हल नही हो सकते, कि लाखो-करोडो मनुष्योका सुख किसमें है, उसका निर्णय कौन और कैसे करे ? साधारण अवसरोपर निर्णय करनेका यह काम उन्ही लोगोको सौंप दिया जा सकता है, कि जिनके बारेमें सुख-दुःखका प्रश्न उपस्थित हो। परतु साधारण असवरपर इतना प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकताही नही रहती। और जब विशेप कठिनाईका कोई समय आता है, तब साधारण मनुष्योमें यह अचूक विचार-शक्ति नही रहती, कि हमारा सुख किस बातमें है। ऐसी अवस्थामें यदि इन साधारण और अनधिकारी लोगोंके हाथ यह नीतिका एकमेव तत्त्व "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" लग जाय, तो वही भयानक परिणाम होगा, जो सैतानके हाथमें मशाल देनेसे होता है। यह बात उक्त दोनो उदाहरणो (साक्रेटीज और ईसामसीह) से भली भाँति प्रकट हो जाती है। इस उत्तरमें कुछ जान नही, कि "नीतिधर्मका

हमारा तत्त्व शुद्ध और सच्चा है, मूर्ख लोगोने उसका दुरुपयोग किया तो हम क्या कर सकते है ?" कारण यह है, कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्चा हो, तथापि उसका उपयोग करनेके अधिकारी कौन है, वे उसका उपयोग कव और कैसे करते है, इत्यादि वातोकी मर्यादाभी, उसी तत्त्वके साथ देनी चाहिये। नही तो सभव है, कि हम अपनेको साक्रेटीजके सदृश्य नीति-निर्णय करनेमें समर्थ मानकर अर्थका अनर्थ कर वैठें।

केवल सख्याकी दृष्टिसे नीतिका उचित निर्णय नही हो सकता, और इस तर्कका निश्चय करनेके लिये कोईभी बाहरी साधन नही कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख किसमें है। इन दो आक्षेपोंके सिवा इस पथपर औरभी बडे वडे आक्षेप किये जा सकते है। जैसे, विचार करनेपर यह अपने आप ही मालूम हो जायगा, कि किसी कामके केवल वाहरी परिणामसेही उसके न्याय्य अथवा अन्याय्य होनेका निर्णय करना बहुधा असभव हो जाता है। हम लोग किसी घडीको, उसके ठीक टीक समय वतलाने न बतलाने पर, अच्छी या खराव कहा करते है। परतु इसी नीतिका उपयोग मनुष्यके कार्योंके सवधमें करनेके पहले हमें यह वात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये, कि मनुष्य केवल घडी या यत्न नही है। यह वात सच है, कि सव सत्पुरुष जगत्के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते है। परतु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नही किया जा सकता, कि जोभी कोई लोगोके कल्याणार्थ प्रयत्न करता है, उसे सत्पुरुषही होना चाहिये। इसलिये यह देखना चाहिये, कि मनुष्यका अत - करण कैसा है। यत्न और मनुष्यमें यदि कुछ भेद है तो यही, कि एक हृदयहीन है, और दूसरा हृदययुक्त है, और इसीलिये अज्ञानसे या भूलसे किये गये अपराधको कायदेमें क्षम्य मानते हैं। तात्पर्य, कोई काम अच्छा है या वुरा, धर्म्य है या अधर्म्य, नीतिका है अथवा अनीतिका, इत्यादि वातोका उच्चा निर्णय उस कामके केवल वाहरी फल या परिणाम – अर्थात् वह अधिकाश लोगोको अधिक सुख देगा कि नही इतनेही – से नही किया जा सकता। उसीके साथ साथ यहभी जानना चाहिये, कि उस कामको करनेवालेकी वुद्धि, वासना या हेतु कैसा है। एक समयकी वात है, कि अमरिकाके एक वडे शहरमे सब लोगोके सुख और उपयोगके लिये ट्रामवेकी बहुत आवश्यकता थी। परतु सरकारी अधिकारियोकी आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नही वनाई जा सकती थी। सरकारी मजूरी मिलनेमें वहुत देरी हुई। तव ट्रामवेके व्यवस्थापकने अधिकारियोको रिश्वत देकर जल्द मजूरी ले ली। ट्रामवे वन गई और उससे शहरके सव लोगोकी सुभीता और फायदा हुआ। कुछ दिनोंके वाद रिश्वतकी वात प्रकट हो गई, और उस व्यवस्थापकपर फौजदारी मुकदमा चलाया गया। पहली ज्यूरी (पचायत) का एकमत नही हुआ, इसलिये दूसरी ज्यूरी चुनी गई। दूसरी ज्यूरीने व्यवस्थापकको दोषी ठहराया। अतएव उसे सजा दी गई। इस उदाहरणमें "अधिक लोगोके अधिक सुख "वाले नीतितत्त्वसे काम

चलने का नही। क्योकि यद्यपि "घूस देनेसे ट्रामवे वन गई" यह वाहरी परिणाम अधिक सुखदायक था, तथापि इतनेहीमे घूस देना न्याय हो नही सकता।* दान करनेको अपना धर्म (दातव्य) समझ कर निष्काम-वुद्धिमे दान करना, और कीर्तिके लिये या अन्य फलकी आशासे दान करना, इन दो कृत्योका वाहरी परिणाम यद्यपि एक-सा हो, तथापि श्रीमद्भगवद्गीतामें पहले दानको सात्त्विक और दूसरेको राजस कहा है (गीता १७ २० २१)। और यहभी कहा गया है, कि यदि वही दान कुपात्रोको दिया जाय, तो वह तामस अथवा गर्ह्य है। यदि किसी गरीवने एक-आध धर्म-कार्यके लिये चार पैसे दिये और किसी अमीरने उसीके लिये सौ रुपये दिये, तो लोगोमें दोनोकी नैतिक योग्यता एकही समझी जाती है। परतु यदि केवल "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" किसमें है, इसी वाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय तो ये दोनो दान नैतिक दृष्टिसे समान योग्यताके नही कहे जा सकते। "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" इस आधिभौतिक नीति-तत्त्वमें जो वहुत वडा दोष है, वह यही है, कि इसमें कर्ताके मनके हेतु या भावका कुछभी विचार नही किया जाता। और यदि अत स्थ हेतुपर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञासे विरोध खडा हो जाता है, कि अधिकाश लोगोका अधिक सुखही नीतिमत्ताकी एकमात्र कसौटी है। कायदा-कानून वनानेवाली सभा अनेक व्यक्तियोंके समूहसे वनी होती है। इसलिये उक्त मतके अनुसार इस सभाके वनाये हुए कायदो या नियमोकी योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते समय यह जाननेकी कुछ आवश्यकताही नही, कि सभासदोंके अत -करणोमें कैसा भाव था – हम लोगोको अपना निर्णय केवल इस वाहरी विचारके आधारपर कर लेना चाहिये, कि इनके कायदोंमे अधिकोको अधिक सुख हो सकेगा या नही। परतु, उक्त उदाहरणसे यह साफ साफ ध्यानमें आ सकता है, कि सभी स्थानोमें यह न्याय उपयुक्त हो नही सकता। हमारा यह कहना नही है, कि "अधिकाश लोगोका अधिक सुख या हित"वाला तत्त्व विलकुलही निरुपयोगी है। केवल वाह्य परिणामोका विचार करना होता तो उससे वढकर दूसरा तत्त्व कही नही मिलेगा। परतु हमारा यह कथन है, कि जव नीतिकी दृष्टिसे किसी वातको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तव केवल वाह्य परिणामोको देखनेसे काम नही चल सकता। उसके लिये औरभी कई वातोपर विचार करना पडता है। अतएव नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये पूर्णतया इसी तत्त्वपर अवलवित नही रह सकते। इसलिये इससेभी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्वको खोज निकालना आवश्यक है। गीताके प्रारभमें जो यह कहा गया है, कि "कर्मकी अपेक्षा वुद्धि श्रेष्ठ है।" (गीता २ ४९) उसकाभी यही अभिप्राय है। यदि केवल वाह्य

---

* यह उदाहरण डॉक्टर पॉल केरसकी *The Ethical Problem* (pp 58, 59, 2nd Ed) नामक पुस्तकसे लिया है।

कर्मोंपर ध्यान दें, तो वे वहुधा भ्रामक होते है। "स्नान-सध्या, तिलक-माला" इत्यादि वाह्य कर्मोंके होते हुएभी 'पेटमें क्रोधाग्नि'का भडकते रहना असभव नही है, परतु यदि हृदयका भाव शुद्ध हो, तो बाह्यकर्मोंका महत्त्व नही रहता।" "सुदामाके मुठ्ठीभर चावल" सरीखे अत्यत अल्पवाह्य कर्मकी धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकाश लोगोको अधिक सुख देनेवाले हजारो मन अनाजके वरा-वरही समझी जाती है। इसी लिये प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी काटने* कर्मके वाह्य और दृश्य परिणामोंके तारतम्य-विचारको गौण माना है। एव नीतिशास्त्रके अपने विवेचनका प्रारम्भकर्ताकी शुद्ध बुद्धि (शुद्ध भाव) हीसे किया है। यह नही समझना चाहिये, कि आधिभौतिक सुखवादकी यह न्यूनता वडे वडे आधिभौतिकवादियोंके ध्यानमें नही आई। ह्यूमने† स्पष्ट लिखा है – जब कि मनुष्यका कर्म (काम या कार्य) ही उसके शीलका द्योतक है, और जब लोगोमें वही नीतिमत्ताका दर्शकभी माना जाता है, तब केवल वाह्य परिणामोहीसे उस कर्मको प्रशसनीय या गर्हणीय मान लेना असभव है। यह वात मिल साहवको भी मान्य है, कि "किसी कर्मकी नीतिमत्ता कर्ताके हेतुपर अर्थात् वह उसे जिस बुद्धि या भावसे करता है, उसपर पूर्णतया अवलवित रहती है।" परतु अपने पक्षमडनके लिये मिलसाहवने यह युक्तिवाद किया है, कि "जबतक वाह्य कर्मोंमें कोई भेद नही होता तवतक कर्मकी नीतिमत्तामे कुछ फर्क नही हो सकता, चाहे कर्ताके मनमें उस कामको करनेकी वासना किसी भावसे हुई हो।"§ मिलके इस युक्तिवादमें साप्रदायिक आग्रह दीख पडता है, क्योकि वुद्धि या भावमें भिन्नता होनेपर यद्यपि दो कर्म दीखनेमें एकहीसे हो, तोभी वे तत्त्वत एक योग्यताके कभी नही हो सकते; और इसी लिये मिलसाहवकी कही हुई 'जव तक (वाह्य) कर्मोंमें भेद नही होता, इत्यादि' मर्यादाको ग्रीनसाहव‡ निर्मूल वतलाते है। गीताकाभी यही अभिप्राय है। इसका

---

* Kant's *Theory of Ethics*, (trans by Abbott) 6th Ed p 6

† "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character, passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects" Hume's *Inquiry concerning Human Understanding*, *Section* VIII, part II (p 368 of Hume's Eassys – The World Library Edition)

§ "Morality of the action depends entirely upon the intention, that is, upon what the agent *wills to do*, But the motive, that is, the feeling which makes him will so to do, when makes no difference in the act, makes none in the morality" Mill's *Utilitarianism*, p 27.

‡ Green's *Prolegomena to Ethics* § 292 note p 348 5th Cheaper Edition

कारण गीतामें यह बतलाया गया है, कि यदि एकही धर्म-कार्यके लिये दो मनुष्य समान धन प्रदान करें, तोभी अर्थात् दोनोंके बाह्य कर्म एकसमान होनेपरभी, दोनोंकी बुद्धि या भावकी भिन्नताके कारण एक दान सात्त्विक और दूसरा राजस या तामसभी हो सकता है। इस विषयपर अधिक विचार पूर्वी और पश्चिमी मतोंकी तुलना करते समय करेंगे। अभी केवल इतनाही देखना है, कि कर्मके केवल बाहरी परिणामपरही अवलंबित रहनेवाली आधिभौतिक सुखवादकी श्रेष्ठ श्रेणीभी नीति-निर्णयके काममें कैसे अपूर्ण सिद्ध हो जाती है, और इसे सिद्ध करनेके लिये हमारी समझमें मिलसाहबकी उक्त स्वीकृति काफी है।

"अधिकांश लोगोंका अधिक सुख"वाले आधिभौतिक पथमें सबसे भारी दोष यह है, कि उसमें कर्ताकी बुद्धि या भावका कुछभी विचार नहीं किया जाता। मिलसाहबके लेखहीमें यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि उस (मिल)के युक्ति-वादको सच मानकरभी इस तत्त्वका उपयोग सब स्थानोंपर एकसमान नहीं किया जा सकता। क्यों कि वह केवल बाह्य फलके अनुसार नीतिका निर्णय करता है, अर्थात् उसका उपयोग किसी विशेष मर्यादाके भीतरही किया जा सकता है, या यों कहिये कि वह एकदेशीय है। इसके सिवा इस मतपर एक औरभी आक्षेप किया जा सकता है, कि स्वार्थकी अपेक्षा परार्थ क्यों और कैसे श्रेष्ठ है? — इस प्रश्नकी कुछ भी उपपत्ति न बतलाकर ये लोग इस तत्त्वको सच मान लिया करते हैं। फल यह यह होता है, कि बुद्धिमान स्वार्थकी बेरोक वृद्धि होने लगती है। यदि स्वार्थ और परार्थ ये दोनों बातें मनुष्यके जन्मसेही विद्यमान रहती हैं, अर्थात् स्वाभाविक हैं, तो प्रश्न होता है, कि मैं स्वार्थकी अपेक्षा लोगोंके सुखको अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों समझूं? यह उत्तर तो संतोषदायक होही नहीं सकता, कि तुम अधिकांश लोगोंके अधिक सुखको देखकर ऐसा करो। क्यों कि मूल प्रश्नही यह है, कि मैं अधिकांश लोगोंके अधिक सुखके लिये यत्न क्यों करूं? यह बात सच है, कि अन्य लोगोंके हितमें अपनाभी हित सम्मिलित रहता है, इस लिये यह प्रश्न, हमेशा नहीं उठता। परंतु आधिभौतिक पथके उक्त तीसरे वर्गकी अपेक्षा इस अंतिम (चौथे) वर्गकी यही विशेषता है, कि इस आधिभौतिक पथके लोग यह मानते हैं, कि जब स्वार्थ और परार्थमें विरोध खडा हो जाय, तब बुद्धिमान् स्वार्थका त्याग करके परार्थ-साधन-हीके लिये यत्न करना चाहिये। इस पथकी उक्त विशेषताकी कुछभी उपपत्ति नहीं दी गई है। इस अभावकी ओर एक विद्वान् आधिभौतिक पंडितका ध्यान आकर्षित हुआ। उसने छोटे कीडोंसे लेकर मनुष्यतक सब सजीव प्राणियोंके व्यवहारोंका खूब निरीक्षण किया, और अंतमें यह सिद्धान्त निकाला, कि जब कि छोटे कीडोंसे लेकर मनुष्यों तकमें यही गुण अधिकाधिक बढता और प्रकट होता चला आ रहा है, कि वे स्वयं अपनेही समान अपनी संतानों और जातियोंकी रक्षा करते हैं, और किसीको दुःख न देते हुए अपने बंधुओंकी यथासंभव सहायता

करते हैं, तब हम कह सकते हैं, कि सजीव सृष्टिके आचरणका यही परस्पर-सहायताका गुण - प्रधान नियम है। सजीव सृष्टिमें यह नियम पहले पहल संतानोत्पादन और संतानके लालन-पालनके बारेमें दीख पडता है। ऐसे अत्यंत सूक्ष्म कीडोंकी सृष्टिको देखनेसे – कि जिसमें स्त्री-पुरुषका कुछ भेद नही है – ज्ञात होगा कि एक कीडेकी देह बढते बढते फट जाती है, और उसमें दो कीडे बन जाते हैं। अर्थात् यही कहना पडेगा कि संतानके लिये – दूसरेके लिये – यह कीडा अपने शरीरकोभी त्याग देता है। इसी तरह सजीव सृष्टिमें इस कीडेसे ऊपरके दर्जेके स्त्री-पुरुषात्मक प्राणीभी अपनी अपनी संतानके पालन-पोषणके लिये स्वार्थत्याग करनेमें आनंदित हुआ करते हैं। यही गुण बढते बढते मनुष्य जातिके असभ्य और जंगली समाजमेंभी इस रूपमें पाया जाता है कि वे लोग न केवल अपनी संतानोंकी रक्षा करनेमें – वरन अपने जाति-भाइयोंकी सहायता करनेमेंभी सुखसे प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको – जो कि सजीव सृष्टिका शिरोमणि है – स्वार्थके समान परार्थमेंभी सुख मानते हुए सृष्टिके उपर्युक्त नियमकी उन्नति करने तथा स्वार्थ और परार्थके वर्तमान विरोधको समूल नष्ट करनेके उद्योगमें लगे रहना चाहिये। बस इसीमें उसकी इतिकर्तव्यता है।* यह युक्तिवाद तो ठीक है, परंतु यह तत्त्व कुछ नया नही है, कि परोपकार करनेका सद्गुण मूक सृष्टिमेंभी पाया जाता है, इसलिये उसे परमावधि तक पहुँचानेके प्रयत्नमें ज्ञानी मनुष्योंको सदैव लगे रहना चाहिये। इस तत्त्वमें विशेषता सिर्फ यही है, कि आजकल आधिभौतिक शास्त्रोंके ज्ञानकी बहुत वृद्धि होनेके कारण इस तत्त्वकी आधिभौतिक उपपत्ति उत्तम रीतिसे बतलाई गई है। यद्यपि हमारे शास्त्रकारोंकी दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि हमारे प्राचीन ग्रंथोंमें कहा है कि –

अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

"परोपकार करना पुण्यकर्म है और दूसरोंको पीडा देना पापकर्म है। वह यही अठारह पुराणोंका सार है।" भर्तृहरिनेभी कहा है, कि "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणी" – परार्थहीको जिस मनुष्यने अपना स्वार्थ बना लिया है, वही सब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। अच्छा, अब यदि छोटे कीडोंसे मनुष्यतककी सृष्टिकी उत्तरोत्तर क्रमशः बढती हुई श्रेणियोंको देखें, तो एक और भी प्रश्न उठता है। वह यह है – क्या, मनुष्योंमें केवल परोपकारबुद्धिहीका उत्कर्ष हुआ है, या उसीके

---

* यह उपपत्ति स्पेन्सरके Data of Ethics नामक ग्रंथमें दी हुई है। स्पेन्सरने मिलको एक पत्र लिखकर स्पष्ट कह दिया था, कि मेरे और आपके मतमें क्या भेद है। उस पत्रके अवतरण उक्त ग्रंथमें दिये गये हैं। pp 57, 123 Also see Bain's Mental and Moral Science, pp 721, 722 (Ed 1875)

साथ उनमें न्याय-बुद्धि, दया, समानपन, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इंद्रिय-निग्रह इत्यादि अनेक अन्य सात्त्विक सद्गुणोकीभी वृद्धि हुई है ? जब इसपर विचार किया जाता है, तब कहना पडता है, कि अन्य सब सजीव प्राणियोकी अपेक्षा मनुष्योंमें सभी सद्गुणोका उत्कर्ष हुआ है। इन सब सात्त्विक गुणोंके समूहको 'मनुष्यत्व' नाम दीजिये। अब यह बात सिद्ध हो चुकी है, कि परोपकारकी अपेक्षा मनुष्यत्वको हम श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी अवस्थामें किसीभी कर्मकी योग्यता-अयोग्यताका विचार या नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये उस कर्मकी परीक्षा केवल परोपकारहीकी दृष्टिसे नही की जा सकती – अब उस कर्मकी परीक्षा मनुष्यत्वकी दृष्टिसे – अर्थात् मनुष्यजातिमें अन्य प्राणियोकी अपेक्षा जिन जिन गुणोका उत्कर्ष हुआ है, उन सबको ध्यान रखकरही – की जानी चाहिये। अकेले परोपकारको ध्यानमे रखकर कुछ-न-कुछ निर्णय कर लेनेके बदले अब तो यही मानना पडेगा, कि जो कर्म सब मनुष्योंके 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन'को शोभा दें, या जिस कर्मसे 'मनुष्यत्व'की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और वही नीति-धर्म है। यदि एक बार इस व्यापक दृष्टिको स्वीकार कर लिया जाय, तो "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" उक्त दृष्टिका एक अत्यत छोटा भाग हो जायगा और इस मतका कोई स्वतत्र महत्त्व नही रह जायगा, कि सब कर्मोंके धर्म-अधर्म या नीतिमत्ताका विचार केवल "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" तत्त्वके अनुसार किया जाना चाहिये – और तब तो धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये मनुष्यत्वकाभी विचार करना आवश्यक होगा। और जब हम इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगेंगे, कि 'मनुष्यपन' या मनुष्य-त्वका यथार्थ स्वरूप क्या है, तब हमारे मनमें याज्ञवल्क्यके अनुसार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" यह विषय आप-ही-आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्रका विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन ग्रथकारने इस समुच्चयात्मक मनुष्यत्वके धर्मकोही 'आत्मा' कहा है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह मालूम हो जायगा, कि केवल स्वार्थ या अपनेही विषय-सुखकी कनिष्ठ श्रेणीसे बढते बढते आधिभौतिक सुखवादियोकोभी परोप-कारकी श्रेणी तक और अतमें मनुष्यत्वकी श्रेणीतक कैसे आना पडता हैं। परतु मनुष्यत्वके विषयमेभी और आधिभौतिकवादियोंके मनमें प्राय सब लोगोंके बाह्य विषय-सुखहीकी कल्पना प्रधान होती है, अतएव आधिभौतिकवादियोकी यह अतिम श्रेणीभी जिसमें – अत शुद्धि, और अत सुखका कुछ विचार नही किया जाता – हमारे अध्यात्मवादी शास्त्रकारोंके मतानुसार निर्दोष नही है। यद्यपि इस बातको साधारण-तया मानभी ले, कि मनुष्यके सब प्रयत्न सुख-प्राप्तिके तथा दु ख-निवारणकेही लिये हुआ करते हैं, तथापि जबतक पहले इस बातका निर्णय न हो जाय, कि सच्चा सुख किसमें है – आधिभौतिक अर्थात् सासारिक विषयभोगहीमें है, अथवा और किसीमें बात है – तबतक कोईभी आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नही समझा जा सकता।

इस वातको आधिभौतिक सुखवादीभी मानते है, कि शारीरिक सुखसे मानसिक सुखकी योग्यता अधिक है। पशुको जितने सुख मिल सकते है, वे सव किसी मनुष्यको देकर उससे पूछो कि "क्या, तुम पशु होना चाहते हो ?" तो वह कभी इस वातके लिये राजी न होगा। इसी तरह, ज्ञानी पुरुषोको यह बतलानेकी आवश्यकता नही, कि तत्त्वज्ञानके गहन विचारोंसे बुद्धिमें जो एक प्रकारकी शाति उत्पन्न होती है, उसकी योग्यता सासारिक सपत्ति अथवा वाह्योपभोगसे हजार गुना बढ कर है। अच्छा, यदि लोकमतको देखें, तोभी यही ज्ञात होगा, की नीतिका निर्णय करना केवल सख्यापर अवलवित नही है। लोग जो कुछ किया करते है, वह सब केवल आधिभौतिक सुखकेही लिये नही किया करते – वे आधिभौतिक सुखहीको अपना परम उद्देश्य नही मानते। वल्कि हम लोग यही कहा करते है, कि वाह्य सुखोकी कौन कहे, विशेष प्रसग आनेपर अपनी जानकीभी परवाह नही करनी चाहिये। क्योकि ऐसे समयमें आध्यात्मिक दृष्टिके अनुसार जिन सत्य आदि नीति-धर्मोकी योग्यता अपनी जानसेभी अधिक है, उनका पालन करनेके लिये मनोनिग्रह करनेमेंही मनुष्यका मनुष्यत्व है। यही हाल अर्जुनका था। उसकाभी प्रश्न यह नही था, कि लडाई करनेपर किसको कितना सुख होगा। उसका श्रीकृष्णसे यही प्रश्न था, कि "मेरा, अर्थात् मेरे आत्माका श्रेय किसमें है सो मुझे बतलाइये" (गीता २ ७, ३ २) आत्माका यह नित्यका श्रेय और सुख आत्माकी शातिमें है। इसी लिये वृहदारण्य-कोपनिषद् (वृ २ ४ २) मे कहा गया है, कि "अमृतत्वस्य तु नाशस्ति वित्तेन" अर्थात् सासारिक सुखसपत्तिके यथेष्ट मिल जानेपरभी आत्मसुख और शाति नही मिल सकती। इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है, कि जब मृत्यु नचिकेताको पुत्र, पौत्र, पशु, धान्य, द्रव्य इत्यादि अनेक प्रकारकी सासरिक सपत्ति देने सिद्ध हुआ तो उसने साफ जवाव दिया, कि "मुझे आत्मविद्या चाहिये, सपत्ति नही।" और 'प्रेय' अर्थात् इद्रियोको प्रिय लगनेवाले सासारिक सुखमे तथा 'श्रेय' अर्थात् आत्माके सच्चे कल्याणमें भेद दिखलाते हुए (कठ १ २ २ में) कहा है, कि –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सपरीत्य विविनक्ति धीर ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मदो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

"जब प्रेय (तात्कालिक वाह्य इद्रियसुख) और श्रेय (सच्चा और चिर-कालिक कल्याण) ये दोनो मनुष्यके सामने उपस्थित होते है, तव वुद्धिमान् मनुष्य उन दोनो में किसी एकको चुन लेता है। जो मनुष्य यथार्थमें वुद्धिमान् होता है, वह प्रेयकी अपेक्षा श्रेयको अधिक पसद करता है, परतु जिसकी वुद्धि मद होती है, उसको आत्मकल्याणकी अपेक्षा प्रेय अर्थात् वाह्य सुखही अधिक अच्छा लगता है।" इस लिये यह मान लेना उचित नही, कि ससारमें इद्रियगम्य विषय-सुखही मनुष्यका ऐहिक परम उद्देश्य है, तथा मनुष्य जो कुछ करता है वह सव केवल वाह्य अर्थात् आधिभौतिक सुखहीके लिये अथवा अपने दु खोको दूर करनेके लियेही करता है।

इंद्रियगम्य बाह्यसुखोंकी अपेक्षा बुद्धिगम्य अंत सुखकी – अर्थात् आध्यात्मिक सुखकी – योग्यता अधिक तो हैही, परन्तु इसके साथ साथ एक बात यहभी है, कि विषय-सुख अनित्य है। वह दशा नीति-धर्मकी नहीं है। इस बातको सभी मानते हैं, कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् बाह्य सुखदु खोंपर अवलंबित नहीं हैं, किंतु ये सभी अवसरोंके लिये और सब कामोंमें एकसमान उपयोगी हो सकते हैं। अतएव ये नित्य हैं। बाह्य बातोंपर अवलंबित न रहनेवाली, नीति-धर्मोंकी यह नित्यता उनमें कहाँसे और कैसे आई – अर्थात् इस नित्यताका कारण क्या है? इस प्रश्नका आधिभौतिक-वादसे हल होना असंभव है। कारण यह है, कि यदि बाह्यसृष्टिके सुख-दु खोंके अवलोकनसे कुछ सिद्धान्त निकाला जाय, तो सब सुख-दु खोंके स्वभावत अनित्य होनेके कारण, उनके अपूर्ण आधारपर बने हुए नीति-सिद्धान्तभी वैसेही अनित्य होंगे। और, ऐसी अवस्थामें सुख-दुखोंकी कुछभी परवाह न करके सत्यके लिये जान दे देनेकी सत्य-धर्मकी जो त्रिकालाबाधित नित्यता है, वह "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख"के तत्त्वसे सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसपर यह आक्षेप किया जाता है, कि जब सामान्य व्यवहारोंमें सत्यके लिये प्राण देनेका समय आ जाता है, तो बडे बडे लोगभी असत्य पक्ष ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करते, और उस समय हमारे शास्त्रकारभी ज्यादा सख्ती नहीं करते, तब सत्य आदि धर्मोंकी नित्यता क्यों माननी चाहिये? परंतु यह आक्षेप या दलील ठीक नहीं है, क्योंकि जो लोग सत्यके लिये जान देनेका साहस नहीं कर सकते, वेभी अपने मुंहसे इस नीति-धर्मकी नित्यताको मानाही करते हैं। इसी लिये महाभारतमें अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाले सब व्यावहारिक धर्मोंका विवेचन करके, अंतमें भारत-सावित्रीमें (और विदुरनीतिमेंभी) व्यासजीने सब लोगोंको यही उपदेश किया है –

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो.।
धर्मो नित्य· सुखदु·खे त्वनित्ये जीवो नि यो हेतुरस्य त्वनित्य.॥

अर्थात् "सुख-दु ख अनित्य है, परन्तु (नीति) धर्म नित्य हैं। इसलिये सुखकी इच्छासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण-संकट आनेपरभी धर्मको कभी नहीं त्यागना चाहिये। यह जीव नित्य है, और सुखदु ख आदि विषय अनित्य हैं।" इसीलिये व्यासजी उपदेश करते हैं, कि अनित्य सुखदु खोंका विचार न करके नित्य-जीवका संबंध नित्य-धर्मसेही जोड देना चाहिये। (मभा स्व ५ ६, उ ३९ १२, १३)। यह देखनेके लिये व्यासजीका उक्त उपदेश उचित है या नहीं, हमें अब इस बातका विचार करना चाहिये, कि सुख-दु खका यथार्थ स्वरूप क्या है, और नित्य सुख किसे कहते हैं।

पाँचवाँ प्रकरण

सुखदु:खविवेक

सुखमात्यंतिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् । *

—गीता ६ २१

हमारे शास्त्रकारोको यह सिद्धान्त मान्य है, कि इस ससारका प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्तके लिये या प्राप्त सुखकी वृद्धिके लिये, दु खको टालने या काम करनेके लिये ही सदैव प्रयत्न किया करता है। भृगुजी भरद्वाजसे शातिपर्व (मभा शा १९० ९) में कहते है, कि " इह खलु अमुष्मिश्च लोके वस्तुप्रवृत्तय सुखार्थमभिधीयते। न ह्यत पर त्रिवर्गफल विशिष्टतरमस्ति।" अर्थात् इस लोक तथा परलोकमें सारी प्रवृत्ति केवल सुखके लिये है, और धर्म, अर्थ, कामका इसके अतिरिक्त कोई अन्य फल नही है। परतु शास्त्रकारोका कथन है, कि मनुष्य यह न समझकर कि सच्चा सुख किसमें है — मिथ्या सुखहीको सत्य सुख मान बैठता है, और इस आशासे, कि आज नही तो कल सुख अवश्य मिलेगा — वह अपनी आयुके दिन व्यतित किया करता है। अकस्मात, एक दिन मृत्युके झपेटेमें पडकर वह इस ससारको छोडकर चल बसता है। परतु उसके उदाहरणसे अन्य लोक सावधान होनेके बदले उसीका अनुकरण करते है। इस प्रकार यह भव-चक्र चलता रहा है, और कोई मनुष्य सच्चे और नित्य सुखका विचार नही करता। इस विषयमें पूर्वी और पश्चिमी तत्त्व-ज्ञानियोमें बडाही मतभेद है, कि यह ससार केवल दु खमय है, या सुखप्रधान अथवा दु खप्रधान है। परतु इन पक्षवालोमेंसे सभीको यह बात मान्य है, कि मनुष्यका कल्याण अपने दु खका अत्यत निवारण करके अत्यत सुख-प्राप्ति करनेहीमें है। 'सुख शब्दके बदले प्राय 'हित', 'श्रेय' और कल्याण शब्दोका अधिक उपयोग हुआ करता है। इनका भेद आगे चलकर बतलाया जायगा। यदि यह मान लिया जाय, कि सुख शब्दमेंही सब प्रकारके सुख और कल्याणका समावेश हो जाता है, तो सामान्यत कहा जा सकता है, कि प्रत्येक मनुष्यका प्रयत्न केवल सुखके लिये हुआ करता है। परतु इस सिद्धान्तके आधारपर सुख-दु खका जो लक्षण महाभारतातर्गत पराशरगीता (मभा शा २९५ २७) में दिया गया है, कि "यदिष्ट तत्सुख प्राहु द्वेष्य दु खमिहेष्यते" — जो कुछ हमें इष्ट है वही सुख है, और जिसका हम द्वेष करते है, अर्थात जो हमें नही चाहिये, वही दु ख है — उसे शास्त्रकी दृष्टिमे पूर्ण निर्दोष नही कह

---

* "जो केवल बुद्धिसे ग्राह्य हो और इद्रियोसे परे हो, उसे आत्यतिक सुख कहते हैं।"

सकते। क्योकि इस व्याख्याके 'इष्ट' शब्दका अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थभी हो सकता है, और इस अर्थको माननेसे इष्ट पदार्थकोभी सुख कहना पडेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगनेपर पानी इष्ट होता है, परतु इस बाह्य पदार्थ 'पानी'को 'सुख' नही कहते। यदि ऐसा होगा, तो नदीके पानीमें डूबनेवालेके बारेमें कहना पडेगा, कि वह सुखमें डूबा है। सच बात यह है, कि पानी पीनेसे जो इद्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं। इसमें सदेह नही, कि मनुष्य इस इद्रियतृप्ति या सुखको चाहता है, परतु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नही बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है वह सब सुखही है। इसी लिये नैयायिकोने सुखदु खको वेदना कह कर उसकी व्याख्या इस तरहसे की है, 'अनुकूलवेदनीय सुख' जो वेदना हमारे अनुकूल है, वह सुख है, और 'प्रतिकूलवेदनीय दु ख' जो वेदना हमारे प्रतिकूल है, वह दु ख है। ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूलहीकी और अनुभवगम्य मात्र हैं। इसलिये नैयायियोकी उक्त व्याख्यासे बढकर सुखदु खका अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नही जा सकता। ये वेदनारूप सुख-दु ख केवल मनुष्यके व्यापारोंसेही उत्पन्न नही होते हैं, तो कभी कभी कुछ देवताओंके कोपसेभी बडे बडे रोग और दु ख उत्पन्न हुआ करते है, जिन्हें मनुष्यको अवश्य भोगना पडता है। इसीलिये वेदान्त-ग्रथोमें सामान्यत इन सुख-दु खोके तीन भेद-आधिदैविक, आधि भौतिक और आध्यात्मिक किये गये हैं। देवता-ओकी कृपा या कोपसे जो सुख-दु ख मिलते हैं, उन्हे 'आधिदैविक' कहते हैं। बाह्य-सृष्टिके – पृथ्वी आदि पचमहाभूतात्मक पदार्थोका मनुष्यकी इद्रियोंसे सयोग होनेपर – शीतोष्ण आदिके कारण जो सुखदु ख उत्पन्न हुआ करते हैं, उन्हे 'आधिभौतिक' कहते हैं। और, ऐसे बाह्यसयोगके बिना उत्पन्न होनेवाले अन्य सब सुखदु खोको 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यदि सुख-दु खका यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीरहीके वात-पित्त आदि दोषोंके परिमाणके बिगड जानसे उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि दु खोको – तथा उन्ही दोषोका परिणाम यथोचित रहनेसे अनुभवमें आनेवाले शारीरिक स्वास्थ्यको – आध्यात्मिक सुख-दु ख कहना पडता है। क्योकि, यद्यपि ये सुखदु ख पचमहाभूतात्मक शरीरसे सबध रखते हैं – अर्थात् ये शारीरिक है – तथापि हमेशा यह नही कहा जा सकता, कि ये शरीरसे बाहर रहनेवाले पदार्थोके सयोगसे पैदा हुए है। और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दु खोके, वेदान्तकी दृष्टिसे फिर भी दो भेद – शारीरिक और मानसिक – करने पडते हैं। परतु इस प्रकार सुख-दु खोंके 'शारीरिक' और 'मानसिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख-दु खोको भिन्न माननेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। क्योकि, यह तो स्पष्टही है कि देवताओकी कृपा अथवा क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु खोकोभी आखिर मनुष्य अपनेही शरीर या मनके द्वारा भोगता है। अतएव हमने इस ग्रथमें वेदान्त-ग्रथोकी परिभाषाके अनुसार सुख-दु खोका त्रिविध वर्गीकरण नही किया है। किंतु उनके दोही वर्ग (बाह्य या शारीरिक और आभ्यन्तर या मानसिक) किये हैं, और इसी

वर्गीकरणके अनुसार, हमने इस ग्रथमें सब प्रकारके शारीरिक सुख-दु खोको 'आधिभौतिक' और सब प्रकारके मानसिक सुख-दु खोको 'आध्यात्मिक' कहा है। वेदान्तग्रथमें जैसे तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' दिया गया है, वैसे हमने नही किया है। क्योकि, हमारे मतानुसार सुख-दु खोका शास्त्रीय रीतिसे विवेचन करनेके लिये यह द्विविध वर्गीकरणही अधिक सुभीतेका है। सुखदु खका जो विवेचन आगे किया गया है, उसे पढते समय यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये, कि वेदान्त-ग्रथोंके और हमारे वर्गीकरणमें भेद है।

सुख-दु खोको चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध, इसमें सदेह नही, कि दु खकी चाह किसीभी मनुष्यको नही होती। इसीलिये वेदान्त और साख्यशास्त्र (सा का १, गीता ६ २१, २२) में कहा गया है, कि सब प्रकारके दु खोकी अत्यत निवृत्ति करना और आत्यतिक तथा नित्य सुखकी प्राप्ति करनाही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। जब यह बात निश्चित हो चुकी, कि मनुष्यका परम साध्य या उद्देश्य आत्यतिक सुखही है, तब ये प्रश्न मनमें सहजही उत्पन्न होते है, कि अत्यत सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये ? उसकी प्राप्ति होना सभव है या नही ? यदि सभव है तो कब और कैसे ? इत्यादि। और जब हम इन प्रश्नोपर विचार करने लगते है, तब सबसे पहले यही प्रश्न उठता है, कि नैयायिकोके बतलाये हुए लक्षणके अनुसार सुख और दु ख दोनो भिन्न भिन्न स्वतत्र वेदनाएँ, "अनुभव या वस्तुएँ है" अथवा "जो उजेला नही वह अँधेरा" इस न्यायके अनुसार इन दोनो वेदनाओं-मेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरी सज्ञाका उपयोग किया जाता है। भर्तृहरिने कहा है, कि "प्याससे जब मुँह सूख जाता है, तब हम उस दु खका निवारण करनेके लिये पानी पीते है। भूखसे जब हम व्याकुल हो जाते है, तब मिष्टान्न खाकर उस व्यथाको हटाते है, और काम-वासनाके प्रदीप्त होनेपर उसको स्त्रीसग द्वारा तृप्त करते हैं। इतना कहकर अतमे कहा है कि –

प्रतीकारो व्याधे· सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

"किसी व्याधि अथवा दु खके उत्पन्न होनेपर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया जाता है, उसीको लोक भ्रमवश 'सुख' कहा करते है।" दु खनिवारणके अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह नही समझना चाहिये, कि उक्त सिद्धान्त मनुष्योके सिर्फ उन्ही व्यवहारोंके विषयमें उपयुक्त होता है, जो स्वार्थहीके लिये किये जाते है। पिछले प्रकरणमें आनदगिरिका यह मत बतलायाही गया है, कि जब हम किसीपर कुछ उपकार करते है, तब उसका कारण यही होता है, कि उसके दु खको देखनेसे हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे लिये असह्य हो जाती है, और इस दु सहत्वकी व्यथाको दूर करनेके लियेही हम परोपकार किया करते है। इस पक्षको स्वीकृत करनेपर हमें महाभारतके अनुसार यह मानना पडेगा कि –

तृष्णार्तिप्रभव दु खं दुःखार्तिप्रभव सुखम् ।

"पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीडासे दु ख होता है, और उस दु खकी पीडासे फिर सुख उत्पन्न होता है" (मभा. शा २५ २२, १७४ १९)। सक्षेपमें इस पथका यह कहना है, कि मनुष्यके मनमे पहले एक-आध आशा, वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है, और जब उससे दु ख होने लगे, तब उस दु खका जो निवारण किया जाता है, वही सुख कहलाता है। सुख कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीहै। अधिक क्या कहे उस पथके लोगोने यहभी अनुमान निकाला है, कि मनुष्यकी सब सासारिक प्रवृत्तियां केवल वासनात्मक या तृष्णात्मकही हैं, और जबतक सब सासारिक कर्मोका त्याग नही किया जायगा, तबतक वासना या तृष्णाकी जड उखड नही सकती, और जबतक तृष्णा या वासनाकी जड नष्ट नही हो जाती, तबतक सत्य और नित्य सुखका मिलनाभी सभव नही है। बृहदारण्यक (बृ ४ ४ २२, वे सू ३ ४ १५) में विकल्पसे और जाबाल-सन्यास आदि उपनिषदोमें प्रधानतासे उसीका प्रतिपादन किया गया है, तथा अष्टावक्र-गीता (९ ८, १०. ३–८) एव अवधूत-गीता (३ ४६) में इसीका अनुवाद है। इस पथका अतिम सिद्धान्त यही है, कि जिस किसीको आत्यतिक सुख या मोक्ष प्राप्त करना है, उसे उचित है, कि वह जितना जल्द हो सके उतना जल्द ससारको छोडकर सन्यास ले ले। स्मृति-ग्रथोमें जिसका वर्णन किया गया है, और श्रीशकराचार्यने कलियुगमें जिसकी स्थापना की है, वह श्रौत-स्मार्त सन्यासमार्ग इसी तत्त्वपर चलाया गया है। सच है, यदि सुख कोई स्वतन्न वस्तुही नही है, जो कुछ है, सो दु खही है, और वहभी तृष्णामूलक है, तो इन तृष्णा आदि विकारोकोही पहले समूल नष्ट कर देनेपर फिर स्वार्थ और परार्थकी सारी झझटें आप-ही-आप दूर हो जायगी, और तब मनकी जो मूल साम्यावस्था या शाति है, वही रह जायगी। इसी अभिप्रायसे महाभारतान्तर्गत शातिपर्वकी, पिंगलगीतामें, और मकिगीतामें भी, कहा गया है, कि –

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत षोडशीं कलाम् ॥

"सासारिक काम अर्थात् वासनाकी तृप्ति होनेसे जो सुख होता है और जो सुख स्वर्गमे मिलता है, उन दोनो सुखोकी योग्यता तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखके सोलहवे हिस्सेके बराबरभी नही है" (मभा शा १७४ ४८, १७७ ४९)। वैदिक सन्यासमार्गकाही आगे चलकर जैन और बौद्ध-धर्ममें अनुकरण किया गया है। इसीलिये इन दोनो धर्मोके ग्रथोमें तृष्णाके दुष्परिणामोका और उसकी त्याज्यताका वर्णन, उपर्युक्त वर्णनहीके समान और कही कही तो उससेभी बढा चढा किया गया है (उदाहरणार्थ, 'धम्मपद'के 'तृष्णा-वर्ग'को देखिये)। तिब्बतके

बौद्ध-धर्मग्रंथोमें तो यहाँतक कहा गया है, कि महाभारतका उक्त श्लोक, बुद्धत्व प्राप्त होनेपर गौतम बुद्धके मुखसे निकला था। *

तृष्णाके जो दुष्परिणाम ऊपर बतलाये गये है, वे श्रीमद्भगवद्गीताकोभी मान्य हैं। परतु गीताका यह सिद्धान्त है, कि उन्हे दूर करनेके लिये कर्मका त्याग नही कर बैठना चाहिये। अतएव यहाँ सुख-दु खकी उक्त उपपत्तिपर कुछ सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है। सन्यासमार्गके लोगोका यह कथन सर्वथा सत्य नही माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णा आदि दु खोके निवारण होनेपरही उत्पन्न होते हैं। एकबार अनुभवकी हुई (देखी हुई, सुनी हुई, इत्यादि) वस्तुकी जब फिर चाह होती है तब उसे काम, वासना या इच्छा कहते है। जब इच्छित वस्तु जल्द नही मिलती, तब दु ख होता है, जिससे वह इच्छा तीव्र होने लगती है, अथवा जब इच्छित वस्तुके मिलनेपरभी पूरा सुख नही मिलता, और उसकी चाह अधिकाधिक बढने लगती है, तब उसी इच्छाको तृष्णा कहते हैं, परतु इस प्रकार केवल इच्छाके तृष्णा-स्वरूपमें बदल जानेके पहलेही, यदि वह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो उससे प्राप्त होने-वाले सुखके बारेमें हम यह नही कह सकेगे, कि वह तृष्णा-दु खके क्षय होनेसे उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन नियत समयपर भोजन मिलता है, उसके बारेमें अनुभव यह नही हैं, कि भोजन करनेके पहले हमे दु खही होता हो। यदि नियत समयपर भोजन न मिले तो हमारा जी भूखसे व्याकुल हो जाया करता है - अन्यथा नही। अच्छा, यदि हम मान ले, कि तृष्णा और इच्छा एकही अर्थके द्योतक हैं, तोभी यह सिद्धान्त सच नही माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णामूलकही हैं। उदा-हरणके लिये, एक छोटे बच्चेके मुँहमें अचानक यदि, एक मिश्रीकी डली डाल दो तो यह कहा नही जा सकेगा, कि उस बच्चेको मिश्री खानेसे जो सुख हुआ वह पूर्व-तृष्णाके क्षयसे हुआ है। इसी तरह मान लो, कि राह चलते चलते हम किसी रमणीय बागमें जा पहुँचे, और वहाँ कोयलका मधुर गान एकाएक सुन पडा, अथवा किसी मदिरमे भगवानकी मनोहर छवि दीख पडी, तब ऐसी अवस्थामें यह नही कहा जा सकता, कि उस गानके सुननेसे, या उस छविके दर्शनसे होनेवाले सुखकी हम पहलेहीसे इच्छा किये बैठे थे। सच बात तो यही है, कि सुखकी इच्छा किये बिनाही उस समय हमें सुख मिला। इन उदाहरणोपर ध्यान देनेसे यह अवश्यही मानना पडेगा, कि सन्यास-मार्गवालोकी सुखकी उक्त व्याख्या ठीक नही है, और यहभी मानना पडेगा, कि इद्रियोमे भलीबुरी वस्तुओका उपभोग करनेकी स्वाभाविक शक्ति होनेके कारण जब वे अपना व्यापार करती रहती हैं, और जब

---

* Rockhill s *Life of Buddha* p 33 यह श्लोक 'उदान'नामक पाली ग्रंथ (२ २) में है। परतु उसमे ऐसा वर्णन नही है कि यह श्लोक बुद्धके मुखसे, उसे 'बुद्धत्व' प्राप्त होनेके समय निकला था। इससे यह साफ मालूम हो जाता है, कि यह श्लोक पहले पहल बुद्धके मुखसे न निकला हो।

कभी उन्हे अनुकूल या प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति हो जाती है, तव पहले तृष्णा या इच्छाके न रहनेपरभी हमें सुख-दु खका अनुभव हुआ करता है। इसी वातकी ध्यान रखकर गीता (२ १४) में कहा गया है, कि 'मात्रास्पर्शोसे शीत-उष्ण आदिका अनुभव करनेपर सुख-दु ख उत्पन्न हुआ करता है। सृष्टिके वाह्य पदार्थोको 'मात्रा' कहते है। गीताके उक्त पदोका अर्थ यह है, कि जव उन वाह्य पदार्थोका इद्रियोंसे स्पर्श अर्थात् सयोग होता है, तव सुख या दु खकी वेदना उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्रकाभी सिद्धान्त है। कानको कर्कश आवाजे अप्रिय क्यो मालूम होती है? जिह्वाको मधुर रस प्रिय क्यो लगता है? आँखोको पूर्ण चद्रका प्रकाश आल्हादकारक क्यो प्रतीत होता है? इत्यादि वातोका कारण कोईभी नही वतला सकता। हम लोग केवल इतनाही जानते हैं, कि जीभको मधुर रस मिलनेसे वह सतुष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है, कि आधिभौतिक सुखका स्वरूप केवल इद्रियोंके अधीन है, और इसलिये कभी कभी इन इद्रियोंके व्यापारोको जारी रखनेमेंही सुख मालूम होता है – चाहे इसका परिणाम भविष्यमें कुछभी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी ऐसा होता है, कि मनमें कुछ विचार आनेसे उस विचारके सूचक शब्द आप-ही-आप मुँहसे वाहर निकल पडते हैं। ये शब्द कुछ इस इरादेसे वाहर नही निकाले जाते, कि इनको कोई जान ले, वल्कि कभी कभी तो इन स्वाभाविक व्यापारोंसे हमारे मनकी गुप्त वातमी प्रकट हो जाया करती है, जिससे हमको, उल्टे नुकसान हो सकता है। छोटे वच्चे जव चलना सीखते है, तव वे दिनभर यहाँ वहाँयोही चलते फिरते हैं। इसका कारण यह है, कि उन्हें चलते रहनेकी क्रियामेंही उस समय आनद मालूम होता है। इसलिये सव सुखोको दु खाभावरूपही न कहकर यही कहा गया है, कि "इद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" (गीता ३ ३४) अर्थात् इद्रियोमें और उनके शव्दस्पर्श आदि विपयोमें जो राग (प्रेम) और द्वेष हैं, वे दोनो पहलेहीसे 'व्यवस्थित' अर्थात् स्वतत्र-सिद्ध हैं। और अव हमें यही जानना है, कि इद्रियोंके ये व्यापार आत्माके लिये कल्याणदायक कैसे होंगे या करलिये जा सकेंगे। इसके लिये श्रीकृष्ण भगवान्का यही उपदेश है, इद्रियो और मनकी वृत्तियोका नाश करनेका प्रयत्न करनेके वदले उनको अपने आत्माके लिये लाभदायक वनानेके अर्थ अपने अधीन रखना चाहिये – उन्हे स्वतत्र नही होने देना चाहिये। भगवानके इस उपदेशमें, तृष्णा तथा उसीके साथ सव मनोवृत्तियोकोभी समूल नष्ट करनेके लिये कहनेमें, जमीन-आसमानका अतर है। गीताका यह तात्पर्य नही है, कि ससारके सव कर्तृत्व और पराक्रमका विलकुल नाश कर दिया जाय, वल्कि उसके अठारहवे अध्याय (गीता १८ २६) में तो कहा है, कि कार्य-कर्तामें समवुद्धिके साथ धृति और उत्साहके गुणोका होनाभी आवश्यक है। इस विषयपर विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हमको केवल यही जानना है, कि 'सुख' और 'दु ख' दोनो भिन्न वृत्तियाँ हैं, या उनमेंसे एक दूसरीका अभाव मात्रही है।

इस विषयमें गीताका मत उपर्युक्त विवेचनसे पाठकोके ध्यानमें आही गया होगा। 'क्षेत्र'का अर्थ बतलाते समय 'सुख' और 'दु ख'की अलग अलग गणना की गई है (गीता १३ ६), बल्कि यहभी कहा गया है, 'सुख' सत्त्वगुणका और 'तृष्णा' रजोगुणका लक्षण है (गीता १४. ६, ७), और सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनो अलग हैं। इससेभी भगवद्गीताका यह मत साफ मालूम हो जाता है, कि सुख और दु:ख दोनो एक दूसरेके प्रतियोगी है, और भिन्न भिन्न दो वृत्तियाँ है। अठारहवे अध्यायमें राजस त्यागकी जो न्यूनता दिखलाई है, कि "कोईभी काम यदि दु:खकारक है, तो उसे छोड देनेसे त्यागफल नही मिलता, किंतु ऐसा त्याग राजस कहलाता है" (गीता १८ ८), वहभी इस सिद्धान्तके विरुद्ध है, कि "सब सुख तृष्णा-क्षयमूलकही हैं।"

अब यदि यहमान ले, कि सब सुख तृष्णा-क्षयरूप अथवा दु खाभावरूप नही है, और यहभी मान ले, कि सुख-दु ख दोनो स्वतत्र वस्तुएँ है, तोभी – इन दोनो वेदनाओके परस्पर-विरोधी या प्रतियोगी होनेके कारण – यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, कि जिस मनुष्यको दु खका कुछभी अनुभव नही है, उसे सुखका स्वाद मालूम हो सकता है या नही? कई लोगोका तो यहाँतक कहना है, कि दु खका अनुभव किये विना सुखका स्वादही नही मालूम हो सकता। इसके विपरीत, स्वर्गके देवताओंके नित्यसुखका उदाहरण देकर कुछ पडित प्रतिपादन करते है, कि सुखका स्वाद मालूम होनेके लिये दु खके पूर्वानुभवकी कोई आवश्यकता नही है। जिस तरह किसीभी खट्टे पदार्थको पहले चखे विनाही शहद, गुड, शक्कर, आम, केला इत्यादि पदार्थोका भिन्न भिन्न प्रकारका मीठापन मालूम हो जाया करता है, उसी तरह सुखकेभी अनेक प्रकार होनेके कारण पूर्व-दु खानुभवके विनाही भिन्न भिन्न प्रकारके सुखो (जैसे, रुईदार गद्दीपरसे ऊठकर परोकी गद्दीपर बैठना इत्यादि)का सदैव अनुभव करते रहनाभी सर्वथा सभव है। परतु सासारिक व्यवहारोको देखनेसे मालूम हो जायगा, कि यह वादही निरर्थक है। पुराणोमें देवताओपरभी सकट पडनेके कई उदाहरण है, और पुण्यका अश घटतेही कुछ समयके बाद स्वर्ग-सुखकाभी नाश हो जाया करता है। इसलिये स्वर्गीय सुखका उदाहरण ठीक नही है। और, यदि ठीकभी हो, तो स्वर्गीय सुखका उदाहरण हमारे किस काम का? यदि यह सत्य मान ले, कि "नित्यमेव सुख स्वर्गे" तो इसीके आगे (मभा शा १९० १४) यहभी कहा है, कि "सुख दु खमिहोभयम्" – अर्थात् इस ससारमे सुख और दु ख दोनो मिश्रित है। इसीके अनुसार समर्थ श्रीरामदास स्वामीनेभी कहा है, "हे विचारवान् मनुष्य, इस बातको अच्छी तरह सोचकर देख ले, कि इस ससारमे पूर्ण सुखी कौन है?" इसके सिवा द्रौपदीने सत्यभामाको यह उपदेश दिया है कि –

सुख सुखेनेह न जातु लभ्य दु:खेन साध्वी लभते सुखानि ।

अर्थात् " सुख सुखसे कभी नही मिलता, साध्वी स्त्रीको सुख-प्राप्तिके लिये दु ख या कष्ट सहना पडता है " (मभा वन २३३ ४)। इससे कहना पडेगा, कि यह उपदेश इस ससारके अनुभवके अनुसार सत्य है। देखिये, यदि जामुन किसीके होंठपर धर दिया जाय, तोभी उसको चवानेके लिये पहले मुंह खोलना पडता है, और यदि मुंहमें चला जाय, तो उसे खानेका कष्ट सहनाही पडता है। साराश, यह वात सिद्ध है, कि दु खके वाद सुख पानेवाले मनुष्यके सुखास्वादमें, और हमेशा विपयोपभोगोमेंही निमग्न रहनेवाले मनुष्यके सुखास्वादमें वहुत भारी अतर है। इसका कारण यह है, कि हमेशा सुखका उपभोग करते रहनेसे सुखका अनुभव करनेवाली इद्रियांभी शिथिल-सी होती जाती है। कहाभी है कि –

प्रायेण श्रीमता लोके भोक्तु शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणा च सर्वश. ।।

अर्थात् "श्रीमानोमे सुस्वादु अन्नका सेवन करनेकोभी शक्ति नही रहती, परतु गरीव लोग काष्ठकोभी पचा जाते है" (मभा शा २८ २९)। अतएव जव कि हमको इस ससारकेही व्यवहारोका विचार करना है, तव कहना पडता है, कि इस प्रश्नको अधिक हल करते रहनेमें कोई लाभ नही, कि विना दु ख पाये हमेशा सुखका अनुभव किया जा सकता है या नही। इस ससारमें यही क्रम सदासे सुन पड रहा है, कि " सुखस्यानतरं दु ख दु खस्यानतर सुखम् " (मभा वन २६० ४९, शा २५ २३) अर्थात् सुखके वाद दु ख और दु खके वाद सुख मिलाही करता है। और महाकवि कालिदासनेभी मेघदूत (मे १ १४) में वर्णन किया है –

कस्यैकान्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।

" किसीकीभी स्थिति हमेशा सुखमय या हमेशा दु खमय नही होती। सुख-दु खकी दशा पहियेके समान ऊपर और नीचेकी ओर हमेशा वदलती रहती है।" फिर यह दु ख चाहे हमारे सुखकी मिठासको अधिक वढानेके लिये उत्पन्न हुआ हो या इस प्रकृतिके ससारमें उसका औरभी कुछ उपयोग होता हो, उक्त अनुभव-सिद्ध क्रमके वारेमे मतभेद हो नही सकता। यहां, यह वात कदाचित् असभव न होगी, कि कोई मनुष्य हमेशाही विपय-सुखका उपभोग किया करे और उससे उसका जीभी न ऊवे। परतु इस कर्मभूमि (मृत्युलोक या ससार)में यह वात सर्वथा असभव है, कि दु खका विलकुल नाश हो जाय और हमेशा सुख-ही-सुखका अनुभव मिलता रहे।

यदि यह वात सिद्ध है, कि ससार केवल सुखमय नही है, किंतु वह सुख दु खात्मक है तो अव तीसरा प्रश्न आप-ही-आप मनमें पैदा होता है, कि ससारमें सुख अधिक है या दु ख ? जो पश्चिमी पडित आधिभौतिक सुखकोही परम साध्य

मानते हैं, उनमेंसे बहुतेरोका कहना है, कि यदि ससारमें सुखसे दु खही अधिक होता, तो (सब नही तो) अधिकाश लोग अवश्यही आत्महत्या कर डालते। क्योकि जव उन्हे मालूम हो जाता, कि ससार दु खमय है, तो वे फिर उसमें रहनेकी झझटमें क्यो पडते ? वहुधा देखा जाता है, कि मनुष्य अपनी आयु अर्थात् जीवनसे नही ऊवता, इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है, कि इस ससारमें मनुष्यको दु खकी अपेक्षा सुखही अधिक मिलता है, और इसलिये धर्म-अधर्मका निर्णयभी, सुखकोही सब लोगोका परम साध्य समझ कर, किया जाना चाहिए। अव यदि उपर्युक्त मतकी अच्छी तरह जाँचकी जाय तो मालूम हो जायगा, कि यहाँ आत्महत्याका जो सबध सासारिक सुखके साथ जोड दिया गया है, वह वस्तुत सत्य नही है। हां, यह वात सच है, कि कभी कभी कोई मनुष्य ससारसे त्रस्त होकर आत्महत्या कर डालता है, परतु सब लोग उसकी गणना 'अपवाद'में अर्थात् पागलोमें किया करते है। इससे यही वोध होता है, कि सर्वसाधारण लोगभी 'आत्महत्या करने या न करने'का सवध सासारिक सुखके साथ नही जोडते किंतु उसे (अर्थात् आत्महत्या करने या न करनेको) एक स्वतत्र वात समझते हैं। यदि असभ्य और जगली मनुष्योके उस 'ससार' या जीवनका विचार किया जावे, जो सुधरे हुए और सभ्य मनुष्योकी दृष्टिसे अत्यत कष्टदायक और दु खमय प्रतीत होता है, तोभी वही अनुमान निष्पन्न होगा, जिसका उल्लेख ऊपरके वाक्यमें किया गया है। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ चार्ल्स डार्विनने अपने प्रवास-ग्रथमें कुछ ऐसे जगली लोगोका वर्णन किया है, जिन्हे उसने दक्षिण-अमरिकाके अत्यत दक्षिण प्रातोमें देखा था। उस वर्णनमें लिखा है, कि वे असभ्य लोग – स्त्री, पुरुष सव – कडाकेके जाडेके अपने देशमें वारहो महीने नगे घूमते रहते हैं, इनके अपने पास अनाजका कुछभी सग्रह न करते रहनेसे इन्हें कभी कभी भूखो रहना पडता है, तथापि इनकी सख्या दिनोदिन बढतीही जाती है*। देखिये, ये जगली मनुष्यभी अपनी जान नही देते, परतु क्या इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि उनका ससार या जीवन सुखमय है? कदापि नही। यह वात सच है, कि वे आत्महत्या नही करते, परतु इसके कारणका यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, तो मालूम होगा, कि हर एक मनुष्यको – चाहे वह सभ्य हो या असभ्य – केवल इसी बातमें अत्यत आनद मालूम होता है, कि "मैं पशु नही हूँ मनुष्य हूँ।" और अन्य सव सुखोकी अपेक्षा मनुष्य होनेके सुखको वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, कि यह ससार कितनाभी कष्टमय क्यो न हो, तथापि वह उसकी ओर ध्यान नही देता, और न वह अपने इस मनुष्यत्वके दुर्लभ सुखको खो देनेके लिये कभी तैयार रहता है। मनुष्यकी वात तो दूर रही, पशु-पक्षीभी आत्महत्या नही करते तो क्या इससे कह सकते हैं, कि उनकाभी ससार या जीवन सुखमय है? तात्पर्य यह है, कि "मनुष्य या पशु-पक्षी आत्महत्या नही

* Darwin's *Naturalist's Voyage Round the World* – Chap X

करते " इस वातसे यह भ्रामक अनुमान नही करना चाहिये, कि उनका जीवन सुखमय है। सच्चा अनुमान यही हो मकता है, कि ससार कैसाभी हो, उससे कुछ अपेक्षा न रखते हुये, सिर्फ अचेतन अर्थात् जड अवस्थासे सचेतन यानी सजीव अवस्थामे आनेहीसे अनुपम आनद मिलता है, और उसमेंभी मनुष्यत्वका आनद तो सवसे श्रेष्ठ है। हमारे शास्त्रकारोनेभी कहा है '–

भूताना प्राणिन. श्रेष्ठा प्राणिनां बुद्धिजीविन.।
बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणा' स्मृता ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तार कर्तृषु ब्रह्मवादिन' ॥

अर्थात् "अचेतन पदार्थोंकी अपेक्षा सचेतन प्राणी श्रेष्ठ है। सचेतन प्राणियोमें वुद्धिमान्, वुद्धिमानोमें मनुष्य, मनुष्योमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोमें विद्वान्, विद्वानोंमें कृतवुद्धि (वे मनुष्य जिनकी वुद्धि सुसस्कृत हो), कृतवुद्धियोमें कर्ता (काम करनेवाले), और कर्ताओमें ब्रह्मवादी श्रेष्ठ है।" इस प्रकार शास्त्रो (मनु १ ९६, ९७, मभा उद्यो ५. १ और २) में क्रमश वढती हुई श्रेणियोका जो वर्णन है, उमकाभी रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। और उसी न्यायसे प्राकृत भाषा-ग्रंथोमेंभी कहा गया है, कि चौरासी लाख योनियोमें नरदेह श्रेष्ठ है, नरोमें मुमुक्षु श्रेष्ठ है और मुमुक्षुओमें सिद्ध श्रेष्ठ है। ससारमें जो कहावत प्रचलित है, कि "सवको अपनी जान अधिक प्यारी होती है।" उमकाभी कारण वही है, जो ऊपर लिखा गया है। और इसी कारणसे ससारके दु'खमय होनेपरभी जव कोई मनुष्य आत्महत्या करता है, तो उसको लोग पागल कहते है, और धर्मशास्त्रके अनुसार वह पापी समझा जाता है (मभा कर्ण ७०. २८)। तथा आत्महत्याका प्रयत्नभी कानूनके अनुसार जुर्म माना जाता है। सक्षेपमें यह सिद्ध हो गया, कि "मनुष्य आत्महत्या नही करता"–इस वातसे ससारके सुख-मय होनेका अनुमान करना उचित नही है। ऐसी अवस्थामें हमको, "यह ससार सुखमय है या दु खमय?" इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये, पूर्वकर्मानुसार नरदेहप्राप्ति-रूप अपने नैसर्गिक भाग्यकी वातको छोडकर, केवल उसके पश्चात् अर्थात् इस ससारहीकी वातोका विचार करना चाहिये। "मनुष्य आत्महत्या नही करता, वल्कि वह जीनेकी इच्छा करता रहता है"–यह तो सिर्फ़ ससारकी प्रवृत्तिका कारण है। आधिभौतिक पडितोंके कथनानुसार ससारके सुखमय होनेका यह कोई सवूत या प्रमाण नही है। यह वात इस प्रकारभी कही जा सकती है, कि आत्महत्या न करनेकी बुद्धि स्वाभाविक है, वह ससारके सुखदु'खोंके तारतम्यसे उत्पन्न नही हुई है, और, इसीलिये इससे यह सिद्ध हो नही सकता कि ससार सुखमय है।

केवल मनुष्यजन्म पानेके सौभाग्यको और (उसके बादके) मनुष्यके सासारिक व्यवहार या 'जीवन'को भ्रमवश एकही नही समझ लेना चाहिये। केवल मनुष्यत्व, और मनुष्यके नित्य व्यवहार अथवा सासारिक जीवन, ये दोनो भिन्न भिन्न बाते है। इस भेदको ध्यानमें रखकर यह निश्चय करना है, कि इस ससारमें श्रेष्ठ नरदेह-धारी प्राणीके लिये सुख अधिक है अथवा दुःख? इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय करनेके लिये केवल यही सोचना एकमात्र साधन या उपाय है, कि प्रत्येक मनुष्यके 'वर्तमान समयकी' वासनाओमेंसे कितनी वासनाएँ सफल हुई और कितनी निष्फल। 'वर्तमान समयकी' कहनेका कारण यह है, कि जो बाते सभ्य या सुधरी हुई दशाके सभी लोगोको प्राप्त हो जाया करती हैं, उनका नित्य व्यवहारमें उपयोग होने लगता है, और उनसे जो सुख हमें मिलता है, उसे हम लोग भूल जाया करते है। एव जिन वस्तुओको पानेकी नई इच्छा उत्पन्न होती है, उनमेंसे जितनी हमें प्राप्त हो सकती है, सिर्फ़ उन्हीके आधारपर हम इस ससारके सुख-दुःखोका निर्णय किया करते है। इस बातकी तुलना करना, कि हमें वर्तमानकालमें कितने सुख-साधन उपलब्ध हैं और सौ वर्ष पहले इनमेंसे कितने सुखसाधन प्राप्त हो गये थे, और इस बातका विचार करना कि आजके दिन मै सुखी हूँ या नही, दोनो बाते अत्यत भिन्न है। इन बातोको समझनेके लिये उदाहरण लीजिये। इसमें सदेह नही, कि सौ वर्ष पहलेकी बैलगाडीकी यात्रासे वर्तमान समयकी रेल-गाडीकी यात्रा अधिक सुखकारक है। परतु अब इस रेल-गाडीसे मिलनेवाले सुखके 'सुखत्व'को हम भूल गये है। और इसका परिणाम यह दीख पडता है, कि किसी दिन रेल-गाडी देरसे आती है, और हमारी डाक हमें समयपर नही मिलती, तो हमें अच्छा नही लगता — कुछ दुःखही-सा होता है। अतएव मनुष्यके वर्तमान समयके सुख-दुःखोका विचार, उन सुख-साधनोंके आधारपर नही किया जाता कि जो उपलब्ध हैं, किंतु यह विचार मनुष्यकी 'वर्तमान' आवश्यकताओंके (इच्छाओ या वासनाओ) आधारपरही किया जाता है। और, जब हम इन आवश्यकताओ, इच्छाओ या वासनाओका विचार करने लगते हैं तब मालूम हो जाता है, कि उनका तो कुछ अतही नही — वे अनत और अमर्यादित है। यदि हमारी एक इच्छा आज सफल हो जाय, तो कल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है; और मनमें यह भाव उत्पन्न होता है, कि यह इच्छाभी सफल हो। ज्यो ज्यो मनुष्यकी इच्छा या वासना सफल होती जाती है, त्यो त्यो उसकी इच्छाकी दौड एक कदम आगेही बढती चली जाती है, और जब कि यह बात अनुभवसिद्ध है, कि इन सब इच्छाओ या वासनाओका सफल होना सभव नही, तब इसमें सदेह नही, कि मनुष्य दुःखी हुए बिना रह नही सकता। यहाँ निम्न दो बातोके भेदपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये (१) सब सुख केवल तृष्णा-क्षयरूपही है, और (२) मनुष्यको कितनाही सुख मिले, तोभी वह असतुष्टही रहता है। यह कहना एक बात है, कि प्रत्येक सुख दुःखाभावरूप नही

है, किंतु सुख और दु ख इद्रियोकी दो स्वतत्र वेदनाएँ है, और यह कहना उससे बिलकुलही भिन्न है, कि प्राप्त किसी एक समय सुखोको भूलकर अधिकाधिक सुख पानेके लिये असतुष्ट बने रहना। इनमेंसे पहली बात सुखके वास्तविक स्वरूपके विषयमें है, और दूसरी बात यह है, कि प्राप्त सुखसे मनुष्यकी पूरी तृप्ति होती है या नही ? विषय-वासना हमेशा अधिकाधिक बढतीही जाती है, इसलिये जब प्रतिदिन नये सुख नही मिल सकते, तब यही मालूम होता है, कि पूर्वप्राप्त सुखोकोही बार-बार भोगते रहना चाहिये – और इसीसे मनकी इच्छाका दमन नही होता। विटेलियस नामक एक रोमन बादशाह था। कहते है, कि बार-बार जिव्हाका सुख पानेके लिये, भोजन करनेपर वह किसी औषधिके द्वारा कै कर डालता था, और प्रतिदिन अनेक बार भोजन किया करता था। परतु, अतमें पछतानेवाले ययाति राजाकी कथा इससेभी अधिक शिक्षादायक है। यह राजा शुक्राचार्यके शापसे, बूढा हो गया था, परतु उन्हीकी कृपासे इसको यह सहुलियतभी मिल गयी थी, कि अपना बुढापा किसीको देकर उसके बदलेमें उसकी जवानी ले ले। तब इसने अपने पुरु नामक बेटेसे उसकी तरुणावस्था माँग ली और सौ दो सौ नही, पूरे एक हजार वर्षतक लगातार सब प्रकारके विषय-सुखोका उपभोग किया। अतमें उसने यही अनुभव किया, कि इस दुनियाके सारे पदार्थ एक मनुष्यकी सुख-वासनाको तृप्त करनेमें असमर्थ है। महाभारतके आदिपर्वमें व्यासजीने कहा है, कि तब उसके मुखसे यही उद्गार निकाल पडा कि –

न जातु काम कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

अर्थात् "सुखोंके उपभोगसे विषय-वासनाकी तृप्ति तो होतीही नही, किंतु विषय-वासना दिनोदिन उसी प्रकार बढती जाती है, जैसे अग्निकी ज्वाला हवनपदार्थोसे बढती जाती है" (मभा आ ७५ ४९)। यही श्लोक मनुस्मृतिमेंभी पाया जाता है (मनु २ ९४)। तात्पर्य यह है, कि चाहे जितने सुखके साधन उपलब्ध हो, तोभी इद्रियोकी इच्छा उत्तरोत्तर बढतीही जाती है। इसलिये केवल सुखोपभोगसे सुखकी इच्छा कभी तृप्त नही हो सकती, उसको रोकने या दबानेके लिये कुछ अन्य उपाय अवश्यही करना पडता है। यह तत्त्व हमारे सभी धर्मशास्त्र-ग्रथ-कारोको पूर्णतया मान्य है, और इसलिये उनका प्रथम उपदेश यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपने कामोपभोगकी मर्यादा बाध लेनी चाहिये। जो लोग कहा करते है, कि इस ससारमें परम साध्य केवल विषयोपभोगही है, वे यदि उक्त अनुभूत सिद्धान्तपर थोडाभी ध्यान दें, तो उन्हें अपने मतकी निस्सारता तुरतही मालूम हो जायगी। वैदिक धर्मका यह सिद्धान्त बौद्धधर्ममेभी पाया जाता है, और ययाति राजाके सदृश, मान्धाता नामक पौराणिक राजानेभी मरते समय कहा है –

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति ।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ।।

"कार्पापण नामक महामूल्यवान् सिक्के की यदि वर्षा होने लगे, तोभी कामवासना की तित्ति अर्थात् तृप्ति नही होती, और स्वर्गका सुख मिलनेपरभी कामी पुरुषकी कामेच्छा पूरी नही होती।" यह वर्णन धम्मपद (१८६, १८७) नामक बौद्ध-ग्रथमें है। इससे कहा जा सकता है कि विपयोपभोगरूपी सुखकी पूर्ति कभी हो नही सकती, और इसीलिये हरएक मनुष्यको हमेशा ऐसा मालूम होता है, कि "मै दु खी हूँ।" मनुष्योकी इस स्थितिको विचारनेसे वही सिद्धान्त स्थिर करना पडता है, जो महाभारत (म भा शा २०५ ६, ३३० १६) में कहा गया है –

सुखाद्वहुतर दु ख जीविते नास्ति सशय ।

अर्थात् "इस जीवनमें यानी ससारमे सुखकी अपेक्षा दु खही अधिक है।" यही सिद्धान्त साधु तुकारामने इस प्रकार दिया है –"सुख देखो तो राईवरावर और दु ख पर्वतके समान है।" उपनिषत्कारोकाभी सिद्धान्त ऐसाही है (मैव्यु १ २–४)। गीता (गीता ८ १५ और ९ ३३) मेंभी कहा गया है, कि मनुष्यका जन्म अशाश्वत और 'दु खोका घर' है, तथा यह ससार अनित्य और 'सुखरहित' है। जर्मन पडित शोपेनहरका ऐसाही मत है, जिसे सिद्ध करनेके लिये उसने एक विचित्र दृष्टान्त दिया है। वह कहता है, कि मनुष्यकी समस्त सुखेच्छाओमेंसे जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती है, उसी परिमाणसे हम उसे सुखी समझते है, और जब सुखेच्छाओकी अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है, तब कहा जाता है, कि वह मनुष्य उस परिमाणसे दु'खी है। इस परिमाणको गणित-रीतिसे समझाना हो तो सुखोपभोगको सुखेच्छासे भाग देना चाहिये और अपूर्णांकके रूपमे सुखेच्छा ऐसा लिखना चाहिये। परतु यह अपूर्णांक हैभी विलक्षण, क्योकि इसका हर (अर्थात् सुखेच्छा), अश (अर्थात् सुखोपभोग)की अपेक्षा, हमेशा अधिकाधिक वढताही रहता है। यदि यह अपूर्णांक पहले $\frac{1}{2}$ हो, और यदि आगे – उसका अश १ से ३ हो जाय, तो उसका हर २ से १० हो जायगा – अर्थात् वही अपूर्णांक $\frac{3}{10}$ हो जाता है। तात्पर्य यह है, यदि अश तिगुना वढता है, तो हर पंचगुना वढ जाता है, जिसका फल यह होता है, कि वह अपूर्णांक पूर्णताकी ओर न जा कर अधिकाधिक अपूर्णताकी ओर चला जाता है। इसका मतलव यही है, कि कोई मनुष्य कितनाही सुखोपभोग करे, उसकी सुखेच्छा दिनोदिन वढती ही जाती है, जिससे यह आशा करना व्यर्थ है, कि मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। प्राचीन कालमें कितना सुख था, इसका विचार करते समय हम लोग इस अपूर्णांकके अशका तो पूर्ण ध्यान रखते है, परतु इस वातको भूल जाते हैं, कि अशकी अपेक्षा हर कितना वढ गया है। किंतु जव हमे सुख-दु खकी मात्राकाही निर्णय करना है, तो हमे किसी 'काल'का विचार न

करके सिर्फ यही देखना चाहिये, कि उक्त अपूर्णांकके अंश और हरमें कैसा संबंध है। फिर हमें आप-ही-आप मालूम हो जायगा, कि इस अपूर्णांकका पूर्ण होना असंभव है। "न जातु काम कामानाम्" इस मनुवचनका (२ ९४) भी यही अर्थ है। संभव है, कि बहुतेरोंको सुख-दुःख नापनेकी गणितकी यह रीति पसंद न हो, क्योंकि यह उष्णतामापक यंत्रके समान कोई निश्चित साधन नहीं है। परंतु इस युक्तिवादसे प्रकट हो जाता है, कि इस बातको सिद्ध करनेके लियेभी कोई निश्चित साधन नहीं, कि "संसारमें सुखही अधिक है।" यह आपत्ति दोनों पक्षोंके लिये समानही है। इसलिये उक्त प्रतिपादनके साधारण सिद्धान्तमें – अर्थात् उस सिद्धान्तमें जो सुखोपभोगकी अपेक्षा सुखेच्छाकी अमर्यादित वृद्धिसे निष्पन्न होता है – यह आपत्ति कुछ बाधा नहीं डाल सकती। धर्म-ग्रंथोंमें तथा संसारके इतिहासमें सिद्धान्तके पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं। किसी जमानेमें स्पेन देशमें मुसलमानोंका राज्य था। वहाँ तीसरा अब्दुल रहमान* नामक एक बहुतही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है। उसने यह देखनेके लिये – कि मेरेदिन कैसे कटते हैं – एक रोजनामचा बनाया था, जिसे देखके अंतमें उसे यह ज्ञात हुआ, कि पचास वर्षके शासन-कालमें उसके केवल चौदह दिन सुखपूर्वक बीते। किसीने हिसाब करके बतलाया है, कि संसारभरके – विशेषतः यूरोपके – प्राचीन और अर्वाचीन सभी तत्त्वज्ञानियोंके मतोंको देखो, तो यही मालूम होगा, कि उनमेंसे प्रायः आधे लोग संसारको दुःखमय कहते हैं, और प्रायः आधे उसे सुखमय कहते हैं। अर्थात् संसारको सुखमय तथा दुःखमय कहनेवालोंकी संख्या प्रायः बराबर है।† यदि इस तुल्य संख्यामें हिंदु तत्त्वज्ञोंके मतोंको जोड दें, तो कहना नहीं होगा, कि संसारको दुःखमय माननेवालोंकी संख्याही अधिक हो जायगी।

संसारके सुख-दुःखोंके उक्त विवेचनको सुनकर कोई संन्यासमार्गीय पुरुष कह सकता है, कि यद्यपि तुम इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि "सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है, फलतः सब तृष्णात्मक कर्मोंको छोड बिना शांति नहीं मिल सकती।" तथापि तुम्हारेही कथनानुसार यह बात सिद्ध है, कि तृष्णासे असंतोष और असंतोषसे दुःख उत्पन्न होता है। तब ऐसी व्यवस्थामें यह कह देनेमें क्या हर्ज है, कि इस असंतोषको दूर करनेके लिये मनुष्यको अपनी तृष्णाओंका और उन्हींके साथ सब सांसारिक कर्मोंकाभी त्याग करके सदा संतुष्टही रहना चाहिये – फिर तुम्हें इस बातका विचार नहीं करना चाहिये, कि उन कर्मोंको तुम परोपकारके लिये करना चाहते हो या स्वार्थके लिये। महाभारत (सभा वन २१५ २२) में कहा है, कि "असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्" अर्थात् असंतोषका अंत

---

* *Moors in Spain*, p 128 (Story of the Nations Series)

† Macmillan's *Promotion of Happiness*, p 26

नही है और सतोपही परम सुख है। जैन और बौद्ध धर्मोंकी नीवभी इसी तत्त्वपर डाली गयी है, तथा पश्चिमी देशोमें शोपेनहर* ने अर्वाचीन कालमें इसी मतका प्रतिपादन किया है, परतु इसके विरुद्ध यह प्रश्न भी किया जा सकता है, कि जिव्हासे कभी कभी गालियाँ वगैरह अपशब्दोका उच्चारण करना पडता है, तो क्या जीभहीको समूल काटकर फेंक देना चाहिये? या अग्निसे कभी कभी मकान जल जाते हैं, तो क्या लोगोंने अग्निका सर्वथा त्यागही कर दिया है? और उन्होंने भोजन वनानाही छोड दिया है? अग्निकी वात कौन कहे, जब हम विद्युत्-शक्तिकोभी मर्यादामें रखकर उसको नित्यव्यवहारके उपयोगमें लाते है, तो उसी तरह तृष्णा और असतोषकीभी सुव्यवस्थित मर्यादा वाँधना कुछ असभव नही है। हाँ, यदि असतोष सर्वांशमें और सभी समय हानिकारक होता, तो वात दूसरी थी, परतु विचार करनेसे मालूम होगा कि सचमुच वात ऐसी नही है। असतोप यह अर्थ विलकुल नही, कि किसी चीजको पानेके लिये रात-दिन हाय हाय करते रहे, रोते रहे; (या न मिलनेपर सिर्फ शिकायतही किया करें)। ऐसे असतोषको शास्त्रकारोंनेभी निद्य माना है। परतु उस इच्छाका मूलभूत असतोष कभी निंदनीय नही कहा जा सकता, जो यह कहे, कि तुम अपनी वर्तमान स्थितिमेंही पडे पडे सडते मत रहो, किंतु उसमें यथाशक्ति शात और समचित्तसे अधिकाधिक सुधार करते जाओ, तथा शक्तिके अनुसार उसे उत्तम अवस्थामें ले जानेका प्रयत्न करो। जो समाज चार वर्णोमे विभक्त है, उसके ब्राह्मणोंने ज्ञानकी, क्षत्रियोंने ऐश्वर्यकी और वैश्योंने धन-धान्यकी उक्त प्रकारकी इच्छा या वासना छोड दी, तो कहना नही होगा, कि वह समाज शीघ्रही अधोगतिको पहुँच जायगा। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर व्यासजीने (सभा शा २३ ९) युधिष्ठिरसे कहा है, कि "यज्ञो विद्या समुत्थानमसतोष श्रिय प्रति" – अर्थात् यज्ञ, विद्या, उद्योग और ऐश्वर्यके विषयमें असतोष (रखना) ये क्षत्रियके गुण है। उसी तरह विदुलानेभी अपने पुत्रको उपदेश करते समय (मभा उ १३२–३३) कहा है, कि "सतोपो वै श्रिय हन्ति" – अर्थात् सतोपसे ऐश्वयका नाश होता है, और किसी अन्य अवसरपर एक वाक्य (मभा सभा ५५ ११) में यहभी कहा गया है, कि "असतोष श्रियो मूलम्" अर्थात् असतोपही ऐश्वर्यका मूल है।† ब्राह्मणधर्ममें सतोष एक गुण वतलाया गया है सही, परतु उसका अर्थ केवल यही है, कि वह चातुर्वर्ण्य-धर्मानुसार द्रव्य

---

* Schopenhauer's *World as Will and Representation*, Vol II, chap 46 ससारके दुःखमयत्वका, शोपेनहरकृत वर्णन अत्यतही सरस है। मूल ग्रथ जर्मन भाषामें है और उसका भाषातर अग्रेजीमेंभी हो चुका है।

† Cf "Unhappiness is the cause of progress" Dr Paul Carus's, *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed)

और ऐहिक ऐश्वर्यके विषयमें सतोष रखे। यदि कोई ब्राह्मण कहने लगे, कि मुझे जितना ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसीसे मुझे सतोष है, तो वह स्वय अपना नाश कर बैठेगा। इसी तरह यदि कोई वैश्य या शूद्र, अपने अपने धर्मके अनुसार जितना मिला है उतना पा करही, सदा सतुष्ट बना रहे तो उसकोभी वही दशा होगी। साराश यह है, कि असतोष सब भावी उत्कर्षका, प्रयत्नका, ऐश्वर्यका और मोक्षका बीज है। हमे इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये, कि यदि हम असतोषका पूर्णतया नाश कर डालेंगे तो, इस लोक और परलोकमेंभी हमारी दुर्गति होगी। श्रीकृष्णका उपदेश सुनते समय जब अर्जुनने कहा, कि " भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम् " (गीता १० १८) अर्थात् आपके अमृततुल्य भाषणको सुनकर मेरी तृप्ति होतीही नही। इसलिये आप फिरसे अपनी विभूतियोका वर्णन कीजिये– तब भगवानने फिरसे अपनी विभूतियोका वर्णन आरभ किया। उन्होंने ऐसा नहीं कहा, कि तू अपनी इच्छाको वशमें रख। असतोष या अतृप्ति अच्छी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है, कि योग्य और कल्याणकारक बातोमें उचित असतोषका होना भगवानकोभी इष्ट है। भर्तृहरिकाभी इसी आशयका एक श्लोक है। यथा " यशसि चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ " अर्थात् रुचि या इच्छा अवश्य होनी चाहिये, परतु वह यशके लियेही हो। और व्यसनभी होना चाहिये, परतु वह विद्याका हो, अन्य बातोका नही। काम-क्रोध आदि विकारोंके समान असतोषकोभी वशसे बाहर नहीं होने देना चाहिये। यदि वह वशमे न रहेगा, तो नि सदेह हमारे सर्वस्वका नाशकर डालेगा। इसी हेतुसे केवल विषयभोगकी प्रीतिके लिये तृष्णा लादकर और एक आशाके बाद दूसरी आशा रखकर सासारिक सुखोके पीछे हमेशा भटकनेवाले पुरुषोकी सपत्तिको गीताके सोलहवे अध्यायमे ' आसुरी सपत्ति ' कहा है। ऐसे रात-दिनके लालचीपनसे मनुष्यके मनकी सात्त्विक वृत्तियोका नाश हो जाता है– उसकी अधोगति होती है, और तृष्णाकी पूरी तृप्ति होना असभव होनेके कारण कामोपभोग-वासना नित्य अधिकाधिक बढती जाती है, तथा वह मनुष्य अतमें उसी दशामें मर जाता है। इसके विपरीत तृष्णा या असतोषके इस दुष्परिणामसे बचनेके लिये सब प्रकारकी तृष्णाओंके साथ सब कार्योको एकदम छोड देनाभी सात्त्विक मार्ग नही है। उपर्युक्त कथनानुसार तृष्णा या असतोष भावी उत्कर्षका बीज है। इसलिये चोरके डरसे साहूकोही मार डालनेका प्रयत्न कभी नही करना चाहिये। युक्तिका मध्यम मार्ग तो यही है, कि हम इस बातका भली भाँति विचार किया करें कि किस तृष्णा या किस असतोषसे हमे दु ख होता है, और जो विशिष्ट आशा, तृष्णा या असतोष दु खकारक हो उसे छोड दें। उसके लिये समस्त कर्मोको छोड देना उचित नही। केवल दु खकारी आशाओकोही छोडने और स्वधर्मानुसार कर्म करनेकी इस युक्ति या कौशल्यकोही योग अथवा कर्मयोग कहते है (गीता २ ५०), और यही गीताका मुख्यत प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये यहाँ

थोडा-सा इस बातका और विचार कर लेना चाहिये, कि गीतामे किस प्रकारकी आशाको दु खकारी कहा है।

मनुष्य कानसे सुनता है, त्वचासे स्पर्श करता है, आँखोसे देखता है, जिव्हासे स्वाद लेता है तथा नाकसे सूंघता है। इद्रियोके ये व्यापार जिस परिमाणसे इद्रियोकी वृत्तियोंके अनुकूल या प्रतिकूल होते है, उसी परिमाणमे मनुष्यको सुख अथवा दु ख हुआ करता है। सुख-दु खके वस्तुस्वरूपके लक्षणका यह वर्णन पहले हो चुका है, परतु सुख-दु खोका विचार केवल इसी परिभाषासे पूरा नही हो जाता। आधिभौतिक सुख-दु खोंके उत्पन्न होनेके लिये बाह्य पदार्थोका सयोग इद्रियोंके साथ होना यद्यपि प्रथमत आवश्यक है, तथापि इसका विचार करनेपर – कि आगे इन सुख-दु खोका अनुभव मनुष्य किस रीतिसे करता है – तो यह मालूम होगा, कि इद्रियोंके स्वाभाविक व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले इन सुख-दु खोको जाननेका (अर्थात् इन्हे अपने लिये स्वीकार या अस्वीकार करनेका) काम हरएक मनुष्यको अपने मनके अनुसारही करना पडता है। महाभारतमें कहा है, कि "चक्षु पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (मभा शा ३११ १७) – अर्थात् देखनेका काम केवल आँखोसेही नही होता, किंतु उसमे मनकीभी सहायता आवश्यक है। और यदि मन व्याकुल हो, तो आँखोसे देखनेपरभी अन-देखा-सा हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ १ ५ ३) मेंभी यह वर्णन पाया जाता है, यथा (अन्यत्रमना अभूव नादर्शम्) "मेरा मन दूसरी ओर लगा था, इसलिये मुझे नही दीख पडा" और (अन्यत्रमना अभूव नाश्रौतम्) "मेरा मन दूसरी ओर था, इसलिये मैं सुन नही सका" – इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि आधिभौतिक सुखदु खोका अनुभव करनेके लिये इद्रियोंके साथ मनकीभी सहायता होनी चाहिये, और आध्यात्मिक सुख-दु ख तो मानसिक ही होते हैं। साराश यह है, कि सब प्रकारके सुख-दु खोका अनुभव अतमे हमारे मनपरही अवलबित रहता है, और यदि यह बात सच है, तो यहभी आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि मनोनिग्रहमे सुख-दु खोंके अनुभवकाभी निग्रह अर्थात् दमन करना कुछ असभव नही है। इसी बातको ध्यान रखते हुए मनुजीने सुख-दु खोका लक्षण नैयायिकोंके लक्षणसे भिन्न प्रकार बतलाया है। उनका कथन है, कि –

सर्वं परवश दु ख सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥

अर्थात् "जो दूसरोकी (बाह्य-वस्तुओकी) अधीनतामें है, वह सब दु ख है, और जो अपने (मनके) अधिकारमें है, वह सुख है। यही सुख-दु खका सक्षिप्त लक्षण है" (मनु ४ १६०) नैयायिकोके बतलाये हुए लक्षणको 'वेदना' शब्दमें शारीरिक और मानसिक, दोनो वेदनाओका समावेश होता है, और उससे सुख-दु खका

वाह्य वस्तुस्वरूपभी मालूम हो जाता है, और मनुका विशेष ध्यान सुख-दुःखोंके केवल आतरिक अनुभवपर है। वस, इस वातको ध्यानमें रखनेसे सुख-दुःखोंके उक्त दोनो लक्षणोमें कुछ विरोध नही पडेगा। इस प्रकार जव सुख-दुःखोंके लिये इद्रियोका अवलव अनावश्यक हो गया, तव तो यही कहना चाहिये कि –

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचितयेत्।

"मनसे दुःखोका चिंतन न करनाही दुःखनिवारणकी अचूक औषधि है" (मभा शा २०५ २), और इसी तरह मनको कठोर वनाकर सत्य तथा धर्मके लिये सुखपूर्वक अग्निमें जलकर भस्म हो जानेवालोंके अनेक उदाहरण इतिहासमेंभी मिलते हैं। इसलिये गीताका कथन है, कि हमें जो कुछ करना है, उसे मनोनिग्रहके साथ और उसकी फलाशाको छोड कर तथा सुख-दुःखोमें समभाव रखकर करना चाहिये। ऐसा करनेसे न तो हमें कर्माचरणका त्याग करना पडेगा और न हमें उसके दुःखकी वाधाही होगी। फलाशा-त्यागका यह अर्थ नही है, कि हमें जो फल मिले उसे छोड दें, अथवा ऐसी इच्छा रखें, कि वह फल कभी किसीको न मिले। इसी तरह फलाशामें और कर्म करनेकी केवल इच्छा, आशा, हेतु या फलके लिये किसी वातकी योजना करनेमेंभी वहुत अतर है। केवल हाथपैर हिलानेकी इच्छा होनेमें और अमुक मनुष्यको पकडनेके लिये या किसी मनुष्यको लात मारनेके लिये हाथ-पैर हिलानेकी इच्छामें वहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करनेकीही है, उसमें दूसरा कोई हेतु नही होता, और यदि यह इच्छा छोड दी जाय, तो कर्मका करनाही रुक जायगा। इस इच्छाके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्यको इस वातका ज्ञानभी होना चाहिये, कि हरएक कर्मका कुछ-न-कुछ फल अथवा परिणाम अवश्यही होगा। वल्कि ऐसे ज्ञानके साथ साथ उसे इस वातकी इच्छा अवश्य होनी चाहिये, कि मैं अमुक फलप्राप्तिके लिये अमुक प्रकारकी योजना करकेही अमुक कर्म करना चाहता हूं। नही तो उसके सभी कार्य पागलोंके-से निरर्थक सिद्ध होंगे। ये सव इच्छाएं, हेतु, योजनाएँ, परिणाममें दुःखकारक नही होती, और, गीताका यह कथनभी नहीं है, कि कोई उनको छोड दें। परतु स्मरण रहे, कि उस स्थितिसे वहुत आगे वढ कर जव मनुष्यके मनमें यह भाव होता है, कि "मैं जो कर्म करता हूं, मेरे उस कर्मका अमुक फल मुझे अवश्यही मिलना चाहिये।" अर्थात् जव कर्मफलके विषयमें, कर्ताकी वुद्धिमें ममत्वकी यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसीसे ग्रस्त हो जाता है और जव इच्छानुसार फल मिलनेमें वाधा होने लगती है, तभी दुःख-परपराका प्रारभ हुआ करता है। यदि यह वाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है, परतु वह कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध या द्वेषभी उत्पन्न हो जाता है, जिससे कुकर्म होनेपर मर मिटना पडता है। कर्मके परिणामके विषयमें जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति

होती है, उसीको 'फलाशा', 'सग', 'अहकार-वुद्धि' औ.र 'काम' कहते है, और यह वतलानेके लिये, कि ससारकी दु खपरपरा यहीने शुरू होती है, गीताके दूसरे अध्यायमें कहा गया है, कि विषय-सगसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह और अतमे मनुष्यका नाशभी होता है (गीता २ ६२, ६३) । अव यह वात सिद्ध हो गई, कि जड सृष्टिके अचेतन कर्म स्वय दु खके मूल कारण नही है, किंतु मनुष्य उनमे जो फलाशा, सग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थमे दु खका मूल है । ऐसे दु खोंसे वचे रहनेका सहज उपाय यही है, कि सिर्फ विषयकी फलाशा, सग, काम या आसक्तिको मनोनिग्रहद्वारा छोड देना चाहिये । सन्यासमार्गियोके कथनानुसार सव विषयो और कर्मोंहीको, अथवा सव प्रकारकी इच्छाओहीको, छोड देनेकी कोई आवश्यकता नही है । इसी लिये गीता (गीता २ ६४) में कहा है, कि जो मनुष्य फलाशाको छोडकर यथाप्राप्त विषयोका निष्काम और निस्सग-वुद्धिसे सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है । ससारके कर्मव्यवहार कभी रुक नही सकते । मनुष्य चाहे इस ससारमें रहे या न रहे, परतु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करतीही रहेगी । जड प्रकृतिको न तो इसमे कुछ सुख है, और न दु ख । मनुष्य व्यर्थही अपने आपको महत्त्व देकरही प्रकृतिके व्यवहारोमें आसक्त हो जाता है, इसीलिये वह सुख-दु खका भागी हुआ करता है । यदि वह इस आसक्त-वुद्धिको छोड दे और अपने सव व्यवहार इस भावनासे करने लगे, कि " गुणा गुणेषु वर्तन्ते " (गीता ३ २८) – प्रकृतिके गुणधर्मानुसारही सव व्यापार हो रहे है – तो असतोषजन्य कोईभी दु ख उसको होही नही सकता । इसलिये यह समझकर कि प्रकृति तो अपना व्यापार करतीही रहती है, उसके लिये ससारको दु खप्रधान मानकर रोते नही रहना चाहिये, और न उसको त्यागनेहीका प्रयत्न करना चाहिये । महाभारत (मभा शा २५ २६) में व्यासजीने युधिष्ठिरको यह उपदेश दिया है, कि –

> सुख वा यदि वा दु'ख प्रिय वा यदि वाऽप्रियम् ।
> प्राप्त प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजित. ।।

" चाहे सुख हो या दु ख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जिस समय जैसे प्राप्त हो वह उस समय वैसेही, मनको निराश न करते हुए (अर्थात् नाराज वनकर अपने कर्तव्यको न छोडते हुए) सेवन करते रहो ! " इस उपदेशका महत्त्व पूर्णतया तभी ज्ञात हो सकता है, जव कि हम इस वातको ध्यानमें रखें, कि ससारमें अनेक कर्तव्य ऐसे है, जिन्हे दु ख सह करभी करना पडता है । भगवद्गीतामेंभी स्थितप्रज्ञका यह लक्षण वतलाया है, कि " य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् " (गीता

२ ५७) – अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो कुछ आ पड़े, उसके बारेमें जो सदा निष्काम या निस्संग रहता है, और जो उसका अभिनंदन या द्वेष कुछभी नहीं करता, वही स्थितप्रज्ञ है। फिर पाँचवे अध्याय (गीता ५ २०)में कहा है, कि "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्" – सुख पा कर फूल न जाना चाहिये। और दुःखमें कातरभी न होना चाहिये। एवं दूसरे अध्याय (गीता २ १४, १५)में इन सुख-दुःखोंको निष्काम-बुद्धिसे भोगनेका उपदेश किया है। भगवान् श्रीकृष्णने उसी उपदेशको बार बार दुहराया है (गीता ५ ९, १३ ९)। वेदान्तशास्त्रकी परिभाषामें उसीको "सब कर्मोंको ब्रह्मार्पण करना" कहते हैं। और भक्तिमार्गमें 'ब्रह्मार्पण'के बदले 'श्रीकृष्णार्पण' शब्दकी योजना की जाती है। बस यही, गीतार्थ का सारांश है।

कर्म चाहे किसीभी प्रकारका हो, परंतु कर्म करनेकी इच्छा और अपने उद्योगको बिना छोड़े तथा फल-प्राप्तिकी आसक्ति न रखकर (अर्थात् निस्संग-बुद्धिसे) उसे करते रहना चाहिये, और साथ-ही-साथ हम भविष्यमें परिणाम-स्वरूप मिलनेवाले सुख-दुःखोंकोभी एकही समान भोगनेके लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करनेसे अमर्यादित तृष्णादि और असंतोषजनित दुष्परिणामोंसे तो हम बचेंगेही, परंतु दूसरा लाभ यह होगा, कि तृष्णा या असंतोषके साथ साथ कर्मकोभी त्याग देनेसे जीवनकेही नष्ट हो जानेका जो प्रसंग आ सकता है, वह भी नहीं आ सकेगा, और हमारी मनोवृत्तियाँ शुद्ध होकर प्राणिमात्रके लिये हितप्रद हो जायेंगी। इसमें संदेह नहीं, कि इस तरह फलाशा छोड़नेके लियेभी इंद्रियोंका और मनका वैराग्यसे पूरा दमन करना पड़ता है, परंतु स्मरण रहे, कि इंद्रियोंको वशमें करके स्वार्थके बदले वैराग्यसे तथा निष्काम-बुद्धिसे लोकसंग्रहके लिये उन्हे अपने अपने व्यापार करने देना कुछ और बात है, और संन्यास-मार्गानुसार तृष्णाको मारनेके लिये इंद्रियोंके सभी व्यापारोंको अर्थात् कर्मोंको आग्रहपूर्वक समूल नष्ट कर डालना बिलकुलही भिन्न बात है। इन दोनोंमें जमीन-आसमानका अंतर है। गीतामें जिस वैराग्यका और जिस इंद्रिय-निग्रहका उपदेश किया गया है, वह पहले प्रकारका है, दूसरे प्रकारका नहीं, और उसी तरह अनुगीता (मभा अश्व ३२ १७-२३) में जनक-ब्राह्मण-संवादमें राजा जनक ब्राह्मणरूपधारी धर्मसे कहते हैं कि –

शृणु बुद्धिं च या ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम।
नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि॥

. . . . .

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा॥

अर्थात् " जिस (वैराग्य) बुद्धिको मनमें धारण करके मैं सब विषयोंका सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाकसे मैं 'अपने लिये' वास नही लेता (आँखोंसे मैं 'अपने लिये' नही देखता, इत्यादि), और मनकाभी उपयोग मैं आत्माके लिये अर्थात् अपने लाभके लिये नही करता। अतएव मेरी नाक (आँख इत्यादि) और मन मेरे वशमें हैं, अर्थात् मैंने उन्हे जीत लिया है।" गीताके वचनकाभी (गीता ३ ६, ७) यही तात्पर्य है, कि जो मनुष्य केवल इद्रियोकी वृत्तिओको तो रोक देता है, और मनसे विषयोका चिंतन करता रहता है, वह पूरा ढोंगी है, और जो मनुष्य मनोनिग्रहपूर्वक काम्य-बुद्धिको जीत कर, सब मनोवृत्तियोंको लोकसग्रहके लिये अपना अपना काम करने देता है, वही श्रेष्ठ है। बाह्य जगत् या इद्रियोके व्यापार हमारे उत्पन्न किये हुए नही हैं, वे स्वभावसिद्ध हैं। हम देखते हैं, जब कोई सन्यासी बहुत भूखा होता है तब उसको चाहे वह कितनाही निग्रही हो – भीख माँगनेके लिये कही बाहर जानाही पडता है (गीता ३ ३३); या बहुत देरतक एक जगह बैठे रहनेसे ऊबकर वह उठ खडा हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि निग्रह चाहे जितना हो, परतु इद्रियोके जो स्वभावसिद्ध व्यापार हैं, वे कभी नही छूटते। और यदि यह बात सच है, तो इद्रियोकी वृत्तिओ तथा सब कर्मोको और सब प्रकारकी इच्छाओ या असतोषको नष्ट करनेके दुराग्रहमें न पडना (गीता २ ४७, १८ ५९), एव मनोनिग्रहपूर्वक फलाशा छोड कर सुख-दुःखको एक बराबर समझना (गीता २ १८), तथा निष्काम-बुद्धिसे लोकहितके लिये कर्मोका शास्त्रोक्त रीतिसे करते रहनाही, श्रेष्ठ तथा आदर्श मार्ग है। इसीलिये –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोकमें (गीता २ ४७) श्रीभगवान् अर्जुनको पहले यह बतलाते है, कि तू इस कर्मभूमिमें पैदा हुआ है, इसलिये " तुझे कर्म करनेकाही अधिकार है ", परतु इस बातकोभी ध्यानमे रख, कि तेरा यह अधिकार केवल (कर्तव्य) कर्म करने-तकही सीमित है। इस 'एव' पदका अर्थ है 'केवल', जिससे यह सहज विदित होता है, कि मनुष्यका अधिकार कर्मके सिवा अन्य बातोमे – अर्थात् कर्मफलके विषयमें नही है। यह महत्त्वपूर्ण बात केवल अनुमानपरही अवलबित नही रख दी है, क्योकि दूसरे चरणमें भगवान्ने स्पष्ट शब्दोमे पुन कह दिया है, कि " तेरा अधिकार कर्मफलके विषयमें कुछभी नही है।" अर्थात् किसी कर्मका फल मिलना – न मिलना तेरे अधिकारकी बात नही है। वह सृष्टिके कर्मविपाकपर या ईश्वरपर अवलबित है। फिर जिस बातमें हमारा अधिकारही नही है उसके विषयमे आशा – करना कि वह अमुक प्रकार हो – केवल मूर्खताका लक्षण है, परतु यह तीसरी बातभी अनुमानपर अवलबित नही है। तीसरे चरणमे कहा गया है, कि " इसलिये तू कर्म-

फलकी लालचसे किसीभी कामको मत कर।" क्योंकि, कर्मविपाकके अनुसार तेरे कर्मोका जो फल प्राप्त होगा वह अवश्य होगाही। तेरी इच्छासे उसमें कुछ न्यूनाधिकता नही हो सकती, और उसके देरीसे या जल्दीसे मिल जानेकी संभावना नही है। परंतु तेरे लालचीपनसे तो तुझे केवल व्यर्थ दुःखही मिलेगा। अब यहां कोई – विशेषतः संन्यासमार्गी पुरुष – प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोडनेके झगडेमें पडनेकी अपेक्षा कर्माचरणकोही छोड देना क्या अच्छा नही होगा? इसलिये भगवान्ने अंतमें अपना निश्चित मतभी बतला दिया है, कि "कर्म न करनेका (अकर्मणि) तू हठ मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार – परंतु फलाशा छोडकर – कर्म करता जा।" कर्मयोगकी दृष्टिसे ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं, कि उक्त श्लोकके चारो चरणोंको यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीता-धर्मके चतुःसूत्रही कहे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

यह मालूम हो गया, कि इस संसारमें सुख-दुःख हमेशा क्रमसे मिला करते हैं, और यहां सुख की अपेक्षा दुःखकी मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्थामेंभी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है, कि सांसारिक कर्मोंको छोड नहीं देना चाहिये, तब कुछ लोगोंकी यह समझ हो सकती है, कि दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति करने और अत्यंत सुख प्राप्त करनेके सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और केवल आधिभौतिक अर्थात् इंद्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखोंकोही देखें, तो यह नही कहा जा सकता, कि उनकी यह समझ ठीक नही है। यह सच है, कि यदि कोई बालक पूर्णचंद्रको पकडनेके लिये हाथ फैला दे, तो जैसे आकाशका चंद्रमा उसके हाथमें कभी नहीं आता, उसी तरह आत्यंतिक सुखकी आशा रखकर केवल आधिभौतिक सुखके पीछे लगे रहनेसे आत्यंतिक सुखकी प्राप्ति कभी नही होगी। परंतु स्मरण रहे, कि आधिभौतिक सुखही समस्त प्रकारके सुखोंका भांडार नही है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाईमेंभी आत्यंतिक और नित्य सुखप्राप्तिका मार्ग ढूंढ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि सुखोंके दो भेद हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक और शरीर अथवा इंद्रियोंके व्यापारोंकी अपेक्षा मनको अंतमें अधिक महत्त्व देना पडता है। ज्ञानी पुरुष जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि शारीरिक (अर्थात् आधिभौतिक) सुखकी अपेक्षा मानसिक सुखकी योग्यता अधिक है, उसे वे कुछ अपने ज्ञानके घमंडसे नही बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिलनेभी अपने उपयुक्ततावादविषयक ग्रंथमें साफ मंजूर किया है,* कि उस सिद्धान्तमेंही श्रेष्ठ मनुष्य-

---

* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opininon, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism*, p. 14 (Longmans 1907)

जन्मकी सच्ची सार्थकता और महत्ता है। कुत्ते, शूकर और बैल इत्यादिकोभी इद्रियसुखका आनद मनुष्योंके समानही होता है, और मनुष्यकी यदि यह समझ होती, कि ससारमें सच्चा सुख विषयोपभोगही है, तो मनुष्य पशु बननेपरभी राजी हो गया होता। परतु पशुओके सब विषय-सुखोंके नित्य मिलनेका अवसर आनेपरभी कोई मनुष्य पशु होनेको राजी नही होता। इससे यही विदित होता है, कि पशुकी अपेक्षा मनुष्यमें कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषताको समझनेके लिये, उस आत्माके स्वरूपका विचार करना पडता है, जिसे मन और बुद्धिद्वारा स्वय अपना और बाह्यसृष्टिका ज्ञान होता है, और, ज्योही यह विचार किया जायगा त्योही स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि पशु और मनुष्यके लिये विषयोपभोगसुख तो एकही-सा है, परतु उसकी अपेक्षा मन और बुद्धिके अत्यत उदात्त व्यापारमें तथा शुद्धावस्थामें जो सुख है, वही मनुष्यका श्रेष्ठ और आत्यतिक सुख है। यह मुख आत्मवश है, इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तुपर अवलबित नही है और इसकी प्राप्तिके लिये दूसरोके सुखको न्यून करनेकीभी कुछ आवश्यकता नही है। यह सुख अपनेही प्रयत्नसे हमीको मिलता है। और ज्यो ज्यो हमारी उन्नति होती जाती है, त्यो त्यो इस सुखका स्वरूपभी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है। भर्तृहरिने सच कहा है, कि "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र" – मनके प्रसन्न होनेपर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी, दोनो समानही है। प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्तानेभी यह प्रतिपादन किया है, कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य या आधिभौतिक) सुखकी अपेक्षा मनका सुख श्रेष्ठ है, और मनके सुखसेभी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यत श्रेष्ठ है।* इसलिये यदि हम अभी मोक्षके विचारको छोड दे, तोभी यही सिद्ध होता है, कि जो बुद्धि आत्म-विचारमें निमग्न हो, उसेही परम सुख मिल सकता है। इसी कारण भगवद्गीतामें सुखके – सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद किये गये है और इनका लक्षणभी बतलाया गया है। यथा – आत्मनिष्ठ बुद्धि (अर्थात् सब भूतोमें एकही आत्माको जानकर, आत्माके उसी सच्चे स्वरूपमे रत होनेवाली बुद्धि) की प्रसन्नतासे जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ और सात्त्विक सुख है – "तत्सुख सात्त्विक प्रोक्त आत्मबुद्धिप्रसादजम्" (गीता १८ ३७), जो आधिभौतिक सुख इद्रियोसे और इद्रियोके विषयोसे होता है वह सात्त्विक सुखसे कम दर्जेका होता है, और राजस कहलाता है (गीता १८ ३८)। और जिस सुखसे चित्तको मोह होता है, तथा जो सुख, निद्रा या आलस्यसे उत्पन्न होता है, उसकी योग्यता तामस अर्थात् अत्यन्त कनिष्ठ श्रेणीकी है। इस प्रकरणके आरभमें गीताका जो श्लोक दिया है, उसका यही तात्पर्य है। और गीता (गीता ६ २२) में यहभी कहा है, कि इस

---

* *Republic Book IX*

परम सुखका अनुभव मनुष्यको यदि एक बारभी हो जाता है, तो फिर कितनेही भारी दुःखके जबरदस्त धक्के क्यों न लगते रहे, उसकी यह सुखमय स्थिति कभी नही डिगने पाती। यह आत्यंतिक सुख स्वर्गकेभी विषयोपभोगसुखमें नहीं मिल सकता और इसे पानेके लिये पहले अपनी बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये। जो मनुष्य बुद्धिको प्रसन्न रखनेकी युक्तिको बिना सोचे-समझे केवल विषयोपभोगमेंही निमग्न हो जाता है, उसका सुख अनित्य और क्षणिक होता है। इसका कारण यह है, कि जो इंद्रियसुख आज है, वह कल नही रहता। इतनाही नही, किंतु जो बात हमारी इंद्रियोंको आज सुखकारक प्रतीत होती है, वही किसी कारणसे दूसरे दिन दुःखमय हो जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म ऋतुमे जो ठंडा पानी हमे अच्छा लगता है, वही शीतकालमें अप्रिय हो जाता है। अस्तु, इतना करनेपरभी उससे सुखेच्छाकी पूर्ण तृप्ति होनेही नही पाती। इसलिये, सुखका व्यापक अर्थ लेकर यदि हम उस शब्दका उपयोग सभी प्रकारके सुखोंके लिये करे, तोभी हमें सुख-सुखमें भेद करनाही पडेगा। नित्य व्यवहारमें सुखका अर्थ मुख्यतः इंद्रियसुखही होता है। परंतु जो इंद्रियातीत है, अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धिकोही ज्ञात हो सकता है, उसमें और विषयोपभोगरूपी सुखमे जब भिन्नता प्रकट करनी हो, तब आत्मबुद्धि-प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले सुखको – अर्थात् आध्यात्मिक सुखको – श्रेय, कल्याण, हित, आनंद अथवा शांति कहते है, और विषयोपभोगसे होनेवाले आधिभौतिक सुखको केवल सुख या प्रेय कहते हैं। पिछले प्रकरणके अंतमें दिये हुए कठोपनिषदके वाक्यमें प्रेय और श्रेयमें नचिकेताने जो भेद बतलाया है उसकाभी अभिप्राय यही है। मृत्युने उसे अग्निका रहस्य पहलेही बतला दिया था। परंतु इस सुखके मिलनेपरभी जब उसने आत्मज्ञान प्राप्तिका वर मांगा, तब मृत्युने उसके बदलेमें उसे अनेक सासारिक सुखोंका लालच दिखलाया। परंतु नचिकेता इन अनित्य, आधिभौतिक सुखोको कल्याणकारक नही समझता था। क्योंकि ये (प्रेय) सुख बाहरी दृष्टिसे अच्छे है, पर आत्माके श्रेयके लिये अच्छे नहीं। इसीलिये उसने उन सुखोकी ओर ध्यान नही दिया। किंतु उस आत्मविद्याकी प्राप्तिके लियेही हठ किया, जिसका परिणाम आत्माके लिये श्रेयस्कर या कल्याणकारक है, और उसे अंतके पाकरही छोडा। साराश यह है, कि आत्मबुद्धि-प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले केवल बुद्धिगम्य सुखको – अर्थात् आध्यात्मिक सुखकोही – हमारे शास्त्रकार श्रेष्ठ सुख मानते हैं। और उनका कथन है, कि यह नित्य सुख आत्मवश है, इसलिये सभीको प्राप्त हो सकता है, तथा सब लोगोको चाहिये, कि वे इसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे। पशु-धर्मसे प्राप्त सुखमें, और मानवी सुखमे जो कुछ विशेषता या विलक्षणता है, वह यही है, और यह आत्मानंद केवल बाह्य उपाधियोपर कभी निर्भर न होनेके कारण सब सुखोमे नित्य, स्वतंत्र और श्रेष्ठ है। इसीको गीतामें निर्वाण, अर्थात् परम शांति कहा है (गीता ६ १५), और यही स्थितप्रज्ञोंकी

ब्राह्मी अवस्थाकी परमावधिका सुख है (गीता २ ७१, ६ २८, १२ १२; १८ ६२)।

अब इस बातका निर्णय हो चुका, कि आत्माकी शाति या सुखही अत्यत श्रेष्ठ है, और वह आत्मवश होनेके कारण सब लोगोको प्राप्यभी है। परतु यह प्रकट है, कि यद्यपि सब धातुओमे सोना अधिक मूल्यवान् है, तथापि केवल सोनेसेही – लोहा इत्यादि अन्य धातुओके विना – जैसे ससारकाम नही चल सकता, अथवा जैसे केवल शक्करसेही – विना नमकके – काम नही चल सकता, उसी तरह आत्म-सुख या शातिकोभी समझना चाहिये। इसमें सदेह नही, कि इस शातिके साथ – शरीर-धारणके लिये सही – कुछ सासारिक वस्तुओकी आवश्यकता होती है, और इसी अभिप्रायसे आशीर्वादके सकल्पमें केवल 'शातिरस्तु' न कह कर "शाति पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु" – अर्थात् शातिके साथ पुष्टि और तुष्टिभी चाहिये – कहनेकी रीति है। यदि शास्त्रकारोकी यह समझ होती, कि केवल शातिसे ही तुष्टि हो सकती है, तो इस सकल्पमें 'पुष्टि' शब्दको व्यर्थ घुसेड देनेकी कोई आवश्यकता नही थी। इसका यह मतलब नही है, कि पुष्टि – अर्थात् ऐहिक सुखोकी वृद्धिके लिये रात-दिन लालच करते रहो। उक्त सकल्पका भावार्थ यही है, कि तुम्हे शाति, पुष्टि और तुष्टि (सतोष), तीनो उचित परिमाणमें मिले, और इनकी प्राप्तिके लिये तुम्हें यत्नभी करना चाहिये। कठोपनिषद्काभी यही तात्पर्य है। नचिकेता जब मृत्युके अर्थात् यमके लोकमें गया तब यमने उससे कहा, कि तुम कोईभी तीन वर माँग लो, और उससे माँगेपर दे दिये, इतनीही कथा इस उपनिषदमें विस्तारसे दी गयी है, पर उस समय नचिकेताने एकदम यह वर नही माँगा, कि मुझे ब्रह्मज्ञानका उपदेश करो। किंतु उसने कहा, कि "मेरे पिता मुझपर क्रुद्ध है, इसलिये प्रथम वर आप मुझे यही दीजिये, कि वे मुझपर प्रसन्न हो जावे।" अनतर उसने दूसरा वर माँगा कि "अग्निके – अर्थात् ऐहिक समृद्धि प्राप्त करा देनेवाले यज्ञ आदि कर्मोंकि – ज्ञानका उपदेश करो।" इन दोनो वरोको प्राप्त करके अतमें उसने तीसरा वर यह माँगा, कि "मुझे आत्मविद्याका उपदेश करो।" परतु जब यमराज कहने लगे, कि इस तीसरे वरके बदलेमें तुझे औरभी अधिक सपत्ति देता हूँ, तब – अर्थात् प्रेय (सुख) की प्राप्तिके लिये आवश्यक यज्ञ आदि कर्मोंका ज्ञान प्राप्त हो जाने-पर उसीकी अधिक आशा न करके – नचिकेताने इस बातका आग्रह किया, कि "अब मुझे श्रेय (आत्यतिक सुख)की प्राप्ति करा देनेवाले ब्रह्मज्ञानकाही उपदेश करो।" साराश यह है, कि इस उपनिषद्के अतिम मत्रमें जो वर्णन है, उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अर्थात् यज्ञ-याग आदि कर्म), दोनोको प्राप्त करके नचिकेता मुक्त हो गया है (कठ ६ १८)। इससे ज्ञान और कर्म इन दोनोका समुच्चयही इस उपनिषद्का तात्पर्य सिद्ध होता है। इसी विषयपर इद्रकीभी एक कथा है। कौषीतकी उपनिषद्में कहा गया है, कि इद्र तो स्वय ब्रह्मज्ञानी थाही,

और उसने प्रतर्दनकोभी ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था। तथापि जब इन्द्रका राज छिन लिया गया और प्रल्हादको त्रैलोक्यका आधिपत्य मिला, तब इन्द्रने देवगुरु बृहस्पतिसे पूछा, कि "मुझे बतलाइये कि श्रेय किसमें है?" तब बृहस्पतिने राज्यभ्रष्ट इन्द्रको ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानका उपदेश करके कहा, कि "श्रेय इसीमें है" – एतावच्छ्रेय इति – परन्तु इससे इन्द्रका समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया, "क्या औरभी कुछ अधिक है?" – को विशेषो भवेत्? – तब बृहस्पतिने उसे शुक्राचार्यके पास भेजा। वहांभी वही हाल हुआ, और शुक्राचार्यने कहा, कि "प्रल्हादको वह विशेषता मालूम है।" तब अंतमें इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रल्हादका शिष्य बनकर सेवा करने लगा। एक दिन प्रल्हादने उससे कहा, कि शील (सत्य तथा धर्मसे चलनेका स्वभाव) ही त्रैलोक्यका राज्य पानेका रहस्य है और यही श्रेय है। अनतर, जब प्रल्हादने कहा, कि "मैं तेरी सेवासे प्रसन्न हूँ, तू चाहे जो वर माँग," तब ब्राह्मणवेषधारी इन्द्रने यही वर माँगा, कि "आप अपना शील मुझे दीजिये।" प्रल्हादके 'तथास्तु' कहतेही उसके 'शील'के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री अथवा ऐश्वर्य आदि सब देवता उसके शरीरसे निकल कर इन्द्र-शरीरमें प्रविष्ट हो गये। फलत इन्द्र अपना राज्य पा गया। यह प्राचीन कथा भीष्मने युधिष्ठिरसे महाभारतके शातिपर्व (मभा शा १२४)में कही है। इस सुदर कथासे हमें यह बात साफ मालूम हो जाती है, कि केवल ऐश्वर्यकी अपेक्षा केवल आत्मज्ञानकी योग्यता भले ही अधिक हो, परन्तु जिसे इस ससारमें रहना है, उसको अन्य लोगोंके समानही अपने लिये तथा अपने देशके लिये, ऐहिक समृद्धि प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता और नैतिक हकभी है। इसलिये जब यह प्रश्न उठे, कि इस ससारमें मनुष्यका सर्वोत्तम ध्येय या परम उद्देश्य क्या है, तो हमारे कर्मयोगशास्त्रमें अतिम उत्तर यही मिलता है, कि शाति और पुष्टि, प्रेय और श्रेय अथवा ज्ञान और ऐश्वर्य दोनोको एक साथ प्राप्त करो। सोचनेकी बात है, कि जिन भगवान्से बढकर ससारमें और कोई श्रेष्ठ नही और जिनके दिखलाये हुए मार्गपर अन्य सभी लोग चलते है (गीता ३ २३), उस भगवानने क्या ऐश्वर्य और सपत्तिको छोड दिया है?

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस श्रिय ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

अर्थात् "समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, सपत्ति, ज्ञान और वैराग्य इन छ बातोको 'भग' कहते है"। भग शब्दकी ऐसी व्याख्या पुराणोमें है (विष्णु ६ ५ ७४)। कुछ लोग इस श्लोकके 'ऐश्वर्य' शब्दका अर्थ 'योगैश्वर्य' किया करते हैं। क्योंकि 'श्री' अर्थात् सपत्तिसूचक शब्द आगे आया है। परतु व्यवहारमें ऐश्वर्य शब्दमें सत्ता, यश और सपत्तिका, तथा ज्ञानमें वैराग्य और धर्मका समावेश हुआ करता है। इससे हम विना किसी बाधाके कह सकते हैं, कि लौकिक दृष्टिसे उक्त श्लोकका

सब अर्थ, ज्ञान और ऐश्वर्य इन्ही दो शब्दोंसे शक्य हो जाता है। और जब कि स्वय भगवाननेही ज्ञान और ऐश्वर्यको अगीकार किया है, तब हमेंभी उस बातको प्रमाण समझकर स्वीकार करना चाहिये (गीता ३ २१, मभा शा ३४१ २५)। कर्मयोगमार्गका सिद्धान्त यह कदापि नही, कि कोरा आत्मज्ञानही इस ससारमें परम साध्य वस्तु है। यह तो सन्यासमार्गका सिद्धान्त है, जो कहता है, कि ससार दु खमय है, इसलिये उसको एकदम छोडही देना चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गोके इन सिद्धान्तोको एकत्र करके गीताके अर्थका अनर्थ करना उचित नही है। स्मरण रहे गीताहीका कथन है, कि ज्ञानके बिना केवल ऐश्वर्य, सिवा आसुरी संपतके और कुछ नही है। इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ऐश्वर्यके साथ ज्ञान, और ज्ञानके साथ ऐश्वर्य, अथवा शातिके साथ पुष्टि, हमेशा होनी चाहिये। ऐसा कहनेपर, कि ज्ञानके साथ ऐश्वर्य होना अत्यावश्यक है, कर्म करनेकी आवश्यकता आप-ही-आप उत्पन्न होती है। क्योकि मनुका कथन है "कर्माण्यारभमाण हि पुरुष श्रीर्निषेवते" (मनु. ९ ३००) – कर्म करनेवाले पुरुषकोही इस जगतमें श्री अथवा ऐश्वर्य मिलता है, और प्रत्यक्ष अनुभवसेभी यही बात सिद्ध होती है, एव गीतामें जो उपदेश अर्जुनको दिया गया है, वहभी ऐसाही है (गीता ३ ८)। इसपर कुछ लोगोका कहना ', कि मोक्षकी दृष्टिमे कर्मकी आवश्यकता न होनेके कारण अतमें – अर्थात् ज्ञानोत्तर अवस्थामें – सब कर्मोको छोड देनाही चाहिये। परतु यहाँ तो केवल सुख-दु खका विचार करना है। और अबतक मोक्ष तथा कर्मके स्वरूपकी परीक्षाभी नही की गई है, इसलिए उक्त आक्षेपका उत्तर यहाँ नही दिया जा सकता। आगे चलकर नौवे तथा दसवे प्रकरणमें अध्यात्म और कर्मविपाकका स्पष्ट विवेचन करके ग्यारहवे प्रकरणमें बतला दिया जायगा, कि यह आक्षेपभी बेसिर-पैरका है।

सुख और दु ख दो भिन्न तथा स्वतत्र वेदनाएँ है। सुखेच्छा केवल सुखोप-भोगसेही तृप्त नही हो सकती। इसलिये ससारमें बहुधा दु खकाही अधिक अनुभव होता है। परतु इस दु खको टालनेके लिये तृष्णा या असतोष और साथ साथ सब कर्मोकाभी समूल नाश करना उचित नही। उचित यही है, कि केवल फलाशा छोड-कर सब कर्मोको करते रहना चाहिये। केवल विषयोपभोग-सुख कभी पूर्ण न होनेवाला, अनित्य और पशुधर्म है। अतएव इस ससारमें बुद्धिमान मनुष्यका सच्चा ध्येय इस अनित्य पशुधर्मसे ऊचे दर्जेका होना चाहिये। आत्मबुद्धि-प्रसादसे प्राप्त होनेवाला शाति-सुखही वह सच्चा ध्येय है, परतु आध्यात्मिक सुखही यद्यपि इस प्रकार ऊचे दर्जेका हो, तथापि उसके साथ इन सासारिक जीवनमें ऐहिक वस्तुओकोभी उचित आवश्यकता है, और इसलिये सदा निष्काम-बुद्धिसे प्रयत्न अर्थात् कर्म करतेही रहना चाहिये। – इतनी सब बाते जब कर्मयोगशास्त्रके अनुसार सिद्ध हो चुकी, तो अब सुखकी दृष्टिसे विचार करनेपरभी यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती, कि आधिभौतिक सुखोकोही परम साध्य मानकर कर्मोके केवल सुख-

दुःखात्मक बाह्यपरिणामोंके तारतम्यसेही नीतिमत्ताका निर्णय करना अनुचित है। कारण यह है, कि जो वस्तु कभी पूर्णावस्थाको पहुँचही नही सकती, उसे परम साध्य मानना मानो 'परम' शब्दका दुरुपयोग करके मृगजलके स्थानमें जलकी खोज करना है। जब हमारा परम साध्यही अनित्य तथा अपूर्ण है, तब उसकी आशामें बैठे रहनेसे हमें अनित्य-वस्तुको छोडकर और मिलेगाही क्या? "धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये" इस वचनका मर्मभी यही है। "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" इस शब्दसमूहके 'सुख' शब्दके अर्थके विषयमें आधिभौतिकवादियोंमेंभी बहुत मतभेद है। उनमेंसे बहुतेरोंका कहना है, कि बहुधा मनुष्य सब विषय-सुखोंको लात मारकर केवल सत्य अथवा धर्मके लिये जान देनेको तैयार हो जाता है। इससे यह मानना अनुचित है, कि मनुष्यकी इच्छा सदैव आधिभौतिक सुख-प्राप्तिकीही रहती है। इसलिये उन पंडितोंने यह सूचना की है, कि सुखके बदलेमें हित अथवा कल्याण शब्दकी योजना करके "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" इस सूत्रका रूपांतर "अधिकांश लोगोंका अधिक हित या कल्याण" कर देना चाहिये, परन्तु इतना करनेपरभी इस मतमें यह दोष बनाही रहता है, कि कर्ताकी बुद्धिका कुछभी विचार नही किया जाता। अच्छा, यदि यह कहें, कि विषय-सुखोंके साथ मानसिक सुखोंकाभी विचार करना चाहिये, तो उससे आधिभौतिक पक्षकी इस पहलीही प्रतिज्ञाका विरोध हो जाता है, कि किसीभी कर्मकी नीतिमत्ताका निर्णय केवल उसके बाह्य-परिणामोंसेही करना चाहिये, और तब अंशतः अध्यात्म-पक्षका स्वीकार करना पडता है, तो उसे अधूरा या अंशतः स्वीकार करनेमें क्या लाभ होगा? इसीलिये हमारे कर्मयोग-शास्त्रमें यह अंतिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि, सर्वभूतहित, अधिकांश लोगोंका अधिक सुख और मनुष्यत्वका परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णयके सब बाह्य साधनोंको अथवा आधिभौतिक मार्गको गौण या अप्रधान समझना चाहिये, और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यंतिक सुख तथा उसीके साथ रहनेवाली कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिकोही आध्यात्मिक कसौटी जान कर उसीसे कर्म-अकर्मकी परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगोंकी बात छोड दो, जिन्होंने यह कसम खा ली हो, कि हम दृश्य सृष्टिके परे तत्त्वज्ञानमें प्रवेशही न करेंगे। जिन लोगोंने ऐसी कसम खाई नही है, उन्हे युक्तिसे यह मालूम हो जायगा, कि मन और बुद्धिकेभी परे जाकर नित्य आत्माके नित्य कल्याणकोही कर्मयोग-शास्त्रमें प्रधान मानना चाहिये। कई लोग भूलसे समझ बैठते है, कि जहाँ एक बार वेदान्तमें घुसे, कि बस, फिर सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है, और वहाँ व्यवहारकी उपपत्तिका कुछ पताही नही चलता। आजकल जितने वेदान्तविषयक ग्रंथ पढे जाते हैं, वे प्रायः सन्यास-मार्गके अनुयायियोंकेही लिखे हुए है, और सन्यासमार्गवाले इस तृष्णारूपी संसारके सब व्यवहारोंको निःसार समझते हैं, इसलिये उनके ग्रंथोंमे कर्मयोगकी ठीक उपपत्ति सचमुच नही मिलती। अधिक क्या कहे, इन परसंप्रदाय-असहिष्णु ग्रंथ-

कारोंने सन्यासमार्गीय कोटिक्रम या युक्तिवादको कर्मयोगमें समिलित करके ऐसाभी प्रयत्न किया है, जिससे लोग समझने लगें, कि कर्मयोग और सन्यास दो स्वतत्र मार्ग नही हैं, किंतु सन्यासही अकेला शास्त्रोक्त मोक्षमार्ग है। परतु यह ठीक नही है। सन्यास-मार्गके समान कर्मयोग-मार्गभी वैदिक धर्ममें अनादि कालसे स्वतत्रता-पूर्वक चला आ रहा है, और इस मार्गके सचालकोंने वेदान्ततत्त्वोको न छोडते हुए कर्मयोग शास्त्रकी ठीक ठीक उपपत्तिभी दिखलाई है। भगवद्गीता ग्रथ इसी पथका है। यदि गीताको छोड दें, तोभी जान पडेगा, कि अध्यात्म-दृष्टिसे कार्य अकार्य-शास्त्रका विवेचन करनेकी पद्धति ग्रीन सरीखे ग्रथकार द्वारा इग्लैडमेंही शुरू कर दी गई है * और जर्मनीमें तो उससेभी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। दृष्य सृष्टिका कितनाही विचार करें, परतु जब तक यह बात ठीक मालूम नही हो जाती, कि इस सृष्टिको देखनेवाला और कर्म करनेवाला कौन है, तबतक तात्त्विक दृष्टिसे इस विषयकाभी विचार पूरा नही हो सकता, कि इस ससारमे मनुष्यका परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अतिम ध्येय क्या है। इसीलिये याज्ञवल्क्यका यह उपदेश कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य ।" प्रस्तुत विषयमेंभी अक्षरश उपयुक्त होता है। दृश्य जगतकी परीक्षा करनेसे यदि परोपकार सरीखे तत्त्वही अतमें निष्पन्न होते हैं, तो उससे आत्मविद्याका महत्त्व कम तो होता नही उलटे उससे सब प्राणियोमें एकही आत्माके होनेका एक और सबूत मिल जाता है। इस बातका तो कुछ उपायही नही है, कि आधिभौतिकवादी अपनीही बनाई हुई मर्यादासे स्वय बाहर नही जा सकते। परतु हमारे शास्त्रकारोकी दृष्टि इस सकुचित मर्यादाके परे पहुँच गई है, और इसलिये उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिसेही कर्मयोगशास्त्रकी पूरी उपपत्ति दी है। इस उपपत्तिकी चर्चा करनेके पहले कर्म-अकर्म-परीक्षाके एक और पूर्वपक्षकाभी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इसलिये अब उस पथका विवेचन किया जायगा।

---

* *Prolegomena to Ethics*, Book I, and Kant's *Metaphysics of Morals* (Trans by Abbot in Kant's *Theory of Ethics*)

छठा प्रकरण

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।*

कर्म-अकर्मकी परीक्षा करनेका – आधिभौतिक मार्गके अतिरिक्त – दुसरा पथ आधिदैवतवादियोंका है। इस पथके लोगोंका यह कथन है, कि जब कोई मनुष्य कर्म-अकर्मका या कार्य-अकार्यका निर्णय करता है, तब वह इस झगडेमें नही पडता, कि किसका किस कर्मसे कितना सुख अथवा दुःख होगा, अथवा उनमेंसे सुखका जोड अधिक होगा या दुःखका। वह आत्म-अनात्म-विचारकी झंझटमेंभी नही पडता, और ये झगडे बहुतेरोंकी तो समझमें नही आते। यहभी नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्मको केवल अपने सुखके लियेही करता है। आधिभौतिकवादी कुछभी उपपत्ति कहे, परंतु यदि इस बातका थोडासा विचार किया जाय, कि धर्म-अधर्मका निर्णय करते समय मनुष्यके मनकी स्थिति कैसी होती है, तो यह ध्यानमें आ जायगा, कि मनकी स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ – करुणा, दया, परोपकार आदि – ही किसी कामको करनेके लिये मनुष्यको एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई भिकारी दीख पडता है, तब मनमें यह विचार आनेके पहलेही – कि उसे "दान करनेसे जगत्का अथवा अपने आत्माका कितना हित होगा" – मनुष्यके हृदयमें करुणावृत्ति जागृत हो जाती है, और वह अपनी शक्तिके अनुसार उस याचकको कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है, तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बातका कुछभी विचार नही करती, कि बालकको पिलानेसे कितने लोगोंका इस बातका कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँही कर्मयोगशास्त्रकी यथार्थ नीव हैं। हमें किसीने ये मनोवृत्तियाँ दी नही है, किंतु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवताही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासनपर बैठता है, तब उसकी बुद्धिमें न्यायदेवताकी प्रेरणा हुआ करती है, और वह उसी प्रेरणाके अनुसार न्याय किया करता है। परंतु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणाका अनादर करता है, तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवताके सदृशही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्यप्रेम, धैर्य आदि सद्गुणोंकी जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ है, वेभी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओंके शुद्ध स्वरूपोंसे परिचित

---

* "वही बोलना चाहिये जो सत्यपूत अर्थात् सत्यसे शुद्ध किया गया है, और वही आचरण करना चाहिये जो मनको शुद्ध मालूम हो।"

रहता है। परतु यदि लोभ, द्वेप, मत्सर आदि कारणोंसे वह इन देवताओकी परवाह न करे, तो उसे देवता क्या करें ? यह बात सच है, कि कई बार इन देवताओमेंभी विरोध उत्पन्न हो जाता है, और तब कोई कार्य करते समय हमें सदेह हो जाता है कि किस देवताकी स्फूर्ति बलवती मानें ? तब इस सदेहका निर्णय करनेके लिये न्याय, करुणा आदि देवताओके अतिरिक्त किसी दूसरेकी सलाह लेना आवश्यक जान पडता है। परतु ऐसे अवसरपर अध्यात्मविचार अथवा सुख-दु खकी न्यूनाधिकताके झगडेमें न पडकर यदि हम अपने मनोदेवताकी गवाही ले, तो वह एकदम इस बातका निर्णय कर देता है, कि इन दोनोमेंसे कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है, कि उक्त सब देवताओमें मनोदेवता श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्दमें इच्छा, क्रोध, लोभ आदि सभी मनोविकारोका शामिल नही करना चाहिये। किंतु इस शब्दसे मनकी वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्तिही अभीष्ट है, कि जिसकी सहायतासे केवल भले-बुरेका निर्णय किया जाता है। इसी शक्तिका एक बडा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि' * है और यदि किसी सदेहग्रस्त अवसरपर मनुष्य स्वस्थ अत करणसे और शातिके साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नही देगी। इतनाही नही तो ऐसे अवसरोपर हम दूसरोसे यही कहा करते हैं, "कि तू अपने मनसे पूछ।" इस बडे देवताके पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है, कि किस सद्‌गुणको किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समयपर इसी सूचीके अनुसार अपना निर्णय झट प्रकट किया करता है। मान लीजिये, किसी समय आत्मरक्षा और अहिंसामें विरोध उत्पन्न हुआ, और यह शका उपस्थित हुई, कि दुर्भिक्षके समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नही ? तब इस सशयको दूर करनेके लिये यदि हम शात चित्तसे इस मनोदेवताकी मिन्नत करें, तो झट उसका यही निर्णय प्रकट होगा, कि "अभक्ष्य भक्षण करो।" इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकारके बीच विरोध उत्पन्न हो जाय, तो उसका निर्णयभी इस मनोदेवताको मनाकर करना चाहिये। मनोदेवताके घरकी – धर्म-अधर्मके न्यूनाधिक भावकी – यह सूची एक ग्रथकारको शातिपूर्वक विचार करनेसे उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रथमें प्रकाशित किया है।† इस सूचीमे नम्रतायुक्त पूज्यभावको पहला अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है, और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता,

---

* इस सदसद्विवेक-बुद्धिको अग्रेजी मे Conscience कहते है और आधिदैवतपक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रथकारका नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol II, p 266 3rd Ed) नामक ग्रथमें दी है। मार्टिनो अपने पथको Idio-psychological कहता है। परतु हम उसे आधिदैवत पक्षहीमें शामिल करते है।

वात्सल्य आदि भावोको क्रमश नीचेकी श्रेणियोमें शामिल किया है। इस ग्रथकारका मत है, कि जब ऊपर और नीचेकी श्रेणियोके सद्गुणोमें विरोध उत्पन्न हो, तब ऊपरकी श्रेणीके देवताकोही अधिक मान देना चाहिये। उसके मतके अनुसार कार्य-अकार्यका अथवा धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये इसकी अपेक्षा और कोई उचित मार्ग नही है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम अत्यत दूरदृष्टिसे यह निश्चित कर ले, कि "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" किसमें है, तथापि सारासार बुद्धिमें यह कहनेकी सत्ता या अधिकार नही है, कि "जिसमें अधिकाश लोगोका हित हो वही तू कर।" इसलिये अतमें इस प्रश्नका निर्णयही नहीं होता, कि "जिसमें अधिकाश लोगोका हित है, वह बात मैं क्यो करूँ?" और सारा झगडा ज्यो-का त्यो बना रहता है। राजासे बिना अधिकार प्राप्त किये ही जब कोई न्याया-धीश न्याय करता है, तब उसके निर्णयकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा उस कार्य-अकार्यके निर्णयकीभी होती है, जो दूरदृष्टिपूर्वक सुखदु खोका विचार करके किया जाता है। केवल दूरदृष्टि यह बात किसीसे नही कह सकती, कि "तू यह कर, तुझे यह करनाही चाहिये।" इसका कारण यही है, कि दूरदृष्टिभी हो तोभी वह मनुष्यकृतही है, और इसी कारणसे वह अपना प्रभाव मनुष्योपर नही जमा सकती। ऐसे समयपर आज्ञा करनेवाला हमसे श्रेष्ठ कोई अधिकारी अवश्य होना चाहिये। और यह काम ईश्वरदत्त सदसद्विवेकदेवताही कर सकता है। क्योकि वह मनुष्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है अतएव मनुष्यपर अपना अधिकार जमानेमें समर्थ है। यह सद-सद्विवेकबुद्धि या 'देवता' स्वयभू है। इसी कारण व्यवहारमें यह कहनेकी रीत है, कि मेरा 'मनोदेवता' अमुक प्रकारकी गवाही नही देता। जब कोई मनुष्य एक-आध बुरा काम कर बैठता है, तब पश्चात्तापसे वह स्वय लज्जित हो जाता है या उसका मन उसे हमेशा टोकता रहता है। यहभी उपर्युक्त देवताके शासनकाही फल है। इस बातसे उक्त स्वतन्त्र मनोदेवताका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कारण कि आधिदैवत पथके मतानुसार यदि उपर्युक्त सिद्धान्त न माना जाय, तो इस प्रश्नकी उपपत्ति नही हो सकती, कि हमारा मन हमें क्यो टोका करता है।

ऊपर दिया हुआ वृत्तान्त पश्चिमी आधिदैवत पथके मतका है। पश्चिमी देशोमें इस पथका प्रचार विशेषत ईसाई धर्मोपदेशकोने किया है। उनके मतके अनुसार धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये केवल आधिभौतिक साधनोकी अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एव ग्राह्य है। यद्यपि हमारे देशमें प्राचीन कालमे कर्मयोगशास्त्रका ऐसा कोई स्वतत्र पथ नही था, तथापि उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रथोमें कई जगह पाया जाता है। महाभारतमें अनेक स्थानोपर मनकी भिन्न भिन्न वृत्तियोको देवताओका स्वरूप दिया गया है। पिछले प्रकरणमें यह बतलायाभी गया है, कि धर्म, सत्य, वृत्त, शील श्री आदि देवताओने प्रल्हादके शरीरको छोड कर इद्रके शरीरमें कैसे प्रवेश किया। कार्य-अकार्यका अथवा

धर्म-अधर्मका निर्णय करनेवाले देवताका नामभी 'धर्म'ही है। ऐसे वर्णन पाये जाते है, कि शिबि राजाके सत्त्वकी परीक्षा करनेके लिये श्येनका रूप धर कर, और युधिष्टिरकी परीक्षा लेनेके लिये यक्षरूपसे तथा दूसरी बार कुत्ता बन कर 'धर्म'देवता प्रकट हुए थे। स्वय भगवद्गीता (गीता १० ३४) मेंभी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमेंसे स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मनके धर्म हैं। मनभी एक देवता है, और परब्रह्मका प्रतीक मान कर उपनिषदोमें उसकी उपासनाभी बतलाई गई है (तै ३ ४, छा ३ १८)। जब मनुजी कहते है, कि "मन पूत समाचरेत्" (६ ४६) – मनको जो पवित्र मालूम हो, वही करना चाहिये – तब यही बोध होता है, कि उन्हे 'मन' शब्दसे मनोदेवताही अभिप्रेत है। साधारण व्यवहारमें हम यही कहा करते हैं, कि जो मनोदेवताको अच्छा मालूम हो, वही करना चाहिये। मनुजीने मनुसहिताके चौथे अध्याय (४ १६१) में यह बात विशेष स्पष्ट कर दी है कि –

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परिषोऽन्तरात्मन. ।
यत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीत तु वर्जयेत् ।।

"वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये, जिसके करनेसे हमारा अतरात्मा सतुष्ट हो और जो कर्म इसके विपरीत हो, उसे छोड देना चाहिये।" इसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-धर्म आदि व्यावहारिक नीतिके मूलतत्त्वोका उल्लेख करते समय मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रथकारभी यही कहते है –

वेद. स्मृति सदाचार. स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

"वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपने आत्माको प्रिय मालूम होना धर्मके ये चार मूलतत्त्व हैं" (मनु २ १२)। "अपने आत्माको जो प्रिय मालूम हो" – इसका अर्थ यही है कि मनको जो शुद्ध मालूम हो। इससे स्पष्ट होता है, कि श्रुति, स्मृति और सदाचारसे यदि किसी कार्यकी धर्मता या अधर्मताका निर्णय नही हो सकता था, तब निर्णय करनेका चौथा साधन 'मन पूतता' समझी जाती थी। पिछले प्रकरणमें कही गई प्रल्हाद और इद्रकी कथा बतला चुकनेपर 'शील'के लक्षणके विषयमें, धृतराष्ट्रने महाभारतमे यह कहा है –

यदन्येषा हित न स्यात् आत्मन कर्म पौरुषम ।
अपत्रपेत वायेन न तत्कुर्यात् कथचन ।।

अर्थात् "हमारे जिस कर्मसे लोगोका हित नही हो सकता अथवा जिसके करनेसे स्वय अपनेहीको लज्जा मालूम होती है, वह कभी नही करना चाहिये (मभा शा १२४ ६६)। इससे पाठकोके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि "लोगोका हित हो नही सकता", "और लज्जा मालूम होती है" इन दो पदोमें 'अधिकाश

लोगोका अधिक हित" और 'मनोदेवता' इन दोनो पक्षोका इस श्लोकमें एक साथ उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति (मनु १२ ३५, ३७) मेंभी कहा गया है, कि जिस कर्म करनेसे या उसे करते हुए लज्जा मालूम होती है वह तामस है और जो कर्म करनेमें लज्जा मालूम नही होती – एव अतरात्मा सतुष्ट होता है – वह सात्त्विक है। धम्मपद नामक बौद्ध-ग्रथ (धम्मपद ६७ और ६८) मेंभी इसी प्रकारके विचार पाये जाते हैं। कालिदासभी यही कहते हैं, कि जब कर्म-अकर्मका निर्णय करनेमें कुछ सदेह हो, तब –

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तय.।

"सत्पुरुष लोग अपने अत करणहीकी गवाहीको प्रमाण मानते हैं" (शाकुतल १ २०)। पातजल योग इसी बातकी शिक्षा देता है, कि चित्तवृत्तियोका निरोध करके मनको किसी एकही विषयपर कैसे स्थिर करना चाहिये, और यह योगशास्त्र हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है। अतएव जब कभी धर्म-अधर्मके विषयमें कुछ सदेह उत्पन्न हो, तब हम लोगोको किसीके यह सिखानेकी आवश्यकता नही थी कि "अतकरणको स्वस्थ और शात करनेपर जो उचित मालूम हो, वही करना चाहिये।" सब स्मृति-ग्रथोंके आरभमें, इस प्रकारके वर्णन मिलते हैं, कि स्मृतिकार ऋषि अपने मनको एकाग्र करकेही धर्म-अधर्म बतलाया करते थे। (मनु १ १)। योही देखनेसे तो, "किसी काममें मनकी गवाही लेना' यह मार्ग अत्यत सुलभ प्रतीत होता है, परंतु जब हम तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि 'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिये, तब यह सरल पक्ष अततक काम नही दे सकता। और यही कारण है, कि हमारे शास्त्रकारोंने कर्मयोगशास्त्रकी इमारत इस कच्ची नीवपर खडी नही की है। अब इस बातका विचार करना चाहिये, कि यह तत्त्वज्ञान कौन-सा है। परतु उसका विवेचन करनेके पहले यहाँपर इस बातका उल्लेख करना आवश्यक है, कि पश्चिमी आधिभौतिकवादियोंने इस आधिदैवत पक्षका किस प्रकार खडन किया है। कारण यह है, कि यद्यपि इस विषयमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक पथोंके कारण भिन्न भिन्न हैं, तथापि उन दोनोका अतिम निर्णय एकही-सा है। अतएव, पहले आधिभौतिक कारणोका उल्लेखकर देनेसे आध्यात्मिक कारणोकी महत्ता और सयुक्तता पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ जायगी।

ऊपर कह आये है, कि आधिदैविक पथमें शुद्ध मनोदेवताकोही अग्रस्थान दिया गया है इससे यह प्रकट होता है, कि "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" वाले आधिभौतिक नीतिपथमें कर्ताकी बुद्धि या हेतुके कुछभी विचार न किये जानेका जो दोष पहले बतलाया गया है, वह इस आधिदैवत पक्षमें नही है। परतु जब हम इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि सदसद्विवेकरूपी शुद्ध मनोदेवता किसे कहना चाहिये, तब इस पथमेंभी दूसरी अनेक अपरिहार्य बाधाएँ उपस्थित हो जाती

या देवता किसी अच्छे गणितज्ञसे भिन्न है। कोई काम अभ्यासके कारण इतना अच्छी तरह सध जाता है, कि बिना विचार कियेही कोई मनुष्य उसको शीघ्र और सरलतापूर्वक कर लेता है। उत्तम लक्ष्यभेदी मनुष्य उडते हुए पक्षियोको बदूकसे सहज मार गिराता है, इससे कोईभी यह नही कहता, कि लक्ष्यभेद एक स्वतन्त्र देवता है। इतनाही नही, किंतु निशाना मारना, उडते हुए पक्षियोकी गतिको जानना, इत्यादि शास्त्रीय बातोको कोईभी निरर्थक और त्याज्य नही कह सकता। नेपोलियनके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि जब वह समरांगणमे खडा होकर चारो ओर सूक्ष्म दृष्टिसे देखता था, तब उसके ध्यानमे यह बात एकदम आ जाया करती थी, कि शत्रु किस स्थानपर कमजोर है। इतनेहीसे किसीने यह सिद्धान्त नही निकाला है, कि युद्धकला एक स्वतन्त्र देवता है, और उसका अन्य मानसिक शक्तियोसे कुछभी सबंध नही है। इसमें सदेह नही, कि किसी एक काममे किसीकी बुद्धि स्वभावत काम देती है, और किसीकी कम परन्तु सिर्फ इस असमानताके आधारपरही हम यह नही कहते, कि दोनोकी बुद्धियाँ वस्तुत भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त यह बातभी सत्य नहीं, कि कार्य-अकार्यका अथवा धर्म-अधर्मका निर्णय सदैव एकाएक हो जाता है। यदि ऐसाही होता, तो यह प्रश्नभी कभी उपस्थित न होता कि "अमुक काम करना चाहिये अथवा नही करना चाहिये।' यह बात प्रकट है, कि इस प्रकारका प्रश्न प्रसगानुसार अर्जुनकी तरह सभी लोगोंके सामने उपस्थित हुआ करता है, और कार्य-अकार्य-निर्णयके कुछ विषयोमें, भिन्न भिन्न लोगोंके अभिप्रायभी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यदि सदसद्विवेचनरूप स्वयभू देवता एकही है, तो फिर यह भिन्नता क्यो है? इससे यही कहना पडता है, कि मनुष्यकी बुद्धि जितनी सुशिक्षित अथवा सुसस्कृत होगी, उतनीही योग्यतापूर्वक वह किसी बातका निर्णय करेगा। बहुतेरे जगली लोग ऐसेभी है, कि जो मनुष्यका वध करना अपराध तो मानते नही, किंतु मारे हुए मनुष्यका मासभी वे सहर्ष खा जाते हैं। जगली लोगोकी बात जाने दीजिये। सभ्य देशोमेंभी यह देखा जाता है, कि देशके अनुसार किसी एक देशमें जो बात गर्ह्य समझी जाती है, वही किसी दूसरे देशाचरमें सर्वमान्य समझी जाती है। उदाहरणार्थ, एक स्त्रीके रहते हुए दूसरी स्त्रीके साथ विवाह करना इंग्लंडमें अपराध माना जाता है, परतु हिंदुस्थानमे यह बात विशेष दूषणीय नही मानी जाती। भरी सभामें सिरकी पगडी उतारना हिंदु लोगोके लिये लज्जा या अमर्यादाकी बात है, परतु अग्रेज लोग सिरकी टोपी उतारनाही सभ्यताका लक्षण मानते हैं। यदि - यह बात सच है, कि ईश्वरदत्त या स्वाभाविक सदसद्विवेचन-शक्तिके द्वारही बुरे कर्म करनेमें लज्जा मालूम होती है तो क्या सब लोगोको एक ही कृत्य करनेमे एकही समान लज्जा नही मालूम होनी चाहिये? बडे बडे लुटेरे और डाकू लोगभी एक बार जिसका नमक खा लेते हैं, उसपर हथियार उठाना निद्य मानते हैं किन्तु बडे बडे सभ्य पश्चिमी राष्ट्र अपने पडोसी राष्ट्रके लोगोका वध करना स्वदेश-

भक्तिका लक्षण समझते हैं। यदि सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता एकही है तो यह भेद क्यो है? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षाके अनुसार अथवा देशके चलनके अनुसार सदसद्विवेचन-शक्तिमेंभी भेद हो जाया करते हैं, तो उसकी स्वयभू नित्यतामें बाधा आती है। मनुष्य ज्यो ज्यो अपनी असभ्य दशाको छोडकर सभ्य बनता जाता है, त्यो त्यो उसके मन और बुद्धिका विकास होता जाता है। और इस तरह बुद्धिका विकास होनेपर जिन बातोका विचार वह अपनी पहली असभ्य अवस्थामे नही कर सकता था, उन्ही बातोका विचार अब वह अपनी सभ्य दशामें शीघ्रतासे करने लग जाता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि इस तरह बुद्धिका विकसित होनाही सभ्यताका लक्षण है। यह सभ्य अथवा सुशिक्षित मनुष्यके इंद्रियनिग्रहका परिणाम है, कि वह औरोकी वस्तुको ले लेने या मॉंगनेकी इच्छा नही करता। इसी प्रकार मनकी वह शक्तिभी – जिससे बुरे-भलेका निर्णय किया जाता है – धीरे धीरे बढती जाती है। और अब तो कुछ बातोमें वह इतनी परिपक्व हुईही है, कि किसी विषयमे कुछ विचार किये बिनाही हम लोग अपना नैतिक निर्णय प्रकट कर दिया करते हैं। जब हमें ऑंखोसे कोई दूर या पासकी वस्तु देखनी होती है, तब ऑंखोकी नसोको उचित परिमाणसे खीचना पडता है, और यह क्रिया इतनी शीघ्रतासे होती हैं, कि हमें उसका कुछ बोधभी नही होता। परतु क्या इतनेहीसे किसीने इस बातकी उपपत्तिको निरुपयोगी मान रखा है? साराश यह है, कि मनुष्यकी बुद्धि या मन सब समय और सब कामोमे एकही है। यह बात यथार्थ नही, कि काले-गोरेका निर्णय एक प्रकारकी बुद्धि करती है और बुरे-भलेका निर्णय किसी अन्य प्रकारकी बुद्धिसे किया जाता है। अतर केवल इतनाही है, कि किसीमे बुद्धि कम रहती है और किसीकी अशिक्षित अथवा अपरिपक्व रहती है। उक्त भेदकी ओर, तथा इस अनुभवकी ओर उचित ध्यान दे कर, कि किसी कामको शीघ्रतापूर्वक कर सकना केवल आदत या अभ्यासका फल है, पश्चिमी आधिभौतिकवादियोने यह निश्चय किया है, कि मनकी स्वाभाविक शक्तियोसे परे सदसद्विचार-शक्ति नामक कोई भिन्न, स्वतत्र और विलक्षण शक्तिके माननेकी आवश्यकता नही है।

इस विषयमें हमारे प्राचीन शास्त्रकारोका अतिम निर्णयभी पश्चिमी आधिभौतिकवादियोके सदृशही है। वे इस बातको मानते हैं कि स्वस्थ और शात अत:करणसे किसीभी बातका विचार करना चाहिये। परतु उन्हे यह बात मान्य नही, कि धर्म-अधर्मका निर्णय करनेवाली बुद्धि अलग है और काला-गोरा पहचाननेकी बुद्धि अलग है। उन्होने यहभी प्रतिपादन किया है, कि मन जितना सुशिक्षित होगा, उतनाही वह भला या बुरा निर्णय कर सकेगा। अतएव मनको सुशिक्षित करनेका प्रयत्न प्रत्येकको दृढतासे करना चाहिये। परतु वे इस बातको नही मानते, कि सदसद्विवेचन-शक्ति सामान्य बुद्धिसे कोई भिन्न वस्तु या ईश्वरीय प्रसाद है। प्राचीन समयमे इस बातका परीक्षण सूक्ष्म रीतिसे किया गया है कि मनुष्यको ज्ञान

किस प्रकार प्राप्त होता है, और उसके मनका और बुद्धिका व्यापार किस तरह हुआ करता है। इसी परीक्षणको 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार' कहते हैं। क्षेत्रका अर्थ 'शरीर' और क्षेत्रज्ञका अर्थ 'आत्मा' है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार अध्यात्मविद्याकी जड़ है। इस क्षेत्रज्ञ-विद्याका ठीक ठीक ज्ञान हो जानेपर, सदसद्विवेक-शक्तिहीका कौन कहे, किसीभी मनोदेवताका अस्तित्व आत्मासे श्रेष्ठ या स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामें आधिदैवत पक्ष आप-ही-आप कमजोर हो जाता है। अतएव, अब यहाँ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्याहीका विचार संक्षेपमें किया जायगा। इस विवेचनसे भगवद्गीताके बहुतेरे सिद्धान्तोंका सत्यार्थभी पाठकोंके ध्यानमें अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है, कि मनुष्यका शरीर (पिंड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बडा कारखानाही है। जैसे किसी कारखानेमें पहले बाहरका माल भीतर लिया जाता है, फिर उस मालका चुनाव या व्यवस्था करके इस बातका निश्चय किया जाता है, कि कारखानेके लिये उपयोगी और निरुपयोगी पदार्थ कौन-से हैं और तब बाहरसे लाये गये कच्चे मालसे नई चीजें बनाते और उन्हें बाहर भेजते हैं। वैसेही मनुष्यकी देहमेंभी प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टिके पांचभौतिक पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी इंद्रियाँही प्रथम साधन हैं। इन इंद्रियोंके द्वारा सृष्टिके पदार्थोंका यथार्थ अथवा मूल स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियोंका यह मत है, कि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप वैसाही है, जैसा कि वह हमारी इंद्रियोंको प्रतीत होता है। परंतु यदि कल किसीको कोई नूतन इंद्रिय प्राप्त हो जाय, तो उसकी दृष्टिसे सृष्टिके पदार्थोंके गुण-धर्म जैसे आज हैं, वैसेही नहीं रहेंगे। मनुष्यकी इंद्रियोंकेभी दो भेद हैं, — एक कर्मेंद्रियाँ और दूसरी ज्ञानेंद्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रियाँ हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीरसे करते हैं, वह सब इन्हीं कर्मेंद्रियोंके द्वारा होता है। नाक, आँखें, कान, जीभ और त्वचा ये पांच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। आँखोंसे रूप, जिव्हासे रस, कानोंसे शब्द, नाकसे गंध और त्वचासे स्पर्शका ज्ञान होता है। किसीभी बाह्य पदार्थका जो हमें ज्ञान होता है, वह उस पदार्थके रूप-रस-शब्द-गंध-स्पर्शके सिवा और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, एक सोनेका टुकडा लीजिये। वह पीला दीख पडता है, त्वचाको भारी मालूम होता है, पीटनेसे लंबा हो जाता है इत्यादि जो गुण हमारी इंद्रियोंको गोचर होते हैं उन्हींको हम सोना कहते हैं, और जब ये गुण बार बार एकही पदार्थमें, एकहीसे दृग्गोचर होने लगते हैं, तब हमारी दृष्टिमें सोना एक स्वतन्त्र पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहरका माल भीतर लानेके लिये और भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये किसी कारखानेमें दरवाजे होते हैं, उसी-प्रकार मनुष्यकी देहमें बाहरके मालको भीतर लेनेके लिये ज्ञानेंद्रियाँ-रूपी द्वार हैं, और भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये कर्मेंद्रियाँ-रूपी द्वार हैं। सूर्यकी किरणें

किसी पदार्थपर गिर कर जब लौटती है, और हमारे नेत्रोमे प्रवेश करती है तब हमारे आत्माको उस पदार्थके रूपका ज्ञान होता है। किसी पदार्थसे आनेवाली गधके सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाकके मज्जाततुओसे टकराते है, तब हमे उस पदार्थकी वास आती है। अन्य ज्ञानेंद्रियोके व्यापारभी इसी प्रकार हुआ करते है। जब ज्ञानेंद्रियाँ इस प्रकार अपना व्यापार करने लगते है, तब हमे उनके द्वारा वाह्य सृष्टिके पदार्थोका ज्ञान होने लगता है। परतु ज्ञानेंद्रियाँ जो कुछ व्यापार करती है, उसका ज्ञान स्वय उनको नही होता, उसी लिये ज्ञानेंद्रियोको 'ज्ञाता' नही कहते, किंतु उन्हे सिर्फ वाहरके मालको भीतर ले आनेवाले 'द्वार'ही कहते है। इन दरवाजोंसे माल भीतर आ जानेपर उसकी व्यवस्था करना मनका काम है। उदाहरणार्थ, वारह बजे जब घडीमें घटे वजने लगते हैं, तब एकदम हमारे कानोको यह नही समझ पडता, कि कितने वजे हैं, किंतु ज्यो ज्यो घडीमे 'टन् टन्' की एक एक आवाज होती जाती है, त्यो त्यो हवाकी लहरें हमारे कानोपर आकर टक्कर मारती है, और मज्जाततुओके द्वारा प्रत्येक आवाजका हमारे मनपर पहले अलग अलग सस्कार होता है और अतमें इन सवोको जोड कर हम निश्चित किया करते है, कि इतने वजे है। पशुओमेभी ज्ञानेंद्रियाँ होती है। जब घडीकी 'टन् टन्' आवाज होती है, तब प्रत्येक ध्वनिका सस्कार उनके कानोके द्वारा मनतक पहुँच जाता है। परतु उनका मन इतना विकसित नही रहता, कि वे उन सब सस्कारोको एकत्र करके यह निश्चित कर ले कि वारह वजे है। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषामे इस प्रकार कहा जाता है, कि यद्यपि अनेक सस्कारोका पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओको हो जाता है, तथापि उस अनेकताकी एकताका वोध उन्हे नही होता। भगवद्गीता (गीता ३ ४२) मे कहा है – "इद्रियाणि पराण्याहु इद्रियेभ्य पर मन" अर्थात् इद्रियाँ (वाह्य) पदार्थोसे श्रेष्ठ है, और मन इद्रियोसेभी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थभी यही है, जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह चुके है, कि यदि मन स्थिर न हो, तो आँखे खुली होनेपरभी कुछ दीख नही पडता, और कान खुले होनेपरभी कुछ सुन नही पडता। तात्पर्य यह है, कि इस देहरूपी कारखानेमे 'मन' एक मुशी (क्लर्क) है, जिसके पास वाहरका सब माल ज्ञानेंद्रियोके द्वारा भेजा जाता है। और तब यही मुशी (मन) मालकी जाँच किया करता है। अब इन वातोका विचार करना चाहिये कि यह जाँच किस प्रकारकी जाती है, और जिसे हम अवतक सामान्यत 'मन' कहते आये है, उसकेभी और कौन-कौन-से भेद किये जा सकते है अथवा एकही मनको भिन्न भिन्न अधिकारोके अनुसार कौन-कौनसे भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते है।

ज्ञानेंद्रियोके द्वारा मनपर जो सस्कार होते है, उन्हे प्रथम एकत्र करके और उनकी परस्पर तुलना करके इस वातका पहले निर्णय करना पडता है, कि उनमेसे अच्छे कौन-से और वुरे कौन-से है, ग्राह्य और त्याज्य कौनसे और लाभदायक तथा

हानिकारक कौनसे हैं। यह निर्णय हो जानेपर उनमेंसे जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करनेयोग्य होती है, उसे करनेमें हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचेमें जाते हैं, तब आँख और नाक-रूपी ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा उस बगीचेके वृक्षों और फूलोंके संस्कार हमारे मनपर होते हैं। परंतु जब तक हमारे आत्माको यह ज्ञान नहीं होता, कि इन फूलोंमेंसे किसकी सुगंध अच्छी और किसकी बुरी है, तब तक किसी फूलको प्राप्त कर लेनेकी इच्छा मनमें उत्पन्न नहीं होती, और न हम उसे तोड़नेका प्रयत्नही करते हैं। अतएव सब मनोव्यापारोंके तीन स्थूल भाग हो सकते हैं – (१) ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा बाह्य पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारोंको तुलनाके लिये व्यवस्थापूर्वक रखना, (२) ऐसी व्यवस्था हो जानेपर उनके अच्छेपन या बुरेपनका सारअसार-विचार करके यह निश्चय करना, कि कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी त्याज्य, और (३) निश्चय हो चुकनेपर ग्राह्य वस्तुको प्राप्त कर लेनेकी, और अग्राह्यको त्यागनेकी इच्छा उत्पन्न होकर फिर उसके अनुसार प्रवृत्तिका होना। परंतु यह आवश्यक नहीं, कि ये तीनों व्यापार बिना रुकावटके लगातार एकके बाद एक होतेही रहें। संभव है, कि पहले किसी समय देखी हुई वस्तुकी इच्छा आज हो जाय। किंतु इतनेहीसे यह नहीं कह सकते, कि उक्त तीनों क्रियाओंमेंसे किसीभी क्रियाकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करनेकी कचहरी एकही होती है, तथापि उसमें कामका विभाजन इस प्रकार किया जाता है – पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके वकील अपनी अपनी गवाहियाँ और सबूत न्यायाधीशके सामने पेश करते हैं। इसके बाद न्यायाधीश दोनों पक्षोंके सबूत देखकर निर्णय स्थिर करता है और अंतमें न्यायाधीशके निर्णयके अनुसार नाजिर कारवाई करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मूलीको अभीतक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके व्यापारोंकेभी विभाग हुआ करते हैं। इनमेंसे सामने उपस्थित बातोंका सार-असार विचार करके यह निश्चय करनेका काम – अर्थात् केवल न्यायाधीशका काम – 'बुद्धि' नामक इंद्रियका है कि कोई एक बात अमुक प्रकारहीकी (एकमेव) है, दूसरे प्रकारकी नहीं (नाऽन्यथा)। ऊपर कहे गये सब मनो-व्यापारोंमेंसे इस सार-असार-विवेक-शक्तिको अलग कर देनेपर बचे हुए सभी व्यापार जिस इंद्रियके द्वारा हुआ करते हैं, उसीको सांख्य और वेदान्तशास्त्रमें 'मन' कहते हैं (सां. का. २३ और २७)। यही मन वकीलके सदृश्य, कोई बात ऐसी है (संकल्प), अथवा उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प), इत्यादि कल्पनाओंको बुद्धिके सामने निर्णय करनेके लिये पेश किया करता है। इसीलिये उसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इन्द्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्दमें निश्चयकाभी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छांदोग्य ७. ४. १)। परंतु

यहाँपर 'संकल्प' शब्दका उपयोग – निश्चयकी अपेक्षा न रखते हुए – बात अमुक प्रकारकी मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मनमें लाना आदि व्यापारोंके लियेही किया गया है। परंतु, इस प्रकार वकीलके सदृश अपनी कल्पनाओंको बुद्धिके सामने निर्णयार्थ सिर्फ उपस्थित कर देनेहीसे मनका काम पूरा नही हो जाता। बुद्धिके द्वारा भले-बुरेका निर्णय हो जानेपर, जिस बातको बुद्धिने ग्राह्य माना है, उसका कर्मेंद्रियोंसे आचरण करना, अर्थात् बुद्धिकी आज्ञाको कार्यमें परिणत करना – यह नाजिरका कामभी मनहीको करना पडता है। इसी कारण मनकी व्याख्या दूसरी तरहभी की जा सकती है। यह कहनेमें कोई आपत्ति नही, कि बुद्धिके निर्णयकी कारंवाईपर जो विचार किया जाता है, वहभी एक प्रकारसे संकल्प-विकल्पात्मकही है। परंतु इसके लिये संस्कृतमें 'व्याकरणविस्तार करना' यह स्वतंत्र नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धिके है। यहाँ तक कि मन हमारी कल्पनाओंके सार-असारका विचार नही करता। सार-असार विचार करके किसीभी वस्तुका यथार्थ ज्ञान आत्माको करा देना, अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना, कि अमुक वस्तु अमुक प्रकारकी है, या तर्कसे कार्य-कारण-संबंधको देख कर निश्चित अनुमान करना, अथवा कार्य-अकार्यका निर्णय करना, इत्यादि सब व्यापार बुद्धिके है। संस्कृतमें इन व्यापारोंको 'व्यवसाय' या 'अध्यवसाय' कहते हैं। अतएव इन दो शब्दोका उपयोग करके, 'बुद्धि' और 'मन' का भेद बतलानेके लिये, महाभारत (मभा शा २५१ ११) में यह व्याख्या दी गई है –

व्यवसायात्मिका बुद्धि मनो व्याकरणात्मकम् ।

"बुद्धि (इंद्रिय) व्यवसाय करती है, अर्थात् सार-असार विचार करके कुछ निश्चय करती है, और मन व्याकरण अर्थात् विस्तार अथवा अगली अवस्था करनेवाली प्रवर्तक इंद्रिय है – अर्थात् बुद्धि व्यवसायात्मिका है और मन व्याकरणात्मक है।" भगवद्गीतामेंभी "व्यवसायात्मिका बुद्धि" शब्द पाये जाते है (गीता २ ४४) और वहाँभी बुद्धिका अर्थ "सार-असार-विचार करके निश्चय करनेवाली इंद्रिय" ही है। यथार्थमें बुद्धि केवल एक तलवार है। जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है, उसकी काट-छाँट करनाही उसका काम है उससे दूसरा कार्यभी गुण अथवा धर्म नही है (मभा वन १८१ ८६)। संकल्प, वासना इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, अनुकंपा, प्रेम, दया, सहानुभूति कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनंद, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर क्रोध, इत्यादि सब मनहीके गुण अथवा धर्म है (बृ १ ५ ३, मैत्र्यु ६ ३०)। जैसे जैसे ये मनोवृत्तियाँ जागृत होती जाती है, वैसेही कर्म करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान् हो और चाहे वह गरीब लोगोकी दुर्दशाका हाल भली भाँति जानता हो, तथापि यदि उसके हृदयमे

करुणावृत्ति जागृत न हो, तो उसे गरिबोंकी सहायता करनेकी इच्छा कभी होगीही नही। अथवा यदि धैर्यका अभाव हो, तो युद्ध करनेकी इच्छा होनेपरभी वह नही लडेगा। तात्पर्य यह है, कि बुद्धि सिर्फ यही बतलाया करती है, कि जिस बातः को करनेकी हम इच्छा करते हैं, उसका परिणाम क्या होगा। परन्तु इच्छा अथवा धैर्य आदि गुण बुद्धिके धर्म नही है, इसलिये बुद्धि, स्वय (अर्थात् विना मनकी सहायता लियेही) कभी इंद्रियोंको प्रेरित नही कर सकती। इसके विरुद्ध क्रोध आदि वृत्तियोंके वशमें होकर स्वय मन चाहे इंद्रियोंको प्रेरितभी कर सके, तोभी यह नही कहा जा सकता कि बुद्धिके सार-असार-विचारके विना केवल मनोवृत्तियोंकी प्रेरणासे किया गया काम नीतिकी दृष्टिसे शुद्धही होगा। उदाहरणार्थ, यदि बुद्धिका उपयोग न कर केवल करुणावृत्तिसे कुछ दान किया जाता है, तो सभव है कि वह किसी अपात्रको दिया जावे, और उसका परिणामभी बुरा हो। साराश यह है कि बुद्धिकी सहायताके विना केवल मनोवृत्तियाँ अधी हैं, अतएव मनुष्यका कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है, जब कि बुद्धि शुद्ध हो – अर्थात् वह भले-बुरेका अचूक निर्णय कर सके, मन बुद्धिके अनुरोधसे आचरण करे, और इंद्रियाँ मनके अधीन रहे। बुद्धि और मनके सिवा 'अंतःकरण' और 'चित्त' ये दोनों शब्दभी प्रचलित हैं। इनमेंसे 'अंतःकरण' शब्दका धात्वर्थ 'भीतरी करण अर्थात् इंद्रिय' है। इसलिये उसमे मन, बुद्धि, चित्त अहकार आदि सभीका सामान्यतः समावेश किया जाता है और जब 'मन' पहले पहल बाह्य-विषयोंका ग्रहण अर्थात् चितन करने लगता है, तब वही 'चित्त' हो जाता है (मभा. शा. २७४. १७)। परन्तु सामान्य व्यवहारमे इन सब शब्दोंका अर्थ एकही-सा माना जाता है। इससे समझमें नही आता, कि किस स्थानपर कौन-सा अर्थ विवक्षित है। इस गडबडीको दूर करनेके लिये ही, उक्त अनेक शब्दोंमेंसे मन और बुद्धि, इन्ही दो शब्दोंका उपयोग शास्त्रीय परिभाषामे ऊपर कहे गये निश्चित अर्थ में किया जाता है। जब इस तरह मन और बुद्धिका भेद एक बार निश्चित कर दिया गया, तब न्यायाधीशके नाते बुद्धिको मनसे श्रेष्ठ मानना पडता है, और मन उस न्यायाधीश (बुद्धि) का मुशी बन जाता है। "मनसस्तु परा बुद्धिः" – इस गीता-वाक्यका भावार्थभी यही है, कि मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एव उसके परे है (गीता ३. ४२)। तथापि, जैसा कि ऊपर कह आये है, उस मुशीकोभी दो प्रकारके काम करने पडते हैं – (१) ज्ञानेंद्रियो द्वारा अथवा बाहरसे आए हुये सस्कारोंकी व्यवस्था करके उनको बुद्धिके सामने निर्णयके लिये उपस्थित करना, और (२) बुद्धिका निर्णय हो जानेपर उसकी आज्ञा अथवा डाक कर्मेंद्रियोंके पास भेज कर बुद्धिका हेतु सफल करनेके लिये आवश्यक बाह्यक्रिया करवाना। जिस तरह दूकानके लिये माल खरीदनेका काम और दूकानमे बैठ कर बेचनेका कामभी कही कही उस दूकानके एकही नौकरको करना पडता है, उसी तरह मनकोभी दोनों

काम करने पडते हैं। मान लो, कि हमें एक मित्र दीख पडा, और उसे पुकारने-को इच्छासे हमने उसे 'अरे' कहा। अब देखिये कि उतने समयमें अन्तरणमें कितने व्यापार होते हैं। पहले आँखोंने अर्थात् ज्ञानेंद्रियोंने यह संस्कार मनके द्वारा बुद्धिको भेजा, कि हमारा मित्र पासही है, और बुद्धिके द्वारा उस संस्कारका ज्ञान आत्माको हुआ। यह हुई ज्ञान होनेकी क्रिया। जब आत्मा बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करता है, कि मित्रको पुकारना चाहिये और बुद्धिके इस हेतुके अनुसार कारवाई करनेके लिये मनमें बोलनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तब मन हमारी जिव्हा (कर्मेंद्रिय) से 'अरे' शब्दका उच्चारण करवाता है। पाणिनीके शिक्षा-ग्रंथमें शब्दोच्चारण-क्रियाका वर्णन इसी बातको ध्यानमें रखकर किया गया है –

> आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् "पहले आत्मा बुद्धिके द्वारा सब बातोंका आकलन करके मनमें बोलनेकी इच्छा उत्पन्न करता है, और जब मन कायाग्निको उकसाता है, तब कायाग्नि वायुको प्रेरित करती है। तदनन्तर यह वायु छातीमें प्रवेश करके मंद्र स्वर उत्पन्न करता है। यही स्वर आगे कंठ-तालू आदिके वर्ण-भेद-रूपसे मुखके बाहर आता है। इस श्लोकके अंतिम दो चरण मैत्र्युपनिषद्में भी मिलते हैं (मैत्र्यु. ७. ११) और इससे प्रतीत होता है, कि ये श्लोक पाणिनिसे भी प्राचीन हैं।* आधुनिक शारीरशास्त्रोंमें कायाग्निको मज्जातंतु कहते हैं। परन्तु पश्चिमी शारीरशास्त्रज्ञोंके कथनानुसार मनभी दो हैं। क्योंकि बाहरके पदार्थोंका ज्ञान भीतर लानेवाले और मनके द्वारा बुद्धिकी आज्ञा कर्मेंद्रियोंको बतलानेवाले शरीरके मज्जातंतु भिन्न भिन्न हैं। हमारे शास्त्रकार दो मन नहीं मानते, उन्होंने मन और बुद्धिको भिन्न बतला कर सिर्फ यह कहा है कि मन उभयात्मक है – अर्थात् वह कर्मेंद्रियोंके साथ कर्मेंद्रियोंके समान और ज्ञानेंद्रियोंके साथ ज्ञानेंद्रियोंके समान काम करता है। दोनोंका तात्पर्य एकही है। दोनोंकी दृष्टिसे यही प्रगट है, कि बुद्धि निश्चयकर्ता न्यायाधीश है, और मन पहले ज्ञानेंद्रियोंके साथ संकल्प-विकल्पात्मक हो जाया करता है, तथा फिर कर्मेंद्रियोंके साथ व्याकरणात्मक या कारवाई करनेवाला अर्थात् कर्मेंद्रियोंका साक्षात् प्रवर्तक हो जाता है। किसी बातका 'व्याकरण' करते समय भी मनही यह संकल्प-विकल्प किया करता है कि बुद्धिकी आज्ञाका पालन किस प्रकार किया जाय। इसीलिये मनकी व्याख्या करते समय

* मैक्समूलर साहबने लिखा है, कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनिसे अधिक प्राचीन होना चाहिये। Sacred Books of the East Series Vol. XV. pp. xlviii-lii. इसपर परिशिष्ट प्रकरणमें अधिक विचार किया गया है।

सामान्यतः सिर्फ यही कहा जाता है, कि " संकल्प-विकल्पात्मक मन "। परन्तु ध्यान रहे, कि उस समयभी इस व्याख्यामें मनके दोनो व्यापारोंका समावेश किया जाता है।

'बुद्धि' का जो अर्थ ऊपर किया गया है, कि यह निर्णय करनेवाली इंद्रिय है, वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सूक्ष्म-विवेचनके लिये उपयोगी है। परंतु इन शास्त्रीय अर्थोका निर्णय हमेशा पीछेसे किया जाता है। अतएव यहाँ 'बुद्धि' शब्दके उन व्यावहारिक अर्थोकाभी विचार करना आवश्यक है, जो, इस शब्दका शास्त्रीय अर्थ निश्चित होनेके पहलेही, पचलित हो गये हैं। जबतक व्यवसायात्मिका बुद्धि किसी बातका पहले निर्णय नही करती, तबतक हमे उसका ज्ञान नही होता, और जबतक ज्ञान नही होता, तबतक उसके प्राप्त करनेकी इच्छा या वासनाभी नही हो सकती। अतएव, जिस प्रकार व्यवहारमें आमके पेड और फलके लिये 'आम' इस एकही शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार व्यवसायात्मिका बुद्धिके लिये और उस बुद्धिकी वासना आदि फलोंके लियेभी 'बुद्धि' इस एकही शब्दका उपयोग व्यवहारमें कई वार किया जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि अमुक मनुष्यकी बुद्धि खोटी है, तब हमारे इस बोलनेका यह अर्थ होता है कि उसकी 'वासना' खोटी है। शास्त्रके अनुसार इच्छा या वासना मनके धर्म होनेके कारण उन्हें 'बुद्धि' शब्दसे संबोधित करना युक्त नहीं है। परंतु बुद्धि शब्दकी शास्त्रीय जाँच होनेके पहलेहीसे सर्वसाधारण लोगोंके व्यवहारमे 'बुद्धि' इस एकही शब्दका उपयोग इन दोनो अर्थोंमें होता चला आया है — (१) निर्णय करने वाली इंद्रिय, और (२) उस इंद्रियके व्यापारसे मनुष्यके मनमें उत्पन्न होने-वाली वासना या इच्छा। अतएव, आमके दो अर्थोका भेद बतलानेके समय जिस प्रकार 'पेड' और 'फल' इन शब्दोको जोड दिया जाता है, उसी प्रकार जब बुद्धिके उक्त दोनो अर्थोकी भिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब निर्णय करनेवाली अर्थात् शास्त्रीय बुद्धिको 'व्यवसायात्मिका' विशेषण जोड दिया जाता है और वासनाको केवल 'बुद्धि अथवा 'वासनात्मक' बुद्धि कहते है। गीता (गीता २. ४१ ४४ ४९, और ३. ४२) में 'बुद्धि' शब्दका उपयोग उपर्युक्त दोना अर्थोंमें किया गया है। और कर्मयोगके विवेचनको ठीक ठीक समझ लेनेके लिये 'बुद्धि' शब्दके उपर्युक्त दोनो अर्थोपर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है तब उसके मनोव्यापारका क्रम इस प्रकार होता है — पहले वह 'व्यवसायात्मिका' बुद्धीन्द्रियसे विचार करता है कि यह कार्य अच्छा है या बुरा करनेके योग्य है या नही, और फिर उस कर्मके करनेकी इच्छा या वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है, और तब वह उक्त काम करनेके लिये प्रवृत्त हो जाता है। कार्य-अकार्यका निर्णय करना जिस (व्यवसायात्मिका) बुद्धीन्द्रियका व्यापार है, वह यदि स्वस्थ और शांत हो, तो मनमें निरर्थक अन्य वासनाएँ

(बुद्धि) उत्पन्न नहीं होने पाती और मनभी बिगडने नही पाता। अतएव गीता (गीता २ ४१) मे कर्मयोगशास्त्रका प्रथम सिद्धान्त यह है, कि पहले व्यवसायात्मिका बुद्धिको शुद्ध और स्थिर रखना चाहिये। केवल गीताहीमें नही, किंतु काटने * भी बुद्धिके इसी प्रकार दो भेद किये है, और शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धिके एव व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मक बुद्धिके व्यापारोका विवेचन दो स्वतत्र ग्रथोमे किया है। वस्तुत देखनेमे तो यही प्रतीत होता है, कि व्यवसायात्मिका बुद्धिको स्थिर करना पातजल योगशास्त्रहीका विपय है, कर्मयोगशास्त्रका नही। किंतु गीताका सिद्धान्त है, कि कर्मका विचार करते समय उसकी परिणामकी ओर ध्यान देनेके पहले सिर्फ यही देखना चाहिये, कि कर्म करनेवालेकी वासना अर्थात् वासनात्मक बुद्धि कैसी है (गीता २ ४९)। और इस प्रकार जब वासनाके विषयमे विचार किया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि जिसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि स्थिर और शुद्ध नही रहती, उसके मनमे वासनाओकी भिन्न भिन्न तरगे उत्पन्न हुआ करती है। और इसी कारण कहा नही जा सकता, कि वे वासनाएँ सदैव शुद्ध और पवित्रही होगी (गीता २ ४१)। जब कि वासनाएँही शुद्ध नही है, तब आगे कर्मभी शुद्ध कैसे हो सकता है? इसीलिये कर्मयोग शास्त्रमेभी व्यवसायात्मिका कौनसे बुद्धिको शुद्ध, रखनेके लिये साधन अथवा उपाय है, इस बातका विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है, और इसी कारण भगवद्गीताके छठे अध्यायमें बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये एक साधनके तौरपर पातजलयोगका विवेचन किया गया है। परन्तु इस सबधपर ध्यान न दे कर कुछ साप्रदायिक टीकाकारोने गीताका यह तात्पर्य निकाला है कि गीतामे केवल पातजलयोगकाही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठकोके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि गीताशास्त्रमे 'बुद्धि' शब्दके उपर्युक्त दोनो अर्थोपर और उन अर्थोके परस्परसबधपर ध्यान देना कितने महत्त्व का है।

इस बातका वर्णन हो चुका, कि मनुष्यके अत करणके व्यापार किस प्रकार हुआ करते है तथा उन व्यापारोको देखते हुए मन और बुद्धिके कार्य कौन कौनसे है, और बुद्धि शब्दके कितने अर्थ होते है। मन और व्यवसायात्मिका बुद्धिको इस प्रकार पृथक् कर देनेपर अब देखना चाहिये, कि सदसद्विवेक-देवताका यथार्थ रूप क्या है? इस देवताका काम सिर्फ भले-बुरेका चुनाव करना है, अतएव इसका समावेश 'मन'मे नही किया जा सकता, और किसीभी बातका विचार करके निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मिका बुद्धि केवल एकही है इसलिये सदसद्विवेक-रूप 'देवता'के लिये कोई स्वतत्र स्थान नही रह जाता। हॉं, इससे

---

* काटने व्यवसायात्मिका बुद्धिको Pure Reason और वासनात्मक बुद्धिको Practical Reason कहा है।

सदेह नही, कि जिन बातोका या विषयोका सार-असार विवेक करके निर्णय करना पडता है, वे अनेक हो सकते है। जैसे व्यापार, लडाई, फौजदारी या दीवानी मुकदमे, साहुकारी, कृषि आदि अनेक व्यवसायोमें हर अवसरपर सार-असार-विवेक करना पडता है। परतु इतनेहीमे यह नही कहा जा सकता, कि इनमें व्यवसायात्मिका बुद्धियाँभी भिन्न भिन्न अथवा कई प्रकारकी होती है। सार-असार-विवेक नामकी त्रिया सर्वत्र एकही है, और इसी कारण विवेक अथवा निर्णय करनेवाली बुद्धिभी एकही होनी चाहिये। परतु मनके सदृश बुद्धिभी शरीरका धर्म है। अतएव पूर्वकर्मके अनुसार – पूर्वपरपरागत या आनुवशिक सस्कारोके कारण, अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणोसे – यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी, राजसी या तामसी हो सकती है। यही कारण है, कि जो बात किसी एककी बुद्धिमे ग्राह्य प्रतीत होती है वही दूसरेकी बुद्धिमें अग्राह्य जँचती है। इतनेहीसे यह नही समझ लेना चाहिये, कि बुद्धि नामकी इद्रियही प्रत्येक समय भिन्न भिन्न रहती है। आँख ही का उदाहरण लीजिये। किसीकी आँखें तिरछी रहती है, तो किसीकी भद्दी और किसीकी कानी, किसीको दृष्टि मद और किसीकी साफ रहती है। इससे हम यह कभी नही कहते, कि नेत्रेंद्रिय एक नही, अनेक है। यही न्याय बुद्धिके विषयमेंभी उपयुक्त होना चाहिये। जिस बुद्धिसे चावल अथवा गेहूँ जाने जाते है, जिस बुद्धिसे पत्थर और हीरेका भेद जाना जाता है, जिस बुद्धिसे काले-गोरे वा मीठे-कडवेका ज्ञान होता है, वही इन सब बातोंके तारतम्यका विचार करके अतिम निर्णयभी किया करती है, कि भय किसमें है, और किसमे नही, लाभ या हानि, धर्म अथवा अधर्म और कार्य अथवा अकार्यमें क्या भेद है, इत्यादि। साधारण व्यवहारमें 'मनोदेवता' कह कर उसका चाहे जितना गौरव किया जाय, तथापि तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वह एकही व्यवसायात्मिका बुद्धि है। इसी अभिप्रायकी ओर ध्यान दे कर गीताके अठारहवे अध्यायमें एकही बुद्धिके तीन भेद (सात्त्विक, राजस और तामस) करके भगवानने अर्जुनको पहले यह बतलाया है कि –

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् "सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जिसे इन बातोका यथार्थ ज्ञान है – कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नही, काम करने योग्य है और कौन-सा अयोग्य, किस बातसे डरना चाहिये और किस बातसे नही, किसमें बधन है और किसमें मोक्ष" (गीता १८ ३०)। इसके बाद यह बतलाया है कि –

यया धर्ममधर्मं च कार्यं च अकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धि सा पार्थ राजसी॥

अर्थात् "धर्म और अधर्म, अथवा कार्य और अकार्यका यथार्थ निर्णय जो बुद्धि नही कर सकती, यानी जो बुद्धि हमेशा भूल किया करती है, वह राजसी है" (गीता १८ ३१)। और अतमें कहा है कि –

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीताश्च बुद्धि मा पार्थ तामसी ।।

अर्थात् "अधर्मकोही धर्म माननेवाली, अथवा सव वातोका विपरीत या उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है" (गीता १८ ३२)। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है, कि केवल भले-वुरेका निर्णय करनेवाली, अर्थात् सदसद्विवेक-बुद्धिरूप स्वतत्न और भिन्न देवता गीताको समत नही है। उसका अर्थ यह नही है, कि सदैव ठीक निर्णय करनेवाली बुद्धि होही नही सकती। उपर्युक्त श्लोकोका भावार्थ यही है, कि बुद्धि एकही है, और ठीक ठीक निर्णय करनेका सात्त्विक गुण इसी एक बुद्धिमें पूर्वसस्कारोंके कारण, शिक्षासे तथा इद्रियनिग्रह अथवा आहार आदिके कारण उत्पन्न हो जाता है, और इन पूर्वसस्कार-प्रभृति कारणोंके अभावसेही – वही बुद्धि जैसे कार्य-अकार्य-निर्णयके विषयमे वैसेही अन्य दूसरी वातोमेंभी – राजसी अथवा तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्तकी सहायतासे यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि चोर और साहकी बुद्धिमे, तथा भिन्न भिन्न देशोंके मनुष्योकी बुद्धिमे भिन्नता क्यो हुआ करती है। परतु जव हम सदसद्विवेचन-शक्तिको स्वतत्न देवता मानते है, तव उस विषयकी उपपत्ति ठीक ठीक सिद्ध नही होती। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, कि वह अपनी बुद्धिको सात्त्विक वनावे और यह काम इद्रियनिग्रहके विना हो नही सकता। जबतक व्यवसायात्मिका बुद्धि यह जाननेमें समर्थ नही है, कि मनुष्यका हित किस बातमें है, और जवतक वह उस वातका निर्णय परीक्षा किये विनाही इद्रियोकी इच्छानुसार आचरण करती रहती है, तवतक वह बुद्धि 'शुद्ध' नही कही जा सकती। अतएव बुद्धिको मन और इद्रियोके अधीन नही होने देना चाहिये। किंतु ऐसा उपाय करना चाहिये, कि जिससे मन और इद्रियाँ बुद्धिके अधीन रहे। भगवद्गीता (गीता २ ६७, ६८, ३ ७, ४१, ६ २४–२६) मे यही सिद्धान्त अनेक स्थानोमें वतलाया गया है, और यही कारण है, कि कठोपनिषद्में शरीरको रथकी उपमा दी गई है, तथा यह रूपक वाँधा गया है, कि उस शरीररूपी रथमें जुते हुए इद्रियाँरूपी घोडोको विषयोभोगके मार्गमे अच्छी तरह चलानेके लिये (व्यवसायात्मिका) बुद्धिरूपी सारथीको मनोमय लगाम धीरतासे खीचे रहना चाहिये – (कठ ३ ३–९)। महाभारत (सभा वन २१० २५, स्त्री ७ १३, अश्व ५१ ५) मेंभी वही रूपक दो-तीन स्थानोमें कुछ हेरफेरके साथ लिया गया है। इद्रियनिग्रहके इस कार्यका वर्णन करनेके लिये उक्त दृष्टान्त इतना अच्छा है, कि ग्रीसके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटोनेभी इद्रियनिग्रहका वर्णन करते समय इसी

रूपकका उपयोग अपने ग्रथमे किया है (फीड्रस २४६)। भगवद्गीतामें, यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूपमे नही पाया जाता। तथापि इस विषयके सदर्भकी ओर जो ध्यान देगा, उसे यह बात अवश्य मालूम हो जायगी, कि गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें इद्रियनिग्रहका वर्णन इस दृष्टान्तको लक्ष्य करकेही किया गया है। सामान्यत अर्थात् जब शास्त्रीय सूक्ष्म भेद करनेकी आवश्यकता होती है, तब उसीको मनोनिग्रह कहते है। परन्तु जब 'मन' और 'बुद्धि'में – जैसा कि ऊपर कह आये है – भेद किया जाता है, तब निग्रह करनेका काम मनको नही, किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धिकोही करना पडता है। इस व्यवसायात्मिक बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये – पातजल-योगकी समाधि से, भक्तिसे, ज्ञानसे अथवा ध्यानसे परमेश्वरके यथार्थ स्वरूपको पहचान कर – यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धिमें जम जाना चाहिये, कि "सब प्राणियोमे एकही आत्मा है।" इसीको आत्मनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिका बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिग्रहकी सहायतासे मन और इद्रियाँ उसकी अधीनतामें रह कर आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती है, तब इच्छा, वासना आदि मनोधर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाते है, और शुद्ध सात्त्विक कर्मोंकी ओर देहेंद्रियोकी सहजही प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म दृष्टिसे यही सब सदाचरणोकी जड अर्थात् कर्मयोगशास्त्रका रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचनसे पाठक समझ जावेगें, कि हमारे शास्त्रकारोंने मन और बुद्धिकी स्वाभाविक वृत्तियोंके अतिरिक्त सदसद्विवेक-शक्तिरूप स्वतत्र देवताका अस्तित्व क्यो नही माना है। उनके मतानुसारभी मन या बुद्धिका गौरव करनेके लिये उन्हे 'देवता' कहनेमें कोई हर्ज नही है, परतु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करके उन्होंने निश्चित सिद्धान्त किया है, कि जिसे हम मन या बुद्धि कहते है, उससे भिन्न और स्वयभू 'सदसद्विवेक' नामक किसी तीसरे देवताका अस्तित्व होही नही सकता। "सता हि सन्देहपदेषु०" वचनके 'सता' पदकी उपयुक्तता और महत्ताभी अब भली भाँति प्रकट हो जाती है। जिनके मन शुद्ध और आत्मनिष्ठ है, वे यदि अपने अत करणकी गवाही ले, तो कोई अनुचित बात न होगी, अथवा यहभी कहा जा सकता है कि किसी कामको करनेके पहले उनके लिये यही उचित है, कि वे अपने मनको अच्छी तरह शुद्ध करके उसीकी गवाही लिया करें। परतु यदि कोई धूर्त कहने लगे, कि "मैंभी इसी प्रकार आचरण करता हूँ" तो यह कदापि उचित न होगा। क्योकि, दोनोकी सदसद्विवेचन-शक्ति एकही-सी नही होती। सत्पुरुषोकी बुद्धि सात्त्विक और चोरोकी तामसी होती है। साराश, आधिदैवत पक्षवालोका 'सदसद्विवेक-देवता' तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे स्वतत्र देवता सिद्ध नही होता, किंतु हमारे शास्त्रकारोका सिद्धान्त है, कि वह तो व्यवसायात्मिका बुद्धिके स्वरूपोहीमेंसे एक आत्मनिष्ठ अर्थात् सात्त्विक स्वरूप है। और जब

यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है, तब आधिदैवत पक्ष अपने आपही कमजोर हो जाता है।

जब सिद्ध हो गया, कि आधिभौतिक-पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है, और आधिदैवत पक्षका महल युक्तिवादभी किसी कामका नही, तब यह जानना आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्रकी उपपत्ति ढूंढनेके लिये कोई अन्य मार्ग है या नही। और उत्तरभी यह मिलता है, कि हाँ, मार्ग है, और उसीको आध्यात्मिक मार्ग कहते है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि बाह्य कर्मोकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, तथापि जब सदसद्विवेक-बुद्धि नामक स्वतत्र और स्वयभू देवताका अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता, तब कर्मयोगशास्त्रमेंभी इन प्रश्नोका विचार करना आवश्यक हो जाता है, कि शुद्ध कर्म करनेके लिये बुद्धिको किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये, शुद्ध बुद्धि किसे कहते है, अथवा बुद्धि किस प्रकार शुद्ध की जा सकती है। और यह विचार केवल बाह्य सृष्टिका विचार करनेवाले आधिभौतिकशास्त्रोको छोडे बिना तथा अध्यात्मज्ञानमे प्रवेश किये बिना पूर्ण नही हो सकता। इस विषयमे हमारे शास्त्रकारोका अतिम सिद्धान्त यही है, कि जिस बुद्धिको आत्माका अथवा परमेश्वरके सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूपका पूर्ण ज्ञान नही हुआ है, वह बुद्धि शुद्ध नही है। गीतामें अध्यात्मशास्त्रका निरूपण यही बतलानेके लिये किया गया है, कि आत्मनिष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिये। परतु इस पूर्वापर-सबधकी ओर ध्यान न देकर, गीताके कुछ साप्रदायिक टीकाकारोने यह निश्चय किया है कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय वेदान्तही है। आगे चल कर यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जायगी, कि गीताके प्रतिपाद्य विषयके सबधमे उक्त टीकाकारोका यह निर्णय ठीक नही है। यहांपर सिर्फ यही बतलाया है, कि बुद्धिको शुद्ध रखनेके लिये आत्माकाभी अवश्य विचार करना पडता है। आत्माके विषयमे यह विचार दो प्रकारोसे किया जाता है – (१) स्वय अपने पिड, क्षेत्र अथवा शरीरके और मनके व्यापारोका निरीक्षण करके यह विवेचन करना, कि उस निरीक्षणमे क्षेत्रज्ञरूपी आत्मा कैसे उत्पन्न होता है (गीता अ १३)। इसीको शारीरिक अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार कहते है, और इसी कारण वेदान्तसूत्रोको शारीरिक (शरीरका विचार करनेवाले) सूत्र कहते है। स्वय अपने शरीर और मनका इस प्रकार विचार होनेपर, (२) यह जानना होगा कि उस विवेचनसे निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – और हमारे चारो ओर की दृश्यसृष्टि अर्थात् ब्रह्माडके निरीक्षणसे निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – दोनो एकही है अथवा भिन्न भिन्न है। इस प्रकार किये गये सृष्टिके निरीक्षणको क्षर-अक्षर-विचार अथवा व्यक्त-अव्यक्त विचार कहते है। सृष्टिके सब नाशवान् पदार्थोको 'क्षर' या 'व्यक्त' कहते है और सृष्टिके उन नाशवान् पदार्थोमे जो सारभूत नित्य तत्त्व है उसे 'अक्षर' या 'अव्यक्त' कहते है (गीता ८ २१ १५ १६)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार और क्षर-अक्षर-विचारसे प्राप्त होनेवाले

इन दोनो तत्त्वोका फिरसे विचार करने पर प्रकट होता है, कि ये दोनो तत्त्व जिससे निष्पन्न हुए है और इन दोनोके परे जो सवका मूलभूत एकतत्त्व है, उसीको 'परमात्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम' कहते है (गीता ८ २०)। इन वातोका विचार भगवद्गीतामे किया गया है, और अतमे कर्मयोगशास्त्रकी उपपत्ति वतलानेके लिये यह दिखलाया गया है, कि मूलभूत परमात्मरूपी तत्त्वके ज्ञानसे वुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाती है। अतएव उस उपपत्तिको अच्छी तरह समझ लेनेके लिये हमेभी उन्ही मार्गोका अनुकरण करना चाहिये। इन मार्गोमेंसे ब्रह्माड-ज्ञान अथवा क्षर-अक्षर-विचारका विवेचन अगले प्रकरणमें किया जायगा। इस प्रकरणमे, सदसद्विवेक-देवताके यथार्थ स्वरूपका निर्णय करनेके लिये, पिड-ज्ञान अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो विवेचन आरभ किया गया था, वह अधूराही रह गया है। इसलिये अव उसे पूरा कर लेना चाहिये।

पाँचभौतिक स्थूल देह, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, इन ज्ञानेंद्रियोंके शव्द-स्पर्श-रूप-रस-गधात्मक पाँच विषय, सकल्प-विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका वुद्धि – इन सब विषयोका विवेचन हो चुका। परतु, इतनेहीसे शरीर-सवधी विचारकी पूर्णता हो नही जाती। मन और वुद्धि केवल विचारके साधन अथवा इद्रियाँ है। यदि जड शरीरमें इनके अतिरिक्त प्राणरूपी चेतना अर्थात् हलचल न हो, तो मन और वुद्धिका होना न होना वरावरही – अर्थात् किसी कामका नही – समझा जायगा। अर्थात्, शरीरमें उपर्युक्त वातोके अतिरिक्त चेतना नामक एक और तत्त्वका भी समावेश होना चाहिये। कई वार 'चेतना' शव्दका अर्थ 'चैतन्य' किया जाता है पर, यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँपर 'चेतना' शव्दका अर्थ 'चैतन्य' नही माना गया है, वरन् "जड देहमे दृग्गोचर होनेवाली प्राणोकी हलचल, चेष्टा या जीवितावस्थाका व्यवहार" सिर्फ यही अर्थ विवक्षित है। जिस चिद्शक्तिके द्वारा जड पदार्थोमेभी हलचल अथवा व्यापार उत्पन्न हुआ करता है, उसको चैतन्य कहते है, और अव इसी शक्तिके विपयमें विचार करना है। शरीरमे दृग्गोचर होनेवाले सजीवताके व्यापार अथवा चेतनाके अतिरिक्त जिस कारण 'मेरा-तेरा' यह भेद उत्पन्न होता है, वहभी एक भिन्न गुण है। उसका कारण यह है, कि उपर्युक्त विवेचनके अनुसार वुद्धि सार-असारका विचार करके केवल निर्णय करनेवाली एक इद्रिय है, अतएव 'मेरा-तेरा' इस भेद-भावके मूलको अर्थात् अहकारको उस वुद्धिसे पथकही मानना पडता है। इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वद्व मनही के गुण है, परतु नैयायिक इन्हे आत्माके गुण समझते है। इसीलिये इस भ्रमको हटानेके लिये वेदान्तशास्त्रने इसका समावेश मनही में किया है। इसी प्रकार जिन मूल तत्त्वोसे पचमहाभूत उत्पन्न हुए है, उन प्रकृतिरूप तत्त्वोकाभी समावेश शरीरहीमें किया जाता है (गीता १३ ५, ६)। जिस शक्तिके द्वारा ये तत्त्व स्थिर रहते है, वहभी

इन सबसे न्यारी है। उसे धृति कहते हैं (गीता १८ ३३)। इन सब बातोको एकत्र करनेसे जो समुच्चय-रूपी पदार्थ बनता है उसे शास्त्रोमे सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहा है, और व्यवहारमें इसे चलता-फिरता (सविकार) मनुष्य शरीर अथवा पिंड कहते है। क्षेत्र शब्दकी यह व्याख्या गीताके आधारपर की गई है, परन्तु इच्छा-द्वेष आदि गुणोकी गणना करते समय कभी इस व्याख्यामे कुछ कुछ हेरफेरभी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शांति-पर्वके जनक-सुलभा-सवादमें (मभा शा ३२०) शरीरकी व्याख्या करते समय पचकर्मेंद्रियोके बदले काल, सदसद्भाव, विधि, शुक्र और बलका समावेश किया गया है। इस गणनाके अनुसार पचकर्मेंद्रियोको पचमहाभूतोहीमें शामिल करना पडता है, और यह मानना पडता है, कि गीताकी गणनाके अनुसार कालका अतर्भाव आकाशमें और विधि-शुक्र-बल आदियोका अतर्भाव अन्य महाभूतोमें अथवा प्रकृतिमें किया गया है। कुछभी हो, इसमे सदेह नही, कि क्षेत्र शब्दसे सब लोगोको एकही अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात, मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यो और गुणोका प्राणरूपी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, उसीको क्षेत्र कहते हैं। शरीर शब्दका उपयोग मृत देहके लियेभी किया जाता है, अतएव उस विषयका विचार करते समय 'क्षेत्र' शब्दहीका अधिक उपयोग किया जाता है, क्योकि वह शरीर शब्दसे भिन्न है। 'क्षेत्र'का मूल अर्थ खेत है, परतु प्रस्तुत प्रकरणमें 'सविकार और सजीव मनुष्य-देह'के अर्थमें उसका लाक्षणिक उपयोग किया गया है। पहले जिसे हमने 'बडा कारखाना' कहा है, वह यही "सविकार और सजीव मनुष्य देह" है। बाहरका माल इस कारखानेके भीतर लेनेके लिये और कारखानेके भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये, ज्ञानेंद्रियाँ उस कारखानेके यथाक्रम द्वार हैं, और मन, बुद्धि, अहकार एव चेतना उस कारखानेमें काम करनेवाले नौकर हैं। ये नौकर जो कुछ व्यवहार कराते है या करते हैं, उन्हे इस क्षेत्रके व्यापार, विकार अथवा धर्म कहते हैं।

इस प्रकार 'क्षेत्र' शब्दका अर्थ निश्चित हो जानेपर यह प्रश्न सहजही उठता है, कि यह क्षेत्र अथवा खेत है किसका? इस कारखानेका कोई स्वामीभी है या नही? आत्मा शब्दका उपयोग बहुधा मन, अत करण तथा स्वय अपने लियेभी किया जाता है। परतु उसका प्रधान 'अर्थ' 'क्षेत्रज्ञ अथवा "शरीरका स्वामी"ही है। मनुष्यके जितने व्यापार हुआ करते हैं – चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक – वे सब उसकी बुद्धि आदि अतरिंद्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेंद्रियाँ तथा हस्त-पाद आदि कर्मेंद्रियांही किया करती हैं। इंद्रियोंके इस समूहमे बुद्धि और मन सबसे श्रेष्ठ हैं। परतु, यद्यपि वे श्रेष्ठ है, तथापि अन्य इंद्रियोंके समान येभी मूलत जड देह या प्रकृतिकेही विकार हैं (अगला प्रकरण देखो)। अतएव, यद्यपि मन और बुद्धि सर्वश्रेष्ठ हैं, तथापि उन्हें अपने अपने विशिष्ट व्यापारोंके

अतिरिक्त और कुछ करते धरते नही बनता, और कर सकना सभव भी नही है। यह सच है, कि मन चिंतन करता है और बुद्धि निश्चय करती है। परन्तु इससे यह निर्णय नही होता कि इन कामोको बुद्धि और मन किनके लिये करते है, अथवा भिन्न भिन्न समयपर मन और बुद्धिके जो पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते है, उनका एकत्र ज्ञान होनेके लिये जो एकता करनी पडती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है, तथा उसीके अनुसार आगे सब इंद्रियोको अपना अपना व्यापार तदनुकूल करनेकी दिशा कौन दिखाता है? यह नही कहा जा सकता, कि यह सब काम मनुष्यका जड शरीरही किया करता है। इसका कारण यह है, कि जब शरीरकी चेतना अथवा हलचल करनेके सब व्यापार नष्ट हो जाते है, तब जड शरीरके बने रहने परभी वह इन कामोको नही कर सकता, और जड शरीरके घटकावयव जैसे मास, स्नायु इत्यादि तो अन्नके परिणाम हमेशा घिस जीर्ण होकर नित्य नये हो जाया करते है। इसलिये, "कल मैने जिस अमुक एक बात देखी थी, वही मै आज दूसरी देख रहा हूँ" इस प्रकारकी एकत्व-बुद्धिके विषयमे यह नही कहा जा सकता, कि वह नित्य बदलनेवाले जड शरीरकाही धर्म है। अच्छा, अब जड देह छोडकर चेतनाकोही स्वामी मानें, तो यह आपत्ति दीख पडती है, कि गाढ निद्रामें प्राणादि वायुके श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार – अर्थात् चेतना – के स्थिर रहते हुएभी, 'मै'का ज्ञान नही रहता (बृ २ १ १५–१८)। अतएव यह सिद्ध होता है, कि चेतना – अथवा प्राण प्रभृतिका व्यापार – भी जड पदार्थमें उत्पन्न एक प्रकारका विशिष्ट गुण है और वह इंद्रियोंके सब व्यापारोकी एकता करनेवाली मूल शक्ति या स्वामी नही है (कठ ५ ५)। 'मेरा' और 'पराया' इन सबधकारक शब्दोंसे केवल अहकाररूपी गुणका बोध होता है, परतु इस बातका निर्णय नही होता, कि 'अह' अर्थात् 'मै' कौन हूँ। यदि इस 'मै' या 'अह'को केवल भ्रम मान ले, तो प्रत्येकको प्रतीति अथवा अनुभव वैसा नही है, और इस अनुभवको छोड कर किसी अन्य बातकी कल्पना करना मानो श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके निम्न वचनोकी सार्थकताही कर दिखाना है – "प्रतीतिके विना कोईभी कथन अच्छा नही लगता। वह कथन ऐसा होता है, जैसे कुत्ता मुंह फैला कर रो गया हो!" (दा ९ ५ १५)। उक्त अनुभवके विपरीत किसी बातको मान लेनेपरभी इंद्रियोके व्यापारोकी एकताकी उपपत्तिका कुछभी पता नही लगता। कई लोगोकी राय है, कि 'मै' कोई भिन्न पदार्थ नही है, 'क्षेत्र' शब्दमें जिन – मन, बुद्धि, चेतना, जड देह आदि – तत्त्वोका समावेश किया जाता है, उन सबके सघात या समुच्चयकोही 'मै' कहना चाहिये। पर यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते है, कि लकडीपर लकडी रख देनेसेही सदूक नही बन जाता, अथवा किसी घडीके सब कील-पुर्जोको एक स्थानमें रख देनेसेही उनमें गति उत्पन्न

नही हो जाती । अतएव यह नही कहा जा सकता, कि केवल सघात या समुच्चयसेही कर्तृत्व उत्पन्न होता है । कहनेकी आवश्यकता नही, कि क्षेत्रके सव व्यापार योही – सिडी सरीखे नही होते । किंतु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश्य या हेतु रहता है । तो फिर इस क्षेत्ररूपी कारखानेमें काम करनेवाले मन, वुद्धि आदि सब नौकरोको इस विशिष्ट दिशा या उद्देश्यकी ओर कौन प्रवृत्त करता है ? सघातका अर्थ केवल समूह है । सव पदार्थोको एकत्र करके उनके जोडनेके लिये उनमें धागा डालना पडता है, नही तो वे फिर कभी-न-कभी अलग हो जायेंगे । अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौन-सा है ? यह बात नही है, कि गीताको सघात मान्य न हो, परतु उसकी गणना क्षेत्रहीमें की जाती है (गीता १३ ६)। सघातसे इस बातका निर्णय नही होता, कि क्षेत्रका स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है । कुछ लोग समझते हैं, कि समुच्चयमें कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है । परतु पहले तो यह मतही सत्य नही, क्योकि तत्त्वज्ञोंने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है, कि जो पहले किसीभी रूपमें अस्तित्वमें नही था, वह इस जगतमें नया उत्पन्न नही होता (गीता २ १६) । यदि हम इस सिद्धान्तको क्षणभरके लिये एक ओर धर दें, तोभी यह प्रश्न सहजही उपस्थित हो जाता है, कि सघातमें उत्पन्न होने-वाला यह नया गुणही क्षेत्रका स्वामी क्यो न माना जाय । इसपर कई अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञोका कथन है, कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नही रह सकते, गुणके लिये किसी-न-किसी अधिष्ठानकी आवश्यकता होती है । इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुणके वदले हम समुच्चयहीको उस क्षेत्रका स्वामी मानते हैं । ठीक है, परतु व्यवहारमेंभी 'अग्नि' शव्दके वदले लकडी, 'विद्युत्'के बदले मेघ, अथवा पृथ्वीकी 'आकर्षण-शक्ति'के बदले पृथ्वीही क्यो नही कहा जाता ? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि क्षेत्रके सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक और उचित रीतिसे मिल-जुलकर चलते रहनेके लिये – मन और वुद्धिके सिवा – किसी भिन्न शक्तिका अस्तित्व अत्यत आवश्यक है। और यदि यह वात सच हो, कि उस शक्तिका अधिष्ठान अवतक हमारे लिये अगम्य है, अथवा उस शक्ति या अधिष्ठानका पूर्ण-स्वरूप ठीक ठीक नही वतलाया जा सकता है, तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है, कि वह शक्ति हैही नही ? जैसे कोईभी मनुष्य अपनेही कधेपर वैठ नही सकता, वैसेही यहभी नही कहा जा सकता, कि सघातसबधी ज्ञान स्वय सघातही प्राप्त कर लेता है। अतएव तर्ककी दृष्टिसेभी यही दृढ अनुमान किया जाता है, कि देहेंद्रिय आदि सघातके व्यापार जिसके उपभोग लाभके लिये हुआ करते हैं, वह सघातसे भिन्नही है। यह तत्त्व – जो कि सघातसे भिन्न है – स्वय सब वातोको जानता है। इसलिये यह वात सच है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंके सदृश्य यह स्वय अपनेही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नही सकता। परतु उससे इसके अस्तित्वमें कुछ वाधा नही पड

सकती। क्योंकि यह नियम नहीं है, कि सब पदार्थोंको एकही श्रेणी या वर्ग – जैसे ज्ञेय – में शामिल कर देना चाहिये। सब पदार्थोंके दो वर्ग या विभाग होते हैं, जैसे ज्ञाता और ज्ञेय – अर्थात् जाननेवाला और जाननेकी वस्तु। और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय) में शामिल नही होती, तब उसका समावेश पहले वर्ग (ज्ञाता) में हो जाता है। एवं उसका अस्तित्वभी ज्ञेय वस्तुके समानही पूर्णतया सिद्ध होता है। इतनाही नही, किंतु यहभी कहा जा सकता है, कि संघातके परे जो आत्म-तत्त्व है, वह स्वयं ज्ञाता है। इसलिये उसको होनेवाले ज्ञानका यदि वह स्वयं विषय न हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नही है। इसी अभिप्रायसे बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्यने कहा है, "अरे! जो सब बातोंको जानता है, उसको जाननेवाला दूसरा कहाँसे आ सकता है?" – विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. २. ४. १४)। अतएव, अंतमें यही सिद्धान्त कहना पडता है, कि इस चेतना-विशिष्ट सजीव शरीर अर्थात् क्षेत्रमें एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर आदि इंद्रियोंसे लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतंत्र एवं एकदेशीय नौकरोंकेभी परे है, और जो उन सबके व्यापारोंकी एकता करती है, और उनके कार्योंकी दिशा बतलाती है, अथवा जो उनके कर्मोंकी नित्य साक्षी रहकर उनसे भिन्न अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रोंको यह सिद्धान्त मान्य है, और अर्वाचीन समयमें जर्मन तत्त्वज्ञ कांटनेभी कहा है, कि बुद्धिके व्यापारोंका सूक्ष्म परीक्षण करनेसे यही तत्त्व निष्पन्न होता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चेतना, ये सब शरीरके अर्थात् क्षेत्रके गुण अथवा अवयव हैं। इनका प्रवर्तक उससे भिन्न, स्वतंत्र और उसके परे है – "यो बुद्धेः परतस्तु सः" (गीता ३. ४२)। सांख्य-शास्त्रमें इसीका नाम पुरुष है। वेदान्ती इसीको क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा कहते हैं। "मैं हूँ" यह प्रत्येक मनुष्यको होनेवाली उसकी प्रतीतिही उस आत्माके अस्तित्वका सर्वोत्तम प्रमाण है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ५३, ५४)। किसीको यह नही मालूम होता, कि "मैं नही हूँ"। इतनाही नही, किंतु मुखसे "मैं नही हूँ" शब्दोंका उच्चारण करते समयभी "नही हूँ" इस क्रियापदके कर्ताका – अर्थात् 'मैं'का – अथवा आत्माका अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीतिसे मानाही करता है। इस प्रकार 'मैं' इस अहंकारयुक्त सगुण रूपसे शरीरमें, स्वयं अपनेहीको व्यक्त होनेवाले आत्मतत्त्वके अर्थात् क्षेत्रज्ञके असली, शुद्ध और गुणविरहित स्वरूपका यथाशक्ति निर्णय करनेके लियेही वेदान्तशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। (गीता १३. ४)। तथापि यह निर्णय केवल शरीर अर्थात् क्षेत्रकाही विचार करके नही किया जाता। पहले कहा जा चुका है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारके अतिरिक्त यहभी सोचना पडता है, कि बाह्यसृष्टि अर्थात् ब्रह्मांडका विचार करनेसे कौन-सा तत्त्व निष्पन्न होता है। ब्रह्मांडके इस विचारकाही नाम 'क्षर-अक्षर-विचार' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारसे इस बातका निर्णय होता है, कि क्षेत्रमें (अर्थात् शरीर

या पिंडमें) कौन-सा मूलतत्त्व (क्षेत्रज्ञ या आत्मा) है, और क्षर-अक्षर-विचारसे बाह्य सृष्टिके अर्थात् ब्रह्माडके मूल तत्त्वका ज्ञान होता है। जब इस प्रकार पिंड और ब्रह्मांडके मूल तत्त्वोका पहले पृथक् पृथक् निर्णय हो जाता है, (आगे अधिक विचार किया जाएगा), वेदान्तशास्त्रमें यह सिद्धान्त किया जाता है,* कि ये दोनो तत्त्व एकरूप अर्थात् एकही है – यानी "जो पिंडमें है, वही ब्रह्माडमें है। यही चराचर सृष्टिका अतिम सत्य है।" पश्चिमी देशोमेंभी इन बातोकी चर्चा की गई है, औट काट जैसे कुछ पश्चिमी तत्त्वज्ञोंके सिद्धान्त हमारे वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तोसे वहुत कुछ मिलते-जुलतेभी है – जब हम इस बातपर ध्यान देते है, और जब हम यहभी देखते हैं, कि वर्तमान समयकी नाई प्राचीन कालमे आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नति नही हुई थी, तब ऐसी अवस्थामें जिन लोगोंने अपनी अतर्दृष्टिसे वेदान्तके अपूर्व सिद्धान्तोको ढूंढ निकाला, उनके अलौकिक बुद्धिवैभवके बारेमें आश्चर्य हुए बिना नही रहता। और केवल आश्चर्यही नही होना चाहिये, किंतु हमें उनपर उचित अभिमानभी होना चाहिये।

---

* हमारे शास्त्रोके क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारके वर्गीकरणसे ग्रीनसाहब परिचित न थे। तथापि, उन्होने अपने *Prolegomena to Ethics* ग्रथके आरभमे अध्यात्मका जो विवेचन किया है, उसमे पहले Spiritual Principle in Nature और Spiritual Principle in Man इन दोनो तत्त्वोका विचार किया है और फिर उनकी एकता दिखाई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमे Psychology आदि मानस-शास्त्रोका, और क्षर-अक्षर-विचारमे Physics, Metaphysics आदि शास्त्रोका समावेश होता है। इस बातको पश्चिमी पडितभी मानते है, कि उक्त सब शास्त्रोका विचार कर लेनेपरही आत्मस्वरूपका निर्णय करना पडता है।

सातवाँ प्रकरण

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। *

— गीता १३ १९

पिछले प्रकरणमें यह बात बतला दी गई है, कि शरीर और शरीरके स्वामी या अधिष्ठाता — क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ — के विचारके साथही साथ दृश्य सृष्टि और उसके मूलतत्त्व — क्षर और अक्षर — काभी विचार करनेके पश्चात् फिर आत्माके स्वरूपका निर्णय करना पडता है। इस क्षर-अक्षर सृष्टिका योग्य रीतिसे वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्य शास्त्र। परतु इन दोनो शास्त्रोंके सिद्धान्तोंको अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्रने ब्रह्म-स्वरूपका निर्णय एक तीसरीही रीतिसे किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपपत्तिका विचार करनेके पहले हमें न्याय और सांख्यशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्यके वेदान्तसूत्रोंमें इसी पद्धतिसे काम लिया गया है, और न्याय तथा सांख्यके मतोंका दूसरे अध्यायमें खडन किया गया है। यद्यपि इस विषयका यहांपर विस्तृत वर्णन नही कर सकते, तथापि हमने उन बातोंका उल्लेख इस प्रकरणमें और अगले प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया है, जिनकी भगवद्गीताका रहस्य समझनेमें आवश्यकता है। नैयायिकोंके सिद्धान्तोकी अपेक्षा सांख्यवादियोंके सिद्धान्त अधिक महत्त्वके हैं। इसका कारण यह है, कि कणादके न्यायमतोंको किसीभी प्रमुख वेदान्तीने स्वीकार नही किया है, परतु कापिलसांख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्तोंका उल्लेख मनु आदिके स्मृति ग्रथोंमें तथा गीतामेंभी पाया जाता है। यही बात बादरायणाचार्यनेभी (वे सू २ १ १२ और २ २ १७) कही है। इस कारण पाठकोंको सांख्यके सिद्धान्तोंका परिचय प्रथमही होना चाहिये। इसमें सदेह नही कि वेदान्तमें सांख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्त पाये जाते है, परतु स्मरण रहे, कि सांख्य और वेदान्तके अतिम सिद्धान्त एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदान्त और सांख्यके जो सिद्धान्त आपसमें मिलते जुलते हैं, उन्हें पहले किसने निकाला था — वेदान्तियोंने या सांख्यवादियोंने ? परतु इस ग्रथमें इतने गहन विचारमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता नही। फिरभी इस प्रश्नका उत्तर तीन प्रकारसे दिया

---

* "प्रकृति और पुरुष दोनोको अनादि जानो।"

जा सकता है। पहला यह, कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और साख्य दोनोकी वृद्धि, दो सगे भाइयोके समान, साथही साथ हुई हो, और उपनिषदोमें जो सिद्धान्त साख्योके मतोके समान दीख पडते है, उन्हे उपनिषत्कारोंने स्वतत्र रीतिसे खोज निकाला हो। दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त साख्यशास्त्रसे लेकर वेदान्तियोंने उन्हे वेदान्तके अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्तके सिद्धान्तोमेंही कपिलाचार्यने अपने मतके अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके साख्यशास्त्रकी उपपत्ति कर दी हो। इन तीनोमेंसे तीसरी बातही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है, क्योकि, यद्यपि वेदान्त और साख्य दोनो बहुत प्राचीन है, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् साख्यसेभी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु, यदि पहले हम न्याय और साख्यके सिद्धान्तोको अच्छी तरह समझ ले तो फिर वेदान्तके – विशेषत गीता-प्रतिपादित वेदान्तके – तत्त्व जल्दी समझमें आ जायेंगे। इसलिये पहले हमें इस बातका विचार करना चाहिये, कि इन दो स्मार्त शास्त्रोका, क्षर-अक्षर-सृष्टिकी रचनाके विषयमे क्या मत है।

बहुतेरे लोक न्यायशास्त्रका यही उपयोग समझते हैं, कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बातसे तर्कके द्वारा कौन-कौन-से अनुमान निकाले जावे और कैसे ? और यह निर्णय कैसे किया जावे, कि इन अनुमानोमेंसे कौन-से सही है और कौन-से गलत है। परतु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखड न्यायशास्त्रका एक भाग है सही, पर क्यो ? परतु यही उसका प्रधान विषय नही है, तो प्रमाणोके अतिरिक्त, सृष्टिकी अनेक वस्तुओका यानी प्रमेय पदार्थोंका वर्गीकरण करके नीचेके वर्गसे ऊपरके वर्गकी ओर चढते जानेसे सृष्टिके सब पदार्थोंके मूल वर्ग कितने है, उनके गुण-धर्म क्या है, उनसे अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति कैसे हुई है, और ये बाते किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं, इत्यादि अनेक प्रश्नोकाभी विचार न्यायशास्त्रमें किया गया है। अत यही कहना उचित होगा, कि यह शास्त्र केवल अनुमानखडका विचार करनेके लिये नही, वरन् उक्त प्रश्नोका विचार करनेहीके लिये निर्माण किया गया है। कणादके न्यायसूत्रोका आरभ और आगेकी रचनाभी इसी प्रकारकी है। कणादके अनुयायियोको कणाद कहते हैं। इन दोनोका कहना है, कि जगतका मूल कारण परमाणुही है। परमाणुके विषयमें कणादकी और पश्चिमी भौतिक-शास्त्रज्ञोकी व्याख्या एक-सी समानही है। किसीभी पदार्थका विभाग करते करते अतमें जब विभाग नही हो सकता, तब उसे परमाणु (आधिपरम + अणु) कहना चाहिये। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते है, वैसे वैसे सयोगके कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते है, और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और शरीरकेभी परमाणु होते है, और जब वे एकत्र होत है तब चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुके परमाणु स्वभावहीसे पृथक् पृथक् है। पृथ्वीके मूलपरमाणुमें चार गुण (रूप, रस, गध, स्पर्श) है,

सातवाँ प्रकरण

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। *

— गीता १३ १९

पिछले प्रकरणमें यह बात बतला दी गई है, कि शरीर और शरीरके स्वामी या अधिष्ठाता — क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ — के विचारके साथही साथ दृश्य सृष्टि और उसके मूलतत्त्व — क्षर और अक्षर — काभी विचार करनेके पश्चात् फिर आत्माके स्वरूपका निर्णय करना पडता है। इस क्षर-अक्षर सृष्टिका योग्य रीतिसे वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्य-शास्त्र। परतु इन दोनो शास्त्रोंके सिद्धान्तोको अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्रने ब्रह्म-स्वरूपका निर्णय एक तीसरीही रीतिसे किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपपत्तिका विचार करनेके पहले हमें न्याय और साख्यशास्त्रोंके सिद्धान्तोपर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्यके वेदान्तसूत्रोंमें इसी पद्धतिसे काम लिया गया है, और न्याय तथा साख्यके मतोका दूसरे अध्यायमें खडन किया गया है। यद्यपि इस विषयका यहांपर विस्तृत वर्णन नही कर सकते, तथापि हमने उन बातोका उल्लेख इस प्रकरणमें और अगले प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया है, जिनकी भगवद्गीताका रहस्य समझनेमें आवश्यकता है। नैयायिकोंके सिद्धान्तोकी अपेक्षा साख्यवादियोंके सिद्धान्त अधिक महत्त्वके हैं। इसका कारण यह है, कि कणादके न्यायमतोको किसीभी प्रमुख वेदान्तीने स्वीकार नही किया है, परतु कापिलसाख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्तोका उल्लेख मनु आदिके स्मृति ग्रथोमें तथा गीतामेंभी पाया जाता है। यही बात बादरायणाचार्यनेभी (वे सू २ १ १२ और २ २ १७) कही है। इस कारण पाठकोको साख्यके सिद्धान्तोका परिचय प्रथमही होना चाहिये। इसमें सदेह नही कि वेदान्तमें साख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्त पाये जाते हैं, परतु स्मरण रहे, कि साख्य और वेदान्तके अंतिम सिद्धान्त एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदान्त और साख्यके जो सिद्धान्त आपसमें मिलते जुलते है, उन्हे पहले किसने निकाला था — वेदान्तियोंने या साख्यवादियोंने? परतु इस ग्रथमें इतने गहन विचारमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता नही। फिरभी इस प्रश्नका उत्तर तीन प्रकारसे दिया

---

* "प्रकृति और पुरुष दोनोको अनादि जानो।"

जा सकता है। पहला यह, कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनोंकी वृद्धि, दो सगे भाइयोंके समान, साथही साथ हुई हो, और उपनिषदोंमें जो सिद्धान्त सांख्योंके मतोंके समान दीख पडते हैं, उन्हे उपनिषत्कारोंने स्वतन्त्र रीतिसे खोज निकाला हो। दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्रसे लेकर वेदान्तियोंने उन्हें वेदान्तके अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्तके सिद्धान्तोंमेंही कपिलाचार्यने अपने मतके अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्यशास्त्रकी उपपत्ति कर दी हो। इन तीनोंमेंसे तीसरी बातही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है, क्योंकि, यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्यसेभी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु, यदि पहले हम न्याय और सांख्यके सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ ले तो फिर वेदान्तके — विशेषत गीता-प्रतिपादित वेदान्तके — तत्त्व जल्दी समझमें आ जायेंगे। इसलिये पहले हमें इस बातका विचार करना चाहिये, कि इन दो स्मार्त शास्त्रोंका, क्षर-अक्षर-सृष्टिकी रचनाके विषयमें क्या मत है।

बहुतेरे लोक न्यायशास्त्रका यही उपयोग समझते हैं, कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बातसे तर्कके द्वारा कौन-कौन-से अनुमान निकाले जावे और कैसे ? और यह निर्णय कैसे किया जावे, कि इन अनुमानोंमेंसे कौन-से सही हैं और कौन-से गलत हैं। परतु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखड न्यायशास्त्रका एक भाग है सही, पर क्यों ? परतु यही उसका प्रधान विषय नही है, तो प्रमाणोंके अतिरिक्त, सृष्टिकी अनेक वस्तुओंका यानी प्रमेय पदार्थोंका वर्गीकरण करके नीचेके वर्गसे ऊपरके वर्गकी ओर चढते जानेसे सृष्टिके सब पदार्थोंके मूल वर्ग कितने हैं, उनके गुण-धर्म क्या हैं, उनसे अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति कैसे हुई है, और ये बाते किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं, इत्यादि अनेक प्रश्नोंकाभी विचार न्यायशास्त्रमें किया गया है। अत यही कहना उचित होगा, कि यह शास्त्र केवल अनुमानखडका विचार करनेके लिये नही, वरन् उक्त प्रश्नोंका विचार करनेहीके लिये निर्माण किया गया है। कणादके न्यायसूत्रोंका आरभ और आगेकी रचनाभी इसी प्रकारकी है। कणादके अनुयायियोंको कणाद कहते हैं। इन दोनोंका कहना है, कि जगतका मूल कारण परमाणुही है। परमाणुके विषयमें कणादकी और पश्चिमी भौतिक-शास्त्रज्ञोंकी व्याख्या एक-सी समानही है। किसीभी पदार्थका विभाग करते करते अतमें जब विभाग नही हो सकता, तब उसे परमाणु (आधिपरम + अणु) कहना चाहिये। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं, वैसे वैसे सयोगके कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं, और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और शरीरकेभी परमाणु होते हैं, और जब वे एकत्र होते हैं तब चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुके परमाणु स्वभावहीसे पृथक् पृथक् हैं। पृथ्वीके मूलपरमाणुमें चार गुण (रूप, रस, गध, स्पर्श) हैं,

पानीके परमाणुमें तीन गुण हैं, तेजके परमाणुमें दो गुण है और वायुके परमाणुमें एकही गुण है। इस प्रकार सब जगत् पहलेसेही सूक्ष्म और नित्य परमाणुओंसे भरा हुआ है। परमाणुओंके सिवा संसारका मूल कारण और कुछभी नही है। जब सूक्ष्म और नित्य परमाणओंके परस्पर संयोगका 'आरंभ' होता है तब सृष्टिके व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित व्यक्त सृष्टिकी उत्पत्तिके संबंधकी इस कल्पनाको 'आरंभवाद' कहते हैं और कुछ नैयायिक इसके आगे कभी नही बढते। एक नैयायिकके बारेमे कहा जाता है कि मृत्युके समय जब उससे ईश्वरका नाम लेनेको कहा गया, तब वह "पीलव ! पीलव ! पीलव !"—परमाणु ! परमाणु ! परमाणु ! —चिल्ला उठा। तथापि, कुछ दूसरे नैयायिक यह मानते हैं, कि परमाणुओंके संयोगका निमित्तकारण ईश्वर है ! इस प्रकार वे सृष्टिकी कारण-परम्पराकी शृंखलाको पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकोंको 'सेश्वर' कहते हैं। वेदान्तसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें इस परमाणुवादका (२ २ ११–१७) और इसके साथही साथ "ईश्वर केवल निमित्तकारण है" इस मतकाभी (२ २ ३७–३९) खंडन किया गया है।

उल्लिखित परमाणुवादका वर्णन पढकर अंग्रेजी पढे-लिखे पाठकोंको अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ डाल्टनके परमाणुवादका अवश्यही स्मरण होगा। परंतु पश्चिमी देशोंमें प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ डार्विनके उत्क्रान्तिवादने जिस प्रकार डाल्टनके परमाणुवादकी जडही उखाड दी है, उसी प्रकार हमारे देशमेंभी प्राचीन समयमे सांख्य-मतने कणादके मतकी बुनियाद हिला डाली थी। कणाद और उसके अनुयायी यह नही बतला सकते, कि मूल परमाणुको गति कैसे मिली। इसके अतिरिक्त वे लोग इस बातकाभी यथोचित निर्णय नही कर सकते, कि वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि सचेतन प्राणियोंकी क्रमश बढती हुई श्रेणियाँ कैसे बनी, और अचेतनको सचेतनता कैसे प्राप्त हुई। यह निर्णय पश्चिमी देशोमे उन्नीसवी सदीमें लामार्क और डार्विनने, तथा हमारे यहाँ प्राचीन समयमे कपिलमुनिने किया है। दोनो मतोंका यही तात्पर्य है, कि एकही मूलपदार्थके गुणोंका विकास हुआ, और फिर धीरे धीरे सब सृष्टिकी रचना होती गई। इस कारण पहले हिंदुस्थानमें, और अब सब पश्चिमी देशोंमेंभी, परमाणुवादपर विश्वास नही रहा है। अब तो आधुनिक पदार्थशास्त्रज्ञोंने यहभी सिद्ध कर दिखाया है, कि परमाणु अविभाज्य नही है। आजकल जैसे सृष्टिके अनेक पदार्थोंका पृथक्करण और परीक्षण करके अनेक सृष्टिशास्त्रोंके आधारपर परमाणुवाद या उत्क्रांतिवादको सिद्ध कर दे सकते है, वैसे प्राचीन समयमे नही कर सकते थे। सृष्टिके पदार्थोंपर नये नये और भिन्न भिन्न प्रयोग करना, अथवा अनेक प्रकारसे उनका पृथक्करण करके गुण-धर्म निश्चित करना, या सजीव सृष्टिके नये पुराने अनेक प्राणियोंके शारीरिक अवयवोंकी एकत्र तुलना करना इत्यादि आधिभौतिक शास्त्रोंकी अर्वाचीन युक्तियाँ

कणाद या कपिलको मालूम नही थी। उस समय उनकी दृष्टिके सामने जितनी सामग्री थी, इसीके आधारपर उन्होंने अपने अपने सिद्धान्त ढूंढ निकाले है। तथापि, यह आश्चर्यकी बात है, कि सृष्टिकी वृद्धि और उसकी घटनाके विषयमें सांख्य-शास्त्रकारोंके तात्त्विक सिद्धान्तमे और अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रकारोंके तात्त्विक सिद्धान्तमे, बहुत-सा भेद नही है। इसमे सदेह नही, कि सृष्टिशास्त्रके ज्ञानकी वृद्धिके कारण वर्तमान समयमें इस मतकी आधिभौतिक उपपत्तिका वर्णन अधिक नियमबद्ध प्रणालीसे किया जा सकता है, और आधिभौतिक ज्ञानकी वृद्धिके कारण हमे व्यवहारकी दृष्टिसेभी बहुत लाभ हुआ है। परतु आधि-भौतिक शास्त्रकारभी "एकही अव्यक्त प्रकृतिसे अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि कैसे हुई" इस विषयमें कपिलकी अपेक्षा कुछ अधिक नही बतला सकते। इस बातको भली भाँति समझा देनेके लियेही हमने आगे चल कर, बीचमें स्थान-स्थान-पर, कपिलके सिद्धान्तोंके साथ साथ, हेकेलके सिद्धान्तोकाभी, तुलनाके लिये सक्षिप्त वर्णन किया है। हेकेलने अपने ग्रथमें साफ साफ लिख दिया है, कि मैंने ये सिद्धान्त कुछ नये सिरेसे नही खोजे हैं, वरन्, डार्विन, स्पेन्सर इत्यादि पिछले आधिभौतिक पडितोंके ग्रथोंके आधारसेही मैं अपने सिद्धान्तोका प्रतिपादन करता हूँ। तथापि पहले पहल उसीने इन सब सिद्धान्तोको ठीक ठीक नियमानुसार लिख कर सरलतापूर्वक इनका एकत्र वर्णन "विश्वकी पहेली"* नामक ग्रथमें किया है। इस कारण, सुभीतेके लिये, हमने उसेही सब आधिभौतिक तत्त्वज्ञोका मुखिया माना है, और उसीके मतोका इस प्रकरणमें तथा अगले प्रकरणमें विशेष उल्लेख किया है। कहनेकी आवश्यकता नही, कि यह उल्लेख बहुतही सक्षिप्त हैं, परतु इससे अधिक इन सिद्धान्तोका विवेचन इस ग्रथमे नही किया जा सकता। जिन्हे इस विषयका विस्तृत वर्णन पढना हो, उन्हे स्पेन्सर, डार्विन, हेकेल आदि पडितोंके मूल ग्रथोंका अवलोकन करना चाहिये।

कपिलके सांख्यशास्त्रका विचार करनेके पहले यह कह देना उचित होगा, कि 'सांख्य' शब्दके दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। पहला अर्थ कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सांख्यशास्त्र' है। उसीका उल्लेख इस प्रकरणमें, तथा एक बार भगवद्-गीता (गीता १८ १३) मेंभी किया गया है। परतु इस विशिष्ट अर्थके सिवा सब प्रकारके तत्त्वज्ञानकोभी सामान्यत 'सांख्य'ही कहनेकी परिपाटी है, और इसी 'सांख्य' शब्दमें वेदान्तशास्त्रकाभी समावेश होता है। 'सांख्यनिष्ठा'। अथवा 'सांख्ययोग' शब्दोंमें 'सांख्य'का यही सामान्य अर्थ अभीष्ट है। इस निष्ठाके ज्ञानी पुरुषोकोभी भगवद्गीतामे जहाँ (गीता २ ३९, ३ ३, ५ ४, ५, और १३ २४)

---

* *The Riddle of the Universe*, by Ernst Haeckel इस ग्रथकी R P A Cheap reprint आवृत्तिकाही हमने सर्वत्र उपयोग किया है।

'सांख्य' कहा है, वहाँ सांख्यका अर्थ केवल कापिल सांख्यमार्गीही नहीं है, वरन् उसमें, आत्म-अनात्म-विचारसे सब कर्मोका सन्यास करके ब्रह्मज्ञानहीमें निमग्न रहनेवाले वेदान्तियोकाभी समावेश किया जाता है। शब्दशास्त्रज्ञोका कथन है, कि 'सांख्य' शब्द 'सख्या' धातुसे बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है, और कापिलशास्त्रके मूल तत्त्व इनेगिने 'पचीस'ही है। इसलिये उन्हें 'गिननेवालेके' अर्थमें यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम पहले दिया गया। अनतर 'सांख्य' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक हो गया, और उसमें सब प्रकारके तत्त्वज्ञाका समावेश होने लगा। यही कारण है, कि जब पहले पहल कापिल – भिक्षुओको 'सांख्य' कहनेकी परिपाटी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती सन्यासियोकोभी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछभी हो, इस प्रकरणका, हमने जानबूझकर, यह लबा-चौडा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है, कि सांख्य शब्दके उक्त अर्थभेदके कारण कुछ गडबडी न हो। कापिलसांख्यशास्त्रमेंभी कणादके न्यायशास्त्रके समान सूत्र है। परतु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शकराचार्यने इन सूत्रोका आधार अपने ग्रथोमे नही लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते है, कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हो। ईश्वरकृष्णकी 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रोसे प्राचीन मानी जाती है, और उसपर श्री शकराचार्यके दादागुरु गौडपादने भाष्य लिखा है। शाकर-भाष्यमेंभी इसी कारिकाके कुछ अवतरण लिये है। सन ५७० ईसवीसे पहले इस ग्रथका जो अनुवाद चीनी भाषामें हुआ था, वह इस समय उपलब्ध है।* ईश्वरकृष्णने अपनी 'कारिका'के अतमें कहा है, कि 'षष्टितत्र' नामक साठ प्रकरणोंके एक प्राचीन और विस्तृत ग्रथका भावार्थ (कुछ प्रकरणोको छोड) सत्तर आर्या-पद्योमें इस ग्रथमें दिया गया है। यह षष्टितत्र ग्रथ अब उपलब्ध नही है। इसीलिये उन कारिकाओंके आधारपरही कापिल-सांख्यशास्त्रके मूल सिद्धान्तोका विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारतमें सांख्य-

---

* अब बौद्ध ग्रथोसे ईश्वरकृष्णका बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पडित वसुबधुका गुरु ईश्वरकृष्णका समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबधुका जो जीवन चरित, परमार्थने (सन ई ४९९–५६९ में) चीनी भाषामें लिखा था, वह अब प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टककसूने यह अनुमान किया है, कि ईश्वरकृष्णका समय सन ४५० ई के लगभग है। *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland*, 1905, pp 33-53 परतु डॉक्टर विन्सेट स्मिथकी राय है कि, स्वय वसुबधुका समयही चौथी सदीमें (लगभग २८०–३६०) होना चाहिये। क्योकि उसके ग्रथोका अनुवाद सन ४०४ ईसवीमें चीनी भाषामें हुआ है। वसुबधुका समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है, तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्णका समयभी करीब २०० वर्ष पीछे हटाना पडता है, अर्थात् सन २४० ईसवीके लगभग ईश्वरकृष्णका समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India*, 3rd Ed , P 328

मतका निर्णय कई अध्यायोमें किया गया है। परतु उनमें वेदान्त-मतोकाभी मिश्रण हो गया है, इसलिये कपिलके शुद्ध साख्य-मतको जाननेके लिये दूसरे ग्रथोकोभी देखनेकी आवश्यकता होती है। इस कामके लिये उक्त साख्यकारिकाकी अपेक्षा कोईभी अधिक प्राचीन ग्रथ इस समय उपलब्ध नही है। भगवानने भगवद्गीतामें कहा है, कि " सिद्धाना कपिलो मुनि " (गीता १० २६) – सिद्धोमेंसे कपिलमुनि मैं हूँ, – इससे कपिलकी योग्यता भली भाँति सिद्ध होती है। तथापि यह बात मालूम नही, कि कपिल ऋषि कहाँ और कब हूए। शातिपर्व (मभा शा ३४० ६७) में एक जगह लिखा है, कि सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सन, सनत्सुजात, सनातन और कपिल ये सातो ब्रह्मदेवके मानसपुत्र है और इन्हे जन्महीसे ज्ञान हो गया था। दूसरे स्थान (मभा शा २१८)में कपिलके शिष्य आसुरि और उसके चेले पचशिखने जनकको साख्यशास्त्रका जो उपदेश दिया था उसका उल्लेख है। इसी प्रकार शातिपर्व (मभा शा ३०१ १०८, १०९)में भीष्मने कहा है, कि साख्योने सृष्टि-रचना इत्यादिके बारेमे एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है, वही " पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र " आदि सबमें पाया जाता है। वही क्यो, यहाँतक कहा गया है, कि " ज्ञान च लोके यदहास्ति किंचित् साख्यागत तच्च महन्महात्मन् " – अर्थात् इस जगतका सब ज्ञान साख्योंसेही प्राप्त हुआ है (मभा शा ३०१ १०९)। यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि वर्तमान समयमें पश्चिमी ग्रथकार उत्क्रातिवादका उपयोग सब जगह कैसे किया करते हैं, तो यह बात आश्चर्यजनक नही मालूम होती, कि इस देशके निवासियोंनेभी उत्क्रातिवादकी बराबरीके सख्याशास्त्रका सर्वत्र कुछ अशमें स्वीकार किया है। 'गुरुत्वाकर्षण' सृष्टिरचनाके 'उत्क्रातितत्त्व'* या 'ब्रह्मात्मैक्य'के समान उदात्त विचार सैंकडो बरसोंके बादही किसी महात्माके ध्यानमें आया करते हैं। इसलिये यह बात सामान्यत सभी देशोंके ग्रथोमें पाई जाती है, कि जिस समय जो सामान्य सिद्धान्त या व्यापक तत्त्व समाजमें प्रचलित रहता है, उसके आधारपरही किसी ग्रथके विषयका प्रतिपादन किया जाता है।

आजकल कापिलसाख्यशास्त्रका अभ्यास प्राय लुप्त हो गया है, इसीलिये यह प्रस्तावना करनी पडी। अब हम यह देखेंगे, कि इस शास्त्रके मुख्य सिद्धान्त कौन-से हैं। साख्यशास्त्रका पहला सिद्धान्त यह है, कि इस ससारमें कोईभी नई वस्तु उत्पन्न नही होती। क्योकि, शून्यसे – अर्थात् जो पहले थाही नही उससे –

* Evolution Theory के अर्थमें 'उत्क्राति-तत्त्व' का उपयोग आजकल किया जाता है, इसलिये हमनेभी यहाँ उसी शब्दका प्रयोग किया है। परतु सस्कृतमें 'उत्क्राति' शब्द का अर्थ मृत्यु है। इस कारण 'उत्क्राति'के बदले गुणविकास, गुणोत्कर्ष, या गुणपरिणाम आदि साख्यवादियोके शब्दोका उपयोग करना हमारी समझमें अधिक योग्य होगा।

शून्यको छोड और कुछभी प्राप्त हो नही सकता। इसलिये यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये, कि उत्पन्न वस्तुमें – अर्थात् कार्यमें – जो गुण दीख पडते है, वे गुण जिससे यह वस्तु उत्पन्न हुई है, उसमें (अर्थात् कारणमें) सूक्ष्म रीतिसे तो अवश्य होनेही चाहिये (सा का ९)। बौद्ध और काणाद यह मानते हैं, कि पदार्थका नाश हो कर उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। उदाहरणार्थ, बीजका नाश होनेके बाद उससे अकुर और अकुरका नाश होनेके बाद उससे पेड होता है। परतु सास्य-शास्त्रियो और वेदान्तियोको यह मत पसद नही है। वे कहते है, कि वृक्षके बीजमें जो 'द्रव्य' हैं उनका नाश नही होता, किंतु वेही द्रव्य जमीनसे और वायुसे दूसरे द्रव्योको खीच लिया करते हैं, और इसी कारणसे बीजको अकुरका नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे सू शा भा २ १ १८)। इसी प्रकार जब लकडी जलती है, तब उसकेही राख या धुआँ आदि रूपातर हो जाते है। लकडीके मूल 'द्रव्यो'का नाश हो कर धुआँ नामक कोई नया पदार्थ उत्पन्न नही होता। छादोग्योपनिषद् (छा ६ २ १) में कहा है, "कथमसत सज्जायेत" – जो है ही नही – उससे जो है – वह कैसे प्राप्त हो सकता है? जगतके मूल कारणके लिये 'असत्' शब्दका उपयोग कभी कभी उपनिषदोमें किया गया है, (छा ३ १९ १, तै २ ७ १), परतु यहाँ 'असत्'का अर्थ 'अभाव नही' नही है, किंतु वेदान्तसूत्रो (वे सू २ १ १६, १७) में यह निश्चय किया गया है, कि 'असत्' शब्दसे केवल नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्थाका अभावही विवक्षित है। दूधसेही दही बनता है, पानीसे नही, तिलमेही तेल निकलता है, बालूसे नही, इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवोसेभी यही सिद्धान्त प्रकट होता है। यदि हम यह मान ले, कि 'कारण' में जो गुण नही है, वे 'कार्य'में स्वतत्र रीतिसे उत्पन्न होते हैं, तो फिर हम इसका कारण नही बतला सकते, कि पानीसे दही क्यो नही बनता? साराश यह है, कि जो मूलमें हैही नही, उससे अभी जो अस्तित्वमें है, वह उत्पन्न नही हो सकता। इसलिये सास्यवादियोने यह सिद्धान्त निकाला है, कि किसी कार्यके वर्तमान द्रव्याश और गुण मूल कारणमेंभी किसी न किसी रूपसे स्थिर रहते है। इसी सिद्धान्तको **'सत्कार्यवाद'** कहते हैं। अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानके ज्ञाताओनेभी यही सिद्धान्त ढूंढ निकाला है, कि पदार्थोंके जड द्रव्य और कर्मशक्ति दोनो सर्वदा स्थिर रहते है। और किसी पदार्थके चाये जितने रूपातर हो जायें, तोभी अन्तमें सृष्टिके कुल द्रव्याशका और कर्मशक्तिका जोड हमेशा एकसा बना रहता है। उदाहरणार्थ, जब हम दीपकको जलता देखते है, तब तेलभी धीरे धीरे कम होता जाता है, और अतमें वह नष्ट हुआसा दीख पडता है। यद्यपि यह सब तेल जल जाता है, तथापि उसके परमाणुओका बिलकुलही नाश नही हो जाता। उन परमाणुओका अस्तित्व धुएँ या काजल या अन्य सूक्ष्म द्रव्योंके रूपमे बना रहता है। यदि हम इन सूक्ष्म द्रव्योको एकत्र करके तौले तो मालूम

होगा, कि उनका तौल या वज़न तेल और तेलके जलते समय उसमें मिले हुए वायुके पदार्थोंके तौलके बराबर होता है। अब तो यहभी सिद्ध हो चुका है, कि उक्त नियम कर्मशक्तिके विषयमेंभी लगाया जा सकता है। यह बात याद रखनी चाहिये, कि यद्यपि आधुनिक पदार्थविज्ञानशास्त्रका और साख्यशास्त्रका सिद्धान्त दिखनेमें एक-सा है, फिरभी साख्यशास्त्रका सिद्धान्त केवल एक पदार्थसे दूसरे पदार्थकी उत्पत्तिके विषयमें – अर्थात् सिर्फ कार्य-कारण-भावहीके सबधमें उपयुक्त होता है। परन्तु, अर्वाचीन पदार्थविज्ञानशास्त्रका सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। 'कार्य'का कोईभी गुण 'कारण'के बाहरके गुणोंसे उत्पन्न नही हो सकता। इतनाही नही, किंतु जब कारणको कार्यका स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्यमें रहनेवाले द्रव्याश और कर्म-शक्तिका कुछभी नाश नही होता और पदार्थकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके द्रव्याश और कर्मशक्तिके जोडका वज़नभी सदैव एकही-सा रहता है – न तो वह घटता है और न बढता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोगसे गणितके द्वारा सिद्ध कर दी गई है और यही उक्त दोनो सिद्धान्तोकी महत्त्वकी विशेषता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तो हमें जान पडता हैं, कि भगवद्गीताके "नासतो विद्यते भाव " – जो रही नही, उसका कभीभी अस्तित्व हो नही सकता – इत्यादि सिद्धान्त जो दूसरे अध्यायके आरभमें दिये हैं (गीता २ १६), वे यद्यपि देखनेमें सत्कार्यवादके समान दीख पडे, तोभी उनकी समता केवल कार्यकारणात्मक सत्कार्यवादकी अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्रके सिद्धान्तोके साथ अधिक हैं। छादोग्योपनिषद्के उपर्युक्त वचनकाभी यही भावार्थ है। साराश, सत्कार्यवादका सिद्धान्त वेदान्तियोको मान्य है, परतु अद्वैत वेदान्तशास्त्रका मत है, कि इस सिद्धान्तका उपयोग सगुण सृष्टिके परे नही किया जा सकता। और निर्गुणमे सगुणकी उत्पत्ति कैसे दीख पडती है इस बातकी उपपत्ति औरही प्रकारसे लगानी चाहिये। इस वेदान्त-मतका विचार आगे चलकर अध्यात्म-प्रकरणमें विस्तृत रीतिसे किया जायगा। इस समय तो हमें सिर्फ यही विचार करना है, कि साख्यवादियोकी पहुँच कहाँतक है। इसलिये अब हम इस बातका विचार करेंगे, कि सत्कार्यवादका सिद्धान्त मानकर साख्योंने क्षर-अक्षर शास्त्रमें उसका उपयोग कैसे किया है।

साख्यमतानुसार जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप-ही-आप गिर जाता है, कि दृश्यसृष्टिकी उत्पत्ति शून्यसे अर्थात् किसी पदार्थके पहले न रहते हुई है। क्योकि, शून्यमे अर्थात् जो कुछभी नही है, उससे जो "अस्तित्वमें है" वह उत्पन्न नही हो सकता। इस बातसे यह साफ साफ सिद्ध होता है, कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थसे उत्पन्न हुई है और इस समय सृष्टिमें जो गुण हमे दीख पडते है, वेही इसके मूलपदार्थमेंभी होने चाहिये। अब यदि हम सृष्टिकी ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पडते हैं, और इन सबके रूप तथा गुणभी भिन्न भिन्न हैं। साख्यवादियोका सिद्धान्त है, कि

यह भिन्नता या नानात्व मूलमें – अर्थात् मूल पदार्थमे – नही है, किंतु मूलमें सव वस्तुओका द्रव्य एकही है। अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञोने भिन्न भिन्न द्रव्योका पृथक्करण करके पहले ६२ मूलतत्त्व ढूंढ निकाले थे, परतु अव पश्चिमी विज्ञानवेत्ताओनेभी यह निश्चय कर लिया है, कि ये ६२ मूल तत्त्व स्वतन्त्र या स्वयसिद्ध नही है। किंतु इन सवकी जडमे कोई-न-कोई एकही पदार्थ है, और उस पदार्थहीसे सूर्य, चद्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसलिये अव उक्त सिद्धान्तका अधिक विवेचन आवश्यक नही है। जगतके सव पदार्थोका जो यह मूलद्रव्य है, उसेही साख्यशास्त्रमें 'प्रकृति' कहते है। प्रकृतिका अर्थ 'मूलधर्म, है। इस प्रकृतिसे आगे जो पदार्थ वनते है, उन्हे 'विकृति' अर्थात् मूलद्रव्यके विकार कहते है।

परतु यद्यपि सब पदार्थोमें मूल द्रव्य एकही है, तथापि यदि इस मूल द्रव्यमें गुणभी एकही हो, तो सत्कार्यवादानुसार इस एकही गुणसे अनेक गुणोका उत्पन्न होना सभव नही है। और इधर तो जव हम इस जगतके पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थोकी ओर देखते है, तव उनमें भिन्न भिन्न अनेक गुण पाये जाते है। इसलिये पहले सव पदार्थोके गुणोका निरीक्षण करके साख्यवादियोने इन गुणोके सत्त्व, रज और तम ये तीन भेदया वर्ग कर दिये है। इसका कारण यही है, कि जव हम किसीभी पदार्थको देखते है, तव स्वभावत उसकी दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ दीख पडती है, – पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णावस्था और दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था। परतु साथही साथ निकृष्टावस्थासे पूर्णावस्थाकी ओर वढनेकी उस पदार्थकी प्रवृत्तिभी दृष्टिगोचर हुआ करती है, यही तीसरी अवस्था है। इन तीनो अवस्थाओमेंसे शुद्धावस्था या पूर्णावस्थाको सात्त्विक, निकृष्टावस्थाको तामसिक और प्रवर्तकावस्थाको राजसिक कहते है। इस प्रकार साख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्व, रज और तम तीनो गुण सव पदार्थोके मूलद्रव्यमे अर्थात् उनकी प्रकृतिमें आरभसेही रहा करते है। इसलिये यदि यह कहा जाय, कि इन तीन गुणोहीको प्रकृति कहते हैं, तो अनुचित नही होगा। इन तीनो गुणोमेंसे प्रत्येक गुणका जोर आरभमें समान या वरावर रहता है, इसीलिये पहले पहल यह प्रकृति साम्यावस्थामें रहती है। यह साम्यावस्था जगतके आरभमें थी, और जगत्का लय हो जानेपर वैसीही फिर हो जायगी। साम्यावस्थामें कुछभी हलचल नही होती, सव कुछ स्तव्ध रहता है। परतु जव उक्त तीनो गुण न्यूनाधिक होने लगते है, तव प्रवृत्त्यात्मक रजोगुणके कारण मूल प्रकृतिसे भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने लगते है, और सृष्टिका आरभ होने लगता है। अव यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि पहले सत्त्व, रज और तम ये दोनो गुण साम्यावस्थामें थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे उत्पन्न हुई है? इस प्रश्नका साख्यवादी यही उत्तर देते हैं, कि यह प्रकृतिका मूलभूत धर्मही है (सा का ६१)। यद्यपि प्रकृति जड है, तथापि वह आप-ही-आप ये सब व्यवहार करती रहती है। इन तीनो गुणोमेंसे सत्त्वगुणका लक्षण ज्ञान अर्थात् जानना और तमोगुणका लक्षण अज्ञान है। रजोगुण वुरे या भले

कार्यका प्रवर्तक है। ये तीनो गुण कभी अलग अलग नही रह सकते। सब पदार्थोमें सत्त्व, रज और तम इन तीनोका मिश्रण रहताही है, और यह मिश्रण हमेशा इन तीनोका परस्पर न्यूनाधिकतासे हुआ करता है। इसलिये यद्यपि मूलद्रव्य एक ही है, तोभी गुणभेदके कारण एक मूलद्रव्यकेही सोना, लोहा, मिट्टी, जल, आकाश, मनुष्यका शरीर इत्यादि भिन्न भिन्न अनेक विकार हो जाते हैं। जिसे हम सात्त्विक गुणका पदार्थ कहते हैं, उसमें रज और तमकी अपेक्षा, सत्त्वगुणका जोर या परिमाण अधिक रहता है, इस कारण उस पदार्थमें हमेशा रहनेवाले रज औरतम – दोनो गुण दव जाते है और वे हमें दीख नही पडते। वस्तुत, सत्त्व, रज और तम – तीनो गुण अन्य पदार्थोंके समान, सात्त्विक पदार्थमेंभी विद्यमान रहते हैं। केवल सत्त्वगुणका, केवल रजोगुणका, या केवल तमोगुणका कोई पदार्थही नही है। प्रत्येक पदार्थमें तीनोका रगडा-झगडा चलाही करता है, और इस झगडेमें जो गुण प्रबल हो जाता है, उसीके अनुसार हम प्रत्येक पदार्थको सात्त्विक, राजस या तामस कहा करते हैं (सा का १२, मभा अश्व – अनुगीता – ३६ और शा ३०५)। उदाहरणार्थ, हमारे शरीरमें जव रज और तम गुणोपर सत्त्वका प्रभाव जम जाता है, तव हमारे अत करणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्यका परिचय होने लगता है, और चित्तवृत्ति शात हो जाती है। यह नही समझना चाहिये, कि उस समय हमारे शरीरमें रजोगुण और तमोगुण विलकुलही नही होते, वल्कि वे सत्त्वगुणके प्रभावसे दव जाते हैं, इसलिये उनका कुछ अधिकार चलने नही पाता (गीता १४ १०)। यदि सत्त्वके वदले रजोगुण प्रवल हो जाय, तो हमारे अत करणमें लोभ जागृत हो जाता है, लालच वढने लगता है, और वह हमे अनेक वुरे कामोमे प्रवृत्त करता है। इसी प्रकार जव सत्त्व और रजकी अपेक्षा तमोगुण प्रवल हो जाता है, तव निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रश, इत्यादि दोष शरीरमे उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है, कि इस जगत्के पदार्थोमें सोना, लोहा, पारा इत्यादि जो अनेकता या भिन्नता दीख पडती है, वह प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोकीही परस्पर-न्यूनाधिकता या सघर्षका फल है। मूल प्रकृति यद्यपि एकही है, तोभी यह अनेकता या भिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है – वस, इसीके विचारको 'विज्ञान' कहते है। इसीमे सब आधिभौतिक शास्त्रोकाभी समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, पदार्थ विज्ञानशास्त्र, ये सब विविध ज्ञान विज्ञानही हैं।

सामावस्थामें रहनेवाली प्रकृतिको साख्यबलमें 'अव्यक्त' अर्थात् इद्रियोको गोचर न होनेवाली कहा है। इस प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोकी परस्पर-न्यूनाधिकतासे उत्पन्न जो अनेक पदार्थ हमारी इद्रियोको गोचर होते है, अर्थात् जिन्हे हम देखते हैं, चखते हैं, सूंघते हैं, या स्पर्श करते हैं, उन्हे साख्यशास्त्रमें 'व्यक्त' कहा है। स्मरण रहे, कि जो पदार्थ हमारी इद्रियोको स्पष्ट रीतिसे गोचर हो सकते हैं, वे सब 'व्यक्त' कहलाते हैं। चाहे फिर वे पदार्थ अपनी आकृतिके कारण, रूपके

कारण, गधके कारण, या किसी अन्य गुणके कारण व्यक्त होते हो। व्यक्त पदार्थ अनेक हैं और उनमेंसे कुछ, जैसे पत्थर, पेड, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते है, और कुछ, जैसे मन, बुद्धि, आकाश इत्यादि – यद्यपि ये इद्रिय-गोचर अर्थात् व्यक्त हैं, तथापि – सूक्ष्म कहलाते है। यहाँ 'सूक्ष्म'से छोटेका मतलब नही है। क्योकि आकाश यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि वह सारे जगतमें सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये, सूक्ष्म शब्दसे 'स्थूलके विरुद्ध' या वायुसेभी अधिक महीन, यही अर्थ लेना चाहिये। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्दोंसे किसी वस्तुकी शरीररचनाका ज्ञान होता है, और 'व्यक्त' एव 'अव्यक्त' शब्दोंसे हमें यह बोध होता है, कि उस वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो सकता है या नही। अतएव भिन्न भिन्न पदार्थोंमेंसे (चाहे वे दोनो सूक्ष्म हो तोभी) एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि हवा सूक्ष्म है, तथापि हमारी स्पर्शेद्रियको उसका ज्ञान होता है, इसलिये उसे व्यक्त कहते है। और सब पदार्थोकी मूल प्रकृति (या मूल द्रव्य) वायुसेभी अत्यत सूक्ष्म है और उसका ज्ञान हमारी किसी इद्रियको नही होता, इसलिये अव्यक्त कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यदि इस प्रकृतिका ज्ञान किसीभी इद्रियको नही होता, तो उसका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये प्रमाण है? इस प्रश्नका उत्तर सांख्यवादी इस प्रकार देते है, कि अनेक व्यक्त पदार्थोके क्या अवलोकनसे सत्कार्यवादके अनुसार यही अनुमान सिद्ध होता है, कि इन सब पदार्थोंका मूलरूप (प्रकृति) यद्यपि इद्रियोको प्रत्यक्ष गोचर न हो, तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूपसे अवश्य होनाही चाहिये (सा का ८)। वेदान्तियोंनेभी ब्रह्मका अतित्व सिद्ध करनेके लिये इसी युक्तिवादका स्वीकार किया है (कठ ६ १२, १३ पर शाकरभाष्य देखो)। यदि हम प्रकृतिको इस प्रकार अत्यत सूक्ष्म और अव्यक्त मान ले, तो नैयायियोके परमाणुकी जडही उखड जाती है। क्योकि परमाणु यद्यपि अव्यक्त और असख्य हो सकते हैं, तथापि प्रत्येक परमाणुके स्वतत्र व्यक्ति या अवयव हो जानेके कारण यह प्रश्नभी शेष रह जाता है, कि दो परमाणुओंके बीचमें कौनसा पदार्थ है? इसी कारण सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है, कि प्रकृतिमें परमाणुरूप अवयव-भेद नही है?। किंतु वह सदैव एकसे एक लगी हुई – बीचमें थोडाभी अतर न छोडती हुई – एकही समान है, अथवा यो कहिये कि वह अव्यक्त (अर्थात् इद्रियोको गोचर न होनेवाले) और निरवयवरूपसे निरतर और सर्वत्र है। परब्रह्मका वर्णन करते हुए दासबोध (दा २० २ ३) में श्रीसमर्थ रामदासस्वामी कहते है, "जिधर देखिये, उधरही वह अपार है, उसका किसी ओर पार नही है। वह एकही प्रकारका और स्वतत्र है, उसमें द्वैत (या और कुछ) नही है।"* सांख्यवादियोंके 'प्रकृति' विषयमेंभी यही वर्णन उपयुक्त है। त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्त, स्वयभू और एकही प्रकारकी है, और चारो ओर निरतर व्याप्त है। आकाश, वायु, आदि भेद पीछेसे

---

* हिंदी दासबोध, पृष्ठ ४८१ (चित्रशाला, पूना)

हुए, और यद्यपि वे सूक्ष्म है, तथापि व्यक्त है, और इन सबकी मूल प्रकृति एकही-सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्त है। स्मरण रहे, कि वेदान्तियोके 'परब्रह्म'मे और साख्य-वादियोकी 'प्रकृति'मे आकाश-पातालका अतर है। उसका कारण यह है, कि परब्रह्म चैतन्यरूप और निर्गुण है, परतु प्रकृति जडरूप और सत्त्वरजतमोमयी अर्थात् सगुण है। इस विषयपर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ सिर्फ यही विचार करना है कि, साख्यवादियोका मत क्या है। जव हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दोका अर्थ समझने लगे, तब कहना पडेगा कि सृष्टिके आरभमे प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृतिके रूपमे रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इद्रियगोचर होता है, और जव प्रलय-कालमें इस व्यक्त स्वरूपका नाश होता है, तव फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृतिमें मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीतामेभी यही मत दीख पडता है (गीता २ २८ और ८ १८)। साख्यशास्त्रमे इस अव्यक्त प्रकृतिहीको 'अक्षर'भी कहते है, और प्रकृतिसे होनेवाले सव पदार्थोको 'क्षर' कहते है। यहाँ 'क्षर' शब्दका अर्थ, सपूर्ण नाश नही है, किंतु सिर्फ व्यक्त स्वरूपका नाशही अपेक्षित है। प्रकृतिके औरभी अनेक नाम है – जैसे प्रधान, गुण-क्षोभिणी, वहुधानक, प्रसवधर्मिणी इत्यादि। सृष्टिके सव पदार्थोका मुख्य मूल होनेके कारण उसे (प्रकृतिको) प्रधान कहते है। तीनो गुणोकी साम्यावस्थाका भग स्वय आपही करती है, इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रयीरूपी पदार्थभेदके बीज प्रकृतिमें है, इसलिये उसे वहुधानक कहते है। और प्रकृतिसेही सव पदार्थ उत्पन्न होते है, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणीभी कहते है। इस प्रकृतिहीको वेदान्तशास्त्रमें 'माया' अर्थात् मायावी दिखावा कहते है।

सृष्टिके सव पदार्थोको 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर' इन दो विभागोमें वाँटनेके वाद अव यह सोचना चाहिये कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें वतलाये गये आत्मा, मन, वुद्धि, अहकार और इद्रियोको साख्यमतके अनुसार, किस विभाग या वर्गमें रखना चाहिये। क्षेत्र और इद्रियाँ तो जडही है, इस कारण उनका समावेश व्यक्त पदार्थोमें हो सकता है। परतु मन, अहकार, वुद्धि और विशेष करके आत्माके विषयमें क्या कहा जा सकता है? यूरोपके वर्तमान समयके प्रसिद्ध सृष्टि-शास्त्रज्ञ हेकेलने अपने ग्रथमें लिखा है कि मन, वुद्धि, और आत्मा ये सव शरीरकेही धर्म है। उदाहरणार्थ, हम देखते है, कि जव मनुष्यका मस्तिष्क विगड जाता है, तव उसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है, और वह पागलभी हो जाता है। इसी प्रकार सिरमें चोट लगनेसे जव मस्तिष्कका कोई भाग सज्ञारहित हो जाता है, तवभी उस भागकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। साराश यह है कि मनोधर्मभी जड मस्तिष्ककेही गुण है, अतएव ये जड वस्तुसे कभी अलग नही किये जा सकते, और इसीलिये मस्तिष्कके साथ साथ मनोधर्म और आत्माको 'व्यक्त' पदार्थोके वर्गमें शामिल करना चाहिये। यदि यह जडवाद मान लिया जाय, तो

अतमे केवल अव्यक्त और जड प्रकृतिही शेष रह जाती है। क्योकि सब व्यक्त पदार्थ इस मूल अव्यक्त-प्रकृतिसेही बने हैं। ऐसी अवस्थामें प्रकृतिके सिवा जगतका कर्ता या उत्पादक दूसरा कोईभी नही हो सकता। तब तो यही कहना होगा, कि मूल प्रकृतिकी शक्ति धीरे धीरे बढती गई और अतमें उसीको चैतन्य या आत्माका स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवादके समान, इस मूलप्रकृतिके कुछ कायदे या नियम बने हुए है। और उन्ही नियमोंके अनुसार सब जगत् और सायही साथ मनुष्यभी कैदीके समान वर्ताव किया करते है। जड प्रकृतिके सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु हैही नही, तब कहना नही होगा, कि आत्मा न तो अविनाशी है, और न स्वतत्र। तब मोक्ष या मुक्तिकी आवश्यकताही क्या है? प्रत्येक मनुष्य सोचता है, कि मै अपनी इच्छाके अनुसार अमुक काम कर लूंगा, परतु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खीचेगी, उसी ओर मनुष्यको झुकना पडेगा। अथवा कै शकर मोरो रानडेके अनुसार कहना चाहिये, कि " यह सारा विश्व एक बहुत बडा कारागार है, प्राणिमात्र कैदी है, और पदार्थोंके गुण-धर्म बेडियां हैं। इन बेडियोंको कोई तोड नही सकता। " इस प्रकार सारी सजीव और निर्जीव सृष्टिका व्यवहार चल रहा है – बस यही हेकेलके मतका साराश है। उसके मतानुसार सारी सृष्टिका मूलकारण एक जड और अव्यक्त प्रकृतिही है। इसलिये उसने अपने सिद्धान्तको सिर्फ * 'अद्वैत' कहा है। परतु यह अद्वैत जडमूलक है, अर्थात् अकेली जड प्रकृतिमेंही सब बातोका समावेश करता है, इस कारण हम इसे जडाद्वैत या आधिभौतिक-शास्त्राद्वैत कहेगे।

हमारे साख्यशास्त्रकार इस जडाद्वैतको नही मानते। वे यह मानते है, कि मन, बुद्धि और अहकार पचमहाभूतात्मक जड प्रकृतिहीके धर्म हैं, और साख्य-शास्त्रमेंभी यही लिखा है, कि अव्यक्त प्रकृतिसे ही बुद्धि, अहकार इत्यादि गुण क्रमसे उत्पन्न होते जाते है। परतु उनका कथन है, कि जड प्रकृतिसे चैतन्यकी उत्पत्ति नही हो सकती। इतनाही नही, वरन् जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनेही कधोपर बैठ नही सकता, उसी प्रकार प्रकृतिको जाननेवाला या देखनेवाला जब-तक प्रकृतिसे भिन्न न हो, तबतक वह " मै यह जानता हूं – वह जानता हूं " इत्यादि व्यवहारका उपयोग करही नही सकता। और इस जगत्के व्यवहारोकी ओर देखनेसे तो तब लोगोका यही अनुभव जान पडता है, कि " मै जो कुछ देखता हूं, या जानता हूं, वह मुझसे भिन्न है। " इसलिये साख्यशास्त्रवालोंने कहा है, कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखनेवाला और देखनेकी वस्तु या प्रकृतिको देखनेवाला और जड प्रकृति, इन दोनोको मूलताही पृथक् पृथक् मानना चाहिये (सा का १७)।

---

* हेकेलका मूल शब्द monism है। और इस विषयपर उसने स्वतत्र ग्रथभी लिखा है।

पिछले प्रकरणमें जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखनेवाला, ज्ञाता या उपभोग करनेवाला है, और इसे ही साख्यशास्त्रमे 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहा गया हैं। यह ज्ञाता प्रकृतिसे भिन्न है। इस कारण निसर्गसेही प्रकृतिके तीनो (सत्त्व, रज और तम) गुणोंके परे रहता है। अर्थात् यह निर्विकार और निर्गुण है, और जानने या देखनेके सिवा कुछभी नही करता। इससे यहभी मालूम हो जाता है, कि जगत्में जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृतिहीके खेल हैं। साराश यह है, कि प्रकृति अचेतन या जड है, तो पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है, तो पुरुष उदासीन और अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, तो पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अधी है, तो पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टिमे ये दो भिन्न भिन्न तत्त्व अनादिसिद्ध, स्वतन्न और स्वयभू हैं – यही साख्यशास्त्रका सिद्धान्त है। इस बातको ध्यानमें रखकेही भगवद्गीतामे पहले कहा गया है, कि "प्रकृतिं पुरुष चैव विद्धयनादि उभावपि" – प्रकृति और पुरुष दोनो अनादि है (गीता १३ १९)। इसके वाद उनका वर्णन इस प्रकार किया है। "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते" अर्थात् देह और इद्रियोका व्यापार प्रकृति करती है, और "पुरुष सुखदु खाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" – अर्थात् पुरुष सुखदु खोका उपभोग करनेके लिये, कारण है। यद्यपि गीतामेंभी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गये हैं, तथापि यह वात ध्यानमें रखनी चाहिये, कि साख्यवादियोंके समान, गीतामें ये दोनो तत्त्व स्वतन्न या स्वयभू नही माने गये हैं। कारण यह है, कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने प्रकृतिको अपनी 'माया' कहा है (गीता ७ १४, १४ ३), और पुरुषके विषयमेंभी यही कहा है, कि "ममैंकाशो जीवलोके" (गीता १५ ७) अर्थात् वह मेराही अश है। इससे मालूम हो जाता है, कि गीता साख्यशास्त्रसेभी वढ गई है। परतु अभी इस वातकी ओर ध्यान न दे कर हम देखेंगे कि साख्यशास्त्र आगे क्या कहता है।

साख्यशास्त्रके अनुसार सृष्टिके सब पदार्थोके तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (मूल प्रकृति), दुसरा व्यक्त (प्रकृतिके विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् (ज्ञ)। परतु इनमेंसे प्रलयकालके समय व्यक्त पदार्थोका स्वरूप नष्ट हो जाता है, इसलिये अव मूलमें केवल प्रकृति और पुरुष ये दोही तत्त्व शेष रह जाते हैं। ये दोनो मूलतत्त्व, साख्यवादियोंके मतानुसार अनादि और स्वयभू हैं। वे लोग इसलिये साख्योको द्वैतवादी (दो मूल तत्त्व माननेवाले) कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुषके परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसीभी मूल तत्त्वको नही मानते।* इसका कारण यह है कि सगुण ईश्वर, काल या स्वभाव, ये सव व्यक्त होनेके कारण अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थोमेंही शामिल है।

---

* ईश्वरकृष्ण कट्टर निरीश्वरवादी था। उसने अपनी साख्यकारिका की अतिम उपसहारात्मक तीन आर्याओमें कहा है, कि मूल विषयपर ७० आर्याएँ थी।

और, यदि ईश्वरको निर्गुण माने, तो सत्कार्यवादानुसार निर्गुण मूलतत्त्वसे त्रिगुणात्मक प्रकृति कभी उत्पन्न नही हो सकती। इसलिये, उन्होने यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुषको छोड कर इस सृष्टिका और कोई तीसरा मूल कारण नही है। इस प्रकार जब उन लोगोने दोही मूल तत्त्व निश्चित कर लिये, तब उन्होने अपने मतके अनुसार इस बातकोभी सिद्ध कर दिया है, कि इन दोनो मूलतत्त्वोसे सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है। वे कहते है, कि यद्यपि निर्गुण पुरुष स्वय कुछभी कर नही सकता, तथापि जब प्रकृतिके साथ उसका सयोग होता है, तब जिस प्रकार गाय अपने बछडेके लिये दूध देती है, या लोहचुबकके पास होनेसे लोहमे आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणो (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त फैलाव पुरुषके सामने फैलाने लगती है (सा का ५७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है, तथापि केवल अर्थात् निर्गुण होनेके कारण स्वय कर्म करनेके कोई साधन उसके पास नही है, और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है, तथापि जड या अचेतन होनेके कारण वह नही जानती, कि क्या करना

परन्तु कोलब्रुक और विल्सनके अनुवादके साथ बबईमें श्रीयुत तुकाराम तात्याने जो पुस्तक मुद्रित की है, उसमें मूल विषयपर केवल ६९ आर्याएँ है। इसलिये विल्सन साहबने अपने अनुवादमे यह सदेह प्रकट किया है कि ७० वी आर्या कौनसी है। परतु वह आर्या उनको नही मिली, और उनको शकाका समाधान नहीं हुआ। हमारा मत है, कि वह वर्तमान ६१ वी आर्याके आगे होगी। कारण यह है कि ६१ वी आर्यापर गौडपादाचार्यका जो भाष्य है, वह कुछ एकही आर्यापर नही है, कितु दो आर्याओंपर है और यदि इस भाष्यके प्रतीक पदोको लेकर आर्या बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी —

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा।
प्रजा कथ निर्गुणतो व्यक्त काल स्वभावश्च॥

यह आर्या पिछले और अगले सदर्भ (अर्थ या भाव) के अनुसारभी है। इस आर्यामे निरीश्वरमतका प्रतिपादन है, इसलिये जान पडता है, कि किसीने इसे पीछेसे निकाल डाला होगा। परतु इस आर्याका शोधन करनेवाला मनुष्य इसका भाष्यभी निकाल डालना भूल गया। इसलिये अब हम इस आर्याका ठीक ठीक पता लगा सकते है, और इसीमे उस मनुष्यको धन्यवादही देना चाहिये। श्वेताश्वेतरोपनिषद्के छठे अध्यायके पहले मत्रसे प्रकट होता है, कि प्राचीन समयमें कुछ लोग स्वभाव और कालको — और वेदान्ती तो उसकेभी आगे बढकर ईश्वरको — जगत्का मूलकारण मानते थे। वह मत्र यह है —

स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिमुह्यमाना।
देवस्यैषा महिमा तु लोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

परतु ईश्वरकृष्णने उपर्युक्त आर्याको वर्तमान ६१ वी आर्याके बाद सिर्फ यह बतलानेके लिये रखा है, कि तीनो मूलकारण (अर्थात स्वभाव, काल और ईश्वर) साख्यवादियोको मान्य नही है।

चाहिये। इस प्रकार लँगडे और अंधेकी वह जोडी है और जैसे अंधेके कंधेपर लँगडा बैठे, और वे दोनो एक दूसरेकी सहायतासे मार्ग चलने लगे, वैसेही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुषका संयोग हो जानेपर सृष्टिके सब कार्य आरंभ हो जाते है (सा का २१)। और जिस प्रकार नाटककी रंगभूमिपर प्रेक्षकोंके मनोरंजनार्थ एकही नटी कभी एक तो कभी दूसराही स्वाँग बनाकर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुषके लाभके लिये (पुरुषार्थके लिये), यद्यपि पुरुष कुछभी पारितोषिक नही देता, तोभी यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणोकी न्यूनाधिकतासे अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है (सा का ५९)। प्रकृतिके इस नाचको देखकर – मोहसे भूल जानेके कारण, या वृथाभिमानके कारण – जबतक पुरुष इस प्रकृतिके कर्तृत्वको स्वय अपनाही कर्तृत्व मानता रहता है, और जबतक वह सुखदु खके पाशमें स्वय अपनेको फँसा रखता है, तबतक उसे मोक्ष या मुक्तिकी प्राप्ति कभी नही हो सकती (गीता ३ २७)। परतु जिस समय पुरुषको यह ज्ञान हो जाय, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उस समय वह मुक्तही है (गीता १३ २९, ३०, १४ २०)। क्योकि, यथार्थमे पुरुष न तो कर्ता है और न बँधाही है। वह स्वतत्र है और निसर्गत केवल अर्थात् अकर्ता है। जो कुछ होता है वह सब प्रकृतिहीका खेल है। यहाँतक कि मन और बुद्धिभी प्रकृतिकेही विकार है। इसलिये बुद्धिको जो ज्ञान होता है, वहभी प्रकृतिके कार्यकाही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकारका होता है, जैसे सात्त्विक, राजस और तामस (गीता १८ २०–२२)। जब बुद्धिको सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है, तब पुरुषको यह मालूम होने लगता है, कि मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृतिकेही धर्म है, पुरुषके नही। पुरुष निर्गुण है, और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है (मभा शा २०४ ८) जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है अर्थात् जब बुद्धि – जो प्रकृतिका विकार है – सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पणमें पुरुषको अपना सात्त्विक या सच्चा स्वरूप दीखने लगता है, और उसे यह बोध हो जाता है, कि मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित हो कर उस पुरुषके सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बद कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशो या जालोंसे मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्यपदको पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्दका अर्थ है केवलता, अकेलापन, या प्रकृतिके साथ सयोग न होना। पुरुषकी इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थितिकोही साख्यशास्त्रमें मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहते है। इस अवस्थाके विषयमें साख्यवादियोंने एक बहुतही नाजुक प्रश्नका विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है, कि पुरुष प्रकृतिको छोड देता है, या प्रकृति पुरुषको छोड देती है ? कुछ लोगोकी समझमें यह प्रश्न वैसेही निरर्थक प्रतीत होगा, जैसे यह प्रश्न कि दुलहेके लिये दुलहिन लबी है या दुलहिनके लिये दुलहा ठिगना है। क्योकि जब दो वस्तु-

ओंका एक दूसरेसे वियोग होता है, तव हम देखते हैं कि दोनों एक दूसरेको छोड देती हैं। इसलिये ऐसे प्रश्नका विचार करनेमे कुछ लाभ नही है, कि किसने किसको छोड दिया। परन्तु कुछ अधिक सोचनेपर मालूम हो जायगा, कि साख्य-वादियोंका उक्त प्रश्न उनकी दृष्टिसे अयोग्य नही है। साख्यशास्त्रके अनुसार 'पुरुष' निर्गुण, अकर्ता और उदासीन है। इसलिये तत्त्वदृष्टिसे 'छोडना' या 'पकडना' क्रियाओंका कर्ता पुरुष नही हो सकता (गीता १३ ३१, ३२)। इसलिये साख्य-वादी कहते है, कि प्रकृतिही 'पुरुष'को छोड दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष'से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है। क्योंकि कर्तृत्व 'प्रकृति'हीका धर्म है। (सा का ६२ और गीता १३ १८) साराश यह है, कि मुक्ति नामकी ऐसी कोई निराली अवस्था नही है, जो 'पुरुष'को कहीं वाहरसे प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष'की मूल और स्वाभाविक स्थितिसे कोई भिन्न स्थितिभी नही है। प्रकृति और पुरुषमें वैसाही सबध है, जैसा कि घासके वाहरी छिलके और अदरके गूदेमें रहता है, या जैसा पानी और उसमें रहनेवाली मछलीमें। सामान्य पुरुष प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जाते हैं, और यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नही सकते। इसी कारण वे ससार-चक्रमें फँसे रहते हैं। परतु जो इस भिन्नताको पहचान लेता है, वह मुक्तही है। महाभारत (मभा शा १९४ ५८, २४८ ११, और ३०६–३०८) में लिखा है, कि ऐसेही पुरुषको 'ज्ञाता' या 'वुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहते हैं। गीताके वचन " एतद् वुद्ध्वा वुद्धिमान् स्यात् " (गीता १५ २०) में वुद्धिमान् शब्दकाभी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे मोक्षका सच्चा स्वरूपभी यही है (वे सू शा भा १ १ ४)। परतु साख्यवादियोंकी अपेक्षा अद्वैत वेदान्तियोंका विशेष कथन यह है, कि आत्माहीमें परब्रह्मस्वरूप है, और जव वह अपने मूलस्वरूपको अर्थात् परब्रह्मको पहचान लेता है, तव वही उसकी मुक्ति है। वे लोग यह कारण नही वतलाते, कि पुरुष निसर्गत 'केवल' है। साख्य और वेदान्तका यह भेद अगले प्रकरणमें स्पष्ट करके वतलाया जायगा।

यद्यपि अद्वैत वेदान्तियोंको साख्यवादियोंका यह मत मान्य है, कि पुरुष (आत्मा) निर्गुण, उदासीन और अकर्ता है, तथापि वे लोग साख्यशास्त्रकी 'पुरुष' सबधी इस दूसरी कल्पनाको नही मानते, कि एकही प्रकृतिको देखनेवाले (साक्षी) स्वतत्र पुरुष मूलमेंही असख्य हैं (गीता ८ ४, १३ २०–२२, मभा शा ३५१, और वे सू शा भा २, १ १)। वेदान्तियोंका कहना है, कि उपाधिभेदके कारण सव जीव भिन्न भिन्न मालूम होते हैं, परतु वस्तुत सब ब्रह्मही हैं। साख्यवादियों-का मत है, कि जव हम देखते हैं, कि प्रत्येक मनुष्यका जन्म, मृत्यु और जीवन अलग अलग हैं, और जव इस जगत्में हम यह भेद पाते हैं कि कोई सुखी है तो कोई दु खी है, तव मानना पडता है, कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूलसेही भिन्न है, और उनकी सख्याभी अनत है। (सा का १८) केवल प्रकृति और पुरुषही

सब सृष्टिके मूलतत्त्व है सही, परतु उनमेंसे पुरुष शब्दमें साख्यवादियोंके मतानुसार "असख्य पुरुषोंके समुदाय"का समावेश होता है। इन असख्य पुरुषोंके और त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सयोगसे सृष्टिका सब व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृतिका जब सयोग होता है, तब प्रकृति अपने गुणोका जाला उस पुरुषके सामने फैलाती है, और पुरुष उसका उपभोग करता रहता है। ऐसा होते होते जिस पुरुषके चारो ओरकी प्रकृतिके खेल सात्त्विक हो जाते है, उस पुरुषकोही (सब पुरुषोको नही) सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, और उस पुरुषके लिये ही प्रकृतिके सब खेल बद हो जाते हैं, एव वह अपने मूल कैवल्यपदको पहुँच जाता है। परतु यद्यपि उस पुरुषको मोक्ष मिल गया, तोभी शेष सब पुरुषोको ससारमें फँसेही रहना पडता है। कदाचित् कोई यह समझे, कि ज्योहि पुरुष इस प्रकार कैवल्यपदको पहुँच जाता है, त्योही वह एकदम प्रकृतिके जालेसे छूट जाता होगा। परतु साख्यमतके अनुसार यह समझ गलत है। देह और इद्रियरूपी प्रकृतिके विचार उस मनुष्यकी मृत्युतक उसे नही छोडते। साख्यवादी इसका यह कारण बतलाते है, कि "जिस प्रकार कुम्हारका पहिया – ऊपरका घडा बन कर निकाल लिया जानेपरभी – पूर्वसस्कारके कारण कुछ देर तक घूमताही रहता है, उसी प्रकार कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाने परभी इस मनुष्यका शरीर कुछ समयतक शेष रहता है" (सा का. ६७)। तथापि उस शरीरसे, कैवल्यपदपर आरूढ होनेवाले पुरुषको कुछभी अडचन या सुखदुःखकी बाधा नही होती। क्योकि, यह शरीर जड प्रकृतिका विकार होनेके कारण स्वय जडही है। इसलिये इसे सुखदु ख दोनो समानही है, और यदि कहा जाय, कि पुरुषको सुखदु खकी बाधा होती हो, तो यहभी ठीक नहीं। क्योकि उसे मालूम है, कि मैं प्रकृतिके व्यवहारमें भिन्न हूँ, सब कर्तृत्व प्रकृतिका है, मेरा नही। ऐसी अवस्थामे प्रकृतिके मनमाने खेल हुआ करते है, परतु उसे सुखदु ख नही होता, और वह सदा उदासीनही रहता है। जो पुरुष प्रकृतिके तीनो गुणोंसे छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नही कर लेता, वह जन्ममरणसे छुट्टी नही पा सकता। फिर चाहे वह सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण देवयोनिमें जन्म ले, या रजोगुणके कारण मानवयोनिमें जन्म ले, या तमोगुणकी प्रबलताके कारण पशु-कोटिमें जन्म ले। (सा का ४४ ५४) जन्ममरणरूपी चक्रके ये फल प्रत्येक मनुष्यको उसके चारो ओरकी प्रकृति अर्थात् उसकी बुद्धिके सत्त्व-रज-तम गुणोंके उत्कर्षापकर्षके कारण प्राप्त हुआ करते हैं। गीतामेंभी कहा है, कि "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था" – सात्त्विक वृत्तिके पुरुष स्वर्ग जाते है, और तामस पुरुषोंको अधोगति प्राप्त होती है (गीता १४. १८)। परतु ये स्वर्गादि फल अनित्य है। जिसे जन्म-मरणसे छुट्टी पाना है, या साख्योंकी परिभाषाके अनुसार जिसे प्रकृतिसे अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (सन्यस्त) होनेके सिवा दूसरा मार्ग नही है। कपिलाचार्यको यह

वैराग्य और ज्ञान जन्मसेही प्राप्त हुआ था, परतु यह स्थिति सव लोगोको जन्महीसे प्राप्त नही हो सकती। इसलिये तत्त्व-विवेकरूप साधनसे प्रकृति और पुरुषकी भिन्नताको पहचान कर प्रत्येक पुरुषको अपनी वुद्धि शुद्ध कर लेनेका यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नोसे जव वुद्धि सात्त्विकही जाती है, तो फिर उसीमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं; और मनुष्यको अतमें कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तुको पानेकी मनुष्य इच्छा करता है, उसे प्राप्त कर लेनेके योग्य सामर्थ्यकोही यहाँ ऐश्वर्य कहा है। साख्यमतके अनुसार धर्मकी गणना सात्त्विक गुणमेंही की जाती है। परतु कपिलाचार्यने अतमें यह भेद किया है, कि केवल धर्मसे स्वर्गही प्राप्त होता है, और ज्ञान तथा वैराग्य (सन्यास)से मोक्ष या कैवल्यपद प्राप्त होता है, तथा पुरुषके दु खोकी आत्यतिक निवृत्ति हो जाती है।

जव देहेंद्रियो और वुद्धिमे पहले सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है, और जव धीरे धीरे उन्नति होते होते अतमें पुरुषको यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे भिन्न हूँ तव उसे साख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणोके परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्थामें सत्त्व-रज-तममेंसे कोईभी गुण शेष नही रहता। इसलिये कुछ सूक्ष्म विचार करनेसे मानना पडता हैं, कि यह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनो अवस्थाओसे भिन्न है। इसी अभिप्रायसे भागवतमें भक्तिके तामस, राजस और सात्त्विक भेद करनेके पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। इन तीनो गुणोके पार हो जानेवाला पुरुष, निर्हेतुक और अभेदभावसे जो भक्ति करता है उसे 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं' (भाग ३ २९ ७–१४)। परतु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन वर्गोकी अपेक्षा वर्गीकरणके तत्त्वोको व्यर्थ अधिक वढाना उचित नही है। इसलिये साख्य वादी कहते हैं, कि सत्त्वगुणके अत्यत उत्कर्षसेही अतमें त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है, और इसलिये वे इस अवस्थाकी गणना सात्त्विक वर्गमेंही करते हैं। गीतामेंभी यह मत स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ गीतामें कहा है, कि " जिस अभेदात्मक ज्ञानसे यह मालूम हो, कि सव कुछ एकही हैं उसीको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं" (गीता १८ २०)। इसके सिवा सत्त्वगुणके वर्णनके वाद गीतामें १४ वे अध्यायके अतमें, त्रिगुणातीत अवस्थाका वर्णन है। परतु भगवद्-गीताको यह प्रकृति और पुरुषवाला द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये ध्यान* रखना चाहिये, कि गीतामें 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि साख्यवादियोंके पारि-भाषिक शब्दोका उपयोग कुछ भिन्न अर्थमें किया गया है, अथवा यह कहिये, कि गीतामें साख्यवादियोंके द्वैतपर अद्वैत परब्रह्मकी 'छाप' सर्वत्र लगी हुई है। उदा-हरणार्थ, साख्यवादियोंके प्रकृति-पुरुष भेदकाही गीताके १३ वे अध्यायमें वर्णन है। (गीता १३ १९–३४) परतु वहाँ 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्दोका उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अर्थमें हुआ है। इसी प्रकार १४ वें अध्यायमें त्रिगुणातीत अवस्थाका

वर्णन (गीता १४ २२–२७) भी उस सिद्ध पुरुषके विषयमें किया गया है, जो त्रिगुणात्मक मायाके फदेसे छूटकर उस परमात्माको पहचानता है, जो कि प्रकृति और पुरुषकेभी परे है। यह वर्णन साख्यवादियोंके उस सिद्धान्तके अनुसार नही है, जिसके द्वारा वे यह प्रतिपादन करते है, कि 'प्रकृति' और 'पुरुष', दोनो पृथक् पृथक् तत्त्व है, और पुरुषका 'कैवल्य' ही त्रिगुणातीत अवस्था है। यह भेद आगे अध्यात्म–प्रकरणमें अच्छी तरह समझा दिया गया है। परतु गीतामें यद्यपि अध्यात्म पक्षही प्रतिपादित किया गया है तथापि आध्यात्मिक तत्त्वोका वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्णने साख्यपरिभाषाका और युक्तिवादका हर जगह उपयोग किया है। इसलिये सभव है, कि गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठे, कि गीताको साख्यवादियोकेही सिद्धान्त ग्राह्य है। इस भ्रमको हटानेके लियेही साख्यशास्त्र और गीताके तत्सदृश सिद्धान्तोका भेद फिरसे यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रोंके भाष्यमें श्रीशकराचार्यने कहा है, कि उपनिषदोंके इस अद्वैत सिद्धान्तको न छोड-कर – कि "प्रकृति और पुरुषके परे इस जगत्का परब्रह्मरूपी एकही मूलभूत तत्त्व है, और उसीसे प्रकृति, पुरुष आदि सब सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है" – साख्य-शास्त्रके शेष सिद्धान्त हमें अग्राह्य नही हैं। (वे सू शा भा २ १ ३) यही बात गीताके उपपादनके विषयमेंभी चरितार्थ होती है।

आठवाँ प्रकरण

विश्वकी रचना और संहार

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च । *

— महाभारत, शांति ३०५ २३

इस बातका विवेचन हो चुका, कि कापिलसांख्यके अनुसार ससारमें जो दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व – प्रकृति और पुरुष – हैं, उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनोका सयोगही निमित्त कारण हो जाता है, तब पुरुषके सामने प्रकृति अपने गुणोका जाला कैसे फैलाया करती है, और उस जालेसे हमको अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परतु अबतक इसका स्पष्टीकरण नही किया गया, कि प्रकृति अपने इस जालेको (अथवा खेल, ससार या ज्ञानेश्वर महाराजके शब्दोमें 'प्रकृतिकी टकसाल'को) किस क्रमसे पुरुषके सामने फैलाया करती है, और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृतिके इस व्यापारहीको "विश्वकी रचना और सहार" कहते हैं, और इसी विषयका विवेचन प्रस्तुत प्रकरणमें किया जायगा। साख्यमतके अनुसार प्रकृतिने इस जगत् या सृष्टिको असख्य पुरुषोंके लाभके लियेही निर्माण किया है। 'दासबोध'में श्रीसमर्थ रामदासस्वामीनेभी प्रकृतिसे सारे ब्रह्माडके निर्माण होनेका बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णनसे "विश्वकी रचना और सहार" शब्द इस प्रकरणमें लिये गये हैं। इसी प्रकार, भगवद्गीताके सातवे और आठवे अध्यायोमें मुख्यत इसी विषयका प्रतिपादन किया गया है। और, ग्यारहवे अध्यायके आरभमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह जो प्रार्थना की है, कि "भवाप्ययौ हि भूताना श्रुतौ विस्तरशो मया" (गीता ११ २) – भूतोकी उत्पत्ति और प्रलय (जो आपने) विस्तारपूर्वक (बतलाया, उसको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाकर कृतार्थ कीजिये – उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विश्वकी रचना और सहार, क्षर-अक्षर-विचारहीका एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है, जिससे यह बात मालूम हो जाती है, कि सृष्टिके अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थोमें एकही अव्यक्त मूलद्रव्य है (गीता १८ २०), और 'विज्ञान' उसे कहते हैं, जिससे यह मालूम हो, कि एकही मूलभूत अव्यक्त द्रव्यसे अनेक भिन्न भिन्न पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गीता

---

* "गुणोंसेही गुणोकी उत्पत्ति होती है और उन्हीमें उनका लय हो जाता है।"

१३.३०) है, और इसमें न केवल क्षर-अक्षर-विचारहीका समावेश होता है, किंतु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म विषयोकाभी समावेश हो जाता है।

भगवद्‌गीताके मतानुसार प्रकृति अपना ससारशक्र चलाने या सृष्टिका कार्य चलानेके लिये स्वतत्र नही है, किंतु उसे यह काम ईश्वरकी इच्छा के अनुसार करना पडता है (गीता ९ १०)। परतु, पहले बतलाया जा चुका है, कि कपिलाचार्यने प्रकृतिको स्वतत्र माना है। साख्यशास्त्रके अनुसार, प्रकृतिके ससारका आरभ होनेके लिये 'पुरुषका सयोग' इतनाही निमित्त कारण बस हो जाता है। इस विषयमें प्रकृति और किसीकी अपेक्षा नही करती। साख्योका यह कथन है, कि ज्योही पुरुष और प्रकृतिका सयोग होता है, त्योही उसकी टकसाल जारी हो जाती है और जिस प्रकार वसत ऋतुमें वृक्षोमें नये पत्ते दीख पडते है, और क्रमश फूल और फल लगते है (मभा शा २३१ ७३, मनु १ ३०), उसी प्रकार प्रकृतिकी मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है, और उसके गुणोका विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेदसहिता, उपनिषद् और स्मृतिग्रथोमें प्रकृतिको मूल न मान कर परब्रह्मको मूल माना है, और परब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें भिन्न भिन्न वर्णन किये गये है – "हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्' – पहले हिरण्यगर्भ (ऋ १० १२१ १) और इस हिरण्यगर्भसे अथवा सत्यसे सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ १० ७२, १० १९०), अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ १० ८२ ६, तै ब्रा १ १ ३ ७, ऐ उ १ १ २) और फिर उसमें सृष्टि उत्पन्न हुई। अथवा इस पानीमे एक अडा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, ब्रह्मासे अथवा उस मूल अडेसेही सारा जगत् उत्पन्न हुआ, (मनु १ ८–१३, छा ३ १९) अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्सेसे स्त्री हो गया (बृ. १ ४, ३, मनु १ ३२), अथवा पानी उत्पन्न होनेके पहलेही पुरुष था (कठ ४ ६) अथवा परब्रह्मसे पहले तेज, पानी और पृथ्वी (अन्न) येही तीन तत्त्व उत्पन्न हुए और पश्चात् उनके मिश्रणसे सब पदार्थ बने (छा ६ २–६)। यद्यपि उक्त वर्णनोमें बहुत भिन्नता है, तथापि वेदान्तसूत्रोमें (वे सू २ ३ १–१५) अन्तिम निर्णय यह किया गया है, कि आत्मरूपी मूलब्रह्मसे ही आकाश आदि पच-महाभूत क्रमश उत्पन्न हुए है (तै उ २ १)। प्रकृति, महत् आदि तत्त्वोकाभी उल्लेख (कठ ३ ११), मैत्रायणी (६ १०), श्वेताश्वतर (४ १०, ६ १६), आदि उपनिषदोमे स्पष्ट रीतिसे किया गया है। इससे दीख पड़ेगा, कि यद्यपि वेदान्तमतवाले प्रकृतिको स्वतत्र न मानते हो, तथापि जब एक बार शुद्ध ब्रह्महोमे मायात्मक प्रकृतिरूप विकार दृग्गोचर होने लगता है, तब आगे सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके सबधमें उनका और साख्यमतवालोका अतमे मेल हो गया था, और इसी कारण महाभारतमे कहा है, कि "इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदिमें जो कुछ ज्ञान भरा है, वह सब साख्योंसे प्राप्त हुआ है" (शां ३०१ १०८ १०९)। उसका यह मतलब

नही है, कि वेदान्तियोंने अथवा पौराणिकोंने यह ज्ञान कपिलसे प्राप्त किया है, किंतु यहाँ पर केवल इतनाही अर्थ अभिप्रेत है, कि सृष्टिके उत्पत्तिक्रमका ज्ञान सर्वत्र एक-सा दीख पडता है। इतनाही नही, किंतु यहभी कहा जा सकता है, कि यहाँ पर 'साख्य' शब्द प्रयोग 'ज्ञान'के व्यापक अर्थहीमे किया गया है। तथापि कपिलाचार्यने सृष्टिके उत्पत्तिक्रमका वर्णन शास्त्रीय दृष्टिसे विशेष पद्धतिपूर्वक किया है, और भगवद्गीतामेभी विशेष करके इसी साख्यक्रमका स्वीकार किया गया है, इस कारण उसीका विवेचन इस प्रकरणमें किया जायगा।

साख्योका सिद्धान्त है, कि इद्रियोको अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारो ओर अखडित भरे हुए एकही निरवयव मूलद्रव्यसे सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशोंके अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञोको ग्राह्य है। ग्राह्यही क्यो, अब तो उन्होंने यहभी निश्चित किया है, कि इसी मूलद्रव्य की शक्तिका क्रमश विकास होता आया है, और इस पूर्वापार क्रमको छोड बीचमें अचानक या निरर्थक कुछभी निर्माण नही हुआ है। इसी मतको उत्क्रातिवाद या विकास सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रोमें, गतशताब्दीमें, पहले पहल ढूंढ निकाला गया, तब वहाँ बडी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म-पुस्तकोंमें यह वर्णन है, कि ईश्वरने पचमहाभूतोको और जगमवर्गके प्रत्येक प्राणीकी जातिको भिन्न भिन्न समयपर पृथक् पृथक् और स्वतन्न निर्माण किया है, और उत्क्रातिवादके पहले इसी मतको सब ईसाई लोक सत्य मानते थे। अतएव, जब ईसाई धर्मका उक्त सिद्धान्त उत्क्रातिवादसे असत्य ठहराया जाने लगा, तब उत्क्राति-वादियोपर खूब जोरसे आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकलभी न्यूनाधिक होतेही रहते हैं। तथापि, शास्त्रीय सत्यमें अधिक शक्ति होनेके कारण सृष्टयुत्पत्तिके सबधमे सब विद्वानोको उत्क्रातिमतही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मतका साराश यह है – सूर्यमालामें पहले एक सूक्ष्म द्रव्यही भरा हुआ था। उसकी मूल गति अथवा उष्णताका परिमाण घटता गया। तब उस द्रव्यका अधिकाधिक सकोच होने लगा, और पृथ्वी समवेत सब ग्रह क्रमश उत्पन्न हुए। अतमें जो शेष अश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वीभी सूर्यके सदृश पहले एक उष्ण गोला थी। परतु ज्यो ज्यो उसकी उष्णता कम होती गई, त्यो त्यो मूलद्रव्योमेंसे कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वीके ऊपरकी हवा और पानी तथा उसके नीचेका पृथ्वीका जड गोला, ये तीन पदार्थ बने, और इसके बाद, इन तीनोंके मिश्रण अथवा सयोगसे सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पडितोंने तो यह प्रतिपादन किया है, कि इसी तरह मनुष्यभी छोटे कीडेसे बढते बढते अपनी वर्तमान अवस्थामें आ पहुँचा है। परतु अबतक आधिभौतिकवादियोमें और अध्यात्मवादियोमें इस बातपर बहुत मतभेद है, कि सारी सृष्टिके मूलमें आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतन्न तत्त्वको मानना चाहिये

या नही। हेकेलके सदृश कुछ पडित यह मानकर, कि जड पदार्थोमेंही बढते बढते आत्मा और चैतन्यकी उत्पत्ति हुई, जडाद्वैतका प्रतिपादन करते है, और इसके विरुद्ध काटसरीखे अध्यात्मज्ञानियोका यह कथन है, कि हमे सृष्टिका जो ज्ञान होता है, वह हमारे आत्माके एकीकरण – व्यापारका फल है, इसलिये आत्माको एक स्वतत्र तत्त्व माननाही पडता है। क्योकि यह कहना – कि जो आत्मा बाह्य-सृष्टिका ज्ञाता है, वह उसी गोचर सृष्टिका एक भाग है अथवा उस सृष्टिहीमे वह उत्पन्न हुआ है – तर्कदृष्टिसे ठीक वैसेही असमजस या भ्रामक प्रतीत होगा, जैसे यह उक्ति कि हम स्वय अपनेही कधेपर बैठ सकते है। यही कारण है, कि साख्यशास्त्रमें प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतत्र तत्त्व माने गये है। साराश यह है, कि आधिभौतिक सृष्टिज्ञान चाहे जितनी उन्नति करे, तथापि अवतक पश्चिमी देशोमे बहुतेरे बडे बडे पडित यही प्रतिपादन किया करते है, कि सृष्टिके मूल तत्त्वके स्वरूपका विवेचन हमेशा भिन्न पद्धतिमे किया जाना चाहिये। परन्तु, यदि केवल इतनाही विचार किया जाय, कि एक जड प्रकृतिसे आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रमसे बने है, तो पाठकोको मालूम हो जायगा, कि पश्चिमी उत्क्रातिमतमे और साख्यशास्त्रमे वर्णित प्रकृतिके कार्यसबधी तत्त्वोमे कोई विशेष अतर नही है। क्योकि इस मुख्य सिद्धान्तमे दोनो सहमत है, कि अव्यक्त, सूक्ष्म और एक मूल रूप प्रकृतिहीसे क्रमश (सूक्ष्म और स्थूल) विविध रूप व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परतु अब आधिभौतिक शास्त्रोके ज्ञानकी खूब वृद्धि हो जानेके कारण, साख्य-वादियोके "सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोके बदले, आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञोने गति, उष्णता और आकर्षणशक्ति को प्रधानगुण मान रखा है। यह बात सच है, कि "सत्त्व, रज, तम" गुणोकी न्यूनाधिकताके परिमाणोकी अपेक्षा, उष्णता अथवा आकर्षणशक्तिकी न्यूनाधिकताकी बात आधिभौतिकशास्त्रकी दृष्टिसे सरलतापूर्वक समझमें आ जाती है। तथापि गुणोके विकास अथवा गुणोत्कर्षका जो यह तत्त्व है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गीता ३ २८), वह दोनो ओर समानही है। साख्यशास्त्रज्ञोका कथन है, कि जिस तरह मोडदार पखेको धीरे धीरे खोलते है उसी तरह सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थामे रहनेवाली प्रकृतिकी तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है, तब सब व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है – और इस कथनमे और उत्क्रातिवादमें वस्तुत कुछ भेद नही है। तथापि, यह भेद तात्त्विक धर्मदृष्टिसे ध्यानमें रखनेयोग्य है, कि ईसाई धर्मके समान गुणोत्कर्षतत्त्वका अनादर न करते हुए, गीतामें और अशत उपनिषद् आदि वैदिक ग्रथोमेभी, अद्वैत वेदान्तके साथही साथ बिना किसी विरोधके गुणोत्कर्षवाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिये कि प्रकृतिके विकासक्रमके विषयमें साख्यशास्त्रकारोका क्या कथन है। इस क्रमहीको गुणोत्कर्ष अथवा गुणपरिणामवाद कहते है। यह बतलानेकी आवश्यकता नही, कि कोई काम आरभ करनेके पहले मनुष्य उसे अपनी

प्रथम उत्पन्न होनेवाले इन गुणोको यदि आप चाहे, तो अचेतन अथवा अस्वयवेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होनेवाली बुद्धि कह सकते हैं। परतु, उसे चाहे जो कहे, इसमें सदेह नही, कि मनुष्यको होनेवाली बुद्धि और प्रकृतिको होनेवाली बुद्धि दोनो मूलमें एकही श्रेणीकी है, और इसी कारण दोनो स्थानोपर उनकी व्याख्याएँभी एकही-सी की गई है। उस बुद्धिकेही "महत्, ज्ञान, मति, आसुरी, प्रजा, ख्याति" आदि अन्य नाम है। मालूम होता है, कि इसमेंसे 'महत्' (पुल्लिग कर्ताका एकवचन महानवडा) नाम इस गुणकी श्रेष्ठताके कारण दिया गया होगा, अथवा इसलिये दिया गया होगा, कि अब प्रकृति बढने लगती है। प्रकृतिमें पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अथवा बुद्धि-गुण 'सत्त्व-रज-तम'के मिश्रणहीका परिणाम हैं। इसलिये प्रकृतिकी यह बुद्धि यद्यपि देखनेमें एकही प्रतीत होती हो, तथापि यह आगे कई प्रकारकी हो सकती है। क्योकि ये गुण – सत्त्व, रज और तम – प्रथम दृष्टिसे यद्यपि तीन है, तथापि विचार-दृष्टिसे प्रकट हो जाता है, कि इनके मिश्रणमें प्रत्येक गुणका परिमाण अनत रीतिसे भिन्न भिन्न हुआ करता है, और इसी लिये इन तीनोमेंसे प्रत्येक गुणके अनत भिन्न परिमाणसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिके प्रकारभी त्रिघात अनत हो सकते है। अव्यक्त प्रकृतिसे निर्मित होनेवाली यह बुद्धिभी प्रकृतिकेही सदृश सूक्ष्म होती है। परतु पिछले प्रकरणमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' और 'स्थूल'का जो अर्थ बतलाया गया है, उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृतिके समान सूक्ष्म होनेपरभी उसके समान अव्यक्त नही है – मनुष्यको इसका ज्ञान हो सकता है। अतएव, अब यह सिद्ध हो चुका, कि इस बुद्धिका समावेश व्यक्तमें (अर्थात् मनुष्यको गोचर होनेवाले पदार्थोमें) होता है, और साख्यशास्त्रमें न केवल बुद्धि किंतु बुद्धिके आगे प्रकृतिके बादके सब विकारभी व्यक्तही माने जाते है। एक मूल प्रकृतिके सिवा कोईभी अन्य तत्त्व अव्यक्त नही है।

इस प्रकार, यद्यपि अव्यक्त प्रकृतिमें व्यक्त व्यवसायात्मिका – बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अबतक एकही बनी रहती है। इस एकरूपताका भग होना और अनेकरूपता या विविधत्वका उत्पन्न होनाही पृथकत्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, पारेका जमीनपर गिरना और उसकी अलग अलग छोटी छोटी गोलियाँ बन जाना। बुद्धिके बाद जब तक यह पृथकत्व या विविधरूपता उत्पन्न न हो, तब तक एकही प्रकृतिके अनेक पदार्थ हो जाना सभव नही। बुद्धिसे बादमें उत्पन्न होनेवाली पृथकताके गुणकोही 'अहकार' कहते हैं। क्योकि पृथकता, 'मैं-तू' शब्दोसेही, प्रथम व्यक्त की जाती है, और 'मैं-तू'का अर्थही अहकार, अथवा अह-अह (मैं-मैं) करना है। प्रकृतिमें उत्पन्न होनेवाले अहकारके इस गुणको यदि आप चाहे, तो अस्वयवेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होनेवाला अहकार कह सकते है। परतु स्मरण रहे, कि मनुष्यमें प्रकट होनेवाला अहकार, और वह अहकार कि जिसके कारण पेड, पत्थर, पानी अथवा भिन्न भिन्न मूल

परमाणु एकरूप प्रकृतिसे उत्पन्न होते है, ये दोनो एकही जातिके है। भेद केवल इतनाही है, कि पत्थरमे चैतन्य न होनेके कारण उसे 'अह'का ज्ञान नही होता, और मुंह न होनेके कारण 'मै-तू' कहकर स्वाभिमानपूर्वक अपनी किसीपर वह प्रकट नही कर सकता। साराश यह है, कि दूसरोंसे पृथक् रहनेका – अर्थात् अभिमान या अहकारका – तत्त्व सव जगह समानही है। इस अहकारहीको तैजस, अभिमान, भूतादि और धातुभी कहते है। अहकार वुद्धिहीका एक भाग है। इसलिये पहले जवतक वुद्धि न होगी, तवतक अहकार उत्पन्न होही नही सकता। अतएव सांख्योंने यह निश्चित किया है, कि 'अहकार' यह दूसरा – अर्थात् वुद्धिके वादका – गुण है। अव यह वतलानेकी आवश्यकता नही, कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंसे वुद्धिके समान अहकारकेभी अनत प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके वादके गुणोंकेभी प्रत्येकके त्रिघात अनत भेद है। अथवा यह कहिये, कि व्यक्त सृष्टिमें प्रत्येक वस्तुके इसी प्रकार अनत, सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते है, और इसी सिद्धान्तको लक्ष्य करके गीतामें गुणत्रय-विभाग और श्रद्धात्रय-विभाग वतलाते गये हैं (गीता अ १४ और १७)।

व्यवसायात्मिका वुद्धि और अहकार, ये दोनो व्यक्त गुण जव मूल साम्यावस्थाकी प्रकृतिमें उत्पन्न हो जाते हैं, तव प्रकृतिकी एकरूपता भग हो जाती है और उसमे अनेक पदार्थ वनने लगते है। तथापि उसकी सूक्ष्मता अवतक कायम रहती है। अर्थात् यह कहना अयुक्त न होगा, कि अव नैयायिकोंके सूक्ष्म परमाणुओका आरभ होता है। क्योकि अहकार उत्पन्न होनेके पहले प्रकृति अखडित और निरवयव थी। वस्तुत देखनेसे तो प्रतीत होता है, कि निरी वुद्धि और निरा अहकार केवल गुण है। अतएव, उपर्युक्त सिद्धान्तोमे यह मतलव नही लेना चाहिये, कि वे (वुद्धि और अहकार) प्रकृतिके द्रव्यमे पृथक् रहते है। वास्तवमें वात यह है, कि जव मूल एक और अवयवरहितही प्रकृतिमें इन गुणद्वयोका प्रादुर्भाव हो जाता है, तव उसीको विविधरूप और अवयवसहित द्रव्यात्मक व्यक्त रूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जव अहकारसे मूलप्रकृतिमें भिन्न भिन्न पदार्थ वननेकी शक्ति आ जाती है, तव आगे उसकी वृद्धिकी दो शाखाएं हो जाती हैं। एक – पेड, मनुष्य आदि सेंद्रिय प्राणियोंकी सृष्टि और दूसरी, निरिंद्रिय पदार्थोंकी सृष्टि। यहां इंद्रिय शब्दसे केवल "इंद्रियवान् प्राणियोंकी इंद्रियोंकी शक्ति" इतनाही अर्थ लेना चाहिये। इसका कारण यह है, कि सेंद्रिय प्राणियोंकी जड देहका समावेश जड यानी निरिंद्रिय सृष्टिमें होता है, और इन प्राणियोंकी आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्गमें शामिल किया जाता है। इसीलिये सांख्यशास्त्रमें सेंद्रिय सृष्टिका विचार करते समय, देह और आत्माको छोड केवल इंद्रियोंकाही विचार किया गया है। इस जगत्में सेंद्रिय अथवा निरिंद्रिय पदार्थोंके अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थका होना सभव नहीं। इसलिये कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि अहकारसे दोसे अधिक शाखाएं निकलही नहीं सकती। इनमें

निरिंद्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा इद्रियशक्ति श्रेष्ठ है। इसलिये इद्रिय सृष्टिको सात्त्विक (अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होनेवाली) कहते हैं, और निरिंद्रिय सृष्टिको तामस (अर्थात् तमोगुणके उत्कर्षसे होनेवाली) कहते हैं। साराश यह है, कि जब अहकार अपनी शक्तिसे भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसीमें एक बार सत्त्वगुणका उत्कर्ष होकर एक ओर पांच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन मिलकर इद्रिय सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह इद्रियाँ उत्पन्न होती है, और दूसरी ओर, तमोगुणका उत्कर्ष होकर उससे निरिंद्रिय सृष्टिके मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य उत्पन्न होते है। परतु प्रकृतिकी सूक्ष्मता अवतक कायम रही है, इसलिये अहकारसे उन्पन्न होनेवाले ये सोलह तत्त्वभी सूक्ष्मही रहते हैं।*

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गधकी तन्मात्राएँ–अर्थात् बिना मिश्रण हुए प्रत्येक गुणके भिन्न भिन्न अति सूक्ष्म मूल स्वरूप – निरिंद्रिय – सृष्टिके मूलतत्त्व हैं, और मनसहित ग्यारह इद्रियाँ-सृष्टिकी बीज हैं। इस विषयकी साख्यशास्त्रकी उपपत्ति विचार करनेयोग्य है, कि निरिंद्रिय सृष्टिके मूल तत्त्व (तन्मात्र) पाँचही क्यो और सेंद्रिय सृष्टिके मूल तत्त्व ग्यारहही क्यो माने जाते है। अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रज्ञोंने सृष्टिके पदार्थोंके तीन भेद – घन, द्रव और वायुरूपी – किये है, परतु साख्य-शास्त्रकारोका पदार्थोंका वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है कि मनुष्यको सृष्टिके सब पदार्थोंका ज्ञान केवल पाँच ज्ञानेंद्रियोंसे हुआ करता है, और इन ज्ञानेंद्रियोंकी रचना कुछ ऐसी विलक्षण है, कि एक इद्रियको सिर्फ एकही गुणका ज्ञान हुआ करता है। आँखोंसे सुगध नही मालूम होती और न कानसे दीखता है, त्वचासे मीठा-कडुवा नही समझ पडता और न जिव्हासे शब्दज्ञान होता है, नाकसे सफेद और काले रगका भेदभी नही मालूम होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और उनके पाँच विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध – निश्चित है, तब यह प्रकट है, कि सृष्टिके सब गुणभी पाँचसे अधिक नही माने जा सकते। क्योकि यदि हम कल्पनासे यह मानभी ले कि गुण पाँचसे अधिक हैं, तो कहना नही होगा, कि उनको जाननेके लिये हमारे पास कोई साधन या उपाय नही है। इन पाँच गुणोमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि 'शब्द' – एकही गुण है, तथापि

---

* सक्षेपमें यही अग्रेजी भाषामें इस प्रकार कहा जा सकता है –

The Primeval matter (*Prakriti*) was at first *homogeneous* It *resolved* (*Buddhi*) to unfold itself, and by the *principle of differentation* (*Ahamkara*) became *hetrogeneous* It then branched off into *Two* Sections - one *organic* (*Sendriya*) and the other *inorganic* (*Nirindriya*) There are *eleven* elements of the organic and *five* of the inorganic creation *Purusha* or the observer is different from all these and falls under none of the above categories

उसके छोटा, बडा, कर्कश, भद्दा, फटा हुआ, कोमल अथवा गायनशास्त्रके अनुसार निषाद, गाधार, षड्ज आदि, और व्याकरणशास्त्रके अनुसार कण्ठ्य, तालव्य, और ओष्ठ्य आदि अनेक भेद हुआ करते है। इसी तरह यद्यपि 'रूप' एकही गुण है, तथापि उसकेभी अनेक भेद हुआ करते है, जैसे सफ़ेद, काला, नीला, पीला, हरा, लाल, आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एकही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कडुवा, खारा आदि अनेक भेद हो जाते है। और, 'मिठास' यद्यपि एक विशिष्ट रुचि है, तथापि हम देखते हैं, कि गन्नेकी मिठास, दूधकी मिठास, गुडकी मिठास और शक्करकी मिठास भिन्न भिन्न होती है, तथा इस प्रकार उस एकही 'मिठास'के अनेक भेद हो जाते है। यदि भिन्न भिन्न गुणोंके भिन्न भिन्न मिश्रणोपर विचार किया जाय, तो यह गुणवैचित्र्य अनत प्रकारसे अनत हो सकता है। परतु चाहे जो हो, पदार्थोके मूल गुण पाँचसे कभी अधिक हो नही सकते। क्योकि इद्रियाँ केवल पाँच हैं, और प्रत्येकको एकही एक गुणका बोध हुआ करता है। इसलिये साख्योंने यह निश्चित किया है, कि यद्यपि केवल शब्दगुणके अथवा केवल स्पर्शगुणके पृथक् पृथक् यानी दूसरे गुणोंके मिश्रणरहित पदार्थ हमें दीख न पडते हो, तथापि इसमें सदेह नही, कि मूल प्रकृतिमे निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस और निरा गध है – उस प्रकार शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गधतन्मात्रही है – अर्थात् मूल प्रकृतिके येही पाँच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्रविकार अथवा द्रव्य निःसदेह है। आगे इस बातका विचार किया गया है, कि पचतन्मात्राओ अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पचमहाभूतोंके सबधमें उपनिषत्कारोका कथन क्या है।

निरिंद्रिय सृष्टिका इस प्रकार विचार करके यह निश्चित किया गया है, कि उसमें पाँचही मूलतत्त्व हैं। और जब हम सेंद्रिय सृष्टिपर दृष्टि डालते हैं, तबभी यही प्रतीत होता है, कि पाँच, ज्ञानेंद्रियाँ, पाच कर्मेंद्रियाँ और मन, इन ग्यारह इद्रियोकी अपेक्षा अधिक इद्रियाँ किसीकेभी नही हैं। स्थूल देहमें हाथ और पैर आदि इद्रियाँ यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमेंसे प्रत्येककी जडमें किसी मूल सूक्ष्म तत्त्वका अस्तित्व माने विना इद्रियोकी भिन्नताका यथोचित कारण मालूम नही होता। पाश्चिमात्य आधिभौतिक उत्क्रातिवादियोमें इसपर बहुत विवाद हुआ है। अर्वाचीन सृष्टि-शास्त्रज्ञ कहते है, कि मूलके अत्यत छोटे और गोलाकार जतुओमें सिर्फ 'त्वचा'ही एक इद्रिय होती है, और इस त्वचासे अन्य इद्रियाँ क्रमश उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ, मूल जतुकी त्वचासे प्रकाशका सयोग होनेपर आँख उत्पन्न हुई, इत्यादि। आधिभौतिक-वादियोका यह तत्त्व – कि प्रकाश आदिके सयोगसे स्थूल-इद्रियोका प्रादुर्भाव होता है – साख्योकोभी ग्राह्य है। महाभारत (महा शा २१३ १६) में, साख्यप्रक्रियाके अनुसार इद्रियोंके प्रादुर्भावका वर्णन इस प्रकार पाया जाता है –

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मन ।
रूपरागात् तथा चक्षु. घ्राण गधजिघृक्षया ॥

अर्थात् "प्राणियोंके आत्माको जब सुननेकी भावना हुई, तब कान उत्पन्न हुआ, रूप पहचाननेकी इच्छासे आँख, सूंघनेकी इच्छासे नाक उत्पन्न हुई।" परंतु सांख्योंका यह कथन है, कि यद्यपि त्वचाका प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूल प्रकृतिमेंही यदि भिन्न भिन्न इंद्रियोंके उत्पन्न होनेकी शक्तिका न हो, तो सजीव सृष्टिके अत्यंत छोटे कीडोंकी त्वचापर सूर्यप्रकाशका चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे, तोभी उन्हें आँखें – और वेभी शरीरके एक विशिष्ट भागहीमें – कैसे प्राप्त हो सकती है? डार्विनका सिद्धान्त सिर्फ यह आशय प्रकट करता है, कि दो प्राणियों – एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहितके – निर्मित होनेपर, इस जड सृष्टिके कलहमें चक्षुवाला अधिक समयतक टिक सकता है, और दूसरा शीघ्रही नष्ट हो जाता है। परंतु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ इस बातका मूल कारण नहीं बतला सकते, कि नेत्र आदि भिन्न भिन्न इंद्रियोंकी उत्पत्ति पहले हुईही क्यों। सांख्योंका मत यह है, कि ये सब इंद्रियाँ किसी एकही मूल इंद्रियसे क्रमश उत्पन्न नहीं हुई, किंतु जब अहंकारके कारण प्रकृतिमें विविधरूपता उत्पन्न होने लगती है, तब पहले उस अहंकारसे पाँच सूक्ष्म कर्मेंद्रियाँ, पाँच सूक्ष्म ज्ञानेंद्रियाँ और मन, इन सबको मिलाकर ग्यारह भिन्न भिन्न गुण (शक्ति) सबके सब एकसाथ (युगपत्) स्वतंत्र होकर मूलप्रकृतिमेंही उत्पन्न होते हैं, और फिर इसके बाद स्थूल सेंद्रिय सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इंद्रियोंमेंसे मनके बारेमें पहलेही छठे प्रकरणमें बतला दिया गया है, कि वह ज्ञानेंद्रियोंके साथ संकल्पविकल्पात्मक होता है, अर्थात् ज्ञानेंद्रियोंसे ग्रहण किये गये संस्कारोंकी व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धिके सामने निर्णयार्थ उपस्थित करता है, और कर्मेंद्रियोंके साथ वह व्याकरणात्मक होता है, अर्थात् उसे बुद्धिके निर्णयको कर्मेंद्रियोंके द्वारा अमलमें लाना पडता है। इस प्रकार वह उभयविध, अर्थात् इंद्रियभेदके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके काम करनेवाला होता है। उपनिषदोंमें इंद्रियोंकोही 'प्राण' कहा है, और सांख्योंके मतानुसार उपनिषत्कारोंकाभी यही मत है, कि ये प्राण पंचमहाभूतात्मक नहीं हैं, किंतु परमात्मासे पृथक् उत्पन्न हुए हैं (मुंड २ १ ३) इन प्राणोंकी – अर्थात् इंद्रियोंकी – संख्या उपनिषदोंमें कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं तेरह बतलाई गई है। परंतु वेदान्तसूत्रोंके आधारसे श्रीशंकराचार्यने निश्चित किया है, कि उपनिषदोंके सब वाक्योंकी एकरूपता करनेपर इंद्रियोंकी संख्या ग्यारहही सिद्ध होती है (वे सू शां २ ४ ५ ६)। और गीतामें तो इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि "इंद्रियाणि दशैकं च" (गीता १३ ५) – अर्थात् इंद्रियाँ 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषयपर सांख्य और वेदान्त दोनोंमें कोई मतभेद नहीं रहा।

सांख्योंके निश्चित किये हुए मतका सारांश यह है – सात्त्विक अहंकारसे सेंद्रिय सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह इंद्रियशक्तियाँ (गुण) उत्पन्न होती हैं, और तामस अहंकारसे निरिंद्रिय सृष्टिके मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य निर्मित होते हैं। इनके बाद

पचतन्मात्रद्रव्योंसे क्रमश स्थूल पचमहाभूत (जिन्हें 'विशेष'भी कहते हैं) और स्थूल निरिंद्रिय पदार्थ वनने लगते है, तया, यथासभव इन पदार्थोंका सयोग ग्यारह सूक्ष्म इद्रियोंके साथ हो जानेपर सेद्रिय सृष्टि वन जाती है।

साख्यमतानुसार प्रकृतिमे प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वोका क्रम, जिसका वर्णन अवतक किया गया है, निम्न लिखित वशवक्षसे अधिक स्पष्ट हो जायगा –

ब्रह्मांडका वंशवृक्ष

पुरुष ——→ (दोनो स्वयभू और अनादि) ←—— प्रकृति (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(निर्गुण, पर्यायशब्द – ज्ञ द्रष्टा, इ)। (सत्त्व-रज-तमोगुणी, पर्यायशब्द – प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रसव-धर्मिणी आदि)

|

महान् अथवा बुद्धि (व्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द – आसुरी, मति, ज्ञान ख्याति इ)

|

अहकार (व्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द – अभिमान, तैजस आदि)

|

(सात्त्विक सृष्टि अर्थात् व्यक्त और सूक्ष्म इद्रियाँ) (तामस अर्थात् निरिंद्रिय सृष्टि

पाँच बुद्धिन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पचतन्मात्राएँ (सूक्ष्म)

विशेष या पचमहाभूत (स्थूल)

अठारह तत्त्वोंका लिंगशरीर (सूक्ष्म)

स्थूल पचमहाभूत और पुरुषको मिलाकर कुल तत्त्वोकी सख्या पचीस है। इनमेंसे महान् अथवा वुद्धिके वादके तेईस गुण मूलप्रकृतिके विकार हैं। किंतु उनमेंभी यह भेद है, कि सूक्ष्मतन्मात्राएँ और पाँच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं, और बुद्धि, अहकार तथा इद्रियाँ केवल शक्तियाँ या गुण हैं। ये तेईस तत्त्व व्यक्त हैं तो मूल प्रकृति अव्यक्त है। साख्योंने इन तेईस तत्त्वोंमेंसे आकाशतत्त्वहीमें दिक् और काल-कोभी समिलित कर दिया है। वे 'प्राण'को भिन्न तत्त्व नही मानते, किंतु जब जब इद्रियोंके व्यापार आरभ होने लगते हैं, तव उसीको वे प्राण कहते हैं (सा का २९)। परतु वेदातियोको यह मत मान्य नही है। उन्होंने प्राणको स्वतत्र तत्त्व माना है (वे सू २ ४ ९)। यह पहलेही वतलाया जा चुका है, कि वेदान्ती लोग प्रकृति पुरुषको स्वयभू और स्वतत्र नही मानते, जैसे कि साख्यमतानुयायी मानते हैं, किंतु और उनका कथन है, कि ये दोनो (प्रकृति और पुरुष) एकही परमेश्वरकी दो विभूतियाँ है। साख्य और वेदान्तके उक्त भेदोको छोडकर शेष सृष्ट्युत्पत्ति क्रम दोनो पक्षोको ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, महाभारतकी अनुगीतामें 'ब्रह्मवृक्ष' अथवा

'ब्रह्मवन'का जो दो वार वर्णन किया गया है (मभा अश्व ३५ २०–२३ और ४७ १२-१५) वह साख्यतत्त्वोके अनुसारही है –

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहकारविटप· इद्रियान्तरकोटर· ।।
महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्ण· सदापुष्पः शुभाशुभफलोदय ।
आजीव्य· सर्वभूताना ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एव छित्वा च भित्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ।।
हित्वा सगमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहकारो मुच्यते नात्र सशय· ।।

अर्थात् " अव्यक्त (प्रकृति) जिसका वीज है, वुद्धि (महान्) जिसका तना या पिड है, अहकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इद्रियाँ जिसकी अतर्गत खोखलियाँ या खोडदे है, (सूक्ष्म) महाभूत (पचतन्मात्राएँ) जिसकी वडी वडी शाखाएँ हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी टहनियाँ हैं, इसी प्रकार सदा पत्र, पुष्प और शुभाशुभ फल धारण करनेवाला, समस्त प्राणिमात्रके लिये आधारभूत, यह सनातन बृहद् ब्रह्मवृक्ष है। ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह इसे ज्ञानरूपी तलवारसे काट कर टूक टूक कर डाले, जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करनेवाले सगमय पाशोको नष्ट करे और ममत्ववुद्धि तथा अहकारका त्याग कर दे, तव वह नि·सशय मुक्त होता है।" सक्षेपमें, यही ब्रह्मवृक्ष प्रकृति अथवा मायाका 'खेल' 'जाला' या 'पसार' है। अत्यत प्राचीन कालहीसे – ऋग्वेदकालहीसे – इसे 'वृक्ष' कहनेकी रीति पड गई है, और उपनिषदोमेंभी इसको 'सनातन अश्वत्थवृक्ष' कहा है (कठ ६ १)। परतु वेदोमें इसका सिर्फ यही वर्णन किया गया है, कि इस वृक्षका मूल (परब्रह्म) ऊपर है, और शाखाएँ (दृश्य-सृष्टिका फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णनको और साख्योके तत्त्वोको मिलाकर गीतामे अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीताके (गीता १५ १-२) श्लोकोकी अपनी टीकामें कर दिया है।

ऊपर (वृक्षरूपसे) वतलाये गये पचीस तत्त्वोका वर्गीकरण साख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीतिसे किया करते है। अतएव यहाँपर उस वर्गीकरणके विषयमें कुछ लिखना चाहिये। साख्योका यह कथन है, कि इन पचीस तत्त्वोंके चार वर्ग होते हैं – अर्थात् मूल प्रकृति प्रकृति-विकृति, विकृति और न-प्रकृति न-विकृति (१) प्रकृति-तत्त्व किसी दूसरेसे उत्पन्न नही हुआ है, अतएव उसे 'मूल प्रकृति' कहते हैं। मूल प्रकृतिसे आगे वढनेपर जब हम दूसरी सीढीपर आते है, तव 'महान्' तत्त्वका पता लगता है। यह महान् तत्त्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह " प्रकृतिकी विकृति

या विकार" है। और इसके बाद महान् तत्त्वसे अहकार निकला है, अतएव 'महान्' अहकारकी प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान् अथवा बुद्धि एक ओरसे अहकारकी प्रकृति या मूल है और दूसरी ओरसे वह मूलप्रकृतिकी विकृति अथवा विकार है। इसीलिये साख्योंने उसे 'प्रकृति-विकृति' नामक वर्गमें रखा, और इसी न्यायके अनुसार अहकार तथा पचतन्मात्राओका समावेशभी 'प्रकृति-विकृति' वर्गहीमें किया जाता है। जो तत्त्व अथवा गुण स्वय दूसरेमे उत्पन्न (विकृति) हो, और आगे वही स्वय अन्य तत्त्वोका मूलभूत (प्रकृति) हो जावे, उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इस वर्गके ये सात तत्त्व हैं – महान् अहकार और पचतन्मात्राएँ। (३) परतु पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, मन और स्थूल पचमहाभूत, इन सोलह तत्त्वोंसे बादमें और अन्य तत्त्वोकी उत्पत्ति नही हुई। किंतु ये स्वय दूसरे तत्त्वोंसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव इन सोलह तत्त्वोको 'प्रकृति-विकृति' न कह कर केवल 'विकृति' अथवा विकार कहते हैं। (४) 'पुरुष' न प्रकृति है; और न विकृति। वह स्वतत्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वरकृष्णने इस प्रकार वर्गीकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरणयो किया है –

मूलप्रकृतिरविकृति• महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥

अर्थात् "यह मूलप्रकृति अविकृति है – अर्थात् किसीकाभी विकार नहीं है, महदादि सात (अर्थात् महत्, अहकार और पचतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं, और मनसहित ग्यारह इद्रियाँ तथा स्थूल पचमहाभूत मिलकर सोलह तत्त्वोको केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति" (सा का ३)। आगे इन्ही पचीस तत्त्वोंके और तीन भेद किये गये हैं – अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ। इनमेंसे केवल एक मूलप्रकृतिही अव्यक्त है, प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तेईस तत्त्व व्यक्त हैं, और पुरुष 'ज्ञ' है। ये हुए साख्योके वर्गीकरणके भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिकमार्गीय ग्रथोमें प्राय इन्ही पचीस तत्त्वोका उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु ६ १०, मनु १ १४ १५)। परतु, उपनिषदोमें वर्णन किया गया है, कि ये सब तत्त्व परब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं और वहाँ इनका विशेष विवेचन या वर्गीकरणभी नही किया गया है। उपनिषदोंके बाद जो ग्रथ हुए हैं, उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ दीख पडता है, परतु वह उपर्युक्त साख्योंके वर्गीकरणसे भिन्न है। कुल तत्त्व पचीस हैं। इनमेंसे सोलह तत्त्व तो साख्यमतके अनुसारभी विकार अर्थात् दूसरे तत्त्वोंसे उत्पन्न हुए है। इस कारण उन्हे प्रकृतिमें अथवा मूलभूत पदार्थोंके वर्गमें संमिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्त्व शेष रहे – १ पुरुष, २ प्रकृति, ३–९ महत्, अहकार, और पाँच तन्मात्राएँ। इनमेंसे पुरुष और प्रकृतिको छोड शेष सात तत्त्वोको साख्योंने प्रकृति-विकृति कहा है। परतु वेदान्तशास्त्रमें प्रकृतिको स्वतत्र न मानकर यह सिद्धान्त निश्चित किया है, कि पुरुष और प्रकृति दोनो एकही परमेश्वरसे उत्पन्न होते है।

इस सिद्धान्तको मान लेनेसे, साख्योंके 'मूल-प्रकृति' और 'प्रकृति-विकृति' भेदोके लिये स्थानही नही रह जाता। क्योकि प्रकृतिभी परमेश्वरसे उत्पन्न होनेके कारण मूल नही कही जा सकती, किंतु वह प्रकृति-विकृतिकेही वर्गमें शामिल हो जाती है। अतएव सृष्टयुत्पत्तिका वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते है, कि एक परमेश्वरहीसे एक ओर जीव निर्माण हुआ, दूसरी ओर (महदादि सात प्रकृति-विकृतिसहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकारकी प्रकृति निर्मित हुई (मभा शा ३०६ २९ और ३१० १०)। अर्थात् , वेदान्तियोंके मतसे पचीस तत्त्वोमेंसे सोलह तत्त्वोंको छोड शेप नौ तत्त्वोंके केवल दोही वर्ग किये जाते है – एक 'जीव' और 'दूसरा' 'अष्टधा प्रकृति'। भगवद्गीतामें वेदान्तियोका यह वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है। परतु इसमेंभी अतमें थोडासा फर्क हो गया है। साख्यवादी जिसे पुरुष कहते है, उसेही गीतामे जीव कहा है, और यह वतलाया है, कि वह (जीव) ईश्वरकी 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है, और साख्यवादी जिसे मूलप्रकृति कहते है, उसेही गीतामें परमेश्वरका 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गीता ७ ४–५) इस प्रकार पहले दो वडे वर्ग कर लेनेपर उनमेंसे दूसरे वर्गके अर्थात् कनिष्ठ स्वरूपके जब औरभी भेद या प्रकार वतलाने पडते है, तव इस कनिष्ठ स्वरूपके अतिरिक्त उसमे उपजे हुए शेप तत्त्वो कोभी वतलाना आवश्यक होता है। क्यो कि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् साख्योकी मूलप्रकृति) स्वय अपनाही एक प्रकार या भेद हो नही सकता। उदाहरणार्थ, जब यह वतलाना पडता है, कि वापके लडके कितने है, तव उन लडकोमेंही वापकी गणना नही की जा सकती। अतएव परमेश्वरके कनिष्ठ स्वरूपके अन्य भेदोको वतलाते समय कहना पडता है, कि वेदान्तियोकी अष्टधा-प्रकृतिमेंसे मूलप्रकृतिको छोड शेष सात तत्त्वही (अर्थात् महान्, अहकार और पचतन्मात्राएँ) उस मूलप्रकृतिके भेद या प्रकार है। परतु ऐसा करनेसे कहना पडेगा, कि परमेश्वरका कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूल प्रकृति) सात प्रकारका है, और ऊपर कह आये हैं, कि वेदान्ती तो प्रकृति अष्टधा अर्थात् आठ प्रकारकी मानते है। अव इस स्थानपर यह विरोध दीख पडता है, कि जिस प्रकृतिको वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकारकी कहे, उसीको गीता सप्तधा या सात प्रकारकी कहे। परतु गीताकारको अभीष्ट था, कि उक्त विरोध तो दूर हो जावे, और 'अष्टधा प्रकृति'का वर्णन वना रहे। इसीलिये महान्, अहकार और पचतन्मात्राएँ इन सातोमेंही आठवे मनतत्त्वको समिलित करके गीतामें वर्णन किया गया है, कि परमेश्वरका कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूल प्रकृति अष्टधा है। (गीता ७ ५) इनमेंसे केवल मनहीमें दस इद्रियों और पचतन्मात्राओमें पचमहाभूतोका समावेश किया गया है। अव यह प्रतीत हो जायगा, कि गीतामें किया गया वर्गीकरण साख्यो और वेदान्तियोंके वर्गीकरणसे यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्त्वोंकी सख्यामें कुछ न्यूनाधिकता नही हो जाती। सब जगह तत्त्व पचीसही

माने गये है। परंतु वर्गीकरणकी उक्त भिन्नताके कारण किसीके मनमें कुछ भ्रम न हो जाय, इसलिये ये तीनो वर्गीकरण कोष्टकके रूपमें एकत्र करके आगे दिये गये है। गीताके तेरहवे अध्याय (गीता १३ ५) में वर्गीकरणके झगडेमें न पड कर, साख्योंके पचीस तत्त्वोका वर्णन ज्यो-का-त्यो पृथक् पृथक् किया गया है, और इससे यह वात स्पष्ट हो जाती है, कि चाहे वर्गीकरणमें कुछ भिन्नता हो, तथापि तत्त्वोकी सख्या दोनो स्थानोपर बराबरही है।

पचीस मूलतत्त्वोंका वर्गीकरण

सांख्योका वर्गीकरण।	तत्त्व।	वेदान्तियोंका वर्गीकरण।	गीताका वर्गीकरण
न-प्रकृति न-विकृति	१ पुरुष	परब्रह्मका श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति
मूल प्रकृति	१ प्रकृति	परब्रह्मका कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकारका)	अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान् १ अहकार ५ तन्मात्राएँ		अपरा प्रकृतिके आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धीद्रियाँ ५ कर्मेंद्रियाँ ५ महाभूत	विकार होनेके कारण इन सोलह तत्त्वोको वेदान्ती मूल तत्त्व नही मानते।	विकार होनेके कारण गीतामें इन पद्रह तत्त्वोकी गणना मूल तत्त्वोमें नही की गई है।
	२५		

यहांतक इस बातका विवेचन हो चुका, कि पहले मूलसाम्यावस्थामें रहनेवाली एकरूप अवयवरहित अव्यक्त जड प्रकृतिमें व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करनेकी अस्वयवेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रकट हुई, फिर उसमें 'अहकार'से अवयवसहित विविध समता कैसे उपजी, और इसके बाद 'गुणोसे गुण' इस गुणपरिणामवादके अनुसार एक ओर सात्त्विक (अर्थात् सेंद्रिय) सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह सूक्ष्म इद्रियाँ तथा दूसरी ओर तामस (अर्थात् निरिंद्रिय) सृष्टिकी मूलभूत पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ कैसे निर्मित हुई। अब इसके बादकी सृष्टि (अर्थात् स्थूल पचमहाभूतो या उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य जड पदार्थोकी) उत्पत्तिके क्रमका वर्णन किया जावेगा। साख्यशास्त्रमें सिर्फ यही कहा है, कि सूक्ष्मतन्मात्राओंसे 'स्थूल पचमहाभूत' अथवा 'विशेष', गुणपरिणामके कारण, उत्पन्न हुए हैं। परतु वेदान्तशास्त्रके ग्रथोमें इस विषयका अधिक विवेचन किया गया है, इसलिये प्रसगानुसार उसकाभी सक्षिप्त वर्णन – इस सूचनाके साथ, कि यह वेदान्तशास्त्रका मत है, सांख्योका नही – यहाँ कह देना आवश्यक जान पडता है। "स्थूल पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश"को पचमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्तिक्रम तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार है – "आत्मन आकाश सभूत। आकाशाद्वायु। वायोरग्नि। अग्नेराप। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय।" इत्यादि (तै उ २.१)–

अर्थात् पहले परमात्मासे (मूलजड प्रकृतिसे नहीं, जैसा कि साख्यवादियोका कथन है) आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे पानी और फिर पानीसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है। तैत्तिरीयोपनिषद्मे यह नही बतलाया गया, कि इस क्रमका कारण क्या है। परतु प्रतीत होता है, कि उत्तर-वेदान्तग्रथोमें पचमहाभूतोंके उत्पत्तिक्रमके कारणोका विचार साख्यशास्त्रोक्त गुणपरिणामके तत्त्वपरही किया गया है। इन उत्तर-वेदान्तियोका यह कथन है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" इस न्यायसे पहले एकही गुणका पदार्थ उत्पन्न हुआ। उससे दो गुणोंके और फिर तीन गुणोंके पदार्थ उत्पन्न हुए – इसी प्रकार वृद्धि होती गई। पचमहाभूतोमेंसे आकाशका केवल शब्दही एक गुण मुख्य है, इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके वाद वायुकी उत्पत्ति हुई, क्योकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण है। जव वायु जोरसे चलती है, तब उसकी आवाज सुन पडती है, और हमारी स्पर्शेंद्रियकोभी उसका ज्ञान होता है। वायुके वाद अग्निकी उत्पत्ति होती है। क्योकि शब्द और स्पर्शके अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण रूप है। इन तीनो गुणोंके साथही साथ पानीमें चौथा गुण रुचि या रस होता है। इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्निसेही होना चाहिये। और अतमें, इन चारो गुणोकी अपेक्षा पृथ्वीमें 'गध' नामक विशेष गुण होनेसे यह सिद्धान्त किया गया है, कि पानीसे वादमें पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यास्काचार्यका यही सिद्धान्त है (निरुक्त १४ ४)। तैत्तिरीयोपनिषद्में आगे चल कर कहा गया है, कि उक्त क्रमसे स्थूल पचमहाभूतोकी उत्पत्ति हो चुकनेपर फिर – "पृथिव्या ओषधय । ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुष ।" पृथ्वीसे वनस्पति, वनस्पतिसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ (तै २ १)। यह सृष्टि पचमहाभूतोंके मिश्रणसे बनती है, इसलिये इस मिश्रणक्रियाको वेदान्तग्रथोमें 'पचीकरण' कहते हैं। पचीकरणका अर्थ "पचमहाभूतोमेंसे प्रत्येकका न्यूनाधिक भाग ले कर उन सवके मिश्रणसे किसी नये पदार्थका वनना" है। अत यह पचीकरण, स्वभावत अनेक प्रकारका से सकता है। श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने अपने 'दासबोध'के नौवे तथा ग्यारहवे दशकमें जो वर्णन किया है, वहभी इसी बातको सिद्ध करता है। देखिये "काला और सफ़ेद मिलानेसे नीला वनता है, और काला और पीला मिलानेसे हरा वनता है" (दा. ९ ६ ४०)। पृथ्वीमें अनत कोटि बीजोकी जातियाँ होती हैं। पृथ्वी और पानीका मेल होनेपर उन वीजोंसे अकुर निकलते हैं। अनेक प्रकारकी वेले होती हैं, पत्र-पुष्प होते हैं, और अनेक प्रकारके स्वादिष्ट फल होते हैं। . अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, सवका वीज पृथ्वी और पानी है। यही सृष्टिरचनाका अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानियाँ, चार वाणियाँ, चौरासी लाख* जीवयोनियाँ, तीन लोक, पिंड, ब्रह्माड सव निर्मित

* यह बात स्पष्ट है, कि चौरासी लाख योनियोकी कल्पना पौराणिक है, और वह अदाजसे की गई है। तथापि, वह निरी निराधारभी नही है। उत्क्रांति-

हुए है। (दा १३ ३ १०–१५) परतु पचीकरणसे केवल जड पदार्थ अथवा जड शरीरही उत्पन्न होते है। ध्यान रहे, कि जब इस जड देहका सयोग प्रथम सूक्ष्म इद्रियोंसे और फिर आत्मासे अर्थात् पुरुषसे होता है, तभी इस जड देहसे सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यहभी वतला देना चाहिये, कि उत्तर वेदान्त-ग्रथोंमें वर्णित यह पचीकरण प्राचीन उपनिषदोंमें नही है। छादाग्योपनिषदमें पाँच तन्मात्राएँ या पाँच महाभूत नही माने गये है, किंतु कहा है, कि "तेज, आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी)" इन्ही तीन सूक्ष्म मूलतत्त्वोंके मिश्रणसे अर्थात् 'त्रिवृत्करण'से सब विविध सृष्टि बनी है। और, श्वेताश्वेतरोपनिषद्में कहा है कि, "अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना स्वरूपा" (श्वेता ४ ५) अर्थात् लाल (तेजोरूप), सफेद (जलरूप) और काले (पृथ्वीरूप) रगोंकी (अर्थात् तीन तत्त्वोंकी) एक अजा (बकरी)से नामरूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छादोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें श्वेतकेतु और उसके पिताका सवाद है। सवादके आरभ-

---

तत्त्वके अनुसार पश्चिमी आधिभौतिकशास्त्री यह मानते है, कि सृष्टिके आरभमें उपस्थित एक छोटेसे सजीव सूक्ष्म गोल जतुसे मनुष्यप्राणी उत्पन्न हुआ। इस कल्पनासे यह बात स्पष्ट है, कि सूक्ष्म गोल जतुका स्थूल गोल जतु बननेमें, स्थूल जतुका पुनश्च छोटा छोटा कीडा होनेमें, छोटे कीडेके बाद उसका अन्य प्राणी होनेमें, प्रत्येक योनि अर्थात् जातिकी अनेक पीढियाँ बीत गई होगी। इससे एक आग्ल जीवशास्त्रज्ञने गणितके द्वारा सिद्ध किया है, कि पानीमें रहनेवाली छोटी छोटी मछलियोंके गुण-धर्मोका विकास होते होते उन्हीको अतमें मनुष्यस्वरूप प्राप्त होनेमें, भिन्न भिन्न जातियोंकी लगभग ५३ लाख ७५ हजार पीढियाँ बीत चुकी हो, और सभव है, कि इन पीढियोकी सख्या कदाचित इससे दस गुणाभी हो। ये हुई पानीमें रहनेवाले जलचरोंसे लेकर मनुष्यतककी योनियाँ। अब यदि इनमेंही छोटे जलचरोंसे पहलेके सूक्ष्म जतुओका समावेश कर दिया जाय तो न मालूम और कितनी लाख पीढियोंकी कल्पना करनी होगी। इससे मालूम हो जायगा, कि हमारे पुराणोंमें वर्णित चौरासी लाख योनियोकी कल्पना की अपेक्षा आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंके पुराणोंमें वर्णित पीढियोंकी कल्पना कही अधिक बढी-चढी है। कल्पनासबधी यह न्यायकाल (समय) कोभी उपयुक्त हो सकता है। भूगर्भगतजीव-शास्त्रज्ञोका कथन है, कि इस बातका स्थूल दृष्टिसे निश्चय नही किया जा सकता कि, सजीवसृष्टिके सूक्ष्म जतु इस पृथ्वीपर कब उत्पन्न हुए। और सूक्ष्म जलचरोकी उत्पत्ति तो कई करोड वर्षोंके पहले हुई है। इस विषयका विवेचन The Last Link by Ernst Haeckel, with notes, etc by Dr H Gadow (1898) नामक पुस्तकमें किया गया है। डॉक्टर गेडोने इस पुस्तकमें जो दो-तीन उपयोगी परिशिष्ट जोडे है, उनसेही उपर्युक्त बाते ली गई हैं। हमारे पुराणोमें चौरासी योनियोकी गिनती इस प्रकार की गई है– ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य (दासबोध २० ६)।

हीमें श्वेतकेतुके पिताने उससे स्पष्ट कह दिया है, कि "अरे, इस जगत्‌के आरम्भमें 'एकमेवाद्वितीय सत्' के अतिरिक्त – अर्थात् जहाँ तहाँ सब एक जगह और नित्य परब्रह्मके अतिरिक्त और कुछभी नहीं था। जो असत् (अर्थात् हैही नहीं) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव, आदिमें सर्वत्र सत्‌ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध रूप होनेकी इच्छा हुई। और उससे क्रमश. सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्त्वोंमेंही जीवरूपसे परब्रह्मका प्रवेश होनेपर उनके त्रिवृत्करणसे जगतकी अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुईं। स्थूल अग्नि, सूर्य या विद्युल्लताकी ज्योतिमें, जो लाल (लोहित) रंग है, वह सूक्ष्म तेजोरूपी मूलतत्त्वका परिणाम है, जो सफेद (शुक्ल) रंग है, वह सूक्ष्म आप-तत्त्वका परिणाम है, और जो काला (कृष्ण) रंग है, वह सूक्ष्म पृथ्वी-तत्त्वका परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य जिस अन्नका सेवन करता है, उसमेंभी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी) येही तीन तत्त्व होते हैं। जैसे दहीको मथनेसे मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वोंसे बना हुआ अन्न जब पेटमें जाता है, तब उसमेंसे तेज-तत्त्वके कारण मनुष्यके शरीरमें स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम – जिन्हें क्रमश. अस्थि, मज्जा, और वाणी कहते हैं – उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जलतत्त्वसे मूत्र, रक्त और प्राण, तथा अन्न अर्थात् पृथ्वी-तत्त्वसे पुरीष, मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं, (छां. ६. २–६)। छांदोग्योपनिषद्‌की यही पद्धति वेदान्तसूत्रोंमें (वे. सू. २. ४. २०) भी कही गई है, कि मूल महाभूतोंकी संख्या पांच नहीं, केवल तीनही है, और उनके त्रिवृत्करणसे सब दृश्य पदार्थोंकी उत्पत्तिभी मालूम की जा सकती है। स्वयं बादरायणाचार्य तो पंचीकरणका नाम तक नहीं लेते। तथापि तैत्तिरीय (२. १), प्रश्न (४. ८), बृहदारण्यक (४. ४. ५) आदि अन्य उपनिषदोंमें, और विशेषत श्वेताश्वतर (२. १२), वेदान्तसूत्र (२. ३. १–१४) तथा गीता (७. ४, १३. ५) मेंभी तीनके बदले पांच महाभूतोंका वर्णन है। गर्भोपनिषद्‌के आरम्भमेंही कहा है, कि मनुष्य देह 'पंचात्मक' है; और महाभारत तथा पुराणोंमें तो पंचीकरणका वर्णन स्पष्ट तौरसे किया गया है (मभा. शां १८४–१८६)। इससे यही सिद्ध होता है, कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है, तथापि जब महाभूतोंकी संख्या तीनके बदले पांच मानी जाने लगी, तब त्रिवृत्करणके उदाहरणोंसे पंचीकरणकी कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ, और त्रिवृत्करण पीछे रह गया। एवं अब तो पंचीकरणकी कल्पना सब वेदान्तियोंको ग्राह्य हो गई। आगे चल कर इसी पंचीकरण शब्दके अर्थमें यह बातभी शामिल हो गई, कि मनुष्यका शरीर केवल पंचमहाभूतोंसे ही नहीं बना है, किन्तु उन पंचमहाभूतोंमेंसे हर एक पांच प्रकारसे शरीरमें विभाजित हो गया है। उदाहरणार्थ, त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु ये पांच विकार अन्नमय पृथ्वीतत्त्वके हैं, इत्यादि (मभा. शां. १८४.

२०–२५, और दासबोध १७ ८)। प्रतीत होता है, कि यह कल्पनाभी उपर्युक्त छादोग्योपनिषदके त्रिवृत्करणके वर्णनसे सूझ पडी है। क्योकि वहांभी अतिम वर्णन यही है, कि "तेज, आप और पृथ्वी" इन तीनोमेंसे प्रत्येक, तीन-तीन प्रकारसे मनुष्यकी देहमें पाया जाता है।

इस वातका विवेचन हो चुका, कि मूल अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार परब्रह्मसे अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले सृष्टिके अचेतन अर्थात् निर्जीव या जड पदार्थ कैसे वने हैं। अव इसका विचार करना चाहिये, कि सृष्टिके सचेतन अर्थात् सजीव प्राणियोकी उत्पत्तिके सवधमें साख्यशास्त्रका विशेष कथन क्या है, और फिर यह देखना चाहिये, कि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तोंसे उसका कहाँतक मेल है। जव मूलप्रकृतिसे प्रादुर्भूत पृथ्वी आदि स्थूल पचमहाभूतोका सयोग सूक्ष्म इद्रियोंके साथ होता है, तव उससे सजीव प्राणियोका शरीर वनता है। परतु यद्यपि यह शरीर सेद्रिय हो, तथापि वह जडही रहता है। इन इद्रियोको प्रेरित करनेवाला तत्त्व जड प्रकृतिसे भिन्न होता है, जिसे 'पुरुष' कहते हैं। साख्योंके इन सिद्धान्तोका वर्णन पिछले प्रकरणमें किया जा चुका है, कि यद्यपि मूलत 'पुरुष' अकर्ता है, तथापि प्रकृतिके साथ उसका सयोग होनेपर सजीव सृष्टिका आरभ होता है, और "मै प्रकृतिसे भिन्न हूँ" यह ज्ञान हो जानेपर पुरुषका प्रकृतिसे सयोग छूट जाता है, तथा वह मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नही होता, तो जन्म-मरणके चक्करमें उसे घूमना पडता है। परतु इस वातका विवेचन तव नही किया गया, कि जिस 'पुरुष'की 'प्रकृति' और 'पुरुष'की भिन्नताका ज्ञान हुए विनाही मृत्यू हो जाती है, उसके आत्मा, अर्थात् साख्य परिभाषाके अनुसार 'पुरुष'को ये नये जन्म कैसे प्राप्त होते है। अतएव यहां उस विषयका कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक जान पडता है। यह स्पष्ट है, कि जो मनुष्य विना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है, उसकी आत्मा प्रकृतिके चक्रसे सदाके लिये छूट नही सकती। क्योकि यदि ऐसा हो, तो ज्ञान अथवा पाप-पुण्यका कुछभी महत्त्व नही रह जायगा। और फिर चार्वाकके मतानुसार यह कहना पडेगा कि मृत्युके बाद हर एक मनुष्य प्रकृतिके फदेसे छूट जाता है – अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा, यदि यह कहे, कि मृत्युके बाद केवल आत्मा अर्थात् पुरुष वच जाता है, और वही स्वय नये नये जन्म लिया करता है, तो यह मूलभूत सिद्धान्त – कि पुरुष अकर्ता और उदासीन है, और सव कर्तृत्व प्रकृतिहीका है – मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा यदि हम यह मानते है, कि आत्मा स्वयही नये नये जन्म लिया करती है, तो वह उसका गुण या धर्म हो जाता है, और तव तो ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जाती है, कि वह जन्म-मरणके आवगमनसे कभी छूटही नही सकता। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि यदि विना ज्ञान प्राप्त किये कोई मनुष्य मर जाय तोभी उसकी आत्माको नया जन्म प्राप्त करा देनेके लिये उससे प्रकृतिका

सबध अवश्य रहनाही चाहिये । तथापि मृत्युके बाद स्थूल देहका नाश हो जाया करता है । इसलिये यह प्रकट है, कि अब उक्त सबध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृतिके साथ नही रह सकता । परतु यह नही कहा जा सकता, कि प्रकृति केवल स्थूल पचमहाभूतोहीसे बनी है । प्रकृतिसे कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और स्थूल पचमहाभूत उन तेईसोमेंसे अतिम पाँच है । इन अतिम पाँच तत्त्वो (स्थूल पच-महाभूतो) को तेईस तत्त्वोमेंसे अलग करनेपर अठराह तत्त्व शेष रहते है । अतएव अब यह कहना चाहिये, कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है, वह यद्यपि पचमहाभूतात्मक स्थूल-शरीरसे – अर्थात् अतिम पाँच तत्त्वोसे – छूट जाता है, तथापि इस प्रकारकी मृत्युसे प्रकृतिके अठराह अन्य तत्त्वोके साथ उसका सबध कभी छूट नही सकता । वे अठारह तत्त्व ये है – महान्, (बुद्धि), अहकार, मन, दस इद्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ (इस प्रकरणमें दिया गया ब्रह्माडका वृक्षवश पृष्ठ १८०) । ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं । अतएव इन तत्त्वोके साथ पुरुषका सयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है, उसे स्थूलशरीरके विरुद्ध सूक्ष्म अथवा लिंग-शरीर कहते है (सा का ४०) । जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है, तब मृत्युके समय उसको आत्माके साथही प्रकृतिके उक्त अठारह तत्त्वोसे बना हुआ यह लिंग-शरीरभी स्थूल देहसे बाहर हो जाता है । और जबतक उस पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति हो नही जाती, तबतक उस लिगशरीरहीके कारण उसको नये नये जन्म लेने पडते है । इसपर कुछ लोगोका यह प्रश्न है, कि मनुष्यकी मृत्युके बाद जीवके साथ साथ इस जड देहमें बुद्धि, अहकार, मन और दस इद्रियोके व्यापारभी नष्ट होते हुए, हमें प्रत्यक्ष दीख पडते है । इस कारण लिगशरीरमें इन तेरह तत्त्वोंका समावेश किया जाना तो उचित है, परतु इन तेरह तत्त्वोके साथ पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओकाभी समावेश लिंगशरीरमें क्यो किया जाना चाहिये ? इसपर सांख्योका उत्तर यह है, कि ये तेरह तत्त्व-निरी बुद्धि, निरा अहकार, मन और दस इद्रियाँ – प्रकृतिके केवल गुण हैं । और, जिस तरह छायाको किसी-न-किसी पदार्थका – तथा चित्रको दीवार, कागज आदिका – आश्रय आवश्यक है, उसी तरह इन गुणात्मक तेरह तत्त्वोकोभी एकत्र रहनेके लिये किसी द्रव्यके आश्रयकी आवश्यकता होती है । अब आत्मा (पुरुष) स्वय निर्गुण और अकर्ता है, इसलिये वह स्वय किसीभी गुणका आश्रय हो नही सकता । मनुष्यकी जीविता-वस्थामें उसके शरीरके स्थूल पचमहाभूतही इन तेरह तत्त्वोके आश्रयस्थान हुआ करते हैं – परतु मृत्युकेबाद अर्थात् स्थूल शरीरके नष्ट हो जाने पर स्थूल पच-महाभूतोका यह आधार छूट जाता है । तब उस अवस्थामें इन तेरह गुणात्मक तत्त्वोके लिये किसी अन्य द्रव्यात्मक आश्रयकी आवश्यकता होती है । यदि मूल प्रकृतिहीको आश्रय मान ले, तो वह अव्यक्त और अविकृत अवस्थामें – अर्थात् अनत और सर्वव्यापी – होनेके कारग एक छोटेसे लिंगशरीरके अहकार, बुद्धि आदि

गुणोका आधार नही हो सकती। अतएव मूलप्रकृतिकेही द्रव्यात्मक विकारोमेंसे, स्थूल पचमहाभूतोंके वदले उनके मूलभूत पांच सूक्ष्म तन्मात्र द्रव्योका समावेश उपर्युक्त तेरह गुणोंके साथ-ही-साथ उनके आश्रयस्थानकी दृष्टिसे लिंगशरीरमें करना पडता है (सा का ४१) । वहुतेरे साख्य ग्रथकार, लिंगशरीर और स्थूल शरीरके बीच एक और तीसरे शरीर (पचतन्मात्राओंसे वने हुए) की कल्पना करके प्रतिपादन करते हैं, कि यह तीसरा शरीर लिंगशरीरका आधार है। परतु हमारा मत यह है, कि साख्यकारिकाकी इकतालीसवीं आर्याका यथार्थ भाव वैसा नही है, पर टीकाकारोंने भ्रमसे तीसरे शरीरकी कल्पना की है। हमारे मतानुसार उस आर्याका उद्देश्य सिर्फ इस बातका कारण वतलानाही है, कि बुद्धि आदि तेरह तत्त्वोके साथ पचतन्मात्राओकाभी समावेश लिंगशरीरमें क्यो किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नही है।*

कुछ विचार करनेसे प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह तत्त्वोंके साख्योक्त लिंगशरीरमें और उपनिषदोमें वर्णित लिंगशरीरमें विशेष भेद नही है। वृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है, कि – " जिस प्रकार जोक (जलायुका) घासके तिनकेके छोरतक पहुँचनेपर दूसरे तिनकेपर (सामनेके पैरोंसे) अपने शरीरका अग्रभाग रखती है, और फिर पहले तिनके परसे अपने शरीरके अतिम भागको खीच लेती है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोडकर दूसरे शरीरमें जाता है" (बृ ४ ४ ३)। परतु केवल इस दृष्टातसे ये दोनो अनुमान सिद्ध नही होते, कि निरा आत्माही दूसरे शरीरमें जाता है और वहभी एक शरीरसे छूटतेही चला जाता है। क्योकि वृहदारण्यकोपनिषद् (बृ ४ ४ ६) में आगे चलकर यह वर्णन किया गया है, कि आत्माके साथ साथ पांच (सूक्ष्म) भूत, मन, इद्रियाँ, प्राण और धर्माधर्मभी शरीरसे बाहर निकल जाते हैं। और यहभी कहा है, कि आत्माको अपने कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न लोक प्राप्त होते हैं, एव वहाँ उसे कुछ कालपर्यंत निवास करना पडता

---

* भट्ट कुमारिलकृत 'मीमासाश्लोकवार्तिक' ग्रथके एक श्लोकसे (आत्मवाद, श्लोक ६२) देखी पडेगा, कि उन्होंने इस आर्याका अर्थ हमारे अनुसारही किया है। वह श्लोक यह है –

अतराभवदेहो हि नेष्यते विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाण हि न किंचिदवगम्यते ।। ६२ ।।

" अतराभव अर्थात् लिंगशरीर और स्थूलशरीरके बीचवाले शरीरसे विन्ध्यवासी सहमत नही है। यह माननेके लिये कोई प्रमाण नही है, कि उक्त प्रकारका कोई शरीर है। " ईश्वरकृष्ण विन्ध्याचलपर रहता था, इसलिये उसको, विन्ध्यवासी कहा है। अतराभवशरीरको 'गधर्व' भी कहते है (अमरकोश ३ ३ १३२) और उसपर श्री कृष्णाजी गोविंद ओक द्वारा प्रकाशित क्षीरस्वामीकी टीका तथा उस ग्रथकी प्रस्तावना पृष्ठ ८ देखो।

है (बृ ६ २ १४ और १५) । इसी प्रकार, छादोग्योपनिषद्‌मेंभी आप (पानी) मूल तत्त्वके साथ जीवकी जिस गतिका वर्णन किया है (छादो ५ ३ ३, ५ ९.१), उससे और वेदान्तसूत्रोमें उसके अर्थका जो निर्णय किया गया है(वे सू ३ १ १–७) उससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि लिंग-शरीरमें – पानी, तेज और अन्न – इन तीनो मूलतत्त्वोका समावेश किया जाना छादोग्योपनिषदकोभी अभिप्रेत है। साराश, यही दीख पडता है, कि महदादि अठारह सूक्ष्म तत्त्वोंसे बने हुए साख्योके 'लिंग-शरीर'मेंही प्राण और धर्माधर्म अर्थात् कर्मकोभी शामिल कर देनेसे वेदान्तमतानुसार लिंग-शरीर हो जाता है। परतु साख्यशास्त्रके अनुसार प्राणका समावेश ग्यारह इद्रियोकी वृत्तियोमेंही, और धर्म-अधर्मका समावेश बुद्धीद्रियोके व्यापारमेंही हुआ करता है। अतएव उक्त भेदके विषयमें यह कहा जा सकता है, कि वह केवल शाब्दिक है – वस्तुत लिंगशरीरके घटकावयवके सबधमें वेदान्त और साख्यमतोमें कुछभी भेद नही है। इसीलिये मैत्र्युपनिषद्‌में (मै ६ १०) " महदादि सूक्ष्मपर्यंत " यह साख्योक्त लिंगशरीरका लक्षण 'महदाद्यविशेषान्त' इस पर्यायसे ज्यो-का-त्यो रख दिया है* भगवद्‌गीतामें (गीता १५ ७) पहले यह बतलाकर, कि 'मन षष्ठानीन्द्रियाणि' – मन और पाँच ज्ञानेंद्रियोहीका सूक्ष्म शरीर होता है – आगे ऐसा वर्णन किया है, कि 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' (गीता १५ ८) – जिस प्रकार हवा फूलोकी सुगध हर लेती है, उसी प्रकार जीव स्थूलशरीरका त्याग करते समय इस लिंग-शरीरको अपने साथ ले जाता है। तथापि, गीतामें जो अध्यात्मज्ञान है, वह उपनिषदोहीमेंसे लिया गया है। इसलिये कहा जा सकता है, कि " मनसहित छ इद्रियाँ " इन शब्दोमेंही पाच कर्मेंद्रियाँ, पचतन्मात्राएँ, प्राण और पाप-पुण्यका सग्रह भगवान्‌को अभिप्रेत है। मनुस्मृतिमेंभी (मनु १२ १६, १७) यह वर्णन किया गया है, कि मरनेपर मनुष्यको, इस जन्ममें किये हुए पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये, पचतन्मात्रात्मक सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। गीताके 'वायुर्गन्धा-

---

* आनदाश्रम, पूनामें प्रकाशित द्वात्रिंशदुपनिषदोकी पोथी मैत्र्युपनिषद्‌में उपर्युक्त ग्रथका " महदाद्य विशेषान्त " पाठ है, और उसीको टीकाकारनेभी माना है। यदि यह पाठ लिया जाय तो लिंग-शरीरमें आरभके महत्तत्त्वका समावेश करके विशेषान्त पदसे सूचित विशेष अर्थात् पचमहाभूतोको ले लेना और विशेषान्त-मेंसे विशेषको छोड देना चाहिये। परतु जहाँ आद्यतका उपयोग किया जाता है, वहाँ उन दोनोको छोडना युक्त होता है। अतएव प्रो डॉयसेनका कथन है, कि महदाद्य पदके अतिम अक्षरका अनुस्वार निकालकर 'महदाद्यविशेषान्तम्' (महदादि + अविशेषान्तम्) पाठ कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर अविशेष पद बन जानेसे महत् और अविशेष अर्थात् आदि और अत दोनोकोभी एकही न्याय पर्याप्त होगा, और लिगशरीरमें दोनोका समावेश किया जा सकेगा। यही इस पाठका विशेष गुण है। परतु स्मरण रहे, कि पाठ कोईभी लिया जाय, अर्थमें भेद नही पडता।

निवाशयात्' इस दृष्टान्तसे केवल इतनाही सिद्ध होता है, कि यह शरीर सूक्ष्म है। परतु उससे यह नही मालूम होता, कि उसका आकार कितना बडा है। महाभारतके सावित्री – उपाख्यानमें यह वर्णन पाया जाता है, कि सत्यवान्के (स्थूल) शरीरमेंसे अँगूठेके बराबर एक पुरुषको यमराजने बाहर निकाला – "अगुष्टमात्र पुरुष निश्चकर्ष यमो बलात्" (मभा वन २९७ १६)। इससे प्रतीत होता है, कि दृष्टान्तके लियेही क्यो न हो, लिगशरीर अँगूठेके आकारका माना जाता था।

इस बातका विवेचन हो चुका, कि यद्यपि लिगशरीर हमारे नेत्रोको गोचर नही है, तथापि उसका अस्तित्व किन अनुमानोंसे सिद्ध हो सकता है, और उस शरीरके घटकावयव कौनसे हैं। परतु केवल यह कह देनाही यथेष्ट प्रतीत नहीं होता, कि प्रकृति और पाँच स्थूल महाभूतोंके अतिरिक्त शेष अठारह तत्त्वोंके समुच्चयसे लिगशरीर निर्माण होता है। इसमें कोई सदेह नही, कि जहाँ जहाँ लिग-शरीर रहेगा, वहाँ वहाँ यह अठारह तत्त्वोका समुच्चय अपने अपने गुणधर्मके अनुसार माता-पिताके स्थूलशरीरमेंसे तथा आगे स्थूलसृष्टिके अन्नसे, हस्तपाद आदि स्थूल अवयव या स्थूल इद्रियाँ उत्पन्न करेगा, अथवा उनका पोषण करेगा। परतु अबतक यह बतलाना है, कि अठारह तत्त्वोंके समुच्चयसे बना हुआ लिगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न भिन्न देह क्यो उत्पन्न करता है। सजीव सृष्टिके सचेतन तत्त्वको साख्यवादी 'पुरुष' कहते है, और साख्यमतानुसार ये पुरुष चाहे असख्यभी हो, तथापि प्रत्येक पुरुष स्वभावत उदासीन तथा अकर्ता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके भिन्नभिन्न शरीर उत्पन्न करनेका कर्तृत्व पुरुषके हिस्सेमें नही आ सकता। वेदान्तशास्त्रमें कहा है, कि पापपुण्य आदि कर्मोंके परिणामसे ये भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस कर्म-विपाकका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। साख्यशास्त्रके अनुसार कर्मको – पुरुष और प्रकृतिसे भिन्न – तीसरा तत्त्व नही मान सकते, और जब कि पुरुष उदासीनही है, तब कहना पडता है, कि कर्म प्रकृतिके सत्त्व-रज-तमोगुणोकाही विकार है। लिगशरीरमें जिन अठारह तत्त्वोका समुच्चय है, उनमेंसे बुद्धितत्त्व प्रधान है। इसका कारण यह है, कि बुद्धिहीसे आगे अहकार आदि सत्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिसे वेदान्तमें कर्म कहते हैं, उसीको साख्यशास्त्रमें सत्त्व-रज-तम गुणोंके न्यूनाधिक परिमाणसे उत्पन्न होनेवाला बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। बुद्धिके इस धर्मका नाम 'भाव' है और सत्त्व-रज-तम गुणोंके तारतम्यसे ये 'भाव' कई प्रकारके हो जाते हैं। जिस प्रकार फूलमें गध या कपडेमें रग लिपट रहता है, उसी प्रकार लिगशरीरमें ये भावभी लिपटे रहते हैं। (सा का ४०)। इन भावोंके अनुसार, अथवा वेदान्त परिभाषामें कर्मके अनुसार, लिगशरीर नये नये जन्म लिया करता है, और ये जन्म लेते समय, माता-पिताओंके शरीरोमेंसे जिन द्रव्योको वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्योंमेंभी दूसरे भाव आ जाया करते हैं। "देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि तथा वृक्षयोनि" ये सब

भेद इन भावोंकी समुच्चयताकेही परिणाम हैं (सा का ४३–५५)। इन सब भावोंमें सात्त्विक गुणका उत्कर्ष कारण होनेमे जब मनुष्यको ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है, और उसके कारण प्रकृति और पुरुपकी भिन्नता समझमे आने लगती है, तब पुरुप अपने मूलस्वरूप अर्थात् कैवल्यपदको पहुँच जाता है, और तवतक लिगशरीर छूट जाता है। एव मनुष्यके दु खोका पूर्णतया निवारण हो जाता है। परतु प्रकृति और पुरुपकी भिन्नताका ज्ञान न होते हुए, यदि केवल सात्त्विक गुणहीका उत्कर्ष हो, तो लिगशरीर देवयोनिमे अर्थात् स्वर्गमें जन्म लेता है, रजोगुणकी प्रबलता हो, तो मनुष्ययोनिमें अर्थात् पृथ्वीपर पैदा होता है, और तमोगुणकी अधिकता हो जानेसे उसे तिर्यग्योनिमे प्रवेश करना पडता है (गीता १४ १८) "गुणा गुणेषु जायन्ते" इस तत्त्वकेही आधारपर साख्यशास्त्रमे वर्णन किया गया है, कि मानवयोनिमे जन्म होनेके बाद रेत-बिंदुमें क्रमानुसार कलल, बुद्बुद, मास, पेशी और भिन्न भिन्न स्थूल इद्रियाँ कैसे बनती जाती है। (सा का ४३, मभा शा ३२०) गर्भोपनिपदका वर्णन प्राय साख्यशास्त्रके उक्त वर्णनके समानही है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात मालूम हो जायगी, कि साख्यशास्त्रमे 'भाव' शब्दका जो पारिभाषिक अर्थ बतलाया गया है, वह यद्यपि वेदान्त-ग्रथोमें विवक्षित नही है, तथापि भगवद्गीतामें (गीता १०.४, ५, ७ १२) "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह क्षमा सत्य दम शम" इत्यादि गुणोको (इसके आगेके श्लोकमें) जो 'भाव' नाम दिया है, वह प्राय साख्यशास्त्रकी परिभाषाको सोचकरही दिया गया होगा।

इस प्रकार साख्यशास्त्रके मूल अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वेदान्तके अनुसार मूल सद्रूपी परब्रह्मसे सृष्टिके सब सजीव और निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमश उत्पन्न हुए। और जब सृष्टिके सहारका समय आ पहुँचता है, तब सृष्टिरचनाका जो गुणपरिणामक्रम ऊपर बतलाया गया है, ठीक इसके विरुद्ध क्रमसे सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृतिमे अथवा मूल ब्रह्ममें लीन हो जाते है। यह सिद्धान्त साख्य और वेदान्त दोनो शास्त्रोको मान्य है (वे. सू २ ३ १४, मभा शा २३२)। उदाहरणार्थ, पचमहाभूतोमेंसे पृथ्वीका लय पानीमें, पानीका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमे, आकाशका तन्मात्राओमे, तन्मात्राओका अहकारमें, अहकारका बुद्धिमें, और बुद्धि या महान् का लय प्रकृतिमें हो जाता है तथा वेदान्तके अनुसार प्रकृतिका लय मूल ब्रह्ममें हो जाता है। साख्यकारिकामें किसीभी स्थानपर यह नही बतलाया गया है, कि सृष्टिकी उत्पत्ति या रचना हो जानेपर उसका लय या सहार होनेतक बीचमें कितना समय बीत जाता है। तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि मनुसहिता (१ ६६–७३), भगवद्गीता (८ १७) तथा महाभारत (शा २३१) मे र्णित कालगणना साख्योकोभी मान्य है। हमारा उत्तरायण देवताओका दिन है

और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है। क्योंकि, स्मृतिग्रंथोंमें और ज्योतिषशास्त्रकी संहिता (सूर्यसिद्धान्त १. १३, १२. ३५, ६७) मेंभी यही वर्णन है, कि देवता मेरुपर्वतपर अर्थात् उत्तरध्रुवमें रहते हैं। अर्थात् दो अयनोंका हमारा एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रातके बराबर है, और हमारे ३६० वर्ष देवताओंके ३६० दिन-रातें अथवा एक वर्षके बराबर हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि हमारे चार युग हैं। युगोंकी कालगणना इस प्रकार है – कृतयुगमें चार हजार वर्ष, त्रेतायुगमें तीन हजार, द्वापरमें दो हजार और कलिमें एक हजार वर्ष। परन्तु एक युग समाप्त होतेही दूसरा युग एकदम आरंभ नहीं हो जाता। बीचमें, दो युगोंके संधिकालमें कुछ वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार कृतयुगके आदि और अंतमें, प्रत्येक ओर चार सौ वर्षका, त्रेतायुगके आगे और पीछे प्रत्येक ओर तीन सौ वर्षका, द्वापरके पहले और बाद प्रत्येक ओर दो सौ वर्षका और कलियुगके पूर्व तथा अनंतर प्रत्येक ओर सौ वर्षका संधिकाल होता है। सब मिलाकर चारों युगोंका आदि-अंत-सहित संधिकाल दो हजार वर्षका होता है। ये दो हजार वर्ष पहले बतलाये हुए सारमतानुसार चारों युगोंके दस हजार वर्ष मिलाकर कुल बारह हजार वर्ष होते हैं। ये बारह हजार वर्ष मनुष्योंके हैं या देवताओंके? यदि मनुष्योंके माने जायें तो कलियुगका आरंभ हुए पांच हजारसे अधिक वर्ष बीत चुकनेके कारण यह कहना पडेगा, कि हजार मानवी वर्षोंका कलियुग पूरा हो चुका है। और उसके बाद फिरसे आनेवाला कृतयुगभी समाप्त हो गया, और हमने अब त्रेतायुगमें प्रवेश किया है! यह विरोध मिटानेके लिये पुराणोंमें निश्चित किया है, कि ये बारह हजार वर्ष देवताओंके हैं। देवताओंके बारह हजार वर्ष मनुष्योंके ३६० × १२००० = ४३२०००० (तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्ष होते हैं। वर्तमान पंचांगोंका युगपरिमाण इसी पद्धतिसे निश्चित किया जाता है। देवताओंके बारह हजार वर्ष मिलकर मनुष्योंका एक महायुग या देवताओंका युग होता है। देवताओंके इकहत्तर युगोंको मन्वंतर कहते हैं, और ऐसे मन्वंतर चौदह हैं। परन्तु पहले मन्वंतरके आरंभ तथा अंतमें, और आगे चलकर प्रत्येक मन्वंतरके आखिरमें दोनों ओर कृतयुगकी बराबरीका एक एक ऐसे १५ संधिकाल जाते हैं। ये पन्द्रह संधिकाल और चौदह मन्वन्तर मिलकर देवताओंके एक हजार युग अथवा ब्रह्मदेवका एक दिन होता है (सूर्यसिद्धान्त १. १५–२०) और मनुस्मृति तथा महाभारतमें लिखा है, कि ऐसेही हजार युग मिलकर ब्रह्मदेवकी रात होती है (मनु. १. ६९–७३ और ७९, मभा. शां. २३१. १८–३१ और यास्कका निरुक्त १४. ९)। इस गणनाके अनुसार ब्रह्मदेवका एक दिन मनुष्योंके चार अब्ज बत्तीस करोड वर्षके बराबर होता है, और इसीका नाम है कल्प।*

* ज्योतिःशास्त्रके आधारपर युगादि गणनाका विचार स्वर्गीय शंकर बाळकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' नामक (मराठी) ग्रंथमें किया है। पृ. १०३–१०५, १९३ इत्यादि देखो।

भगवद्गीता (९ १८) और (९ ७)में कहा है, कि जव ब्रह्मदेवके इस दिन अर्थात् कल्पका आरभ होता है तव –

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।

"अव्यक्तसे सृष्टिके सव व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होने लगते है, और जव ब्रह्मदेवकी रात्रि आरभ होती है, तब वे सव व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्तमें लीन हो जाते है।" स्मृतिग्रथ और महाभारतमेंभी यही वतलाया है। इसके अतिरिक्त पुराणादिकोमे अन्य प्रलयोकाभी वर्णन है, परतु इन प्रलयोमे सूर्य-चद्र आदि सारी सृष्टिका नाश नही हो जाता, इसलिये ब्रह्माडकी उत्पत्ति और सहारका विवेचन करते समय इनका विचार नही किया जाता। कल्प ब्रह्मदेवका एक दिन अथवा रात्रि है, और ऐसे ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ मिलकर ब्रह्मदेवका एक वर्ष होता है। इसीसे पुराणादिकोमे (विष्णुपुराण १ ३) में यह वर्णन पाया जाता है, कि ब्रह्मदेवकी आयु उनके सौ वर्षकी है। उसमेंसे आधी वीत गई। शेष आयुके अर्थात् इक्यावनवे वर्षके पहले दिनका अथवा श्वेतवाराह नामक कल्पका अव आरभ हुआ है, और इस कल्पके चौदह मन्वन्तरोमेंसे छ मन्वन्तर वीत चुके है, तथा सातवे (अर्थात् वैवस्वत) मन्वन्तरके ७१ महायुगोमेंसे २७ महायुग पूरे हो गये है। एव अव २८वे महायुगके कलियुगका प्रथम चरण अर्थात् चतुर्थ भाग जारी है। सवत् १९५६ (शक १८२१)मे इस कलियुगके ठीक ५००० वर्पवीत चुके थे। इस प्रकार गणित करनेसे मालूम होगा, कि इस कलियुगका प्रलय होनेके लिये सवत् १९५६में मनुष्यके ४ लाख २७ हजार वर्प शेष थे, फिर वर्तमान मन्वन्तरके अतमें अथवा वर्तमान कल्पके अतमे होनेवाले महाप्रलयकी वातही क्या! मानवी चार अब्ज वत्तीस करोड वर्पका जो ब्रह्मदेवका दिन इस समय जारी है, उसका पुरा मध्यान्हभी नही हुआ। अर्थात् सात मन्वतरभी अवतक नही वीते हैं।

सृष्टिकी रचना और सहारका जो अवतक विवेचन किया गया, वह वेदान्तके और परब्रह्मको छोड देनेसे सांख्यशास्त्रके – तत्त्वज्ञानके आधारपर किया गया है। इसलिये सृष्टिके उत्पत्तिक्रमकी इसी परपराको हमारे शास्त्रकार सदैव प्रमाण मानते है, और यही क्रम भगवद्गीतामेंभी दिया हुआ है। इस प्रकरणके आरम्भहीमे वतला दिया गया है, कि सृष्टयुत्पत्तिक्रमके वारेमें कुछ भिन्न भिन्न विचार पाये जाते है। जैसे श्रुतिस्मृतिपुराणोमें कही कही कहा है, कि प्रथम ब्रह्मदेव या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ और उसमें परमेश्वरके वीजसे एक सुवर्णमय अडा निर्मित हुआ। परतु इन सव विचारोको गौण तथा उपलक्षणात्मक समझकर जव उनकी उपपत्ति वतलानेका समय आता है तव यही कहा जाता है, कि हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मदेवही प्रकृति है। भगवद्गीता (गीता १४ ३) में त्रिगुणात्मक प्रकृतिहीको ब्रह्म कहा है – "मम योनिर्महत् ब्रह्म।" और भगवानने यहभी कहा है, कि हमारे

बीजसे इस प्रकृतिमे त्रिगुणोके द्वारा अनेक मूर्तियाँ उत्पन्न होती है। अन्य स्थानोमें ऐसा वर्णन है, कि ब्रह्मदेवसे आरभमे दक्षप्रभृति सात मानसपुत्र अथवा सात मनु उत्पन्न हुए, और उन्होंने आगे सब चर-अचर सृष्टिका निर्माण किया। (मभा आ ६५-६७, मभा शा १० ७, मनु १ ३४-६३), और इसीका गीतामेंभी एकबार उल्लेख किया गया है (गीता १० ६)। परन्तु वेदान्तग्रथ यह प्रतिपादन करते है, कि इन सब भिन्न भिन्न वर्णनोका, ब्रह्मदेवकोही प्रकृति मान लेनेसे, उपर्युक्त तात्त्विक सृष्ट्युत्पत्तिक्रमसे मेल हो जाता है, और यही न्याय अन्य स्थानोमेभी उपयोगी हो सकता है। उदाहरणार्थ, शव अथवा पाशुपत दर्शनोमें शिवको निमित्तकारण मानकर यह कहते है, कि उसीमे कार्यकारणादि पांच पदार्थ उत्पन्न हुए। और नारायणीय या भागवतधर्ममे वासुदेवको प्रधान मानकर यह वर्णन किया है, कि पहले वासुदेवसे सकर्षण (जीव) उत्पन्न हुआ, सकर्षणसे प्रद्युम्न (मन), और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध (अहकार) उत्पन्न हुआ। परतु वेदान्तशास्त्रके अनुसार जोव प्रत्येक समय नये सिरेसे उत्पन्न नही होता। वह नित्य और सनातन परमेश्वरका नित्य – अतएव अनादि – अश है। इसलिये वेदान्तसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पाद (वे सू २ २ ४२-४५) में भागवतधर्ममें वर्णित जीवके उत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मतका खडन करके कहा है, कि वह वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य है। गीता (गीता १३ ४, १५ ७) में वेदान्तसूत्रोंके इसी सिद्धान्तका अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार साख्यवादी प्रकृति और पुरुप दोनोको स्वतत्र तत्त्व मानते है, परतु इस द्वैतको स्वीकार न कर वेदान्तियोंने यह सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष – दोनो तत्त्व एकही नित्य और निर्गुण परमात्माकी विभूतियाँ है। यही सिद्धान्त भगवद्गीताकोभी ग्राह्य है (गीता ९ १०)। परतु इसका विस्तारपूर्वक विवेचन अगले प्रकरणमें किया जायगा। यहाँपर केवल इतनाही बतलाया है, कि भागवत या नारायणीय धर्ममें वर्णित वासुदेवभक्तिका और प्रवृत्तिप्रधान धर्मका तत्त्व यद्यपि भगवद्गीताको मान्य है, तथापि गीता भागवतधर्मकी इस कल्पनासे सहमत नही है, कि पहले वासुदेवसे सकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ, और उससे आगे प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका (अहकार)का प्रादुर्भाव हुआ। सकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्धका नाम तक गीतामें नही पाया जाता। पाँचरात्रमें बतलाये हुए भागवतधर्ममें और गीता-प्रतिपादित भागवतधर्ममें यही महत्त्वका भेद है। इस बातका उल्लेख यहाँ जान-बूझकर किया गया है, क्योकि केवल इतनेहीसे – कि "भगवद्गीतामें भागवतधर्म बतलाया गया है" – कोई यह न समझ ले, कि सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम-विषयक अथवा जीव-परमेश्वर-स्वरूप-विषयक भागवत आदि भक्तिसप्रदायके मतभी गीताको मान्य है। अब इस बातका विचार किया जायगा, कि साख्यशास्त्रोक्त प्रकृति और पुरुषकेभी परे सब व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर जगतके मूलमें कोई और तत्त्व है या नही। इसीको अध्यात्म या वेदान्त कहते है।

नौवाँ प्रकरण

अध्यात्म

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ *

— गीता ८ २०

पिछले दो प्रकरणोका साराश यही है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचारमे जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, उसीको साख्यशास्त्रमें पुरुष कहते हे । सब क्षर-अक्षर या चर-अचर सृष्टिके सहार और उत्पत्तिका विचार करनेपर साख्यशास्त्रके अनुसार अतमे केवल प्रकृति और पुरुष येही दो स्वतत्र तथा अनादि मूलतत्त्व रह जाते है, और पुरुषको अपने क्लेशोकी निवृत्ति कर लेने तथा मोक्षानद प्राप्त कर लेनेके लिये प्रकृतिमे अपना भिन्नत्व अर्थात् कैवल्य जानकर त्रिगुणातीत होना चाहिये । प्रकृति और पुरुपका सयोग होनेपर प्रकृति अपना बाजार पुरुषके सामने किस प्रकार लगाया करती है, इस विषयका क्रम अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रवेत्ताओने साख्यशास्त्रसे कुछ निराला बतलाया है, और सभव है, कि आधिभौतिक शास्त्रोकी ज्यो ज्यो उन्नति होगी, त्यो त्यो इस क्रममें औरभी सुधार होते जायेगे । । जोभी हो, इस मूलसिद्धान्तमे कभी कोई फर्क नही पड सकता, कि केवल एक अव्यक्त प्रकृतिसेही सारे व्यक्त पदार्थ गुणोत्कर्षके अनुसार क्रमक्रमसे निर्मित होते गये हैं । परतु वेदान्तकेसरी इस विषयको अपना नहीं समझता — यह अन्य शास्त्रोका विषय है, इसलिये वह इस विषयपर वादविवादभी नही करता । वह इन सब शास्त्रोसे आगे बढकर यह बतलानेके लिये प्रवृत्त हुआ है, कि पिड-ब्रह्माडकी जडमें कौनसा श्रेष्ठ तत्त्व है, और मनुष्य उस श्रेष्ठ तत्त्वमे कैसे मिला जा सकता है — अर्थात् तद्रूप कैसे हो सकता है । वेदान्तकेसरी अपने इस विषयप्रदेशमे किसी और शास्त्रकी गर्जना नही होने देता । सिहके आगे गीदडकी भाँति वेदान्तके सामने सारे शास्त्र चुप हो जाते हैं । अतएव किसी पुराने सुभाषितकारने वेदान्तका यथार्थ वर्णन यो किया है —

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्ति यावद्वेदान्तकेसरी ॥

साख्यशास्त्रका कथन है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचार करनेपर निष्पन्न होनेवाला

* "जो दूसरा अव्यक्त पदार्थ उस (साख्य) अव्यक्तसेभी श्रेष्ठ तथा सनातन है, और सब प्राणियोका नाश हो जानेपरभी जिसका नाश नही होता, वही अतिम गति है ।"

'द्रष्टा' अर्थात् पुरुष या आत्मा, और क्षर-अक्षर-सृष्टिका विचार करनेपर निष्पन्न होनेवाली सत्त्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति, ये दोनो स्वतन्त्र हैं, और इस प्रकार जगत्के मूलतत्त्वको द्विधा मानना आवश्यक है। परतु वेदान्त इसके आगे जा कर यो कहता है, कि साख्योंके 'पुरुष' निर्गुण भलेही, तोभी वे असख्य हैं। इसलिये यह मान लेना उचित नही, कि इन असख्य पुरुषोका लाभ जिस बातमें हो, उसे जानकर प्रत्येक पुरुषके साथ तदनुसार बर्ताव करनेकी सामर्थ्य प्रकृतिमें है। ऐसा माननेकी अपेक्षा सात्त्विक तर्कशास्त्रकी दृष्टिमे तो यही अधिक युक्तिसगत होगा, कि जो एकीकरणकी ज्ञानक्रिया "अविभक्त विभक्तेषु"के अनुसार नीचेसे ऊपर तककी श्रेणियोमें दीख पडती है, और जिसकी सहायतासेही सृष्टिके अनेक व्यक्त पदार्थोका एक अव्यक्त प्रकृतिमें समावेश किया जाता है उसी एकीकरणकी ज्ञान-क्रियाका अत-तक निरपवाद उपयोग किया जावे, और प्रकृति तथा असख्य पुरुषोका एकही परमतत्त्वमें अविभक्तरूपसे समावेश किया जावे,। (गीता १८ २०–२२)। भिन्नता होना अहकारका परिणाम है, और पुरुष यदि निर्गुण है, तो असख्य पुरुषोंके अलग अलग रहनेका गुण उसमें रह नही सकता। अथवा यह कहना पडता है, कि वस्तुत पुरुष असख्य नही हैं और केवल प्रकृतिकी अहकाररूपी उपाधिसे उनमें अनेकता दीख पडती है। दूसरा एक प्रश्न यह उठता है, कि स्वतन्त्र पुरुषका स्वतन्त्र पुरुषके साथ जो सयोग हुआ है, वह सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य मानें, तो वह सयोग कभीभी छूट नही सकता। अतएव साख्यमतानुसार आत्माको मुक्ति कभी प्राप्त नही हो सकती। और यदि मिथ्या माने, तो यह सिद्धान्तही निर्मूल या निराधार हो जाता हैं कि पुरुषके सयोगसे प्रकृति अपना बाजार उसके आगे लगाया करती है। और यह दृष्टान्तभी ठीक नही, कि जिस प्रकार गाय अपने बछडेके लिये दूध देती है, उसी प्रकार पुरुषके लाभके लिये प्रकृति सदा कार्यतत्पर रहती है। क्योकि, बछडा गायके पेटसेही पैदा होता है, इसलिये उसपर पुत्रवात्सल्यके प्रेमका उदाहरण जैसे सगठित होता है, वैसे प्रकृति और पुरुषके विषयमें नही कहा जा सकता (वे सू शा भा २ २ ३)। साख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुष – दोनो तत्त्व मूलत अत्यत भिन्न हैं – एक जड है, दूसरा सचेतन। अच्छा, जब ये दोनो पदार्थ सृष्टिके उत्पत्तिकालसेही एक दूसरेसे अत्यत भिन्न और स्वतन्त्र हैं, तो फिर एककी प्रवृत्ति दूसरेके फायदेहीके लिये क्यो होनी चाहिये? यह तो कोई समाधानकारक उत्तर नही कि उनका स्वभावही वैसा है। स्वभावही मानना हो, तो फिर उनमेंसे हेकेलका जडाद्वैतवाद क्यो बुरा है? हेकेलकाभी सिद्धान्त यही है न, कि मूलप्रकृतिके गुणोकी वृद्धि होते होते उसी प्रकृतिमें अपने आपको देखनेकी और अपने विषयमें विचार करनेकी चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है – अर्थात् यह प्रकृतिका स्वभावही है। परतु इस मतका स्वीकार न कर साख्यशास्त्रने यह भेद किया है, कि 'द्रष्टा' अलग है, और दृश्यसृष्टि अलग है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि साख्यवादी जिस न्यायका अवलबन कर

'द्रष्टा पुरुष' और 'दृश्य सृष्टि'मे भेद वतलाते है, उसी न्यायका उपयोग करते हुए और आगे क्यो न चले ? दृश्य सृष्टिकी कोई कितनीही सूक्ष्मतासे परीक्षा करें, और यह जान ले, कि जिन नेत्रोसे हम पदार्थोको देखते परखते है, उनके मज्जाततुओमे अमुक अमुक गुण-धर्म है। तथापि इन सब बातोको जाननेवाला (या 'द्रष्टा') भिन्नही रह जाता है, क्या उस 'द्रष्टा'के विषयमें – जो 'दृश्य सृष्टि'मे भिन्न है – विचार करनेके लिये कोई साधन या उपाय नही है ? और यह जाननेके लियेभी कोई मार्ग है या नही, कि इस सृष्टिका सच्चा स्वरूप जैसा हम अपनी इद्रियोंसे देखते है वैसाही है, या उससे भिन्न है ? साख्यवादी कहते है, कि इन प्रश्नोका निर्णय होना असभव है। अतएव यह मान लेना पडता है, कि प्रकृति और पुरुष, दोनो तत्त्व मूलहीमें स्वतत्र और भिन्न हैं। और यदि केवल आधिभौतिक शास्त्रोकी प्रणालीसे विचार कर देखें, तो साख्यवादियोका यह मत अनुचित नही कहा जा सकता। कारण यह है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंको जैसे हम अपनी इद्रियोंमे देखभाल करके उनके गुणधर्मोका विचार करते है, वैसे यह 'द्रष्टा पुरुष' या देखनेवाला – अर्थात् जिसे वेदान्तमें 'आत्मा' कहा है, वह – द्रष्टाकी (अर्थात् अपनीही) इद्रियोको भिन्न रूपमे कभी गोचर हो नही सकता। और जिस पदार्थका इस प्रकार इन्द्रियगोचर होना असभव है, यानी जो वस्तु इद्रियातीत है उसकी परीक्षा मानवी इद्रियोसे कैसे हो सकती है ? उस आत्माका वर्णन भगवान्ने गीतामें (गीता २ २३) इस प्रकार किया है –

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत.॥

अर्थात्, आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि यदि हम सृष्टिके अन्य पदार्थोंके समान उस-पर तेजाव आदि द्रव पदार्थ डाले तो वह द्रवरूप हो जाय, अथवा प्रयोगशालाके पैने शस्त्रोंसे काट-छांटकर उसका आतरिक स्वरूप देख ले, या आगपर धर देनेसे उसका धुआँ हो जाय, अथवा हवामे रखनेसे वह सूख जाय। साराश, सृष्टिके पदार्थोंकी परीक्षा करनेके आधिभौतिक शास्त्रवेत्ताओंने जितने कुछ उपाय ढूंढे है, वे सब यहाँ निष्फल हो जाते है तो फिर आत्माका परीक्षण होगाभी तो कैसे ? प्रश्न है तो विकट, पर विचार करनेसे कुछ कठिनाई दीख नहीं पडती। भला, साख्यवादियोंनेभी 'पुरुष'-को निर्गुण और स्वतत्र कैसे जाना ? केवल अपने अतकरणके अनुभवसेही जाना है न ? फिर उसी रीतिका उपयोग प्रकृति और पुरुषके सच्चे स्वरूपका निर्णय करनेके लिये क्यो न किया जावे ? आधिभौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमे जो वडा भारी भेद है, वह यही है। आधिभौतिकशास्त्रोके विषय इद्रियगोचर होते हैं, और अध्यात्म-शास्त्रका विषय इद्रीयातीत अर्थात् केवल स्वसवेद्य है, यानी अपने आपही जानने योग्य है। कोई यह कहे, कि यदि 'आत्मा' स्वसवेद्य है, तो प्रत्येक मनुष्यको उसके विषयमें जैसा ज्ञान होवे, वैसा होने दो, अध्यात्मशास्त्रकी आवश्यकताही क्या है ? हाँ, यदि प्रत्येक मनुष्यका मन या अतकरण समान रूपसे शुद्ध हो, तो फिर यह

प्रश्न ठीक होगा। परतु जब कि हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है, कि प्रत्येक पुरुषके मन या अतःकरणकी शुद्धि अथवा शक्ति एक-सी नही होती, तब जिन लोगोंके मन अत्यत शुद्ध, पवित्र और विशाल हो गये है, उन्हीकी प्रतीति इस विषयमें हमारे लिये प्रमाणभूत होनी चाहियें। योंही 'मुझे ऐसा मालूम होता है' 'तुझे ऐसा मालूम होता है' कह कर निरर्थक वाद करनेमे कोई लाभ न होगा। वेदान्तशास्त्र तुम्हे युक्तिवादका उपयोग करनेसे बिलकुल नही रोकता। वह सिर्फ यही कहता है, कि अध्यात्मशास्त्रके विषयमें निरी युक्तियाँ वही तक मानी जावेगी जहाँतक कि इन युक्तियोसे अत्यत विशाल, पवित्र और निर्मल अतःकरणवाले महात्माओंके इस विषयसबधी साक्षात् अनुभवका विरोध न होता हो। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रका विषय स्वसवेद्य है – अर्थात् केवल आधिभौतिक युक्तियोंसे उसका निर्णय नही हो सकता। जिस प्रकार आधिभौतिक शास्त्रोमे वे अनुमान त्याज्य माने जाते हैं, कि जो प्रत्यक्षके विरुद्ध हो, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्रमें युक्तियोंकी अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुभवकी अर्थात् आत्मप्रतीतिकी योग्यताही अधिक मानी जाती है। जो युक्ति इस अनुभवके अनुकूल हो, उसे वेदान्ती अवश्य मानते हैं। श्रीमान् शकराचार्यने अपने वेदान्त-सूत्रोंके भाष्यमें यही सिद्धान्त दिया है। अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास करनेवालोंको इसपर हमेशा ध्यान रखना चाहिये –

अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्य परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

"जो पदार्थ इंद्रियातीत है और इसीलिये जिनका चिंतन नही किया जा सकता, उनका निर्णय केवल तर्क या अनुमानसे नही कर लेना चाहिये। सारी सृष्टिकी मूल प्रकृतिसेभी परे जो पदार्थ हैं, वह इस प्रकार अचिंत्य है' – यह एक पुराना श्लोक है, जो महाभारतमे (मभा भीष्म ५ १२) पाया जाता है, और जो शकराचार्यके वेदान्तभाष्यमेंभी 'साधयेत्'के बदले 'योजयेत'के पाठभेदसे पाया जाता है (वे सू शा भा २ १ २७)। मुडक और कठोपनिषद्मेंभी लिखा है, कि आत्मज्ञान केवल तर्कहीसे नहीं प्राप्त हो सकता (मु ३ २, ३, कठ २ ८, ९ और २२)। अध्यात्मशास्त्रमे उपनिषद्-ग्रथोका विशेष महत्त्वभी इसीलिये है। मनको एकाग्र करनेके उपायोके विषयमें प्राचीन कालमें हमारे हिंदुस्थानमें बहुत चर्चा हो चुकी है, और अतमें इस विषयपर, (पातजल) योगशास्त्र नामक एक स्वतत्र शास्त्रही निर्मित हो गया है। जो बडे बडे ऋषि इस योगशास्त्रमें अत्यत प्रवीण थे तथा जिनके मन स्वभावहीसे अत्यत पवित्र और विशाल थे उन महात्माओंने मनको अतर्मुख करके आत्माके स्वरूपके विषयमें जो अनुभव प्राप्त किया – अथवा आत्माके विषयमे इनकी शुद्ध और शात बुद्धिमे जो स्फूर्ति हुई – उसका वर्णन उन्होंने उपनिषद्-ग्रथोमें किया है। इसलिये किसीभी अध्यात्म तत्त्वका निर्णय करनेमें इन श्रुतिग्रथोंमे कहे गये अनुभविक ज्ञानका सहारा लेनेके अतिरिक्त कोई दूसरा

उपाय नही है (कठ ४ १) । मनुष्य केवल अपनी बुद्धिकी तीव्रतासे उक्त आत्म प्रतीतिकी पोषक भिन्न भिन्न युक्तियाँ वतला सकेगा, परतु इससे उस मूल प्रतीतिकी प्रामाणिकतामे रत्तीभरभी न्यूनाधिकता नही हो सकती। भगवद्गीताकी गणना स्मृतिग्रथोमे की जाती है सही, परतु पहले प्रकरणके आरभहीमे हम कह चुके है, कि इस विषयमे गीताकी योग्यता उपनिषदोकी वरावरीकी मानी जाती है। अतएव इस प्रकरणमे अव आगे चल कर सिर्फ यह वतलाया जायगा, कि प्रकृतिके परे जो अचित्य पदार्थ है, उसके विषयमें गीता और उपनिषदोमे कौन-कौनसे सिद्धान्त किये गये है, और उनके कारणोका (अर्थात् शास्त्ररीतिमे उनकी उपपत्तिका) विचार पीछे किया जायगा।

साख्यवादियोका द्वैत – प्रकृति और पुरुष – भगवद्गीताको मान्य नही है। भगवद्गीताके अध्यात्मज्ञानका और वेदान्तशास्त्रकाभी पहला सिद्धान्त यह है, कि प्रकृति और पुरुषसेभी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो चर-अचर सृष्टिका मूल है। साख्योकी प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है, तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। परतु प्रकृति और पुरुषका विचार करते समय भगवद्गीताके आठवे अध्यायके वीसवे श्लोकमे (इस प्रकरणके आरभमेभी यह श्लोक दिया गया है) कहा है, कि जो सगुण है वह नाशवान् है, इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृतिकाभी नाश हो जानेपर अतमें जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है, वही सारी सृष्टिका सच्चा और नित्य तत्त्व है। और आगे पन्द्रहवे अध्यायमे (गीता १५ १८) क्षर और अक्षर – व्यक्त और अव्यक्त – इस भाँति साख्यशास्त्रके अनुसार दो तत्त्व वतलाकर यह वर्णन किया है –

उत्तम. पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

अर्थात्, जो इन दोनोनेभी भिन्न है, वही उत्तम पुरुष है, उसीको परमात्मा कहते है, वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है, और वही तीनो लोगोमें व्याप्त हो कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षर (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त) इन दोनोमेभी परे है। इसलिये इसे 'पुरुषोत्तम' कहा है (गीता १५ १८) । महाभारतमेंभी भृगु ऋषिने भरद्वाजसे 'परमात्मा' शव्दकी व्याख्या वतलाते हुए कहा है –

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्त सयुक्त प्राकृतैर्गुणै ।
तैरेव तु विनिर्मुक्त परमात्मेत्युदाहृत ।।

अर्थात् " जव आत्मा प्रकृतिमें या शरीरमे बद्ध रहता है, तव उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते है, और वही प्राकृत गुणोसे यानी प्रकृति या शरीरके गुणोमे मुक्त होनेपर 'परमात्मा' कहलाता है " (मभा शा १८७ २४) । सभव है, कि 'परमात्मा की उपयुक्त दो व्याख्याएँ भिन्न भिन्न जान पडे, परतु वे भिन्न भिन्न नही है। क्षर-अक्षर सृष्टि और जीव (अथवा साख्यशास्त्रके अनुसार अव्यक्त प्रकृति और पुरुष) इन

दोनोंसेभी परे एकही परमात्मा है। इसलिये यह कहा जाता है, कि वह क्षर-अक्षरके परे है, और कभी कहा जाता है, कि वह जीवके या जीवात्माके (पुरुषके) परे है। एव एकही परमात्माकी ऐसी द्विविध व्याख्याएँ कहनेमें वस्तुत कोई भिन्नता नहीं हो जाती। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर कालिदासनेभी कुमारसभवमें परमेश्वरका वर्णन इस प्रकार किया है – "पुरुषके लाभके लिये उद्युक्त होनेवाली प्रकृतिभी तूही है, और स्वय उदासीन रह कर उस प्रकृतिका द्रष्टाभी तूही है" (कुमा २ १३) इसी भाँति गीतामें भगवान् कहते है, कि "मम योनिर्महद्ब्रह्म" यह प्रकृति मेरी योनि या मेरा एक स्वरूप है (१४ ३) और जीव या आत्माभी मेराही अश है (१५ ७) सातवे अध्यायमेंभी कहा गया है –

> भूमिरापोऽनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च।
> अहकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अर्थात् "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार – इस तरह आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है, और इसके सिवा (अपरेयमितस्त्वन्या) सारे ससारका धारण जिसने किया है, वह जीवभी मेरीही दूसरी प्रकृति है" (गीता ७ ४ ५)। महाभारतके शातिपर्वमें साख्योंके पचीस तत्त्वोका कई स्थलोंपर विवेचन है, परतु वही अतमें यहभी कह दिया गया है, कि इन पचीस तत्त्वोंके परे एक छब्बीसवाँ (षड्विंश) परमतत्त्व है, जिसे पहचाने विना मनुष्य 'बुद्ध' नही हो सकता (मभा शा ३०८)। सृष्टिके पदार्थोंका जो ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेंद्रियोसे होता है, वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति या सृष्टिहीको कई स्थानोपर 'ज्ञान' कहा है और इसी दृष्टिसे पुरुष 'ज्ञाता' कहा जाता है (मभा शा ३०६ ३५–४१)। परतु जो सच्चा ज्ञेय है (गीता १३ १२) वह प्रकृति और पुरुष – ज्ञान और ज्ञातासेभी – परे है। इसलिये भगवद्गीतामें उसे परमपुरुष कहा है। तीनो लोकोंको व्याप्त कर उन्हे सदैव धारण करनेवाला जो यह परमपुरुष या परपुरुष है, उसे पहचानो, वह एक है, अव्यक्त है, नित्य है, अक्षर है – यह बात केवल भगवद्-गीताही नही, किंतु वेदान्तशास्त्रके सारे ग्रथ एक स्वरसे कह रहे हैं। साख्यशास्त्रमें 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दो या विशेषणोका प्रयोग प्रकृतिके लिये किया जाता है। क्योकि साख्योका सिद्धान्त है, कि प्रकृतिकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कोई भी मूलकारण इस जगत्का नही है (सा का ६१)। परन्तु यदि वेदान्तकी दृष्टिसे देखें, तो परब्रह्मही एक अ-क्षर है, यानी उसका कभी नाश नही होता, और वही अव्यक्त है – अर्थात् इद्रियगोचर नही है। अतएव इस भेदपर पाठक सदा ध्यान रखें, कि भगवद्गीतामें 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दोका उपयोग प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके स्वरूपको दिखलानेके लियेभी किया गया है (गीता ८ २०, ११ ३७, १५ १६, १७)। जब इस प्रकार वेदान्तकी दृष्टिका स्वीकार किया गया तब इसमें सदेह नही, कि प्रकृतिको 'अक्षर' कहना उचित नही है – चाहे

वह प्रकृति अव्यक्त भलेही हो। सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके विषयमें सांख्योंके सिद्धान्त गीताकोभी मान्य हैं। इसलिये उनकी निश्चित परिभाषामें कुछ अदलाबदल न कर, उन्हींके शब्दोंमें क्षर-अक्षर या व्यक्त-अव्यक्त-सृष्टिका वर्णन गीतामें किया गया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस वर्णनसे प्रकृति और पुरुषके परे जो तीसरा उत्तम पुरुष है, उसके सर्वशक्तित्वमें कुछभी बाधा नहीं होने पाती। इसका परिणाम यह हुआ है, कि जहाँ भगवद्गीतामें परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन किया गया है, वहाँ सांख्य और वेदान्तके मतान्तरका संदेह मिटानेके लिये (सांख्य) अव्यक्तकेभी परेका अव्यक्त और (सांख्य) अक्षरसेभी परेका अक्षर, इस प्रकारके शब्दोंका उपयोग करना पड़ा है। उदाहरणार्थ, इस प्रकरणके आरंभमें जो श्लोक दिया गया है, उसे देखो। सारांश, गीता पढ़ते समय इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' ये दोनों शब्द कभी सांख्योंकी प्रकृतिके लिये और कभी वेदान्तियोंके परब्रह्मके लिये अर्थात् दो प्रकारसे – गीतामें प्रयुक्त हुए हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे, सांख्योंकी अव्यक्त प्रकृतिकेभी परेका दूसरा अव्यक्त तत्त्व जगतका मूलही है। जगत्के आदितत्त्वके विषयमें सांख्य और वेदान्तमें उपर्युक्त भेद है। आगे इस विषयका विवरण किया जायगा, कि इसी भेदसे अध्यात्मशास्त्रप्रतिपादित मोक्ष-स्वरूपभी सांख्योंके मोक्षस्वरूपसे कैसे भिन्न हो गया है।

सांख्योंके द्वैत – प्रकृति और पुरुष – को न मानकर, जब यह मान लिया गया, कि इस जगतकी जड़में परमेश्वररूपी अथवा पुरुषोत्तमरूपी एक तीसराही नित्य तत्त्व है, और प्रकृति तथा पुरुष दोनों उसकी विभूतियाँ हैं, तब सहजही यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि उस तीसरे मूलभूत तत्त्वका स्वरूप क्या है, और प्रकृति तथा पुरुषसे उसका कौन-सा संबंध है? प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर इसी त्रयीको अध्यात्मशास्त्रमें क्रमसे जगत्, जीव और परब्रह्म कहते हैं, और इन तीनों वस्तुओंके स्वरूप तथा इनके पारस्परिक संबंधका निर्णय करनाही वेदान्तशास्त्रका प्रधान कार्य है। एवं उपनिषदोंमेंभी सर्वत्र यही चर्चा की गई है। परंतु सब वेदान्तियोंका मत इस त्रयीके विषयमें एक नहीं है। कोई कहते हैं, कि ये तीनों पदार्थ मूलमें एकही हैं, और कोई यह मानते हैं, कि जीव और जगत् परमेश्वरसे मूलहीमें थोड़े या अत्यंत भिन्न हैं। इसीसे वेदान्तियोंमें अद्वैती विशिष्टाद्वैती और द्वैती इस प्रकार भेद उत्पन्न हो गये हैं। यह सिद्धान्त सब लोगोंको एक-सा ग्राह्य है, कि जीव और जगतके सारे व्यवहार परमेश्वरकी इच्छासे होते हैं। परंतु कुछ लोग तो मानते हैं, कि जीव, जगत् और परब्रह्म, इन तीनोंका मूलस्वरूप आकाशके समान एकरूप और अखंडित है, तथा दूसरे वेदान्ती कहते हैं, कि जड़ और चैतन्यका एक होना संभव नहीं। अतएव अनार या दाड़िमके फलमें यद्यपि अनेक दाने होते हैं, तोभी उससे जैसे फलकी एकता नष्ट नहीं होती, वैसेही जीव और जगत् यद्यपि परमेश्वरमें भरे हुए हैं, तथापि ये मूलमें उससे, भिन्न हैं, और उपनिषदोंमें जब ऐसा वर्णन आता है, कि तीनों 'एक' हैं, तब उसका

अर्थ 'दाडिमके फलके समान एक' जानना चाहिये। जब जीवके स्वरूपके विषयमें यह मतांतर उपस्थित हो गया, तब भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार अपने अपने मतके अनुसार उपनिषदो और गीताके शब्दोकीभी खींचातानी करने लगे जिससे गीताका यथार्थ स्वरूप – उसमें प्रतिपादित सच्चा कर्मयोग विषय – तो एक ओर रह गया, और अनेक सांप्रदायिक टीकाकारोंके मतसे गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हो गया, कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वैतमतका है या अद्वैतमतका। अस्तु, इसके बारेमें अधिक विचार करनेके पहले यह देखना चाहिये, कि जगत् (प्रकृति), जीव (आत्मा अथवा पुरुष), और परब्रह्मके (परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम) परस्परसंबंधके विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णही गीतामें क्या कहते हैं। आगेके विवेचनसे पाठकोंको विदित होगा कि इस विषयमें गीता और उपनिषदोंका एकही मत है, और गीतामें कहे गये सब विचार उपनिषदोंमें पहलेही आ चुके हैं।

प्रकृति और पुरुषकेभी परे जो पुरुषोत्तम, परपुरुष, परमात्मा या परब्रह्म है, उसका वर्णन करते समय भगवद्गीतामें पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं, यथा, व्यक्त और अव्यक्त (आँखोंसे दिखनेवाला और आँखोंसे न दिखनेवाला)। अब इसमें संदेह नही, कि व्यक्त स्वरूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप सगुणही होना चाहिये। अब शेष रहा अव्यक्त रूप। यह सच है, कि यह अव्यक्त रूप इंद्रियोंको अगोचर है। और अव्यक्त रूप यद्यपि इंद्रियोंको अगोचर है, तोभी इतनेहीसे यह नही कहा जा सकता, कि वह निर्गुणही हो। क्योंकि, यद्यपि वह हमारी आँखोंसे न दीख पडे, तोभी उसमें सब प्रकारके गुण सूक्ष्म रूपसे रह सकते हैं। इसलिये अव्यक्तकेभी तीन भेद किये हैं, जैसे सगुण, सगुणनिर्गुण और निर्गुण। यहाँ 'गुण' शब्दमें उन सब गुणोंका समावेश किया गया है, कि जिनका ज्ञान मनुष्यको केवल उसकी बाह्येंद्रियोंसे नही होता, किंतु मनसेभी होता है। परमेश्वरके मूर्तिमान् अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंसाक्षात् अर्जुनके सामने खडे होकर उपदेश कर रहे थे। इसलिये गीतामें जगह-जगहपर अपने व्यक्तिस्वरूपको लक्ष्य करके उन्होंने अपने विषयमें प्रथम पुरुषका निर्देश इस प्रकार किया है – जैसे, "प्रकृति मेरा स्वरूप है" (गीता ९. ८), "जीव मेरा अंश है" (गीता १७. ७), "सब भूतोंका अंतर्यामी आत्मा मैं हूँ" (गीता १०. २०), "संसारमें जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियाँ हैं, वे सब मेरे अंशसे उत्पन्न हुई हैं" (गीता १०. ४१), "मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो" (गीता ९. ३४), "तो तू मुझीमें मिल जायगा," "तू मेरा प्रिय भक्त है, इसलिये मैं तुझे यह प्रतिज्ञापूर्वक बतलाता हूँ" (गीता १८. ६५)। और जब अपने विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनको यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि सारी चराचर सृष्टि मेरे व्यक्त रूपमेंही साक्षात् भरी हुई है, तब भगवानने उसको यही उपदेश किया है, कि अव्यक्त रूपसे व्यक्त रूपकी उपासना करना अधिक सहज है। "इसलिये तू मुझमेंही अपना भक्तिभाव रख" (गीता १२. ८), "मैंही ब्रह्मका, अव्यक्त मोक्षका,

शाश्वत धर्मका और अनंत सुखका मूल स्थान हूँ" (गीता १४ २७)। इससे विदित होगा, कि गीतामें आदिसे अंततक अधिकांशमें भगवानके व्यक्त स्वरूपकाही वर्णन किया गया है।

इतनेहीसे केवल भक्तिके अभिमानी बहुतेरे पंडितों और टीकाकारोंने यह मत प्रकट किया है, कि गीतामें परमात्माका व्यक्त रूपही अंतिम साध्य माना गया है। परन्तु उनका यह मत सच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त वर्णनके साथही भगवानने स्पष्ट रूपसे कह दिया है, कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है, और उसके परेका जो अव्यक्त रूप – अर्थात् जो इंद्रियोंको अगोचर – है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, भगवानने, सातवे अध्यायमें (गीता ७ २४) कहा है, कि –

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

'यद्यपि मै अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर हूं, तोभी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते है, और व्यक्तसेभी परेके मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूपको नहीं पहचानते।" और इसके अगले श्लोकमे भगवान् कहते है, कि "मै अपनी योगमायासे आच्छादित हूं, इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं पहचानते" (गीता ७ २५)। फिर चौथे अध्यायमे उन्होंने अपने व्यक्त रूपकी उपपत्ति इस प्रकार बतलाई है, "मे यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूं, तथापि अपनीही प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर मे अपनी मायासे (स्वात्ममाया से) जन्म लिया करता हूं – अर्थात् व्यक्त होता रहता हूं" (गीता ४ ६)। वे आगे सातवे अध्यायमे कहते है, "यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है। इस मायाको जो पार कर जाते है, वे मुझमें समा जाते है, और इस मायासे जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ नराधम मुझमें नहीं समा जा सकते।" (गीता ७ १४ १५)। अंतमें अठारहवे (गीता १८ ६१) अध्यायमें भगवानने उपदेश किया है, कि "हे अर्जुन! सब प्राणियोंके हृदयमे जीवरूप परमात्माहीका निवास है, और वह अपनी मायासे यंत्रकी भांति सब प्राणियोंको घुमाता है।" भगवान्ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया है, वही नारदकोभी दिखलाया था। इसका वर्णन महाभारतके शांतिपर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरणमें (मभा शा ३३९) है, और हम पहलेही प्रकरणमें बतला चुके है, कि नारायणीय अर्थात् भागवतधर्मही गीतामें प्रतिपादित किया गया है। नारदको हजारो नेत्रो, रंगो, तथा अन्य गुणोका विश्वरूप दिखलाकर भगवान्ने कहा –

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

"तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। इससे तुम यह न समझो, कि मै, सर्वभूतोंके गुणोंसे युक्त हूं।" और यह फिरभी कहा है, कि "मेरा

सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है और उसे सिद्धपुरुषही पहचानते हैं (मभा शा ३३९ ४४, ४८)। इससे कहना पडता है, कि गीतामें वर्णित भगवानका अर्जुनको दिखलाया हुआ विश्वरूपभी मायिक था। सारांश, उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयमें कुछभी सदेह नही रह जाता, कि गीताका यही सिद्धान्त होना चाहिये, कि यद्यपि केवल उपासनाके लिये व्यक्त स्वरूपकी प्रशसा गीतामें भगवानने की है, तथापि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त अर्थात् इद्रियोको अगोचरही है, और अव्यक्तसे व्यक्त होनाही उसकी माया है। और इस मायासे पार होकर जब तक मनुष्यको मायाके परे परमात्माके, शुद्ध तथा अव्यक्त रूपका ज्ञान न हो, तबतक उसे मोक्ष नही मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे, कि माया क्या वस्तु है। ऊपर दिये गये वचनोमे इतनी बात स्पष्ट है, कि यह मायावाद श्रीशकराचार्यने नये सिरेसे नही उपस्थित किया है, किंतु उनके पहलेही भगवद्गीता, महाभारत और भागवतधर्ममेंभी वह ग्राह्य माना गया था। श्वेताश्वेतरोपनिषद्मेंभी सृष्टिकी उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है – " मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " (श्वेता ४ १०) – अर्थात् मायाही (सांख्योकी) प्रकृति है और परमेश्वर उस मायाका अधिपति है, और वही अपनी मायासे विश्व निर्माण करता है।

अब इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी, कि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नही, अव्यक्त है, तथापि यहाँ थोडा-सा विचार होनाभी आवश्यक है, कि परमात्माका यह श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण-अव्यक्तका हमारे सामने यह एक उदाहरण है, कि सांख्यशास्त्रकी प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इद्रियोको अगोचर) होनेपरभी सगुण अर्थात् सत्त्व-रज-तम-गुणमय है, तब कुछ लोग यह कहते है, कि परमेश्वरका अव्यक्त और श्रेष्ठ रूपभी उसी प्रकार सगुण माना जावे। अपनी मायाहीसे क्यो न हो, परन्तु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है (गीता ९ ८), और सब लोगोके हृदयमें रहकर उनसे उनके सारे व्यापार करवाता है (गीता १८ ६१), जब की वह सब यज्ञोका भोक्ता और प्रभु है (गीता ९ २४), जब कि प्राणियोंके सुखदु ख आदि सब 'भाव' उसीसे उत्पन्न होते हैं, (गीता १० ५) और जब कि प्राणियोके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करनेवालाभी वही है, एव " लभते च तत कामान् मयैव विहितान् हि तान् " (गीता ७ २२) – प्राणियोकी वासनाका फल देनेवालाभी वही है, तब तो यही बात सिद्ध होती है, कि वह अव्यक्त अर्थात् इद्रियोको अगोचर भलेही हो, तथापि वह दया, कर्तृत्व आदि गुणोसे युक्त अर्थात् 'सगुण' अवश्यही होना चाहिये। परतु इसके विरुद्ध भगवान् ऐसाभी कहते है, कि " न मां कर्माणि लिम्पन्ति " – मुझे कर्मोका अर्थात् गुणोकाभी कभी स्पर्श नही होता (गीता ४ १४), प्रकृतिके गुणोसे मोहित होकर मूर्ख लोग आत्माहीको कर्ता मानते हैं (गीता ३ २७, १४ १९) अथवा, यह अव्यक्त और अकर्ता परमेश्वरही प्राणियोंके हृदयमें जीवरूपसें निवास करता है (गीता १३ ३१),

और इसीलिये यद्यपि वह प्राणियोंके कर्तृत्व और कर्मसे वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञानमें फँसे हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं (गीता ५. १४, १५)। इस प्रकार अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर परमेश्वरके रूप – सगुण और निर्गुण – दोकेही तरह नही हैं किंतु इसके अतिरिक्त कही कही इन दोनोंको एकत्र मिलाकरभी अव्यक्त परमेश्वरका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, "भूतभृत् न च भूतस्थो" (गीता ९. ५) "मैं भूतोंका आधार होकरभी उनमें नही हूँ," इस तरह नौवें और तेहरहवे अध्यायमे "परब्रह्म न तो सत् है और न असत्" (गीता १३. १२), "सर्वेंद्रियवान् होनेका जिसमे भास हो परंतु जो सर्वेंद्रियरहित हैं, और निर्गुण हो कर गुणोंका उपभोग करनेवाला है" (गीता १३. १४), "दूर है और समीपभी है" (गीता १३. १५), "अविभक्त है और विभक्तभी दीख पडता है" (गीता १३. १६) – इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका सगुण-निर्गुण-मिश्रित अर्थात् परस्पर-विरोधी वर्णनभी किया गया है। तथापि आरंभमें दूसरेही अध्यायमे कहा गया है, कि "यह आत्मा अव्यक्त, अचिंत्य और अविकार्य है" (गीता २. २५) और फिर तेरहवे अध्यायमे – "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है, इसलिये शरीरमे रहकरभी न तो यह कुछ करता है और न किसीमे लिप्त होता है" (गीता १३. ३१) – इस प्रकार परमात्माके शुद्ध, निर्गुण, निरवयव, निर्विकार, अचिंत्य अनादि और अव्यक्त रूपकी श्रेष्ठताका वर्णन गीतामें किया गया है।

भगवद्गीताकी भाँति उपनिषदोंमेंभी अव्यक्त परमात्माका स्वरूप तीन प्रकारका पाया जाता है – अर्थात् कभी कभी उभयविध यानी सगुण-निर्गुण-मिश्रित और कभी सगुण, निर्गुण। इस बातकी कोई आवश्यकता नही, कि उपासनाके लिये सदा प्रत्यक्ष मूर्तिही नेत्रोंके सामने रहे। ऐसे स्वरूपकीभी उपासना हो सकती है कि जो निराकार अर्थात चक्षु आदि ज्ञानेंद्रियोंको गोचर भलेही न हो, तोभी मनको गोचर हुए बिना उसकी उपासना होना संभव नही है। उपासना कहते है चिंतन मनन, या ध्यानको और यदि चिंतित वस्तुका कोई रूप न हो, तो न सही, परंतु जब तक उसका अन्य कोई भी गुण मनको मालूम न हो जाय, तब तक मन चिंतन करेगाही किसका? अतएव उपनिषदोंमें जहाँ जहाँ अव्यक्त अर्थात् नेत्रोंसे न दिखाई देनेवाले परमात्माकी उपासना (चिंतन मनन ध्यान) बतलाई गई है वहा वहाँ अव्यक्त परमेश्वर सगुणही कल्पित किया गया है। परमात्मामे कल्पित गुण उपासकके अधिकारानुसार न्यूनाधिक व्यापक या सात्त्विक होते है, और जिसकी जैसी निष्ठा हो, उसको वैसाही फलभी मिलता है। छांदोग्योपनिषद्में (छां. ३. १४. १) कहा है, कि "पुरुष क्रतुमय है। जिसका जैसा क्रतु (निश्चय) हो, उसे मृत्युके पश्चात् वैसाही फलभी मिलता है।' और भगवद्गीताभी कहती है कि "देवताओंकी भक्ति करनेवाले देवताओंमे और पितरोंकी भक्ति करनेवाले पितरोंमें जा मिलते है (गीता ९. २५) अथवा 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' – जिसकी

जैसी श्रद्धा हो, उसे वैसी सिद्धि प्राप्त होती है (गीता १७ ३)। तात्पर्य यह है, कि उपासकके अधिकारभेदके अनुसार उपास्य अव्यक्त परमात्माके गुणभी उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न कहे गये हैं। उपनिषदोंके इस प्रकरणको 'विद्या' कहते हैं। विद्या ईश्वरप्राप्तिका (उपासनारूप) मार्ग है, और यह मार्ग जिस प्रकरणमें बतलाया गया है, उसेभी 'विद्या' ही नाम अंतमें दिया जाता है। शांडिल्यविद्या (छा ३ १४), पुरुषविद्या (छा ३ १६, १७), पर्यंकविद्या (कौषी १), प्राणोपासना (कौषी २) इत्यादि अनेक प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन उपनिषदोंमें किया गया है, और इस सबका विवेचन वेदान्तसूत्रोंके तृतीयाध्यायके तीसरे पादमें किया गया है। इस प्रकरणमें अव्यक्त परमात्माका सगुण वर्णन इस प्रकार है, कि वह मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध और सर्वरस है (छा ३ १४ २)। तैत्तिरीय उपनिषद्में तो अन्न, प्राण, मन, विज्ञान या आनंद – इन रूपोंमेंभी परमात्माकी बढ़ती हुई उपासना बतलाई है (तै २ १–५, ३ २–६)। बृहदारण्यकमें (बृ २ १) गार्ग्य बालाकीने अजातशत्रुको पहले पहल आदित्य, चंद्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओंमें रहनेवाले पुरुषोंकी ब्रह्मरूपसे उपासना बतलाई है, परंतु आगे अजातशत्रुने उससे यह कहा, कि सच्चा ब्रह्म इनकेभी परे है, और अंतमें प्राणोपासनाहीको मुख्य ठहराया है। इतनेहीमें यह परंपरा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपोंको प्रतीक, अर्थात् सबको उपासनाके लिये कल्पित गौण ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मनिदर्शक चिन्ह कह और जब यही गौणरूप किसी मूर्तिके रूपमें नेत्रोंके सामने रखा जाता है, तब उसे 'प्रतिमा' कहते हैं। परंतु स्मरण रहे, कि सब उपनिषदोंका सिद्धान्त यही है, कि सच्चा ब्रह्मरूप इससे भिन्न है (केन १ २–८)। इस ब्रह्मके लक्षणका वर्णन करते समय कई स्थानोंमें तो "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" (तैत्ति २ १) या "विज्ञानमानंद ब्रह्म" (बृ ३ ९ २८) कहा है। अर्थात् ब्रह्म सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और आनंदरूप है – अर्थात् सच्चिदानंदस्वरूप है – इस प्रकार सब गुणोंका तीनही गुणोंमें समावेश करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्थानोंमें भगवद्गीताके समानही परस्परविरुद्ध गुणोंको एकत्र करके ब्रह्मका वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि "ब्रह्म सत् भी नहीं और असत्भी नहीं" (ऋ १० १२९ १) अथवा "अणोरणीयान्-महतो महीयान्" अर्थात् अणुसेभी छोटा और बडेसेभी बडा है (कठ २ २०) "तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वन्तिके" अर्थात् वह हिलता है और हिलताभी नहीं, वह दूर है और समीपभी है (ईश ५, मु ३ १ ७), अथवा "सर्वेन्द्रियगुणाभास होकरभी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता ३ १७)। मृत्युने नचिकेताको यह उपदेश किया है, कि अंतमें उपर्युक्त सब लक्षणोंको छोड दो और जो धर्म और अधर्मके, कृत और अकृतके, अथवा भूत और भव्यकेभी परे है, उसेही ब्रह्म जानो (कठ २ १४)। इसी प्रकार महाभारतके नारायणीय धर्ममें ब्रह्मा रुद्रसे (मभा शा ३५१ ११),

और मोक्षधर्ममें नारद शुकसे कहते हैं (मभा ३३१ ४४)। वृहदारण्यकोपनिषद्- (वृ २ ३ २) मेंभी पहले पृथ्वी, जल और अग्नि – इन तीनोको ब्रह्मका मूर्त रूप कहा है। फिर वायु तथा आकाशको अमूर्त रूप कह कर दिखाया है, कि इन अमूर्तोंके सारभूत पुरुपके रूप या रग वदल जाते हैं, और अतमें यह उपदेश किया है, कि 'नेति' 'नेति' अर्थात् अवतक जो कहा गया है, वह 'वह' नही है, वह ब्रह्म नही है – इन सव नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थोंके परे जो 'अगृह्य' या 'अवर्णनीय' है, उसेही परब्रह्म समझो (वृह २ ३.६ और वे सू ३ २.२२)। अधिक क्या कहें, जिन जिन पदार्थोंको कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सवसेभी परे जो है, वही ब्रह्म है, उस ब्रह्मका अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखलानेके लिये 'नेति' 'नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्रही हो गया है, और वृहदारण्यक उपनिपद्मेंही पुन उसका चार वार प्रयोग हुआ है (वृह ४ ९ २६, ४ २ ४; ४ ४ २२, ४ ५ १५)। इसी प्रकार दूसरे उपनिपदोमेंभी परब्रह्मके निर्गुण और अचिन्त्य रूपके वर्णन पाये जाते हैं। जैसे "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति २ ९), अद्रेश्य (अदृश्य), अग्राह्य' (मु १ १ ६) "न चक्षुपा गृह्यते नाऽपि वाचा" (मु ३ १ ८), नेत्रोसे न दिखनेवाला अथवा वाणीसे कहा न जानेवाला अथवा –

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महत' परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

अर्थात् वह परब्रह्म पचमहाभूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध – इन पांच गुणोंसे रहित, अनादि, अनत और अव्यय है (कठ ३ १५, वे सू ३ २ २२–३०)। महाभारतातर्गत शातिपर्वमें नारायणीय या भागवतधर्मके वर्णनमेंभी भगवानने नारदको अपना सच्चा स्वरूप "अदृश्य, अघ्रेय, अस्पृश्य, निर्गुण, निष्कल (निरवयव), अज, नित्य, शाश्वत और निष्क्रिय" वतला कर कहा है, कि "वही सृष्टिकी उत्पत्ति तथा लय करनेवाला त्रिगुणातीत परमेश्वर है," और इसीको "वासुदेव-परमात्मा" कहते हैं (मभा शा ३३९ २१–२८)।

उपर्युक्त वचनोंसे यह प्रकट होगा, कि न केवल भगवद्गीतामेंही, वरन् महाभारतातर्गत नारायणीय या भागवत धर्ममें और उपनिपदोमेंभी परमात्माका अव्यक्त स्वरूपही व्यक्त स्वरूपसे श्रेष्ठ माना गया है, और यही अव्यक्त श्रेष्ठ स्वरूप वहां तीन प्रकारसे वर्णित है, अर्थात् सगुण, सगुण-निर्गुण और अतमें केवल निर्गुण। प्रश्न यह है, कि अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूपके उक्त तीन परस्परविरोधी रूपोंका मेल किस तरह किया जावे ? यह कहा जा सकता है, कि इन तीनोमेंसे जो सगुण-निर्गुण अर्थात् उभयात्मक रूप है, वह सगुणसे निर्गुणमें (अथवा अज्ञेयमें) जानेकी सीढी या साधन है। क्योंकि, पहले सगुण रूपका ज्ञान होनेपरही, धीरे धीरे एक

एक गुणका त्याग करनेसे निर्गुण स्वरूपका अनुभव हो सकता है, और इसी रीतिसे ब्रह्मप्रतीककी बढ़ती हुई उपासना उपनिषदोंमें बतलाई गई है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद्‌की भृगुवल्लीमें वरुणने भृगुको पहले यही उपदेश किया है, कि अन्नही ब्रह्म है, फिर क्रमक्रमसे प्राण, मन, विज्ञान और आनंद – इन ब्रह्मरूपोंका ज्ञान उसे करा दिया है। (तैत्ति ३ २–६) अथवा ऐसाभी कहा जा सकता है, कि गुण-बोधक विशेषणोंसे निर्गुण रूपका वर्णन करना असंभव है। अतएव परस्परविरोधी विशेषणोंसेही उसका वर्णन करना पड़ता है। इसका कारण यह है, कि जब हम किसी वस्तुके संबंधमें 'दूर' या 'सत्' शब्दोंका उपयोग करते हैं, तब हमें किसी अन्य वस्तुके 'समीप' या 'असत्' होनेकाभी अप्रत्यक्ष रूपसे बोध हो जाया करता है। परंतु यदि एकही ब्रह्म सर्वव्यापी है, तो परमेश्वरको 'दूर' या 'सत्' कहकर 'समीप' या 'असत्' किसे कहे? ऐसी अवस्थामें "दूर नहीं, समीप नहीं" "सत् नहीं असत् नहीं" – इस प्रकारकी भाषाका उपयोग करनेसे दूर और समीप, सत् और असत् इत्यादि परस्परसापेक्ष गुणोंकी जोड़ियाँभी लगा दी जाती हैं। और यह बोध होनेके लिये परस्परविरुद्ध विशेषणोंकी इस भाषाकाही व्यवहारमें उपयोग करना पड़ता है, कि जो कुछ शेष निर्गुण, सर्वव्यापी, सर्वदा निरपेक्ष और स्वतंत्र बचा है, वही सच्चा ब्रह्म है (गीता १३ १२)। जो कुछ है वह सब ब्रह्मही है। इसलिये दूर वही, समीपभी वही, सत्‌भी वही और असत्‌भी वही है। अतएव दूसरी दृष्टिसे उसी ब्रह्मका एकही समय परस्परविरोधी विशेषणोंके द्वारा वर्णन किया जा सकता है (गीता ११ ३७, १३ १५)। अब यद्यपि उभयविध सगुण-निर्गुण वर्णनकी उपपत्ति इस प्रकार बतला चुके, तथापि इस बातका स्पष्टीकरण रहही जाता है, कि एकही परमेश्वरके परस्पर-विरोधी दो स्वरूप – सगुण और निर्गुण – कैसे हो सकते हैं? माना कि जब अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त रूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप धारण करता है, तब वह उसकी माया कहलाती है, परंतु जब वह व्यक्त – यानी इंद्रिय-गोचर – न होते हुए अव्यक्त रूपमेंही निर्गुणका सगुण हो जाता है, तब उसे क्या कहे? उदाहरणार्थ, एकही निराकार परमेश्वरको कोई 'नेति नेति' कह कर निर्गुण मानते हैं, और कोई उसे सर्वगुणसंपन्न, सर्वकर्मा तथा दयालु कहकर सगुण मानते हैं। इसका रहस्य क्या है? उक्त दोनोंमें श्रेष्ठ पक्ष कौन-सा है? इस निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्मसे सारी व्यक्त सृष्टि और जीवकी उत्पत्ति कैसे हुई? – इत्यादि बातोंका स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। यह कहना मानो अध्यात्मशास्त्रहीको जड़से काटना है, कि सब संकल्पोंका दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थमें सगुण है, और उपनिषदोंमें या गीतामें निर्गुण स्वरूपका जो वर्णन किया गया है, वह केवल अतिशयोक्ति या व्यर्थ प्रशंसा हैं। क्योंकि जिन बड़े बड़े महात्माओं और ऋषियोंने मन एकाग्र करके सूक्ष्म तथा शांत विचारोंसे यह सिद्धान्त ढूंढ निकाला, कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै २ ९) – मनकोभी जो दुर्गम है और

वाणीभी जिसका वर्णन कर नही सकती, वही अतिम ब्रह्मस्वरूप है – उनके आत्मानुभवको अतिशयोक्ति कैसे कहे ? केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मनमे यदि अनत और निर्गुण ब्रह्मको ग्रहण नही कर सकता, इसलिये यह कहना, कि सच्चा ब्रह्म सगुणही होना चाहिये, मानो सूर्यकी अपेक्षा अपने छोटेसे दीपकको श्रेष्ठ वतलाना है। हाँ, यदि इस निर्गुण रूपकी उपपत्ति उपनिपदोमे या गीतामे न दी गई होती तो वात दूसरी थी, परतु यथार्थमें वैसा नही है। देखिये न ! भगवद्गीतामे तो स्पष्टही कहा है, कि परमेश्वरका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्तही है, और व्यक्त सृष्टिका रूप धारण करना तो उसकी माया है (गीता ४ ६)। परतु भगवानने यह भी कहा है, कि प्रकृतिके गुणोसे "मोहमें फँसकर मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्माकोही कर्ता मानते है" (गीता ३ २७–२९), किंतु ईश्वर तो कुछ नही करता। लोग केवल अज्ञानमे धोखा खाते है (गीता ५ १५)। अर्थात् भगवानने स्पष्ट शब्दोमें यह उपदेश किया है, कि यद्यपि अव्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुत निर्गुण है, (गीता १३ ३१) तोभी लोग उसपर 'मोह' या 'अज्ञान'से कर्तृत्व आदि गुणोका अध्यारोप करते है, और उसे अव्यक्त सगुण वना देते है (गीता ७ २४)। उक्त विवेचनसे परमेश्वरके स्वरूपके 'विषय'मे गीताके ये ही सच्चे सिद्धान्त मालूम होते है – (१) गीतामें परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका यद्यपि वहुतसा वर्णन है, तथापि परमेश्वरका मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्तही है किंतु मनुष्य मोह या अज्ञानसे उसे सगुण मानते है, (२) साख्योकी प्रकृति या उसका व्यक्त पसारा – यानी अखिल ससार – उस परमेश्वरकी माया है, और (३) साख्योका पुरुष यानी जीवात्मा यथार्थमें परमेश्वररूपी और परमेश्वरके समान ही निर्गुण और अकर्ता है, परतु अज्ञानके कारण लोग उसे कर्ता मानते है। वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तभी ऐसेही है, परतु उत्तर-वेदान्त-ग्रथोमें इन सिद्धान्तोको वतलाते समय माया और अविद्यामें कुछ भेद किया गया है। उदाहरणार्थ, पचदशीमें पहले यह वतलाया गया है, कि आत्मा और परब्रह्म दोनो मूलमे एकही यानी ब्रह्मस्वरूप है। और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब मायामें प्रतिविंवित होता है, तव सत्त्वरजतमगुणमयी (साख्योकी मूल) प्रकृतिका निर्माण होता है। परतु आगे चलकर इस मायाकेही दो भेद – 'माया' और 'अविद्या' – किये गये है। और यह वतलाया गया है, कि जब मायाके तीन गुणोमेंसे 'शुद्ध' सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है, तव उसे केवल माया कहते है, और इस मायामें प्रतिविंवित होनेवाले ब्रह्मको सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते है। और यदि यही सत्त्वगुण 'अशुद्ध' हो, तो उसे 'अविद्या' कहते है, तथा उस अविद्यामें प्रतिविंवित ब्रह्मको 'जीव' कहते है। (पच १ १५–१७) इस दृष्टिसे, यानी उत्तरकालीन वेदान्तकी दृष्टिसे देखे, तो एकही मायाके स्वरूपत दो भेद करने पडते है – अर्थात् परब्रह्मसे 'व्यक्त ईश्वर'के निर्माण होनेका कारण माया और 'जीव'के निर्माण होनेका कारण अविद्या मानना

पड़ता है। परन्तु गीतामें इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि "जिस मायासे स्वयं भगवान् व्यक्त रूप यानी सगुण रूप धारण करते हैं (७. २५) अथवा जिस मायाके द्वारा अष्टधा प्रकृति अर्थात् सृष्टिकी सारी विभूतियां उनसे उत्पन्न होती है, (४. ६) उसी मायाके अज्ञानसे जीव मोहित होता है" (७. ४-१५)। 'अविद्या' शब्द गीतामें कहींभी नहीं आया है, और श्वेताश्वतरोपनिषदमें जहां वह शब्द आया है, वहां उसका स्पष्टीकरणभी इस प्रकार किया है, कि मायाके प्रपंचकोही 'अविद्या' कहते हैं (श्वेता. ५. १)। अतएव उत्तरकालीन वेदान्त ग्रंथोंमें केवल निरूपणकी सरलताके लिये – जीव और ईश्वरकी दृष्टिसे – किये गये सूक्ष्म भेद – अर्थात् माया और अविद्याको स्वीकार न कर हम 'माया', 'अविद्या' और 'अज्ञान' शब्दोंको समानार्थकही मानते हैं। और अब शास्त्रीय रीतिसे संक्षेपमें इस विषयका विवेचन करते हैं, कि त्रिगुणात्मक माया, अविद्या या अज्ञान और मोहका सामान्यतः तात्त्विक स्वरूप क्या है, और उसकी सहायतासे गीता तथा उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी उपपत्ति कैसे लग सकती है।

निर्गुण और सगुण शब्द देखनेमें छोटे हैं, परंतु जब उसका विचार करने लगें, कि इन शब्दोंमें किन किन बातोंका समावेश होता है, तब सचमुच सारा ब्रह्मांड दृष्टिके सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, उस संसारका मूल जो कि अनादि परब्रह्म है, जो एक निष्क्रिय और उदासीन है, तब उसीसे मनुष्यकी इंद्रियोंको गोचर होनेवाले अनेक प्रकारके व्यापार या गुण कैसे उत्पन्न हुए? तथा इस प्रकार उसकी अखंडता भंग कैसे हो गई? अथवा जो मूलमें एकरूप है, उसीके बहुरूपी भिन्न भिन्न व्यक्त पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं? जो परब्रह्म निर्विकार है, और जिसमें खट्टा, मिठा, कड़ुवा या गाढा-पतला अथवा शीत-उष्ण आदि भेद नहीं हैं, उसीमें नाना प्रकारकी रुचियाँ, न्यूनाधिक गाढा-पतलापन या शीत और उष्ण, सुख और दुःख, प्रकाश और अँधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकारके द्वंद्व कैसे उत्पन्न हुए? जो परब्रह्म शांत और निर्वात है, उसीमें नाना प्रकारकी ध्वनियाँ और शब्द कैसे निर्माण होते हैं? जिस परब्रह्ममें भीतर-बाहर या दूर-समीपका कोई भेद नहीं है, उसीमें आगे या पीछे, दूर या समीप, अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थलकृत भेद कैसे हो गये? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और अमृत है, उसीसे न्यूनाधिक कालमानके नाशवान पदार्थ कैसे बने? अथवा जिसे कार्यकारणभावका स्पर्शभी नहीं होता, उसी परब्रह्मके कार्यकारणरूप – जैसे मिट्टी और घडा – क्यों दिखाई देते हैं? ऐसेही औरभी अनेक विषयोंका उक्त छोटेसे दो शब्दोंमें समावेश हुआ है। अथवा संक्षेपमें कहा जाय, तो अब इस बातका विचार करना है, कि एकहीमें अनेकता, निर्द्वंद्वमें नाना प्रकारकी द्वंद्वता, अद्वैतमें द्वैत और निःसंगमें संग कैसे हो गया। सांख्योंने तो उस झगडेसे बचनेके लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है, कि निर्गुण और नित्यपुरुषके साथ साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण

प्रकृतिभी नित्य और स्वतंत्र है। परंतु जगतके मूलतत्त्वको ढूंढ निकालनेकी मनुष्यके मनकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका समाधान इस द्वैतसे नहीं होता। इतनाही नहीं, किंतु यह द्वैत युक्तिवादकेभी सामने टिक नहीं पाता। इसलिये प्रकृति और पुरुषकेभी परे जाकर उपनिषद्कारोंने यह सिद्धान्त स्थापित किया, कि सच्चिदानंद ब्रह्मसेभी श्रेष्ठ श्रेणीका 'निर्गुण' ब्रह्मही जगतका मूल है। परंतु अब इसकी उपपत्ति देनी चाहिये, कि निर्गुणसे सगुण कैसे हुआ। क्योंकि सांख्यके समान वेदान्तकाभी यह सिद्धान्त है, कि जो वस्तु नहीं है, वह होही नहीं सकती, और उससे, 'जो वस्तु है' उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्तके अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिसमें गुण नहीं हैं उस) ब्रह्मसे सगुण सृष्टिके पदार्थ (कि जिनमें गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहाँसे? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। और यदि निर्गुणके समान सगुणकोभी सत्य मानें, तो हम देखते हैं, कि इंद्रियगोचर होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि सब गुणोंके स्वरूप आज एक हैं, तो कल दूसरेही – अर्थात् वे नित्य परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, विकारी और अशाश्वत हैं। तब तो (ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है) यही कहना होगा, कि सर्वव्यापी परमेश्वरभी सगुणोंके सदृश परिवर्तनशील एवं नाशवान् है। परंतु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टिके नियमोंकी पकडमें नित्य परतंत्र रहता है, उसे परमेश्वरही कैसे कहें? सारांश, चाहे यह मानो, कि इंद्रियगोचर सारे सगुण पदार्थ पंचमहाभूतोंसे निर्मित हुए हैं, अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टिसे यह अनुमान कर लो, कि इन सारे पदार्थोंका निर्माण एक ही अव्यक्त सगुण मूलप्रकृतिसे हुआ है; किसीभी पक्षका स्वीकार करो, यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि जब तक नाशवान् गुण इस मूल प्रकृतिसेभी छूट नहीं गये हैं, तबतक पंचमहाभूतोंको या प्रकृति रूप इस सगुण मूल पदार्थको जगतका अविनाशी, स्वतंत्र और अमृत तत्त्व नहीं कह सकते। अतएव जिसे प्रकृतिवादका स्वीकार करना है, उसे उचित है, कि वह या तो यह कहना छोड दे, कि परमेश्वर नित्य, स्वतंत्र और अमृतरूप है, या इस बातकी खोज करे, कि पंचमहाभूतोंके परे अथवा सगुण मूल प्रकृतिकेभी परे और कौनसा तत्त्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिस प्रकार मृगजलसे प्यास नहीं बुझती, या बालूसे तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष नाशवान् वस्तुसे अमृतत्वकी प्राप्तिकी आशा करना भी व्यर्थ है। और इसीलिये याज्ञवल्क्यने अपनी स्त्री – मैत्रेयी – को स्पष्ट उपदेश किया है, कि चाहे जितनी संपत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे, पर उससे अमृतत्वकी आशा करना व्यर्थ है – "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृह. २. ४. २)। अच्छा, अब यदि अमृतत्वको मिथ्या कहें, तो मनुष्योंकी यह स्वाभाविक इच्छा दीख पडती है, कि वे किसी राजासे मिलनेवाला पुरस्कार या पारितोषिकका उपभोग न केवल अपने लिये, [illegible] पुत्रपौत्रादिके लियेभी [illegible] – अर्थात्

चिरकालके लिये – करना चाहते हैं। अथवा यहभी देखा जाता है, कि चिरकाल रहनेवाली या शाश्वत कीर्ति पानेका जब अवसर आ जाता है, तब मनुष्य अपने जीवनकीभी परवाह नही करता। ऋग्वेदके समान अत्यत प्राचीन ग्रथोमेंभी पूर्व-ऋषियोकी प्रार्थना है, कि "हे इद्र ! तू हमें 'अक्षित श्रव' अर्थात् अक्षय कीर्ति या धन दे" (ऋ १ ९ ७), अथवा "हे सोम ! तू मुझे वैवस्वत (यम) लोकमें अमर कर दे" (ऋ ९ ११३ ८)। और, अर्वाचीन समयमें इसी दृष्टीको स्वीकार करके स्पेन्सर, काट प्रभृति केवल आधिभौतिक पडितभी यही कहते हैं, कि "इस ससारमें मनुष्यमात्रका नैतिक परम कर्तव्य यही है, कि वह किसी प्रकारके क्षणिक सुखमें न फँसकर वर्तमान और भावी मनुष्यजातिके चिरकालिक सुखके लिये उद्योग करे।" हमारे जीवनके पश्चात्के चिरकालिक कल्याणकी अर्थात् अमृतत्वकी यह कल्पना आई कहाँसे ? यदि कहें, कि यह स्वभावसिद्ध है, तो मानना पडेगा, कि इस नाशवान् देहके परे और कोई अमृत वस्तु अवश्य है। और यदि कहे, कि ऐसी कोई अमृत वस्तु नही है, तो हमें जिस मनोवृत्तिकी साक्षात् प्रतीति होती, उसका अन्य कोई कारणभी नही बतलाते बन पडता ! ऐसी कठिनाई आ पडनेपर बहुतेरे आधिभौतिक पडित यह उपदेश करते हैं, कि इन प्रश्नोका कभी समाधानकारक उत्तर नही मिल सकता। अतएव इनका विचार न करके दृश्य सृष्टिके पदार्थोंके गुण-धर्मोंके परे अपने मनकी दौड कभी न जाने दो। यह उपदेश है तो सरल, परतु मनुष्यके मनमें तत्त्वज्ञानकी जो स्वाभाविक लालसा होती है, उसका प्रतिरोध कौन और किस प्रकारसे कर सकता है ? और इस दुर्धर जिज्ञासाका यदि नाश कर डाले, तो फिर ज्ञानकी वृद्धि हो तो कैसे ? जबसे मनुष्य इस पृथ्वीतलपर उत्पन्न हुआ है, तभीसे वह इस प्रश्नका विचार करता चला आया है, कि "सारी दृश्य और नाशवान् सृष्टिका मूलभूत अमृततत्त्व क्या है ? और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा ?" आधिभौतिक शास्त्रोकी जितनी चाहे उन्नति हो, तथापि मनुष्यकी अमृततत्त्वसबधी ज्ञानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी कम होनेकी नही। आधिभौतिक शास्त्रोकी चाहे जैसी वृद्धि हो तोभी सारे आधिभौतिक सृष्टिविज्ञानको बगलमें दबाकर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सदा उसके आगेही दौडता रहेगा ! दो-चार हजार वर्षके पहले यही दशा थी, और अब पश्चिमी देशोमेंभी वही बात दीख पडती है। और तो क्या, मनुष्यकी बुद्धिका ज्ञानलालसा जिस दिन छूटेगी, उस दिन उसके विषयमें यही कहना होगा, कि "स वै मुक्तोऽथवा पशु ।"

दिक्कालसे अमर्यादित, अमृत, अनादि, स्वतत्र, एकरूप, एक, निरतर, सर्व-व्यापी और निर्गुण तत्त्वके अस्तित्वके विषयमें, अथवा उस निर्गुण तत्त्वसे सगुण सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें जैसा व्याख्यान हमारे प्राचीन उपनिषदोमें किया गया है, उससे अधिक सयुक्तिक व्याख्यान अन्य देशोंके तत्त्वज्ञोने अबतक नही किया है। अर्वाचीन जर्मन तत्त्ववेत्ता काटने इस बातका सूक्ष्म विचार किया है, कि मनुष्यको

बाह्य सृष्टिकी विविधता या भिन्नताका ज्ञान एकतासे क्यो और कैसे होता है? और फिर उक्त उपपत्तिकोही उसने अर्वाचीन शास्त्रकी रीतिसे अधिक स्पष्ट कर दिया है। और हेगेल यद्यपि अपने विचारमें काटसे कुछ आगे बढा है, तथापि उसके सिद्धान्तभी वेदान्तसे आगे नही बढे हैं। शोपेनहरकाभी यही हाल है। उपनिषदोंके लैटिन भाषाके अनुवादका अध्ययन उसने किया था – और उसने यह बातभी लिख रखी है, कि "ससारके साहित्यके इन अत्युत्तम" ग्रथोंसे कुछ विचार मैंने अपने ग्रथोमें लिये है। इस छोटेसे ग्रथमे इन सब बातोका विस्तारपूर्वक निरूपण करना सभव नही, कि उक्त गभीर विचारो और उनके साधक-बाधक प्रमाणोमें, अथवा वेदान्तके सिद्धान्तो और काट प्रभृति पश्चिमी तत्त्वज्ञोके सिद्धान्तोमें समानता कितनी है और अतर कितना है। इसी प्रकार इस बातकीभी विस्तारसे चर्चा नही कर सकते, कि उपनिषद् और वेदान्तसूत्र जैसे प्राचीन ग्रथोंके वेदान्तमे और तदुत्तर-कालीन ग्रथोंके वेदान्तमें छोटे-मोटे भेद कौनकौनसे है। अतएव भगवद्गीताके अध्यात्म-सिद्धान्तोकी सत्यता, महत्त्व और उपपत्ति समझा देनेके लिये जिन जिन बातोकी आवश्यकता है, सिर्फ उन्ही बातोका यहां दिग्दर्शन किया गया है, और इस चर्चाके लिये उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और उसके शाकरभाष्यका आधार प्रधान रूपसे लिया गया है। प्रकृति-पुरुषरूपी साख्योक्त द्वैतके परे क्या है – इसका निर्णय करनेके लिये केवल द्रष्टा और दृश्य सृष्टिके द्वैतभेदपरही ठहर जाना उचित नही। किंतु इस बातकाभी सूक्ष्म विचार करना चाहिये, कि द्रष्टा पुरुषको बाह्य सृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसका स्वरूप क्या है? वह ज्ञान किससे और किसका होता है? बाह्य सृष्टिके पदार्थ मनुष्यको अपने नेत्रोंसे जैसे दिखाई देते है, वैसे तो वे गुण पशु-ओकोभी दिखाई देते है। परतु मनुष्यकी यह विशेषता है, कि आँख, कान इत्यादि ज्ञानेंद्रियोंसे उसके मनपर जो सस्कार हुआ करते है, उनका एकीकरण करनेकी विशेष शक्ति उसमें है, और इसीलिये बाह्य सृष्टिके पदार्थमात्रका ज्ञान उसको हुआ करता है। पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें बतला चुके है, कि जिस एकीकरण-शक्तिका फल उपर्युक्त विशेषता है, वह शक्ति मन और बुद्धिकेभी परे है – अर्थात् वह आत्माकी शक्ति है। यह बात नही, कि किसी एकही पदार्थका ज्ञान उक्त रीतिसे होता हो, किंतु सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थोंके कार्यकारणभाव आदि जो अनेक सबध हैं – जिन्हें हम सृष्टिके नियम कहते है – उनका ज्ञानभी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखते है, तथापि उनका कार्यकारण-सबध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता, किंतु हम उसे अपने मानसिक व्यापारोंसे निश्चित किया करते है। उदाहरणार्थ, जब कोई पदार्थ हमारे नेत्रोंके सामनेसे जाता है, तब उसका रूप और उसकी गति देखकर हम निश्चय करते है, कि यह एक 'फौजी सिपाही' है, और यही सस्कार मनमें बना रहता है। इसके बाद जब कोई दूसरा पदार्थ उसी रूप और गतिमें दृष्टिके सामने आता है, तब वही

मानसिक क्रिया फिर शुरू हो जाती है, और हमारी बुद्धिका निश्चय हो जाता है कि वहभी एक फौजी सिपाही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयमें (एके बाद दूसरा) जो अनेक सस्कार हमारे मनपर होते रहते हैं, उन्हें हम अपनी स्मरणशक्तिसे याद कर एकत्र रखते हैं, और जब वह पदार्थसमूह हमारी दृष्टिके सामने आ जाता है, तब उन सब भिन्न भिन्न सस्कारोका ज्ञान एकताके रूपमें होकर हम कहने लगते हैं, कि हमारे सामनेसे 'फौज' जा रही है। इस सेनाके पीछेसे आनेवाले पदार्थका रूप देखकर हम निश्चय करते हैं, कि वह 'राजा' है। और 'फौज'-सबधी पहले सस्कारको तथा 'राजा'सबधी इस नूतन सस्कारको एकत्र कर हम कह सकते है, कि यह "राजाकी सवारी जा रही है।" इसलिये कहना पडता है, कि सृष्टिज्ञान केवल इद्रियोंसे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड पदार्थ नही है, किंतु इद्रियोंके द्वारा मनपर होनेवाले अनेक सस्कारो या परिणामोका जो 'एकीकरण' 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है, उसी एकीकरणका फल ज्ञान है। इसीलिये भगवद्गीतामेंभी ज्ञानका लक्षण इस प्रकार दिया है – "अविभक्त विभक्तेषु" अर्थात् सच्चा ज्ञान वही है, कि जिससे विभक्त या निरालेपनकी अविभक्तता या एकताका बोध हो* (गीता १८ २०)। परतु इस विषयका यदि पुन सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इद्रियोंके द्वारा मनपर जो सस्कार पहले होते हैं, वे किसके हैं, तो जान पडेगा कि यद्यपि आंख, कान, नाक इत्यादि इद्रियोंसे पदार्थके रूप, शब्द, गध आदि गुणोका ज्ञान हमें होता है। तथापि जिस द्रव्यमें ये बाह्य गुण हैं, उसके आतरिक स्वरूपके विषयमें हमारी इद्रियां हमें कुछभी नही बतला सकती। हम यह देखते हैं सही, कि 'गीली मिट्टी'से घडा बनता है, परतु यह नही जान सकते कि, जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं, उस पदार्थका यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इद्रियोंके द्वारा मनको पृथक् पृथक् मालूम हो जाते हैं, तब उन सस्कारोका एकीकरण करके 'द्रष्टा' आत्मा कहता है, कि "यह गीली मिट्टी है", और आगे इसी द्रव्यकी (क्योकि यह माननेके लिये कोई कारण नहीं, कि द्रव्यका तात्त्विक रूप बदल गया) गोल तथा पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज और सूखापन इत्यादि गुण जब इद्रियोंके द्वारा मनको मालूम हो जाते हैं, तब उनका एकीकरण करके 'द्रष्टा' उसे 'घडा' कहता है। साराश, सारा भेद, 'रूप या आकार' मेंही होता रहता है। और जब इन्ही गुणोंके सस्कारोको (जो मनपर हुआ करते हैं) 'द्रष्टा' आत्मा एकत्र कर लेता है, तब एकही तात्त्विक पदार्थको अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इसका सबसे सरल उदाहरण समुद्र और तरगका या सोना और अलकारका है। क्योकि इन दोनो उदाहरणोमें रग, गाढ़ापन,

* Cf "Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold" *Kant's Critique of Pure Reason*, p 64, Max-Muller's translation 2nd Ed

पतलापन, वजन आदि गुण एकहीसे रहते हैं; और केवल रूप (आकार) तथा नाम येही दो गुण बदलते रहते है। इसीलिये वेदान्तमें ये सरल दृष्टान्त हमेशा पाये जाते है। सोना तो एक पदार्थ है, परतु भिन्न भिन्न समयपर बदलनेवाले उसके आकारोंके जो सस्कार इद्रियोंके द्वारा मनपर होते हैं, उन्हे एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोनेकोही – कि जो तात्त्विक दृष्टिमे एकही मूल द्रव्य है – कभी 'कडा', कभी 'अँगूठी' या कभी 'पँचलडी', 'पहूँची और कगन इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है। भिन्न भिन्न समयपर पदार्थोंको जो इस प्रकार नाम दिये जाते हैं, उन नामोको, तथा पदार्थोंको जिन भिन्न भिन्न आकृतियोके कारण वे नाम बदलते रहते हैं, उन आकृतियोको उपनिषदोमे 'नामरूप' कहते हैं, और इन्हीम अन्य सब गुणोकाभी ममावेश कर दिया जाता है (छा ६ ३ और ४, बृ १ ४ ७)। और इस प्रकार समावेश होना ठीकभी है। क्योकि कोईभी गुण लीजिये, उसका कुछ-न-कुछ नाम और रूप अवश्यही होगा। यद्यपि इन नामरूपोमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहे, तथापि कहना पडता है कि – इन नामरूपोंके मूलमें आधारभूत कोई तत्त्व या द्रव्य है, जो इन नामरूपोसे भिन्न है, और कभी बदलताही नही। जिस प्रकार पानीपर तरगें आ जाती हैं, उसी प्रकार ये सब नामरूप किसी एकही मूल द्रव्यपर तरगोंके समान है। यह सच है, कि हमारी इद्रियाँ नामरूपके अतिरिक्त और कुछभी पहचान नही सकती, अतएव इन इद्रियोको उस मूल द्रव्यका ज्ञान होना सभव नही, कि जो नामरूपसे भिन्न है, परतु उसका आधारभूत है। परतु सारे ससारका आधारभूत यह तत्त्व भलेही अव्यक्त हो, अर्थात् इद्रियोंसे जाना न जा सकता हो, तथापि हमको अपनी बुद्धिसे यही निश्चित अनुमान करना पडता है, कि वह सत् है – अर्थात् वह सचमुच सर्वकाल सब नामरूपोंके मूलमें तथा नामरूपोमेंभी निवास करता है, और उसका कभी नाश नही होता। क्योकि यदि इद्रियगोचर नामरूपोंके अतिरिक्त मूलतत्त्वको कुछ मानेही नही, तो फिर 'कडा' 'कगन' आदि पदार्थ भिन्न भिन्न हो जावेगे। एव इस समय हमें यह ज्ञान हुआ करता है, कि "वे सब एकही धातुके (सोनेके) बने हैं", उस ज्ञानके लिये कुछभी आधार नही रह जावेगा। ऐसी अवस्थामें केवल इतनाही कहते बनेगा, कि यह 'कडा' है, यह 'कगन' है। यह कदापि न कह सकेंगे, कि कडा सोनेका है, और कगनभी सोनेका है। अतएव न्यायत यह सिद्ध होता है, कि 'कडा सोनेका है', "कगन सोनेका है', इत्यादि वाक्योमें 'है' शब्दसे जिस सोनेके साथ नामरूपात्मक 'कडे' 'कगन'का सबध जोडा गया है, वह सोना केवल शशशृगवत अभावरूप नही है। किंतु वह उस द्रव्याशकाही बोधक है, कि जो सारे आभूषणोका आधार है। इसी न्यायका उपयोग सृष्टिके सारे पदार्थोंमें करे, तो यह सिद्धान्त निकलता है, कि पत्थर, मिट्टी, चाँदी, लोहा, लकडी, इत्यादि अनेक नामरूपात्मक पदार्थ, जो नजर आते हैं, वे सब किसी एकही नित्य द्रव्यपर भिन्न भिन्न नामरूपोका मुलम्मा या

गिलट बनकर उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् सारा भेद केवल नामरूपोका है, मूल द्रव्यका नही। भिन्न भिन्न नामरूपोकी जडमें एकरूप एकही द्रव्य नित्य निवास करता है। "सब पदार्थोमें इस प्रकारसे नित्यरूपसे सदैव रहना" – संस्कृतमें 'सत्तासामान्यत्व' कहलाता है।

वेदान्तशास्त्रके उक्त सिद्धान्तकाही कांट आदि अर्वाचीन पश्चिमी तत्त्वज्ञानियोंनेभी स्वीकार किया है। नामरूपात्मक जगत्की जडमें नामरूपोंसे भिन्न, जो कुछ अदृश्य नित्य द्रव्य है, उसे कांटने अपने ग्रंथमें 'वस्तुतत्त्व' कहा है, और नेत्र आदि इंद्रियोंको गोचर होनेवाले नामरूपको 'बाहरी दृश्य' कहा है।* परंतु वेदान्तशास्त्रमें नित्य बदलनेवाले नामरूपात्मक दृश्यको (जगत्) 'मिथ्या' या 'नाशवान्' और मूलद्रव्यको 'सत्य' या 'अमृत' कहते हैं। सामान्य लोग सत्यकी व्याख्या यो करते हैं, कि 'चक्षुर्वै सत्य' अर्थात् जो आँखोंसे दीख पडे वही सत्य है, और व्यवहारमेंभी देखते हैं, कि किसीने स्वप्नमें लाख रुपया पा लिया अथवा लाख रुपयेकी बात कानसे सुन ली, तो इस स्वप्नकी बातमें और सचमुच लाख रुपयेकी रकमके मिल पानेमें बडा भारी अंतर रहता है। इस कारण किसी दूसरेसे सुनी हुई और आँखोंसे प्रत्यक्ष देखी हुई – इन दोनो बातोंमें किसका अधिक विश्वास करे? आँखोका या कानो का? इसी दुविधाको मिटानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद् (बृ ५ १४ ४) में यह 'चक्षुर्वै सत्य' वाक्य आया है। किंतु जिस शास्त्रमें रुपयेके खरेखोटे होनेका निश्चय 'रुपये'के रुपया गोलमोल सूरत और उसके प्रचलित नामसे करना है, वहाँ सत्यकी इस साक्षेप व्याख्याका क्या उपयोग होगा? हम व्यवहारमें देखते हैं, कि यदि किसीकी बातचीतमें संगति नही हैं, और यदि घटे-घटेमें वह अपनी बात बदलने लगे, तो लोग उसे झूठा कहते हैं। फिर इसी न्यायसे 'रुपये'के नामरूपको (भीतरी द्रव्यको नही) खोटा अथवा झूठा कहनेमें क्या हानि है? क्योंकि रुपयेका जो नामरूप आज इस घडी है, उसे दूर करके, उसके बदले 'करधनी' 'कटोरे'का नामरूप उसे दूसरे दिनही दिया जा सकता है, अर्थात् हम अपनी आँखोंसे देखते हैं कि यह नामरूप हमेशा बदलता रहता है – या उसीमें संगति नही होती। अब यदि कहे कि जो अपनी आँखोसे दीख पडता है, उसके सिवा अन्य कुछ सत्य नहीं है, तो एकीकरणकी जिस मानसिक क्रियामें सृष्टिज्ञान होता है, वहभी तो आँखोंसे नहीं दीख पडती। अतएव उसेभी झूठ कहना पडेगा। इस कारण हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसेभी असत्य, झूठ कहना पडेगा। इनपर (और ऐसीही दूसरी

---

* कांटने अपने Critique of Pure Reason नामक ग्रंथमें यह विचार किया है। नामरूपात्मक संसारकी जडमें जो द्रव्य है, उसे उसने 'डिंग आन झिश्' (Ding an sich—Thing in itself) कहा है, और हमने उसीका भाषान्तर वस्तुतत्त्व किया है। नामरूपोंके बाहरी दृश्यको कांटने 'एरशायनुंग' (Erscheinung–appearance) कहा है। कांट कहता है कि वस्तुतत्त्व अज्ञेय है।

कठिनाइयोंपर) ध्यान देकर ' चक्षुर्वै सत्य ' जैसे सत्यके लौकिक और साक्षेप लक्षणको ठीक नही माना है। किंतु सर्वोपनिषद्में सत्यकी यही व्याख्या की है, कि सत्य वही है, जो अविनाशी है अर्थात् जिसका अन्य वातोके नाश हो जानेपरभी कभी नाश नही होता। और इसी प्रकार महाभारतमेंभी सत्यका यही लक्षण वतलाया गया है .–

सत्यं नामाऽव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।*

अर्थात् "सत्य वही है कि जो अव्यय है अर्थात् जिसका कभी नाश नही होता, जो नित्य है अर्थात् सदासर्वदा वना रहता है, और अविकारी है अर्थात् जिसका स्वरूप कभी वदलता नही" (मभा शा १६२ १०)। अभी कुछ और थोडी देरमें कुछ कहनेवाले मनुष्यको झूठा कहनेका कारण यही है, कि वह अपनी वात-पर स्थिर नही रहता – इधर-उधर डगमगता रहता है। सत्यके इस निरपेक्ष लक्षणको स्वीकार कर लेनेपर कहना पडता है कि आँखोंसे दीख पडनेवाला, पर हरघडीमें वदलनेवाला नामरूप मिथ्या है। और उस नामरूपसे ढँका हुआ और उसीके मूलमें सदैव एकही-सा स्थिर रहनेवाला अमृत वस्तुतत्त्वही – वह आँखोंसे भलेही न दीख पडे – ठीक ठीक सत्य है। भगवद्गीतामे ब्रह्मका वर्णन इसी नीतीसे किया गया है – "य सा सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति" (गीता ८ २०, १३ २७) – अक्षर ब्रह्म वही है, कि जो सव पदार्थ अर्थात् सभी पदार्थोंके नामरूपात्मक शरीर न रहनेपरभी नष्ट नही होता। महाभारतमें नाराणीय अथवा भागवत धर्मके निरूपणमें यही श्लोक पाठभेदसे फिर "य स सर्वेषु भूतेषु"के स्थानमें 'भूतग्रामशरीरेषु' होकर आया है (मभा शा ३३९ २३) । ऐसेही गीताके दूसरे अध्यायके सोलहवे और सत्रहवे श्लोकोका तात्पर्यभी वही है। वेदान्तमे जव आभूषणको 'मिथ्या' और सुवर्णको 'सत्य' कहते है, तव उसका यह मतलव नही है, कि वह जेवर निरुपयोगी या विलकुल खोटा है – अर्थात् आँखोसे दिखाई नही पडता, या मिट्टीपर पन्नी चिपका कर वनाया गया है – अथवा वह अस्तित्वमें हैही नही। यहाँ 'मिथ्या' शब्दका प्रयोग पदार्थके रग, रूप आदि गुणोंके लिये और आकृतिके लिये अर्थात् ऊपरी दृश्यके लिये किया गया है। भीतरी द्रव्यसे उसका प्रयोजन नही है। स्मरण रहे, कि तात्त्विक द्रव्य तो सदैव 'सत्य' है। वेदान्ती यही देखता है, कि पदार्थमात्रके नामरूपात्मक आच्छादनके नीचे मूल कौनसा तत्त्व है, और तत्त्वज्ञानका सच्चा विषय हैभी यही। व्यवहारमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि गहना गढवानेमे चाहे जितना मेहनताना देना पडा हो, पर आपत्तिके समय जव उसे वेचनेके लिये सराफकी दूकानपर ले जाते है, तव वह साफ साफ कह देता है,

---

* ग्रीनने real (सत् या सत्य) की व्याख्या वतलाते समय "whatever anything is really, it is unalterably कहा है (Prolegomena to Ethics §25) ग्रीन की यह व्याख्या और महाभारतकी उक्त व्याख्या दोनो तत्वत एकही है।

कि " मैं यह नही जानना चाहता, कि गहना गढवानेमें तोलेके पिछे क्या उजरत देनी पडी है, यदि सोनेके चलत् भावमें इसे बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे।" वेदान्तकी परिभाषामें इसी विचारको इस ढंगसे व्यक्त करेंगे – सराफको गहना मिथ्या और उसका सोना भर सत्य दीख पडता है। इसी प्रकार यदि किसी नये मकानको बेचना हो, तो उसकी सुदर बनावट (रूप) और सुविधाजनक रचना (आकृति) करनेमें जो खर्च लगा होगा, उसकी ओर खरीददार जराभी ध्यान नही देता। वह कहता है, कि ईट, चूना, लकडी, पत्थर और मजदूरीकी लागतमें यदि बेचना चाहो, तो बेच डालो। इन दृष्टान्तोंसे वेदान्तियोंके इस कथनको पाठक भली-भाँति समझ जावेंगे, कि नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, और ब्रह्म सत्य है। " दृश्य जगत् मिथ्या है " इसका अर्थ यह नही, कि वह आँखोंसे तो दीखही पडता नही। किंतु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है, कि (वह आँखोंसे तो दीख पडता है, पर) एकही द्रव्यके नामरूप-भेदके कारण जगत्के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा काल-कृत दृश्य हैं, वे नाशवान् हैं, और इसीसे मिथ्या हैं। और इन सब नामरूपात्मक दृश्योंके आच्छादनमें छिपा हुआ सदैव वर्तमान, जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है। सराफको कडे, कगन, गुज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं। उसे सिर्फ उनका सोना सच्चा जँचता है। परतु सृष्टिके सुनारके कारखा-नेमें मूलमें ऐसा एक ही द्रव्य है, कि जिसको भिन्न भिन्न नामरूप दे कर उससे सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, लकडी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढवाये जाते हैं। इसलिये सराफकी अपेक्षा वेदान्ती कुछ और आगे बढकर सोना, चाँदी या पत्थर प्रभृति नामरूपोको जेवरकेही समान मिथ्या समझकर सिद्धान्त करता है, कि इन सब पदार्थोंके मूलमें जो द्रव्य अर्थात् 'वस्तुतत्त्व' मौजूद है, वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्त्वमें नामरूप आदि कोईभी गुण नहीं हैं। इस कारण इसे नेत्र आदि इद्रियाँ कभी नही जान सकती। आँखोंसे न दीख पडने, नाकसे परतु न सूंघे जाने अथवा हाथसे न टटोले जानेपरभी बुद्धिसे निश्चयपूर्वक यह अनुमान किया जाता है, कि अव्यक्त रूपमे वह होगा अवश्यही। न केवल इतनाही, बल्कि यहभी निश्चय करना पडता है, कि इस जगत्में कभीभी न बदलनेवाला 'जो कुछ' है, वह यही सत्य वस्तुतत्त्व हैं। जगत्का मूल सत्य इसीको कहते है। परतु कुछ अनाडी विदेशी और स्वदेशी पडितमन्यभी सत्य और मिथ्या शब्दोंके वेदान्तशास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थपर ध्यान न देकर, और यह देखनेका कष्टभी न उठाते हुए, कि सत्य शब्दका जो अर्थ हमें सूझता है, उसकी अपेक्षा इसका कुछ और अर्थभी हो सकेगा या नही। यह कहकर अद्वैत वेदान्तका उपहास किया करते है, कि " हमें जो जगत् आँखोंसे प्रत्यक्ष दीख पडता है, उसेभी वेदान्ती लोग मिथ्या कहते हैं। भला, यहभी कोई बात हुई ? " परतु यास्कके शब्दोमें कह सकते है, कि अधेको यदि खभा नही सूझता, तो इसका दोषी खभा नही है। छादोग्य (छा ६ १, और ७ १),

बृहदारण्यक (बृ १ ६ ३), मुडक (मु ३ २ ८), और प्रश्न (प्र ६.५), आदि उपनिषदोमें वारवार वतलाया गया है, कि नित्य वदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान् नामरूप सत्य नही है । जिसे सत्य अर्थात् नित्य, स्थिर तत्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टिको इस नामरूपोंके परे पहुँचाना चाहिये । इन्ही नामरूपोको कठ (कठ २ ५) और मुडक (मु १ २ ९) आदि उपनिषदोमें 'अविद्या' तथा अतमें श्वेताश्वतर (श्वे ४ १०) उपनिषद्में 'माया' कहा है। भगवद्गीतामें 'माया', 'मोह' और 'अज्ञान' शब्दोसे वही अर्थ विवक्षित है। जगत्के आरभमें जो कुछ था, वह विना नामरूपका था – अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त था। फिर आगे चलकर नामरूप मिल जानेसे वही व्यक्त और सगुण वन जाता है (बृ १ ४ ७, छा ६ १ २ ३)। अतएव विकारवान् अथवा नाशवान् नामरूपोकोही 'माया' नाम देकर कहते हैं, कि यह सगुण अथवा दृश्य सृष्टि एक मूलद्रव्य अर्थात् ईश्वरकी मायाका खेल या लीला है। अव इस दृष्टिसे देखे, तो सांख्योकी प्रकृति अव्यक्त भलेही वनी रहे, पर वह सत्वरजतम-गुणमयी है, अत नामरूपोसे युक्त मायाही है। इस प्रकृतिसे व्यक्त विश्वकी जो उत्पत्ति या पसारा होता है (जिसका वर्णन आठवे प्रकरणमें किया है), वहभी तो उस मायाका सगुण नामरूपात्मक विकार है। क्योकि कोईभी गुण हो, वह इंद्रियोको गोचर होनेवाला और इसीसे नामरूपात्मकही रहेगा। सारे आधिभौतिक शास्त्रभी इसी प्रकार मायाके वर्गमें आ जाते हैं। इतिहास, भूगर्भशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि कोईभी शास्त्र लीजिये, उसमें सव नामरूपात्मकाही तो विवेचन रहता है – अर्थात् यही वर्णन होता है, कि किसी पदार्थका एक नामरूप चला जाकर उसे दूसरा नामरूप कैसे मिलता है। उदाहरणार्थ, नामरूपके भेदकाही विचार इस शास्त्रमें इस प्रकार रहता है – जैसे, पानी जिसका नाम है, उसको भाफ नाम कव और कैसे मिलता है, अथवा काले-कलूटे तारकोलसे लाल-हरे, नीले-पीले रँगनेके रग (रूप) क्योकर वनते है, इत्यादि। अतएव नामरूपोमेंही उलझे हुए इन शास्त्रोंके अभ्याससे उस सत्य वस्तुका वोध नही हो सकता, कि जो नामरूपोंसे परे है। प्रकट है, कि जिसे सच्चे ब्रह्मस्वरूपका पता लगाना हो, उसको अपनी दृष्टि इन सव आधिभौतिक अर्थात् नामरूपात्मक शास्त्रोंसे परे पहुँचानी चाहिये। और यही अर्थ छांदोग्य उपनिषदमें सातवे अध्यायके आरभकी कथामें व्यक्त किया गया है। कथाका आरभ इस प्रकार है – नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कदके यहाँ जाकर कहने लगे, कि, "मुझे आत्मज्ञान वतलाओ" तव सनत्कुमार वोले, कि "पहले वतलाओ, तुमने क्या सीखा है, फिर उसके आगे मैं वतलाता हूँ।" इस पर नारदने कहा, कि "मैंने इतिहास-पुराणरूपी पाँचवे वेदसहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, नीतिशास्त्र, सभी वेदाग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजनविद्या-प्रभृति सव कुछ पढा है। परतु जव उससे आत्मज्ञान नही हुआ,

तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।" इसको सनत्कुमारने यह उत्तर दिया, "कि तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नामरूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नामब्रह्मसे बहुत परे है," और फिर नारदको क्रमश इस प्रकार पहचान करा दी, कि इन नामरूपोंके अर्थात् सांख्योंकी अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राणसेभी परे एवं उनसे बढ़-चढ़कर जो है, वही परमात्मारूपी अमृततत्त्व है।

यहाँतक जो विवेचन किया गया, उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि मनुष्यकी इंद्रियोंको नामरूपोंके अतिरिक्त और किसीकाभी प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है तोभी इन अनित्य नामरूपोंके आच्छादनसे ढँका हुआ लेकिन आँखोसे न दीख पडनेवाला अर्थात् कुछ-न-कुछ अव्यक्त नित्य द्रव्य रहनाही चाहिये, और इसी कारण सारी सृष्टिका ज्ञान हमें एकतासे होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है, सो आत्माकोही होता है। इसलिये आत्माही ज्ञाता यानी जाननेवाला हुआ। और इस ज्ञाताको नामरूपात्मक सृष्टिकाही ज्ञान होता है। अत नामरूपात्मक बाह्य सृष्टि ज्ञान हुई (मभा श ३०६ ४०) और इस नामरूपात्मक सृष्टिके मूलमें जो कुछ वस्तुतत्त्व है, वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरणको मानकर भगवद्गीताने ज्ञाताको क्षेत्रज्ञ आत्मा और ज्ञेयको इंद्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है (गीता १३ १२–१७)। और फिर आगे ज्ञानके तीन भेद करके कहा है, कि भिन्नता या नानात्वमे जो सृष्टि-ज्ञान होता है, वह राजस है, तथा अंतमें इस नानात्वका जो ज्ञान एकत्वरूपसे होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है (गीता १८ २०–२१)। इसपर कुछ लोग यह युक्तिवाद करते हैं, कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकार त्रिविध भेद करना ठीक नही है। एवं यह माननेके लिये हमारे पास कुछभी प्रमाण नही है, कि हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा इस जगत्में औरभी कुछ है। गाय, घोडे, प्रभृति जो बाह्य वस्तुएं हमे दीख पडती है, वहभी तो ज्ञानही है, जो कि हमें होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है, तोभी यह बतलानेके लिये – कि वह ज्ञान है काहे का – हमारे पास ज्ञानको छोड और कोई मार्गही नही रह जाता। अतएव यह नही कहा जा सकता, कि इस ज्ञानके अतिरिक्त बाह्य पदार्थके नाते कुछ स्वतंत्र वस्तुएँ है, अथवा इन बाह्य वस्तुओंके मूलमें और कोई स्वतंत्र तत्त्व है। क्योंकि जब ज्ञाताही न रहा, तब जगत् कहाँसे रहे ? इस दृष्टिसे विचार करनेपर उक्त वर्गीकरणमे अर्थात ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयमेंसे – ज्ञेय नही रह जाता। ज्ञाता और उसको होनेवाला ज्ञान, यही दो बच जाते हैं, और इसी युक्तिवादको और जरा-सा आगे ले चले तो 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा भी तो एक प्रकार का ज्ञानही है। इसलिये अंतमें ज्ञानके सिवा दूसरी वस्तुही शेष नही रहती। इसीको 'विज्ञानवाद' कहते हैं, और योगाचार पंथके बौद्धोंने इसेही प्रमाण माना है। इस पंथके विद्वानोंने प्रतिपादन किया है, कि ज्ञाताके ज्ञानके अतिरिक्त इस जगत्में और कुछभी स्वतंत्र नही है। और तो क्या ? दुनियाही नही है। जो कुछ है, मनुष्यका ज्ञानही ज्ञान है। अंग्रेज ग्रंथकारोमेंभी ह्यूम जैसे पंडित इस ढंगके मतके पुरस्कर्ता हैं।

किया है, कि देहेंद्रियो और बाह्य सृष्टिके निशिदिन बदलनेवाले अर्थात् मिथ्या दृश्योके मूलमें दोनोही ओर कोई नित्य अर्थात् सत्य द्रव्य छिपा हुआ है। इसके आगे अब प्रश्न होता है, कि दोनो ओर जो ये नित्य तत्त्व हैं, वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं? परतु इसका विचार फिर करेंगे। पहले इस मतकी अर्वाचीनताके सबधमें मौके-बेमौके जो आक्षेप हुआ करता है, उसीका थोडा-सा विचार करते हैं।

कई लोग कहते है, कि बौद्धोका विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्रको समत नहीं है, तो श्रीशकराचार्यके मायावादकाभी प्राचीन उपनिषदोमें वर्णन नही है, इसलिये उसेभी वेदान्तशास्त्रका मूलभाग नही मान सकते। श्रीशकराचार्यका मत – कि जिसे मायावाद कहते हैं – यह है, कि बाह्यसृष्टिका आँखोंसे दीख पडनेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूलमें जो अव्यय और नित्यद्रव्य है, वही सत्य है। परतु उपनिषदोका मन लगाकर अध्ययन करनेसे कोईभी सहजही जान जावेगा, कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहलेही बतला चुके है, कि 'सत्य' शब्दका उपयोग साधारण व्यवहारमें आँखोंसे प्रत्यक्ष दीख पडनेवाली वस्तुके लिये किया जाता है। अत 'सत्य' शब्दके इसी प्रचलित अर्थको लेकर उपनिषदोमें कुछ स्थानोपर आँखोंसे दीख पडने-वाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थोको 'सत्य' और उन नामरूपोंसे आच्छादित द्रव्यको 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद्में (बृ १ ६ ३) "तदेतदमृत सत्येन च्छन" – वह अमृत सत्यसे आच्छादित है – कह कर तुरत अमृत और सत्य शब्दोकी यह व्याख्या की है, कि "प्राणो वा अमृत नामरूपे सत्य ताभ्यामय प्राणच्छन्न" अर्थात् प्राण अमृत है, और नामरूप सत्य है। एव इस नाम-रूप सत्यसे प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राणका अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रकट है, कि आगेके उपनिषदोमें जिन्हे 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है, पहले उन्हींके नाम क्रमसे 'सत्य' और 'अमृत' थे। अनेक स्थानोपर इसी अमृतको 'सत्यस्य सत्य' – आँखोसे दीख पडनेवाले सत्यके भीतरका अतिम सत्य (बृ २ ३ ६) – कहा है। किंतु उक्त आक्षेप इतनेहीसे सिद्ध नही हो जाता, कि उपनिषदोमें कुछ स्थानोपर आँखोंसे दीख पडनेवाली सृष्टिकोही सत्य कहा है। क्योकि बृहदारण्यकमेंही अतमें यह सिद्धान्त किया हैं, कि आत्मरूप परब्रह्मको छोड, और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाश-वान् है (बृ ३ ७ २३)। जब पहले पहल जगत्के मूलतत्त्वकी खोज होने लगी, तब शोधक लोग आँखोंसे दीख पडनेवाले जगत्को पहले सत्य मानकर ढूँढने लगे, कि उसके पेटमें और कौन-सा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किंतु फिर ज्ञात हुआ, कि जिस दृश्य सृष्टिके रूपको हम सत्य मानते है, वह तो असलमें विनाशवान् है, और उसके भीतर कोई अविनाशी या अमृत तत्त्व मौजूद है। दोनोंके बीचके इस भेदको जैसे जैसे अधिक व्यक्त करनेकी आवश्यकता होने लगी, वैसे वैसे 'सत्य' और 'अमृत' शब्दोंके स्थानमें 'अविद्या' और 'विद्या', एव अतमें 'माया और सत्य' अथवा 'मिथ्या और सत्य' इन पारिभाषिक शब्दोका प्रचार होता गया। क्योकि 'सत्य'का धात्वर्थ 'सदैव

रहनेवाला ' है। इस कारण नित्य बदलनेवाले और नाशवान् नामरूपको सत्य कहना उत्तरोत्तर औरभी अनुचित जँचने लगा। परंतु इस रीतिसे ' माया अथवा मिथ्या ' शब्दोका प्रचार पीछे भलेही हुआ हो, तोभी ये विचार बहुत पुराने जमानेसे चले आ रहे है, कि जगत्‌की वस्तुओका वह दृश्य, जो नजरसे दीख पडता है, विनाशी और असत्य है। एव उसका आधारभूत ' तात्त्विक द्रव्य 'ही सत् या सत्य है। प्रत्यक्ष ऋग्वेदमेंभी कहा है कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ १ १६४ ४६ और १० ११४.५) — मूलमें जो एक और नित्य (सत्)है, उसीको विप्र (ज्ञाता) भिन्न भिन्न नाम देते है — अर्थात् एकही सत्य वस्तु नामरूपमे भिन्न भिन्न दीख पडती है। 'एक रूपके अनेक रूप दिखलाने 'के अर्थमें, 'माया' शब्द ऋग्वेदमेंभी प्रयुक्त है, और वहाँ यह वर्णन है, कि " इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते " — इद्र अपनी मायासे अनेक रूप धारण करता है (ऋ ६ ४७ १८)। तैत्तिरीय सहिता (तै स ३ १ ११) में एक स्थानपर 'माया' शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग किया गया है, और श्वेताश्वतर उपनिषद्में इस 'माया' शब्दका नामरूपके लिये उपयोग हुआ है, जो हो, नामरूपके लिये 'माया' शब्दका प्रयोग किये जानेकी रीति प्रथम श्वेताश्वतर उपनिषदके समयमें भलेही चल निकली हो, पर इतना तो निर्विवाद है, कि नामरूपोंके अनित्य अथवा असत्य होनेकी कल्पना इससे पहलेकी है। 'माया' शब्दका विपरीत अर्थ करके श्रीशकराचार्यने यह कल्पना नये सिरेसे नही चला दी है। नामरूपात्मक सृष्टिके स्वरूपको श्रीशकराचार्यके समान बेधडक 'मिथ्या' कह देनेकी जो हिंमत न कर सके, अथवा जैसे गीतामें भगवानने उसी अर्थमें 'माया' शब्दका उपयोग किया है, वैसा करनेसे जो हिचकते हो, वे चाहें तो खुशीसे बृहदारण्यक उपनिषद्के 'सत्य' और 'अमृत' शब्दोका उपयोग करें। कुछभी क्यो न कहा जावे, पर इस सिद्धान्तमें जराभी चोट नही लगती, कि नामरूप 'विनाशवान्' हैं, और जो तत्त्व उनसे आच्छादित है, वह 'अमृत' या 'अविनाशी' है। एव यह भेद प्राचीन वैदिक कालसे चला आ रहा है।

हमारे आत्माको नामरूपात्मक बाह्य सृष्टिके सारे पदार्थोंका ज्ञान होनेके लिये 'कुछ-न-कुछ' एक ऐसा नित्य मूल द्रव्य होना चाहिये, कि जो आत्माका आधारभूत हो, और उसीके मेलका हो। एव बाह्य सृष्टिके नाना पदार्थोंकी जडमें वर्तमान रहता हो, नही तो यह ज्ञानही न होगा। किंतु इतना निश्चय कर देनेसे अध्यात्मशास्त्रका काम समाप्त नही हो जाता। बाह्य सृष्टिके मूलमें रहनेवाले इस नित्य द्रव्यको वेदान्ती लोक 'ब्रह्म' कहते हैं, और अब हो सके तो ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय करनाभी आवश्यक है। सारे नामरूपात्मक पदार्थोंके मूलमें वर्तमान यह नित्य तत्त्व है अव्यक्त। इसलिये प्रकटही है, कि इसका स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थोंके समान व्यक्त और स्थूल (जड) नही रह सकता। परतु यदि व्यक्त और स्थूल पदार्थोंको छोड दें, तो मन, स्मृति, वासना, प्राण और ज्ञान प्रभृति बहुतसे ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं, कि जो स्थूल नही है, । एव यह असभव नही, कि परब्रह्म इनमेंसे किसीभी एक

आधके स्वरूपका हो। कुछ लोग कहते हैं, कि प्राणका और परब्रह्मका स्वरूप एकही है। जर्मन पडित शोपेनहरने परब्रह्मको वासनात्मक निश्चित किया है, और वासना मनका धर्म है, अत इस मतके अनुसार ब्रह्म, मनोमयही कहा जावेगा (तै ३ ४)। परतु, अव तक जो विवेचन हुआ है उससे तो यही कहा जावेगा कि – "प्रज्ञान ब्रह्म" (ऐ. ३ ३) अथवा "विज्ञान ब्रह्म" (तै ३ ५) – जड सृष्टिके नानात्वका जो ज्ञान एकस्वरूपसे हमें होता है, वही ब्रह्मका स्वरूप होगा। हेकेलका सिद्धान्त इसी ढगका है। परतु उपनिषदोमें चिद्रूपी ज्ञानके साथ सत् (अर्थात् जगतकी सारी वस्तुओंके अतित्वके सामान्य धर्म या सत्तासमानताका) और आनदकाभी ब्रह्मस्वरूपमेंही अतर्भाव करके ब्रह्मको सच्चिदानदरूपी माना है। इसके अतिरिक्त दूसरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो, तो वह ॐकार है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है – पहले समस्त अनादि वेद ॐअकारसे उपजे हैं, और वेदोंके निकल चुकनेपर उनके नित्य शब्दोंसेही आगे चलकर ब्रह्माने जव सारी सृष्टिका निर्माण किया है (गीता १७ २३, मभा शा २३१ ५६–५८), तव मूल आरभमें ॐकारको छोड और कुछ न था। इससे सिद्ध होता है, कि ॐकारही सच्चा ब्रह्मस्वरूप है (माडूक्य १, तै १ ८)। परतु केवल अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिमे विचार किया जाय, तो परब्रह्मके ये सभी स्वरूप थोडेवहुत नामरूपात्मकही हैं। क्योकि इन सभी स्वरूपोंको मनुष्य अपनी इद्रियोंसे जान सकता है, और मनुष्यको इस रीतिसे जो कुछ ज्ञात हुआ करता है, वह नामरूपोकी श्रेणीमें आ जाता है। फिर इस नामरूपके मूलमें स्थित जो अनादि, भीतरवाहर सर्वत्र एक-सा भरा हुआ, एकरूप नित्य और अमृत तत्त्व है (गीता १३ १२–१७), उसके वास्तविक स्वरूपका निर्णयही तो क्योकर हो? कितनेही अध्यात्मशास्त्री पडित कहते है, कि कुछभी हो, यह तत्त्व हमारी इद्रियोको अज्ञेयही रहेगा, और काटने तो इस प्रश्नपर अधिक विचार करनाही छोड दिया है। इसी प्रकार उपनिषदोमेंभी परब्रह्मके अज्ञेय स्वरूपके वर्णन इस प्रकार हैं 'नेति नेति' अर्थात् वह नही है, कि जिसके विषयमें कुछ कहा जा सकता है, ब्रह्म इससे परे है, वह आंखोंसे दीख नही पडता, वह वाणीको और मनकोभी अगोचर है – "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" फिरभी अध्यात्मशास्त्रने निश्चय किया है, कि इस अगम्य स्थितिमेंभी मनुष्य अपनी वुद्धिसे ब्रह्मके स्वरूपका एक प्रकारसे निर्णय कर सकता है। ऊपर जो वासना, स्मृति, धृति, आशा, प्राण और ज्ञान प्रभृति अव्यक्त पदार्थ वतलाये गये है, उनमेंसे जो सबसे अतिशय व्यापक अथवा सवसे श्रेष्ठ निर्णित हो, उसी को परब्रह्मका स्वरूप मानना चाहिये। क्योकि यह तो निर्विवादही है, कि सव अव्यक्त पदार्थोमें परब्रह्म श्रेष्ठ है। अब इस दृष्टिसे आशा, स्मृति, वासना और धृति आदिका विचार करे, तो ये सब मनके धर्म है, अतएव इनकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ हुआ। मनसे ज्ञान श्रेष्ठ है, और ज्ञान है वुद्धिका धर्म। अत, ज्ञानसे बुद्धि श्रेष्ठ हुई। और अतमें यह वुद्धिभी जिसकी नौकर है, वह आत्माही सबसे श्रेष्ठ है (गीता ३ ४२)।

'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकरण'मे उक्त विचार किया गया है। अब वासना और मन आदि अव्यक्त पदार्थोंसे यदि आत्मा श्रेष्ठ है, तो आपही सिद्ध हो गया, कि परब्रह्मका स्वरूपभी वही (आत्मा) हो। छादोग्य उपनिषदके सातवे अध्यायमें इसी युक्तिवादसे काम लिया गया है। और सनत्कुमारने नारदसे कहा है, कि "वाणीकी अपेक्षा मन अधिक योग्यताका (भूयस्) है। मनसे ज्ञान, ज्ञानसे बल और इसी प्रकार चढते चढते जब कि आत्मा सबसे श्रेष्ठ (भूमन्) है, तब आत्माहीको परब्रह्मका सच्चा स्वरूप कहना चाहिये।" अग्रेज ग्रथकारोमें ग्रीनने इसी सिद्धान्तको माना है, किंतु उसका युक्तिवाद कुछ भिन्न है। इसलिये यहाँ उसे सक्षेपसे वेदान्तकी परिभाषामें बतलाते हैं। ग्रीनका कथन है, कि हमारे मनपर इद्रियोंके द्वारा बाह्य नामरूपोंके जो सस्कार हुआ करते हैं, उनके एकीकरणसे हमारा आत्मा जो ज्ञान उत्पन्न करता है उस ज्ञानके मेलके लिये बाह्यसृष्टिके भिन्न भिन्न नामरूपोंके मूलमेंभी एकतासे रहनेवाली कोई न कोई वस्तु होनी चाहिये। नही तो आत्माके एकीकरणसे, जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वकपोलकल्पित और निराधार हो कर विज्ञानवादके समान असत्य प्रमाणित हो जायगा। इस 'कोई न कोई' वस्तुको हम ब्रह्म कहते हैं। भेद इतनाही है, कि काटकी परिभाषाको मानकर ग्रीन उसको वस्तुतत्त्व कहता है। कुछभी कहो, अतमें वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) और आत्मा येही दो पदार्थ रह जाते हैं, कि जो परस्परके मेलके हैं। इनमसे 'आत्मा' मन और बुद्धिसे परे अर्थात् इद्रियातीत है। तथापि अपने विश्वासके प्रमाणपर हम माना करते हैं, कि आत्मा जड नही है और निश्चय करते हैं कि वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्यरूपी है। इस प्रकार आत्माके स्वरूपका निश्चय करके देखना है, कि बाह्य सृष्टिके ब्रह्मका स्वरूप क्या है। इस विषयमें यहाँ दोही पक्ष हो सकते है, यह ब्रह्म या वस्तुतत्त्व (१) आत्माके स्वरूपका होगा या (२) आत्मासे भिन्न स्वरूपका। क्योंकि, ब्रह्म, और आत्माके सिवा अब तीसरी वस्तुही नही रह जाती। परतु सभीका अनुभव यह है, कि यदि कोईभी दो पदार्थ स्वरूपसे भिन्न हो, तो उनके परिणाम अथवा कार्यभी भिन्न भिन्न होने चाहिये। अतएव हम लोग पदार्थोंके भिन्न अथवा एकरूप होनेका निर्णय उन पदार्थोंके परिणामोंसेही किसीभी शास्त्रमें किया करते है। एक उदाहरण लीजिये, दो वृक्षोंके फल, फूल, पत्ते, छिलके और जडको देखकर हम निश्चय करते हैं, कि वे दोनो अलग अलग हैं या एकही है। यदि इसी रीतिका अवलबन करके यहाँ विचार करें, तो दीख पडता है, कि आत्मा और ब्रह्म एकही स्वरूपके होने चाहिये। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है, कि सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थोंके जो सस्कार मनपर होते हैं, उनका आत्माकी क्रियासे एकीकरण होता है। इस एकीकरणके साथ उस एकीकरणका मेल होना चाहिये, कि जिसे भिन्न भिन्न बाह्य पदार्थोंके मूलमें रहनेवाला वस्तुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म इन पदार्थोंकी अनेकताको मेट कर निष्पन्न करता है। यदि इस प्रकार दोनोमें मेल न होगा, तो समूचा ज्ञान निराधार और असत्य हो जावेगा। एकही नमूनेके और बिलकुल एक

दूसरेके जोडके एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानोपर भलेही हो, परतु वे परस्पर भिन्न भिन्न नही रह सकते। अतएव यह आपही सिद्ध होता है, कि इनमेंसे आत्माका जो रूप होगा, वही रूप ब्रह्मकाभी होना चाहिये।* साराश, किसीभी रीतिसे विचार क्यो न किया जाय, सिद्ध यही होगा कि, बाह्य सृष्टिके नाम और रूपोंसे आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृतिके समान जड तो हैही नही, किंतु वासनात्मक ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राणब्रह्म अथवा ॐकाररूपी शब्दब्रह्म – ये ब्रह्मके रूपभी निम्न श्रेणीके है, और ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप इनसे परे है, एव इनसे अधिक योग्यताका अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इस विषयके सबधमें गीतामें अनेक स्थानोपर जो उल्लेख है, उनसे स्पष्ट होता है, कि गीताका सिद्धान्तभी यही है (गीता २ २०, ७ ५, ८ ४, १३ ३१, १५ ७, ८)। फिरभी यह न समझ लेना चाहिये, कि ब्रह्म और आत्माके एकस्वरूप रहनेके सिद्धान्तको हमारे ऋषियोंने केवल ऐसी युक्ति-प्रयुक्तियोंसेही पहले खोजा था। इसका कारण इसी प्रकरणके आरभमें बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्रमें बुद्धिमात्रकी सहायतासे कोईभी एकही अनुमान निश्चित नही किया जाता है, उसे सदैव आत्मप्रतीतिका सहारा चाहिये। इसके अतिरिक्त सर्वदा देखा जाता है, कि आधिभौतिक शास्त्रोंमेंभी अनुभव पहले होता है, और उसकी उपपत्ति या तो पीछेसे मालूम हो जाती है, या ढूंढ ली जाती है। इसी न्यायसे उक्त ब्रह्मात्मैक्यकी बुद्धिगम्य उपपत्तिके निकलनेके सैकडो वर्ष पहले प्राचीन ऋषियोंने प्रथम यह निर्णय कर दिया था, कि "नेह नानाऽस्ति किंचन" (बृ ४ ४ १९, कठ ४ ११) – इस सृष्टिमें दीख पडनेवाली अनेकता सच नही है। उसके मूलमें चारो ओर एकही अमृत, अव्यय और नित्य तत्त्व है (गीता १८ २०)। और फिर उन्होंने अपनी अतर्दृष्टिसे यह सिद्धान्त ढूंढ निकाला, कि बाह्यसृष्टिके नामरूपसे आच्छादित अविनाशी तत्त्व और हमारे शरीरका वह आत्मतत्त्व – कि जो बुद्धिसे परे है – ये दोनो एकही अर्थात् अमर और अव्यय है, अथवा जो तत्त्व ब्रह्माडमें है, वही पिंडमें यानी मनुष्यकी देहमें वास करता है। एव बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको, गार्गी-वारुणि प्रभृतिको और जनकको (बृ ३ ५–८, ४ २–४) बतलाया है कि पूरे वेदान्तका यही रहस्य है। इसी उपनिषद्में पहले कहा गया गया है, कि जिसने जान लिया, कि "अह ब्रह्मास्मि" – मैही परब्रह्म हूं – उसने सब कुछ जान लिया (बृ १ ४ १०), और छादोग्य उपनिषदके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुको उसके पिताने अद्वैत वेदान्तका यही तत्त्व अनेक रीतियोसे समझा दिया है। जब अध्यायके आरभमें श्वेत-केतुने अपने पितासे पूछा, कि "जिस प्रकार मिट्टीके एक लौंदेका भेद जान लेनेसे मिट्टीके नामरूपात्मक सभी विकार जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिस एकही वस्तुका ज्ञान हो जानेसे सब कुछ समझमें आ जावे, वही एक वस्तु मुझे बतलाइये, मुझे उसका

* Green's *Prolegomena to Ethics*, § PP. 26-36.

ज्ञान नही है।" तव पिताने नदी, समुद्र, पानी और नमक प्रभृति अनेक दृष्टान्त देकर समझाया, कि वाह्यसृष्टिके मूलमें जो द्रव्य है, वह (तत्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देहका आत्मा दोनो एकही है – 'तत्त्वमसि', एव ज्योंही तूने अपने आत्माको पहचाना, त्योंही तुझे आपही मालूम हो जावेगा, कि समस्त जगत्के मूलमे क्या है। इस प्रकार पिताने श्वेतकेतुको भिन्न भिन्न नौ दृष्टान्तोंमे उपदेश किया है, और प्रतिबार 'तत्त्वममि' – वही तू है – इस सूत्रकी पुनरावृत्ति की है (छा ६ ८–१६)। यह 'तत्त्वमसि' अद्वैत वेदान्तके महावाक्योमे मुन्य वाक्य है।

इस प्रकार निर्णय हो गया, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। परतु आत्मा चिद्रूपी है, इसलिये सभव है, कि कुछ लोग ब्रह्मकोभी चिद्रूपी ममझे। अतएव यहाँ ब्रह्मके और उसके माथही साथ आत्माके सच्चे स्वरूपका और थोडा-मा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। आत्माके सान्निध्यसे जडात्मक वुद्धिमें उत्पन्न होनेवाले धर्मको चित् अर्थात् ज्ञान कहते है। परन्तु जव कि वुद्धिके इस धर्मको आत्मापर लादना उचित नहीं है, तव तात्त्विक दृष्टिसे आत्माके मूलस्वरूपकोभी निर्गुण और अज्ञेयही मानना चाहिये। अतएव कई-एकोका मत है, कि यदि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है, तो इन दोनोको या इनमेंसे किसीभी एकको चिद्रूपी कहना कुछ अशोमें गौणही है। यह आक्षेप अकेले चिद्रूपीपरही नही है। किंतु यह आप-ही-आप सिद्ध होता है, कि परब्रह्मके लिये 'सत्' विशेषणका प्रयोग करना उचित नही है। क्योकि सत् और असत्, ये दोनो धर्म परस्पर-विरुद्ध और सदैव परस्पर-सापेक्ष है। अर्थात् भिन्न भिन्न दो वस्तुओका निर्देश करनेके लिये कहे जाते है। जिमने कभी उजाला न देखा हो, वह अँधेरेकी कल्पना नही कर सकता। यही नही, कितु 'उजाला' और 'अँधेरा' इन शब्दोकी यह जोडीही उसको सूझ न पडेगी। सत् और असत् शब्दोकी जोडी (द्वद्व)के लिये यही न्याय उपयोगी है। जव हम देखते है, कि कुछ वस्तुओका नाश होता है, तव सव वस्तुओंके असत् (नाश होनेवाली) और सत् (नाश न होनेवाली) ये दो भेद करने लगते है, अथवा सत् और असत् शब्द सूझ पडनेके लिये मनुष्यकी दृष्टिके आगे दो प्रकारके विरुद्ध धर्मोकी आवश्यकता होती है। अच्छा, यदि आरभमें एकही वस्तु थी, तो द्वैतके उत्पन्न होने पर दो वस्तुओंके उद्देशसे जिन सापेक्ष सत् और असत् शब्दोका प्रचार हुआ है, उनका प्रयोग इस मूल वस्तुके लिये कैसे किया जावेगा? क्योकि, यदि इसे सत् कहते है, तो शका होती है, कि क्या उस समय उसकी जोडका कुछ असत्भी था? यही कारण है, जो ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमे (ऋ १० १२९) परब्रह्मको कोईभी विशेपण न दे कर सृष्टिके मूल तत्त्वका वर्णन उस प्रकार किया है, कि "जगतके आरभमे न तो सत् था, और न असत्भी था। जो कुछ था वह एकही था।" इन सत् और असत् शब्दोकी जोडियाँ (अथवा द्वद्व) तो पीछेसे निकली है, और गीतामें (गीता ७ २८, २ ४५) कहा है, कि सत् और असत्, शीत और उष्ण आदि द्वद्वोमे जिसकी वुद्धि मुक्त हो

जाय, वह इन सब द्वद्वोंसे परे अर्थात् निर्द्वंद्व ब्रह्मपदको पहुँच जाता है। इससे दीख पडेगा, कि अध्यात्मशास्त्रके विचार कितने गहन और सूक्ष्म हैं। केवल तर्क-दृष्टिसे विचार करें, तो परब्रह्मका अथवा आत्माकाभी अज्ञेयत्व स्वीकार किये विना गति नही रहती। परतु ब्रह्म इस प्रकार अज्ञेय और निर्गुण अतएव इद्रियातीत हो, तोभी यह प्रतीति हो सकती है, कि परब्रह्मकाभी वही स्वरूप है, जो कि हमारे निर्गुण तथा अनिर्वाच्य आत्माका है, और जिसे हम साक्षात्कारसे पहचानते हैं। इसका कारण यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपने आत्माकी साक्षात् प्रतीति होती ही है। अतएव अब यह सिद्धान्त निरर्थक नही हो सकता, कि ब्रह्म और आत्मा एकस्वरूपी हैं। इस दृष्टिसे देखें, तो ब्रह्मस्वरूपके विषयमें इसकी अपेक्षा कुछ अधिक नही कहा जा सकता, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। शेष बातोंके सबधमें अपने अनुभवको ही पूरा प्रमाण मानना पडता है। किंतु वुद्धिगम्य शास्त्रीय प्रतिपादनमें शब्दोंसे जितना हो सकता है, उतना स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इसलिये यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक-सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है, तोभी जडसृष्टिका और आत्मस्वरूपी ब्रह्मतत्त्वका भेद व्यक्त करनेके लिये, आत्माके सान्निध्यसे जड प्रकृतिमें चैतन्यरूपी जो गुण हमें दृगोचर होता है, उसीको आत्माका प्रधान लक्षण मानकर अध्यात्मशास्त्रमें आत्मा और ब्रह्म दोनोको चिद्रूपी या चैतन्यरूपी कहते हैं। क्योकि यदि ऐसा न करें, तो आत्मा और ब्रह्म दोनोंही निर्गुण, निरजन एव अनिर्वाच्य होनेके कारण उनके रूपका वर्णन करनेमें या तो चुप्पी साध जाना पडता है या शब्दोमें किसीने कुछ वर्णन किया, तो 'नही नही' का यह मत्र रटना पडता है, कि "नेति नेति एतस्मादन्यत्परमस्ति।" – यह नही है, यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामरूप हो गया)। सच्चा ब्रह्म इससे परे अन्यही है। इस नकारात्मक पाठका आवर्तन करनेके अतिरित और दूसरा मार्गही नहीं रह जाता (बृ २ ३ ६)। यही कारण है, कि जो सामान्य रीतिसे ब्रह्मके स्वरूपके लक्षण चित् (ज्ञान), सत् (सत्तामात्रत्व अथवा अस्तित्व) और आनद बतलाये जाते हैं। इसमें कोई सदेह नही, कि ये लक्षण अन्य सभी लक्षणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। फिरभी स्मरण रहे, कि शब्दोंसे ब्रह्मस्वरूपकी जितनी पहचान हो सकती है, उतनी करा देनेके लिये ये लक्षण कहे गये हैं। वास्तविक ब्रह्मस्वरूप निर्गुणही है और उसका ज्ञान होनेके लिये उसका अपरोक्षानुभवही होना चाहिये। यह अनुभव कैसे हो सकता है? – इद्रियातीत होनेके कारण अनिर्वाच्य ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको कब और कैसे होता है? – इस विषयमें हमारे शास्त्रकारोंने जो विवेचन किया है, उसे यहाँ सक्षेपमें बतलाते हैं।

ब्रह्म और आत्माकी एकताके उक्त समीकरणको सरल भाषामें इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि "जो पिंडमें है, वही ब्रह्माडमे है।" जब इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव हो जावे, तब यह भेदभाव नही रह सकता, कि ज्ञाता अर्थात्

द्रष्टा आत्मा भिन्न वस्तु है, और ज्ञेय अर्थात् देखनेकी वस्तु अलग है। किंतु इस विषयमें शका हो सकती है, कि मनुष्य जबतक जीवित है, तबतक उसकी नेत्र आदि इद्रियाँ यदि छूट नही जाती है, तो इद्रियाँ पृथक् हुई और उनको गोचर होनेवाले विषय पृथक् हुए – तो यह भेद छूटेगा कैसे ? और यदि यह भेद नही छूटेगा, तो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव कैसे होगा ? तब यदि इद्रिय-दृष्टिसेही विचार करे, तो यह शका एका-एक अनुचितभी नही जान पडती। परतु हाँ, गभीर विचार करने लगे, तो जान पडेगा, कि इद्रियाँ बाह्य विषयोको देखनेका काम खुद मुख्तारीसे – अपनीही मर्जीसे नही किया करती है। पहले बतला दिया है, कि "चक्षु पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (मभा शा ३११ १७) – कोईभी वस्तु देखनेके लिये (और सुनने आदिके लियेभी) नेत्रोको (ऐसेही कान प्रभृतिकोभी) मनकी सहायता आवश्यक है। यदि मन शून्य हो, किसी और विचारमें डूबा हो, तो आँखोके आगे धरी हुई वस्तुभी नही सूझती ? व्यवहारमे होनेवाले इस अनुभवपर ध्यान देनेमे सहजही अनुमान होता है, कि नेत्र आदि इद्रियोके अक्षुण्ण रहते हुएभी मनको यदि उनमेंसे निकाल ले, तो इद्रियोके विषयोके द्वद्व बाह्य सृष्टिमें वर्तमान होनेपरभी हमारे लिये न होनेके समान रहेगे। फिर परिणाम यह होगा, कि मन केवल आत्मामे अर्थात् आत्मस्वरूपी ब्रह्ममेंही रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्यका साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यानमे, समाधिसे, एकान्त उपासनासे अथवा अत्यत ब्रह्मविचार करनेमे, अतमें यह मानसिक स्थिति जिसको प्राप्त हो जाती है, उसकी नजरके आगे दृश्य सृष्टिके द्वद्व या भेद नाचते भले रहा करे; पर वह उनसे लापरवाह है – उसे वे दीखही नही पडते, और फिर उसको अद्वैत ब्रह्मस्वरूपकी आप-ही-आप पूर्ण साक्षात्कार होता जाता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञानमे अतमें परमावधिकी जो यह स्थिति प्राप्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, यह तीन प्रकारका भेद अर्थात् त्रिपुटी नही रहती, अथवा उपास्य और उपासकका द्वैतभावभी नही बचने पाता। अतएव यह अवस्था और किसी दूसरेको बतलाई नही जा सकती। क्योकि ज्योहि 'दूसरे' शब्दका उच्चारण किया, त्योही यह अवस्था बिगडी, और फिर प्रकटही है, कि मनुष्य अद्वैतसे द्वैतमे आ जाता है। और तो क्या, यह कहनाभी मुश्किल है, कि मुझे इस अवस्थाका ज्ञान हो गया। क्योकि 'मै' कहतेही औरोसे भिन्न होनेकी भावना मनमे आ जाती है, और ब्रह्मात्मैक्य होनेमे यह भावना पूरी बाधक है, इसी कारणसे याज्ञवल्क्यने बृहदारण्यकमें (बृ ४ ५ १५ ४ ३ २७) इस परमावधिकी स्थितिका वर्णन यो किया है "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति . जिघ्रति . शृणोति विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन क पश्येत, जिघ्रेत् शृणूयात् . विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एतावदरे खलु अमृतत्वमिति।" इसका भावार्थ यह है, कि "देखनेवाला (द्रष्टा) और देखनेका पदार्थ यह द्वैत जबतक बना हुआ था, तबतक

एक दूसरेको देखता था, सूंघता था, सूनता था और जानता था। परन्तु जब सभी आत्ममय हो गया (अर्थात् आप-पर भेदही न रहा) तब कौन किसको देखेगा, सूंघेगा, सुनेगा और जानेगा? अरे! जो स्वय ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, उसीको जाननेवाला और दूसरा कहांसे लाओगे?" इस प्रकार सभी आत्मभूत या ब्रह्मभूत हो जानेपर वहाँ भीति, शोक अथवा सुखदु ख आदि द्वद्वभी रह कहाँ सकते हैं? (ईश ७) क्योकि, जिससे डरना है या जिसका शोक करना है, वह तो अपनेसे – हमसे – जुदा होना चाहिये, और ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव हो जानेपर इस प्रकारकी किसीभी भिन्नताको अवकाशही नही मिलता। इसी दु खशोक-विरहित अवस्थाको 'आनदमय' नाम देकर तैत्तरीय उपनिषद् (तै २ ८, ३ ६) में कहा है, कि यह आनदही ब्रह्म हैं। किंतु यह वर्णनभी गौणही हैं। क्योकि आनदका अनुभव करनेवाला अब रहही कहाँ जाता है? अतएव बृहदारण्यक उपनिषदमें (बृ ४ ३ ३२) कहा है, कि लौकिक आनदकी अपेक्षा आत्मानद कुछ विलक्षणही होता है। ब्रह्मके वर्णनमें 'आनद' शब्द आया करता है। उसकी गौणतापर ध्यान देकर अन्य स्थानोमें ब्रह्मवेत्ता पुरुषका अतिम वर्णन ('आनद' शब्दको हटाकर) इतनाही किया जाता है, "ब्रह्म भवति य एव वेद" (बृ ४ ४ २५)। अथवा "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु ३ २ ९) – जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्मही हो गया। उपनिषदोमें (बृ २ ४ १२, छा ६ १३) इस स्थितिके लिये यह दृष्टान्त दिया गया है, कि नमककी डली जब पानीमें घुल जाती है, तब जिस प्रकार यह भेद नही रहता कि इतना भाग खारे पानीका है और इतना भाग मामूली पानीका है – उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान हो जानेपर सब ब्रह्ममय हो जाता है। किंतु श्री तुकाराम महाराजने (कि "जिनकी कहै नित्य वेदान्त वाणी") इस खारे पानीके दृष्टान्तके बदले गुडका यह मीठा दृष्टान्त देकर अपने अनुभवका वर्णन किया है .–

> 'गूगे का गुड' है भगवान्, बाहरभीतर एक समान।
> किसका ध्यान करूँ सविवेक? जल-तरंगसे हैं हम एक॥
> – तु गा ३६२७

इसीलिये कहा जाता है, कि परब्रह्म इद्रियोको अगोचर और मनकोभी अगम्य होनेपरभी स्वानुभवगम्य है, अर्थात् अपने अपने अनुभवमे जाना जाता है। परब्रह्मकी जिस अज्ञेयताका वर्णन किया जाता है, वह 'ज्ञाता और ज्ञेय'वाली द्वैती स्थिति है, 'अद्वैत-साक्षात्कार'वाली स्थिति नहीं। जबतक यह बुद्धि बनी है, कि मैं अलग हूँ और दुनिया अलग है, तबतक कुछभी क्यो न किया जाय, ब्रह्मात्मैक्यका पूरा ज्ञान होना सभव नही। किंतु नदी यदि समुद्रको निगल नही सकती – उसको अपनेमें लीन नही कर सकती – तो जिस प्रकार समुद्रमें गिरकर नदी तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार

अधिक प्रवल प्रमाण साधुसतोका अनुभव है। वहुत प्राचीन सिद्ध पुरुषोंके अनुभव तो प्रसिद्ध हैंही उनके, सवधर्में और क्या कहे ? किंतु विलकुल अभीके प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराजनेभी इस परमावधिकी स्थितिका वर्णन आलकारिक भाषामें बडी खूवीसे धन्यतापूर्वक इस प्रकार किया है, कि "मैं अपनी मृत्यु अपनी आँखोंसे देख ली, वहभी एक अनुपम उत्सवही था" (तु गा ३५७९)। व्यक्त अथवा सगुण ब्रह्मकी उपासनासे, ध्यानके द्वारा धीरे धीरे वढता हुआ उपासक अतमें "अह ब्रह्मास्मि" (वृ १ ४ १०) – मैंही ब्रह्म हूँ – की स्थितिमें जा पहुँचता है, और ब्रह्मात्मैक्यस्थितिका उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर उसमें वह इतना मग्न हो जाता है, कि इस वातकी ओर उसका ध्यानभी नही जाता, कि मैं किस स्थितिमें हूँ, अथवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इस स्थितिमे जागृति वनी रहती है, अत इस अवस्थाको न तो स्वप्न कह सकते हैं, और न सुषुप्ति। यदि जागृति कहें तो इसमें जागृत द्वैतके अवस्थामें सामान्य रीतिसे होनेवाले सव व्यवहार रुक जाते है, इस-लिये स्वप्न, सुषुप्ति (नीद) अथवा जागृति – इन तीनो व्यावहारिक अवस्थाओंसे विलकुलही भिन्न यह चौथी अथवा तुरीय अवस्था है – इस प्रकार शास्त्रोंमें कहा गया है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये पातजलयोगशास्त्रकी दृष्टिसे मुख्य साधन निर्विकल्प समाधियोग लगाना है, जिसमें द्वैतका जरासाभी लवलेश नही रहता! और यही कारण है, कि जो गीतामें (गी ६ २०–२३) कहा है कि इस निर्विकल्प समाधि-योगको अभ्याससे प्राप्त कर लेनेमें मनुष्यको उकताना नही चाहिये। यही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति ज्ञानकी पूर्णावस्था है। क्योकि जव सपूर्ण जगत् ब्रह्मरूप अर्थात् एकही हो चुका, तव गीताके ज्ञानक्रियावाले इस लक्षणकी पूर्णता हो जाती है, कि "अविभक्त विभक्तेषु" – अनेकत्वकी एकता करनी चाहिये – और फिर इसके आगे किसीकीभी अधिक ज्ञान हो नही सकता। इसी प्रकार नामरूपसे परे इस अमृतत्वका जहाँ मनुष्यको अनुभव हुआ, कि जन्म-मरणका चक्करभी आप-ही-से छूट जाता है। क्योंकि जन्म-मरण तो नामरूपोमेंही है, और यह मनुष्य पहुँच जाता है उन नामरूपोंसे परे (गीता ८ २१)। इसीसे तुकाराम महाराजने इस स्थितिका नाम 'मरणका मरण' रख छोडा है। और इसी कारणसे याज्ञवल्क्य इस स्थितिको अमृतत्वकी सीमा या परा-काष्ठा कहते हैं। यही जीवन्मुक्तावस्था है। पातजलयोगसूत्र और अन्य स्थानोमेंभी वर्णन है, कि इस अवस्थामें आकाशगमन आदि कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है (पातजलसूत्र ३ १६–५५), और इन्हीको पानेके लिये कितनेही मनुष्य योगाभ्यासकी धुनमें लग जाते है। परन्तु योगवासिष्ठप्रणेता कहते हैं, कि आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ न तो ब्रह्मनिष्ठ-स्थितिका साध्य है और न उसका कोई भागही। अत जीवन्मुक्त पुरुष इन सिद्धियोको पा लेनेका उद्योग नही करता, और वहुधा उसमें ये देखीभी नही जाती (यो ५ ८९)। इसी कारण इन सिद्धियोंका उल्लेख न तो योगवासिष्ठमेंही है और न गीतामेंभी किया है। वसिष्ठने रामसे स्पष्ट

कह दिया है, कि ये चमत्कार तो मायाके खेल हैं, यह ब्रह्मविद्या नही है। कदाचित् ये सच्चेभी हों। हम यह नही कहते, कि ये सच्चे होगेही नही। जो हो, इतना तो निर्विवाद है, कि यह ब्रह्मविद्याका विषय नही है। अतएव, ये सिद्धियाँ मिले तो, और न मिले तोभी इनकी परवाह न करनी चाहिये। ब्रह्मविद्याशास्त्रका कथन है, कि इनकी इच्छा अथवा आशाभी न करके मनुष्यको वेही प्रयत्न करते रहना चाहिये, कि जिनसे प्राणिमात्रमें 'एक-आत्मा'वाली परमावधिकी ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त हो जावे। ब्रह्मज्ञान आत्माकी शुद्ध अवस्था है। वह कुछ जादू, करामात या चमत्कार नही है। इस कारण इन सिद्धियोंसे – इन चमत्कारोंसे – ब्रह्मज्ञानके गौरवका बढ़ना तो दूर, किंतु उसके गौरवके – उसकी महत्ताके – ये चमत्कार प्रमाणभी नही हो सकते। पक्षी तो पहलेभी आकाशमें उडते थे, पर अब विमानोवाले लोगभी आकाशमें उडने लगे हैं, किंतु सिर्फ इसी गुणके होनेसे कोई इनकी गिनती ब्रह्मवेत्ताओमें नहीं करता। और तो क्या, जिन पुरुषोको ये आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है, उनमेंसे कुछ 'मालतीमाधव' नाटकवाले अघोरघटके समान क्रूर और घातकीभी हो सकते है।

ब्रह्मात्मैक्यरूप आनदमय स्थितिका अनिर्वाच्य अनुभव किसी दूसरेको पूर्णतया वतलाया नही जा सकता। क्योकि जब उसके सवधमें दूसरेको बतलाने लगेंगे, तव 'मैं-तू' वाली द्वैतकीही भाषासे काम लेना पडेगा, और इस द्वैती भाषामें अद्वैतका समस्त अनुभव व्यक्त करते नही वनता। अतएव उपनिषदोमें इस परमावधिकी स्थितिके जो वर्णन हैं, उन्हेभी अधूरे या गौण समझना चाहिये। और जब ये वर्णन गौण हैं, तब सृष्टिकी उत्पत्ति एव रचना समझानेके लिये अनेक स्थानोपर उपनिषदोमें जो निरे द्वैती वर्णन पाये जाते हैं, उन्हेभी गौणही मानना चाहिये। उदाहरण लीजिये, उपनिषदोमें दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें ऐसे वर्णन हैं, कि आत्मस्वरूपी, शुद्ध, नित्य, सर्वव्यापी और अविकारी ब्रह्महीसे आगे चलकर हिरण्यगर्भ नामक सगुण पुरुष या आप (पानी) प्रभृति सृष्टिके व्यक्त पदार्थ क्रमश निर्मित हुए, अथवा परमेश्वरने इन नामरूपोकी रचना करके फिर जीवरूपसे उनमें प्रवेश किया (तै २ ६, छा ६ २, ३, बृ. १ ४ ७), ये सव द्वैतपूर्ण वर्णन अद्वैतदृष्टिसे यथार्थ नही हो सकते। क्योकि ज्ञानगम्य, निर्गुण परमेश्वरही जब चारो ओर भरा हुआ है, तव तात्त्विक दृष्टिसे यह कहनाही निर्मूल हो जाता है, कि एकने दूसरेको पैदा किया। परतु साधारण मनुष्योको सृष्टिकी रचना समझा देनेके लिये व्यावहारिक अर्थात् द्वैतकी भाषाही तो एक साधन है। इस कारण व्यक्त सृष्टिकी अर्थात् नामरूपकी उत्पत्तिके वर्णन उपनिषदोमें उसी ढँगके मिलते हैं, जैसा कि ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। तोभी उसमें अद्वैतका तत्त्व वनाही रहता है, और अनेक स्थानोमें यह कह दिया है, कि इस प्रकार द्वैती व्यावहारिक भाषा वर्तने परभी मूलमें अद्वैत सच्चाही है। देखिये, अव निश्चय हो चुका है, कि सूर्य घूमता नही है, स्थिर है,

फिरभी वोलचालमें जिस प्रकार यही कहा जाता है, कि सूर्य निकल आया अथवा डूब गया, उसी प्रकार यद्यपि निश्चित है कि एकही आत्मस्वरूपी परब्रह्म चारो ओर अखड भरा हुआ है, और वह अविकार्य है, तथापि उपनिषदोमें ऐसीही भाषाके प्रयोग मिलते है, कि "परब्रह्मसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है।" इसी प्रकार गीतामेंभी यद्यपि भगवानने यह कहा है, कि "मेरा सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अज है" (गीता ७ २५), तथापि उन्होंने कहा है, कि "मै सारे जगत्को उत्पन्न करता हूँ' (गीता ४ ६)। परन्तु इन वर्णनोंके मर्मको विना समझे-बूझे कुछ पडित लोग इनको शब्दश सच्चा मान लेते है, और फिर उन्हेही मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं, कि द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मतका उपनिषदोमें प्रतिपादन है। वे कहते हैं, कि यदि यह मान लिया जाय, कि एकही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तो फिर इसकी उपपत्ति नही लगती, कि इस अविकारी ब्रह्मसे विकारसहित नाशवान् सगुण पदार्थ कैसे निर्मित हो गये। क्योंकि नामरूपात्मका सृष्टिको यदि 'माया' कहे, तो निर्गुण ब्रह्मसे सगुण मायाका उत्पन्न होनाही तर्ककी दृष्टिसे शक्य नही है। इससे अद्वैतवाद लॅगडा हो जाता है। इसमे तो कही अच्छा यह होगा, कि साख्यशास्त्रके मतानुसार प्रकृतिके सदृश नामरूपात्मक व्यक्त सृष्टिके किसी सगुण परतु व्यक्त रूपको नित्य मान लिया जावे, और उस व्यक्त रूपके अभ्यतरमें कोई दूसरा परब्रह्म रूप नित्यतत्त्व ऐसे ओतप्रोत भरा हुआ रखा जावे, जैसा कि पेंचकी नलीमें भाफ रहती है (बृ ३ ७)। एव उन दोनोंमें वैसीही एकता मानी जावे, जैसी कि दाडिम या अनारके फलकी भीतरी दानोंके साथ रहती है। परतु हमारे मतमे उपनिषदोंके तात्पर्यका ऐसा विचार करना योग्य नही है। उपनिषदोमे कही कही द्वैती और कही कही शुद्ध अद्वैती वर्णन पाये जाते है। सो यह सही है कि इन दोनोकी कुछ-न-कुछ एकवाक्यता करनी चाहिये, परन्तु अद्वैतवादको मुख्य समझने और जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होने लगता है, तब उतनेही समयके लिये मायिक द्वैतकी स्थिति प्राप्त हुई जाती है इस प्रकार मान लेनेमे सब वचनोकी जैसी व्यवस्था लगती है, वैसी व्यवस्था द्वैत पक्षको प्रधान माननेसे लगती नही है। उदाहरण लीजिये, 'तत् त्वमसि' इस वाक्यके पदोका अन्वय द्वैती मतानुसार कभीभी ठीक नही लगता। तो क्या इस अडचनको द्वैतमतवालोंने समझही नही पाया ? नही, समझा जरूर है। तभी तो वे उक्त महावाक्यका जैसा-तैसा अर्थ लगा कर अपने मनको समझा लेते है। 'तत्त्वमसि' को द्वैतवाले इस प्रकार सुलझाते है – तत्त्वम् = तस्य त्वम् – अर्थात् उसका तू है, कि जो कोई तुझसे भिन्न है, तू वही नही है। परन्तु जिसको सस्कृतका थोडा-साभी ज्ञान है, और जिसकी बुद्धि आग्रहमें बँध नही गई है वह तुरत ताड लेगा, कि यह खीचातानीका अर्थ ठीक नही है। कैवल्य उपनिषद् (कै १ १६)मे, तो "स त्वमेव त्वमेव तत्" इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्'को उलट-पलट कर उक्त महावाक्यके अद्वैतप्रधान

होनेकाही सिद्धान्त दर्शाया है। अब और क्या बतलावे? समस्त उपनिषदोका बहुतसा भाग निकाल डाले बिना अथवा जान-बूझकर उसपर दुर्लक्ष किये बिना, उपनिषच्छास्त्रमें अद्वैतको छोड और कोई दूसरा रहस्य बतला देना सभवही नही है। परतु ये वाद तो ऐसे है, कि जिनका कोई ओर-छोरही नही, तो फिर यहाँ हम इनकी विशेष चर्चा क्यो करें? जिन्हें अद्वैतके अतिरिक्त अन्य मत रुचते हो, वे खुशीसे उन्हे स्वीकार कर ले। उन्हे रोकता कौन है। जिन उदार महात्माओंने उपनिषदोंमें अपना यह स्पष्ट विश्वास बतलाया है, कि "नेह नानास्ति किंचन" (बृ ४ ४ १९, कठ ४ ११) – इस सृष्टिमें किसीभी प्रकारकी अनेकता नही है, जो कुछ है, वह मूलमें सब 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा ६ २ २) है, और जिन्होंने आगे यह वर्णन किया है, कि "मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" – जिसे इस जगत्में नानात्व दीख पडता है, वह जन्ममरणके चक्करमें फँसता है – हम नहीं समझते, कि उन महात्माओका आशय अद्वैतको छोड औरभी किसी अन्य प्रकारका हो सकेगा। परतु अनेक वैदिक शाखाओंके अनेक उपनिषद् होनेके कारण जैसे इस शकाको थोडीसी गुजाइश मिल जाती है, कि कुल उपनिषदोका तात्पर्य क्या एकही है? वैसा हाल गीताका नही है। जब गीता एकही ग्रथ है, तब प्रकटही है, कि उसमें एकही प्रकारके वेदान्तका प्रतिपादन होना चाहिये। और जो विचारने लगें, कि वह कौन-सा वेदान्त है? तो यह अद्वैतप्रधान सिद्धान्त करना पडता है, कि "सब भूतोंका नाश हो जानेपरभी जो एकही स्थिर रहता है" (गीता ८. २०), वही यथार्थमें सत्य है। एव देह और विश्वमें मिलकर सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है (गीता १३ ३१)। और तो क्या, आत्मौपम्यबुद्धिका जो नीतितत्त्व गीतामें बतलाया गया है, उसकी पूरी पूरी उपपत्तिभी अद्वैतको छोड दूसरे प्रकारकी वेदान्त दृष्टिसे नही लगती है। इससे कोई हमारा यह आशय न समझ लें, कि श्रीशकराचार्यके समयमें अथवा उनके पश्चात् अद्वैतमतका पोषण करनेवाली जितनी युक्तियाँ निकली हैं, अथवा प्रमाण निकले है, वे सभी यच्चयावत् गीतामें प्रतिपादित है। यहतो हमभी मानते है, कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत प्रभृति सप्रदायोकी उत्पत्ति होनेसे पहलेही गीता बन चुकी है, और इसी कारणसे गीतामें किसीभी विशेष सप्रदायके युक्तिवादोका समावेश होना सभव नही है। किंतु इस समतिसे यह कहनेमें कोईभी बाधा नही आती, कि गीताका वेदान्त मामूली तौरपर शाकर-सप्रदायके ज्ञानानुसार अद्वैती है – द्वैती नही। इस प्रकार गीता और शाकर-सप्रदायमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सामान्य मेल है सही, पर हमारा मत है, कि आचारदृष्टिसे गीता कर्मसन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको अधिक महत्त्व देती है। इस कारण गीताधर्म शाकरसप्रदायसे भिन्न हो गया है। इसका विचार आगे किया जावेगा। प्रस्तुत विषय तत्त्वज्ञानसबधी है। इसलिये यहाँ इतनाही कहना है, कि गीता और शाकरसप्रदायमें – दोनोमें – यह तत्त्वज्ञान एकही प्रकारका

है, अर्थात् अद्वैती है। अन्य साम्प्रदायिक भाष्योंकी अपेक्षा गीताके शांकरभाष्यका जो अधिक महत्त्व हो गया है, उसका कारणभी यही है।

ज्ञानदृष्टिसे सारे नामरूपोंको एक ओर निकाल देने पर एकही अविकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करनेपर अद्वैत सिद्धान्तकाही स्वीकार करना पडता है। जब इतना सिद्ध हो चुका तब अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे यह विवेचन करना आवश्यक है, कि इस एक निर्गुण, अव्यक्त द्रव्यसे नाना प्रकारकी व्यक्त सगुण सृष्टि क्योंकर उपजी ? पहले बतला आये हैं, कि सांख्योंने तो निर्गुण पुरुषके साथही त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण प्रकृतिको अनादि और स्वतन्त्र मान कर, इस प्रश्नको हल कर लिया है। किंतु यदि इस प्रकार सगुण प्रकृतिको स्वतन्त्र मान ले, तो जगत्के मूलतत्त्व दो हुए जाते हैं। और ऐसा करनेसे उस अद्वैत मतमें बाधा आती है, कि जिसका उक्त अनेक कारणोंके द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है। यदि सगुण प्रकृतिको स्वतन्त्र नही मानते हैं, तो यह बतलाते नही बनता, कि एकही मूल निर्गुण द्रव्यसे नानाविध सगुण सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई। क्योंकि सत्कार्यवादका सिद्धान्त यह है, कि निर्गुणसे सगुण – अर्थात् जो कुछभी नही है, उससे और कुछ – का उपजना शक्य नही है, और यह सिद्धान्त अद्वैतवादियोंकोभी मान्य हो चुका है। इसलिये दोनोंही ओर अडचन है। फिर यह उलझन सुलझे कैसे ? विना अद्वैतको छोडेही निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति होनेका मार्ग बतलाना चाहिये, और सत्कार्यवादकी दृष्टिसे वह तो रुका हुआ-साही है। कठिन पेंच है – ऐसीवैसी उलझन नही है। और तो क्या ? कुछ लोगोंकी समझमें अद्वैत सिद्धान्तके माननेमें यही एसी अडचन है, जोकि सबसे बड़ी पेचीदा और कठिन है। इसी अडचनसे छटककर वे द्वैतको अंगीकार करने लिया करते हैं। किंतु अद्वैती पण्डितोंने अपनी बुद्धिके द्वारा इस विकट अडचनके फंदेसे छूटनेके लियेभी एक युक्ति-संगत बेजोड मार्ग ढूंढ लिया है। वे कहते हैं, कि सत्कार्यवाद अथवा गुणपरिणाम-वादके सिद्धान्तका उपयोग तब होता है, जब कार्य और कारण, दोनो एकही श्रेणीके अथवा एकही वर्गके होते हैं, और इस कारण अद्वैती वेदान्तीभी इसे स्वीकार कर लेंगे, कि सत्य और निर्गुण ब्रह्मसे सत्य और सगुण मायाका उत्पन्न होना शक्य नही हैं। परंतु यह स्वीकृति उस समयकी है, जब कि दोनो पदार्थ सत्य हों, पर जहाँ एक पदार्थ सत्य है, और दूसरा उसका सिर्फ दृश्य है, वहाँ सत्कार्य-वादका उपयोग नही होता। सांख्यमतवाले 'पुरुषके समानही प्रकृति'को स्वतन्त्र और सत्य पदार्थ मानते हैं। यही कारण है, जो वे निर्गुण पुरुषसे सगुण प्रकृतिकी उत्पत्तिका विवेचन सत्कार्यवादके अनुसार कर नही सकते। किंतु अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त यह है, कि माया अनादि बनी रहे, फिरभी वह सत्य और स्वतन्त्र नही है। वह तो गीताके कथनानुसार 'मोह', 'अज्ञान', अथवा "इंद्रियोंको दिखाई देनेवाला दृश्य" है। इसलिये सत्कार्यवादसे जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था, उसका

उपयोग अद्वैत सिद्धान्तके लिये कियाही नही जा सकता। बापसे लडका पैदा हो, तो कहेंगे, कि वह बापके गुणपरिणामसे हुआ है। परतु पिता एकही व्यक्ति है, और जब कभी वह बच्चेका, कभी जवानका और कभी बुड्ढेका स्वांग बनाये हुए दीख पडता है, तब हम सदैव देखा करते है, कि इस व्यक्तिमें और इसके अनेक स्वांगोमें गुणपरिणामरूपी कार्यकारणभाव नही रहता। ऐसेही जब निश्चित हो जाता है, कि सूर्य एकही है, तब पानीमें आंखोको दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिबको हम भ्रम कह देते है, और उसे गुणपरिणामसे उपजा हुआ दूसरा सूर्य नही मानते। इसी प्रकार दूरबीनसे किसी ग्रहके यथार्थ स्वरूपका निश्चय हो जानेपर, ज्योति शास्त्र स्पष्ट कह देता है, कि उस ग्रहका जो स्वरूप निरी आंखोसे दीख पडता है, वह दृष्टिकी कमजोरी है और उसके अत्यत दूरीपर रहनेके कारण निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है। इसमे प्रकट हो गया, कि कोईभी बात नेत्र आदि इद्रियोको प्रत्यक्ष गोचर हो जानेसेही स्वतत्र और सत्य वस्तु मानी नही जा सकती। फिर इसी न्यायका अध्यात्मशास्त्रने उपयोग करके यदि यह कहे तो क्या हानि है, कि ज्ञानचक्षुरूप दूरबीनसे जिसका निश्चय कर लिया गया है, वह निर्गुण परब्रह्मही सत्य है। और ज्ञानहीन चर्मचक्षुओको जो नामरूप गोचर होता है, वह इस परब्रह्मका कार्य नही है – वह तो इद्रियोकी दुर्बलतासे उपजा हुआ निरा भ्रम अर्थात् मोहात्मक दृश्य है। यहांपर यह आक्षेपही नही फबता, कि निर्गुणसे सगुण उत्पन्न नही हो सकता। क्योकि दोनो वस्तुएँ एकही श्रेणीकी नही है। इनमें एक तो सत्य है, और दूसरी है सिर्फ़ दृश्य। एव अनुभव यह है, कि मूलमें एकही सत्य वस्तु रहने-परभी देखनेवाले पुरुषके दृष्टिभेदसे, अज्ञानसे अथवा नज़रबदीसे उस एकही वस्तुके दृश्य बदलते रहते है। उदाहरणार्थ, कानोको सुनाई देनेवाले शब्द और आंखोंसे दिखाई देनेवाले रग – इन्ही दो गुणोको लीजिये। इनमेंसे कानोको जो शब्द या आवाज़ सुनाई देती है, उसकी सूक्ष्मतासे जाँच करके आधिभौतिकशास्त्रियोंने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है, कि 'शब्द' या तो वायुकी लहरें हैं या गति है। और अब सूक्ष्म शोध करनेसे निश्चय हो गया है, कि आंखोसे दीख पडनेवाले लाल, हरे, पीले, आदि रगभी मूलमें एकही सूर्यप्रकाशके विकार है, और सूर्यप्रकाश स्वय एक प्रकारकी गतिही है। जब कि 'गति' मूलमें एकही है, पर कान उसे शब्द और आंखें उसे रग बतलाती है, तब यदि इसी न्यायका उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीतिसे सारी इद्रियोंके लिये किया जावे, तो सभी नामरूपोकी उत्पत्तिके सबधमें सत्कार्यवादकी सहायताके विना ठीकही ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है, कि किसीभी एक अविकार्य वस्तुपर मनुष्यकी भिन्न भिन्न इद्रियां अपनी अपनी ओरसे शब्दरूप आदि अनेक नामरूपात्मक गुणोका 'अध्यारोप' करके नाना प्रकारके दृश्य उपजाया करती है। परतु यह आवश्यक नही है, कि मूलकी एकही वस्तुमें ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नामरूप हो ही। और इसी अर्थको सिद्ध करनेके लिये

रस्सीमें सर्पका अथवा सीपमें चाँदीका भ्रम होना, या आँखमें उँगली डालनेसे एकके दो पदार्थ दीख पडना अथवा अनेक रंगोंके चश्मे लगानेपर एकही पदार्थका रंग-बिरंगा दीख पडना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्तशास्त्रमें दिये जाते हैं। मनुष्यकी इंद्रियां उससे कभी छूट नही जाती हैं। इस कारण जगत्‌के नामरूप अथवा गुण उसके नयनपथमें गोचर तो अवश्यही होंगे, परंतु यह नही कहा जा सकता, कि इंद्रियवान् मनुष्यकी दृष्टिसे जगत्‌का जो सापेक्ष स्वरूप दीख पडता है, वही इस जगत्‌के मूलका अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है। मनुष्यकी वर्तमान इंद्रियोंकी अपेक्षा यदि उसे न्यूनाधिक इंद्रियां प्राप्त हो जावें, तो यह सृष्टि उसे जैसे आजकल दीख पडती है, वैसेही न दीखती रहेगी। और यदि यह ठीक है, तो जब कोई पूछे, कि द्रष्टाकी – देखनेवाले मनुष्यकी – इंद्रियोंकी अपेक्षा न करके यह बतलाओ, कि सृष्टिके मूलमें जो तत्त्व है, उसका नित्य और सत्य स्वरूप क्या है? तब यही उत्तर देना पडता है, कि वह मूलतत्त्व है तो निर्गुण, परंतु मनुष्यको सगुण दिखलाई देता है – यह मनुष्यकी इंद्रियोंका धर्म है, न कि मूलवस्तुका गुण। आधिभौतिकशास्त्रमें उन्ही बातोंकी जांच होती है, कि जो इंद्रियोंको गोचर हुआ करती हैं। और यही कारण है, कि वहां इस ढंगके प्रश्न होतेही नही। परंतु मनुष्य और उसकी इंद्रियोंके नष्टप्राय हो जानेसे यह नही कह सकते, कि ईश्वरभी नष्ट हो जाता है, अथवा मनुष्यको वह अमुक प्रकारका दीख पडता है। इसलिये उसका त्रिकालाबाधित नित्य और निरपेक्ष स्वरूपभी वही होना चाहिये। अतएव जिस अध्यात्मशास्त्रमें यह विचार करना होता है, कि जगत्‌के मूलमें वर्तमान सत्यका मूलस्वरूप क्या है, उसमें मानवी इंद्रियोंकी सापेक्षदृष्टि छोड देनी पडती है, और केवल ज्ञानदृष्टिसे अर्थात् जितना हो सके उतना बुद्धिसेही अंतिम विचार करना पडता है। ऐसा करनेसे इंद्रियोंको गोचर होनेवाले सभी गुण आपही आप छूट जाते हैं। और यह सिद्ध हो जाता है, कि, ब्रह्मका नित्य स्वरूप इंद्रियातीत अर्थात् निर्गुण एवं सबसे श्रेष्ठ है। परंतु अब प्रश्न होता है, कि जो निर्गुण है, उसका वर्णन करेगाही कौन? और किस प्रकार करेगा? इसीलिये अद्वैत वेदान्तमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि परब्रह्मका अंतिम अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप निर्गुण तो हैही, पर अनिर्वाच्यभी है, और इसी निर्गुण स्वरूपमें मनुष्यको अपनी इंद्रियोंके योगसे सगुण दृश्यकी झलक दीख पडती है। अब यहां प्रश्न होता है, कि निर्गुणको सगुण करनेकी यह शक्ति इंद्रियोंने पा कहांसे ली? इसपर अद्वैतवेदान्तशास्त्रका यह उत्तर है कि मानवी ज्ञानकी गति यहींतक है। इसके आगे उसकी गुजर नही। इसलिये यह इंद्रियोंका अज्ञान है, और निर्गुण परब्रह्ममें सगुण जगत्‌का दृश्य दीखना यह उसी अज्ञानका परिणाम है। अथवा यहां इतनाही निश्चित अनुमान करके निश्चित हो जाना पडता है, कि इंद्रियांभी परमेश्वरकी सृष्टिकीही हैं। इस कारण यह सगुण सृष्टि (प्रकृति) निर्गुण परमेश्वरकीही एक 'दैवी माया' है (गीता ७ १४)। पाठकोंकी समझमें अब गीताके

इस वर्णनका तत्त्व आ जावेगा, कि केवल इंद्रियोंसे देखनेवाले अप्रबुद्ध लोगोंको परमेश्वर व्यक्त और सगुण दीख पडे तोभी उसका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण है और उसको ज्ञानदृष्टिसे जाननेमेंही ज्ञानकी परमावधि है (गीता ७ १४, २४, २५)। इस प्रकार निर्णय तो कर दिया, कि परमेश्वर मूलमें निर्गुण है, और मनुष्यकी इंद्रियोंको उसीमें सगुण सृष्टिका विविध दृश्य दीख पडता है, फिरभी इस बातका थोडा-सा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है, कि उक्त सिद्धान्तमें निर्गुण शब्दका अर्थ क्या समझा जावे। यह सच है, कि हवाकी लहरोंपर शब्दरूप आदि गुणोंका अथवा सीपपर चांदीका जब हमारी इंद्रियां अध्यारोप करती हैं, तब हवाकी लहरोंमें शब्दरूप आदिके अथवा सीपमें चांदीके गुण नही होते। परंतु यद्यपि उनमें अध्यारोपित गुण न हो; तथापि यह नही कहा जा सकता कि उनमे भिन्न गुण, मूल पदार्थोंमें होंगेही नहीं। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि यद्यपि सीपमें चांदीके गुण नहीं है, तोभी चांदीके गुणोंके अतिरिक्त और दूसरे गुण उसमें रहते होंगेही। इसीसे अब यहां एक और शंका होती है – कि इंद्रियोंने अपने अज्ञानसे मूलब्रह्मपर जिन गुणोंका अध्यारोप किया था, वे गुण ब्रह्ममें नही है – इस प्रकार न होंगे तो क्या और दूसरे गुण परब्रह्ममें न होंगे? यदि मान लो, कि यदि कहे, ता फिर वह निर्गुण कहां रहा? किंतु कुछ और अधिक सूक्ष्म विचार करनेसे ज्ञात होगा, कि यदि मूल ब्रह्ममें इंद्रियोंके द्वारा अध्यारोपित गुणोंके अतिरिक्त और दूसरे गुण होभी, तो हम उन्हें मालूम कैसे कर सकेंगे? क्योंकि गुणोंको मनुष्य अपनी इंद्रियोंसेही तो जानता है, और जो गुण इंद्रियोंको अगोचर है, वे जानेही नही जाते। सारांश, इंद्रियोंके द्वारा अध्यारोपित गुणोंके अतिरिक्त परब्रह्ममें यदि और कुछ दूसरे गुण हो, तो उनको जान लेना हमारी सामर्थ्यके बाहर है, और जिन गुणोंको जान लेना हमारे काबूमें नही, उनको परब्रह्ममें माननाभी न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे योग्य नही है। अतएव गुण शब्दका "मनुष्यको ज्ञात होनेवाले गुण" अर्थ करके वेदान्ती लोग सिद्धान्त किया करते है, कि ब्रह्म 'निर्गुण' है। न तो अद्वैत वेदान्तही यह कहता है, और न कोई दूसराभी यह कहेगा, कि मूल परब्रह्म-रूपमे ऐसा गुण या ऐसी शक्ति भरीही नही होगी, कि जो मनुष्यके लिये अतर्क्य है, बल्कि यह तो पहलेही बतला दिया है, कि वेदान्ती लोगभी इंद्रियोंके उक्त अज्ञान अथवा मायाको उसी मूल परब्रह्मकी एक अतर्क्य शक्ति कहा करते हैं।

त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु नही है, किंतु एकरूप निर्गुण ब्रह्मपरही मनुष्यकी इंद्रियां अज्ञानसे सगुण दृश्योंका अध्यारोप किया करती है। इसी मतको 'विवर्तवाद' कहते है। अद्वैत वेदान्तके अनुसार यह उपपत्ति इस बातकी हुई, कि जब निर्गुण ब्रह्म एकमात्रही मूलतत्त्व है, तब नाना प्रकारका सगुण जगत् पहले दिखाई कैसे देने लगा? कणादप्रणीत न्यायशास्त्रमें असंख्य परमाणु जगतके मूलकारण माने गये हैं, और नैयायिक इन परमाणुओंको सत्य मानते हैं।

इसलिये उन्होंने निश्चय किया है, कि जहाँ इन असख्य परमाणुओका सयोग होने लगा, वहाँ सृष्टिके अनेक पदार्थ वनने लगते हैं। परमाणुओंके सयोगका आरभ होनेपर, इस मतसे सृष्टिका निर्माण होता है। इसलिये इसको 'आरभवाद' कहते हैं। परतु नैयायिकोंके असख्य परमाणुओंके मतको साख्यमार्गवाले नही मानते। वे कहते हैं, कि जड सृष्टिका मूल कारण "एकरूप, सत्य और त्रिगुणात्मक प्रकृतिही" है। एव इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिके गुणोंके विकाससे अथवा परिणामसे व्यक्त सृष्टि वनती है। इस मतको 'गुणपरिणामवाद' कहते हैं। क्योकि इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है, कि एक मूल सगुण प्रकृतिके गुणविकाससेही सारी व्यक्त सृष्टि पैदा हुई है। किंतु इन दोनो वादोंको अद्वैती वेदान्ती स्वीकार नही करते। परमाणु असख्य हैं, इसलिये अद्वैत मतके अनुसार वे जगतका मूल हो नही सकते, और रह गई प्रकृति। सो यद्यपि वह एक हो, तोभी उसके पुरुषसे भिन्न और स्वतन्त्र होनेके कारण अद्वैत सिद्धान्तके यह द्वैतभी विरुद्ध हैं। परतु इस प्रकार इन दोनो वादोंको त्याग देनेसे इस वातकी कोई न कोई उपपत्ति देनी होगी, कि एक निर्गुण ब्रह्मसे सगुण सृष्टि कैसे उपजी है। क्योकि, सत्कार्यवादके अनुसार निर्गुणसे सगुण उत्पन्न हो नही सकता। इसपर वेदान्ती कहते हैं, कि सत्कार्यवादके इस सिद्धान्तका उपयोग वही होता है, जहाँ कार्य और कारण दोनो वस्तुएँ सत्य हो, परतु जहाँ मूल वस्तु एकही है, और जहाँ उसके भिन्न भिन्न दृश्यभी पलटते हैं, वहाँ इस न्यायका उपयोग नही होता। क्योकि हम सदैव देखते हैं, कि एकही वस्तुके भिन्न भिन्न दृश्योका दीख पडना उस वस्तुका धर्म नही है, किंतु द्रष्टा – देखनेवाले पुरुषके – दृष्टिभेदके कारण ये भिन्न भिन्न दृश्य उत्पन्न हो सकते है।* इसी न्यायका उपयोग निर्गुण ब्रह्म और सगुण जगतके लिये करनेपर कहेंगे, कि ब्रह्म तो निर्गुण है, पर मनुष्यके इद्रियधर्मके कारण उसीमें सगुणत्वकी झलक उत्पन्न हो जाती है। यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमे यह मानते हैं, कि एकही मूल सत्य द्रव्यपर अनेक असत्य अर्थात् सदा वदलते रहनेवाले दृश्योका अध्यारोप होता है, और गुणपरिणामवादमे पहलेसेही दो सत्य द्रव्य मान लिये जाते हैं, जिनमेंसे एकके गुणोका विकास होकर जगतकी नाना गुणयुक्त अन्यान्य वस्तुएँ उपजती रहती हैं। रस्सीमे सर्पका भास होना विवर्त है, और नारियलकी रेशोंसे रस्सी वन जाना अथवा दूधमे दही वन जाना गुणपरिणाम है। इसी कारण 'वेदान्त-सार' नामक ग्रथकी एक आवृत्तिमे इन दोनो वादोके लक्षण इस प्रकार वतलाये गये है –

---

* अग्रेजीमें इसी अर्थको व्यक्त करना हो, तो यो कहेंगे – "appearances are the results of subjective conditions, *viz* the senses of the observer and not of the thing itself"

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभाव परिणाम उदीरित. ।
अतात्त्विकोऽन्यथभावो विवर्त'स उदीरित. ।।

" किसी मूल वस्तुसे जब तात्त्विक अर्थात् सचमुचही दूसरे प्रकारकी वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते है। और जब ऐसा न होकर मूलवस्तुही कुछ-की-कुछ (अतात्त्विक) भासने लगती है, तब उसे विवर्त कहते है " (वे सा २१)। आरभवाद नैयायिकोका है, गुणपरिणामवाद साम्योका है और विवर्तवाद अद्वैती वेदान्तियोका है। अद्वैती वेदान्ती परमाणु या प्रकृति इन दोनो सगुण वस्तुओको निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न और स्वतन्त्र नही मानते, परन्तु फिर यह आक्षेप होता है, कि सत्कार्य-वादके अनुसार निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति होना असभव है। इस आक्षेपको दूर करनेके लियेही ही विवर्तवाद निकला है। परन्तु इसीसे कुछ लोग जो यह समझ बैठे है, कि वेदान्ती लोग गुणपरिणामवादका कभी स्वीकार नही करते है, अथवा आगे कभी न करेंगे, वह उनकी भूल है। अद्वैत मतपर साख्यमतवालोका अथवा अन्यान्य द्वैतमत-वालोकाभी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है, कि निर्गुण ब्रह्मसे सगुण प्रकृतिका अर्थात् मायाका उद्‌गम होही नही सकता, सो वह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नही है। विवर्त-वादका मुख्य उद्देश्य इतनाही दिखला देना है, कि एकही निर्गुण ब्रह्ममे मायाके अनेक दृश्योका हमारी इद्रियोको दीख पडना सभव है। वह उद्देश्य सफल हो जानेपर — अर्थात् जहाँ विवर्तवादसे यह सिद्ध हुआ, कि एक निर्गुण परब्रह्ममेंही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृतिके दृश्यका दीख पडना शक्य है, वहाँ — वेदान्तशास्त्रको यह स्वीकार करनेमें कोईभी हानि नही, कि इस प्रकृतिका अगला विस्तार गुणपरिणामसे हुआ है। अद्वैत वेदान्तका मुख्य कथन यही है, कि स्वय मूल प्रकृति एक दृश्य है — सत्य नही है। जहाँ प्रकृतिका दृश्य एक बार दिखाई देने लगा, वहाँ फिर इन दृश्योसे आगे चल-कर निकलनेवाले दूसरे दृश्योको स्वतन्त्र न मानकर, अद्वैत वेदान्तको यह मान लेनेमें कुछभी आपत्ति नही है कि एक दृश्यके गुणोसे दूसरे दृश्यके गुण और दूसरेसे तीसरे आदिके इस प्रकार नानागुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते है। अतएव यद्यपि गीतामे भगवानने बतलाया है, कि " यह प्रकृति मेरीही माया है " (गीता ७ १४, ४ ६), फिरभी गीतामेंही यह कह दिया है, कि ईश्वरके द्वारा अधिष्ठित (गीता ९ १०) इस प्रकृतिका अगला विस्तार " गुणा गुणेषु वर्तन्ते " (गीता ३ २८, १४ २३) इस न्यायसेही होता रहता है। इससे ज्ञात होता है, कि विवर्तवादके अनुसार मूल निर्गुण परब्रह्ममें एक बार मायाका दृश्य उत्पन्न हो चुकनेपर इस मायिक दृश्यकी अर्थात् प्रकृतिके अगले विस्तारकी — उपपत्तिके लिये गुणोत्कर्षका तत्त्व गीताकोभी मान्य हो चुका है। जब समूचे दृश्य जगतकोही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तब यह कहनेकी कोई आवश्यकता नही है, कि इन दृश्योके अन्याय रूपोंके लिये गुणो-त्कर्षके जैसे कुछ नियम होनेही नही चाहिये। वेदान्तियोको यह अस्वीकार नही है, कि मायात्मक दृश्यका विस्तारभी नियमबद्धही रहता है। उनका तो इतनाही कहना

है, कि मूल प्रकृतिके समान ये नियमभी मायिकही हैं, और परमेश्वर इन सब मायिक नियमोंका अधिपति है। वह इनसे परे है, और उसकी सत्तासेही इन नियमोंको नियमत्व अर्थात् नित्यता प्राप्त हो गई है। दृश्यरूपी सगुण अतएव विनाशी प्रकृतिमें ऐसे नियम बना देनेकी सामर्थ्य नहीं रह सकती, कि जो त्रिकालमेंभी अबाधित रहे।

यहांतक जो विवेचन किया गया है, उससे ज्ञात होगा, कि जगत्, जीव और परमेश्वर – अथवा अध्यात्मशास्त्रकी परिभाषाके अनुसार माया (अर्थात् मायासे उत्पन्न किया हुआ जगत्), आत्मा और परब्रह्मका स्वरूप क्या है? एव इनका परस्पर-सबध क्या है? अध्यात्मदृष्टिसे जगत्की सभी वस्तुओंके दो वर्ग होते हैं, 'नामरूप' और नामरूपोंसे आच्छादित 'नित्य तत्त्व'। इनमेंसे नामरूपोंकोही सगुण माया अथवा प्रकृति कहते हैं। परतु नामरूपोंको निकाल डालनेपर जो 'नित्य द्रव्य' बच रहता है, वह निर्गुणही रहना चाहिये। क्योंकि कोईभी गुण बिना नामरूपोंके रह नहीं सकता। यह नित्य और अव्यक्त तत्त्वही परब्रह्म है, और मनुष्यकी दुर्बल इद्रियोंको इस निर्गुण परब्रह्ममेंही सगुण माया उपजी हुई दीख पडती है। यह माया सत्य पदार्थ नही है। परब्रह्मही सत्य अर्थात् त्रिकालमेंभी अबाधित और कभीभी न पलटनेवाली वस्तु है। दृश्य सृष्टिके नामरूप और उनसे आच्छादित परब्रह्मके स्वरूपसबधी ये सिद्धान्त हुए, अब इसी न्यायसे मनुष्यका विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मनुष्यकी देह और इद्रियां दृश्य सृष्टिके अन्यान्य पदार्थोंके समान नामरूपात्मक अर्थात् अनित्य मायाके वर्गकी हैं, और इन देहेद्रियोंसे ढँका हुआ आत्मा नित्यस्वरूपी परब्रह्मकी श्रेणीका है, अथवा ब्रह्म और आत्मा एकही हैं। इस अर्थसे बाह्य सृष्टिको स्वतत्र, सत्य पदार्थ न माननेवाले अद्वैत-सिद्धान्तका और बौद्ध-सिद्धान्तका भेद अब पाठकोंके ध्यानमें आही गया होगा। विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं, कि बाह्यसृष्टिही नही है। वे ज्ञानमात्रकोही सत्य मानते हैं। और वेदान्तशास्त्री बाह्य सृष्टिके नित्य बदलते रहनेवाले नामरूपकोही असत्य मानकर यह सिद्धान्त करते हैं, कि इस नामरूपके मूलमें और मनुष्यकी देहमें – दोनोंमें – एकही आत्मरूपी, नित्य द्रव्य भरा हुआ है। एव यह एकरूप आत्मतत्त्वही अंतिम सत्य है। सांख्यमतवालोंने 'अविभक्त विभक्तेषु'के न्यायसे सृष्ट पदार्थोंकी अनेकताके एकीकरणको जड प्रकृति भरके लियेही स्वीकार कर लिया है। परतु वेदान्तियोंने सत्कार्यवादकी बाधाको दूर करके निश्चय किया है, कि जो "पिंडमें है वही ब्रह्मांडमें है।" इस कारण अब सांख्योंके असंख्य पुरुषोंका और प्रकृतिका एकही परमात्मामें अद्वैतसे या अविभागसे समावेश हो गया है। शुद्ध आधिभौतिक पडित हेकेल अद्वैती है सही, पर वह अकेली जड प्रकृतिमेंही चैतन्यकाभी सग्रह करता है। और वेदान्त, जडको प्रधानता न देकर यह सिद्धान्त स्थिर करता है, कि दिक्कालोंसे अमर्यादित, अमृत, और स्वतत्र चिद्रूपी परब्रह्मही सारी सृष्टिका मूल है। हेकेलके जड अद्वैतमें और अध्यात्मशास्त्रके अद्वैतमें यह अत्यंत

महत्त्वपूर्ण भेद है। अद्वैत वेदान्तके येही सिद्धान्त गीतामें है, और एक पुराने कविने समग्र अद्वैत वेदान्तके सारका वर्णन यो किया है –

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

"करोडो ग्रंथोका सार आधे श्लोकमें बतलाता हूँ – (१) ब्रह्म सत्य है, (२) जगत् अर्थात् जगतके सभी नामरूप मिथ्या अथवा नाशवान् हैं, और (३) मनुष्यका आत्मा एवं ब्रह्म मूलमें एकही है – दो नही।" इस श्लोकका 'मिथ्या' शब्द यदि किसीके कानोमें चुभता हो, तो वह बृहदारण्यक उपनिषदके अनुसार इसके तीसरे चरण – "ब्रह्मामृतं जगत्सत्यं"का – पाठांतर खुशीसे करले, परंतु पहलेही बतला चुके है, कि इसमे भावार्थ नही बदलता है। फिरभी कुछ वेदान्ती इस बातको लेकर निरर्थक झगडते रहते है, कि समूचे दृश्य जगत्के अदृश्य किंतु नित्य परब्रह्मरूपी मूल तत्त्वको सत् (सत्य) कहे या असत् (असत्य-अनृत)। अतएव इसका यहां थोडा-सा स्पष्टीकरण किये देते है कि इस विवादका सच्चा बीज (जड) क्या है। सत् या सत्य इस एकही शब्दके दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं, इसी कारण यह झगडा मचा हुआ है। और यदि ध्यानसे देखा जावे, कि प्रत्येक पुरुष इस 'सत' शब्दका किस अर्थमे उपयोग करता है तो कुछभी गडबड नहीं रह जाती। क्योंकि यह भेद तो सभीको एक-सा मंजूर है, कि ब्रह्म अदृश्य होने परभी नित्य है, और नामरूपात्मक जगत् दृश्य होनेपरभी पल-पलमें बदलनेवाला है। इस सत् या सत्य शब्दका व्यावहारिक अर्थ है – (१) आंखोंके आगे अभी प्रत्यक्ष दीख पडनेवाला – अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले), और दूसरा अर्थ है – (२) वह अव्यक्त स्वरूप, जो आंखोसे भलेही न दीख पडे पर जो सदैव एक-सा रहता है। और जो कभी बदलता नही है। इनमेंसे पहला अर्थ जिनको संमत है, वे आंखोंसे दिखाई देनेवाले नामरूपात्मक जगतको सत्य कहते है, और परब्रह्मको इसके विरुद्ध अर्थमे अर्थात् आंखोसे न दीख पडनेवाला अतएव असत् अथवा असत्य कहते है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषदमें दृश्य सृष्टिके लिये 'सत्' और जो दृश्य सृष्टिसे परे है, उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आंखोंको न दीख पडनेवाला) शब्दोका उपयोग करके ब्रह्मका वर्णन इस प्रकार किया है, कि जो कुछ मूलमें या आरंभमें था, वही द्रव्य "सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।" (तै. २. ६) – सत् (आंखोसे दीख पडनेवाला) और त्यत् (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य साधार और निराधार, ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय), सत्य और अनृत – इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्मको 'अनृत' कहनेसे अनृतका अर्थ झूठ या असत्य नही होता है, क्योंकि

आगे चलकर तैत्तिरीय उपनिषदमें ही कहा है, कि "यह अनृत, ब्रह्म जगतकी 'प्रतिष्ठा' अथवा आधार है। इसे और दूसरे आधारकी अपेक्षा नही है। एव जिसने इसको जान लिया, वह अभय हो गया" इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है, कि शब्दभेदके कारण भावार्थमें कुछ अतर नही होता है। ऐसेही अतमें कहा है, कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" – यह सारा जगत् पहले असत् (ब्रह्म) था, और ऋग्वेदके (१० १२९ ४) वर्णनके अनुसार आगे चलकर उसीसे सत् यानी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् निकला है (तै २ ७)। इससेभी स्पष्ट हो जाता है, कि यहाँ पर 'असत्' शब्दका प्रयोग "अव्यक्त अर्थात् आँखोसे न दीख पडनेवाले" के अर्थमेंही हुआ है, और वेदान्तसूत्रोमें (वे सू २. १ १७) में बादरायणाचार्यने उक्त वचनोका ऐसाही अर्थ किया है। किंतु जिन लोगोको 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्दका यह अर्थ – आँखोसे न दीख पडनेपरभी सदैव स्थिर रहनेवाला अथवा टिकाऊ – (ऊपर बतलाये हुए अर्थोमेंसे दूसरा अर्थ) समत है, वे उस अदृश्य परब्रह्मकोही सत् या सत्य कहते है, कि जो कभी नही बदलता, और नामरूपात्मक मायाको असत् यानी असत्य अर्थात् विनाशी कहते है। उदाहरणार्थ, छादोग्यमें वर्णन किया गया है, कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसत सज्जायेत" – पहले यह सारा जगत् सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी हैही नही, उससे सत् यानी जो विद्यमान् है – मौजूद है – कैसे उत्पन्न होगा (छा ६. २ १, २)। फिरभी छादोग्य उपनिषदमेंही इस परब्रह्मके लिये एक स्थानपर अव्यक्तके अर्थमें 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छा ३ १९ १)।* एकही परब्रह्मको भिन्न भिन्न समयो और अर्थोमें एक वार 'सत्', तो एक वार 'असत्', यो परस्पर-विरुद्ध नाम देनेकी यह गडबड – अर्थात् वाच्य अर्थके एकही होनेपरभी निरा शब्दवाद मचवानेमें सहायक – प्रणाली आगे चलकर रुक गई। और अतमें इतनीही एक परिभाषा स्थिर हो गई है, कि ब्रह्म सत् या सत्य यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है, और दृश्य सृष्टि असत् अर्थात् नाशवान् है। भगवद्गीतामें यही अतिम परिभाषा मानी गई है, और इसीके अनुसार दूसरे अध्यायमें (गीता २ १६–१८) कह दिया है, कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है। एव नामरूप असत् अर्थात् नाशवान् है, और वेदान्तसूत्रोकाभी ऐसाही मत है। फिरभी दृश्य सृष्टिको 'सत्' कहकर परब्रह्मको 'असत्' या 'त्यत्' (वह = परेका) कहनेकी तैत्तिरीयोपनिषदवाली उस पुरानी परिभाषाका नामो-निशाँ अबभी बिलकुल जाता नही रहा है। पुरानी परिभाषासे इतना भली भाँति

---

* अध्यात्मशास्त्रवाले अग्रेज ग्रथकारोमेभी इस विषयमें मतभेद है, कि (real) अर्थात् सत् शब्द जगत्के दृश्य (माया)के लिये उपयुक्त हो, अथवा वस्तुतत्त्व (ब्रह्म)के लिये। काट दृश्यको सत् (real) समझकर वस्तुतत्त्वका अविनाशी मानता है, पर हेकेल और ग्रीनप्रभृति दृश्यको असत् (unreal) समझकर वस्तुतत्त्वको सत् (real) कहते है।

स्पष्टीकरण हो जाता है, कि गीताके "ॐ तत् सत्" ब्रह्मनिर्देशका (गीता १७ २३) मूल अर्थ क्या रहा होगा। यह 'ॐ' गुढाक्षररूपी वैदिक मन्त्र है। उपनिषदोंमें इसका अनेक रीतियोसे व्याख्यान किया गया है (प्र ५, मा ८–१२, छा १ १)। 'तत्' यानी वह अथवा दृश्य सृष्टिसे परे, दूर स्थिर रहनेवाला, अनिर्वाच्य तत्त्व है, और 'सत्'का अर्थ है आँखोंके सामनेवाली दृश्य सृष्टि। इस सकल्पका अर्थ यह है कि ये तीनो मिलकर सब ब्रह्मही है। और इसी अर्थमें भगवानने गीतामे कहा है, कि 'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९ १९) – सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्य सृष्टि, दोनो मैंही हूँ। तथापि जब कि गीतामें कर्मयोगही प्रतिपाद्य है, तब सत्रहवे अध्यायके अतमें प्रतिपादन किया है, कि निम्न अर्थके इस ब्रह्मनिर्देशसेभी कर्मयोगका पूर्ण समर्थन होता है। 'ॐ तत्सत्'के 'सत्' शब्दका अर्थ लौकिक दृष्टिसे भला अर्थात् सद्वुद्धिसे किया हुआ अथवा वह कर्म है, कि जिसका अच्छा फल मिलता है, और तत्का अर्थ है इसके परेका या फलाशा छोडकर किया हुआ कर्म है। सकल्पमें जिसे 'सत्' कहा है, वह दृश्य सृष्टि यानी कर्मही है (अगला प्रकरण देखो)। अत इस ब्रह्मनिर्देशका यह कर्मप्रधान अर्थ मूल अर्थसे सहजही निष्पन्न होता है। ॐ तत्सत्, नेति नेति, सच्चिदानद और 'सत्यस्य सत्य'के अतिरिक्त औरभी कुछ ब्रह्मनिर्देश उपनिषदोंमें हैं, परतु उनको यहाँ इसलिये नही वतलाया, क्योकि गीताका अर्थ समझनेमें उनका उपयोग नही है।

जगत्, जीव और परमेश्वरके (परमात्मा) परस्पर सबधका इस प्रकार निर्णय हो जानेपर गीतामें भगवान्ने जो कहा है, कि "जीव मेराही 'अश' है" (गीता १५ ७) और "मैंही एक 'अश'से सारे जगतमें व्याप्त हूँ" (गीता १० ४२) – एव वादरायणाचार्यनेभी वेदान्तसूत्रोमें (वे सू २ ३ ४३, ४ ४ १९) मे यही वात कही है – अथवा पुरुषसूक्तमें जो "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि" यह वर्णन है, उसके 'पाद' या 'अश' शब्दके अर्थका निर्णयभी सहजही हो जाता है। परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव एकरूप और नामरूपरहित है। अतएव उसे काट नही सकते (अच्छेद्य), और उसमें विकारभी नही होता (अविकार्य), और इसलिये उसके अलग अलग विभाग या टुकडे नही हो सकते (गीता २ २५)। अतएव चारो ओर ठसाठस भरे हुए इस एकरूप परब्रह्मका और मनुष्यके शरीरमें निवास करनेवाले आत्माका भेद वतलानेके लिये यद्यपि व्यवहारमें ऐसा कहना पडता है, कि "शारीर आत्मा" परब्रह्मका ही 'अश' है, तथापि 'अश' या 'भाग' शब्दका अर्थ "काटकर अलग किया हुआ टुकडा" या "अनारके अनेक दानोमेंसे एक दाना" नही है, किंतु तात्त्विक दृष्टिसे उसका अर्थ यह समझना चाहिये, कि जैसे घरके भीतरका आकाश या घडे का आकाश (मठाकाश या घटाकाश) एकही सर्वव्यापी आकाशका 'अश'

या भाग है उसी प्रकार 'शारीर आत्मा' भी परब्रह्मका अंश है (अमृतबिन्दूपनिषद् १३)। सांख्यवादियोंकी प्रकृति और हेकेलके जडाद्वैतका जडाद्वैतमें माना गया एक-रूप वस्तुतत्त्व, येभी इसी प्रकार सत्य निर्गुण परमेश्वरकेही सगुण अर्थात् मर्यादित अंश हैं। अधिक क्या कहें ? आधिभौतिक शास्त्रकी प्रणालीसे तो यही मालूम होता है, कि जो जो व्यक्त या अव्यक्त मूल तत्त्व हो (फिर चाहे वह आकाशवत् कितनाभी व्यापक हो), वह सब स्थल और कालसे बद्ध, केवल नामरूप अतएव मर्यादित और नाशवान् है। यह बात सच है, कि उन तत्त्वोंकी व्यापकता भरके लिये उतनाही परब्रह्म उनसे आच्छादित है। परंतु परब्रह्म उन तत्त्वोंसे मर्यादित न होकर उन सबमें ओतप्रोत भरा हुआ है, और इसके अतिरिक्त न जाने वह और बाहर कितना बचा है, कि जिसका कुछ पता नहीं। परमेश्वरकी व्यापकता दृश्य सृष्टिके बाहर कितनी है, यह बतलानेके लिये यद्यपि 'त्रिपाद' शब्दका उपयोग पुरुषसूक्तमें किया गया है, तथापि उसका अर्थ 'अनंत'ही इष्ट है। वस्तुतः देखा जाय, तो देश और काल, माप और तोल या संख्या इत्यादि सब नामरूपकेही प्रकार हैं, और यह बतला चुके हैं, कि परब्रह्म इन सब नामरूपोंके परे है। इसीलिये उपनिषदोंमें ब्रह्मस्वरूपके ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि जिस नामरूपात्मक 'काल'से सब कुछ ग्रसित है, उस 'काल'कोभी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है वही परब्रह्म है (मैं ६.१५)। और " न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः " — परमेश्वरको प्रकाशित करने सूर्य, चंद्र, अग्नि इत्यादिकोंके समान कोई प्रकाशक साधन नहीं है, किंतु वह स्वयं प्रकाशित है — इत्यादि जो वर्णन उपनिषदोंमें और गीतामें हैं, उनकाभी अर्थ यही है (गीता १५.६, कठ ५.१५, श्वे ६.१४)। सूर्य-चंद्र-तारागण, सभी नामरूपात्मक विनाशी पदार्थ हैं। जिसे "ज्योतिषां ज्योतिः" (गीता १३.१७, बृह ४.४.१६) — तेजोंका तेज — कहते हैं, वह स्वयं-प्रकाश और ज्ञानमय ब्रह्म इन सबके परे अनंत भरा हुआ है। उसे दूसरे प्रकाशक पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं है, और उपनिषदोंमें तो स्पष्ट कहा है, कि सूर्य-चंद्र आदिको जो प्रकाश प्राप्त हैं, वहभी उसी स्वयंप्रकाश ब्रह्मसेही मिलता है (मुं २.२.१०)। आधिभौतिक शास्त्रोंकी युक्तियोंसे इंद्रियगोचर होनेवाला अति सूक्ष्म या अत्यंत दूरका कोई पदार्थ लीजिये — ये सब पदार्थ दिक्काल आदि नियमोंकी फंदमें बंधे हैं। अतएव उनका समावेश नामरूपात्मक 'जगत'हीमें होता है। सच्चा परमेश्वर उन सब पदार्थोंमें रह करभी उनसे निराला और उनसे कहीं अधिक व्यापक, एकरूप तथा नामरूपोंके जालसे स्वतंत्र है। अतएव केवल नामरूपोंकाही विचार करनेवाले आधिभौतिक शास्त्रोंकी युक्तियाँ या साधन वर्तमान दशासे चाहे सौगुने अधिक सूक्ष्म अथवा प्रगल्भ हो जावें, तथापि सृष्टिके मूल 'अमृत तत्त्व'-का उनसे पता लगना संभव नहीं। उस अविनाशी, अविकार्य और अमृत तत्त्वको केवल अध्यात्मशास्त्रके ज्ञानमार्गसेही ढूंढना चाहिये।

यहाँ तक अध्यात्मशास्त्रके जो मुख्य मुख्य सिद्धान्त वतलाये गये और शास्त्रीय रीतिसे उनकी जो सक्षिप्त उपपत्ति बतलाई गई, उनसे इन बातोका स्पष्टीकरण हो जायगा, कि परमेश्वरके सारे नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और और अनित्य है, तथा उनकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ क्यो है। उसमेंभी जो निर्गुण अर्थात् नामरूपरहित है, वही सबसे श्रेष्ठ क्यो है। और गीतामें यह क्यो बतलाया गया है, कि अज्ञानसे निर्गुणही सगुण-सा मालूम होता है। परन्तु इन सिद्धान्तोको केवल शब्दोमें ग्रथित करनेका कार्य कोईभी मनुष्य कर सकेगा, जिसे सुदैवसे हमारे समान चार अक्षरोका कुछ ज्ञान हो गया है – इसमे कुछ विशेपता ही है। विशेषता तो इस वातकी है, कि ये सारे सिद्धान्त वुद्धिमें आ जावे, मनमें प्रतिविवित हो जावे, हृदयमें जम जावे, और नस-नसमें समा जावे। इतना होनेपर परमेश्वरके स्वरूपकी इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एकही परब्रह्म सब प्राणियोमें व्याप्त है, और उसी भावसे सकटके समयभी सबके साथ पूरी समतासे वर्ताव करनेका अचल स्वभाव हो जावे। परतु इसके लिये अनेक पीढियोके सस्कारो की, इद्रियनिग्रहकी, दीर्घोद्योगकी, तथा ध्यान और उपासनाकी सहायतासे 'सर्वत्र एकही आत्मा 'का भाव जव किसी मनुष्यके सकट समयमेंभी उसके प्रत्येक कार्यमें स्वाभाविक रीतिसे स्पष्ट गोचर होने लगता है, तभी समझना चाहिये, कि उसका ब्रह्मज्ञान यथार्थमें परिपक्व हो गया है, और ऐसेही मनुष्यको मोक्ष प्राप्त होता है (गीता ५ १८–२०, ६ २१, २२) – यही अध्यात्मशास्त्रके उपर्युक्त सारे सिद्धान्तोका सारभूत और शिरोमणिभूत अतिम सिद्धान्त है। ऐसा आचरण जिस पुरुषमे दिखाई न दे, उसे कच्चा समझना चाहिये – अभी वह ब्रह्मज्ञानाग्निमें पूरा पक नही पाया है। सच्चे साधु और निरे वेदान्तशास्त्रियोमें जो भेद है, वह यही है। और इसी अभिप्रायसे भगवद्गीतामें ज्ञानका लक्षण बतलाते समय यह नही कहा, कि "वाह्य सृष्टिके मूलतत्त्वको केवल बुद्धिसे जान लेना" ज्ञान है। किंतु यह कहा है, कि सच्चा ज्ञान वही है, जिससे "अमानित्व, शाति, आत्मनिग्रह, समबुद्धि" इत्यादि उदात्त मनोवृत्तियाँ जागृत हो जावे, और जिससे चित्तकी पूरी शुद्धता आचरणमें सदैव व्यक्त हो जावे (गीता १३ ७–११)। जिसकी व्यवसायात्मका बुद्धि ज्ञानसे आत्मनिष्ठ (अर्थात् आत्म-अनात्म विचारमें स्थिर) हो जाती है, और जिसके मनको सर्वभूतात्मैक्यका पूरा परिचय हो जाता है, उस पुरुषकी वासनात्मक वुद्धिभी निस्सदेह शुद्धही होती है। परतु यह समझनेके लिये कि किसकी वुद्धि कैसी है, उसके आचरणके सिवा दूसरा वाहरी साधन नही है। अतएव केवल पुस्तकोंसे प्राप्त कोरे ज्ञानप्रसारके आधुनिक कालमें इस बातपर विशेष ध्यान रहे, कि 'ज्ञान' या 'समबुद्धि' शब्दमेंही शुद्ध (व्यवसायात्मका) वुद्धि, शुद्ध वासना (वासनात्मक वुद्धि) और शुद्ध आचरण, इन तीनो शुद्ध वातोका समावेश किया जाता है। ब्रह्मके विषयमें कोरा वाक्पाडित्य दिखलानेवाले और

उसे सुन कर 'वाह !' 'वाह !' कहते हुए सिर हिलानेवाले या किसी नाटकके दर्शकोंके समान "एक बार फिरसे – वन्स मोर" कहनेवाले बहुतेरे होंगे (गीता २ २९, क २ ७)। परतु जैसा कि ऊपर कह आये हैं – जो मनुष्य अतर्बाह्य शुद्ध अर्थात् साम्यशील हो गया हो – वही सच्चा आत्मनिष्ठ है, और उसीको मुक्ति मिलती है, न कि कोरे पडितको – चाहे वह कितनाही बहुश्रुत और बुद्धिमान् क्यो न हो ? उपनिषदोमें स्पष्ट कहा है, कि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" (क २ २२, मु ३ २ ३)। और इसी प्रकार तुकाराम महाराजभी कहते हैं – "यदि तू पडित होगा, तो तू पुराण-कथा कहेगा, परतु तू यह नही जान सकता, कि, "मैं कौन हूँ' (तु गा २५९९)। देखिये हमारा ज्ञान कितना सकुचित है। 'मुक्ति मिलती है" – ये शब्द सहजही हमारे मुखसे निकल पडते हैं। मानो यह मुक्ति आत्मासे कोई भिन्न वस्तु है ! ब्रह्म और आत्मा एक है – यह ज्ञान होनेके पहले द्रष्टा और दृश्य जगत्में भेद था सही, परतु हमारे अध्यात्मशास्त्रने निश्चित करके रखा है, कि जब ब्रह्मात्मैक्यका पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्ममें मिल जाता है और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्थाकोही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह ब्रह्मनिर्वाण किसीसे किसीको दिया नही जाता। यह किसी दूसरे स्थानसे आता नही या इसकी प्राप्तिके लिये किसी अन्य लोकमें जानेकीभी आवश्यकता नही। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण और उसी स्थानपर मोक्ष धरा हुआ है। क्योकि मोक्ष तो आत्माहीकी मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतत्र वस्तु या स्थल नही। शिवगीता (१३ ३२) में यह श्लोक है –

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृत.॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नही, कि जो किसी एक स्थानमें रखी हो, अथवा यहभी नही, कि उसकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेशको जाना पडे ! वास्तवमे हृदयकी अज्ञानग्रथिका नाश हो जानेकोही मोक्ष कहते हैं।" इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्रसे निष्पन्न होनेवाला यही अर्थ भगवद्गीताके "अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्" (गीता ५ २६) – जिन्हे पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हे ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है, तथा "य सदा मुक्त एव स" (गीता ५ २८) इस श्लोकमे वर्णित है, और "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" – जिसने ब्रह्म जाना, वह ब्रह्मही हो जाता है (मु ३ २ ९) – इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमेंभी वही अर्थ वर्णित है। मनुष्यके आत्माकी ज्ञानदृष्टिसे जो यह पूर्णावस्था होती है, उसीको 'ब्रह्मभूत' (गीता १८ ५४) या 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं (गीता २ ७२) और स्थितप्रज्ञ (गीता २ ५५-७२),

भक्तिमान्, (गीता १२ १३–२०), या त्रिगुणातीत (गीता १४ २२–२७) पुरुषोंके विषयमें भगवद्‌गीतामें जो वर्णन है, वेभी इसी अवस्थाके है। यह नही समझना चाहिये, कि जैसे साख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पदसे प्रकृति और पुरुष दोनोको स्वतत्र मानकर पुरुषके केवलपन या 'कैवल्य'को मोक्ष मानते है, वैसाही मोक्ष गीताकोभी समत है। किंतु गीताका अभिप्राय है, कि अध्यात्मशास्त्रमें कही गई ब्राह्मी अवस्था – "अह ब्रह्मास्मि" – मैंही ब्रह्म हूँ (बृ १ ४ १०) – कभी भक्तिमार्गसे, तो कभी चित्तनिरोधरूप पातजलयोगमार्गसे और कभी गुणागुण-विवेचनरूप साख्यमार्गसेभी प्राप्त होती है। इन मार्गोमेंसे अध्यात्मविचार केवल बुद्धिगम्य मार्ग है। इसलिये गीतामे कहा है, कि सामान्य मनुष्योको परमेश्वर स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये भक्तिही सुगम साधन है। इस साधनका विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चलकर तेरहवे प्रकरणमें किया है। साधन कुछभी हो, इतनी बात निर्विवाद है, कि ब्रह्मात्मैक्यका अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूपका ज्ञान होना, ससार सब प्राणियोमें एकही आत्मा पहचानना और उसी भावके अनुसार वर्ताव करनाही अध्यात्मज्ञानकी परमावधि है, तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाय, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है। यह पहलेही वतला चुके है, कि केवल इद्रियसुख पशुओ और मनुष्योमें एकही समान होता है। इसलिये मनुष्यजन्मकी सार्थकता अथवा मनुष्यकी मनुष्यता ज्ञानप्राप्तिहीमे होती है। सब प्राणियोंके विषयमें काया-वाचा-मनसे सदैव ऐसीही साम्यबुद्धि रखकर अपने सब कर्मोको करते रहनाही नित्यमुक्तावस्था, पूर्णयोग या सिद्धावस्था है। इस अवस्थाके जो वर्णन गीतामें है, उनमेंसे वारहवे अध्यायवाले भक्तिमान् पुरुषके वर्णनपर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर* महाराजने अनेक दृष्टान्त देकर ब्रह्मभूत पुरुषकी साम्यावस्थाका अत्यत मनोहर और चटकीला निरूपण किया है। और यह कहनेमे कोई हर्ज नही कि इस निरूपणमे गीताके चारो स्थानोमें वर्णित ब्राह्मी अवस्थाका सार आ गया है, यथा – "हे पार्थ! जिसके हृदयमें विषमताका नामतक नही है, जो शत्रु और मित्र दोनोको समानही मानता है, अथवा हे पाडव! दीपकके समान जो इस वातका भेदभाव नही जानता, कि यह मेरा घर है, इसलिये यहाँ प्रकाश करूँ, और वह पराया घर है, इसलिये वहाँ अधेरा करूँ। वीज वोनेवाले पर और पेड काटनेवालेपरभी वृक्ष जैसे समभावसे छाया करता है", इत्यादि (ज्ञा १२ १८)। इसी प्रकार "पृथ्वीके समान वह इस वातका भेद बिलकुल नही जानता, कि उत्तमको ग्रहण करना चाहिये और अधमका त्याग करना चाहिये।

---

* ज्ञानेश्वर महाराजके 'ज्ञानेश्वरी' ग्रथका हिंदी अनुवाद श्रीयुत रघुनाथ माधव भगाडे, वी ए, सबजज्ज, नागपूरने किया है, और वह ग्रथ उन्हीसे मिल सकना है।

जैसे कृपालु प्राण इस बातको नही सोचता, कि राजाके शरीरको चलाऊँ और रकके शरीरको गिराऊँ, जैसे जल यह भेद नही करता, कि गोकी तृषा बुझाऊँ और व्याघ्रके लिये विष बनकर उसका नाश करूँ, वैसेही सब प्राणियोके विषयमें जिसकी एकसी मित्रता है, जो स्वय कृपाकी मूर्ति है, और जो 'मै' और 'मेरा' का व्यवहार नही जानता और जिसे सुखदु खका भानभी नही होता" इत्यादि (ज्ञा १२ १३)। अध्यात्मविद्यासे जो कुछ अतमें प्राप्त करना है, वह यही है।

उपर्युक्त विवेचनसे विदित होगा, कि सारे मोक्षधर्मके मूलभूत अध्यात्मज्ञानकी परपरा हमारे यहाँ उपनिषदोंसे लगाकर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीर-दास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधु-पुरुषोतक किस प्रकार अव्याहत चली आ रही है। परतु उपनिषदोंकेभी पहले यानी अत्यत प्राचीन कालमेंभी हमारे देशमें इस ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ था, और तबसे क्रमक्रमसे आगे उपनिषदोंके विचारोकी उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकोको भलीभाँति समझा देनेके लिये ऋग्वेदका एक प्रसिद्ध सूक्त भाषातरसहित यहाँ अतमें दिया गया है, जो उपनिषदान्तर्गत ब्रह्मविद्याका आधारस्तभ है। सृष्टिके अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें जैसे विचार इस सूक्तमें प्रदर्शित किये गये है, वैसे प्रगल्भ, स्वतत्र और मूल तककी खोज करनेवाले तत्त्वज्ञानके मार्मिक विचार अन्य किसीभी धर्मके मूल ग्रथमें दिखाई नही देते। इतनाही नही, किंतु ऐसे अध्यात्मविचारोंसे परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेखभी अबतक कही उपलब्ध नही हुआ है। इसलिये अनेक पश्चिमी पडितोंने धार्मिक इतिहासकी दृष्टिसेभी इस सूक्तको अत्यत महत्त्वपूर्ण जान कर आश्चर्यचकित हो अपनी अपनी भाषाओमें इसका अनुवाद यह दिखलानेके लिये किया है, कि मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति इस नाशवान् और नामरूपात्मक सृष्टिके परे नित्य और अचिंत्य ब्रह्मशक्तिकी ओर सहजही कैसे झुक जाया करती है। यह ऋग्वेदके दसवे मडलका १२९ वाँ सूक्त है, और इसके प्रारभिक शब्दोंसे इसे 'नासदीय सूक्त' कहते हैं। यही सूक्त तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (तै ब्रा २ ८ ९) लिया गया है, और महाभारतातर्गत नारायणीय या भागवत धर्ममें इसी सूक्तके आधारपर यह बात बतलाई गई है, कि भगवानकी इच्छासे पहले पहल सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई (मभा शा ३४२ ८)। सर्वानुक्रमणिकाके अनुसार इस सूक्तका ऋषि परमेष्ठि प्रजापति है, और देवता परमात्मा है, तथा इसमें त्रिष्टुप् वृत्तके यानी ग्यारह अक्षरोके चार चरणोकी सात ऋचाएँ है। 'सत्' और 'असत्' शब्दोंके दो दो अर्थ होते है। अतएव सृष्टिके मूल द्रव्यको 'सत्' कहनेके विषयमे उपनिषत्कारोके जिस मतभेदका उल्लेख पहले हम इस प्रकरणमें कर चुके हैं, वही मतभेद ऋग्वेदमेंभी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, इस मूलकारणके विषयमें कही तो यह कहा है, कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ १ १६४ ४६) अथवा "एक सन्त बहुधा कल्पयन्ति" (ऋ १० ११४ ५)–

वह एक और सत् यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है, परतु उसीको लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं। और कही कही इसके विरुद्ध यहभी कहा है, कि "देवाना पूर्व्यं युगेऽसत सदजायत" (ऋ १० ७२ ७) – देवताओंकेभी पहले असतसे अर्थात् अव्यक्तसे 'सत्' अर्थात् व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, किसी-न-किसी एक दृश्य तत्त्वसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें ऋग्वेदहीमें भिन्न भिन्न अनेक वर्णन पाये जाते हैं। जैसे सृष्टिके आरभमें मूल हिरण्यगर्भ था। अमृत और मृत्यु दोनो उसकीही छायाएँ है, और आगे उसीसे सारी सृष्टि निर्मित हुई है (ऋ १० १२१ १, २)। पहले विराट्‌रूपी पुरुष था; और उससे यज्ञके द्वारा सारी सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ १० ९०)। पहले पानी (आप) था। उसमें प्रजापति उत्पन्न हुआ (ऋ १० ७२ ६, १० ८२ ६)। ऋत और सत्य पहले उत्पन्न हुए, फिर रात्रि (अधकार) और उसके बाद समुद्र (पानी), सवत्सर इत्यादि उत्पन्न हुए (ऋ १० १९० १)। ऋग्वेदमें वर्णित इन्ही मूल द्रव्योका आगे अन्यान्य स्थानोमे इस प्रकार उल्लेख किया गया है' जैसे (१) जलका, तैत्तिरीय ब्राह्मणमे "आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्" – यह सब पहले पतला पानी था (तै ब्रा १ १ ३ ५)। (२) असतका, तैत्तिरीय उपनिषदमें "असद्वा इदमग्र आसीत्" – यह पहले असत् था (तै २ ७)। (३) सतका, छादोग्यमें "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" – यह सब पहले सतही था (छा ६ २)। अथवा (४) आकाशका, "आकाश परायणम्" – आकाशही सब बातोका मूल है (छा १ ९), (५) मृत्युका, बृहदारण्यकमे "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्यु-नैवेदमावृतमासीत्" – पहले यह कुछभी न था, मृत्युसे सब आच्छादित था (बृह १ २ १), और (६) तमका, मैत्र्युपनिषदमें "तमो वा इदमग्र आसीदेकम्" – पहले यह सब अकेला तम (तमोगुणी, अधकार) था – आगे उससे रज और सत्त्व हुआ (मै ५ २) – अतमें इन्ही वेदवचनोका अनुकरण करके मनुस्मृतिमें सृष्टिके आरभका वर्णन इस प्रकार किया गया है –

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥

अर्थात् "यह सब पहले तमसे यानी अधकारसे व्याप्त था। भेदाभेद नही जाना जाता था इतना अगम्य और निद्रित था। फिर आगे इसमे अव्यक्त परमेश्वरने प्रवेश करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु. १ ५–८)। सृष्टिके आरभके मूल द्रव्यके सबधमें उक्त वर्णन या ऐसेही भिन्न भिन्न वर्णन नासदीय सूक्तके समयभी अवश्य प्रचलित रहे होंगे, और उस समयभी यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, कि इनमेंसे कौन-सा मूलद्रव्य सत्य माना जाये? अतएव उसके सत्याशके विषयमें इस सूक्तके ऋषि यह कहते हैं, कि –

सूक्त	अनुवाद
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमावरीव कुह कस्य शर्म- न्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम् ।।१।।	१ तब अर्थात् मूलारभमें असत् नहीं था और सत्भी नही था । अतरिक्ष नही था और उसके परेका आकाशभी न था । (ऐसी अवस्थामें) किसने (किसपर) आवरण डाला ? कहाँ ? किसके सुखके लिये ? अगाध और गहन जल (भी) कहाँ था ?*
न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत । आनीदवात स्वधया तदेकम् । तस्माद्धान्यन्न पर किंचनाऽऽस ।।२।।	२ तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्य सृष्टि न थी, अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था । (इसी प्रकार) रात्रि और दिनका भेद समझनेके लिये कोई साधन (= प्रकेत) न था । (जो कुछ था) वह अकेला एकही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायुके विना श्वासोच्छ्वास लेता अर्थात् स्फूर्तिमान् होता रहा । इसके अतिरिक्त या इसके परे और कुछ भी न था ।
तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽ- प्रकेत सलिल सर्वमा इदम् । तुच्छेनाभ्वपिहित यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ।।३।।	३ जो (यत्) ऐसा कहा जाता है, कि अधकार था, आरभमें यह सब अधकारसे व्याप्त (और) भेदाभेदरहित जल था (या) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (पहलेही) तुच्छसे अर्थात् झूठी मायासे आच्छादित था, वह (तत्) मूलमें एक (ब्रह्मही) तपकी महिमासे (आगे रूपातरसे) प्रकट हुआ था ।†

---

* ऋचा पहली – चौथे चरणमें 'आसीत् किम्' यह अन्वय करके हमने उक्त अर्थ दिया है, और उसका भावार्थ है, 'पानी तब नही था' (तै ब्रा २ २ ९)।

† ऋचा तीसरी – कुछ लोग इसके प्रथम तीन चरणोको स्वतत्र मानकर उनका ऐसा विधानात्मक अर्थ करते है, कि सृष्टिके आरभमें "अधकार, अधकारसे व्याप्त पानी, या तुच्छसे आच्छादित आभु (पोलापन) था ।" परतु हमारे मतसे यह भूल है। क्योकि पहली दो ऋचाओमें जब कि ऐसी स्पष्ट उक्ति है, कि मूलारभमें

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेत प्रथम यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

४ इसके मनका जो रेत अर्थात् बीज प्रथमत निकला, वही आरंभमें काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करनेकी प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ । ज्ञाताओंने अत करणमें विचार करके बुद्धिसे निश्चित किया, कि (यही) असत्‌मे अर्थात् मूल परब्रह्ममें सत्‌का का यानी विनाशी दृश्यसृष्टिका (पहला) सवध है ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा
अध स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयति. परस्तात् ॥५॥

५ (यह) रश्मि या किरण या धागा इनमें आडा फैल गया, और यदि कहें, कि यह नीचे था, तो यह ऊपरभी था। (इनमेंसे कुछ) रेतोधा अर्थात् बीजप्रद हुए, और (बढकर) बडेभी हुए। उन्हींकी स्वशक्ति इस ओर रही, और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर (व्याप्त) रहा ।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
थ को वेद यत आवभूव ॥६॥

६ (सत्‌का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहांसे आया ? यह (इससे अधिक)प्र यानी विस्तारपूर्वक यहां कौन कहेगा ? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है ? देवभी इस (सत् सृष्टिके) विसर्गके पश्चात् हुए है। फिर वह जहांसे (उत्पन्न) हुई, उसे कौन जानेगा ?

कुछभी न था, तब उसके विपरीत इसी सूक्तमें यह कहा जाना सभव नही, कि मूलारभमे अधकार या पानी था । अच्छा, यदि वैसा अर्थ करेभी, तो तीसरे चरणके यत् शब्दको निरर्थक मानना होगा । अतएव तीसरे चरणके 'यत्'का चौथे चरणके 'तत्'से सबध लगाकर, (जैसा कि हमने ऊपर किया है) अर्थ करना आवश्यक है । " मूलारंभमे पानी वगैरह पदार्थ थे " ऐसा कहनेवालोंको उत्तर देनेके लिये इस सूक्तमें यह ऋचा आई है। और इसमें ऋषिका उद्देश्य यह बतलानेका है, कि तुम्हारे कथनानुसार मूलमें तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे, किंतु एक ब्रह्मकाही आगे यह सब विस्तार हुआ है। 'तुच्छ' और 'आभु' ये शब्द एक दूसरेके प्रतियोगी है। अतएव तुच्छ के विपरीत 'आभु' शब्दका अर्थ बडा या समर्थ होता है, और ऋग्वेदमें जहां अन्य दो स्थानोमे इस शब्दका प्रयोग हुआ है, वहां सायणाचार्यनेभी

इदं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न दधे।
यो अस्याध्यक्ष.परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

७ (सत्का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँसे हुआ अथवा निर्मित किया गया या नही किया गया – उसे परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका जो अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) है, वही जानता होगा, या न भी जानता हो! (कौन कह सके?)

सारे वेदान्तशास्त्रका रहस्य यही है, कि नेत्रोको या सामान्यत सब इद्रियोको गोचर होनेवाले विकारी और विनाशी नामरूपात्मक अनेक दृश्योंके फंदेमें फँसे न रह कर ज्ञानदृष्टिसे यह जानना चाहिये, कि इस दृश्यके परे कोई न कोई एक और अमृत तत्त्व है। इस मक्खनके गोलेकोही पानेके लिये उक्त सूक्तके ऋषिकी बुद्धि एकदम दौड पडी है, इससे यह स्पष्ट दीख पडता है, कि उसका अतर्ज्ञान कितना तीव्र था। मूलारभमें अर्थात् सृष्टिके सारे पदार्थोंके उत्पन्न होनेके पहले जो कुछ था, वह सत् था या असत्, मृत्यु था या अमर, आकाश था या जल, प्रकाश था या अधकार? – ऐसे अनेक प्रश्न करनेवालोंके साथ वादविवाद न करते हुए, उक्त ऋषि सबके आगे दौड कर यह कहता है, कि सत और असत्, मर्त्य और अमर, अधकार और प्रकाश, आच्छादन करनेवाला और आच्छादित, सुख देनेवाला और उसका अनुभव करनेवाला अद्वैतकी यह परस्परसापेक्ष भाषा दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके अनतरकी है, अतएव सृष्टिके इन द्वद्वोंके उत्पन्न होनेके पूर्व अर्थात् जब "एक और दूसरा" यह भेदही न था, तब कौन किसे आच्छादित करता? इसलिये आरभहीमें इस सूक्तका ऋषि निर्भय होकर यह कहता है, कि मूलारभके एकरूप द्रव्यको सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अधकार, अमृत या मृत्यु, इत्यादि कोईभी परस्पर-सापेक्ष नाम देना उचित नही। जो कुछ था, वह इन सब पदार्थोंसे विलक्षण था और वह अकेलाही चारो ओर अपनी अपरपार शक्तिसे स्फूर्तिमान् था। उसके साथ या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछभी न था। दूसरी ऋचामें 'आनीत्' क्रियापदके 'अन्' धातुका अर्थ है श्वासोच्छ्वास लेना या स्फुरण होना, और 'प्राण' शब्दभी उसी धातुसे बना है। परन्तु जो न सत् है और न असत्, उसके विषयमें कौन कह सकता है, कि वह सजीव प्राणियोंके समान श्वासोच्छ्वास लेता था? और श्वासोच्छ्वासके लिये वहाँ वायुही कहाँ है? अतएव

उसका यही अर्थ किया है (ऋ १० २७ १, ८)। पचदशीमें (चित्र १२९, १३०) तुच्छ शब्दका उपयोग मायाके लिये किया गया है (नृसि उत्त ९)। अर्थात् 'आभु'का अर्थ पोलापन न होकर 'परब्रह्म' ही होता है। ("सत्र आ इदम्" – यहाँ आ (अ+अम्) अस् धातुका भूतकाल है, और इसका अर्थ 'आसीत्' होता है।

'आनीत्' पदके साथही – 'अवात' = विना वायुके, और 'स्वधया' = स्वय अपनीही, महिमासे – इन दोनो पदोको जोडकर "सृष्टिका मूल तत्त्व जड नही था" यह अद्वैतावस्थाका अर्थ द्वैतकी भाषामें वडी युक्तिसे इस प्रकार बतलाया है, कि "वह अकेला विना वायुके केवल अपनी ही शक्तिसे श्वासोच्छ्वास लेना या स्फूर्तिमान् होना था।" इसमे बाह्य दृष्टिसे जो विरोध दिखाई देता है, वह द्वैती भाषाकी अपूर्णतासे उत्पन्न हुआ है। 'नेति नेति' 'एकमेवाद्वितीयम्' या "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित" (छा ७ २४ १)। – अपनीही महिमासे अर्थात् अन्य किसीकी अपेक्षा न रखते हुए अकेलाही रहनेवाला – इत्यादि परब्रह्मके जो वर्णन उपनिषदोमें पाये जाते हैं, वेभी उपरोक्त अर्थकेही द्योतक हैं। सारी सृष्टिके मूलारभमे चारो ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्त्वके स्फुरण होनेकी बात इस सूक्तमे कही गई है, वही तत्त्व सभी दृश्य सृष्टिका प्रलय होनेपरभी नि सदेह शेष रहेगा। अतएव गीतामे इसी परब्रह्मका कुछ पर्यायसे इस प्रकार वर्णन किया है, कि "सब पदार्थोका नाश होनेपरभी जिसका नाश नही होता" (गीता ८ २०) और आगे इसी सूक्तके अनुसार स्पष्ट कहा है, कि "वह सत्भी नही है, और असत्भी नही है" (गीता १३ १२)। परन्तु प्रश्न यह है, कि जब सृष्टिके मूलारभमे निर्गुण ब्रह्मके सिवा और कुछभी न था, तो फिर वेदोमे जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि "आरभमे पानी, अधकार, या आभु और तुच्छकी जोडी थी" उनकी क्या व्यवस्था होगी? अतएव तीसरी ऋचामे कविने कहा है, कि – सृष्टिके आरभमे अधकार था या अधकारसे आच्छादित पानी था, या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करनेवाली माया (तुच्छ), ये दोनो पहलेसेही थे – इत्यादि) जितने वर्णन हैं वे सब उस समयके हैं, जब कि अकेले मूल परब्रह्मके तपमहात्म्यसे उसका विविध रूपोसे फैलाव हो गया था। ये वर्णन मूलारभकी स्थितिके नही हैं। इस ऋचाके शब्दसे तप मूल ब्रह्मकी ज्ञानमय विलक्षण शक्ति विवक्षित है और उसीका वर्णन चौथी ऋचामे किया गया है (मु १ १ ९)। "एतावान् अस्य महिमातो ज्यायाश्च पुरुष" (ऋ १० ९० ३)। इस न्यायसे, सारी सृष्टिही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूल द्रव्यके विषयमे यह कहना आवश्यक नही है, कि वह इन सबके परे, सबसे श्रेष्ट और भिन्न है। परन्तु दृश्य वस्तु और द्रष्टा, भोक्ता और भोग्य, आच्छादन करनेवाला और आच्छाद्य, अधकार और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतोको इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया, कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्मही मूलारभमे था, तथापि जब यह बतलानेका समय आया, कि इस अनिर्वाच्य निर्गुण, अकेले एक तत्त्वसे आकाश, जल इत्यादि द्वद्वात्मक विनाशी सगुण नामरूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टिकी मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई तब तो प्रस्तुत ऋषिनेभी मन, काम असत् और सत् जैसी द्वैती भाषाकाही उपयोग किया है और अतमे

स्पष्ट कह दिया है कि यह प्रश्न मानवी बुद्धिकी पहुँचसे बाहर है। चौथी ऋचामें मूल ब्रह्मकोही 'असत्' कहा है; परन्तु उसका अर्थ 'कुछ नहीं' यह नहीं मान सकते। क्योंकि दूसरीही ऋचामें स्पष्ट कहा है, कि 'वह है'। न केवल इसी सूक्तमें, किन्तु अन्यत्रभी व्यावहारिक भाषाको स्वीकार करकेही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहितामें गहन विषयोंका विचार निम्न प्रश्नोंके द्वारा किया गया है। (ऋ. १०. ३१. ७; १०. ८१. ४; वाज. सं. १७. २०) – जैसे दृश्य सृष्टिको यज्ञकी उपमा देकर प्रश्न किया है कि इस यज्ञके सम्पन्न करनेके लिये आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहाँसे आई? (ऋ. १०. १३०. ३) अथवा घरका दृष्टान्त लेकर प्रश्न किया है कि मूल एक निर्गुणसे, नेत्रोंको प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आकाश-पृथ्वीकी इस भव्य इमारतको बनानेके लिये लकडी (मूल प्रकृति) कैसे मिली? – 'किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः'। इन प्रश्नोंका उत्तर उपर्युक्त सूक्तकी चौथी और पाँचवी ऋचामें जो कुछ कहा गया है उससे अधिक दिया जाना संभव नहीं है (वाज. सं. ३३. ७४); और वह उत्तर यही है कि उस अनिर्वाच्य अकेले ब्रह्महीके मनमें सृष्टि निर्माण करनेका 'काम'-रूपी तत्त्व किसी-न-किसी तरह उत्पन्न हुआ, और वस्त्रके धागोंके समान या सूर्य-प्रकाशके समान उसीकी शाखाएँ तुरत नीचे, ऊपर और चहुँ ओर फैल गईं। तथा सत्‌का सारा फैलाव हो गया – अर्थात् आकाश-पृथ्वीकी यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदोंमें इस सूक्तके अर्थको इस प्रकारसे प्रकट किया गया है कि "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।" (तै. २. ६; छां. ६. २. ३) – उस पर-ब्रह्मकोही अनेक रूप होनेकी इच्छा हुई (बृ. १. ४); और अथर्व वेदमेंभी ऐसा वर्णन है, कि इस सारी दृश्य सृष्टिके मूलभूत द्रव्यसेही पहले पहल 'काम' हुआ (अथर्व. ९. २. १९)। परन्तु इस सूक्तकी विशेषता यह है कि निर्गुणसे सगुणकी, असत्‌से सत्‌की, निर्द्वंद्वसे द्वंद्वकी अथवा असंगसे संगकी उत्पत्तिका प्रश्न मानवी बुद्धिके लिये अगम्य समझकर सांख्योंके समान केवल तर्कवश हो मूल प्रकृतिहीको या उसके सदृश किसी दूसरे तत्त्वको स्वयंभू और स्वतंत्र नहीं माना है। किन्तु इस सूक्तका ऋषि कहता है कि जो बात समझमें नहीं आती उसके लिये साफ साफ कह दो कि यह समझमें नहीं आती। परन्तु उसके लिये शुद्ध बुद्धिसे और आत्मप्रतीतिसे निश्चित किये गये अनिर्वाच्य ब्रह्मकी योग्यताको दृश्य सृष्टिरूप मायाकी योग्यताके बराबर मत समझो, और न परब्रह्मके विषयमें अपने अद्वैत भावकोही छोडो। इसके सिवा यहभी सोचना चाहिये कि यद्यपि प्रकृतिको एक भिन्न त्रिगुणात्मक स्वतंत्र पदार्थ मानभी लिया जावे, तथापि इस प्रश्नका उत्तर तो दिया नहीं जा सकता कि उसमें सृष्टिका निर्माण करनेके लिये प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ? और जब कि यह दोष कभी टलही नहीं सकता है, तो फिर प्रकृतिको स्वतंत्र मान लेनेसे क्या लाभ है?

सिर्फ इतना कहो, कि यह वात समझमे नही आती, कि मूल ब्रह्ममे प्रकृति अर्थात् सत् कैसे निर्मित हुआ। इसके लिये प्रकृतिको स्वतत्र मान लेनेकी कुछ आवश्यकता नही है। मनुष्यकी वुद्धिकी कौन कहे, परन्तु देवताओकी दिव्य वुद्धिमेभी सत्की उत्पत्तिका रहस्य समझमे आ जाना सभव नही। क्योकि देवताभी दृश्य सृष्टिके आरभ होनेपर उत्पन्न हुए है, उन्हे पिछला हाल क्या मालूम? (गीता १० २)। परतु ऋग्वेदमेही कहा है, कि हिरण्यगर्भ देवताओसेभी वहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है और आरभमे वह अकेलाही " भूतस्य जात पतिरेक आसीत्" (ऋ १० १२१ १) — और सारी सृष्टिका 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह वात क्योकर मालूम न होगी? और यदि उसे मालूम होगी, तो फिर कोई पूछ सकता है, कि इस वातको दुर्वोध या अगम्य क्यो कहते हो? अतएव उस सूक्तके ऋषिने पहले तो उक्त प्रश्नका यह औपचारिक उत्तर दिया है, कि " हाँ, वह इस वातको जानता होगा।" परन्तु अपनी वुद्धिसे ब्रह्मदेवकेभी ज्ञान-सागरकी थाह लेनेवाले इस ऋषिने आश्चर्यसे साशक हो अतमें तुरतही कह दिया है, कि " अथवा न भी जानता हो! कौन कह सकता है? क्योकि वहभी सत्हीकी श्रेणीमे है। इसलिये 'परम' कहलानेपरभी 'आकाश'हीमे रहनेवाले जगतके इस अध्यक्षको सत्, असत्, आकाश और जलकेभी पूर्वकी वातोका ज्ञान निश्चित रूपसे कैसे हो सकता है?" परतु यद्यपि यह वात समझमें नही आती, कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्यहीके साथ विविध नामरूपात्मक सत्का अर्थात् मूल प्रकृतिका सवध कैसे हो गया? तथापि मूल ब्रह्मके एकत्वके विषयमे ऋषिने अपने अद्वैत भावको डिगने नही दिया है। यह इस वातका एक उत्तम उदाहरण है, कि सात्त्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभाके वलपर मनुष्यकी वुद्धि अचिन्त्य वस्तुओंके सघन वनमें सिंहके समान निर्भय होकर कैसे सचार किया करती है और वहाँकी अतर्क्य वातोका यथाशक्ति कैसे निश्चय किया करती है! यह सचमुचही आश्चर्य तथा गौरवकी वात है, कि ऐसा सूक्त ऋग्वेदमें पाया जाता है! हमारे देशमें इस सूक्तकेही विषयका आगे ब्राह्मणोमें (तैत्ति ब्रा २ ८ ९), उपनिषदो और अनतरके वेदान्तशास्त्रके ग्रथोमे सूक्ष्म रीतिसे विवेचन किया गया है, और पश्चिमी देशोमेंभी अर्वाचीन कालके काट इत्यादि तत्त्वज्ञानियोनेभी उसीका अत्यत सूक्ष्म परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे, कि उक्त सूक्तमे इस ऋषिकी पवित्र वुद्धिमें जिन परम सिद्धान्तकी स्फूर्ति हुई है, वेही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियोको विवर्त-वादके समान उचित उत्तर देकर औरभी दृढ, स्पष्ट या तर्कदृष्टिसे नि सदेह किये गये है। इसके परे अभीतक न कोई वढा है और न वढनेकी विशेष आशाही की जा सकती है।

अध्यात्म-प्रकरण समाप्त हुआ। अव आगे चलनेके पहले 'केसरी'की चालके अनुसार उस मार्गका कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये, कि जो यहाँतक चल

आये हैं। कारण यह है, कि यदि इस प्रकार सिंहावलोकन न किया जावे, तो विषयानुसंधानके चूक जानेसे संभव है, कि और किसी अन्य मार्गमें संचार होने लगे। ग्रंथारंभमें पाठकोंका विषयमें प्रवेश कराके कर्मजिज्ञासाका संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है, और तीसरे प्रकरणमें यह दिखलाया है, कि कर्मयोगशास्त्रही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, अनंतर चौथे, पाँचवे और छठे प्रकरणमें सुखदुःख-विवेकपूर्वक यह बतलाया है, कि कर्मयोगशास्त्रकी आधिभौतिक उपपत्ति एकदेशीय तथा अपूर्ण है, और आधिदैविक उपपत्ति लँगडी है। फिर, कर्मयोगकी आध्यात्मिक उपपत्ति बतलानेके पहले – यह जाननेके लिये, कि आत्मा किसे कहते हैं – छठे प्रकरणमेंही पहले – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार और आगे सातवे तथा आठवे प्रकरणमें सांख्यशास्त्रान्तर्गत द्वैतके अनुसार क्षर-अक्षर विचार किया गया है। और फिर इस प्रकरणमें, इस विषयका निरूपण किया गया है, कि आत्माका स्वरूप क्या है? तथा पिंड और ब्रह्मांडमें दोनो ओर एकही अमृत और निर्गुण आत्मतत्त्व किस प्रकार ओत-प्रोत और निरंतर व्याप्त है। इसी प्रकार यहभी निश्चित किया गया है, कि ऐसा समबुद्धि-योग प्राप्त करके – कि सब प्राणियोंमें एकही आत्मा है – और उसे सदैव जागृत रखनाही आत्मज्ञानकी और आत्मसुखकी परकाष्ठा है। और फिर यह बतलाया गया है, कि अपनी बुद्धिको इस प्रकार शुद्ध आत्मनिष्ठ अवस्थामें पहुँचा देनेमेंही मनुष्यका मनुष्यत्व अर्थात् नर-देहकी सार्थकता या मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यजातिके आध्यात्मिक परम साध्यका निर्णय हो जानेपर कर्मयोगशास्त्रके इस मुख्य प्रश्नकाभी निर्णय आप-ही-आप हो जाता है, कि संसारमें हमे प्रतिदिन जो व्यवहार करने पडते हैं, वे किस नीतिसे किये जावे? अथवा जिस शुद्ध बुद्धिसे उन सांसारिक व्यवहारोंको करना चाहिये, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्योंकि अब यह बतलानेकी आवश्यकता नही, कि ये सारे व्यवहार उसीसे किये जाने चाहिये, जिससे कि वे परिणाममें ब्रह्मात्मैक्यरूप समबुद्धिके पोषक या अविरोधी हों। भगवद्गीतामे कर्मयोगके इसी आध्यात्मिक तत्त्वका उपदेश अर्जुनको किया गया है। परंतु कर्मयोगका प्रतिपादन केवल इतनेहीसे पूरा नहीं होता। क्योंकि कुछ लोगोंका कहना है, कि नामरूपात्मक सृष्टिके व्यवहार आत्मज्ञानके विरुद्ध है, अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड दें। और यदि यही बात सत्य हो, तो संसारके सारे व्यवहार त्याज्य समझे जायेंगे, और फिर कर्म-अकर्मशास्त्रभी निरर्थक हो जावेगा। अतएव इस विषयका निर्णय करनेके लिये कर्मयोगशास्त्रमें ऐसे प्रश्नोंकाभी विचार अवश्य करना पडता है, कि कर्मके नियम कौनसे है? और उनका परिणाम क्या होता है? अथवा बुद्धिकी शुद्धता होनेपरभी व्यवहार अर्थात् कर्म क्यों करना चाहिये? भगवद्गीतामें ऐसा विचार कियाभी गया है। संन्यास-मार्गवाले लोगोंको इन प्रश्नोंका कुछभी महत्त्व नहीं जान पडता, अतएव ज्योंही भगवद्गीताका वेदान्त या भक्तिका निरूपण समाप्त हुआ, त्योंही प्रायः वे

लोग अपनी पोथी समेटने लग जाते हैं। परन्तु ऐसा करना, हमारे मतसे, गीताके मुख्य उद्देश्यकी ओरही दुर्लक्ष करना है। अतएव अब आगे क्रमसे इस बातका विचार किया जायगा, कि भगवद्गीतामे उपर्युक्त प्रश्नोके क्या उत्तर दिये गये हैं।

दसवाँ प्रकरण

कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते । *

— महाभारत, शांति २४०.७

यद्यपि यह सिद्धान्त अंतमें सच है, कि इस संसारमें जो कुछ है, वह परब्रह्मही है, परब्रह्मको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है, तथापि मनुष्यकी इंद्रियोंको गोचर होनेवाली दृश्य सृष्टिके पदार्थोंका अध्यात्मशास्त्रकी चलनीमें जब हम संशोधन करने लगते हैं, तब उनके नित्य-अनित्यरूपी दो विभाग या समूह हो जाते हैं । एक तो उन पदार्थोंका नामरूपात्मक दृश्य है, जो इंद्रियोंको प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, परन्तु हमेशा बदलनेवाला होनेके कारण अनित्य है । और दूसरा परमात्म-तत्त्व है, जो नाम रूपोंसे आच्छादित होनेके कारण अदृश्य, परन्तु नित्य है । यह सच है, कि रसायन शास्त्रमें जिस प्रकार सब पदार्थोंका पृथक्करण करके उनके घटक-द्रव्य अलग अलग निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ये दो विभाग आँखोंके सामने पृथक् पृथक् नहीं रखे जा सकते, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे उन दोनोंको अलग करके शास्त्रीय उपपादनके सुभीतेके लिये उनको क्रमशः 'ब्रह्म' और 'माया' तथा कभी कभी 'ब्रह्मसृष्टि' और 'मायासृष्टि' इस प्रकार नाम दिये जाते हैं । तथापि स्मरण रहे कि ब्रह्म मूलसेही नित्य और सत्य है । इस कारण उसके साथ सृष्टि शब्द ऐसे अवसरपर अनुप्रासार्थ लगा रहता है, और 'ब्रह्मसृष्टि' शब्दसे यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्मको किसीने उत्पन्न किया है । इन दो सृष्टियोंमेंसे दिक्काल आदि नाम-रूपोंसे अमर्यादित अनादि नित्य, अविनाशी, अमृत, स्वतन्त्र और सारी दृश्य सृष्टिके लिये आधारभूत होकर उसके भीतर रहनेवाली ब्रह्म-सृष्टिमें ज्ञानचक्षुसे संचार करके आत्माके शुद्ध स्वरूप अथवा अपने परम साध्यका विचार पिछले प्रकरणमें किया गया । और सच पूछिये तो शुद्ध अध्यात्मशास्त्र वहीं समाप्त हो गया । परंतु, मनुष्यका आत्मा यद्यपि आदिमें ब्रह्म-सृष्टिका है, तथापि दृश्य सृष्टिकी अन्य वस्तुओंकी तरह वहभी नाम-रूपात्मक देहेंद्रियोंसे आच्छादित है, और ये देहेंद्रियाँ आदिक नाम-रूप विनाशी हैं । इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है, कि इनसे मुक्त होकर अमृतत्व कैसे प्राप्त करूँ ? और, इस इच्छाकी पूर्तिके लिये मनुष्यको व्यवहारमें कैसे चलना चाहिये ? — कर्मयोग-शास्त्रके इस विषयका विचार करनेके लिये, कर्मके कायदोंसे बँधी हुई अनित्य

---

* "कर्मसे प्राणी बाँधा जाता है, और विद्यासे उसका छुटकारा हो जाता है ।"

माया-सृष्टिके इसी क्षेत्रमेंही अब हमें उतरना चाहिये। पिंड और ब्रह्मांड, दोनोंके मूलमें यदि एकही नित्य और स्वतंत्र आत्मा है, तो अब सहजही प्रश्न उत्पन्न होता है, कि पिंडके आत्माको ब्रह्मांडके आत्माकी पहचान हो जानेमें कौन-सी अड़चन रहती है? और वह दूर कैसे हो? इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये नामरूपोंका विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि वेदान्तकी दृष्टिसे सब पदार्थोंके दो वर्ग होते हैं; एक आत्मा अथवा परमात्मा, और दूसरा उसके ऊपरका नाम-रूपोंका आवरण। इसलिये नामरूपात्मक आवरणके सिवा अब अन्य कुछभी शेष नहीं रहता। वेदान्तशास्त्रका मत है, कि नामरूपोंका यह आवरण किसी जगह घना, तो किसी जगह विरल होनेके कारण दृश्य सृष्टिके पदार्थोंमें सचेतन और अचेतन, तथा सचेतनमेंभी पशु, पक्षी, मनुष्य देव, गंधर्व और राक्षस इत्यादि भेद हो जाते हैं। यह नहीं, कि आत्मरूपी ब्रह्म किसी स्थानमें न हो – वह सभी जगह है – वह पत्थरमें है और मनुष्यमेंभी है। परन्तु दीपकके एक होनेपरभी किसी लोहेके बक्ससे अथवा न्यूनाधिक स्वच्छ कांचकी लालटेनमें उसके रखनेसे जिस प्रकार उसके प्रकाशमें अंतर पड़ता है; उसी प्रकार आत्मतत्त्वके सर्वत्र एकही होनेपरभी उसके ऊपरके कोश – अर्थात् नामरूपात्मक आवरणके तारतम्य भेदसे – अचेतन और सचेतन जैसे भेद हो जाया करते हैं। और तो क्या? यही कारण है, कि सचेतनमें मनुष्यों और पशुओंमें ज्ञानसंपादन करनेकी एकसमानही सामर्थ्य क्यों नहीं होती। आत्मा सर्वत्र एकही है सही; परन्तु वह मूलमेंही निर्गुण और उदासीन होनेके कारण मन, बुद्धि इत्यादि नाम-रूपात्मक साधनोंके बिना स्वयं कुछभी नहीं कर सकता; और ये साधन मनुष्य-योनिको छोड़ अन्य किसीभी योनिमें उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इसलिये मनुष्य-जन्म सबमें श्रेष्ठ कहा गया है। इस श्रेष्ठ जन्ममें आनेपर आत्माके नामरूपात्मक आवरणके स्थूल और सूक्ष्म दो भेद होते हैं। इनमेंसे स्थूल आवरण मनुष्यकी स्थूल देहही है, कि जो शुक्र शोणित आदिसे बनी है। शुक्रसे आगे चलकर स्नायु, अस्थि और मज्जा, तथा शोणित अर्थात् रक्तसे त्वचा, मांस और केश उत्पन्न होते हैं – ऐसा समझकर, इन सबको वेदान्ती 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इस स्थूल कोशको छोड़कर जब हम यह देखने लगते हैं, कि इसके अंदर क्या है? तब क्रमशः वायुरूपी प्राण अर्थात् 'प्राणमय कोश', मन अर्थात् 'मनोमय कोश', बुद्धि अर्थात् 'ज्ञानमय कोश' और अंतमें 'आनंदमय कोश' मिलता है। आत्मा इससेभी परे है। इसलिये तैत्तिरीयोपनिषद्में अन्नमय कोशसे आगे बढ़ते बढ़ते अंतमें आनंदमय कोश बतलाकर वरुणने भृगुको आत्म-स्वरूपकी पहचान करा दी है (तै. २. १–५, ३. २–६)। इन सब कोशोंमेंसे स्थूलदेहका कोश छोड़ बाकी रहे हुए प्राणादि कोशों, सूक्ष्म इंद्रियों और पंचतन्मात्राओंको वेदान्ती लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। वे लोग 'एकही आत्माको भिन्न भिन्न योनियोंमें जन्म कैसे प्राप्त होता है?' –

इसकी उपपत्ति, सांख्यशास्त्रकी तरह बुद्धिके अनेक 'भाव' मानकर नहीं लगाते, किन्तु इस विषयमें उनका यह सिद्धान्त है, कि यह सब कर्मविपाकका अथवा कर्मके फलोंका परिणाम है। गीतामें वेदान्तसूत्रोंमें और उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है, कि यह कर्म लिंग-शरीरके आश्रयसे अर्थात् आधारसे रहा करता है; और जब आत्मा स्थूल देह छोड़कर जाने लगता है तब यह कर्मभी लिंग-शरीरद्वारा उसके साथ जाकर उसको बार बार भिन्न भिन्न जन्म लेनेके लिये बाध्य करता है। इसलिये नाम-रूपात्मक जन्ममरणके चक्करसे मुक्त होकर नित्य परब्रह्म-रूपी होनेमें अथवा मोक्षकी प्राप्तिमें पिंडके आत्माको जो अड़चन हुआ करती है उसका विचार करते समय लिंग-शरीर और कर्म इन दोनोंकाभी विचार करना पड़ता है। इनमेंसे लिंग-शरीरका सांख्य और वेदान्त दोनों दृष्टियोंसे पहलेही विचार किया जा चुका है। इसलिये यहाँ फिर उसकी चर्चा नहीं की जाती। इस प्रकरणमें सिर्फ इसी बातका विवेचन किया गया है कि जिस कर्मके कारण आत्माको ब्रह्मज्ञान न होते हुए अनेक जन्मोंके चक्करमें पड़ना होता है उस कर्मका स्वरूप क्या है? और उससे छूट कर आत्माको अमृतत्व प्राप्त होनेके लिये मनुष्यको इस संसारमें कैसे चलना चाहिये?

सृष्टिके आरंभकालमें मूल अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस देशकाल आदि नाम-रूपात्मक सगुण शक्तिसे व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है उसीको वेदान्तशास्त्रमें माया कहते हैं (गीता ७. २४, २५) और उसीमें कर्मकाभी समावेश होता है (बृ. १. ६. १)। इतनाही नहीं तो यहभी कहा जा सकता है कि माया और कर्म दोनों समानार्थक हैं। क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ कर्म अर्थात् व्यापार हुए बिना अव्यक्तका व्यक्त होना अथवा निर्गुणका सगुण होना संभव नहीं। इसीलिये पहले यह कह कर कि मैं अपनी मायासे प्रकृतिमें उत्पन्न होता हूँ (गीता ४. ६), फिर आगे आठवें अध्यायमें गीतामेंही कर्मका यह लक्षण दिया है कि 'अक्षर परब्रह्मसे पंचमहाभूतादि विविध सृष्टि निर्माण होनेकी जो क्रिया है वही कर्म है' (गीता ८. ३)। कर्म कहते हैं व्यापार अथवा क्रियाको — फिर वह मनुष्यकृत हो, सृष्टिके अन्य पदार्थोंकी क्रिया हो अथवा मूल सृष्टिके उत्पन्न होनेकीही हो — इतना व्यापक अर्थ इस जगह विवक्षित है। परन्तु कर्म कोई हो उसका परिणाम सदैव केवल इतनाही होता है कि एक प्रकारका नामरूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नामरूप उत्पन्न किया जाय। क्योंकि इन नामरूपोंसे आच्छादित मूल द्रव्य कभी नहीं बदलता — वह सदा एक-साही रहता है। उदाहरणार्थ, बुननेकी क्रियासे 'सूत' यह नाम बदलकर उसी द्रव्यको 'वस्त्र' नाम मिल जाता है और कुम्हारके व्यापारसे 'मिट्टी' नामके स्थानमें 'घट' नाम प्राप्त हो जाता है। इसलिये मायाकी व्याख्या देते समय कर्मको न लेकर नाम और रूपकोही कई बार माया कहा है। तथापि कर्मका जब स्वतंत्र विचार करना पड़ता है तब यह कहना पड़ता है कि कर्मस्वरूप और मायास्वरूप एकही हैं। इसलिये आरंभहीमें

यह कह देना अधिक सुभीतेकी बात होगी, कि माया, नामरूप और कर्म, ये तीनो मूलमें एकस्वरूपही है। हां, उसमेंभी यह विशिष्टार्थक सूक्ष्म भेद किया जा सकता है, कि **माया** एक सामान्य शब्द है, और उसीके दिखावेको **नामरूप** तथा व्यापारको **कर्म** कहते है। पर साधारणतया यह भेद दिखलानेकी आवश्यकता नही होती। इसीलिये इन तीनो शब्दोका बहुधा समान अर्थमेही प्रयोग किया जाता है। परब्रह्मके एक भागपर विनाशी मायाका जो आच्छादन (अथवा उपाधि = ऊपरका उढ़ौना) हमारी आंखोको दिखता है, उसीको सांख्यशास्त्रमे 'त्रिगुणात्मक प्रकृति' कहा गया है। सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति, इन दोनो तत्त्वोको स्वयंभू स्वतंत्र और अनादि मानते है, परन्तु माया, नामरूप अथवा कर्म, क्षण-क्षणमे बदलते रहते है। इसलिये उनको नित्य और अविकारी परब्रह्मकी योग्यताका — अर्थात् स्वयंभू और स्वतंत्र मानना न्याय-दृष्टिसे अनुचित है। क्योंकि नित्य और अनित्य ये दोनो कल्पनाएं परस्पर-विरुद्ध है और इसलिये दोनोका अस्तित्व एकही कालमे संभव नही माना जा सकता। इसलिये वेदान्तियोने यह निश्चित किया है कि विनाशी प्रकृति अथवा कर्मात्मक माया स्वतंत्र नही है, किन्तु एक नित्य, सर्वव्यापी और निर्गुण परब्रह्ममेंही, मनुष्यकी दुर्बल इंद्रियोको सगुण मायाका दिखावा दीख पड़ता है। परन्तु केवल इतनाही कह देनेसे काम नही चल जाता, कि माया परतंत्र है, और निर्गुण परब्रह्ममेही यह दृश्य दिखाई देता है। गुणपरिणामसे न सही, तोभी विवर्तवादसे निर्गुण और नित्य ब्रह्ममे विनाशी सगुण नामरूपोंका — अर्थात् मायाका दृश्य दिखना चाहे संभव हो, तथापि यहां एक और प्रश्न उपस्थित होता है, कि मनुष्यकी इंद्रियोको दीखनेवाला यह सगुण दृश्य निर्गुण परब्रह्ममें पहले पहल किस क्रमसे, कब और क्यो दीखने लगा? अथवा यही अर्थ व्यावहारिक भाषामे इस प्रकार कहा जा सकता है, कि नित्य और चिद्रूपी परमेश्वरने नामरूपात्मक विनाशी और जड सृष्टि **कब** और **क्यों** उत्पन्न की? परन्तु ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमे जैसा कि वर्णन किया गया है यह विषय मनुष्यकेही लिये नही किन्तु देवताओके लिये और वेदोके लियेभी अगम्य है (ऋ. १०. १२९; तै. ब्रा. २. ८. ९)। इसलिये उक्त प्रश्नका इससे अधिक और कुछ उत्तर नही दिया जा सकता, कि 'ज्ञानदृष्टिसे निश्चित किये हुए निर्गुण परब्रह्मकीही यह एक अतर्क्य लीला है' (वे. सू. २. १. ३३)। अतएव इतना मान करही आगे चलना पड़ता है कि जबसे हम देखते आये हैं, तबसे निर्गुण ब्रह्मके साथही नामरूपात्मक विनाशी कर्म अथवा सगुण माया हमें दृग्गोचर होती आई है। इसीलिये वेदान्तसूत्रमे कहा है, कि मायात्मक कर्म अनादि है (वे. सू. २. १. ३५–३६) और भगवद्गीतामेभी भगवानने पहले यह वर्णन करके कि प्रकृति स्वतंत्र नही है — मेरीही माया है (गीता ७. १४) — फिर आगे कहा है, कि प्रकृति अर्थात् माया और पुरुष दोनो अनादि है (गीता १३. १९)। इसी

तरह श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें मायाका लक्षण देते हुए कहा है कि "सर्वज्ञ-
स्वरस्याऽऽत्मभूते इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-
प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्तिः' 'प्रकृति' रिति च श्रुतिस्मृत्योरभि-
लप्येते" (वे. सू. शां. भा. २. १. १४)। इसका भावार्थ यह है, कि - "(इन्द्रियोंके)
अज्ञानसे मूल ब्रह्ममें कल्पित नामरूपोंकोही श्रुति और स्मृति-ग्रंथोंमें सर्वज्ञ ईश्वरकी
'माया', 'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वरके आत्म-
भूत-से जान पडते हैं परन्तु इनके जड होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता,
कि ये परब्रह्मसे भिन्न हैं या अभिन्न (तत्त्वान्यत्व)? और येही जड सृष्टि
(दृश्य) के विस्तारके मूल हैं"; और "इस मायाके योगसेही यह सृष्टि
परमेश्वर-निर्मित दीख पडती है, इस कारण यह माया चाहे विनाशी हो
तथापि दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक और अत्यंत उपयुक्त है, तथा
इसीको उपनिषदोंमें अव्यक्त, आकाश, अक्षर इत्यादि नाम दिये गये हैं" (वे. सू.
शां. भा. १. ४. ३)। इससे दीख पडेगा, कि चिन्मय (पुरुष) और अचेतन
माया (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वोंको सांख्यवादी स्वयंभू, स्वतंत्र और अनादि
मानते हैं, पर मायाका अनादित्व यद्यपि वेदान्ती एक तरहसे स्वीकार करते हैं
तथापि यह उन्हे मान्य नहीं, कि माया स्वयंभू और स्वतंत्र है; और इसी कारण
संसारात्मक मायाका वृक्षरूपसे वर्णन करते समय गीतामें (गीता १५. ३) कहा
गया है कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा" -
इस संसारवृक्षका रूप, अंत, आदि, मूल अथवा ठौर नहीं मिलता। इसी प्रकार
तीसरे अध्यायमें भी जो वर्णन है कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गीता ३. १५)
- ब्रह्मसे कर्म उत्पन्न हुआ, 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' (गीता ३. १४) - यज्ञभी
कर्मसेही उत्पन्न होता है। अथवा "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" (गीता ३. १०)
- ब्रह्मदेवने प्रजा (सृष्टि) और यज्ञ (कर्म) दोनोंको साथही निर्माण किया;
इन सबका तात्पर्यभी यही है कि 'कर्म अथवा कर्मरूपी यज्ञ और सृष्टि अर्थात्
प्रजा ये सब साथही उत्पन्न हुए हैं।" फिर चाहे इस सृष्टिको प्रत्यक्ष ब्रह्मदेवसे
निर्मित कहो अथवा मीमांसकोंकी नाईं यह कहो कि इस ब्रह्मदेवने नित्य वेद-शब्दोंसे
उसको बनाया - दोनोंका अर्थ एकही है (मभा. शां. २३१; मनु. १. २१)।
सारांश, दृश्य सृष्टिका निर्माण होनेके समय मूल निर्गुण ब्रह्ममें जो व्यापार दीख
पडता है, वही कर्म है। इस व्यापारकोही नाम-रूपात्मक माया कहा गया है,
और इस मूल कर्मसेही सूर्य-चंद्र आदि सृष्टिके सब पदार्थोंके व्यापार आगे परंपरासे
उत्पन्न हुए हैं (बृ. ३. ८. ९)। ज्ञानी पुरुषोंने अपनी बुद्धिसे निश्चित किया है
कि संसारके सारे व्यापारोंका मूलभूत जो यह सृष्टयुत्पत्ति-कालका कर्म अथवा

माया है, सो ब्रह्मकीही कोई न कोई अतर्क्य लीला है, स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।* परन्तु ज्ञानी पुरुषोंकी गति यहांपर कुण्ठित हो जाती है इसलिये इस बातका पता नहीं लगता, कि यह लीला, नामरूप अथवा मायात्मक कर्म 'कब' उत्पन्न हुआ? अतः केवल कर्म सृष्टिकाही विचार जब करना होता है, तब इस परतन्त्र और विनाशी मायाको तथा मायाके साथही तदंगभूत कर्मकोभी वेदान्तशास्त्रमें 'अनादि' कहा करते हैं (वे. सू. २. १. ३५)। स्मरण रहे, कि जैसा सांख्यवादी कहते हैं, उस प्रकार, अनादिका यह मतलब नहीं है, कि माया मूलमेंही परमेश्वरकी बराबरीकी, निरारंभ और स्वतन्त्र है – परन्तु यहां अनादि शब्दका यह अर्थ विवक्षित है कि वह दुर्ज्ञेयारम्भ है – अर्थात् उसका आदि (आरंभ) मालूम नहीं होता।

परन्तु यद्यपि हमें इस बातका पता नहीं लगता, कि चिद्रूप ब्रह्म कर्मात्मक अर्थात् दृश्य सृष्टि-रूप कब और क्यों होने लगा? तथापि इस मायात्मक कर्मके अगले सब व्यापारोंके नियम निश्चित हैं, और उनमेंसे बहुतेरे नियमोंको हम निश्चित रूपसे जानभी सकते हैं। आठवें प्रकरणमें सांख्यशास्त्रके अनुसार इस बातका विवेचन किया गया है, कि मूल प्रकृतिसे अर्थात् अनादि मायात्मक कर्मसेही आगे चलकर सृष्टिके नाम-रूपात्मक विविध पदार्थ किस क्रमसे निर्मित हुए, और वहीं आधुनिक आधिभौतिक शास्त्रके सिद्धान्तभी तुलनाके लिये बतलाये गये हैं। यह सच है, कि वेदान्तशास्त्र प्रकृतिको परब्रह्मकी तरह स्वयंभू नहीं मानता, परन्तु प्रकृतिके अगले विस्तारका जो क्रम सांख्यशास्त्रमें कहा गया है वही वेदान्तकोभी मान्य है; इसलिये यहां उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। कर्मात्मक मूल प्रकृतिसे विश्वकी उत्पत्तिका जो क्रम पहले बतलाया गया है, उसमें, उन सामान्य नियमोंका कुछभी विचार नहीं हुआ कि जिनके अनुसार मनुष्यको कर्म-फल भोगने पड़ते हैं। इसलिये अब उन नियमोंका विवेचन करना आवश्यक है। इसीको 'कर्मविपाक' कहते हैं। इस कर्मविपाकका पहला नियम यह है, कि जहां एक बार कर्मका आरंभ हुआ कि फिर उसका व्यापार आगे बराबर अखंड जारी रहता है, और जब ब्रह्माका दिन समाप्त होनेपर सृष्टिका संहार होता है, तबभी यह कर्म बीजरूपसे बना रहता है, एवं फिर जब सृष्टिका आरंभ होने लगता है तब उसी कर्मबीजसे फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारतका कथन है, कि –

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

अर्थात् 'पूर्वकी सृष्टिमें प्रत्येक प्राणीने जो जो कर्म किये होंगे, ठीक वेही कर्म उसे (चाहे उसकी इच्छा हो या न हो) फिर यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं" (मभा

---

* "What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's *Metaphysic of Morals* (Abbot's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, p. 81.)

शा २३१ ४८,४९ और गीता ८ १८ तथा १९)। गीतामे (गीता ४ १८) कहा है, कि "गहना कर्मणो गति "– कर्मकी गति कठिन है, इतनाही नही, किंतु कर्मका बधनभी बडा कठिन है। कर्म किसीसेभी नही छूट सकता। वायु कर्मसेही चलती है, सूर्य-चद्रादिक कर्मसेही घूमा करते है, और ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि सगुण देवताभी कर्मोमेंही बँधे हुए है। फिर इद्र आदिकोका क्या पूछना है? सगुणका अर्थ है नामरूपात्मक, और नामरूपात्मकका अर्थ है कर्म या कर्मका परिणाम। जब कि यही बतलाया नही जा सकता, कि मायात्मक कर्म आरभमें कैसे उत्पन्न हुआ, तब यह कैसे बतलाया जावे, कि तदगभूत मनुष्य इस कर्म-चक्रमे पहले पहल कैसे फँस गया? परतु किसीभी रीतिसे क्यो न हो, जब वह एक बार कर्म-बधनमें पड चुका, तब फिर आगे चलकर उसकी एक नामरूपात्मक देहका नाश होनेपर कर्मके परिणामके कारण उसे इस सृष्टिमें भिन्न भिन्न रूपोका मिलना कभी नही छूटता। क्योकि आधुनिक आधिभौतिक शास्त्रकारोंनेभी अब यह निश्चित किया है,* कि कर्मशक्तिका कभीभी नाश नही होता, किंतु जो शक्ति आज किसी एक नामरूपसे दीख पडती है, वही शक्ति उस नामरूपके नाश होनेपर दूसरे नाम-रूपसे प्रकट हो जाती है। और जब कि किसी एक नामरूपके नाश होनेपर उसको भिन्न भिन्न नामरूप प्राप्त हुआही करते है, तब यहभी नही माना जा सकता कि ये भिन्न भिन्न नामरूप निर्जीवही होगे, अथवा ये भिन्न प्रकारके होही नही सकते। अध्यात्मदृष्टिसे इस नामरूपात्मक परपराकोही जन्म-मरणका चक्र या ससार कहते है। और इन नामरूपोकी आधारभूत शक्तिको समष्टिरूपसे ब्रह्म, और व्यष्टि रूपसे जीवात्मा कहा करते है। वस्तुत देखनेसे यह विदित होगा कि यह आत्मा न तो जन्म धारण करता है, और न मरताही है। अर्थात् यह नित्य अथवा स्थायी है। परतु कर्मबधनमे पड जानेके कारण एक नामरूपके नाश हो जाने पर उसीको दूसरे नामरूपोका प्राप्त होना टल नही सकता। आजका कर्म कल भोगना पडता है, और कलका परसो। इतनाही नही, किंतु इस जन्ममे जो कुछ किया

---

* यह बात नही, कि पुनर्जन्मकी इस कल्पनाको केवल हिंदुधर्मने या केवल आस्तिकवादियोंनेही माना हो। यद्यपि बौद्ध लोग आत्माको नही मानते तथापि वैदिक धर्ममे वर्णित पुनर्जन्मकी कल्पनाको उन्होंने अपने धर्ममे पूर्ण रीतिसे स्थान दिया है, और बीसवी शताब्दीमे "परमेश्वर मर गया" कहनेवाले पक्के निरीश्वर-वादी जर्मन पडित नित्शेनेभी पुनर्जन्मवादको स्वीकार किया है। उसने लिखा है, कि कर्म-शक्तिके जो हमेशा रूपातर हुआ करते है, वे मर्यादित है, तथा काल अनत है, इसलिये कहना पडता है, कि एक बार जो नामरूप हो चुके है, वेही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होतेही हैं, और इसीसे कर्मका चक्र अर्थात् बधन केवल आधिभौतिक दृष्टिसेही सिद्ध हो जाता है। उसने यहभी लिखा है, कि यह कल्पना और उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्तिसे मालूम हुई है! Nietzsche's *Eternal Recurrence* (Complete Works, Engl Trans, Vol XVI, pp 235-256)

जाय, उसे अगले जन्ममे भोगना पडता है – इस तरह यह भवचक्र सदैव चलता रहता है। मनुस्मृति तथा महाभारतमे (मनु ४ १७३, मभा आ ८० ३) तो कहा गया है, कि इन कर्मफलोको न केवल हमे, किंतु कभी कभी हमारी नामरूपात्मक देहसे उत्पन्न हमारे लडको और नातियोतकको भी भोगना पडता है। शान्तिपर्वमे भीष्म युधिष्ठिरसे कहते है –

पाप कर्म कृत किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

अर्थात् "हे राजा ! यदि किसी आदमीको उसके पाप-कर्मोका फल मिलते हुए न दीख पडे, उसके पुत्रो, पौत्रो और प्रपौत्रोतकको उसे भोगना पडता है" (मभा शा १२९ २१))। हम लोग प्रत्यक्ष देखा करते है, कि कोई कोई असाध्य रोग वशपरपरासे प्रचलित रहते है। इसी तरह कोई जन्मसेही दरिद्री होता है, और कोई वैभवपूर्ण राजकुलमे उत्पन्न होता है। इन सब बातोकी उपपत्ति केवल कर्मवादसेही लगाई जा सकती है, और बहुतोका मत है, कि यही कर्मवादकी सच्चाईका प्रमाण है। कर्मका यह चक्र जब एक बार आरभ हो जाता है, तब फिर उसे परमेश्वरभी नही रोक सकता। यदि इस दृष्टिसे देखे, कि सारी सृष्टि परमेश्वरकी इच्छासेही चल रही है, तो कहना न होगा कि, कर्म-फलका देनेवाला परमेश्वरसे भिन्न कोई दूसरा हो नही सकता (वे सू ३ २ ३८, कौ ३ ८)। और इसीलिये भगवान्‌ने कहा है, कि "लभते च तत कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (गीता ७ २२) – मैं जिस फलका निश्चय कर दिया करता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्यको मिलता है। परतु कर्म-फलको निश्चित कर देनेका काम यद्यपि ईश्वरका है, तथापि वेदान्तशास्त्रका यह सिद्धान्त है, कि ये फल हर एकके खरे-खोटे कर्मोकी अर्थात् कर्म-अकर्मकी योग्यताके अनुरूपही निश्चित किये जाते है इसीलिये परमेश्वर इस सबधमे वस्तुत उदासीनही है। अत यदि मनुष्योमे भले-बुरेका भेद हो जाता है, तो उसके लिये परमेश्वर वैषम्य (विषम बुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) दोषोका पात्र नही होता (वे सू २ १ ३४)। इसी आशयको लेकर गीतामेभी कहा है कि "समोऽह सर्वभूतेषु" (गीता ९ २९) अर्थात् ईश्वर सबके लिये समान है, अथवा –

नादत्ते कस्यचित पाप न चैव सुकृत विभु. ॥

'परमेश्वर न तो किसीके पापको लेता है, न पुण्यको, कर्म या मायाके स्वभावका चक्र चलता रहता है, जिससे प्राणिमात्रको अपने अपने कर्मानुसार सुख-दु ख भोगने पडते है" (गीता ५ १४, १५)। साराश, यद्यपि मानवी बुद्धिसे इस बातका पता नही लगता कि परमेश्वरकी इच्छासे ससारके कर्मका आरभ कब हुआ और तदगभूत मनुष्य कर्मके बधनमे पहले पहल कैसे फँस गया ? तथापि जब हम देखते है कि कर्मके आगामी परिणाम या फल केवल कर्मके नियमोसेही उत्पन्न हुआ करते

है, तब हम अपनी बुद्धिसे इतना तो अवश्य निश्चय कर सकते है, कि ससारके आरभसे प्रत्येक प्राणी नामरूपात्मक अनादि कर्मकी कैदमें बँध-सा गया है। "कर्मणा बध्यते जन्तु " – ऐसा जो इस प्रकरणके आरभमेही वचन दिया हुआ है, उसका अर्थभी यही है।

इस अनादि कर्मप्रवाहके औरभी दूसरे अनेक नाम है, जैसे ससार, प्रकृति, माया, दृश्य सृष्टि, सृष्टिके कायदे या नियम इत्यादि। क्योंकि सृष्टिशास्त्रके नियम नामरूपोंमे होनेवाले परिवर्तनोंकेही नियम है। और यदि इस सृष्टिमे देखें, तो सब आधिभौतिक शास्त्र नाम-रूपात्मक मायाके प्रपचमेही आ जाते है। इस मायाके नियम तथा बधन सुदृढ एव सर्वव्यापी है। इसीलिये हेकेल जैसे आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंने – जो इस नामरूपात्मक माया अथवा दृश्य सृष्टिके मूलमें अथवा उससे परे किसी नित्य तत्त्वका अस्तित्व नही मानते, यह सिद्धान्त किया है, कि यह सृष्टि-चक्र मनुष्यको जिधर ढकेलता जायेगा, उधरही उसे जाना पडता है। इन पडितोंका कथन है, कि प्रत्येक मनुष्यको जो ऐसा मालूम होता रहता है, कि नामरूपात्मक विनाशी स्वरूपसे मेरी मुक्ति होनी चाहिये, अथवा अमुक काम करनेसे मुझे अमृतत्व मिलेगा – यह सब केवल भ्रम है। आत्मा या परमात्मा कोई स्वतत्र पदार्थ नही है, और अमृतत्वभी झूठ है, इतनाही नही, किंतु इस ससारमें कोईभी मनुष्य अपनी इच्छासे कुछ काम करनेको स्वतत्र नही है। मनुष्य आज जो कुछ कार्य करता है, वह पूर्वकालमें किये गये स्वय उसके या उसके पूर्वजोंके कर्मोंका परिणाम है, इससे उक्त कार्यका करना या न करनाभी उसकी इच्छापर कभी अवलबित नही हो सकता। उदाहरणार्थ, किसीकी एक-आध उत्तम वस्तुको देखकर, पूर्वकर्मोंसे अथवा वशपरपरागत सस्कारोंसे, उसे चुरा लेनेकी बुद्धि, कई लोगोंके मनमें इच्छा न रहनेपरभी, उत्पन्न हो जाती है, और वे उस वस्तुको चुरा लेनेके लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् इन आधिभौतिक पडितोंके मतका साराश यही है, कि गीतामें जो यह तत्त्व बतलाया गया है, कि "अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित " (गीता ३ ३६)– इच्छाके न रहनेपरभी मनुष्य पाप करता है। वही तत्त्व सभी जगह एक समान उपयोगी है, उसके लिये एकभी अपवाद नही है, और उससे बचनेकाभी कोई उपाय नही है। इस मतके अनुसार यदि देखा जाय, तो मानना पडेगा कि मनुष्यकी जो बुद्धि या इच्छा आज उत्पन्न होती है, वह कलके कर्मोंका फल है, तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी, वह परसोंके कर्मोंका फल था, और ऐसा होते होते इस कारणपरपराका कभी अतही नही होगा तथा यह मानना पडेगा कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे कभी कुछभी नही कर सकता – जो कुछ होता है वह सब पूर्व-कर्म अर्थात् दैवकाभी फल है। क्योंकि प्राक्तन-कर्मकोही लोग दैव कहा करते है। इस प्रकार यदि किसी कर्मको करने अथवा न करनेकी मनुष्यको कोई स्वतन्त्रताही नही है तो फिर यह कहनाही व्यर्थ

है, कि मनुष्यको अपना आचरण अमुक रीतिसे सुधार लेना चाहिये, और अमुक रीतिसे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करके अपनी बुद्धिको शुद्ध करना चाहिये। तब तो मनुष्यकी वही दशा होती है, कि जो नदीके प्रवाहमें बहती हुई लकड़ीकी हो जाती है, अर्थात् जिस ओर माया, प्रकृति, सृष्टि-क्रम या कर्मका प्रवाह उसे खींचेगा, उसी ओर उसे चुपचाप चले जाना चाहिये। फिर चाहे उसमें अधोगति हो अथवा प्रगति! इसपर कुछ अन्य आधिभौतिक उत्क्रान्तिवादियोंका कहना है, कि प्रकृतिका स्वरूप स्थिर नहीं है, और नामरूप क्षण-क्षणमें बदला करते हैं, इसलिये जिन सृष्टिनियमोंके अनुसार ये परिवर्तन होते हैं उन्हें जानकर मनुष्यको बाह्य-सृष्टिमें ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिये कि जो उसे हितकारक हो और हम देखते हैं कि मनुष्य इसी न्यायसे प्रत्यक्ष व्यवहारोंमें अग्नि या विद्युच्छक्तिका उपयोग अपने फायदेके लिये करता है। इसी तरह यहभी अनुभवकी बात है कि प्रयत्नसे मनुष्यस्वभावमेंभी थोडा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो जाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं है, कि सृष्टि-रचनामें या मनुष्य-स्वभावमें परिवर्तन होता है या नहीं? और करना चाहिये या नहीं? हमे तो पहले यही निश्चय करना है, कि ऐसा परिवर्तन करनेकी जो बुद्धि या इच्छा मनुष्यमें उत्पन्न होती है, उसे रोकने या न रोकनेकी स्वाधीनता उसमें है या नहीं। और, आधिभौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे इस बुद्धिका होना या न होनाही यदि 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' के न्यायके अनुसार प्रकृति कर्म या सृष्टिके नियमोंसे पहलेही निश्चित हुआ है तो यही निष्पन्न होता है कि इस आधिभौतिक शास्त्रके अनुसार किसीभी कर्मको करने या न करनेके लिये मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। इस वादको 'वासना-स्वातन्त्र्य', 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' या 'प्रवृत्ति-स्वातन्त्र्य' कहते हैं। केवल कर्मविपाक अथवा केवल आधिभौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो अंतमें यही सिद्धान्त करना पड़ता है कि मनुष्यको किसीभी प्रकारका प्रवृत्ति-स्वातन्त्र्य या इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं है और वह कर्मके अभेद्य बंधनोंसे वैसेही जकडा हुआ है जैसे किसी गाडीका पहिया चारों तरफसे लोहेकी पट्टीसे जकड दिया जाता है। परन्तु इस सिद्धान्तकी सत्यताके लिये मनुष्योंके अन्तःकरणका अनुभव गवाही देनेको तैयार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरणमें यही कहता है कि यद्यपि मुझमें सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें करा देनेकी शक्ति नहीं है तोभी मुझमें इतनी शक्ति अवश्य है कि मैं अपने हाथसे होनेवाले कार्योंकी भलाई-बुराईका विचार करके उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार करूं या न करूं अथवा जब मेरे सामने पाप या पुण्य तथा धर्म या अधर्म दो मार्ग उपस्थित हों तब उनमेंसे इस प्रकार किसी एकका स्वीकार कर लेनेके लिये मैं स्वतन्त्र हूं। अब यही देखना है कि यह समझ सच है या झूठ? यदि इस समझको झूठ कहें तो हम देखते हैं कि इसीके आधारपर चोरी हत्या आदि अपराध करनेवालोंको अपराधी ठहराकर सजा दी जाती है और यदि सच मानें तो कर्मवाद, कर्मविपाक या दृश्य सृष्टिके नियम

मिथ्या प्रतीत होते हैं, आधिभौतिक शास्त्रोंमें केवल जड पदार्थोकी क्रियाओंकाही विचार किया जाता है, इसलिये वहाँ यह प्रश्न उत्पन्न नही होता, परन्तु जिस कर्म-योग-शास्त्रमें ज्ञानवान् मनुष्यके कर्तव्यका विवेचन करना होता है, उसमें यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, और उसका उत्तर देनाभी आवश्यक है। क्योंकि एक बार यदि यही अंतिम निश्चय हो जाय, कि मनुष्यको कुछभी प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य नही है, तो फिर अमुक प्रकारसे बुद्धिको शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिये, अमुक नही करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य, इत्यादि विधिनिषेध-शास्त्रके सब झगडेभी आप-ही-आप मिट जायेंगे (वे सू २ ३ ३३),* और तब परपरासे या प्रत्यक्ष रीतिसे महामाया प्रकृतिके दासत्वमें सदैव रहनाही मनुष्यका पुरुषार्थ हो जायगा। अथवा पुरुषार्थही काहेका ? अपने बसकी बात हो, तो पुरुषार्थ ठीक है परन्तु जहाँ एक रत्तीभरभी अपनी सत्ता या इच्छा नही रह जाती, वहाँ दास्य और परतत्रताके सिवा और होही क्या सकता है। हलमें जुते हुए बैलोंके समान सब लोगोको प्रकृतिकी आज्ञामें रहकर, एक आधुनिक कविके कथनानुसार 'पदार्थ-धर्मोकी शृखलाओंमें' बँध जाना चाहिये। हमारे भारतवर्षमें कर्मवाद या दैववादसे और पश्चिमी देशोंमें पहले पहल ईसाई धर्मके भवितव्यवादसे तथा अर्वाचीन कालमें शुद्ध आधिभौतिक शास्त्रोंके सृष्टिक्रमवादसे इच्छा-स्वातंत्र्यके इस विषयकी ओर पडितोका ध्यान आकर्षित हो गया है, और इसकी बहुत-कुछ चर्चा हो चुकी है और आजभी हो रही है। परन्तु यहाँ पर उसका वर्णन करना असभव है, इसलिये इस प्रकरणमें यही बतलाया जायगा कि वेदान्तशास्त्र और भगवद्गीताने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया है।

यह सच है, कि कर्म-प्रवाह अनादि है और और जब एक बार कर्मका चक्र शुरू हो जाता है, तब परमेश्वरभी उसमे हस्तक्षेप नही करता। तथापि अध्यात्म-शास्त्रका यह सिद्धान्त है, कि दृश्य सृष्टि केवल नामरूप या कर्मही नही है, किंतु इस नामरूपात्मक आवरणके लिये आधारभूत एक आत्मरूपी, स्वतन्त्र और अविनाशी ब्रह्मसृष्टि है, तथा मनुष्यके शरीरका आत्मा उस नित्य एव स्वतन्त्र परब्रह्महीका अश है। इस सिद्धान्तकी सहायतासे प्रत्यक्षमें अनिवार्य दीखनेवाली उक्त अडचन-सेभी छुटकारा पानेके लिये हमारे शास्त्रकारोका निश्चित किया हुआ एक मार्ग है। परन्तु इसका विचार करनेके पहले कर्मविपाक-क्रियाके शेष अशका वर्णन पूरा कर

---

* वेदान्तसूत्रके इस अधिकरणका 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' कहते हैं। उसका पहलाही सूत्र है – "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" अर्थात् विधिनिषेध शास्त्रमें अर्थ-तत्त्व होनेके लिये जीवको कर्ता मानना चाहिये। पाणिनीके 'स्वतन्त्र कर्ता' (पा १ ४ ५४) सूत्रके 'कर्ता' शब्दसेही आत्मस्वातंत्र्यका बोध होता है, और इससे मालूम होता है, कि यह अधिकरण इसी विषयका है।

लेना चाहिये। 'जो जस करै सो तस फल चाखा" यानी –"जैसी करनी वैसी भरनी"– यह नियम न केवल एकही व्यक्तिके लिये, किंतु कुटुंब, जाति, राष्ट्र और समस्त ससारके लियेभी उपयुक्त होता है। और चुंकि प्रत्येक मनुष्यका किसीन-किसी कुटुंब, जाति, अथवा देशमें समावेश हुआही करता है, इसलिये उसे स्वय अपने कर्मोंके साथ-साथ कुटुंब आदिके सामाजिक कर्मोंके फलोकोभी अशत भोगना पडता है। परतु व्यवहारमें प्राय एक मनुष्यके कर्मोकाही विवेचन करनेका प्रसग आया करता है – इसलिये कर्मविपाक-प्रक्रियामें कर्मके विभाग प्राय एक मनुष्यकोही लक्ष्य करके किये जाते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्यसे किये जानेवाले अशुभ कर्मोंके मनुजीने – कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार तीन भेद किये हैं। व्यभिचार, हिंसा और चोरी – इन तीनोको कायिक, कटु, मिथ्या, ताना मारना और असगत बोलना – इन चारोको वाचिक, और पर-द्रव्याभिलाषा, दूसरोका अहित-चिंतन और व्यर्थ आग्रह करना – इन तीनोको मानसिक पाप कहते हैं। सब मिलाकर दस प्रकारके अशुभ या पापकर्म बतलाये गये है (मनु १२ ५–७, मभा अनु १३) और आगे इनके फलभी कहे गये हैं। परतु ये भेद कुछ स्थायी नही है। क्योकि इसी अध्यायमें सब कर्मोंके फिरभी – सात्त्विक, राजस, और तामस – तीन भेद किये गये हैं, और प्राय भगवद्गीतामे दिये गये वर्णनके अनुसार इन तीनो प्रकारके गुणो या कर्मोंके लक्षणभी बतलाये गये हैं (गीता १४ ११–१५, १८ २३–२५, मनु १२ ३१–३४)। परतु कर्मविपाक-प्रकरणमें कर्मका जो सामान्यत' विभाग पाया जाता है, वह इन दोनोसेभी भिन्न है, उसमें कर्मके सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण – ये तीन भेद किये जाते हैं। किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षणतक किया गया जो कर्म है – चाहे वह इस जन्ममे किया गया हो या पूर्वजन्ममें – वह उसका सचित अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहा जाता है। इसी 'सचित'का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमासकोकी परिभाषामें 'अपूर्व'भी है। इन नामोंके देनेका कारण यह है, कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समयके लिये वह दृश्य रहती है और उस समयके बीत जानेपर वह क्रिया स्वरूपत शेष नही रहती किंतु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणामही बाकी रह जाते हैं (वे सू शा भा ३ २ ३९, ४०)। कुछभी हो, परतु इसमें सदेह नही, कि इस क्षणतक जो जो कर्म किये गये होगे, इन सबके परिणामोंके सग्रहकोही 'सचित', 'अदृश्य' या 'अपूर्व' कहते है। उन सब सचित कर्मोको एकदम भोगना असभव है। क्योकि इनके परिणामोसे कुछ परस्पर-विरोधी अर्थात् भले और बुरे, दोनो प्रकारके फल देनेवाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई 'सचित' कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रदभी होते है इसलिये इन दोनोंके फलोको एकही समय भोगना सभव नही है – इन्हें एकके बाद एक भोगना पडता है। अतएव 'सचित'मेंसे जितने कर्मोंके फलोको भोगना पहले शुरू होता है, उतनेहीको 'प्रारब्ध' अर्थात् आरभित 'सचित'

कहते हैं। व्यवहारमें सचितके अर्थमेंही 'प्रारब्ध' शब्दका उपयोग किया जाता है, परतु यह भूल है। शास्त्रदृष्टिसे यही प्रकट होता है, कि 'सचितके अर्थात् भूतपूर्व कर्मोके सग्रहके एक छोटेभेदकोही 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध कुछ समस्त'सचित नही है। सचितके जितने भागके फलोका (कार्योका) भोगना आरभ हो गया हो उतनाही प्रारब्ध है, और इसी कारणसे प्रारब्धका दूसरा नाम आरब्ध-कर्म है। प्रारब्ध और सचितके अतिरिक्त कर्मका क्रियामाण नामक एक और तीसरा भेद है। 'क्रियामाण' वर्तमानकालवाचक धातुसाधित शब्द है, और उसका अर्थ है – "जो कर्म अभी हो रहा है, अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है।" परतु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं, वह प्रारब्ध कर्मकाही (अर्थात् सचित कर्मोमेंसे जिन कर्मका भोगना शुरू हो गया है, उनकाही) परिणाम है, अतएव 'क्रियमाण'को कर्मका तीसरा भेद माननेके लिये हमें कोई कारण दीख नही पडता। हॉं, यह भेद दोनोमें अवश्य किया जा सकता है, कि प्रारब्ध कारण है और क्रियमाण उसका फल अर्थात् कार्य है। परतु कर्म-विपाक-प्रक्रियामें इस भेदका कुछ उपयोग नही हो सकता। सचितमेंसे जिन कर्मोके फलोका भोगना अभीतक आरभ नही हुआ है, उनका – अर्थात् सचितमेंसे प्रारब्धको घटा देनेपर जो कर्म बाकी रह जायें, उनका – बोध करानेके लिये किसी दूसरे शब्दकी आवश्यकता है। इसलिये वेदान्तसूत्र (वे सू ४ १ १५)में प्रारब्धही-को प्रारब्ध-कर्म और जो प्रारब्ध नही हैं, उन्हे अनारब्ध-कार्य कहा है। हमारे मतानुसार सचित कर्मोके इस रीतिसे प्रारब्ध-कार्य और अनारब्ध-कार्य – दो भेद करनाही शास्त्रदृष्टिसे अधिक युक्तिपूर्ण मालूम होता है। इसलिये 'क्रियमाण'को धातुसाधित वर्तमानकालवाचक न समझ-कर "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार (पा ३ ३ १३१) भविष्यकालवाचक समझे, तो उसका अर्थ "जो आगे शीघ्रही भोगनेका है" – किया जा सकेगा, और तब 'क्रियमाण'काही अर्थ अनारब्ध-कार्य हो जायगा, एव 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण' ये दो शब्द क्रमसे वेदान्तसूत्रके 'आरब्ध-कार्य' और 'अनारब्ध-कार्य' शब्दोंसे समानार्थक हो जायेंगे। परतु क्रियमाणका ऐसा अर्थ आजकल कोई नही करता, उसका अर्थ प्रचलित कर्मही लिया जाता है। इसपर यह आक्षेप है, कि ऐसा अर्थ लेनेसे प्रारब्धके फलकोही क्रियमाण कहना पडता है, और जो कर्म अनारब्ध-कार्य है, उनका बोध करानेके लिये सचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण, इन तीनो शब्दोमें कोईभी शब्द पर्याप्त नही होता। इसके अतिरिक्त क्रियमाण शब्दके रूढार्थको छोड देनाभी अच्छा नही है। इसलिये कर्म-विपाक-प्रक्रियामें सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मके इन लौकिक भेदोको न मानकर हमने उसके अनारब्ध-कार्य और आरब्ध-कार्यसे ये दोही वर्ग किये हैं, और येही शास्त्रदृष्टिसेभी सुभीतेके हैं। 'भोगना' क्रियाके कालकृत तीन भेद होते हैं – जो भोगा जा चुका है (भूत), जो भोगा जा रहा है (वर्तमान) और जिसे आगे भोगना है (भविष्य)। परतु

कर्म-विपाक-क्रियामें इस प्रकार कर्मके तीन भेद नही हो सकते, क्योकि संचितमेंसे जो कर्म प्रारब्ध होकर भोगे जाते हैं, उनके फल फिरभी संचितहीमें जा मिलते हैं। इसलिये कर्म-भोगका विचार करते समय संचितके येही दो भेद हो सकते हैं—(१) वे कर्म, जिनका भोगना शुरू हो गया है अर्थात् प्रारब्ध, और (२) जिनका भोगना शुरू नही हुआ है अर्थात् अनारब्ध। इन दो भेदोंसे अधिक भेद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सब कर्मोंके फलोका द्विविध वर्गीकरण करके उनके उपभोगके संबधमें कर्म-विपाक-प्रक्रिया यह बतलाती है, कि संचितही कुल भोग्य है। इनमेंसे जिन कर्म-फलोका उपभोग आरंभ होनेसे यह शरीर या जन्म मिला है, अर्थात् संचितमेंसे जो कर्म प्रारब्ध हो गये हैं, उन्हे भोगे बिना छुटकारा नही है—"प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षय।" जब एक बार हाथसे बाण छूट जाता है, तब वह लौटकर आ नही सकता, अंततक चलाही जाता है, अथवा जब एक बार कुम्हारका चक्र घुमा दिया जाता है तब उसकी गतिका अंत होनेतक वह घूमताही रहता है, ठीक इसी तरह 'प्रारब्ध'कर्मोंकी—अर्थात् जिनके फलका भोग होना शुरू हो गया है, उनकीभी—अवस्था होती है। जो शुरू हो गया है, उसका अंत होनाही चाहिये, इसके सिवा दूसरी गति नही है। परंतु अनारब्ध-कार्य-कर्मका ऐसा हाल नही है—इन सब कर्मोंका ज्ञानसे पूर्णतया नाश किया जा सकता है। प्रारब्ध-कार्य और अनारब्ध-कार्यमें जो यह महत्त्वपूर्ण भेद है, उसके कारण ज्ञानी पुरुषको ज्ञान होनेके बादभी नैसर्गिक रीतिसे मृत्यु होनेतक—अर्थात् जन्मके साथही प्रारब्ध हुए कर्मोंका अंत होनेतक—शांतिके साथ राह देखनी पड़ती है। ऐसा न करके यदि वह हठसे देहत्याग करे, तो ज्ञानसे उसके अनारब्ध-कर्मोंका क्षय हो जानेपरभी उसके हठसे देहारंभक प्रारब्ध-कर्मोंका भोग अपूर्ण रह जायगा, जिन्हे भोगनेके लिये उसे फिरभी जन्म लेना पडेगा, एवं उसके मोक्षमेंभी बाधा आ जायगी—यह वेदान्त और सांख्य, दोनो शास्त्रोका निर्णय है (वे सू ४ १ १३–१५, तथा सा का ६७)। उक्त बाधाके सिवा हठसे आत्महत्या करना एक नया ही कर्म हो जायगा, और उसके फल भोगनेके लिये नया जन्म लेनेकी फिरभी आवश्यकता होगी। इससे साफ जाहिर होता है, कि कर्मशास्त्रकी दृष्टिसेभी आत्महत्या करना मूर्खताही है।

कर्मफल-भोगकी दृष्टिसे कर्मके भेदोका वर्णन हो चुका। अब इसका विचार किया जायगा, कि कर्मबंधनसे छुटकारा कैसे अर्थात् किस युक्तिसे हो सकता है? पहली युक्ति कर्मवादियोकी है। ऊपर बतलाया जा चुका है, कि अनारब्ध-कार्यभविष्यमें भुगते जानेवाले संचित कर्मोंको कहते हैं—फिर इन कर्मोंको चाहे इसी जन्ममें भोगना पडे या उसके लिये औरभी दूसरे जन्म लेने पडे। परंतु इस अर्थकी ओर ध्यान न देकर कुछ मीमांसकोंने कर्मबंधनसे मुक्त होकर मोक्ष पानेका अपने मतानुसार सहज मार्ग ढूंढ निकाला है। तीसरे प्रकरणमें कहे अनुसार, मीमांसकोकी दृष्टिसे समस्त कर्मोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद होते हैं। इनमेंसे संध्या

आदि नित्यकर्मोको न करनेसे पाप लगता है, और नैमित्तिक कर्म तभी करने पडते है, कि जब उनके लिये कोई निमित्त उपस्थित हो। इसलिये मीमासकोका कहना है, कि इन दोनो कर्मोको करनाही चाहिये। बाकी रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमेसे निषिद्ध कर्म करनेसे पाप लगता है, इसलिये नही करने चाहिये, और काम्य कर्मोको करनेसे उसके फलोको भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेना पडता है, इसलिये उन्हेभी नही करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्मोंके परिणामोके तारतम्यका विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मोको छोड दे और कुछ कर्मोको शास्त्रोक्त रीतिसे करता रहे, तो वह आप-ही-आप मुक्त हो जायगा। क्योकि इस जन्ममें प्रारब्ध कर्मोका उपभोग कर लेने-से, उनका अत हो जाता है — और इस जन्ममें सब नित्य-नैमित्तिक कर्मोको करते रहनेसे तथा निषिद्ध कर्मोसे बचते रहनेसे नरकमें नही जाना पडता, एव काम्य कर्मोको छोड देनेसे स्वर्ग आदि सुखोंके भोगनेकीभी आवश्यकता नही रहती। और जब इहलोक, नरक और स्वर्ग, ये तीनो गतियाँ इस प्रकार छूट जाती हैं, तब आत्माके लिये मोक्षके सिवा कोई दूसरी गतिही नही रह जाती। इस वादको 'कर्ममुक्ति' या 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' कहते हैं। कर्म करनेपरभी जो न करनेके समान हो अर्थात् जब किसी कर्मके पाप-पुण्यका बधन कर्ताको नही हो सकता, तब उस स्थितिको 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। परतु वेदातशास्त्रमें निश्चय किया गया है, कि मीमासकोकी उक्त युक्तिसे यह 'नैष्कर्म्य' पूर्ण रीतिसे नही सध सकता (वे सू शा भा ४ ३ १४), और इसी अभिप्रायसे गीताभी कहती हैं, कि "कर्म न करनेसे नैष्कर्म्य नही होता, और छोड देनेसे सिद्धिभी नही मिलती" (गीता ३ ४)। धर्मशास्त्रोमें कहा गया है, कि पहले तो सब निषिद्ध कर्मोका त्याग करनाही असभव है और यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है, तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित्तसे उसके सब दोषोका नाशभी नही होता। अच्छा, यदि मान ले, कि उक्त बात सभव है, तोभी मीमासकोंके इस कथनमेंही सत्याश नही दीख पडता, कि "प्रारब्ध कर्मोको भोगनेसे तथा इस जन्ममें किये जानेवाले कर्मोको उक्त युक्तिके अनुसार करने या न करने सब 'सचित' कर्मोका सग्रह समाप्त हो जाता है" क्योकि दो 'सचित' कर्मोंके फल परस्पर-विरोधी — उदाहरणार्थ, एकका फल स्वर्ग-सुख तथा दूसरेका फल नरक-यातना — हो, तो उन्हे एकही समयमे और एकही स्थलमें भोगना असभव है। इस-लिये इसी जन्ममे 'प्रारब्ध' हुए कर्मोसे तथा इसी जन्ममें किये जानेवाले कर्मोसे सब सचित' कर्मोके फलोका भोगना पूरा नही हो सकता। महाभारतमें पराशरगीतामें कहा है —

> कदाचित्सुकृत तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
> मज्जमानस्य ससारे यावद्दु खाद्विमुच्यते ॥

"कभी कभी मनुष्यके सासरिक दु खोंसे छूटनेतक उसका पूर्वकालमें किया गया पुण्य (उसे अपना फल देनेकी राह देखता हुआ) चुपचाप बैठा रहता है"

(मभा शा २९० १७), और यही सचित पाप-कर्मोंकोभी लागू है। इस प्रकार सचित कर्मोपभोग एकही जन्ममें चुक जाता, किंतु सचित कर्मोका एक भाग अर्थात् अनारब्ध-कार्य हमेशा बचाही रहता है, और इस जन्मके सव कर्मोंको यदि उपर्युक्त युक्तिसे करते रहे, तोभी वचे हुये अनारब्ध-कार्य सचितोको भोगनेके लिये पुन जन्म लेनाही पडता है। इसीलिये वेदान्तका सिद्धान्त है, कि मीमासकोकी उपर्युक्त सरल मोक्ष-युक्ति खोटी तथा भ्रान्तिमूलक है। कर्मवधनसे छूटनेका यह मार्ग किसीभी उपनिपदमे नही वतलाया गया है। यह केवल तर्कके आधारमे स्थापित किया गया है, परतु यह तर्कभी अततक नही टिकता। साराश, कर्मके द्वारा कर्मसे छुटकारा पानेकी आशा रखना वैसेही व्यर्थ है जैसे एक अधा दूसरे अधेको रास्ता दिखलाकर पारकर दे ! अच्छा, अव यदि मीमासकोकी इस युक्तिको मजूर न करे, और कर्मके वधनोंसे छुटकारा पानेके लिये सव कर्मोंको आग्रहपूर्वक छोडकर निरुद्योगी वन वैठें, तोभी काम नही चल सकता, क्योकि अनारब्ध-कर्मोके फलोका भोगना तो वाकीही रहता है, और इसके साथ कर्म छोडनेका आग्रह तथा चुपचाप वैठे रहना दोनो तामस कर्म हो जाते हें, एव इन तामस कर्मोके फलोको भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेनाही पडता है (गीता १८ ७, ८)। इसके सिवा गीतामें अनेक स्थलोपर यहभी वतलाया गया है, कि जवतक शरीर है, तवतक श्वासोच्छ्वास, सोना, वैठना इत्यादि कर्म होतेही रहते हैं। इस लिये सव कर्मोंको छोड देनेका आग्रहभी व्यर्थही है — यथार्थमें इस ससारमें कोई क्षणभरके लियेभी कर्म करना छोड नही सकता (गीता ३ ५, १८ ११)।

कर्म चाहे भला हो या वुरा, परतु उसका फल भोगनेके लिये मनुष्यको एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखड व्यापारमें परमेश्वरभी हस्तक्षेप नही करता। सव कर्मोको छोड देना सभव नही है, और मीमासकोंके कथनानुसार कुछ कर्मोको करनेसे और कुछ कर्मोको छोड देनेसेभी कर्मवधनसे छुटकारा नही मिल सकता — इत्यादि वातोंके सिद्ध हो जानेपर [यह पहला प्रश्न फिरभी उत्पन्न होता है, कि कर्मात्मक नामरूपके विनाशी चक्रसे] छूट जाने एव उसके मूलमें रहनेवाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्वमे मिल जानेकी मनुष्यको जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करनेका कौनसा मार्ग है ? वेद और स्मृतिग्रथोमें यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याणके अनेक साधनोका वर्णन है, परतु मोक्षशास्त्रकी दृष्टिसे ये सव कनिष्ठ श्रेणीके है। क्योकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मोंके द्वारा स्वर्गप्राप्ति हो जाती है, परतु जव उन पुण्य-कर्मोके फलोका अतहो जाता है तव — चाहे दीर्घकालमेंही क्यो न हो — कभी न कभी इस कर्मभूमिमें फिर लौट कर आनाही पडता है (मभा वन २५९, २६०, गीता ८ २५, ९ २०)। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि कर्मके पजेसे विलकुल छूटकर अमृतत्वमें मिल जानेका और जन्म-मरणकी झझटको सदाके लिये दूर कर देनेका यह सच्चा मार्ग नही है। इस

झंझटको सदाके लिये दूर करनेका अर्थात् मोक्षप्राप्तिका अध्यात्मशास्त्र कथनानुसार 'ज्ञान'ही एक सच्चा मार्ग है। 'ज्ञान' शब्दका अर्थ व्यवहार-ज्ञान या नाम-रूपात्मक सृष्टिशास्त्रका ज्ञान नही है, किंतु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। इसीको 'विद्या'भी कहते हैं, और इस प्रकरणके आरभमें "कर्मणा वध्यते जतु विद्यया तु प्रमुच्यते" – कर्मसेही प्राणी बाँधा जाता है, और विद्यासे उसका छुटकारा होता है – यह जो वचन दिया गया है, उसमें 'विद्या'का अर्थ 'ज्ञान'ही विवक्षित है, गीतामें भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि –

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन

"ज्ञानरूप अग्निसे सव कर्म भस्म हो जाते है" (गीता ४ ३७)। और दोन स्थलोपर महाभारतमेंभी कहा गया है, कि –

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुन.।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥

"भूना हुआ वीज जैसे उग नही सकता, वैसेही जब ज्ञानसे (कर्मके) क्लेश दग्ध हो जाते है, तव वे आत्माको पुन प्राप्त नही होते" (मभा वन १९९ १०६, १०७, शा २११ १७)। उपनिषदोमेंभी इसी प्रकार ज्ञानकी महत्ता वतलानेवाले अनेक वचन हैं। जैसे – "य एव वेदाह ब्रह्मास्मीति स इद सर्व भवति।" (बृ १ ४ १०) – जो यह जानता है, कि मैंही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमलपत्रमें पानी चिपक नही सकता, उमी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कम दूषित नही कर सकते (छा ४ १४ ३)। ब्रह्म जाननेवालेको मोक्ष मिलता है (तै २ १)। जिसे यह मालूम हो चुका है, कि सव कुछ आत्ममय है, उसे पाप नही लग सकता (बृ ४ ८ २३)। "ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै" (श्वे ५ १३, ६ १३) – परमेश्वरका ज्ञान होनेपर सव पाशोंसे मुक्त हो जाता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु २ २ ८) परब्रह्मका ज्ञान होनेपर सव कर्मोका क्षय हो जाता है। "विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा ११ मैत्र्यु ७ ९) – विद्यासे अमृतत्व मिलता है। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे ३ ८) – परमेश्वरको जान लेनेसे अमरत्व मिलता है, इसको छोड मोक्षप्राप्तिका दूसरा मार्ग नही है। और शास्त्रदृष्टिसे विचार करने-परभी यही सिद्धान्त दृढ होता है। क्योकि दृश्य सृष्टिमें जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टिके आधारभूत परब्रह्मकीही वह सब लीला है, इसलिये यह स्पष्ट है, कि कोईभी कर्म परब्रह्मको बाधा नही दे सकते – अर्थात् सब कर्मोको करकेभी परब्रह्म अलिप्तही रहता है। इस प्रकरणके आरभमें वतलाया जा चुका है, कि अध्यात्मशास्त्रके अनुसार इस ससारके सव पदार्थोके कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दोही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है, कि इनमेंसे किसी एकवर्गसे अर्थात् कर्मसे छुटकारा पानेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको दूसरे वर्गमें अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें

प्रवेश करना चाहिये, इसके सिवा और दूसरा मार्ग नही है। क्योंकि जब सब पदार्थोंके केवल दोही वर्ग होते हैं, तब कर्मसे मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्मस्वरूपके और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्मस्वरूपकी इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये स्पष्ट रूपसे यह जान लेना चाहिये, कि ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? नही तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसराही। "विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" – मूर्ति तो गणेशकी बनानी थी, परतु (वह न बन कर) बन गई बदरकी। ठीक यही दशा होगी। इसलिये अध्यात्मशास्त्रके युक्तिवादसेभी यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यका तथा ब्रह्मकी अलिप्तताका ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यंत स्थिर रखनाही कर्मपाशसे मुक्त होनेका सच्चा मार्ग है। गीतामें भगवाननेभी यही कहा है, कि "कर्मोंमें मेरी कुछभी आसक्ति नही है, इसलिये मुझे कर्मकी बाधा नहीं होती, और जो इस तत्त्वको समझ जाता है, वह कर्मपाशसे मुक्त हो जाता है।" (गीता ४ १४ तथा १३ २३)। स्मरण रहे, कि यहाँ 'ज्ञान'का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नही है, किंतु वेदान्तसूत्रके शाकरभाष्यके आरभहीमें कहे अनुसार हर समय और प्रत्येक स्थानमें उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होनेपर और फिर इद्रियोपर जय प्राप्तकर लेनेपर ब्रह्मीभूत होनेकी अवस्था या ब्राह्मी स्थितिही है।" पिछले प्रकरणके अतमें ज्ञानके सबधमें अध्यात्मशास्त्रका यही सिद्धान्त बतलाया गया है और महाभारतमेंभी जनकने सुलभासे कहा है, कि "ज्ञानेन कुरुते यत्न यत्नेन प्राप्यते महत्" – ज्ञान अर्थात् मानसिक क्रियारूपी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य यत्न करता है, और यत्नके इस मार्गसेही अतमें उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है (शा ३२० ३०)। अध्यात्मशास्त्र इतनाही बतला सकता है, कि मोक्षप्राप्तिके लिये किस मार्गसे और कहाँ जाना चाहिये – इससे अधिक वह और कुछ नही बतला सकता। शास्त्रसे ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्यको शास्त्रोक्त मार्गपर स्वयही चलना चाहिये। और उस मार्गमें जो काँटे या बाधाएँ हो, उन्हें निकालकर अपना रास्ता खुद साफकर लेना चाहिये, एव उसी मार्गपर चलते हुए स्वय, अपने प्रयत्नसेही अतमें ध्येयवस्तुकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये। परतु यह प्रयत्नभी पातजलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफलत्याग इत्यादि अनेक प्रकारसे किया जा सकता है (गीता १२ ८–१२), और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझनमें फँस जाता है। इसीलिये गीतामें पहले निष्काम कर्मयोगका मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धिके लिये छठे अध्यायमें यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अगभूत साधनोकाभी वर्णन किया गया है, तथा सातवे अध्यायसे आगे यह बतलाया है, कि कर्मयोगका आचरण करते रहनेसेही परमेश्वरका ज्ञान अध्यात्मविचार-द्वारा अथवा (इससेभी सुलभ रीतिसे) भक्तिमार्ग-द्वारा हो जाता है (गीता १८ ५६)।

कर्मबधनसे छुटकारा पानेके लिये कर्म छोड देना कोई उचित मार्ग नही है, किंतु ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिको शुद्ध रखके परमेश्वरके समान आचरण करते रहनेसेही अतमें मोक्ष मिलता है। कर्मको छोड देना भ्रम है, क्योकि कर्म किसीसे छूट नही सकता – इत्यादि बाते यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई हैं, तथापि यह पहला प्रश्न फिरभी उठता है, कि इस मार्गमें सफलता पानेके लिये आवश्यक ज्ञानप्राप्तिका जो प्रयत्न करना पडता है, वह मनुष्यके वसकी बात है? अथवा नामरूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खीचे, उधरही उसे चले जाना चाहिये? गीतामें भगवान् कहते हैं, कि "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति।" (गीता ३ ३३) – निग्रहसे क्या होगा, प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसारही चलते हैं। "मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति" – तेरा निश्चय व्यर्थ है, जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खीच लेगी (गीता १८ ५९, २ ६०), और मनुजी कहते हैं, कि "बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति" (मनु २ २१५) – विद्वानोंकोभी इद्रियाँ अपने वशमें कर लेती है। कर्म-विपाक-प्रक्रियाकाभी निष्कर्ष यही है। क्योकि जब ऐसा मान लिया जाय, कि मनुष्यके मनकी सब प्रेरणाएँ पूर्वकर्मोसेही उत्पन्न होती हैं, तब तो यही अनुमान करना पडता है, कि उसे एक कर्मसे दूसरे कर्ममे अर्थात् सदैव भवचक्रमेंही रहना चाहिये। अधिक क्या कहे? कर्मसे छुटकारा पानेकी प्रेरणा और कर्म, दोनो बातें परस्पर-विरुद्ध है। और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पडती है, कि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कोईभी मनुष्य स्वतन्त्र नही है। इस विषयका विचार अध्यात्मशास्त्रमें इस प्रकार किया गया है, कि नामरूपात्मक सारी दृश्य सृष्टिका आधारभूत जो तत्त्व है, वही मनुष्यकी जड देहमेंभी आत्मरूपसे निवास करता है, इससे मनुष्यके कृत्योका विचार देह और आत्मा, दोनोकी दृष्टिसे करना चाहिये। इनमेंसे आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूलमें केवल एकही होनेके कारण कभीभी परतन्त्र नही हो सकता। क्योकि किसी एक वस्तुको दूसरेकी अधीनतामें होनेके लिये एकसे अधिक – कम-से-कम दो – वस्तुओका होना नितान्त आवश्यक है। यहाँ नाम-रूपात्मक कर्मही वह दूसरी वस्तु है। परतु यह कर्म अनित्य है, और मूलमें वह परब्रह्मकीही लीला हैं, जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि यद्यपि उसने परब्रह्मके एक अशको आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्मको अपना दास कभीभी बना नही सकता। इसके अतिरिक्त यह पहलेही बतलाया जा चुका है, जो आत्मा कर्मसृष्टिके व्यापारोका एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्म-सृष्टिसे भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टिकाही होना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि परब्रह्म और वस्तुत उसीका अश जो शारीर आत्मा, दोनो मूलत स्वतन्त्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृतिकी सत्तासे मुक्त हैं। इनमेंसे परमात्माके विषयमें मनुष्यको इससे अधिक ज्ञान नही हो सकता, कि वह अनत, सर्वव्यापी, नित्य शुद्ध और मुक्त है। परतु इस परमात्माहीके अशरूप जीवात्माकी बात भिन्न है। यद्यपि वह मूलमें शुद्ध, मुक्त-

स्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इंद्रियोंके बंधनमें फँसा होनेके कारण वह मनुष्यके मनमें जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभवरूपी ज्ञान हमें हो सकता है। भाफका उदाहरण लीजिये। जब वह खुली जगहमें रहती है तब उसका कुछ बल नही होता, परतु वह जब किसी बर्तनमें बंद कर दी जाती है, तब उसका दबाव उसी बर्तनपर जोरसे होता हुआ दीख पडने लगता है, ठीक इसी तरह जब परमात्माकाही अंशभूत जीव (गीता १५ ७) अनादि पूर्वकर्मार्जित जड देह तथा इंद्रियोंके बंधनोंसे बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्थासे उसको मुक्त करनेके लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करनेकी प्रवृत्ति देहेंद्रियोंमें होने लगती है, और इसीको व्यावहारिक दृष्टिसे 'आत्माकी स्वतंत्र प्रवृत्ति' कहते हैं। 'व्यावहारिक दृष्टिसे' कहनेका कारण यह है, कि शुद्ध मुक्तावस्थामें या 'तात्त्विक दृष्टिसे' आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृतिका है (गीता १३ २९, वे सू शा भा २ ३ ४०)। परतु वेदान्ती लोग सांख्यमतकी भाँति यह नही मानते, कि प्रकृतिही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है, क्योंकि ऐसा मान लेनेसे यह कहना पडेगा, कि जड प्रकृति अपने अंधेपनसे अज्ञानियोंकोभी मुक्त कर सकती है। और यहभी नही कहा जा सकता, कि जो आत्मा मूलहीमें अकर्ता है, वह स्वतंत्र रीतिसे -- अर्थात् बिना किसी निमित्तके -- अपने नैसर्गिक गुणोंसेही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिये आत्म-स्वातंत्र्यके उक्त सिद्धान्तको वेदान्तशास्त्रमें इस प्रकार बतलाना पडता है, कि आत्मा यद्यपि मूलमें अकर्ता है, तथापि बंधनोंके निमित्तसे वह उतनेहीके लिये दिखाऊ प्रेरक बन जाता है, और जब यह आगंतुक प्रेरकता उसमें एक बार किसीभी निमित्तसे आ जाती है, तब वह कर्मके नियमोंसे भिन्न अर्थात् स्वतंत्रही रहती है। 'स्वतंत्र'का अर्थ निर्निमित्तक नही है, और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्थामें कर्ताभी नही रहता। परतु बार बार इस लंबीचौडी कर्मकथाको बतलाते न रहकर इसीको संक्षेपमें आत्माकी स्वतंत्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहनेकी परिपाठी हो गई है। बंधनमें पडनेके कारण आत्माके द्वारा इंद्रियोंको मिलनेवाली इस स्वतंत्र प्रेरणामें और बाह्यसृष्टिके पदार्थोंके संयोगसे इंद्रियोंमें उत्पन्न होनेवाली प्रेरणामें बहुत भिन्नता है। खाना, पीना, चैन करना -- ये सब इंद्रियोंकी प्रेरणाएँ हैं, और आत्माकी प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करनेके लिये हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्मसृष्टिकी है। परतु दूसरी प्रेरणा आत्माकी अर्थात् ब्रह्मसृष्टिकी है। और ये दोनो प्रेरणाएँ प्राय परस्पर-विरोधी हैं, जिससे इनके झगडेमेंही मनुष्यकी सब आयु बीत जाती है। इनके झगडेके समय जब मनमें संदेह उत्पन्न होता है, तब कर्मसृष्टिकी प्रेरणाको न मानकर (भाग ११ १० ४) यदि मनुष्य शुद्धात्माकी स्वतंत्र प्रेरणाके अनुसार चलने लगे -- और इसीको सच्चा आत्मज्ञान या आत्मनिष्ठा कहते हैं -- तो उसके सब व्यवहार स्वभावत मोक्षानुकूलही होंगे। और अंतमें --

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् ॥
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ।

"वह जीवात्मा या शारीर आत्मा – जो मूलमें स्वतन्त्र है – ऐसे परमात्मामें मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और स्वतन्त्र है" (मभा शा ३०८ २७ –३०)। ऊपर जो कहा गया है, कि ज्ञानसे मोक्ष मिलता है उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड देहेंद्रियोंके प्राकृत धर्मकी – अर्थात् कर्मसृष्टिकी प्रेरणाकी – प्रबलता हो जाती है, तब मनुष्यकी अधोगति होती है। शरीरमें बँधे हुए जीवात्मामें, देहेंद्रियोमें मोक्षानुकूल कर्म करनेकी तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे मोक्ष प्राप्तकर लेनेकी, जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकरही भगवानने अर्जुनको आत्म-स्वातंत्र्य अर्थात् स्वावलंबनके तत्त्वका उपदेश किया है, कि –

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

"मनुष्यको चाहिये, कि वह अपना उद्धार आपही करे। निराशासे वह अपनी अवनति आपही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वय अपना बधु (हितकारी) है, और स्वय अपना शत्रु (नाशकर्ता) है" (गीता ६ ५), और इसी हेतुसे योगवासिष्ठमें (यो २ सर्ग ४–८) दैवका निराकरण करके पौरुपके महत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्वको पहचान कर आचरण किया करता है, कि सब प्राणियोमें एकही आत्मा है, उसके इसी आचरणको सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। और बद्ध जीवात्माकाभी यही स्वतन्त्र धर्म है, कि ऐसे आचरणकी ओर देहेद्रियोको प्रवृत्त किया करे। इसी धर्मके कारण दुराचारी मनुष्यका अत करणभी सदाचरणहीका पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किये हुए दुष्कर्मोका पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्षके पडित इसे सदसद्विवेक-बुद्धिरूपी देवताकी स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परतु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने पर विदित होता है, कि बुद्धीद्रिय जड प्रकृतिहीका विकार होनेके कारण स्वय अपनीही प्रेरणासे कर्मके नियम-बधनोसे मुक्त नही हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्मसृष्टिके वाहरके आत्मासे प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पडितोका 'इच्छा-स्वातंत्र्य' शब्दभी वेदान्तकी दृष्टिमे ठीक नही है। क्योकि इच्छा मनका धर्म है और आठवे प्रकरणमें कहा जा चुका है, कि बुद्धि तथा उसके साथ साथ मनभी कर्मात्मक जड प्रकृतिके अस्वयवेद्य विकार हैं। इसलिये ये दोनो स्वयही कर्मके बधनसे छूट नही सकते। अतएव वेदान्तशास्त्रका निश्चय है, कि सच्चा स्वातंत्र्य न तो बुद्धिका है और न मनका – वह केवल आत्माका है। यह स्वातंत्र्य न तो कोई आत्माको देता है और न कोई उससे इसे छीनभी सकता है – स्वतन्त्र परमात्माका अशरूप जीवात्मा जब उपाधिके बधनमें पड जाता है, तब

वह स्वय स्वतन्न गीतिसे, ऊपर कहे अनुसार, वुद्धि तथा मनमें प्रेरणा किया करता है। अत करणकी इस प्रेरणाका अनादर करके यदि कोई बर्ताव करेगा, तो तुकाराम महाराजके शव्दोमें यही कहा जा सकता है, कि वह "स्वय अपनेही पैरोमें आप कुल्हाडी मारनेको तैयार हुआ है" (तु गा ४४४८)। भगवद्गीतामें इसी तत्त्वका उल्लेख यो किया गया है "न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानाम्" – जो स्वय अपना घात आपही नही करता, उसे उत्तम गति मिलती है (गीता १३ २८), और दासवोधमेंभी इसीका स्पष्ट अनुवाद किया गया है (दा वो १७ ७ ७–१०)। यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टिके अभेद्य दिखाई देनेवाले नियमोंसे जकडकर वँधा हुआ है तथापि स्वभावत उसे ऐसा मालूम होता है, कि मैं इस परिस्थितिमेंभी अमुक कामको स्वतन्न रीतिसे कर सकूंगा। अनुभवके इस तत्त्वकी उपपत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टिको जड सृष्टिसे भिन्न माने विना किसीभी अन्य रीतिसे नही वतलाई जा सकती। इसलिये जो अध्यात्मशास्त्रको नही मानते, उन्हे इस विषयमें या तो मनुष्यके नित्य दासत्वको मानना चाहिये, या प्रवृत्ति-स्वातत्र्यके प्रश्नको अगम्य समझकर योंही छोड देना चाहिये, उनके लिये कोई दूसरा मार्ग नही है। अद्वैत वेदान्तका यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा और परमात्मा मूलमें एकरूप हैं (वे सू शा भा २ ३ ४०), और इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रवृत्ति-स्वातत्र्य या इच्छा-स्वातत्र्यकी उक्त उपपत्ति वतलाई गई है। परतु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नही है अथवा जो भक्तिके लिये द्वैतका स्वीकार किया करते है, उनका कथन है, कि जीवात्माकी यह सामर्थ्य स्वय उसकी नही है, बल्कि यह उसे परमेश्वरसे प्राप्त होती है। तथापि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा।" (ऋ ४ ३३ ११) – थकने तक प्रयत्न करनेवाले मनुष्यके अतिरिक्त अन्योकी देवता मदद नहीं करते – – ऋग्वेदके इस तत्त्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्माको यह मामर्थ्य प्राप्त करा देनेके लिये पहले स्वयही प्रयत्न करना चाहिये – अर्थात् आत्मप्रयत्नका या पर्यायसे आत्म-स्वातत्र्यका तत्त्व फिरभी स्थिर बनाही रहता है (वे सू २ ३ ४१, ४२, गीता १० ५, १०)। अधिक क्या कहें? बौद्धधर्मी लोग आत्माका या परब्रह्मका अस्तित्व नही मानते और यद्यपि, उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नही है, तथापि उनके धर्मग्रथोमेंभी यही उपदेश किया गया है, कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तान" – अपने आपको स्वय अपनेही प्रयत्नसे राहपर लगाना चाहिये। इस उपदेशका समर्थन करकेने लिये कहा गया है, कि –

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्जमयऽत्ताण अस्स (अश्व) भद्दं व वाणिजो॥

"हमही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं, और अपने आत्माके सिवा हमें तारनेवाला दूसरा कोई नही है, इसलिये जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोडेका सयमन करता है, उसी प्रकार हमें अपना संयमन आपही भली भाँति करना चाहिये"

(धम्मपद ३८०), और गीताकी भाँति आत्म-स्वातत्र्यके अस्तित्व तथा उसकी आवश्यकताकाभी वर्णन किया गया है (महापरिनिव्वाण-सुत्त २ ३३–३५)। आधिभौतिक फ्रेंच पडित काटकीभी गणना इसी वर्गमें करनी चाहिये, क्योकि यद्यपि वह किसी भी अध्यात्मवादको नही मानता, तथापि वह विना किसी उपपत्तिके केवल प्रत्यक्षसिद्ध कह कर इस बातको अवश्य मानता है, कि प्रयत्नसे मनुष्य अपने आचरण और परिस्थितिको सुधार सकता है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका, कि कर्मपाशसे मुक्त होकर सर्वभूततार्गत एक आत्माको पहचान लेनेकी जो आध्यात्मिक पूर्णावस्था है, उसे प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानही एकमात्र उपाय है, और इस ज्ञानको प्राप्त करलेना हमारे वसकी बात है, तथापि स्मरण रहे, कि यह स्वतत्र आत्माभी अपनी छातीपर लदे हुए प्रकृतिके बोझको एकदम अर्थात् एकही क्षणमें अलग नही कर सकता। जैसे कोई कारीगर कितनाही कुशल क्यो न हो, परतु वह हथियारोंके विना कुछभी काम नही कर सकता और यदि हथियार खराब हो, तो उन्हे ठीक करनेमें उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है, वैसेही जीवात्माकाभी हाल है। ज्ञानप्राप्तिकी प्रेरणा करनेके लिये जीवात्मा स्वतत्र तो अवश्य है, परतु वह तात्त्विक दृष्टिसे मूलमें निर्गुण और केवल है, अथवा सातवे प्रकरणमे वतलाये अनुसार नेत्रयुक्त परतु लँगडा है। (मैत्र्यु ३ २, ३, गीता १३ २०), इसलिये उक्त प्रेरणाके अनुसार आगे कर्म करनेके लिये जिन साधनोकी आवश्यकता होती है (जैसे कुम्हाराको चाककी आवश्यकता होती है), वे इस आत्माके पास स्वय अपने नही होते – जो साधन उपलब्ध है – जैसे देह और वुद्धि आदि इद्रियाँ – वे सब मायात्मक प्रकृतिके विकार है। अतएव जीवात्माको अपनी मुक्ति लियेभी प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त देहेद्रिय आदि सामग्रीके (साधन या उपाधि) द्वाराही सब काम करना पडता है। इन साधनोमें वुद्धि मुख्य है, इसलिये कोई काम करनेके लिये जीवात्मा पहले वुद्धिकोही प्रेरणा करता है। परतु पूर्वकर्मानुसार और प्रकृतिके स्वाभावानुसार यह कोई नियम नही, कि यह वुद्धि हमेशा शुद्ध तथा सात्त्विकही हो। इसलिये पहले त्रिगुणात्मक प्रकृतिके प्रपञ्चसे मुक्त हो कर यह वुद्धि अतर्मुख, शुद्ध, सात्त्विक या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये, अर्थात् यह वुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि जीवात्माकी प्रेरणाको माने, उसकी आज्ञाका पालन करे, और उन्ही कर्मोंको करनेका निश्चय करे, जिनसे आत्माका कल्याण हो और ऐसा होनेके लिये दीर्घकाल तक वैराग्यका अभ्यास करना पडता है। इतना होनेपरभी भूख-प्यास आदि देह-धर्म और सचित कर्मोंके वे फल – जिनका भोगना आरभ हो गया है – मत्यु-समयतक छूटतेही नही है। तात्पर्य यह है, कि यद्यपि उपाधिवद्ध जीवात्मा देहेद्रियोको मोक्षानुकूल कर्म करनेकी मूल प्रेरणा करनेके लिये स्वतत्र है, तथापि प्रकृतिहीके द्वारा चूँकि उसे सव काम कराने पडते है, इसलिये उतने भरके लिये (वढई, कुम्हार आदि कारी-

गरोंके समान) वह परावलवी हो जाता है, और उसे देहेंद्रिय आदि हथियारोको पहले शुद्ध करके अपने अधिकारमें कर लेना पडता है (वे स २. ३ ४०)। यह काम एकदम नही हो सकता, इसे धीरे धीरे धैर्यसे करना करना चाहिये। नही तो चमकने और भडकनेवाले घोडेके समान इंद्रियाँ बलवा करने लगेंगी और मनुष्यको धर दबावेंगी। इसीलिये भगवान्ने कहा है, कि इंद्रियनिग्रह करनेके लिये बुद्धिको धृति या धैर्यकी सहायता मिलनी चाहिये (गीता ६ २५) और आगे अठारहवे अध्याय (गीता १८ ३३–३५) में बुद्धिकी भाँति धृतिकेभी – सात्त्विक, राजस और तामस – तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये है। इनमेंसे तामस और राजसको छोडकर बुद्धिको सात्त्विक बनानेके लिये इंद्रियनिग्रह करना पडता है। और इसीसे छठवे अध्यायमें इसका सक्षिप्त वर्णन किया है, कि ऐसे इंद्रियनिग्रहाभ्यासरूप योगके लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौनसे है ? इस प्रकार गीतामें (गीता ६ २५) बतलाया गया है, कि 'शनै शनै ' अभ्यास करनेपर चित्त स्थिर हो जाता है, इंद्रियाँ वशमें हो जाती हैं और आगे कुछ समयके बाद (एकदम नही) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है, एव फिर "आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनजय " – उस ज्ञानसे कर्मबधन छूट जाता है (गीता ४ ३८–४१)। परतु भगवान् एकातमें योगाभ्यास करनेका उपदेश देते है (गीता ६ १०), इससे गीताका तात्पर्य यह नही समझ लेना चाहिये, कि ससारके सब व्यवहारोको छोड कर योगाभ्यासमेंही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पासकी पूंजीसेही – चाहे वह बहुत थोडीही क्यो न हो – पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है, और धीरे धीरे उसीके द्वारा अतमें अपार सपत्ति कमा लेता है, उसी प्रकार गीताके कर्मयोगकाभी हाल है। अपनेसे जितना हो सकता है, उतनाही इंद्रिय-निग्रह करके पहले कर्मयोगका आरभ करना चाहिये और उसीसे अतमें अधिकाधिक इंद्रिय-निग्रह-सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। तथापि चौराहेमें बैठ करभी योगाभ्यास करनेसे काम नही चल सकता, क्योकि इससे बुद्धिको एकाग्रताकी जो आदत हुई होगी, उसके घट जानेका भय होता है। इसलिये कर्मयोगका आचरण करते हुए, कुछ समयतक नित्य या कभी कभी एकान्तका सेवन करनाभी आवश्यक है (गीता १३ १०)। इसके लिये ससारके समस्त व्यवहारोको छोड देनेका उपदेश भगवान्ने कहीभी नही दिया है, प्रत्युत सासारिक व्यवहारोको निष्काम बुद्धिसे करनेके लियेही इंद्रिय-निग्रहका यही अभ्यास बतलाया गया है, और गीताका यही कथन है, कि इस इंद्रिय-निग्रहके साथ साथ यथाशक्ति निष्काम-कर्मयोगकाभी आचरण प्रत्येक मनुष्यको हमेशा करते रहना चाहिये, पूर्ण इंद्रिय-निग्रहके सिद्ध होनेतक राह देखते बैठे नही रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद्में और महाभारतमें कहा गया है, कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो, तो वह इस प्रकारके योगाभ्याससे छ महीनोमें साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै ६

२८, मभा शा २३९ ३२, अश्व अनुगीता १९ ६६)। परतु भगवानने जिस सात्त्विक, सम या आत्मनिष्ठ वुद्धिका वर्णन किया है, वह वहुतेरे लोगोको छ महिनोमें क्या, पर-प्रकृति-स्वभावके अनुसार छ वर्षोमेंभी प्राप्त नहीं हो सकती, और इस अभ्यासके अपूर्ण रह जानेके कारण इस जन्ममेंभी पूरी सिद्धि होगीही नहीं, इतनाही नहीं तो दूसरा जन्म लेकर फिर आरभसे वही अभ्यास करना पडेगा, और उस जन्मका अभ्यासभी पूर्व-जन्मके अभ्यासकी भाँतिही अधूरा रह जायगा, इसलिये यह शका उत्पन्न होती है, कि क्या ऐसे मनुष्यको पूर्ण सिद्धि कभी मिलही नहीं सकती ? फलत ऐसा मालूम होने लगता है, कि कर्मयोगका आचरण करनेके पूर्व पातजलयोगकी सहायतासे पूर्ण निर्विकल्प समाधि लगाना पहले सीख लेना चाहिये। अर्जुनके मनमें यही शका उत्पन्न हुई थी, और उसने गीताके छठें अध्याय-में (गीता ६. ३७–३९) श्रीकृष्णसे पूछा है, कि ऐसी दशामें मनुष्यको क्या करना चाहिये ? उत्तरमें भगवान्‌ने कहा है, कि आत्मा अमर होनेके कारण उसपर लिग-शरीर द्वारा इस जन्ममें जो थोडे-बहुत सस्कार होते हैं, वेही आगेभी ज्यो-के-त्यो बने रहते हैं, तथा यह 'योगभ्रष्ट' पुरुष – अर्थात् कर्मयोगको पूरा साध न सकनेके कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष – अगले जन्ममें अपना प्रयत्न वहींसे शुरू करता है, कि जहाँसे उसका अभ्यास छूट गया था, और ऐसा होते होते क्रमसे "अनेक-जन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम्" (गीता ६ ४५) – अनेक जन्मोंके वाद पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है, एव अतमें उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्य करके दूसरे अध्यामें कहा गया है, कि "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" (गीता २ २०) – इस धर्मका अर्थात् कर्मयोग मार्गका स्वल्प आचरणभी वडे वडे सकटोंसे बचा देता है। साराश, मनुष्यका आत्मा मूलमें यद्यपि स्वतत्र है, तथापि मनुष्य एकही जन्ममें पूर्ण सिद्धि नही पा सकता। क्योकि पूर्वकर्मोंके अनुसार उसे मिली हुई देहका प्राकृतिक स्वभाव अशुद्ध होता है। परतु इससे "नात्मानमबमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभि" (मनु ४ १३७) – किसीको निराश नही होना चाहिये, अथवा एकही जन्ममें परमसिद्धि पा जानेके दुराग्रहमें पड कर पातजल योगाभ्यासमें अर्थात् इद्रियोका जबर्दस्ती दमन करनेमेंही सव आयु वृथा खो नही देनी चाहिये। आत्माको कोई जल्दी नही पडी है, जितना आज साध्य हो सके, उतनेही योगवलको प्राप्त करके कर्मयोगका आचरण शुरू कर देना चाहिये। इससे धीरे धीरे बुद्धि अधिकाधिक सात्त्विक तथा शुद्ध होती जायगी, और कर्म-योगका यह स्वल्पाचरणही – तो क्या, जिज्ञासापर मनुष्यभी आगे ढकेलते ढकेलते अतमें आज नही तो कल – इस जन्ममें नही तो अगले जन्ममें – उसके आत्माको पूर्ण ब्रह्मप्राप्ति करा देगी। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है, कि कर्मयोगमें एक विशेष गुण यह है, कि उसका स्वल्पसेभी स्वल्प आचरण या जिज्ञासाभी कभी व्यर्थ नही जाने पाती (गीता ५ १६ पर हमारी टीका देखो)। अत मनुष्यको उचित

है, कि वह केवल इसी जन्मपर ध्यान न दे, और धीरजको न छोड़े किंतु निष्काम कर्म करनेके अपने उद्योगको स्वतन्त्रतासे और धीरे धीरे यथाशक्ति जारी रखे! प्राक्तन-संस्कारके कारण ऐसा मालूम होता है, कि प्रकृतिकी गाँठ हमसे इस जन्ममें या आज नही छूट सकती, परन्तु वही बंधन क्रम-क्रमसे बढ़नेवाले कर्मयोगके अभ्याससे कल या दूसरे जन्मोमें आप-ही-आप ढीला हो जाता है, और ऐसा होते होते "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (गीता ७ १९) – कभी-न-कभी पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे प्रकृतिका बंधन या पराधीनता छूट जाती है; एवं अंतमें आत्मा अपने मूलकी पूर्ण निर्गुण मुक्तावस्थाको अर्थात् मोक्षदशाको पहुँच जाता है। मनुष्य क्या नही कर सकता है? "नर करनी करे, तो नरका नारायण होय" यह जो कहावत प्रचलित है, वह वेदान्तके उक्त सिद्धान्तकाही अनुवाद है, और इसीलिये योगवासिष्ठकारने मुमुक्षु-प्रकरणमें उद्योगकी खूब प्रशंसा की है, तथा असंदिग्ध रीतिसे कहा है, कि अंतमें सब कुछ उद्योगसेही मिलता है (यो २ ४. १०–१८)।

यह सिद्ध हो चुका, कि ज्ञान-प्राप्तिका प्रयत्न करनेके लिये जीवात्मा मूलमें स्वतन्त्र है, और स्वावलम्बनपूर्वक दीर्घोद्योगसे उसे कभी-न-कभी प्राक्तन-कर्मके पंजेसे छुटकारा मिल जाता है। अब इस बातका थोडा-सा स्पष्टीकरण और हो जाना चाहिये, कि कर्मक्षय किसे कहते हैं? और वह कब होता है? कर्मक्षयका अर्थ है – सभी कर्मोंके बंधनोंसे पूर्ण अर्थात् निःशेष मुक्ति पाना। परन्तु पहले कह चुके है, कि कोई पुरुष ज्ञानीभी हो जाय, तथापि जबतक उसका शरीर है, तबतक सोना, बैठना, भूख, प्यास इत्यादि कर्म छूट नही सकते, और प्रारब्धकर्मका बिना भोगे क्षयभी नही होता, इसलिये वह आग्रहसे देहका त्यागभी नही कर सकता। इसमें संदेह नही, कि ज्ञान होनेके पूर्व किये गये सब कर्मोका नाश, ज्ञान होने पर हो जाता है, परन्तु जब कि ज्ञानी पुरुषको ज्ञानोत्तरकालमभी यावज्जीवन कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है, तब ऐसे कर्मोंसे उसका छुटकारा कैसे होगा? और, यदि छुटकारा न हो, तो यह शंका उत्पन्न होती है, कि फिर पूर्वकर्म-क्षय या आगे मोक्षभी न होगा। इसपर वेदान्तशास्त्रका उत्तर यह है, कि ज्ञानी मनुष्यकी नाम-रूपात्मक देहको नामरूपात्मक कर्मोंसे यद्यपि कभी छुटकारा नहीं मिल सकता, तथापि इन कर्मोंको अपने ऊपर लाद लेने या न लेनेमें आत्मा पूर्ण रीतिसे स्वतन्त्र है, इसलिये यदि इंद्रियो पर विजय प्राप्त करके – कर्मके विषयमें प्राणिमात्रको जो, आसक्ति होती है – केवल उसकाही क्षय किया जाय, तो ज्ञानी मनुष्य कर्म करकेभी उसके फलका भागी नही होता। कर्म स्वभावतः अंधा, अचेतन या मृत होता है। वह स्वतः न तो किसीको पकड़ता है, और न किसीको छोड़ताभी है। वह स्वयं न अच्छा है, न बुरा। मनुष्य अपने जीवको इन कर्मोमें फंसा कर इन्हे अपनी आसक्तिसे अच्छा या बुरा और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसलिये कहा जा सकता है, कि इस

ममत्वयुक्त आसक्तिके छूटनेपर कर्मके बधन आपही टूट जाते है, फिर चाहे वे कर्म वने रहे या न रहे। गीतामेंभी स्थान स्थान पर यही उपदेश दिया गया है, कि सच्चा नैष्कर्म्य इसीमे है, कर्मका त्याग करनेमें नही (गीता ३ ४)। तेरा अधिकार केवल कर्म करनेका है, फलका मिलना न मिलना तेरे अधिकारकी वात नही है (गीता २ ४७)। "कर्मेन्द्रियै कर्मयोगमसक्त " (गीता ३ ७) – फलकी आशा न रख कर्मेद्रियोको कर्म करने दे। "त्यक्त्वा कर्मफलासगम्" (गीता ४ २०) कर्मफलका त्याग करके, "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते" (गीता ५ ७)– जिन पुरुषोकी समस्त प्राणियोमें समवुद्धि हो जाती है, उनके किये हुए कर्म उनके वधनका कारण नही हो सकते। "सर्वकर्मफलत्याग कुरु" (गीता १२ ११) – सब कर्मफलोका त्याग कर। "कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियते" (गीता १८ ९) – केवल कर्तव्य समझकर जो प्राप्त कर्म किया जाता है, वही सात्त्विक है। "चेतसा सर्व कर्माणि मयि सन्यस्य" (गीता १८ ५७) सव कर्मोको मुझे अर्पण करके वर्ताव कर। इन सब उपदेशोका रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। अव यह एक स्वतत्र प्रश्न है, कि ज्ञानी मनुष्योको सब व्यावहारिक कर्म करने चाहिये या नही। इसके सबधमें गीताशास्त्रका जो सिद्धान्त है, उसका विचार अगले प्रकरणमें किया जायगा। अभी तो केवल यही देखना है, कि ज्ञानसे सव कर्मोंके भस्म हो जानेका अर्थ क्या है ? और ऊपर दिये गये वचनोंसे इस विषयमे गीताका जो अभिप्राय है, वह भली भाँति प्रकट हो जाता है। व्यवहार-मभी इसी न्यायका उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको अनजाने धक्का दे दे, तो हम उसे उद्दड नही कहते और इसी तरह यदि केवल दुर्घटनासे किसीकी हत्या हो जाती है, तो उसे फौजदारी कानूनके अनुसारभी खून नही समझते। अग्निसे जव घर जल जाता है ,अथवा वर्षासे सैंकडो खेत वह जाते हैं, तो क्या अग्नि या वर्षाको कोई दोषी समझता है ? केवल कर्मोंकीही ओर देखें, तो मनुष्यकी दृष्टिसे प्रत्येक कर्ममें कुछ-न-कुछ कमी, दोष या अवगुण अवश्यही मिलेगा – "सर्वारभाहि दोषेण धुमेनाग्निरिवावृत्त "(गीता१८ ४८)। परतु यह वह दोष नही है, कि जिसे छोडनेके लिये गीता कहती है। मनुष्यके किसी कर्मको जिस अर्थमें हम अच्छा या वुरा कहते हैं, वह अच्छापन या वुरापन यथार्थमें उस कर्ममें नहीं रहता किंतु कर्म करनेवाले मनुष्यकी वुद्धिपर निर्भर रहता है, इसी बातपर ध्यान देकर गीतामें (गीता २ ४९–५१) कहा है, कि इन कर्मोंके वुरेपनको दूर करनेके लिये कर्ताको चाहिये, कि वह अपने मन और वुद्धिको शुद्ध रखे, और उपनिषदोमेंभी कर्ताकी इसी बुद्धिको प्रधानता दी गई है। जैसे –

मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयो'।
बधाय विषयासगि मोक्षे निर्विषय स्मृतम्॥

"मनुष्यके (कर्मोंका) वधन या मोक्ष पानेका मनही (एव) कारण है। मनके

विषयासक्त होनेसे बंधन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसंग होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है" (मैत्र्यु ६. ३४, अमृतबिंदु २)। गीतामें यही बात प्रधानतासे बतलाई गई है, कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिकी उक्त साम्यावस्था कैसे प्राप्त-कर लेनी चाहिये। इस अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर कर्म करने परभी पूरा कर्म-क्षय हो जाया करता है। निरग्नि होकर – अर्थात् संन्यास लेकर अग्निहोत्र आदि कर्मोंको छोड देनेसे – अथवा अक्रिय रहनेसे – अर्थात् किसीभी कर्मको न कर चुपचाप बैठे रहनेसे – कर्मका क्षय नहीं होता (गीता ६. १)। चाहे मनुष्यकी इच्छा रहे या न रहे, परंतु प्रकृतिका चक्र हमेशा घूमताही रहता है, जिसके कारण मनुष्यकोभी उसके साथ अवश्यही चलना पडेगा (गीता ३. ३३, १८. ६०)। परंतु अज्ञानी जन ऐसी स्थितिमें प्रकृतिकी पराधीनतासे रहकर जैसे नाचा करते हैं, वैसे न करके जो मनुष्य अपनी बुद्धिको इंद्रियनिग्रहके द्वारा स्थिर एवं शुद्ध रखता है और सृष्टिक्रमके अनुसार अपने हिस्सेके (प्राप्त) कर्मोंको केवल कर्तव्य समझकर अनासक्त बुद्धिसे एवं शांतिपूर्वक किया करता है, वही सच्चा विरक्त है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है, और उसीको ब्रह्मपदपर पहुँचा हुआ कहना चाहिये (गीता ३. ७, ४. २१, ५. ७–९, १८. ११)। यदि कोई ज्ञानी पुरुष किसीभी व्यावहारिक कर्मको न करके संन्यास लेकर जंगलमें जा बैठे, तो उस प्रकार व्यावहारिक कर्मोंको छोड देनेसे यह समझना बडी भारी भूल है, कि उसके कर्मोंका क्षय हो गया (गीता ३. ४)। इस तत्त्वपर हमेशा ध्यान देना चाहिये, कि कोई कर्म करे या न करे, परन्तु उसके कर्मोंका क्षय उसकी बुद्धिकी साम्यावस्थाके कारण होता है, न कि कर्मोंको छोडनेसे या न करनेसे। कर्मक्षयका सच्चा स्वरूप दिख-लानेके लिये यह उदाहरण दिया जाता है, कि जिस तरह अग्निसे लकडी जल जाती है, उसी तरह ज्ञानसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं। परंतु इससे उपनिषदोंमें और गीतामें दिया गया यह दृष्टान्त अधिक समर्पक है, कि जिस तरह कमलपत्र पानीसे कभी पानीसे अलिप्त रहता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुषको – अर्थात् ब्रह्मार्पण करके अथवा आसक्ति छोडकर कर्म करनेवालेको – कर्मोंका लेप नहीं होता (छां. ४. १४. ३, गीता ५. १०)। कर्म स्वरूपतः कभी जलतेही नहीं और उन्हें जलानेकी कोई आवश्यकताभी नहीं है। जब यह बात सिद्ध है, कि कर्म नामरूप है और नामरूप दृश्य सृष्टि है; तब यह समस्त दृश्य सृष्टि जलेगी कैसे? और [illegible] सत्कार्यवादके अनुसार सिर्फ यही होगा, कि उसका नामरूप बदल जायगा। नामरूपात्मक कर्म या माया हमेशा बदलती रहती है इस-लिये मनुष्य [illegible] अनुसार इस नामरूपमें भलेही परिवर्तन करे, परन्तु [illegible] कहना चाहिये, कि [illegible] आत्मज्ञानी हो, परन्तु उस आत्मज्ञानसे [illegible] सकता, – यह काम केवल परमेश्वरसेही हो सकता है (वे. सू. ४. ४. १७)। [illegible]

[illegible] १९

कर्मोंमें भलाई-बुराईका जो बीज है ही नही, और जिसे मनुष्य उनमें अपनी ममत्व बुद्धिसे उत्पन्न किया करता है, उसका नाश करना मनुष्यके हाथमें है, और उसे जो कुछ जलाना है, वह यही वस्तु है। सब प्राणियोंके विषयमें समत्वबुद्धि रखकर अपने सब व्यापारोंके इस ममत्वबीजको जिसने जला (नष्ट कर) दिया है, वही धन्य है, वही कृतकृत्य और मुक्त है, सब कुछ करते रहने परभी उसके सब कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध समझे जाते हैं। (गीता ४ १९, १८ ५६)। इस प्रकार कर्मोका दग्ध होना मनकी निर्विषयतापर और ब्रह्मात्मैक्यके अनुभवपरही सर्वथा अवलंबित है। अतएव प्रकट है, कि जिस तरह आग कभीभी उत्पन्न करें, परतु वह दहन करनेका अपना धर्म नही छोडती, उसी तरह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके होतेही उसके कर्मक्षय-रूप परिणामके होनेमें कालावधिकी प्रतीक्षा नही करनी पडती। ज्योंही ज्ञान हुआ, कि उसी क्षण कर्म-क्षय हो जाता है। परतु अन्य सब कालोंसे मरण-काल इस सबधमें अधिक महत्त्व का माना जाता है। क्योकि यह मरण-काल आयुके बिलकुल अतका काल है और इसके पूर्व किसी कालमें ब्रह्मज्ञान होनेसे अनारब्ध-सचितका यदि क्षय हो गया हो, तोभी प्रारब्ध नष्ट नही होता। इसलिये यदि यह ब्रह्मज्ञान अततक एक समान स्थिर न रहे, तो प्रारब्ध-कर्मानुसार मृत्यु-काल-पर्यंत जो जो अच्छे या बुरे कर्म होगे, वे सब सकाम हो जावेगे, और उनका फल भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेनाही पडेगा। इसमें सदेह नहीं, कि जो पूरा जीवन्मुक्त हो जाता है, उसे यह भय कदापि नही रहता, परतु जब इस विषयका शास्त्र-दृष्टिसे विचार करना हो, तब इस बातकाभी विचार अवश्य कर लेना पडता है, कि मृत्युके पहले जो ब्रह्म-ज्ञान हो गया था, वह कदाचित् मरण-कालतक स्थिर न रह सके। इसीलिये शास्त्रकार मृत्युसे पहलेके कालकी अपेक्षा मरण-कालहीको विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं, और यह कहते हैं, कि उस समय यानी मृत्युके समय पूर्ण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानका अनुभव अवश्य होना चाहिये, नही तो मोक्ष नही होगा। इसी अभिप्रायसे उपनिषदोंके आधारपर गीतामें कहा गया है, कि "अतकालमें अनन्यभावसे मेरा स्मरण करनेपर मनुष्य मुक्त होता है" (गीता ८ ५)। इस सिद्धान्तके अनुसार कहना पडता है कि, यदि कोई दुराचारी मनुष्य अपनी सारी आयु दुराचरणमें व्यतीत करे और केवल अत समयमें उसे ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो वहभी मुक्त हो जाता है। इसपर कितनेही लोगोका कहना है, कि यह बात युक्तिसगत नही है। परतु थोडा-सा विचार करनेपर मालूम होगा, कि यह बात अनुचित नही कही जा सकती – यह बिलकुल सत्य और सयुक्तिक है। वस्तुत यह सभव नही, कि जिसका सारा जन्म दुराचारमें बीता हो, उसे केवल मृत्युसमयमेंही सुबुद्धि और ब्रह्म-ज्ञान हो जावे। अन्य सब बातोंके समानही ब्रह्म-निष्ठ होनेके लिये मनको आदत डालनी पडती है, और जिसे इस जन्ममें एक बारभी ब्रह्मात्मैक्य -ज्ञानका अनुभव नही हुआ है, उसे केवल मरण-कालमेंही उसका एकदम ज्ञान हो जाना परम दुर्घट या

असभवही है। इसीलिये गीताका दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि मनको विषय-वासनारहित बनानेके लिये प्रत्येक मनुष्यको सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये, जिसका फल यह होगा कि अतकालमेंभी यही स्थिति बनी रहेगी, और मुक्तिभी अवश्य हो जायगी (गीता ८ ६, ७ तथा २ ७२)। परतु शास्त्रकी छानबीन करनेके लिये मान लीजिये, कि पूर्व सस्कार आदि कारणोंसे किसी मनुष्यको केवल मृत्यु-समयमेंही एकाएक ब्रह्म-ज्ञान हो गया। निस्सदेह ऐसा उदाहरण लाखो या करोडो मनुष्योमें एक-आधही मिल सकेगा। परतु, चाहे ऐसा उदाहरण मिले या न मिले — इस विचारको एक ओर रखकर अब हमें यही देखना है, कि यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो आगे क्या होगा? ज्ञान चाहे मरण-कालमेही क्यो न हो, परतु उससे मनुष्यके अनारब्ध-कार्य-सचितका क्षय होताही है, और इस जन्मके भोगसे आरब्ध-सचितका क्षय मृत्युके समय हो जाता है। इसलिये उसे कुछभी कर्म भोगना बाकी नही रह जाता है, और यही सिद्ध होता है, कि वह सब कर्मोंसे अर्थात् सचारचक्रसे मुक्त हो जाता है। यही सिद्धान्त गीताके इस वाक्यमें कहा गया है, "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्" (गीता ९ ३०) — यदि कोई बडा दुराचारी मनुष्यभी परमेश्वरका अनन्य भावसे स्मरण करेगा, तो वहभी मुक्त हो जायगा। और यह सिद्धान्त ससारके अन्य सब धर्मोंमेंभी ग्राह्य माना गया है। 'अनन्य भाव'का यही अर्थ है, कि परमेश्वरमे मनुष्यकी चित्तवृत्ति पूर्ण रीतिसे लीन हो जावे। स्मरण रहे, कि मुँहसे तो 'राम राम' बडबडाते रहे, और चित्त-वृत्ति दूसरीही ओर रहे, तो इसे अनन्य भाव नही कहेगा। साराश, परमेश्वर-ज्ञानकी महिमाही ऐसा है, कि ज्योही ज्ञानकी प्राप्ति हुई, त्योही सब अनारब्ध-सचितका एकदम क्षय हो जाता है — यह अवस्था कभीभी प्राप्त हो, सदैव इष्टही है। परतु यह अति आवश्यक बात है, कि कमसे कम मृत्युके समय यह स्थिर बनी रहे, या यदि पहले प्राप्त न हुई हो, तो कम-से-कम मृत्युके समय वह प्राप्त होवे। नही तो हमारे शास्त्रकारोंके कथनानुसार मृत्युके समय कुछ-न-कुछ वासना अवश्यही बाकी रह जायगी, जिससे पुन जन्म लेना पडेगा और उससे मोक्षभी नही मिलेगा।

इसका विचार हो चुका, कि कर्मबधन क्या है? कर्मक्षय किसे कहते है? वह कैसे और कब होता है? अब प्रसगानुसार इस बातकाभी कुछ विचार किया जायगा, कि जिनके कर्मफल नष्ट हो गये हैं, उनको और जिनके कर्मबधन नही छूटे हैं, उनको मृत्युके अनतर वैदिक धर्मके अनुसार कौन-सी गति मिलती है? इसके सबधमें उपनिषदोमें बहुत चर्चा की गई है (छा ४ १५, ५ १०, बृ ६ २ २–१६, कौषी १ २–३), और उसकी एकवाक्यता वेदान्तसूत्रके चौथे अध्यायके तीसरे पादमें की गई है। परतु उस सब चर्चाको यहां बतलानेकी कोई आवश्यकता नही है। हमे केवल उन्ही दो मार्गोंका विचार करना है, जो भगवद्गीतामें (गीता ८ २३–२७) दिये गये हैं। वैदिक धर्मके ज्ञानकाड और कर्मकाड, ये दो प्रसिद्ध

भेद है। कर्मकाडका मूल उद्देश्य यह है, कि सूर्य, अग्नि, इद्र, वरुण, रुद्र, इत्यादि वैदिक देवताओका ज्ञय-द्वारा पूजन किया जावे और उनके प्रसादसे इस लोकमे पुत्र-पौत्र आदि सतति तथा गौ, अश्व, धन धान्य आदि सपत्ति प्राप्त कर ली जावे, और अतमे मरनेपर सद्गति प्राप्त होवे। वर्तमान कालमें यह यज्ञ-याग आदि श्रौत धर्म प्राय लुप्त हो गया है। इससे उक्त उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये लोग देवभक्ति तथा दानधर्म आदि शास्त्रोक्त पुण्यकर्म किया करते है। परतु ऋग्वेदसे स्पष्टतया मालूम होता है, कि प्राचीन कालमें लोग – न केवल स्वार्थके लिये, वल्कि सब समाजके कल्याणके लियेभी – यज्ञ द्वाराही देवताओकी आराधना किया करते थे। इस कामके लिये जिन इद्र आदि देवताओको अनुकूलताका सपादन करना आवश्यक है, उनकी स्तुतिसेही ऋग्वेदके सूक्त भरे पडे है, और उनमे स्थल-स्थलपर ऐसी प्रार्थना की गई है, कि "हे देव हमे सतति और समृद्धि दो।" "हमें शतायु करो।" हमें, हमारे लडको-बच्चोको और हमारे वीर-पुरुषोको तथा हमारे जानवरोको न मारो।* ये यज्ञ-याग तीनो वेदोमें विहित है, इसलिये इस मार्गका पुराना नाम 'त्रयी धर्म' है, और ब्राह्मणग्रथोमें इन यज्ञोकी विधियोका विस्तृत वर्णन किया गया है, परतु भिन्न भिन्न ब्राह्मणग्रथोमें यज्ञ करनेकी भिन्न भिन्न विधियाँ है। इससे आगे शका होने लगी, कि कौन-सी विधि ग्राह्य है, तव इन परस्पर-विरुद्ध वाक्योकी एकवाक्यता करनेके लिये जैमिनीने अर्थनिर्णायक नियमोका सग्रह किया। जैमिनीके इन नियमोकोही मीमासासूत्र या पूर्वमीमासा कहते है, और इसी कारणसे इस प्राचीन कर्मकाडको मीमासामार्ग नाम मिला तथा हमनेभी इसी नामका इस ग्रथमें कई वार उपयोग किया है, क्योकि आजकल यही प्रचलित हो गया है। परतु स्मरण रहे, कि यद्यपि 'मीमासा' शब्दही आगे चलकर प्रचलित हो गया है, तथापि यज्ञ-यागादिका यह कर्म-मार्ग बहुत प्राचीन कालसे चलता आया है। यही कारण है, कि गीतामे 'मीमासा' शब्द कहीभी नही आया है, किंतु उसके वदले 'त्रयी धर्म' (गीता ९ २०, २१) या 'त्रयी विद्या' ये नाम आये है। यज्ञयाग आदि श्रौतकर्म-प्रतिपादक ब्राह्मणग्रथोके बाद आरण्यक और उपनिषद्, ये वैदिक ग्रथ वने। इनमें यह प्रतिपादन किया गया है, कि यज्ञ-याग आदि कर्म गौण है और ब्रह्मज्ञानही श्रेष्ठ है, इसलिये इनके धर्मको 'ज्ञानकाड' कहते है। परतु भिन्न भिन्न उपनिषदोमे भिन्न भिन्न विचार है। इसलिये उनकीभी एकवाक्यता करनेकी आवश्कता हुई, और इस कार्यको वादरायणाचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोमें किया। इस ग्रथको ब्रह्मसूत्र अथवा शारीरसूत्र या उत्तर-मीमासा कहते है। इस प्रकार पूर्व-मीमासा तथा उत्तर-मीमासा, क्रमसे

*ये मन्त्र अनेक स्थलोपर पाये जाते है, परतु उन सबको न दे कर यहाँ केवल एकही मन्त्र वतलाना वस होगा, कि जो बहुत प्रचलित है। वह यह है – "मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे" (ऋ १ ११४ ८)।

– कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड – संबंधी आजके प्रधान ग्रंथ हैं। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ मूलमें मीमांसाहीके हैं – अर्थात् वैदिक वचनोंके अर्थकी चर्चा करनेके लियेही बनाये गये हैं। तथापि आजकल कर्मकाण्ड-प्रतिपादकोंको केवल 'मीमांसक' और ज्ञानकाण्ड प्रतिपादकोंको 'वेदान्ती' कहते हैं। कर्मकाण्डवालोंका अर्थात् मीमांसकोंका कहना है, कि श्रौतधर्ममें चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ-याग आदि कर्मही प्रधान हैं और जो उन्हें करेगा, उसेही वेदोंकी आज्ञानुसार मोक्ष प्राप्त होगा। इन यज्ञ-याग आदि कर्मोंको कोईभी छोड नहीं सकता। यदि छोड देगा, तो समझना चाहिये कि वह श्रौतधर्मसे वंचित हो गया। क्योंकि वैदिक यज्ञकी उत्पत्ति सृष्टिकी उत्पत्तिके साथही हुई है, और यह चक्र अनादि कालसे चलता आया है, कि मनुष्य यज्ञ करके देवताओंको तृप्त करे, तथा मनुष्यकी पर्जन्य आदि सब आवश्यकताओंको देवगण पूरा करें। आजकल हमें इन विचारोंका कुछ महत्त्व मालूम नहीं होता, क्योंकि यज्ञ-यागरूपी श्रौतधर्म अब प्रचलित नहीं है। परन्तु गीताकालकी स्थिति भिन्न थी। इस-लिये भगवद्गीतामें (गीता ३.१६–२५) इस यज्ञचक्रका महत्त्व ऊपर कहे अनुसार बतलाया गया है। तथापि गीतासे यह स्पष्ट मालूम होता है, कि उस समयकी उप-निषदोंमें प्रतिपादित ज्ञानके कारण मोक्षदृष्टिसे इन कर्मोंकी गौणता आ चुकी थी (गीता २.४१–४६)। यही गौणता अहिंसाधर्मका प्रचार होनेपर आगे अधिका-धिक बढती गई। भागवत धर्ममें स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है, कि यज्ञ-याग वेदविहित है, तोभी उनके लिये पशु-वध नहीं करना चाहिये, धान्यसेही यज्ञ करना चाहिये (मभा. शां. ३३६.१० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशोंमें आगे जैनियोंकीभी ऐसेही प्रयत्न करनेके कारण), श्रौतयज्ञ-मार्गकी आजकल वह दशा हो गई है, कि काशीसरीखे बडेबडे धर्मक्षेत्रोंमेंभी नित्य श्रौताग्निहोत्र पालन करनेवाले अग्निहोत्री बहुतही थोडे दीख पडते हैं, और ज्योतिष्टोम आदि पशुयज्ञोंका होना तो दस-बीस वर्षोंमें कभी कहीं सुन पडता है। तथापि श्रौतधर्मही सब वैदिक धर्मोंका मूल है, और इसीलिये उसके विषयमें इस समयभी आदरबुद्धि पाई जाती है और जैमिनीके सूत्र अर्थनिर्णायक शास्त्रके तौरपर प्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि श्रौत-यज्ञयाग आदि धर्म इस प्रकार शिथिल हो गया है तोभी मन्वादि स्मृतियोंमें वर्णित दूसरे यज्ञ – जिन्हें पंचमहायज्ञ कहते हैं – अबतक प्रचलित हैं और इनके संबंधमेंभी श्रौतयज्ञ-चक्र आदिकेही उक्त न्यायका उपयोग होता है। उदाहरणार्थ, मनु आदि स्मृतिकारोंने पांच अहिंसात्मक तथा नित्य गृहयज्ञ बतलाये हैं – जैसे वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-संतर्पण मनुष्ययज्ञ है, तथा गार्हस्थ्य धर्ममें यह कहा है, कि इन पांच यज्ञोंके द्वारा क्रमानुसार ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्योंको पहले तृप्त करके फिर किसी गृहस्थको स्वयं भोजन करना चाहिये (मनु. ३.६८–१२३)। इन यज्ञोंके कर-नेपर जो अन्न बच रहता है, उसको 'अमृत' कहते हैं, और पहले सब मनुष्योंके

भोजन कर लेनेपर जो अन्न बचे उसे 'विघस' कहते है (मनु ३ २८५)। यह 'अमृत' और 'विघस' अन्नही गृहस्थके लिये विहित एव श्रेयस्कर हैं और ऐसा न करके जो कोई सिर्फ अपने पेटके लियेही भोजन पका खावे, तो वह अघ अर्थात् पापका भक्षण करता है, और उसे 'अघाशी' कहना चाहिये – इस प्रकार केवल मनुस्मृतिमेंही नही तो ऋग्वेद और गीतामेंभी कहा गया है, (ऋ १० ११७ ६, मनु ३ ११८, गीता ३ १३)। इन स्मार्त पचमहायज्ञोंके सिवा दान, सत्य, दया, अहिंसा आदि सर्वभूतहितप्रद अन्य धर्मभी उपनिषदो तथा स्मृतिग्रथोंमें गृहस्थके लिये विहित माने गये है (तै १ ११)। और उन्हीमें स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि कुटुबकी वृद्धि करके वशको स्थिर रखो – " प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी । " ये सव कर्म एक प्रकारके यज्ञही माने जाते हैं, और ये कर्म करनेका कारण, तैत्तिरीय सहितामें यह बतलाया गया है, कि जन्मसेही ब्राह्मण अपनी पीठपर तीन प्रकारके ऋण ले आता है – पहला ऋषियोका, दूसरा देवताओका और तीसरा पितरोका। इनमें ऋषियोका ऋण वेदाभ्याससे, देवताओका यज्ञसे और पितरोका पुत्रोत्पत्तिसे चुकाना चाहिये, अन्यथा उसे सद्गति प्राप्त नही होगी, (तै स ६ ३ १० ५)।* महाभारतके (मभा आ १३) आदिपर्वमें एक कथा है, कि जरत्कारु ऐसा आचरण न करके, विवाह करनेके पहलही उग्र तपश्चर्या करने लगा, तब सतानक्षयके कारण उसके यायावर नामक पितर आकाशमे लटकते हुए उसे दीख पडे, और फिर उनकी आज्ञासे उसने अपना विवाह किया। यह कोई नियम नही है, कि इन सब कर्मों या यज्ञोको केवल ब्राह्मणही करें, वैदिक यज्ञ-यागोको छोड अन्य सव कर्म यथाधिकार स्त्रियो और शूद्रोंके लियेभी विहित है, इसलिये स्मृतिकारोकी कही गई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार किये गये सव कर्म यज्ञही हैं – उदाहरणार्थ, क्षत्रियोका युद्ध करनाभी एक यज्ञ है और यज्ञका यही व्यापक अर्थ इस प्रकरणमें विवक्षित है। मनुने कहा है, कि जो जिसके लिये विहित है, वही उसके लिये तप है (म ११ २३६), और महाभारतमेंभी कहा है, कि –

आरभयज्ञा. क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विश. स्मृता. ।
परिचारयज्ञा. शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातय. ॥

" आरभ (उद्योग), हवि, सेवा और जप ये चार यज्ञ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण, इन चार वर्णोंके लिये यथानुक्रम विहित हैं, (मभा शा २३७ १२)। साराश, इस सृष्टिके सव मनुष्यो और उनके कर्मोंको यज्ञहीके लिये ब्रह्मदेवने उत्पन्न किया है (मभा अनु ४८ ३, , और गीता ३ १०, ४ ३२)। फलत चातुर्वर्ण्य आदि सब शास्त्रोक्त कर्म एक प्रकारके यज्ञही हैं, यज्ञको या और प्रत्येक मनुष्य अपने

---

* तैत्तिरीय सहिताका वचन है " जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य एप वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासीति । "

अपने अधिकारके अनुसार इन यज्ञको या शास्त्रोक्त कर्मो – धधे, व्यवसाय या कर्तव्य व्यवहारको – न करे, तो सारे समाजकी हानि होगी और सभव है, कि अतमें उसका नाशभी हो जावे। इसलिये ऐसे व्यापक अर्थसे सिद्ध होता है, कि लोकसग्रहके लिये यज्ञकी सदैव आवश्यकता होती है।

अब यह प्रश्न उठता है, कि यदि वेद और चातुर्वर्ण्य आदि स्मार्त-व्यवस्थाके अनुसार गृहस्थोंके लिये वही कर्मप्रधान वृत्ति विहित मानी गई है, कि जो केवल कर्ममय है, तो क्या इन सासारिक कर्मोंको धर्मशास्त्रके अनुसार यथाविधि – अर्थात् नीतिसे और धर्मकी आज्ञानुसार करते रहनेसेही कोई मनुष्य जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त हो जायगा ? और यदि कहा जाय कि वह मुक्त हो जाता है, तो फिर ज्ञानकी बडाई और योग्यताही क्या रही ? ज्ञानकाड अर्थात् उपनिषदोका साफ यही कहना है, कि जब तक ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान होकर कर्मके विपयमें विरक्ति न हो जाय, तब तक नामरूपात्मक मायासे या जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा नही मिल सकता। और श्रौतस्मार्त-धर्मको देखो तो यही मालूम पडता है, कि प्रत्येक मनुष्यका गार्हस्थ्य-धर्म कर्मप्रधान या व्यापक अर्थमें यज्ञमय है। इसके अतिरिक्त वेदोकाभी स्पष्ट कथन है, कि यज्ञार्थ किये गये कर्म बधक नही होते, और यज्ञसेही स्वर्गप्राप्ति होती है। स्वर्गकी चर्चा छोड जाय, तोभी हम देखते हैं, कि ब्रह्मदेवहीने यह नियम बना दिया है, कि इद्र आदि देवताओंके सतुष्ट हुए विना वर्षा नही होती, और यज्ञके विना देवतागणभी सतुष्ट नही होते। ऐसी अवस्थामें यज्ञ अर्थात् कर्म किये विना मनुष्यकी भलाईभी कैसे होगी ? इस लोकके क्रमके विपयमें मनुस्मृति, महाभारत, उपनिपद् तथा गीतामेंभी कहा है, कि –

अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न तत. प्रजा ॥

"यज्ञमें हवन किये गये सब द्रव्य अग्निद्वारा सूर्यको पहुँचते हैं, और सूर्यसे पर्जन्य और पर्जन्यसे अन्न तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है" (मनु ३ ७६, मभा शा २६२ ११, मैत्र्यु ६ ३७, गी ३ १४)। और जब कि ये यज्ञ कर्मके द्वाराही होते हैं, तब कर्मको छोड देनेसे काम कैसे चलेगा ? यज्ञमय कर्मोको छोड देनेसे ससारका चक्र बद हो जायगा, और किसीको खानेकोभी नही मिलेगा। इसपर भागवतधर्म तथा गीताशास्त्रका उत्तर यह है, कि यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मोको या अन्य किसीभी स्मार्त तथा व्यावहारिक यज्ञमय कर्मोंको छोड देनेका उपदेश हम नही करते। हम तो तुम्हारेही समान यहभी कहनेको तैयार हैं, कि जो यज्ञ-चक्र पूर्व-कालसे बराबर चलता आया है, उसके बद हो जानेसे ससारका नाश हो जायगा। इसलिये हमारा यही सिद्धान्त है, कि इस कर्ममय यज्ञको कभी नही छोडना चाहिये (मभा शा ३४०, गीता ३ १६)। परतु ज्ञानकाडमें अर्थात् उपनिपदोंमेंही स्पष्टरूपसे कहा

गया है, कि ज्ञान और वैराग्यसे कर्मक्षय हुए विना मोक्ष नहीं मिल सकता, इसलिये इन दोनों सिद्धान्तोंका मेल करके हमारा अंतिम कथन यह है, कि सब कर्मोंको ज्ञानसे अर्थात् फलाशा छोडकर निष्काम या विरक्त-बुद्धिसे करते रहना चाहिये। (गीता ३ १७ १९)। यदि तुम स्वर्गफलकी काम्य-बुद्धि मनमें रखकर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञयाग करोगे तो वेदोंमें कहे अनुसार स्वर्ग-फल तुम्हें निस्सन्देह मिलेगा, क्योंकि वेदाज्ञा कभीभी झूठ नहीं हो सकती। परन्तु स्वर्ग-फल नित्य अर्थात् हमेशा टिकनेवाला नहीं है। इसलिये उपनिषदोंमें कहा गया है (बृ ४ ४ ६, वे सू ३ १ ८, मभा वन २६० ३९) –

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किन्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥ *

"इस लोकमें यज्ञ-याग आदि जो पुण्य-कर्म किये जाते हैं, उनका फल स्वर्गीय उपभोगसे समाप्त हो जाता है, और तब यज्ञ करनेवाले कर्मकांडी मनुष्यको स्वर्गलोकसे इस कर्मलोक अर्थात् भूलोकमें फिरभी आना पडता है।" छांदोग्योपनिषद्में (छां ५ १० ३–९) तो स्वर्गसे नीचे आनेका मार्गभी बतलाया गया है। भगवद्गीतामें "कामात्मानः स्वर्गपरा " या "त्रैगुण्यविषया वेदा " (गीता २ ४३ ४५) इस प्रकार जो कुछ गौणत्वसूचक वर्णन किया गया है वह इन्हीं कर्मकांडी लोगोंको लक्ष्य करके कहा गया है और नौवे अध्यायमें फिरसे स्पष्टतया कहा गया है कि "गतागतं कामकामा लभन्ते।" (गीता ९ २१) – उन्हें स्वर्गलोक और इस लोकमें बार बार आना-जाना पडता है। यह आवागमन ज्ञानप्राप्तिके विना रुक नहीं सकता। और जब तक यह रुक नहीं सकता, तब तक आत्माको सच्चा समाधान, पूर्णावस्था या मोक्षभी नहीं मिल सकता। इसलिये गीताके समस्त उपदेशका सार यही है, कि यज्ञ-याग आदिकी कौन कहे? – चातुर्वर्ण्यके सब कर्मोंकोभी तुम ब्रह्मात्मैक्यपर – ज्ञानसे तथा साम्यबुद्धिसे आसक्ति छोडकर करते रहो, तो बस इस प्रकार कर्मचक्रको जारी रखकरभी तुम मुक्तही बने रहोगे (गीता १८ ५ ६)। किसी देवताके नामसे तिल, चावल या किसी पशुको 'इदं अमुकदेवतायै न मम' कहकर अग्निमें हवन कर देनेसेही कुछ यज्ञ नहीं हो जाता। प्रत्यक्ष पशुको मारनेकी अपेक्षा प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें काम-क्रोध आदि जो अनेक पशुवृत्तियाँ हैं उनका साम्यबुद्धिरूप संयमाग्निमें होम करनाही अधिक श्रेयस्कर यज्ञ है (गीता ४ ३३)। इसी अभिप्रायसे गीतामें तथा नारायणीय धर्ममें भगवान्ने कहा है, कि "मैं यज्ञोंमें जपयज्ञ" अर्थात् श्रेष्ठ हूँ (गीता १० २५, मभा शां ३ ३७)।

---

* इस मंत्रके दूसरे चरणको पढते समय 'पुनरेति' और 'अस्मै' ऐसा पदच्छेद करके पढना चाहिये। तब इस चरणमें अक्षरोंकी कमी नहीं मालूम होगी। वैदिक ग्रंथोंको पढते समय ऐसा बहुधा करना पडता है।

मनुस्मृति (मनु २ ८७) मेभी कहा गया है, कि ब्राह्मण और कुछ करे, या न करे, परतु वह केवल जपसेही सिद्धि पा सकता है। अग्निमें आहुति डालते समय 'न मम' – यह वस्तु मेरी नही है – कहकर उस वस्तुसे अपनी ममत्व-बुद्धिका त्याग दिखलाया जाता है – यही यज्ञका मुख्य तत्त्व है , और दान आदिक कर्मोकाभी यही बीज है। इसलिये यज्ञ-याग या दानादि कर्मोकी योग्यताभी यज्ञके बराबर है। अधिक क्या कहा जाय, जिनमे अपना तनिकभी स्वार्थ नही है, ऐसे कर्मोको शुद्ध बुद्धिसे करनेपर वे यज्ञही कहे जा सकते है। यज्ञकी इस व्याख्याका स्वीकार करनेपर निर्मम या निष्काम बुद्धिसे किये गये सब कर्म, व्यापक अर्थमें, एक महायज्ञही होगे। और द्रव्यमय यज्ञको लागू होनेवाला मीमासकोका यह न्याय, कि 'यथार्थ किये गये कोईभी कर्म बधक नही होते,' उन सब निष्काम कर्मोके लियेभी उपयोगी हो जाता है। इन कर्मोकी करते समय फलाशाभी छोड दी जाती है, जिसके कारण स्वर्गका आना-जानाभी छूट जाता है, और इन कर्मोको करने परभी अतमें मोक्ष-स्वरूपी सद्गति मिल जाती है (गीता ३ ९)। साराश यह है, कि ससार यज्ञमय या कर्ममय है सही, परतु कर्म करनेवालोके दो वर्ग होते है। पहले वे जो शास्त्रोक्त रीतिसे, पर फलाशा रखकर कर्म किया करते है (कर्मकाडी लोग), और दूसरे वे जो ज्ञानसे या निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर कर्म किया करते है (ज्ञानी लोग)। इस सबधमें गीताका यह सिद्धान्त है, कि कर्मकाडियोको स्वर्गप्राप्तिरूप अनित्य फल मिलता है, और ज्ञानसे अर्थात निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोको मोक्षरूपी नित्य फल मिलता है। मोक्षके लिये कर्मोके छोडने गीतामे कहीभी नही बतलाया गया है। इसके विपरीत अठारहवे अध्यायके आरभमे स्पष्टतया बतला पुरुषोको मोक्षरुपि नित्य फल मिलता है। मोक्षके लिये कर्मोके छोडने गीतामे कहीभी नही बतलाया गया है। इसके विपरीत अठरावे अध्यायके आरभमें स्पष्टतया बतला दिया है, कि 'त्याग = छोडना' शब्दसे गीतामें कर्मत्याग कभीभी नहीं समझना चाहिये, किंतु उसका अर्थ 'फलत्याग' ही सर्वत्र विवक्षित है।

इस प्रकार कर्मकाडियो और कर्मज्ञानियोको भिन्न भिन्न फल मिलते हैं और उन्हे पाके, प्रत्येकको मृत्युके बाद भिन्न भिन्न लोकोमें भिन्न भिन्न मार्गोसे जाना पडता है। इन्ही मार्गोको क्रमसे 'पितृयान' और 'देवयान' कहते है। (शा १७ १५ १६), और उपनिषदोके आधारसे गीताके आठवे अध्यायमे इन्ही दोनो मार्गोका वर्णन किया गया है। वह मनुष्य, जिसको ज्ञान हो गया है – और यह ज्ञान क्रम-से-कम अनकालमे तो अवश्यही हो गया हो (गीता २ ७२) – देहपात होनेके अनतर और चितामे उसके शरीरके जल जानेपर, उस अग्निसे ज्योति (ज्वाला), दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छ महीने, इनमेंसे प्रयाण करता हुआ ब्रह्मपदको जा पहुँचता है, और वहाँ उसे मोक्ष प्राप्त होता है, जिसके कारण वह पुन जन्म लेकर मृत्युलोकमे फिर नहीं लौटता। परतु जो केवल कर्मकाडी है अर्थात् जिसे ज्ञान

नही है, वह उसी अग्निसे धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छ महीने इस क्रमसे प्रयाण करता हुआ चद्रलोकको पहुँचता है, और अपने किये हुए सव पुण्यकर्मोको भोग करके फिर इस लोकमें जन्म लेता है – इन दोनो मार्गोमे यही भेद है (गीता ८ २३–२७)। 'ज्योति' (ज्वाला) शब्दके वदले उपनिपदोमें 'अर्चि' (ज्वाला) शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे पहले मार्गको 'अर्चिरादि' और दूसरेको, 'धूम्रादि' मार्गभी कहते है। हमारा उत्तरायण उत्तर ध्रुवस्थलमें रहनेवाले देवताओका दिन है, और हमारा दक्षिणायन उनकी रात्रि है। इस परिभापापर ध्यान देनेसे मालूम हो जाता है, कि इन दो मार्गोमेसे पहला – अर्चिरादि (ज्योतिरादि) – मार्ग आरभसे अततक प्रकाशमय है, और दूसरा – धूम्रादि – मार्ग अधकारमय है। ज्ञान प्रकाशमय है, और परब्रह्म "ज्योतिपा ज्योति" (गीता १३ १७) – तेजोका तेज है, इसलिये देहपात होनेके अनतर, ज्ञानी पुरुपोके मार्गका प्रकाशमय होना उचितही है, और गीतामें इन दो मार्गोको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इसीलिये कहा है, कि उनकाभी अर्थ प्रकाशमय और अधकारमय है। गीतामें उत्तरायणके वादके सोपानोका वर्णन नही है। परन्तु यास्कके निरुक्तमें उदगयनके वाद देवलोक, सूर्य, वैद्युत और मानस पुरुपका वर्णन है (निरुक्त १४ ९)। और उपनिपदोमें देवयानके विपयमें जो वर्णन है, उनकी एकवाक्यता करके वेदान्तसूत्रमें यह क्रम दिया है, कि उत्तरायणके वाद सवत्सर, वायुलोक, सूर्य, चद्र, विद्युत्, वरुणलोक, इद्रलोक, प्रजापतिलोक और अतमें ब्रह्मलोक है (वृ ५ १०, ६ २ १५, छा ५ १०, कौपी १ ३, वे सू ४ ३ १–६)।

देवयान और पितृयाण मार्गोके सोपानो या मुकामोका वर्णन हो चुका। परन्तु इनमें जो दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण इत्यादिके वर्णन है, उनका सामान्य अर्थ कालवाचक होता है। इसलिये सहजही यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि क्या देवयान और पितृयाण मार्गोका कालसे कुछ सवध है? अथवा पहले कभी था, या नही? यद्यपि दिवस, रात्रि, शुक्लपक्ष इत्यादि शब्दोका अर्थ कालवाचक है, तथापि अग्नि, ज्वाला, वायुलोक, विद्युत् आदि जो अन्य सोपान है, उनका अर्थ कालवाचक नही हो सकता। और यदि माना जाय, कि ज्ञानी पुरुषको, दिन अथवा रातके समय मरनेपर, भिन्न भिन्न गति मिलती है, तव तो ज्ञानका कुछ महत्त्वही नही रह जाता। इसलिये अग्नि, दिवस, उत्तरायण इत्यादि सभी शव्दोको कालवाचक न मानकर वेदान्तसूत्रमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि ये शब्द इनके अभिमानी देवताओंके लिये कल्पित किये गये है, जो ज्ञानी और कर्मकाडी पुरुषोंके आत्माको भिन्न भिन्न मार्गोसे ब्रह्मलोक और चद्रलोकमें ले जाते है (वे सू ४ २ १९–२१, ४ ३ ४)। परतु इसमें सदेह है, कि भगवद्गीताको यह मत मान्य है या नही। क्योकि उत्तरायणके वादके उन सोपानोका – कि जो कालवाचक नही है – गीतामें वर्णन नही है। इतनाही नही, वल्कि इन मार्गोको वतलानेके पहले भगवानने कालका

स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है, कि “ मैं तुझे वह काल बतलाता हूं कि जिस कालमें मरनेपर कर्मयोगी लौटकर आता है, या नही आता है (गीता ८, ३२)। और महाभारतमेंभी यह वर्णन पाया जाता है, कि जब भीष्म पितामह शरशय्यामें पडे थे, तब वे शरीरत्याग करनेके लिये उत्तरायणकी – अर्थात् सूर्यके उत्तरकी ओर मुडनेकी – प्रतीक्षा कर रहे थे (मभा भी १२०, अन् १६७)। इससे विदित होता है, कि दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, ये कालही मृत्यु होनेके लिये कभी-न-कभी प्रशस्त माने जाते थे। ऋग्वेद (ऋ १० ८८ १५ और बृ ६ २ १५)मेंभी देवयान और पितृयाण मार्गोका जहांपर वर्णन है, वहां कालवाचक अर्थही विवक्षित है। इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणोसे हमने यह निश्चय किया कि है, उत्तर गोलार्धके जिस स्थानमें सूर्य क्षितिजपर छ महीनेतक हमेशा दीख पडता है, उस स्थानमें अर्थात् उत्तर ध्रुवके पास या मेरुस्थानमें जब पहले वैदिक ऋषियोकी बस्तीथी तभीसे छ महीनेका उत्तरायणरूपी प्रकाशकाल मृत्यु होनेके लिये प्रशस्त माना गया होगा। इस विषयका विस्तृत विवेचन हमने अपने दूसरे ग्रथमें किया है। कारण चाहे कुछभी हो, इसमे सदेह नही कि यह समझ बहुत प्राचीन कालसे चली आयी है, और यही समझ देवयान तथा पितृयाण मार्गोंमें प्रकटरूप, न हो, तोभी पर्यायसे – अतर्भूत हो गई है। अधिक क्या कहें, हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इन दोनो मार्गोंका मूल इस प्राचीन समझमेंही है। यदि ऐसा न माने, तो गीतामें देवयान और पितृयाणको लक्ष्य करके जो एक बार ‘काल’ (गीता ८ २३) और दूसरी बार ‘गति’ या ‘सृति’ अर्थात् मार्ग (गीता ८ २६, २७) कहा है, यानी इन दो भिन्न भिन्न अर्थोके शब्दोका जो प्रयोग किया गया है, उसकी कुछ उपपत्ति नही लगाई जा सकती। वेदान्तसूत्रके शाकरभाष्यमें देवयान और पितृयाणका कालवाचक अर्थ स्मार्त है, जो कर्मयोगके लियेही उपयुक्त होता है, और यह भेद करके, कि सच्चा ब्रह्मज्ञानी उपनिषदोमें वर्णित श्रौत मार्गसे, अर्थात् देवताप्रयुक्त प्रकाशमय मार्गमेही, ब्रह्मलोकको जाता है, ‘कालवाचक’ तथा ‘देवतावाचक’ अर्थोकी व्यवस्था की गई है (वे सू शा भा ४ २ १८–२१)। परतु मूल सूत्रोको देखनेसे ज्ञात होता है, कि कालकी अपेक्षा न रख उत्तरायणादि शब्दोंसे देवताओको कल्पितकर देवयानका जो देवतावाचक अर्थ बादरायणाचार्यने निश्चित किया है, वही उनके मतानुसार सर्वत्र अभिप्रेत होगा, और यह माननाभी उचित नही है, कि गीतामें वर्णित मार्ग उपनिषदोकी इस देवयान गतिको छोडकर स्वतत्र हो सकता है। परतु यहां इतने गहरे पानीमें पैठनेकी कोई आवश्यकता नही है, क्योकि यद्यपि इस विषयमें मतभेद हो, कि देवयान और पितृयाणके दिवस, रात्रि, उत्तरायण आदि शब्द ऐतिहासिक दृष्टिसे मूलारभमें कालवाचकही थे या नही, तथापि यह बात निर्विवाद है, कि आगे यह कालवाचक अर्थ छोड दिया गया और अतमें देवयान और पितृयाण, इन दोनो पदोका यही अर्थ निश्चित तथा रूढ हो गया है, कि – कालकी अपेक्षा न रख चाहे कोई किसी

समय मरे – यदि वह ज्ञानी हो तो अपने कर्मानुसार प्रकाशमय मार्गसे, और केवल कर्मकाडी हो तो अधकारमय मार्गसे, परलोकको जाता है। चाहे फिर दिवस और उत्तरायण आदि शब्दोसे बादरायणाचार्यके कथनानुसार देवता समझिये, या लक्षणासे प्रकाशमय मार्गके क्रमश बढते हुए सोपान समझिये, परन्तु उससे इस सिद्धान्त मे कुछ भेद नही होता, कि यहाँ देवयान और पितृयाण शब्दोका रूढार्थ मार्गवाचक है।

परतु क्या देवयान और क्या पितृयाण, दोनो मार्ग शास्त्रोक्त अर्थात् पुण्यकर्म करनेवालेकोही प्राप्त हुआ करते है, क्योकि पितृयाण यद्यपि देवयानसे नीचेकी श्रेणीका मार्ग है, तथापि वहभी चद्रलोकको अर्थात् एक प्रकारके स्वर्गलोकहीको पहुँचानेवाला मार्ग है। इसलिये प्रकट है, कि वहाँ सुख भोगनेकी पात्रता होनेके लिये इस लोकमें कुछ न कुछ शास्त्रोक्त पुण्यकर्म अवश्यही करना पडता है (गीता ९ २०, २१)। अत जो लोग थोडाभी शास्त्रोक्त पुण्यकर्म न करके ससारमें अपना समस्त जीवन पापाचरणमे बिता देते है, वे उन दोनोमेसे किसीभी मार्गसे नही जा सकते। इनके विषयमे उपनिषदोमे स्पष्ट कहा गया है, कि ये लोग मरनेपर एकदम पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनिमे जन्म लेते है और बारबार यमलोक अर्थात् नरकमे जाते है। इसीको 'तीसरा' मार्ग कहते है (छा ५ १० ८, कठ २ ६ ७), और भगवद्गीतामेभी कहा गया है, कि निपट पापी अर्थात् आसुरी पुरुषोको यही-निरय-गति प्राप्त होती है (गीता १६ १९–२१, ९ १२, वे सू ३ १ १२, १३, निरुक्त १४ ९)।

ऊपर इस बातका विवेचन किया गया है, कि मरनेपर मनुष्यको उसके कर्मानुरूप वैदिक धर्मके प्राचीन परपरानुसार तीन प्रकारकी गति किस क्रमसे प्राप्त होती है। इनमेसे केवल देवयान मार्गही मोक्षदायक है, परतु यह मोक्ष क्रम-क्रमसे अर्थात् एकके बाद एक, अर्चिरादि कई सोपान चढनेपर अतमे मिलता है। इसलिये इस मार्गको 'क्रममुक्ति' कहते है। और देहपात होनेके अनतर अर्थात् मृत्युके अनतर ब्रह्मलोकमें जानेसे वहाँ अतमें मुक्ति मिलती है, इसीलिये इसे 'विदेह-मुक्ति' भी कहते है। परतु इन सब बातोके अतिरिक्त शुद्ध अध्यात्मशास्त्रका यहभी कथन है, कि जिसके मनमें ब्रह्म और आत्माके एकत्वका पूर्ण साक्षात्कार नित्य जागृत है, उसे ब्रह्मप्राप्तिके लिये कही दूसरी जगह क्यो जाना पडेगा ? अथवा उसे मृत्यु-कालकीभी बाट क्यो जोहनी पडेगी ? यह बात सच है, कि उपासनाके लिये स्वीकृत किये गये सूर्यादि प्रतीकोको अर्थात् सगुण ब्रह्मकी उपासनासे जो ब्रह्मज्ञान होता है वह पहले पहल कुछ अपूर्ण रहता है, क्योकि उससे मनमे सूर्यलोक या ब्रह्मलोक इत्यादिकी कल्पनाएँ उत्पन्न हो जाती है और इनके मरण-समयमेभी मनमे न्यूनाधिक परिमाणके बने रहनेकी सभावना होती है। अतएव यह कहना उचित है कि इस अपूर्णताको दूर करके मोक्षकी प्राप्तिके लिये ऐसे लोगोको देवयान मार्गसेही जाना पडता है (वे सू ४ ३ १५)। क्योकि अध्यात्मशास्त्रका यह अटल सिद्धान्त है,

कि मरण-समयमें जिसकी जैसी भावना या ऋतु हो, उसे वैसीही 'गति' मिलती है (छा ३ १४ १), परंतु सगुण उपासना या अन्य किसी कारणसे जिसके मनमें अपने आत्मा और ब्रह्मके बीच कुछभी परदा या द्वैतभाव (तै २ ७) शेष नही रह जाता, वह सदैव ब्रह्म-रूपही है। अतएव प्रकट है, कि, ऐसे पुरुषको ब्रह्म-प्राप्तिके लिये किसी दूसरे स्थानमें जानेकी कोई आवश्यकता नही है। इसीलिये बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा है, कि जो पुरुष शुद्ध ब्रह्मज्ञानसे पूर्ण निष्काम हो गया हो – " न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति " – उसके प्राण दूसरे किसीभी स्थानमें नही जाते, किंतु वह नित्य ब्रह्मभूत है और ब्रह्ममेंही लय पाता है (बृ ४ ४ ६), और बृहदारण्यक तथा कठ, इन दोनो उपनिषदोमें कहा गया है, कि ऐसा पुरुष " अत्र ब्रह्म समश्नुते " (कठ ६ १४) – यहीका यही ब्रह्मका अनुभव करता है। इन्ही श्रुतियोके आधारपर शिवगीतामेंभी कहा गया है, कि मोक्षके लिये स्थानांतर करनेकी आवश्यकता नही होती। ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नही है, कि जो अमुक स्थानमें हो और अमुक स्थानमे न हो (छा ७ २५, मु २ २ ११)। तो फिर पूर्ण ज्ञानी पुरुषको कभीभी पूर्ण ब्रह्म-प्राप्तिके लिये उत्तरायणसे सूर्यलोक आदि मार्गसे जानेकी आवश्यकता क्यो होनी चाहिये ? " ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ' (मु ३ २ ९) – जिसने ब्रह्मस्वरूपको पहचान लिया, वह तो स्वय इस लोकमे था – यहीका यही, ब्रह्म – हो गया। क्योकि किसी एकका दूसरेके पास जाना तभी हो सकता है, जब 'एक' और 'दूसरा' ऐसा स्थलकृत या कालकृत भेद शेष हो, और यह भेद तो अंतिम स्थितिमे अर्थात् अद्वैत तथा श्रेष्ठ ब्रह्मानुभवमें रहही नही सकता। इसलिये जिसके मनकी ऐसी नित्य स्थिति हो चुकी है, कि " यस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् " बृ २ ४ १४), या " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " (छा ३ १४ १), अथवा मैही ब्रह्म हूँ – " अहं ब्रह्माऽस्मि "(बृ १ ४ १०), वह ब्रह्म-प्राप्तिके लिये और किस जगह जायेगा ? वह तो नित्य ब्रह्मभूतही रहता है। पिछले प्रकरणके अंतमे जैसे हमने कहा है, वैसेही गीतामे परम ज्ञानी पुरुषोका वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि " अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् " (गीता ५ २६) – जिन्होंने द्वैतभावको छोडकर आत्मस्वरूपको जान लिया है, उन्हे चाहे प्रारब्ध-कर्म-क्षयके लिये देहपात होनेकी राह देखनी पडे, तोभी उन्हे मोक्ष-प्राप्तिके लिये कहीभी नही जाना पडता, क्योकि ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष तो उनके सामने हाथ जोडे खडा रहता है। अथवा " इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन " (गीता ५ १९)। – जिनके मनमें सर्वभूतांतर्गत ब्रह्मात्मैक्यरूपी साम्य प्रति-बिंबित हो गया है वे (देवयान मार्गकी अपेक्षा न रख) यहीके यही जन्म-मरणको जीत लेते है। अथवा "भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति" – जिसकी ज्ञानदृष्टिमें समस्त प्राणियोकी भिन्नताका नाश हो चुका है और जिसे वे सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर-स्वरूप दीखने लगते है, वह 'ब्रह्म संपद्यते ' – ब्रह्ममेंही मिल जाता है (गीता १३

३०)। गीताका जो वचन ऊपर दिया गया है, कि "देवयान और पितृयाण मार्गोको तत्वत जाननेवाला कर्मयोगी मोहको प्राप्त नही होता" (गीता ८ २१), उसमेंभी "तत्वत जाननेवाला" पदका अर्थ "परमावधिके ब्रह्मस्वरूपको पहचाननेवाला" ही विवक्षित है (भागवत ७ १५ ५६)। यही पूर्ण ब्रह्मभूत या परमावधिकी ब्राह्मी स्थिति है, और श्रीमच्छकराचार्यने अपने शारीरक भाष्यमें (वे सू ३ ४ १४) प्रतिपादन किया है, कि यही अध्यात्मज्ञानकी अत्यत पराकाष्ठा या पूर्णावस्था है। यदि कहा जाय, कि ऐसी स्थिति प्राप्त होनेके लिये मनुष्यको एक प्रकारसे परमेश्वरही हो जाना पडता है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। और फिर यह कहनेकी आवश्यकता नही, कि इस रीतिसे जो पुरुप ब्रह्मभूत हो जाते है, कर्मसृष्टिके सब विधि-निषेधोकी अवस्थासेभी परे रहते है, क्योकि उनका ब्रह्मज्ञान सदैव जागृत रहता है और इसलिये जो कुछ वे किया करते है, वह हमेशाही शुद्ध और निष्काम बुद्धिसेही प्रेरित अतएव पाप-पुण्यसे अलिप्त रहता है। इस स्थितिकी प्राप्ति हो जानेपर ब्रह्मप्राप्तिके लिये किसी अन्य स्थानमें जानेकी, अथवा देहपात होनेकी, अर्थात् मरनेकीभी कोई आवश्यकता नही रहती, इसलिये ऐसे स्थितप्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको जीवन्मुक्त' कहते है (यो ३ ९)। यद्यपि बौद्ध धर्मके लोग ब्रह्म या आत्माको नही मानते, तथापि उन्हे यह बात पूर्णतया मान्य है, कि मनुष्यका परम साध्य जीवन्मुक्तकी यह निष्काम अवस्थाही है, और इसी तत्त्वका सग्रह उन्होने, कुछ शब्दभेदसे, अपने धर्ममें किया है (परिशिष्ट प्रकरण देखो) बहुतेरे लोगोका कथन है, कि पराकाष्ठाके निष्कामत्वकी इस अवस्थामें और सासारिक कर्मोमें निसर्गकेही परस्पर-विरोध है, इसलिये जिसे यह अवस्था प्राप्त होती है, उसके सब कर्म आपही आप छूट जाते है और वह सन्यासी हो जाता है। परतु गीताको यह मत मान्य नही है, और उसका यही सिद्धान्त है, कि स्वय परमेश्वर जिस प्रकार कर्म करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्तके लियेभी – निष्काम बुद्धिसे लोकसग्रहके निमित्त – मृत्युपर्यंत सब व्यवहारोको करते रहनाही अधिक श्रेयस्कर है, क्योकि निष्कामत्व और कर्ममें कोई विरोध नही है। यह बात अगले प्रकरणके निरूपणसे स्पष्ट हो जायगी। गीताका यह तत्त्व योगवासिष्ठ (यो ६. उ १९९) मेंभी स्वीकृत किया गया है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

संन्यास और कर्मयोग

> संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ *
>
> —गीता ५. २

पिछले प्रकरणमें इस बातका विस्तृत विचार किया गया है, कि अनादि कर्मके चक्करोंसे छूटनेके लिये प्राणिमात्रमें एकत्वसे रहनेवाले परब्रह्मका अनुभवात्मक ज्ञान होनाही एकमात्र उपाय है, और यह विचारभी किया गया है, कि इस अमृत ब्रह्मका ज्ञान सपादन करनेके लिये मनुष्य स्वतत्र है या नही, एव इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मायासृष्टिके अनित्य व्यवहार अथवा कर्म वह किस प्रकार करे। अतमें यह सिद्ध किया है, कि वधन कुछ कर्मका धर्म या गुण नही है, कितु मनका है। इसलिये व्यावहारिक कर्मोंके फलके वारेमें जो अपनी आसक्ति होती है, उसे इद्रिय-निग्रहसे धीरे धीरे घटा कर, शुद्ध अर्थात् निष्काम वुद्धिसे कर्म करते रहनेपर, कुछ समयके वाद साम्यवुद्धिरूप आत्मज्ञान देहेद्रियोमें समा जाता है, और अतमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इस वातका निर्णय हो गया, कि मोक्षरूपी परम साध्य अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी प्राप्तिके लिये किस साधन या उपायका अवलवन करना चाहिये। इस प्रकारके वर्तावसे, अर्थात् यथाशक्ति और यथाधिकार निष्काम कर्म करनेसे, जव कर्मका वधन छूट जाय तथा चित्तशुद्धि द्वारा अतमें पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय, तव यह महत्त्वका प्रश्न उपस्थित होता है, कि अव आगे अर्थात् सिद्धावस्थामें ज्ञानी और स्थितप्रज्ञ पुरुष कर्मही करता रहे, अथवा प्राप्य वस्तुको पा कर कृतकृत्य हो माया-सृष्टिके सव व्यवहारोंको निरर्थक और ज्ञानविरुद्ध समझ कर, एकदम उनका त्याग कर दे? क्योंकि सव कर्मोंको विलकुल छोड देना (कर्म-संन्यास), या उन्हे निष्काम वुद्धिसे मृत्युपर्यंत करते जाना (कर्मयोग), ये दोनो

---

* "संन्यास और कर्मयोग, दोनो निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं, परतु इन दोनोमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगही अधिक श्रेष्ठ है।" दूसरे चरणके 'कर्म-संन्यास' पदसे प्रगट होता है, कि पहले चरणमें, संन्यास शब्दका क्या अर्थ करना चाहिये। गणेश-गीताके चौथे अध्यायके आरभमें गीताके ये प्रश्नोत्तर लिये गये हैं। वहाँ यह श्लोक थोडे शब्दभेदसे इस प्रकार आया है — "क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने। तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते॥"

पक्ष तर्कदृष्टिसे इस स्थानपर सभव होते है। और इनमेंसे जो पक्ष श्रेष्ठ सिद्ध होगा, उसीकी ओर ध्यान दे कर पहलेसे (अर्थात् साधनावस्थासेही) बर्ताव करना सुविधाजनक होगा, इसलिये उक्त दोनो पक्षोंके तारतम्यका विचार किये विना कर्म और अकर्मका कोईभी आध्यात्मिक विवेचन पूरा नही हो सकता। अर्जुनसे सिर्फ यह कह देनेसे काम नही चल सकता था, कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर कर्मोंका करना और न करना एक-सा है (गीता ३ १८), क्योकि समस्त व्यवहारोमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धिहीकी श्रेष्ठता होनेके कारण, ज्ञानसे जिसकी बुद्धि समस्त भूतोमें सम हो गई है, उसे आगे किसीभी कर्मके शुभाशुभत्वका लेप नही लगता (गीता ४ २०, २१)। भगवानका तो उसे यही निश्चित उपदेश था कि – युद्धही कर – युध्यस्व ! (गीता २ १८), और इस खरे तथा स्पष्ट उपदेशके समर्थनमें ज्ञान हो जानेपर "लडाई करे तो अच्छा, न करे तोभी अच्छा," ऐसी सदिग्ध उपपत्तिकी अपेक्षा और दूसरे कुछ सबल कारणोका बतलाना आवश्यक था। और तो क्या, गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति यह बतलानेके लियेही हुई है, कि किसी कर्मका भयकर परिणाम दृष्टिके सामने देखते रहनेपरभी बुद्धिमान् पुरुष उसेही क्यो करे। गीताकी यही तो विशेषता है। यदि यह सत्य है, कि कर्मसे जतु बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है, तो ज्ञानी पुरुषको कर्म करनाही क्यो चाहिये ? कर्म-क्षयका अर्थ कर्मोंका छोडना नही है, केवल फलाशा छोड देनेसेही कर्मका क्षय हो जाता है, सब कर्मोंको छोड देना शक्य नही है, इत्यादि सिद्धान्त यद्यपि सत्य हो, तथापि इससे भली भाँति यह सिद्ध नही होता, कि जितने कर्म छूट सके, उतनेभी क्यो न छोडे जाये। और न्यायसे देखने परभी, यही अर्थ निष्पन्न होता है, क्योकि गीतामेंही कहा है, कि चारो ओर पानीही पानी हो जाने पर जिस प्रकार फिर कोई उसके लिये कुएँकी खोज नही करता, उसी प्रकार कर्मोंसे सिद्ध होनेवाली ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपर ज्ञानी पुरुषको कर्मकी कुछभी अपेक्षा नही रहती (गीता २ ४६)। इसीलिये तीसरे अध्यायके आरभमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रथम यही पूछा है, कि आपके मतसे यदि कर्मकी अपेक्षा निष्काम अथवा साम्यबुद्धि श्रेष्ठ है, तो स्थितप्रज्ञके समान मैंभी अपनी बुद्धिको शुद्ध किये लेता हूँ – बस, तब फिरभी लडाईके इस घोर कर्ममे मुझे क्यो फँसाते हो ? (गीता ३ १) इस प्रश्नकाभी उत्तर देते हुए भगवानने "कर्म किसीकेभी छूट नही सकते" इत्यादि कारण बतला कर, चौथे अध्यायमे कर्मका समर्थन किया है। परतु साख्य (सन्यास) और कर्मयोग, दोनोही मार्ग यदि शास्त्रोमें बतलाये गये है, तो यही कहना पडेगा, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर, इनमेंसे जिसे जो मार्ग अच्छा लगे, उसे वह स्वीकार कर ले। ऐसी दशामें, पाँचवे अध्यायके आरभमे अर्जुनने फिर प्रार्थना की, कि गोलमाल करके दोनो मार्ग मुझे न बतलाइये, निश्चयपूर्वक मुझे एकही बात बतलाइये, कि इन दोनोमेंसे अधिक श्रेष्ठ कौन है (गीता ५ १)। यदि ज्ञानोत्तर कर्म करना या न करना एकही सा है, तो फिर मैं अपनी इच्छासे जी

चाहे तो कर्म करूँगा नहीं तो न करूँगा। यदि कर्म करनाही उत्तम पक्ष हो, तो मुझे उसका कारण समझाइये, तभी मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा। अर्जुनका यह प्रश्न कुछ अपूर्व नहीं है। योगवासिष्ठमें (यो वा ५. ५६. ६) श्रीरामचन्द्रने वसिष्ठसे और गणेशगीता (ग गी ४ १)में वरेण्य राजाने गणेशजीसे यही प्रश्न किया है। केवल हमारेही यहाँ नहीं, वरन् यूरोपमें—जहाँ तत्त्वज्ञानके विचार पहले पहल शुरू हुए थे, उस ग्रीस देशमेंभी – प्राचीन कालमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ था – यह बात अरिस्टाटलके ग्रंथसे प्रकट होती है। इस प्रसिद्ध यूनानी ज्ञानी पुरुषने अपने नीतिशास्त्रसंबंधी ग्रंथके अंत (१० ७, ८)में यही प्रश्न उपस्थित किया है, और प्रथम अपना यह मत प्रकट किया है कि ससारके या राजनैतिक मामलोंमें जीवन बितानेकी अपेक्षा ज्ञानी पुरुषको शांतिसे तत्त्वके विचारमें जीवन बितानाही सच्चा और पूर्ण आनंददायक है। तोभी उसके अनंतर लिखे, अपने राजधर्मसंबंधी ग्रंथ (७ २, ३) में अरिस्टाटलही लिखता है, कि 'कुछ ज्ञानी पुरुष तत्त्व-विचारमें, तो कुछ राजनैतिक कार्योंमें निमग्न दीख पडते हैं, और यदि पूछा जाय कि इन दोनों मार्गोंमें कौन-सा बहुत अच्छा है, तो यही कहना पडेगा कि प्रत्येक मार्ग अंशतः सच्चा है। तथापि, कर्मकी अपेक्षा अकर्मको अच्छा कहना भूल है।* क्योंकि यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि आनंदभी तो एक कर्मही है, और सच्ची श्रेय प्राप्तिभी अनेक अंशोंमें ज्ञानयुक्त तथा नीतियुक्त कर्मोंमेंही है – दो स्थानोंपर अरिस्टाटलके भिन्न भिन्न मतोंको देखकर, गीताके इस स्पष्ट कथनका महत्त्व पाठकोंके ध्यानमें आ जावेगा, कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मण " (गीता ३ ८) – अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। गत शताब्दीका प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित आगस्टस् काट अपने आधिभौतिक तत्त्वज्ञानमें कहता है – 'यह कहना भ्रांतिमूलक है, कि तत्त्वविचारहीमें निमग्न रह कर जीवन बिताना श्रेयस्कर है। और जो तत्त्वज्ञ पुरुष इस ढंगके आयुष्य क्रमको अंगीकार करता है और अपने हाथसे होने योग्य लोगोंका कल्याण करना छोड देता है, उसके विषयमें यही कहना चाहिये कि वह अपने प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करता है।' इसके विपरीत जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहरने कहा है, कि ससारके समस्त व्यवहार – यहाँतक कि जीवित रहनाभी – दु खमय है, इसलिये तत्त्वज्ञान प्राप्तकर इन सब कर्मोंका, जितनी जल्दी हो सके, नाश करनाही इस ससारमें मनुष्यका सच्चा कर्तव्य है। कोंट सन १८५७ में और शोपनहर सन १८६० में ससारसे बिदा हुए। शोपनहरका पथ जर्मनीमें हार्टमनने जारी रखा है। कहना नहीं होगा कि स्पेन्सर और मिल प्रभृति अंग्रेज तत्त्वशास्त्रज्ञोंके मत कोंटके जैसे हैं।

* "And it is equally a *mistake to place inactivity above action*, for happiness is activity and the actions of the just and wise are the realization of much that is noble " (Aristotle's *politics* trans by Jowett, Vol I p 212 The Italics are ours)

परन्तु इन सबके आगे बढकर, हालहीके जमानेके आधिभौतिक जर्मन पंडित निट्शेने, अपने ग्रंथोमें, कर्म छोडनेवालोंपर ऐसे तीव्र कटाक्ष किये है, कि वह कर्मसन्यास-पक्षवालोंके लिये 'मूर्ख-शिरोमणि' शब्दसे अधिक सौम्य शब्दका उपयोग कही नही करता है।*

यूरोपमें अरिस्टाटलसे लेकर अबतक जिस प्रकार इस सबधमें दो पक्ष है, उसी प्रकार भारतीय वैदिक धर्ममेंभी प्राचीन कालसे लेकर अबतक इस सबधके दो सप्रदाय चले चले आ रहे हैं (मभा शा ३८९ ७)। इनमेंसे एकको सन्यास-मार्ग, साख्य-निष्ठा या केवल साख्य अथवा – ज्ञानमेंही नित्य निमग्न रहनेके कारण – ज्ञान-निष्ठाभी कहते है, और दूसरेको कर्मयोग, अथवा सक्षेपमें केवल योग या कर्म-निष्ठा कहते है। हम तीसरे प्रकरणमेंही कह चुके है, कि यहा 'साख्य' और 'योग' शब्दोसे तात्पर्य क्रमश कापिल-साख्य और पातजल योगसे नही है परन्तु 'सन्यास' शब्दभी कुछ सदिग्ध है, इसलिये उसके अर्थका कुछ अधिक विवरण करना यहा आवश्यक है। 'सन्यास' शब्दका सिर्फ 'विवाह न करना', और यदि किया हो तो "बाल-बच्चोंको छोड भगवे कपडे रंग लेना' अथवा 'केवल चौथे आश्रमका ग्रहण करना" इतनाही अर्थ यहा विवक्षित नही है। क्योंकि विवाह न करने परभी भीष्मपितामह मरते दमतक राज्यकार्योंके उद्योगमें लगे रहे, और श्रीमत् शकराचार्यने ब्रह्मचर्यसे एकदम चौथा आश्रम ग्रहण कर, या महाराष्ट्र देशमें श्रीसमर्थ रामदासने मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी – गोस्वामी – रहकर, ज्ञानप्रचार करके ससारके उद्धारार्थ कर्म किये है। यहा पर मुख्य प्रश्न यही है, कि ज्ञानोत्तर ससारके व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर लोक-कल्याणके लिये किये जावे अथवा मिथ्या समझ कर एकदम छोड दिये जावे ? इन व्यवहारो या कर्मोको करनेवाला कर्मयोगी कहलाता है, फिर चाहे वह ब्याहा हो या क्वांरा, भगवे कपडे पहने या सफेद। हां, यहभी कहा जा सकता है, कि ऐसे काम करनेके लिये विवाह न करना, भगवे कपडे

---

* कर्मयोग और कर्मत्याग (साख्य या सन्यास), इन्ही दो मार्गोको सलीने अपने *Pessimism* नामक ग्रथमें क्रमसे *Optimism* और *Pessimism* नाम दिये है, पर हमारी रायमें ये नाम ठीक नही है। *Pessimism* शब्दका अर्थ "उदास, निराशावादी या रोती सूरत" होता है। परतु ससारको अनित्य समझ कर उसे छोड देनेवाले (सन्यासी) आनदी रहते है और वे लोग ससारको आनदसेही छोडते है, इसलिये हमारी रायमे, उनको *Pessimist* कहना ठीक नही है। इसके बदले कर्मयोगको *Energism* और साख्य या सन्यास मार्गको Quietism कहना अधिक प्रशस्त होगा। वैदिक धर्मके अनुसार दोनो मार्गोमे ब्रह्मज्ञान एकही-सा है, इसलिये दोनोका आनद और शातिभी एकही-सी है। हम ऐसा भेद नही करते, कि एक मार्ग आनदमय है और दूसरा दु खमय है, अथवा एक आशावादी है, और दूसरा निराशावादी।

पहनना अथवा बस्तीसे बाहर विरक्त हो कर रहनाही कभी कभी विशेष सुभीतेका होता है। क्योंकि फिर कुटुंबके भरण-पोषणकी झंझट अपने पीछे न रहनेके कारण, अपना सारा समय और परिश्रम लोक-कार्योंमें लगा देनेके लिये कुछभी अडचन नही रहती। ऐसे पुरुष भेषसे सन्यासी हो, तो भी वे तत्त्वदृष्टिसे कर्मयोगीही है। परतु विपरीत पक्षमें – अर्थात् जो लोग इस ससारके समस्त व्यवहारोको निस्सार समझ उनका त्याग करके चुपचाप बैठे रहते है – उन्हीको सन्यासी कहना चाहिये, फिर चाहे उन्होंने प्रत्यक्ष चौथा आश्रम ग्रहण किया हो या न किया हो। साराश, गीताका कटाक्ष भगवे अथवा सफेद कपडोपर अथवा विवाह या ब्रह्मचर्यपर नही है, प्रत्युत इमी एक बातपर नजर रखकर गीतामें सन्यास और कर्मयोग, इन दोनो मार्गोंका विभेद किया गया है, कि ज्ञानी पुरुष जगत्‌के व्यवहार करना है या नही ? शेष बाते गीताधर्ममें तो महत्त्वकी नही है। सन्यास या चतुर्थाश्रम शब्दोकी अपेक्षा कर्मसन्यास अथवा कर्मत्याग, ये शब्द यहाँ अधिक अन्वर्थक और नि सदिग्ध है। परतु इन दोनोकी अपेक्षा केवल सन्यास शब्दके व्यवहारकीही अधिक रीतिके कारण उसके पारिभापिक अर्थका यहाँ विवरण किया गया है। जिन्हे इस ससारके व्यवहार नि सार प्रतीत होते है, वे उससे निवृत्त हो अरण्यमें जाकर स्मृतिधर्मानुसार चतुर्थाश्रममें प्रवेश करते है, इससे कर्मत्यागके इस मार्गको सन्यास कहते है। परतु इसमे प्रधान भाग कर्मत्यागही है, गेरुए कपडे नही।

यद्यपि इस प्रकार इन दोनो पक्षोका प्रचार है, कि पूर्ण ज्ञान होनेपर आगे कर्म करें (कर्मयोग) या कर्म छोड दें, (कर्मसन्यास), तथापि गीताके साप्रदायिक टीकाकारोंने अब यहां यह प्रश्न छेडा है, कि क्या अतमें मोक्षप्राप्ति करा देनेके लिये दोनो मार्ग स्वतत्र अर्थात् एक-से समर्थ है ? अथवा कर्मयोग केवल पूर्वांग यानी पहली सीढी है, और अतमे मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्म छोड कर सन्यासही लेना चाहिये ? गीताके दूसरे और तीसरे अध्यायोमें जो वर्णन है, उसमे जान पडता है, कि ये दोनो मार्ग स्वतत्र है। परतु जिन टीकाकारोका यह मत है, कि सन्यास आश्रमको अगीकार कर समस्त सासारिक कर्मोंको छोडे विना कभीभी मोक्ष नही मिल कि सकता – और जो लोग इसी बुद्धिसे गीताकी टीका करनेमे प्रवृत्त हुए है, यही मत गीतामें प्रतिपादित किया गया है – वे गीताका यह तात्पर्य निकालते है, कि "कर्मयोग स्वतत्र रीतिसे मोक्षप्राप्तिका मार्ग नही है, पहले चित्तकी शुद्धिके लिये कर्मकर अतमे सन्यासही लेना चाहिये, सन्यासही अतिम अर्थात् मुख्य निष्ठा है।" परतु इस अर्थको स्वीकारकर लेनेसे भगवानने जो यह कहा है, कि "साख्य (सन्यास) और योग (कर्मयोग) ये द्विविध अर्थात् दो प्रकार की निष्ठाएँ इस ससारमे है" (गीता ३ ३), उस द्विविध पदका स्वारस्य सर्वथा नष्ट हो जाता है। 'कर्मयोग' शब्दके तीन अर्थ हो सकते है – (१) पहला अर्थ यह है, कि ज्ञान हो या न हो, चातुर्वर्ण्यके यज्ञयाग आदि कर्म अथवा श्रुति-स्मृति-वर्णित

कर्म करनेसेही मोक्ष मिलता है। परंतु मीमांसकोंका यह पक्ष गीताको मान्य नहीं है (गीता २ ४५)। (२) दूसरा अर्थ यह है, कि चित्तशुद्धिके लिये कर्म करनेकी (कर्मयोग) आवश्यकता है, इसलिये केवल चित्तशुद्धिके निमित्तही कर्म करना। इस अर्थके अनुसार कर्मयोग सन्यासमार्गका पूर्वांग हो जाता है, परन्तु यह गीतामें वर्णित कर्मयोग नहीं है। (३) जो जानता है, कि अपने आत्माका कल्याण किसमें है, वह ज्ञानी पुरुष स्वधर्मोक्त युद्धादि सांसारिक कर्म मृत्युपर्यंत करे या न करे? यही गीताका मुख्य प्रश्न है और उसका उत्तर यही है, कि ज्ञानी पुरुषकोभी चातुर्वर्ण्यमें सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करनेही चाहिये (गीता ३ २५)। यही 'कर्मयोग' शब्दका तीसरा अर्थ है, और गीतामें यही कर्मयोग प्रतिपादित किया गया है। यह कर्मयोग सन्यासमार्गका पूर्वांग कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इस मार्गमें कर्म कभी छूटते ही नहीं। अब प्रश्न है केवल मोक्ष-प्राप्तिके विषयका। इसपर गीतामें स्पष्ट कहा है, कि ज्ञानप्राप्तिके हो जानेसे निष्काम कर्म बंधक नहीं हो सकते, प्रत्युत सन्याससे जो मोक्ष प्राप्त करता है, वही इस कर्मयोगसेभी प्राप्त होता है (गीता ५ ५)। इसलिये गीताका कर्मयोग सन्यासमार्गका पूर्वांग नहीं है, किंतु ज्ञानोत्तर ये दोनो मार्ग मोक्षदृष्टिसे स्वतंत्र अर्थात् तुल्यबल हैं (गीता ५ २) – गीताके "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (गीता ३ ३) वाक्यका यही अर्थ करना चाहिये और इसी हेतु भगवानने अगले चरणमें – "ज्ञानयोगेन सांख्याना कर्मयोगेण योगिनाम्" – इस प्रकार, इन दोनो मार्गोंका पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण किया है और आगे चलकर तेरहवे अध्यायके "अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे" (गीता १३ २४) इस श्लोकके – 'अन्ये' (एक) और 'अपरे' (दूसरे) – ये पद उक्त दोनो मार्गोंको स्वतंत्र माने विना अन्वर्थक नहीं हो सकते। इसके सिवा जिस नारायणीय धर्मका प्रवृत्तिमार्ग (योग) गीतामें प्रतिपादित है, महाभारतमें उसका इतिहास देखनेसे यही सिद्धान्त दृढ होता है। सृष्टीके आरंभमें भगवानने हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माको सृष्टि-रचनेकी आज्ञा दी, तब उनसे मरीचि आदि सात मानसपुत्र हुए। सृष्टिक्रमका अच्छे प्रकार, आरंभकर लिये उन्होंने योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्तिमार्गका अवलंबन किया। ब्रह्माके सनत्कुमार और कपिल प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्रोंने उत्पन्न होतेही निवृत्तिमार्ग अर्थात् सांख्यका अवलंबन किया – इस प्रकार इन दोनो मार्गोंकी उत्पत्ति बतलाकर आगे स्पष्ट कहा है, कि ये दोनो मार्ग मोक्षदृष्टिसे तुल्यबल अर्थात् वासुदेवस्वरूपी एकही परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाले, भिन्न भिन्न और स्वतंत्र हैं (मभा शां ३४८ ७४, ३४९ ६३–७३)। इसी प्रकार यहभी भेद किया गया है, कि योग अर्थात् प्रवृत्तिमार्गके प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं, और सांख्यमार्गके मूल प्रवर्तक कपिल है, परंतु यह कहीं नहीं कहा है, कि आगे हिरण्यगर्भने कर्मोंका त्यागकर दिया। इसके विपरीत ऐसा वर्णन है, कि भगवानने सृष्टिके व्यवहार अच्छी तरहसे चलते रखनेके लिये कर्मरूपी यज्ञचक्रको उत्पन्न

किया, और हिरण्यगर्भसे तथा अन्य देवताओंसे कहा, कि इसे निरंतर जारी रखो (मभा शा ३४० ४४–७५, ३३९ ६६, ८७ देखो), इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि सांख्य और योग ये दोनो मार्ग आरंभमेंही स्वतन्त्र हैं। इससे यहभी दीख पडता है कि गीताके साम्प्रदायिक टीकाकारोंने कर्मयोग-मार्गको गौणत्व देनेका जो प्रयत्न किया है, वह केवल साम्प्रदायिक आग्रहका परिणाम है। और इन टीकाओंमें स्थान स्थान पर यह जो तुर्रा लगा रहता है, कि कर्मयोग, ज्ञानप्राप्ति अथवा सन्यासका केवल साधनमात्र है, वह इनकी मनगढत है। वास्तवमे गीताका सच्चा भावार्थ वैसा नही है। गीतापर जो सन्यासमार्गीय टीकाएँ हैं, उनमें हमारे मतसे यही मुख्य दोष है। और टीकाकारोंके इस साम्प्रदायिक आग्रहसे छूटे विना गीताके वास्तविक रहस्यका बोध हो जाना कभी संभव नही है।

यदि यह निश्चय करें, कि कर्मसन्यास और कर्मयोग, दोनो स्वतंत्र रीतिसे मोक्षदायक है – एक दूसरेका पूर्वांग नही – तोभी पूरा निर्वाह नही होता। क्योकि, यदि दोनो मार्ग एकहीसे मोक्षदायक हैं, तो कहना पडेगा, कि इनमेंसे जो मार्ग हमे पसंद होगा, उसे हम स्वीकार करे। और फिर यह सिद्ध न हो कर – कि अर्जुनको युद्धही करना चाहिये, – ये दोनो पक्ष संभव होते है, कि भगवानके उपदेशसे परमेश्वरका ज्ञान होनेपरभी, चाहे वह अपनी रुचिके अनुसार युद्ध करे अथवा लडना-मरना छोडकर सन्यास ग्रहणकर ले। इसीलिये अर्जुनने स्वाभाविक रीतिसे यह सरल प्रश्न किया है, कि "इन दोनो मार्गोंमेंसे जो अधिक प्रशस्त हो, वह एकही मार्ग निश्चय करके मुझे बतलाओ", (गीता ५ १) जिससे उसके अनुसार आचरण करनेमे कोई गडबड न हो। गीताके पाँचवे अध्यायके आरंभमें अर्जुनके इस प्रकार प्रश्नकर चुकनेपर अगले श्लोकमेंही भगवानने उसका स्पष्ट उत्तर दिया है, कि "सन्यास और कर्मयोग ये दोनो मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं, अथवा मोक्षदृष्टिसे एकसी योग्यताके है, तोभी इन दोनोंमें कर्मयोगकी श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते)" (गीता ५ २), और यही श्लोक हमने इस प्रकरणके आरंभमें लिखा है। कर्मयोगकी श्रेष्ठताके संबंधमें गीतामें यह एकही वचन नही है, किंतु ऐसे अनेक वचन है, जैसे – "तस्माद्योगाय युज्यस्व" (गीता २ ५०) – इसलिये तू कर्मयोगकाही स्वीकार कर। "मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि" (गीता २ ४७) कर्म न करनेका आग्रह मत कर।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

कर्मोंको छोडनेके झगडेमें न पडकर "इंद्रियोंको मनसे रोककर अनासक्त बुद्धिके द्वारा कर्मेंद्रियोंसे कर्म करनेवालेकी योग्यता 'विशिष्यते' अर्थात् विशेष है" (गीता ३ ७)। क्योंकि, कभी क्यो न हो, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" अकर्मकी – अपेक्षा

कर्म श्रेष्ठ है (गीता ३ ८)। "इसलिये तू कर्मही कर" (गीता ४ १५) अथवा "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ" (गीता ४ ४२) – कर्मयोगका अंगीकार कर युद्धके लिये खडा हो। (योगी) "ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक" – ज्ञानमार्गवाले (सन्यासी) की अपेक्षा कर्मयोगीकी योग्यता अधिक है। "तस्माद्योगी भवार्जुन" (गीता ६ ४६)। – इसलिये, हे अर्जुन ! तू (कर्म-)योगी हो। अथवा "मामनुस्मर युध्य च" (गीता ८ ७) – मनमें मेरा स्मरण रखकर युद्ध कर, इत्यादि अनेक वचनोंसे गीतामें अर्जुनको स्थान स्थानपर जो उपदेश दिया गया है, उसमेंभी सन्यास या अकर्मकी अपेक्षा कर्मयोगकी अधिक योग्यता दिखलानेके लिये 'ज्याय', 'अधिक' और 'विशिष्यते' इत्यादि पद स्पष्ट हैं। अठारहवे अध्यायके उपसंहारमेंभी भगवानने फिर कहा है, कि "नियत कर्मोका सन्यास करना उचित नही है। आसक्ति-विरहित सब काम सदा करने चाहिये – यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है" (गीता १८ ६, ७)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि गीतामें सन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगकोही श्रेष्ठता दी गई है।

परतु, जिनका साप्रदायिक मत है, कि सन्यास या भक्तिही अतिम और श्रेष्ठ कर्तव्य है, कर्म तो केवल चित्तशुद्धिका साधन है, वह मुख्य साध्य या कर्तव्य नही हो सकता, उन्हे गीताका यह सिद्धान्त कैसे पसद होगा ? यह नहीं कहा जा सकता, कि उनके ध्यानमें यह बात आईही न होगी, कि गीतामे सन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगको स्पष्ट रीतिसे अधिक महत्त्व दिया गया है, परन्तु यदि यह बात मान ली जाती, तो यह प्रकटही है, कि उनके सप्रदायकी योग्यता कम हो जाती। इसीसे पांचवे अध्यायके आरभमें अर्जुनके प्रश्न और भगवानके उत्तर दोनो सरल, सयुक्तिक और स्पष्टार्थक रहनेपरभी, साप्रदायिक टीकाकार इस चक्करमें पड गये है, कि उनका अर्थ कैसे और क्या किया जाय ? पहली अडचन यह थी, कि 'सन्यास और कर्मयोग इन दोनो मार्गोमें श्रेष्ठ कौन है ? " यह प्रश्नही दोनो मार्गोको स्वतत्र माने बिना उपस्थित हो नहीं सकता। क्योंकि इन टीकाकारोंके कथनानुसार कर्मयोग यदि ज्ञानका सिर्फ पूर्वांग हो, तो यह बात स्वयसिद्ध है, कि पूर्वांग गौण है, और ज्ञान अथवा सन्यासही श्रेष्ठ है और फिर प्रश्न करनेके लिये गुजाइशही कहां रही ? अच्छा, यदि प्रश्नको उचित मान ले, तो यह स्वीकार करना पडता है, कि ये दोनो मार्ग स्वतत्र है। और तब तो यह स्वीकृति इस कथनका विरोध करेगी, कि केवल हमारा सप्रदायही मोक्षका मार्ग है। इस अडचनको दूर करनेके लिये इन टीकाकारोने पहले तो यह तुर्रा दिया है, कि अर्जुनका प्रश्नही ठीक नही है, और फिर यह दिखलानेका प्रयत्न किया है, कि भगवानके उत्तरका तात्पर्यभी वैसाही है। परतु इतना गोलमाल करनेपरभी भगवानके इस स्पष्ट उत्तर – "कर्मयोगकी योग्यता अथवा श्रेष्ठता विशेष है" (गीता ५ २) का अर्थ ठीक ठीक फिरभी लगाही नही ! तब अतमें पूर्वापार-सदर्भके विरुद्ध, अपने मनका दूसरा यह तुर्रा लगा कर इन टीकाकारोको ज्यो त्यो कर

अपना समाधान कर लेना पडा है, कि ' कर्मयोगो विशिष्यते ' – कर्मयोगकी योग्यता विशेष है – यह वचन कर्मयोगकी पोची प्रशसा करनेके लिये यानी अर्थवादात्मक है और वास्तवमें भगवानके मतसेभी सन्यासमार्गही श्रेष्ठ है (गी शा भा ५ २, ६ १, २, १८ ११) शाकरभाष्यमेंही क्यो, रामानुजभाष्यमेभी यह श्लोक कर्मयोगकी केवल प्रशसा करनेवाला – अर्थवादात्मकही – माना गया है (गी रा भा ५ १)। रामानुजाचार्य यद्यपि अद्वैती न थे, तोभी उनके मतमे भक्तिही मुख्य साध्यवस्तु है, इसलिये कर्मयोग ज्ञानयुक्त भक्तिका साधनही हो जाता है (गीता रा भा ३ १)। मूल ग्रथसे टीकाकारोका सप्रदाय भिन्न है, परतु टीकाकार यदि इस दृढ समझसे उस ग्रथकी टीका करने लगे, कि हमारा मार्ग या सप्रदायही मूल ग्रथमें वर्णित है, तो पाठकही देखें, कि उससे मूलग्रथकी कैसी खीचातानी होती है। भगवान् श्रीकृष्ण या व्यास सस्कृत भाषामें स्पष्ट शब्दोंके द्वारा क्या यह कह नही सकते थे, कि " अर्जुन ! तेरा प्रश्न ठीक नही है ?" परतु ऐसा न करके जब कि अनेक स्थलोपर स्पष्ट रीतिसे यही कहा है, कि " कर्मयोगही विशेष योग्यताका है ", तब कहना पडता है, कि साप्रदायिक टीकाकारोका उल्लेखित अर्थ सरल नही है, और पूर्वापर सदर्भ देखनेसेभी यही अनुमान दृढ होता है। क्योंकि गीतामेंही अनेक स्थानोमें ऐसा वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मका सन्यास न कर ज्ञानप्राप्तिके अनतरभी अनासक्त बुद्धिसे अपने सब व्यवहार किया करता है (गीता २ ६४, ३ १९, ३ २५, १८ ९) इन स्थानोपर श्रीशकराचार्यने अपने भाष्यमे पहले यह प्रश्न किया है, कि ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, या ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे ? और फिर यह गीतार्थ किया है, कि केवल ज्ञानमेंही सब कर्म दग्ध होकर मोक्षप्राप्ति होती है, मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मकी आवश्यकता नही है। इससे आगे यह अनुमान निकाला है, कि " जब गीताकी दृष्टिसेभी मोक्षके लिये कर्मकी आवश्यकता नही है, तब चित्तशुद्धि हो जानेपर सब कर्म निरर्थक हैंही, और वे स्वभावसेही बधक अर्थात् ज्ञानविरुद्ध हैं। इसलिये ज्ञानप्राप्तिके अनतर ज्ञानी पुरुषको कर्म छोड देना चाहिये " – और कहना पडता है कि यही मत भगवानकोभी गीतामें ग्राह्य है। " ज्ञानके अनतर ज्ञानी पुरुषकोभी कर्म करने चाहिये।" इस मतको 'ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष' कहते हैं, और श्रीशकराचार्यका उपर्युक्त युक्तिवादही उस पक्षके विरुद्ध मुख्य आक्षेप है। ऐसाही युक्तिवाद मध्वाचार्यनेभी स्वीकृत किया है (गी मभा ३ ३१)। हमारी रायमे यह युक्तिवाद समाधानकारक अथवा निरुत्तरभी नही है। क्योंकि, (१) यद्यपि काम्य कर्म बधक होकर ज्ञानके विरुद्ध है, तथापि यह न्याय निष्काम कर्मको लागू नहीं है। और (२) ज्ञानप्राप्तिके अनतर मोक्षके लिये कर्म अनावश्यक भलेही हुआ करें, परतु उससे यह सिद्ध करनेमें कोई बाधा नही पहुचती, कि " अन्य सबल कारणोंसे ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके साथही कर्म करना आवश्यक है।" मुमुक्षुका सिर्फ चित्त शुद्ध करनेके लियेही ससारमें कर्मका उपयोग नही है, और न इसीलिये कर्म उत्पन्नही हुए है। इसलिये

कहा जा सकता है, कि मोक्षके अतिरिक्त अन्य कारणोंके लिये स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्ममृष्टिके समस्त व्यवहार निष्कामवुद्धिसे करतेही रहनेकी ज्ञानी पुरुप-कोभी जरूरत है। इस प्रकरणमें आगे विस्तारसहित विचार किया गया है, कि ये अन्य कारण कौन-से है। यहाँ इतनाही कह देते है, कि सन्यास लेनेके लिये प्रवृत्त अर्जुनको ये कारण वतलानेके निमित्तही गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है, और ऐसा अनुमान नही किया जा सकता, कि चित्तकी शुद्धिके पश्चात् मोक्षके लिये कर्मोकी अनावश्यकता वतलाकर गीतामें सन्यासमार्गहीका प्रतिपादन किया गया है। शाकरसम्प्रदायका यह मत है सही, कि ज्ञानप्राप्तिके अनतर सन्यासाश्रम लेकर कर्मोको छोडही देना चाहिये। परतु उससे यह सिद्ध नही होता, कि गीताका तात्पर्यभी वही होना चाहिये, और न यही वात सिद्ध होती है, कि अकेले शाकरसप्रदायको या अन्य किसी सप्रदायको 'धर्म' मानकर उसीके अनुकूल गीताका किसी प्रकार अर्थ लगा लेना चाहिये। गीताका तो यही स्थिर सिद्धान्त है, कि ज्ञानके पश्चात्भी सन्यासमार्ग ग्रहण करनेकी अपेक्षा कर्मयोगको स्वीकार करनाही उत्तम पक्ष है। फिर उसे चाहे निराला मप्रदाय कहो या और कुछ उसका नाम रखो। परतु इस वातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि यद्यपि गीताको कर्मयोगही श्रेष्ठ जान पडता है, तथापि अन्य परमत-असहिष्णु सप्रदायोकी भाँति उसका यह आग्रह नही, कि सन्यासमार्गको सर्वथा त्याज्य मानना चाहिये। गीतामे सन्यासमार्गके सवधमें कहीभी अनादरभाव नही दिखलाया गया है। इसके विरुद्ध भगवानने स्पष्ट कहा है, कि सन्यास और कर्मयोग दोनो मार्ग एकसेही नि श्रेयस्कर- मोक्षदायक – अथवा मोक्षदृष्टिसे समान मूल्यवान् है। और आगे इस प्रकारकी युक्तियोमे इन दो भिन्न भिन्न मार्गोकी एकरूपताभी कर दिखलाई है, कि "एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति" (गीता ५ ५) – जिसे यह मालूम हो गया, कि ये दोनो मार्ग एकही है – अर्थात् समान-वलवाले है – उसेही सच्चा तत्वज्ञान हुआ, या 'कर्मयोग'मेंभी तो फलाशाका सन्यास करनाही पडता है – "न ह्यसन्यस्तसकल्पो योगी भवति कश्चन" (गीता ६ २)। यद्यपि ज्ञानप्राप्तिके अनतर (पहलेही नही) कर्मका सन्यास करना या कर्मयोग स्वीकार करना दोनो मार्ग मोक्षदृष्टिसे एक-सीही योग्यताके है, तथापि लोकव्यवहारकी दृष्टिसे विचारनेपर यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, कि बुद्धिमें सन्यास रख कर – अर्थात् निष्काम बुद्धिसे देहेद्रियोंकेद्वारा जीवनपर्यंत लोकसग्रहकारक सब कार्य किये जायँ। क्योकि भगवान्का निश्चित उपदेश है, कि इस उपायसे सन्यास और कर्म, दोनो स्थिर रहते है। एव तदनुसारही फिर अर्जुन युद्धके लिये प्रवृत्त हुआ है। ज्ञानी और अज्ञानीमें यही तो भेद है। केवल शारीर अर्थात् देहेद्रियोंके कर्म देखें, तो दोनोंके एक-से होगेही, परतु अज्ञानी मनुष्य उन्हे आसक्त वुद्धिसे और ज्ञानी मनुष्य अनासक्त वुद्धिसे किया करता है (गीता ३ २५)। भास कविने गीताके इसी सिद्धान्तका वर्णन अपने नाटकमें इस प्रकार किया है –

प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे।
समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः॥

"ज्ञानी और मूर्ख मनुष्योंके कर्म करनेमें शरीर तो एक-साही रहता है, परतु बुद्धिमें भिन्नता रहती है" (अविमार ५.५)।

कुछ फुटकल सन्यासमार्गवालोका इसपर यह और कथन है, कि "गीतामे अर्जुनको कर्म करनेका उपदेश तो दिया गया है, परतु भगवानने यह उपदेश इस बातपर ध्यान दे कर किया है कि अज्ञानी अर्जुनको चित्तशुद्धिके लिये कर्म करनेकाही अधिकार था। सिद्धावस्थामें भगवानके मतसेभी कर्मयोगही श्रेष्ठ है।" इस युक्ति-वादका सरल भावार्थ यही दीख पडता है, कि यदि भगवान् यह कह देते, कि "अर्जुन! तू अज्ञानी है," तो वह उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके लिये आग्रह करता, जिस प्रकार कि कठोपनिपदमें नचिकेताने किया था, और फिर तो उसे पूर्ण ज्ञान बतलानाही पडता, एव यदि वैसा पूर्ण ज्ञान उसे बतलाया जाता, तो वह युद्ध छोडकर सन्यास ले लेता और और तब तो भगवानका भारतीय युद्धसंबंधी सारा उद्देश्यही विफल हो जाता – इसी भयसे अपने अत्यत प्रिय भक्तको धोखा देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया है! इस प्रकार जो लोग सिर्फ अपने सप्रदायका समर्थन करनेके लिये, भगवानके मत्थेभी अत्यत प्रिय भक्तको धोखा देनेका निद्यकर्म मढनेके लिये प्रवृत्त हो गये, उनके साथ किसीभी प्रकारका वाद न करनाही अच्छा है। परन्तु सामान्य लोग इन भ्रामक युक्तियोमे कही फँस न जावे, इसलिये इतनाही कह देते है, कि श्रीकृष्णको अर्जुनसे स्पष्ट शब्दोमे यह कह देनेके लिये डरनेका कोई कारण न था, "कि तू अज्ञानी है, इसलिये कर्म कर।" और इतनेपरभी यदि अर्जुन कुछ गडबड करता, तो उसे, अज्ञानी रखकरही उससे प्रकृतिधर्मके अनुसार युद्ध करानेकी सामर्थ्य श्रीकृष्णमें थी ही (गीता १८ ५९, ६१)। परतु ऐसा न कर, बार बार 'ज्ञान' और 'विज्ञान' बतलाकरही (गीता ७ २, ९ १, १० १, १३ २, १४ १) पद्रहवे अध्यायके अंतमें भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि "इस शास्त्रको समझ लेनेसे मनुष्य ज्ञाता और कृतार्थ हो जाता है" (गीता १५. २०)। इस प्रकार भगवानने उसे पूर्ण ज्ञानी बना कर, उसकी इच्छासेही उससे युद्ध करवाया है (गीता १८ ६३)। इससे भगवानका यह अभिप्राय स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होता है, कि ज्ञाता पुरुषको, ज्ञानप्राप्तिके पश्चात्भी, निष्काम कर्म करनेही रहना चाहिये, और यही सर्वोत्तम पक्ष है। इसके अतिरिक्त, यदि एक बार मानभी लिया जाय, कि अर्जुन अज्ञानी था, तथापि उसको किये हुए उपदेशके समर्थनमें जिन जनक प्रभृति प्राचीन कर्मयोगियोका और आगे भगवानने स्वय अपनाभी उदाहरण दिया है, उन सभीको कदापि अज्ञानी नही कह सकते। इसीसे कहना पडता है, कि साप्रदायिक आग्रहका यह कोरा युक्तिवाद सर्वथा त्याज्य और अनुचित है, तथा गीतामें ज्ञान-युक्त कर्मयोगकाही उपदेश दिया गया है।

अबतक यह बतलाया गया, कि ज्ञानोत्तर सिद्धावस्थाके व्यवहारके विषयमेंभी कर्मत्याग (सांख्य) और कर्मयोग (योग), ये दोनो मार्ग न केवल हमारेही देशमें, वरन् अन्य देशोमेंभी प्राचीन समयसे प्रचलित पाये जाते है। अनतर, इस विषयमें गीताशास्त्रके दो मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये – (१) ये दोनो मार्ग स्वतत्र अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे परस्पर-निरपेक्ष और तुल्यबल हैं, एक दूसरेका अग नही और (२) उनमें कर्मयोगही अधिक प्रशस्त है। और इन दोनो सिद्धान्तोंके अत्यत स्पष्ट होते हुएभी साम्प्रदायिक टीकाकारोंने इनका विपर्यास किस प्रकार और क्यो किया? इसी बातको दिखलानेके लिये यह सारी प्रस्तावना लिखनी पडी। अब गीतामें दिये हुए उन कारणोका निरूपण किया जायगा, जो प्रस्तुत प्रकरणकी इस मुख्य बातको सिद्ध करते हैं, कि सिद्धावस्थामेंभी कर्मत्यागकी अपेक्षा निष्काम बुद्धिसे आमरण कर्म करते रहनेका मार्ग अर्थात् कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है। इनमेंसे कुछ बातोका स्पष्टीकरण तो 'सुख-दु ख-विवेक' नामक प्रकरणमें पहलेही हो चुका है। परतु वह विवेचन था सिर्फ सुख-दु खका, इसलिये वहाँ इस विषयकी पूरी चर्चा नही की जा सकी। अतएव इस विषयकी चर्चाके लियेही यह स्वतत्र प्रकरण लिखा गया है। वैदिक धर्मके दो भाग हैं कर्मकाड और ज्ञानकाड। पिछले प्रकरणमें उनके भेद बतला दिये गये है। कर्मकाडमें अर्थात् ब्राह्मण आदि श्रौत ग्रथोमें और अशत उपनिषदोमेंभी ऐसे स्पष्ट वचन हैं, कि प्रत्येक गृहस्थको फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय–अग्निहोत्र करके यथाधिकार ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञयाग करने चाहिये और विवाह करके वश बढानाभी हरएकका कर्तव्य है। उदाहरणार्थ, "एतद्वै जरामय सत्र यदग्निहोत्रम्" इस अग्निहोत्ररूपको मरणपर्यंत जारी रखना चाहिये (श ब्रा १२ ४ १ १), प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी।" वशके धागेको टूटने न दो (तै उ १ ११ १) अथवा "ईशावास्यमिद सर्वम्"–ससारमे जो कुछ है, उसे परमेश्वरमें अधिष्ठित करे– अर्थात् ऐसा समझे, कि मेरा कुछ नही, उसीका है। और इस निष्काम बुद्धिसे–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

"कर्म करते रहकरही सौ वर्ष अर्थात् आयुष्यकी मर्यादाके अततक जीनेकी इच्छा रखे, एव ऐसी ईशावास्य बुद्धिसे कर्म करेगा, तो उन कर्मोंका तुझे (पुरुषको) लेप (बधन) नहीं लगेगा, इसके अतिरिक्त (लेप अथवा बधनसे बचनेके लिये) दूसरा मार्ग नही है" (ईश १ २) परतु जब हम, कर्मकाडसे ज्ञानकाडमें जाते हैं, तब वैदिक ग्रथोमेंही अनेक विरुद्धपक्षीय वचनभी मिलते है। जैसे "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै २ १ १)–ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है। "नान्य पथा विद्यतेऽयनाय" (श्वे ३ ८)–(बिना ज्ञानके) मोक्षप्राप्तिका दूसरा मार्ग नही है। "पूर्वे विद्वास प्रजा न कामयन्ते। कि प्रजया करिष्यामो येषा नोऽयमात्माऽय लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षा-

चर्य चरन्ति" (वृ ४ ४ २२, ३ ५ १) – प्राचीन ज्ञानी पुरुषोको पुत्र आदिकी इच्छा न थी, और यह समझकर, कि जब समस्त लोकही हमारा आत्मा हो गया है, तब हमें (दूसरी) सतान किस लिये चाहिये ? – वे लोग सतति, सपत्ति और स्वर्ग आदिमेंसे किसीकीभी 'एषणा' अर्थात् चाह नही करते थे, किंतु उससे निवृत्त होकर वे ज्ञानी पुरुष स्वेच्छासे भिक्षाटन करते हुए घूमा करते थे, अथवा "इस रीतिसे जो लोग विरक्त हो जाते है, उन्हीको मोक्ष मिलता है" (मु १ २ ११)। या अतमें "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबा ४) – जिस दिन बुद्धि विरक्त हो, उसी दिन सन्यास लेले। इस प्रकार वेदकी आज्ञा द्विविध अर्थात् दो प्रकारकी होनेसे (मभा शा २४० ६) प्रवृत्ति और निवृत्ति या कर्मयोग और साख्य, इसमेंसे जो श्रेष्ठ मार्ग हो, उसका निर्णय करनेके लिये, यह देखना आवश्यक है, कि कोई दूसरा उपाय है या नही ? आचार अर्थात् शिष्ट लोगोंके व्यवहार या रीति-भाँतिको देखकर इस प्रश्नका निर्णय हो सकता था, परतु इस सबधमें शिष्टाचारभी उभयविध अर्थात् दो प्रकारका है। इतिहाससे प्रकट होता है, कि शुक और याज्ञवल्क्य प्रभृतिने सन्यासमार्गका तो जनक, श्रीकृष्ण और जैगीषव्य आदि प्रमुख ज्ञानी पुरुषोने कर्मयोगकाही अवलबन किया था। इसी अभिप्रायसे सिद्धान्त पक्षके युक्तिवादमें बादरायणाचार्यने कहा है, कि "तुल्य तु दर्शनम्" (वे सू ३ ४ ९) – अर्थात् आचारकी दृष्टिसे ये दोनो पथ समान बलवान् है। स्मृतिवचनभी* ऐसाही है –

विवेकी सर्वदा मुक्त. कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

"पूर्ण ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब कर्म करकेभी श्रीकृष्ण और जनकके समान अकर्ता, अलिप्त एव सर्वदा मुक्तही रहता है।" ऐसेही भगवद्गीतामेंभी मनु, इक्ष्वाकु आदिके नाम कर्मयोगकी परपरा बतलाते हुए कहा है, कि "एव ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।" (गीता ५ १५) – ऐसा जानकर प्राचीन कालमें जनक आदि ज्ञानी पुरुषोने कर्म किया। योगवासिष्ठ और भागवतमें जनकके सिवा इसी प्रकारके दूसरे बहुत-से उदाहरण दिये गये है (यो ५ ७५, भाग २ ८ ४३ – ४५)। यदि किसीको शका हो, कि जनकआदि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी न थे, तो योगवासिष्ठमें स्पष्ट लिखा है, कि ये सब 'जीवन्मुक्त' थे। योगवासिष्ठमेंही क्यो, महाभारतमेंभी कथा है, कि व्यासजीने अपने पुत्र शुकको मोक्षधर्मका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके लिये अतमें जनकके यहाँ भेजा था (मभा शा ३२५, यो २ १)। इसी प्रकार उपनिषदोमेंभी जान-बूझकर ये कथाएँ है, कि अश्वपति कैकेय राजाने

---

* इसे स्मृतिवचन मानकर आनदगिरीने कठोपनिषदके (कठ. २ १९) शाकरभाष्यकी टीकामें उद्धृत किया है। नही मालूम, यह कहाँका वचन है।

उद्दालक ऋषिको (छा ५ ११–२४) और काशिराज अजातशत्रुने गार्ग्य बालाकीको (बृ २ १) ब्रह्मज्ञान सिखाया था। परतु यह वर्णन कही नही मिलता, कि अश्वपति या जनकने राजपाट छोडकर कर्मत्यागरूप सन्यास ले लिया। इसके विपरीत, जनक-सुलभा-सवादमें जनकने स्वय अपने विषयमें कहा है, कि "हम मुक्तसग होकर – आसक्ति छोडकर – राज्य करते हैं और यदि हमारे एक हाथमें चदन लगाया और दूसरेको छील डाला, तोभी उसका सुख और दु ख हमें एकसाही है।" अपनी स्थितिका इस प्रकार वर्णनकर (मभा शा ३२० २६) जनकने आगे सुलभासे कहा है –

> **मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमैः ।**
> **ज्ञान लोकोत्तर यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥**
> **ज्ञाननिष्ठा वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जना. ।**
> **कर्मनिष्ठा तथैवान्ये यतय. सूक्ष्मदर्शिन ॥**
> **प्रहायोभयमप्येव ज्ञान कर्म च केवलम् ।**
> **तृतीयेय समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥**

"मोक्षशास्त्रके ज्ञाता मोक्षप्राप्तिके लिये तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतलाते हैं – (१) ज्ञान प्राप्तकर सब कर्मोका त्याग कर देना – इसीको कुछ मोक्षशास्त्रज्ञ ज्ञाननिष्ठा कहते हैं, (२) इसी प्रकार दूसरे सूक्ष्मदर्शी लोग कर्मनिष्ठा बतलाते हैं, परतु केवल ज्ञान और केवल कर्म – इन दोनो निष्ठाओको छोडकर (३) यह तीसरीही (अर्थात् ज्ञानसे आसक्तिका क्षय कर कर्म करनेकी) निष्ठा (मुझे) उस महात्माने (पचशिख) बतलाई है" (मभा शा ३२० ३८–४०)। निष्ठा शब्दका सामान्य अर्थ अतिम स्थिति, आधार या अवस्था है। परतु इस स्थानपर और गीतामेंभी निष्ठा शब्दका अर्थ है – "मनुष्यके जीवनका वह मार्ग, ढँग, रीति या उपाय है, जिससे आयु बितानेपर अतमें मोक्षकी प्राप्ति होती है।" गीतापर जो शाकरभाष्य है, उसमेंभी निष्ठा = **अनुष्ठेयतात्पर्यम्** – अर्थात् आयुष्य या जीवनमें जो कुछ अनुष्ठेय (आचरण करने योग्य) हो, उसमें तत्परता (निमग्न रहना) – यही अर्थ किया है। आयुष्यक्रम या जीवनक्रमके इन मार्गोमेंसे जैमिनि जैसे प्रमुख मीमासकोंने ज्ञानको महत्त्व नही दिया है, किंतु यह कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्म करनेसेही मोक्षकी प्राप्ति होती है –

> **ईजाना बहुभि यज्ञै. ब्राह्मणा वेदपारगा ।**
> **शास्त्राणि चेत्प्रमाण स्यु. प्राप्तास्ते परमा गतिम् ॥**

क्योकि, ऐसा न माननेसे शास्त्रकी अर्थात् वेदकी आज्ञा व्यर्थ हो जावेगी (जै सू ५ २ २९ पर शाकरभाष्य देखो) और उपनिषत्कार तथा बादरायणाचार्यने, यह निश्चय कर कि यज्ञ-याग आदि सभी कर्म गौण हैं, सिद्धान्त किया है, कि मोक्षकी

प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है, ज्ञानके सिवा और किसीसेभी मोक्षका मिलना शक्य नही है (वे सू ३ ४ १, २)। परतु जनक कहते है, कि इन दोनो निष्ठाओको छोड-कर आसक्ति-विरहित कर्म करनेकी एक तीसरीही निष्ठा पचशिखने (स्वय साख्य-मार्गी हो करभी) हमें बतलाई है। "दोनो निष्ठाओको छोड कर" इन शब्दोंसे प्रकट होता है, कि यह तीसरी निष्ठा, पहली दो निष्ठाओमेंसे किसीभी निष्ठाका अग नही है – प्रत्युत स्वतत्र रीतिसे वर्णित है। वेदान्तसूत्रमेंभी (वे सू ३. ४. ३२–३५) जनककी इस तीसरी निष्ठाका अतमें उल्लेख किया गया है, और भगवद्-गीतामें जनककी उसी तिसरी निष्ठाका – इसीमे भक्तिका नया योग करके – वर्णन किया गया है। परतु गीताका तो यह सिद्धान्त है, कि मीमासकोका केवल कर्मयोग अर्थात् ज्ञानविरहित कर्मयोग मोक्षदायक नही है, वह केवल स्वर्गप्रदही है (गीता २ ४२–४४, ९ २१), इसलिये जो मार्ग मोक्षप्रद नही है, उसे 'निष्ठा' नामही नही दिया जा सकता। क्योकि, यह व्याख्या सभीको स्वीकृत है, कि जिससे अतमें मोक्ष मिले, उसी मार्गको 'निष्ठा' कहना चाहिये। अतएव, सब मतोका सामान्य विवेचन करते समय, यद्यपि जनकने तीन निष्ठाएँ बतलाई हैं, तथापि मीमासकोका केवल (अर्थात् ज्ञानविरहित) कर्ममार्ग 'निष्ठा'मेंसे पृथक् कर सिद्धान्तपक्षमे स्थिर होनेवाली दो निष्ठाएँही गीताके तीसरे अध्यायके आरभमें कही गई है (गीता ३ ३)। केवल ज्ञान (साख्य) और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म (योग), येही वे दो निष्ठाएँ है। और सिद्धान्तपक्षीय इन दोनो निष्ठाओमेंसे दूसरी (अर्थात् जनकके कथनानुसार तीसरी) निष्ठाके समर्थनार्थ यह प्राचीन उदाहरण दिया गया है, कि "कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय " (गीता ३ २०)– जनक प्रभृतिने इस प्रकार "कर्म करकेही सिद्धि पाई है।" जनक आदिक क्षत्रिय राजाओकी बात छोड दे, तोभी यह सर्वश्रुत हैही, कि व्यासने विचित्रवीर्यके वशकी रक्षाके लिये धृतराष्ट्र और पडु, ये दो क्षेत्रज पुत्र निर्माण किये थे और तीन वर्ष तक निरतर परि-श्रम करके ससारके उद्धारके निमित्त उन्होने महाभारतभी लिखा है। एव कलियुगमें स्मार्त अर्थात् सन्यासमार्गके प्रवर्तक श्रीशकराचार्यनेभी अपने अलौकिक ज्ञान तथा उद्योगसे धर्म-सस्थापना का कार्य किया था। कहाँ तक कहे ? जबसे स्वय ब्रह्मदेव कर्म करनेके लिये पवृत्त हुए, तभीसे सृष्टिका आरभ हुआ है। मलत ब्रह्मदेवसेही मरीचि प्रभृति सात मानसपुत्रोने उत्पन्न होकर, सन्यास न ले, सृष्टिक्रमको जारी रखनेके लिये मरणपर्यत प्रवृत्तिमार्गकाही अगीकार किया, और सनत्कुमार प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्र जन्मसेही विरक्त अर्थात् निवृत्ति-पथी हुए – पहले कह चुके है कि, इस कथाका उल्लेख महाभारतमे वर्णित नारायणीय धर्मनिरूपणमें है (मभा शा ३३९, ३४०)। ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंने या ब्रह्मदेवनेभी, कर्म करते रहनेके इस प्रवृत्तिमार्गका क्यो अगीकार किया ? – इसकी उपपत्ति वेदान्तसूत्रमें इस प्रकार दी है "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (वे सू ३ ३ ३२) –

जिसका जो ईश्वरनिर्मित अधिकार है, उसके पूरे होनेतक कार्योंसे छुट्टी नही मिलती। इस उपपत्तिकी जाँच आगे की जावेगी। उपपत्ति कुछभी क्यो न हो, पर यह बात निर्विवाद है, कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये दोनो पथ ब्रह्मज्ञानी पुरुषोम ससारके आरभसे प्रचलित है। इससे यहभी प्रकट है, कि उनमेंसे किसीकी श्रेष्ठताका निर्माण सिर्फ आचारकीही ओर ध्यान देकर नही किया जा सकता।

इस प्रकार, पूर्वाचार द्विविध होनेके कारण, केवल आचारसेही यद्यपि यह निर्णय नही हो सकता, कि निवृत्ति श्रेष्ठ है या प्रवृत्ति, तथापि सन्यासमार्गके लोगोका यह दूसरा युक्तिवाद है, कि यदि गह निर्विवाद है, कि विना कर्मवधसे छूटे मोक्ष नही होता, तो ज्ञानप्राप्ति हो जानेपर तृष्णामूलक कर्मोका झगडा, जितनी जल्दी हो सके, तोडनेमेंही श्रेय है। महाभारतके शुकानुशासनमें – इसीको 'शुकानुप्रश्न'भी कहते हैं, – सन्यासमार्गकाही प्रतिपादन है। वहाँ शुकने व्यासजीसे पूछा है –

यदिद वेदवचन कुरु कर्म त्यजेति च।
का दिश विद्यया यान्ति का च गच्छन्ति कर्मणा॥

"वेद, कर्म करनेके लियेभी कहता है और छोडनेके लियेभी, तो अव मुझे वतलाइये, कि विद्यासे अर्थात् कर्मरहित ज्ञानसे और केवल कर्मसे कौन-सी गति मिलती है?" (मभा शा २४० १) इसके उत्तरमे व्यासजीने कहा है –

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतय पारदर्शिन ॥

"कर्मसे प्राणी बंधा जाता है, और विद्यासे मुक्त हो जाता है। इसीसे पारदर्शी यति अथवा सन्यासी कर्म नही करते" (मभा शा २४० ७)। इस श्लोकके पहले चरणका विवेचन हम पिछले प्रकरणमें कर चुके हैं। "कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते" इस सिद्धान्तपर कुछ वाद नही है। परतु स्मरण रहे, कि वहाँ यह दिखलाया है, कि 'कर्मणा वध्यते'का विचार करनेसे सिद्ध होता है, कि जड अथवा अचेतन कर्म किसीको न तो वाँध सकता है और न छोड सकता है, मनुष्य फलाशासे अथवा अपनी आसक्तिसे कर्मोमें वँध जाता है। इस आसक्तिसे अलग होकर वह यदि केवल वाह्य इद्रियोंसे कर्म करे, तवभी वह **मुक्तही** है। रामचद्रजी, इसी अर्थको मनमें लाकर, अध्यात्म रामायणमें (अ रा २ ४ ४२) में लक्ष्मणसे कहते है, कि –

प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥

"कर्ममय ससारके प्रवाहमें पडा हुआ मनुष्य वाहरी सव प्रकारके कर्तव्य-कर्म करकेभी अलिप्त रहता है।" अध्यात्मशास्त्रके इस सिद्धान्तपर ध्यान देनेसे दीख पडता है, कि कर्मोंको दु खमय मानकर उनके त्यागनेकी आवश्यकताही नही

रहती, केवल मनको शुद्ध और सम करके फलाशा छोड देनेसेही सव काम हो जाते हैं। तात्पर्य यह, कि यद्यपि ज्ञान और काम्यकर्मका विरोध हो, तथापि निष्काम कर्म और ज्ञानके बीच कोईभी विरोध हो नही सकता। इसीमे अनुगीतामे 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' – अतएव कर्म नही करते – इस वाक्यके वदले –

तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिन ।

"इससे पारदर्शी कर्ममें आसक्ति नही रखते" (अश्व ५१ ३३), यह वाक्य आया है। इसमे पहले, कर्मयोगका स्पष्ट प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है, कि –

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चित. ।
अनाशीर्योगसयुक्तास्ते धीरा. साधुदर्शिनः ।।

"जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धासे फलाशा न रखकर (कर्म-)योग-मार्गका अवलंव करके कर्म करते है, वेही साधुदर्शी है" (अश्व ५० ६, ७)। इसी प्रकार –

यदिद वेदवचन कुरु कर्म त्यजेति च ।

इस पूर्वार्धमे जुडा हुआही, वनपर्वमें, युधिष्ठिरको शौनकका, यह उपदेश है, कि –

तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत् ।

"वेदमें कर्म करने और छोडनेकीभी आज्ञा है, इसलिये (कर्तृत्वका) अभिमान छोडकर हमे अपने सव कर्म करने चाहिये" (वन २ ७३)। शुकानुप्रश्नमेंभी व्यासजीने शुकसे दो वार स्पष्ट कहा है कि –

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ।।

"ब्राह्मणकी पूर्वकी, पुरानी (पूर्वतर) वृत्ति यही है, कि ज्ञानवान होकर, सव काम करकेही सिद्धि प्राप्त करे" (मभा शा २३७ १, २३४ २९)। यहीभी प्रकट है, कि यहाँ 'ज्ञानवानेव' पदसे ज्ञानोत्तर और ज्ञानयुक्त कर्मही विवक्षित है। अव यदि दोनो पक्षोंके उक्त सव वचनोका निराग्रह वुद्धिसे विचार किया जाय, तो मालूम होगा, कि "कर्मणा वध्यते जन्तु" इस युक्तिवादसे कर्मत्यागविषयक यह सिर्फ एकही अनुमान निष्पन्न नही होता, कि 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' – इससे काम नही करते – किंतु उसी युक्तिवादसे यह निष्काम कर्मयोगविषयक दूसरा अनुमानभी उतनीही योग्यताका सिद्ध होता है, कि "तस्मात्कर्मसु नि स्नेहा" – इससे कर्ममे आसक्ति नही रखते। सिर्फ हमही इस प्रकारके दो अनुमान नही करते, वल्कि व्यासजीनेभी यही अर्थ शुकानुप्रश्नके निम्न श्लोकमे स्पष्टतया वतलाया है –

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदा प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्म. निवृत्तिश्च विभावितः ।।*

---

* इस अंतिम चरणके "निवृत्तिश्च सुभाषित" और "निवृत्तिश्च विभावित" ऐसे पाठभेदभी है। पाठभेद कुछभी हो, पर प्रथम 'द्वाविमौ' यह अवश्य है, जिससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है, कि दोनो पथ स्वतंत्र है।

अठारहवे अध्यायमें यह सिद्धान्त किया है, कि "निस्संग-बुद्धिसे, फलाशा छोडकर, केवल कर्तव्य समझकर, कर्म करनाही सच्चा 'सात्त्विक' कर्मत्याग है" – कर्म छोडना सच्चा कर्मत्याग नही है (गीता १८ ९)। कर्म मायासृष्टिकेही क्यो न हो, परतु किसी अगम्य उद्देश्यसे परमेश्वरनेही तो उन्हे बनाया है और उनको बद करना मनुष्यके अधिकारकी बात नही, वह परमेश्वरके अधीन है। अतएव यह बात निर्विवाद है, कि बुद्धिको नि सग रखकर केवल शारीर-कर्म करनेसे, वे मोक्षके बाधक नही होते। तब चित्तको विरक्त कर केवल इद्रियोंसे शास्त्रसिद्ध कर्म करनेमें हानिही क्या है ? गीतामें कहाही हैं, कि – "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता ३ ५, १८ ११)।– इस जगत्में कोई एक क्षणभरभी विना कर्मके रह नही सकता। और अनुगीतामें कहा है कि, "नैष्कर्म्यं नच लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते" (अश्व २० ७) – इस लोकमें (किसीसेभी) घडीभरके लियेभी कर्म नही छूटते। मनुष्योकी तो बिसातही क्या ! सूर्य-चद्र प्रभृतिभी निरतर कर्मही करते रहते हैं ! अधिक क्या कहे ? यह निश्चित सिद्धान्त है, कि कर्मही सृष्टि और सृष्टिही कर्म है। इसीलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि सृष्टिकी घटनाओंको (अथवा कर्मको) क्षणभरके लियेभी विश्राम नही मिलता। देखिये, एक ओर भगवान् गीतामें कहते हैं – "कर्म छोडनेसे खानेकोभी न मिलेगा" (गीता ३ ८), तो दूसरी ओर वनपर्वमें द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है, कि "अकर्मणा वै भूताना वृत्ति स्यान्नहि काचन" (वन ३२ ८) अर्थात् कर्मके बिना प्राणिमात्रका निर्वाह नही, ओर इसी प्रकार दासबोधमेंभी पहले ब्रह्मज्ञान बतलाकर श्रीसमर्थ रामदास-स्वामीभी कहते है, "यदि प्रपच छोडकर परमार्थ करोगे, तो खानेके लिये अन्नभी न मिलेगा" (दास १२ १ ३)। अच्छा, भगवानकाही चरित्र देखो तो मालूम होगा, कि आप प्रत्येक युगमे भिन्न भिन्न अवतार लेकर इस मायिक जगतमे साधुओंकी रक्षा और दुष्टोका विनाशरूप कर्म करते आ रहे हैं (गीता ४ ८ मभा शा ३३९ १०३)। और उन्होंनेही गीतामें कहा है, कि यदि मैं येही कर्म न करूँ, तो ससार उजडकर नष्ट हो जावेगा (गीता ३ २४)। इससे सिद्ध होता है, कि जब स्वय भगवान् जगतके धारणार्थ कर्म करते है, तब इस कथनसे क्या प्रयोजन है, कि ज्ञानोत्तर कर्म निरर्थक है ? अतएव य क्रियावान् स पडित " (मभा वन ३१२ १०८) – जो क्रियावान् है, वही पडित है – इस न्यायके अनुसार अर्जुनको निमित्त कर भगवान सबको उपदेश करते है, कि इस जगतमे कर्म किसीसे छूट नही सकते, अत कर्मोंकी बाधासे बचनेके लिये मनुष्य अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्तव्यको फलाशा त्यागकर अर्थात् निष्काम बुद्धिसे सदा करता रहे – यही एक मार्ग (योग) मनुष्यके अधिकारमें हैं, और यही उत्तमभी है। प्रकृति तो अपने व्यवहार सदैवही करती रहेगी, परतु उसमेंसे कर्तृत्वके अभिमानकी बुद्धि छोड देनेसे मनुष्य मुक्तही है (गीता ३ २७, १३ २९, १४ १९, १८ १६)। मुक्तिके लिये कर्म छोडनेकी

या साख्योंके कथनानुसार कर्मसन्यासरूप वैराग्यकी जरूरत नही, इतनाही नही तो क्योकि इस कर्मभूमिमें कर्मका पूर्णतया त्याग कर डालना शक्यही नही है।

इसपरभी कुछ लोग कहते हैं – हाँ, माना कि कर्मबध तोडनेके लिये कर्म छोडनेकी जरूरत नही हैं, सिर्फ कर्म-फलाशा छोडनेसेही सब निर्वाह हो जाता है, परतु जब ज्ञानप्राप्तिसे हमारी बुद्धि निष्काम हो जाती है, तब सब वासनाओका क्षय हो जाता है, और कर्म करनेकी प्रवृत्ति होनेके लिये कोईभी कारण शेप नही रह जाता। तब ऐसी अवस्थामें अर्थात् वासनाके क्षयसे – कायाक्लेशभयसे नही – सब कर्म आप-ही आप छूट जाते हैं। इस ससारमें मनुष्यका परम पुरुषार्थ मोक्षही तो है और जिसे ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उसे प्रजा, सपत्ति अथवा स्वर्गादि लोकोंके सुखोमेंसे किसीकीभी 'एषणा' (इच्छा) नही रहती (बृ ३ ५ १ ४ ४ २२)। इसलिये कर्मोको न छोडनेपरभी अतमें उस ज्ञानका स्वाभाविक परिणाम यही हुआ करता है, कि कर्म आप-ही-आप, छूट जाते हैं। इसी अभिप्रायसे उत्तरगीतामें कहा है –

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन. ।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।।

"ज्ञानामृत पी कर कृतकृत्य हो जानेवाले पुरुषका फिर आगे कोई कर्तव्य शेष नही रहता, और यदि रह जाय, तो वह तत्त्ववित् अर्थात् ज्ञानी नही है"* (१ २३)। यदि किसीको शका हो, कि यह ज्ञानी पुरुषका दोष है, तो वह ठीक नही, क्योकि श्रीशकराचार्यने कहा है कि, "अलकारो ह्ययमस्माक यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्या सर्वकर्तव्यताहानि" (वे सू शा भा १ १ ४) – अर्थात् यह तो ब्रह्मज्ञानी पुरुषका एक अलकारही है। इसी प्रकार गीतामें भी ऐसे वचन हैं जैसे – "तस्य कार्यं न विद्यते" (गीता ३ १७) – ज्ञानीको आगे करनेके लिये कुछ नही रहता, अथवा उसे समस्त वैदिक कर्मोका कोई प्रयोजन नही रहता (गीता २ ४६)। अथवा "योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते" (गीता ६ ३) – जो योगारूढ हो गया, उसे शमही कारण है। इन वचनोंके अतिरिक्त 'सर्वारभपरित्यागी' (गीता १२ १६)। अर्थात् समस्त उद्योग छोडनेवाला, और 'अनिकेत' (गीता १२. १९) – अर्थात् बिना घरद्वारका, इत्यादि विशेषणभी ज्ञानी पुरुषके लिये गीतामें प्रयुक्त हुए हैं। इन सब बातोंसे कुछ लोगोकी यह राय है, कि भगवद्गीताको यह

---

* यह समझ वास्तवमें ठीक नही, कि यह श्लोक श्रुतिका है। वेदान्तसूत्रके शांकरभाष्यमें यह श्लोक नही है। परतु सनत्सुजातीयके भाष्यमें आचार्यने इसे लिया है, और वहाँ कहा है, कि यह लिंगपुराणका श्लोक है। इसमें सदेह नहीं, कि यह श्लोक सन्यासमार्गवालोका है, कर्मयोगियोका नही। बौद्ध धर्मग्रथोंमेंभी ऐसेही वचन हैं। (देखो परिशिष्ट प्रकरण)।

"इन दोनो मार्गोको वेदोका (एक-सा) आधार है – एक मार्ग प्रवृत्तिविषयक धर्मका और दूसरा निवृत्ति अर्थात् सन्यास लेनेका है" (मभा शा २४० ६)। यह पहलेही लिख चुके है, कि इसी प्रकार नारायणीय धर्ममेंभी इन दोनो पथोका पृथक् पृथक् स्वतत्र रीतिसे, एव सृष्टिके आरभसे प्रचलित होनेका वर्णन किया गया है। परन्तु स्मरण रहे, कि महाभारतमे प्रसगानुसार इन दोनो पथोका वर्णन पाया जाता है, इसलिये प्रवृत्तिमार्गके साथही निवृत्तिमार्गके समर्थक वचनभी इसी महाभारतमे पाये जाते है। गीताकी सन्याससमार्गीय टीकाओमें निवृत्तिमार्गके इन वचनोंकोही मुख्य समझ कर, ऐसा प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया गया है, मानो इसके सिवा और दूसरा पथही नहीं है, और यदि होभी, तो वह गौण है अर्थात् सन्यास मार्गका केवल अग है। परन्तु यह प्रतिपादन साप्रदायिक आग्रहका है, और इसीसे गीताका अर्थ सरल एव स्पष्ट रहनेपरभी आजकल बहुतोको दुर्बोध हो गया है। वह गीताके 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (गीता ३ ३) इस श्लोककी बराबरीकाही "द्वाविमावथ पथानौ" यह श्लोक है, इससे प्रकट होता है, कि इस स्थानपर दो समान-बलवाले मार्ग बतलानेका हेतु है। परन्तु इस स्पष्ट अर्थकी ओर अथवा पूर्वापर सदर्भकी ओर ध्यान न देकर, कुछ लोग इसी श्लोकमें, यह दिखलानेका यत्न किया करते है, कि दोनो मार्गोके बदले एकही मार्ग प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि कर्मसन्यास (साख्य) और निष्काम कर्म (योग), दोनो वैदिक धर्मके स्वतत्र मार्ग है और उनके विषयमे गीताका यह निश्चित सिद्धान्त है, कि वे वैकल्पिक नही है, किंतु "सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी योग्यता विशेष है। अब कर्मयोगकी श्रेष्ठताके सबधमे गीतामें आगे कहा है, कि जिस ससारमे हम रहते है, वह ससार और उसमे हमारा क्षणभर जीवित रहनाभी जब कर्म ही है, तब कर्म छोडकर जावे कहाँ ? और यदि इस ससारमे अर्थात् कर्मभूमिमेंही रहना हो तो कर्म छूटेगेही कैसे ? हम यह प्रत्यक्ष देखते है, कि जबतक देह है तबतक भूख और प्यास जैसे विकार नही छूटते है (गीता ५, ८, ९) और उनके निवारणार्थ भिक्षा माँगने जैसा लज्जित कर्म करनेके लियेभी सन्याससमार्गके अनुसार यदि स्वतत्रता है तो अनासक्तबुद्धि से अन्य व्यावहारिक शास्त्रोक्त कर्म करनेके लिये ही प्रत्यवाय कौन-सा है ? यदि कोई इस डरसे अन्य कर्मोका त्याग करता हो कि कर्म करनेसे कर्मपाशमे फँसकर ब्रह्मानदसे वचित रहूँगा, अथवा ब्रह्मात्मैक्य रूप अद्वैतबुद्धि विचलित हो जायगी, तो कहना चाहिये, कि अबतक उसका मनोनिग्रह कच्चा है और मनोनिग्रहके कच्चे रहते हुए किया हुआ कर्मत्याग गीताके अनुसार, मोहका अर्थात् तामस् अथवा मिथ्याचरण है (गीता १८ ७, ३ ६)। ऐसी अवस्थामे यह अर्थ आप-ही-आप प्रकट होता है, कि ऐसे कच्चे मनोनिग्रहको चित्त शुद्धिके द्वारा पूर्ण करनेके लिये निष्कामबुद्धि बढानेवाले यज्ञ दान प्रभृति गृहस्थाश्रमके श्रौत या स्मार्त कर्महीं इस मनुष्यको करने चाहिये। सारांश ऐसा कर्मत्याग

कभी श्रेयस्कर नही होता। यदि कहें, कि मन निर्विषय है और मनुष्यके अधीन है, तो फिर उसे कर्मका डरही किसलिये है? अथवा कर्मोंके न करनेका व्यर्थ आग्रहही वह क्यो करे? बरसाती छत्तेकी परीक्षा जिस प्रकार वर्षामेंही होती है, उसी प्रकार या –

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीरा·।

"जिन कारणोंसे विकार उत्पन्न होता है, वे कारण अथवा विषय दृष्टिके आगे रहनेपरभी जिनका अत करण मोहके पजेमें नही फँसता, वेही पुरुष धैर्यशाली कहे जाते हैं" (कुमार १ ५९) – कालिदासके इस व्यापक न्यायसे कर्मोंके द्वाराही मनोनिग्रहकी जाँच हुआ करती है, और स्वय कर्ताको तथा और लोगोकोभी ज्ञात हो जाता है, कि मनोनिग्रह पूर्ण हुआ या नही। इस दृष्टिसेभी यही सिद्ध होता है, कि शास्त्रसे प्राप्त (अर्थात् प्रवाहपतित) कर्म करनेही चाहिये (गीता १८ ६)। अच्छा, यदि कहें कि "मन वशमें है, और यह डरभी नही, कि जो चित्तशुद्धि प्राप्त हो चुकी है, वह कर्म करनेमे विगड जावेगी, परतु ऐसे व्यर्थ कर्म करके शरीरको कष्ट देना नही चाहते, कि जो मोक्षप्राप्तिके लिये अनावश्यक है" तो यह कर्मत्याग 'राजस' कहलावेगा, क्योकि यह काय-क्लेशका भय करके केवल इस क्षुद्र बुद्धिसे किया गया है, कि देहको कष्ट होगा और इसलिये त्यागसे जो फल मिलना चाहिये, वह ऐसे 'राजस' कर्मत्यागीको नही मिलता (गीता १८ ८)। फिर यही प्रश्न है, कि कर्म छोडेंही क्यो? यदि कोई कहे, कि "सव कर्म मायासृष्टिके हैं, अतएव अनित्य हैं, इससे ब्रह्मसृष्टिके नित्य आत्माको इन कर्मोकी झझटमें पड जाना उचित नही," तो यहभी ठीक नही है। क्योकि जव स्वय परब्रह्मही मायासे आच्छादित है, तव यदि मनुष्यभी उसीके अनुसार मायामें व्यवहार करे, तो क्या हानि है? मायासृष्टि और ब्रह्मसृष्टिके भेदसे जिस प्रकार इस जगकेभी दोन भाग किये गये हैं, उसी प्रकार आत्मा और देहेद्रियोके भेदसे मनुष्यकेभी दो भाग होते हैं। इनमेंसे आत्मा और ब्रह्मका सयोग करके ब्रह्ममें आत्माका लयकर दो और इस ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिको नि सग रखकर केवल मायिक देहेद्रियोद्वारा मायासृष्टिके व्यवहार किया करो। वस, इस प्रकार बर्ताव करनेसे मोक्षमे कोई प्रतिवध न आवेगा। और उक्त दोनो भागोका जोडा आपसमें मिल जानेसे सृष्टिके किसीभी भागकी उपेक्षा या विच्छेद करनेका दोषभी न लगेगा, तथा ब्रह्मसृष्टि एव मायासृष्टि – परलोक और इहलोक – दोनोंके कर्तव्यपालनका श्रेयभी मिल जायगा। ईशोपनिषद्में इसी तत्त्वका प्रतिपादन है (ईश ११) इन श्रुतिवचनोका आगे विस्तारसहित विचार किया जावेगा। यहाँ इतनाही कह देते हैं, कि गीतामें जो कहा है, कि "ब्रह्मात्मैक्यके अनुभवी ज्ञानी पुरुष मायासृष्टिके व्यवहार केवल शरीर अथवा केवल इद्रियोसेही करते हैं" (गीता ४ २१, ५ १२), उसका तात्पर्यभी यही है, और इसी उद्देश्यसे

मान्य है, कि ज्ञानके पश्चात् कर्म तो आप-ही-आप छूट जाते है। परतु हमारी समझमें गीताके वाक्योंके ये अर्थ और उपर्युक्त युक्तिवादभी ठीक नही हैं। इसीसे इसके विरुद्ध हमें जो कुछ कहना है, उसे अब सक्षेपमें कहते हैं।

'सुखदु ख-विवेक' प्रकरणमे हमने दिखलाया है, कि गीता इस बातको नही मानती, कि "ज्ञानी हो जानेसे मनुष्यकी सब प्रकारकी इच्छाएँ या वासनाएँ छूटही जानी चाहिये।" सिर्फ इच्छा या वासनाके रहनेमें कोई दु ख नही, दु खकी सच्ची जड है उसकी आसक्ति। इससे गीताका सिद्धान्त है, कि सब प्रकारकी वासनाओंको नष्ट करनेके बदले ज्ञाताको उचित है, कि वह केवल आसक्तिको छोडकर कर्म करे। यह आवश्यक नही, कि इस आसक्तिके छूटनेमे उसके साथ कर्मभी छूटही जावे। और तो क्या? वासनाके छूट जानेपरभी सब कर्मोका छूटना शक्य नही। वासना हो या न हो, हम देखते हैं, कि श्वासोच्छ्वास प्रभृति कर्म नित्य लगातर हुआ करते हैं। और आखिर क्षणभर जीवित रहनाभी तो कर्मही है, एव पूर्ण ज्ञान होनेपरभी, अपनी वासनासे अथवा वासनाके क्षयसे वह छूट नही सकता। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि वासनाके छूट जानेसे कोई ज्ञानी पुरुप अपने प्राण नही खो बैठता, और इसीसे गीतामें यह वचन आया है, कि "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता ३ ५) – कोई क्यो न हो, बिना कर्म किये, रह नही सकता। गीताशास्त्रके कर्मयोगका पहला सिद्धान्त यह है, कि इस कर्मभूमिमें कर्म तो निसर्गसेही प्राप्त, प्रवाह-प्रतित और अपरिहार्य है, वे मनुष्यकी वासनापर अवलबित नही है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जानेपर, कि कर्म और वासनाका परस्पर नित्य सबध नही है, वासनाके क्षयके साथही कर्मकाभी क्षय मानना निराधार हो जाता है। फिर यह प्रश्न सहजही उत्पन्न होता है, कि वासनाका क्षय हो जानेपरभी ज्ञानी पुरुपको प्राप्त कर्म किस रीतिसे करने चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर गीताके तीसरे अध्यायमें दिया गया है (गीता ३ १७–१९ और उसपर हमारी टीका देखो)। गीताको यह मत मान्य है, कि ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके पश्चात् उसका अपना कोई कर्तव्य नही रह जाता। परतु इसके आगे बढकर गीताका यहभी कथन है, कि कोईभी क्यो न हो, वह कर्मसे छुट्टी नही पा सकता। कई लोगोको ये दोनो सिद्धान्त परस्परविरोधी जान पडते हैं, कि ज्ञानी पुरुपको कर्तव्य नही रहता और कर्म नही छूट सकते। परतु गीताकी बात ऐसी नही है। गीताने उनका यो मेल मिलाया है – जब कि कर्म अपरिहार्य है, तब ज्ञान-प्राप्तिके बादभी ज्ञानी पुरुपको कर्म करनाही चाहिये, पर चूंकि उसको स्वय अपने लिये कोई कर्तव्य नही रह जाता, इसलिये अब उसे अपने सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करनाही उचित है। साराश, तीसरे अध्यायके १७ वे श्लोकके "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्यमें, "कार्यं न विद्यते" इन शब्दोकी अपेक्षा, 'तस्य' (अर्थात् उस ज्ञानी पुरुपके लिये) शब्द अधिक महत्त्वका है और उसका भावार्थ यह है, कि "स्वय उसको" अपने लिये कुछ प्राप्त नही करना होता। इसीलिये अब (ज्ञान हो

जानेपर) उसको अपना कर्तव्यनिरपेक्ष बुद्धिसे करना चाहिये। आगे १९ वे श्लोकके आरम्भमें कारणबोधक 'तस्मात्' पदका प्रयोगकर, अर्जुनको इसी अर्थका उपदेश यो दिया है "तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर।" (गीता ३ १९)– इसीसे तू शास्त्रसे प्राप्त अपने कर्तव्यको आसक्ति न रखकर करता जा, कर्मका त्याग मत कर। तीसरे अध्यायके १७ से १९ तकके तीन श्लोकोंमे जो कार्यकारणभाव व्यक्त होता है, उसपर और अध्यायके समूचे प्रकरणके सदर्भपर ठीक ठीक ध्यान देनेसे दीख पडेगा कि सन्यासमार्गियोंके कथनानुसार "तस्य कार्यं न विद्यते" इसे स्वतन्त्र सिद्धान्त मान लेना उचित नही। आगे दिये हुए उदाहरण इसके लिये उत्तम प्रमाण हैं। "ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् कोई कर्तव्य न रहनेपरभी शास्त्रसे प्राप्त समस्त व्यवहार करने पडते है" – इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें भगवान् कहते है –

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥

"हे पार्थ! 'मेरा' इस त्रिभुवनमें कुछभी कर्तव्य (बाकी) नही है, अथवा कोई अप्राप्त वस्तु पानेकी (वासना) नही रही है। तथापि मैं कर्मही करता हूँ" (गीता ३ २२)। "न मे कर्तव्यमस्ति" – मुझे कर्तव्य नही रहा है – ये शब्द पूर्वोक्त श्लोकके "तस्य कार्यं न विद्यते" – उसको कुछ कर्तव्य नही रहता (गीता ३ १७) – इन्हीं शब्दोको लक्ष्य करके कहे गये हैं। इससे सिद्ध होता है, कि इन चारपाच श्लोकोमें प्रतिपाद्य अर्थ यही है "ज्ञानसे कर्तव्यके शेष न रहनेपरभी (बल्कि इसी कारणसे) शास्त्रत प्राप्त समस्त व्यवहार अनासक्त बुद्धिसे करनेही चाहिये।" यदि ऐसा न हो, तो "तस्य कार्यं न विद्यते" इत्यादि श्लोकोमे बतलाये हुए सिद्धान्तको दृढ करनेके लिये भगवान्ने जो अपना उदाहरण दिया है, वह (अलग) असबद्धसा हो जायगा, और यह अनवस्था प्राप्त हो जायगी, कि सिद्धान्त तो कुछ और है, और उदाहरण ठीक उसके विरुद्ध, कुछ औरही है। उस अनवस्थाको टालनेके लिये सन्यासमार्गीय टीकाकार "तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर" के 'तस्मात्' शब्दका अर्थभी निराली रीतिसे किया करते हैं। उनका कथन है, कि गीताका मुख्य सिद्धान्त तो यही है, कि "ज्ञानी पुरुष कर्म छोड दे।" परतु अर्जुन ऐसा ज्ञानी था नही, इसलिये – "तस्मात् – भगवानने उसे कर्म करनेके लिये कहा है। हम ऊपर कह चुके है, कि "गीताके उपदेशके पश्चात्भी अर्जुन अज्ञानीही था" यह युक्ति ठीक नही है। इसके अतिरिक्त, यदि 'तस्मात्' शब्दका, अर्थ इस प्रकार खीचातानी कर लगाभी लिया, तो "न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यम्" प्रभृति श्लोकोमें भगवानने – "अपने किसी कर्तव्यके न रहनेपरभी मैं कर्म करता हूँ" – यह जो अपना उदाहरण मुख्य सिद्धान्तके समर्थनमें दिया है, उसका मेलभी इस पक्षमें अच्छा नही जमता। इसलिये "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्यमें, "कार्यं न विद्यते" शब्दोको मुख्य न मानकर 'तस्य' शब्द-

कोही प्रधान मानना चाहिये, और ऐसा करनेसे "तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर"का अर्थ यही करना पडता है, कि "तू ज्ञानी है, इसलिये यह सच है, कि तुझे अपने स्वार्थके लिये कर्म अनावश्यक हैं, परतु स्वय तेरे लिये कर्म अनावश्यक है, इसीलिये अब तू उन कर्मोंको (जो शास्त्रसे प्राप्त हुए है) मुझे आवश्यक नही इस वुद्धिसे" अर्थात् निष्काम वुद्धिसे कर !" थोडेमें यही अनुमान निकलता है, कि कर्म छोडनेका यह कारण नही हो सकता, कि "वह हमें अनावश्यक है।" किंतु जव कर्म अपरिहार्य है तव शास्त्रसे प्राप्त अपरिहार्य कर्मोंको स्वार्थत्यागबुद्धिसे करतेही रहना चाहिये – यही गीताका कथन है और यदि प्रकरणकी समताकी दृष्टिसे देखें, तोभी यही अर्थ लेना पडता है। कर्मसन्यास और कर्मयोग, इन दोनोंमें जो वडा अतर है, वह यही है। सन्यासपक्षवाले कहते हैं, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नही वचा है, इससे तू कुछभी न कर।" और गीताका (अर्थात् कर्मयोग) कथन है, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नही वचा है इसीलिये तुझे जो कुछ करना है, वह अब स्वार्थसवधी वासना छोडकर अनासक्त वुद्धिसे कर।" अब प्रश्न यह है, कि एकही हेतु वाक्यसे इस प्रकार भिन्न भिन्न दो अनुमान क्यो निकले ? इसका उत्तर इतनाही है, कि गीता कर्मोंको अपरिहार्य मानती है, इसलिये गीताके तत्त्वविचारके अनुसार यह अनुमान निकलही नही सकता, कि "कर्म छोड दे।" अतएव "तुझे अनावश्यक है" इस हेतु-वाक्यसेही गीतामें यह अनुमान किया गया है, कि स्वार्थवुद्धि छोडकर कर्म कर। वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें श्रीरामचद्रको सब ब्रह्मज्ञान वतलाकर निष्कामकर्मकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये जो युक्तियाँ वतलाई है, वेभी इसी प्रकारकी हैं। योग-वासिष्ठके अतमें भगवद्गीताका उपर्युक्त सिद्धान्तही अक्षरश आ गया है (यो ६ उ १९९, २१६ १४, गीता ३ १९ के अनुवादपर हमारी टिप्पणी देखो)। योगवासिष्ठके समानही बौद्धधर्मके महायान पथके ग्रथोमेंभी इस सबधमें गीताका अनुवाद किया गया है। परतु विषयातर होनेके कारण उसकी चर्चा यहाँ नही हो जा सकती, हमने इसका विचार आगे परिशिष्ट प्रकरणमें कर दिया है।

आत्मज्ञान होनेसे 'मैं' और 'मेरा' यह अहकारकी भाषाही शेष नही रहती (गीता १८ १६, २६) एव इसीसे ज्ञानी पुरुषको 'निर-मम' कहते हैं। निर्ममका अर्थ "मेरा मेरा (मम) न कहनेवाला" है। ज्ञानी पुरुषका वर्णन करते हुए, श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इसी अर्थको अपने काव्यमें व्यक्त किया है। परतु भूल न जाना चाहिये, कि यद्यपि ब्रह्मज्ञानसे 'मैं' और 'मेरा' यह अहकारदर्शक भाव छूट जाता है, तथापि उन दो शब्दोंके वदले 'जगत्' और 'जगत्‌का' – अथवा भक्तिपक्षमें 'परमेश्वर' और 'परमेश्वरका' – ये शब्द आ जाते हैं। ससारका प्रत्येक सामान्य मनुष्य अपने समस्त व्यवहार 'मेरा' या 'मेरे लिये'ही समझकर किया करता है। परतु ज्ञानी होनेपर, ममत्वकी वासना छूट जानेके कारण अव वह इस वुद्धिसे (निर्मम वुद्धिसे) उन व्यवहारोको करने लगता है, कि ईश्वरनिर्मित ससारके समस्त व्यवहार परमेश्वरके

है, और उनको करनेके लियेही ईश्वरने हमें उत्पन्न किया है। अज्ञानी और ज्ञानीमें यही तो भेद है (गीता ३ २७, २८)। गीताके इस सिद्धान्तपर ध्यान देनेसे ज्ञात हो जाता है, कि "योगारूढ पुरुषके लिये आगे शमही कारण होता है" (गीता ६ ३ और उसपर हमारी टिप्पणी देखो)। इस श्लोकका सरल अर्थ क्या होगा। गीताके टीकाकार कहते है, कि इस श्लोकमें कहा गया है, कि योगारूढ पुरुष आगे (ज्ञान हो जानेपर) शम अर्थात् शातिको स्वीकार करे, और कुछ न करे। परतु यह अर्थ ठीक नही है। शम मनकी शाति है और उसे अतिम 'कार्य' न कहकर इस श्लोकमें यह कहा है, कि शम अथवा शाति दूसरे किसीका कारण है – शम कारणमुच्यते। अब शमको 'कारण' मानकर देखना चाहिये, कि आगे उसका 'कार्य' क्या है? पूर्वापर सदर्भपर विचार करनेसे यही निष्पन्न होता है, कि वह कार्य 'कर्म'ही है। और तब इस श्लोकका अर्थ ऐसे होता है, कि योगारूढ पुरुष अपने चित्तको शात करें, तथा उस शाति या शमसेही अपने सब अगले व्यवहार करे, टीकाकारोंके कथनानुसार यह अर्थ नही किया जा सकता, कि "योगारूढ पुरुष कर्म छोड दे।" इसी प्रकार 'सर्वारभ परित्यागी' और 'अनिकेत' प्रभृति पदोका अर्थभी कर्मत्याग-विषयक न करके, फलाशात्याग-विषयकही करना चाहिये। गीताके अनुवादमें (उन स्थलोपर जहाँ ये पद आये हैं) हमने टिप्पणीमें यह बात खोल दी है। भगवानने यह सिद्ध करनेके लिये – कि ज्ञानी पुरुषकोभी फलाशा त्याग कर चातुर्वर्ण्य आदि सब कर्म यथाशास्त्र करते रहना चाहिये – अपने अतिरिक्त दूसरा उदाहरण जनकका दिया है। जनक एक बडेही कर्मयोगी थे। उनकी स्वार्थबुद्धिके छूटनेका परिचय उन्हीके मुखसे यो है – "मिथिलाया प्रदीप्ताया न मे दह्यति किंचन" (मभा शा २७५ ४, २१९ ५०) – मेरी राजधानी मिथिलाके जल जाने परभी मेरी कुछ हानि नही! इस प्रकार अपना स्वार्थ अथवा लाभालाभ किसी प्रकार न रहनेपरभी राज्यके समस्त व्यवहार करनेका कारण बतलाये हुए, जनक स्वय कहते है –

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभि सह।
इत्यर्थं सर्व एवैते समारम्भा भवन्ति वै॥

"देव, पितर, सर्वभूत (प्राणी) और अतिथियोंके लिये ये समस्त व्यवहार जारी है, मेरे लिये नही" (मभा अश्व ३२ २४)। अपना कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर, अथवा अपने लिये किसी वस्तुके पानेकी वासना न रहने परभी यदि जनक-श्रीकृष्ण जैसे महात्मा इस जगतका कल्याण करनेके लिये प्रवृत्त न होगे, तो कहना न होगा कि यह ससार उत्सन्न (ऊजड) हो जायगा – "उत्सीदेयुरिमे लोका" (गीता ३ २४)।

कुछ लोगोका कहना है, कि गीताके इस सिद्धान्तमें – कि "फलाशा छोडनी चाहिये, सब प्रकारकी इच्छाओको छोडनेकी आवश्यकता नही" – और वासना-क्षयके सिद्धान्तमें, बहुत भेद नही कर सकते। क्योकि चाहे वासना छूटे, चाहे फलाशा

छूटे, दोनो ओर कर्म करनेकी प्रवृत्ति होनेके लिये कुछभी कारण नहीं दीख पडता; इसागे चाहे जिस पक्षको स्वीकार करें, अतिम परिणाम – कर्मका छूटना – ही है। परन्तु यह आक्षेप अज्ञानमूलक है, क्योंकि 'फलाशा' शब्दका ठीक ठीक अर्थ न जाननेके कारणही यह उत्पन्न हुआ है। फलाशा छोडनेका अर्थ यह नही, कि सब प्रकारकी इच्छाओको छोट देना चाहिये अथवा यह बुद्धि या भाव होना चाहिये, कि मेरे कर्मोका फल किसीको कभी न मिले, और यदि मिले तो उसे कोईभी न ले, प्रत्युत पाँचवे प्रकरणमें पहलेही हम कह चुके है, कि "अमुक फल पानेके लियेही मैं यह कर्म करता हूँ" – इस प्रकारकी फलविषयक ममतायुक्त आसक्तिको या बुद्धिके आग्रहको 'फलाशा', 'सग' या 'काम' ये नाम गीतामें दिये गये है। यदि कोई मनुष्य फल पानेकी इच्छा, आग्रह या वृथा आसक्ति न रखे, तो उससे यह मतलब नही पाया जाता, कि वह अपने प्राप्त कर्मको, केवल कर्तव्य समझकर, करनेकी बुद्धि और उत्साहकोभी इस आग्रहके साथ-ही-साथ नष्ट कर डाले। अपने फायदेके सिवा इस ससारमें जिन्हे दूसरा कुछ नही दीख पडता और जो पुरुष केवल फलकी इच्छासेही कर्म करनेमें निमग्न रहते है, उन्हें सचमुच फलाशा छोडकर कर्म करना शक्य न जँचेगा, परतु जिनकी बुद्धि ज्ञानसे सम और विरक्त हो गई है, उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। पहले तो यह समझही गलत है, कि हमें किसी कामका जो फल मिलता है, वह केवल हमारेही कर्मका फल होता है। यदि पानीकी द्रव्यता या अग्निकी उष्णताकी सहायता न मिले तो मनुष्य कितनाही सिर क्यो न खपावे, उसके प्रयत्नसे पाक-सिद्धि कभी हो नही सकेगी – भोजन पकेगाही नही, और अग्नि आदिमें इन गुणधर्मोका होना या न होना मनुष्यके वस या उपायकी बात नही है। इसीसे कर्मसृष्टिके इन स्वयसिद्ध विविध व्यापारो अथवा धर्मोका पहले यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त कर, मनुष्यको उसी ढँगसे अपने व्यवहार करने पडते हैं, जिससे कि वे व्यापार अपने प्रयत्नके अनुकूल हो। इससे कहना चाहिये, कि मनुष्यको प्रयत्नोंके जो फल मिलता है, वह केवल उसकेही प्रयत्नोका फल नही है, वरन् उसका कर्म और कर्म-सृष्टिके तदनुकूल अनेक स्वयसिद्ध धर्म – इन दोनोके सयोगका मात्र वह फल है। परतु मनुष्यके प्रयत्नोकी सफलताके लिये इस प्रकार जिन नानाविध सृष्टि-व्यापारोकी अनुकूलता आवश्यक है, उन सबका कई बार मनुष्यको यथार्थ ज्ञान नही रहता, और कुछ स्थानोपर तो वह होनाभी शक्य नही है – इसेही 'दैव' कहते है। यदि फल-सिद्धिके लिये ऐसे सृष्टि-व्यापारोकी सहायता अत्यत आवश्यक है, जो हमारे अधिकारमें नही और जिन्हे हम जानतेभी नही है, तो आगे कहना नही होगा, कि ऐसा अभिमान करना मूर्खता है, कि "केवल अपने प्रयत्नसेही मैं अमुक बात कर लूंगा" (गीता १८ १४–१६)। क्योकि कर्मसृष्टिके ज्ञात और अज्ञात व्यापारोका मानवी प्रयत्नोंसे सयोग होनेपर जो फल प्राप्त होता हो, वह केवल कर्मके नियमोंसेही हुआ करता है, इसलिये हम फलकी अभिलाषा करें या न करें – फलसिद्धिमें उससे कोई फर्क

नही पडता, हमारी फलाशा नि:सदेह हमें दु:खकारक हो जाती है। परतु स्मरण रहे, कि मनुष्यके लिये आवश्यक बात अकेले सृष्टिव्यापार स्वय अपनी ओरसे सघटित होकर नही कर देते। चनेकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिये जिस प्रकार आटेमें थोडासा नमकभी मिलाना पडता है, उसी प्रकार कर्मसृष्टिके इन स्वयसिद्ध व्यापारोको मनुष्योंके लाभकारी होनेके लिये उनमें मानवी प्रयत्नकी थोडीसी मात्रा मिलानी पडती है। इसीसे ज्ञानी और विवेकी पुरुष सामान्य लोगोके समान फलकी आसक्ति अथवा अभिलाषा तो नही रखते, किंतु वे लोग जगत्के व्यवहारकी सिद्धिके लिये प्रवाहपतित कर्मका (अर्थात् कर्मके अनादि प्रवाहमें शास्त्रसे प्राप्त यथाधिकार कर्मका) जो छोटा-बडा भाग मिले, उसेही शातिपूर्वक, कर्तव्य समझकर किया करते हैं और फल पानेके लिये कर्मसयोगपर अथवा भक्तिदृष्टिसे परमेश्वरकी इच्छापर निर्भर होकर निश्चित रहते हैं। "तेरा अधिकार केवल कर्म करनेका है, फल होना तेरे अधिकारकी बात नही" (गीता २ ४७) इत्यादि उपदेश जो अर्जुनको किया गया है, उसका रहस्यभी यही है। इस प्रकार फलाशाको त्यागकर कर्म करते रहनेपर आगे कुछ कारणोंसे कदाचित् वह कर्म निष्फल हो जाय तोभी निष्फलताका दु:ख माननेके लिये हमें कोई कारणही नही रहता, क्योकि हम तो अपने अधिकारका काम कर चुके हैं। उदाहरण लीजिये, वैद्यकशास्त्रका स्पष्ट मत है, कि आयुकी डोर (अर्थात् शरीरका पोषण करनेवाली नैसर्गिक धातुओकी शक्ति) सबल रहे विना निरी औषधियोंसे रोगीको कभी फायदा नही होता, और इस डोरकी सबलता अनेक प्राक्तन अथवा पुश्तैनी सस्कारोका फल है, अत यह बात वैद्यके हाथो होने योग्य नही, और उसे इसका निश्चयात्मक ज्ञान होभी नही सकता कि वह कितनी सबल है। ऐसा होते हुएभी हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि रोगी लोगोको औषधि देना अपना कर्तव्य समझ कर केवल परोपकारकी बुद्धिसे वैद्य अपनी बुद्धिके अनुसार हजारो रोगियोको दवाई दिया करता है। इस प्रकार निष्काम बुद्धिसे अपना काम करनेपर यदि कोई रोगी चगा न हो, तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नही होता, बल्कि बडे शात चित्तसे यह शास्त्रीय नियम ढूंढ निकालता है, कि अमुक रोगमें अमुक औषधिसे सैंकडो इतने रोगियोको आराम होता है। परतु इसी वैद्यका लडका जब बीमार पडता है, तब उसे औषधि देते समय वह आयुष्यकी डोरवाली बात भूल जाता है और इस ममतायुक्त फलाशासे उसका चित्त घबडा जाता है कि "मेरा लडका अच्छा हो जाय।" इसीसे उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पडता है, या कमसे कम दूसरे वैद्यकी सलाहकी आवश्यकता होती है। इस छोटे-से उदाहरणसे ज्ञात होगा, कि कर्मफलमें ममतारूप आसक्ति किसे कहना चाहिये, और फलाशा न रहनेपरभी निरी कर्तव्यबुद्धिसे कोईभी काम किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार यह सच है कि फलाशाको नष्ट करनेके लिये ज्ञानकी सहायतासे मनमें वैराग्यका भाव अटल होना चाहिये, परतु किसी कपडेका रग (राग) दूर करनेके लिये जिस

प्रकार कोई कपडको फाडना उचित नही समझता, उसी प्रकार यह कहनेसे, कि "किसी कर्ममें आसक्ति, काम, सग या राग अथवा प्रीति न रखो" उस कर्मकोही छोड देना ठीक नही। वैराग्यसे कर्म करनाही यदि अशक्य हो, तो बात निराली है। परतु हम प्रत्यक्ष देखते है, कि वैराग्यसे भली भाँति कर्म किये जा सकते है, इतनाही क्यो ? यहभी प्रकट है, कि कर्म किसीसे छूटतेही नही। इसीलिये अज्ञानी लोग जिन कर्मोको फलाशासे किया करते है, उन्हेंही ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्राप्तिके बादभी लाभ-अलाभ तथा सुखदु खको एकसा मान कर (गीता २ ३८) धैर्य एव उत्साहसे, किन्तु शुद्ध बुद्धिसे अर्थात् फलके विषयमें विरक्त या उदासीन रहकर (गीता १८· २६), केवल कर्तव्य मान कर, अपने अपने अधिकारानुसार शात चित्तसे करते रहें (गीता ६ ३) – यही नीति और मोक्षकी दृष्टिसे उत्तम जीवनक्रमका सच्चा तत्त्व है। अनेक स्थितप्रज्ञ, महाभगवद्भक्त और परम ज्ञानी पुरुषोने – एव स्वय भगवान्नेभी इसी मार्गका स्वीकार किया है और भगवद्गीता पुकारकर कहती है, कि इस कर्मयोग-मार्गमेंही पराकाष्ठाका पुरुषार्थ है, इसी 'योग'से परमेश्वरका भजनपूजन होता है, और अतमें सिद्धिभी मिलती है (गीता १८ ४६)। इतने परभी यदि कोई स्वय जानबूझ कर गैरसमझ कर ले, तो उसे दुर्दैवी कहना चाहिये। स्पेन्सरसाहबको यद्यपि अध्यात्म दृष्टि समत न थी, तथापि उन्होंनेभी अपने "समाज-शास्त्रका अभ्यास" नामक ग्रथके अतमें गीताके समानही यह सिद्धान्त किया है – यह बात आधिभौतिक रीतिसेभी सिद्ध है, कि इस जगतमें किसीभी कामको एकदम कर गुजरना शक्य नही, उसके लिये कारणभूत और आवश्यक दूसरी हजारो बातें पहले जिस प्रकार हुई होगी, उसी प्रकार मनुष्यके प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते है। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसीभी कामके करनेमें फलाशासेही प्रवृत्त होते है तथापि बुद्धिमान् पुरुषको शाति और उत्साहसे, फलसबधी आग्रह छोडकर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये।*

यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि ज्ञानी पुरुष इस ससारमें अपने प्राप्त कर्मोको, फलाशा छोडकर निष्काम बुद्धिसे आमरण अवश्य करता रहे, तथापि यह बतलाये बिना कर्मयोगका विवेचन पूरा नही होता, कि ये कर्म किससे और किस लिये प्राप्त होते है ? अतएव भगवानने कर्मयोगके समर्थनार्थ अर्जुनको अतिम और महत्त्वका उपदेश दिया है, कि "लोकसग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि" (गीता ३ २०) – लोकसग्रहकी ओर दृष्टि दे करभी तुझे कर्म करनाही उचित है। लोकसग्रहका यह अर्थ नही, कि कोई ज्ञानी पुरुष "मनुष्योका केवल जमघट इकट्ठा करे" अथवा

* "Thus admitting that for the *fanatic*, some *wild anticipation* is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness of his delusion as adapted to his particular nature and his particular function, the *man of higher type* must be content with greatly

यहभी अर्थ नही, कि "स्वय कर्मत्यागका अधिकारी होनेपरभी इसलिये कर्म करनेका ढोग करे, कि अज्ञानी मनुष्य कही कर्म न छोड बैठें, और उन्हे अपनी (ज्ञानी पुरुष-की) कर्मतत्परता अच्छी लगे।" क्योकि, गीताका यह सिखलानेका हेतु नही, कि लोग अज्ञानी या मूर्ख बने रहे, अथवा उन्हें अज्ञानी बनाये रखनेके लिये ज्ञानी पुरुष कर्म करनेका ढोग किया करे। ढोग तो दूरही रहा, परतु "लोग तेरी अपकीर्ति गावेगे" (गीता २ ३४) इत्यादि सामान्य लोगोको जॅचनेवाली युक्तियोंसे जव अर्जुनका समाधान न हुआ, तव भगवान्, उन युक्तियोंसेभी अधिक जोरदार और तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अधिक वलवान् कारण, अब कह रहे है। इसलिये कोशमें 'सग्रह' शब्दके जमा करना, इकठ्ठा करना, रखना, पालना, नियमन करना प्रभृति जो अर्थ दिये है, उन सबको यथासभव ग्रहण करना पडता है। और ऐसा करनेसे "लोगोका सग्रह करना" या यह अर्थ होता है, कि "उन्हें एकत्र सबद्ध कर, इस रीतिसे उनका पालनपोषण और नियमन करे, कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाली सामर्थ्य उनमें आ जावे, एव उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर आगे उन्हे श्रेय प्राप्तिके मार्गमें लगा दे।" "राष्ट्रका सग्रह" ये शब्द इसी अर्थमें मनुस्मृतिमें (मनु ७ ११४) आये हैं, शाकरभाष्यमें उपरोक्त शब्दकी व्याख्या यो है – "लोकसग्रह = लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्।" इससे दीख पडेगा, कि सग्रह शब्दका जो हम ऐसा अर्थ करते है कि अज्ञानसे मनमाना वर्ताव करनेवाले लोगोको ज्ञानवान् वनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना, वह अपूर्व या निराधार नही है। यह सग्रह शब्दका अर्थ हुआ, परतु यहाँ यहभी वतलाना चाहिये कि 'लोकसग्रह'में 'लोक' शब्द केवल मनुष्यवाची नही है। यद्यपि यह सच है, कि जगत्के अन्य प्राणियोकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है, और इसीसे मानवजातिके कल्याणकाही प्रधानतासे 'लोकसग्रह' शब्दमें समावेश होता है, तथापि भगवान्कीही ऐसी इच्छा है, कि भूलोक, मत्यलोक, पितृलोक और देवलोक प्रभृति जो अनेक लोक अर्थात् जगत् भगवान्ने वनाये हैं, उनकाभी भली भाँति धारण-पोषण हो, और वे सभी अच्छी रीतिसे चलते रहे, इसलिये कहना पडता है, कि

---

moderated expectations, while he perseveres with undiminished efforts He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worthwhile to do that little, so uniting philanthropic enegry with philosophic calm"- Spencer's *Study of Sociology*,- 8th Ed, p 403 (The italics are ours) इस वाक्यमें fanatics के स्थान में "प्रकृतिके गुणोंसे विमूढ" (गीता ३ २९) या 'अहकारविमूढ' (गीता ३ २७) अथवा भास कविका 'मूर्ख' शब्द और man of higher type के स्थानमें 'विद्वान्' (गीता ३ २५) एव greatly moderated expectations के स्थानमें 'फलौ-दासीन्य' अथवा 'फलाशात्याग' इन समानार्थी शब्दोकी योजना करनेसे ऐसा दीख पडेगा कि स्पेन्सरसाहेबने मानो गीताकेही सिद्धान्तका अनुवाद कर दिया है।

इतना सब व्यापक अर्थ 'लोकसग्रह' पदमे यहाँ विवक्षित है, कि मनुष्यलोकके साथही इन सब लोकोके व्यवहारभी सुस्थितिमे चले (लोकाना सग्रह)। जनकके किये अपने कर्तव्यके वर्णनमें – जो पहले लिखा जा चुका है – देव और पितरोका उल्लेख है, एव भगवद्‌गीताके तीसरे अध्यायमें तथा महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें जिस यज्ञचक्रका वर्णन है, उसमेंभी कहा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक, दोनोहीके धारणा-पोषणके लिये ब्रह्मदेवने यज्ञ उत्पन्न किया (गीता ३ १०–१२)। इससे स्पष्ट होता है, कि भगवद्‌गीतामें 'लोकसग्रह' पदसे इतना अर्थ विवक्षित है, कि अकेले मनुष्य-लोगकाही नहीं, किंतु देवलोक आदि सब लोकोकाभी उचित धारण-पोषण होवे और वे परस्पर एक दूसरेका श्रेय सपादन करें। सारी सृष्टिका पालन-पोषण करके लोकसग्रह करनेका यह जो भगवानका अधिकार है, वही पुरुषके ज्ञानी हो जानेपर उसे अपने ज्ञानके कारण प्राप्त हुआ करता है। ज्ञानी पुरुषको जो बात प्रामाणिक जँचती है, अन्य लोगभी उसेही प्रमाण मान कर तदनुकूल व्यवहार किया करते हैं (गीता ३ २१)। क्योंकि साधारण लोगोकी समझ है, कि शात चित्त और समबुद्धिमे यह विचारनेका काम ज्ञानीहीका है, कि ससारका धारण और पोषण कैसे होगा ? एव तदनुसार धर्म-प्रबधकी मर्यादा बना देनाभी उसीका काम है। इस समझमें कुछ भूलभी नही है। और यहभी कह सकते हैं, कि सामान्य लोगोकी समझमें ये बातें भली भाँति नही आ सकतीं, तो इसीलिये वे ज्ञानी पुरुषोंके भरोसे रहते हैं। इसी अभिप्रायको मनमें लाकर शातिपर्वमें युधिष्ठिरसे भीष्मने कहा है –

लोकसग्रहसयुक्त विधात्रा विहित पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियत सता चरितमुत्तमम्॥

" लोकसग्रहकारक और सूक्ष्म प्रसगोपर धर्मार्थका निर्णय कर देनेवाला साधु पुरुषोका उत्तम चरित्र स्वय ब्रह्मदेवनेही बनाया है " (मभा शा २५८ २५)। 'लोकसग्रह' कुछ ठाले बैठेकी बेगार, ढकोसला या लोगोको अज्ञानमें डाले रखनेकी तरकीब नहीं है, ज्ञानयुक्त कर्मके ससारसे नष्ट हो जानेसे जगत्‌के नष्ट हो जानेकी सभावना है, इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मदेवनिर्मित साधुपुरुषोंके कर्तव्योंमेंसे 'लोकसग्रह' एक प्रधान कर्तव्य है। और इस भगवद्वचनका भावार्थभी यही है, कि " मैं यह काम न करूँ, तो ये समस्त लोक अर्थात् जगत् नष्ट हो जावेंगे " (गी ३ २४)। ज्ञानी पुरुष सब लोगोंके नेत्र हैं और यदि वे अपना काम छोड देंगे, तो सारी दुनिया अधी हो जायगी, और इस ससारका सर्वत नाश हुए विना न रहेगा। ज्ञानी पुरुषोकोही उचित है, कि लोगोको ज्ञानवान् कर उन्नत बनावे। परतु यह काम सिर्फ जीभ हिला देनेसे अर्थात् कोरे उपदेशसे कभी नही होता। क्योंकि, जिन्हें सदाचरणकी आदत नही और जिनकी बुद्धिभी पूर्ण शुद्ध नही रहती, उन्हे यदि कोरा ब्रह्मज्ञान सुनाया जाय, तो वे लोग उस ज्ञानका दुरुपयोग इस प्रकार करते देखे गये हैं, कि

तेरासो मेरा, और मेरा तो मेरा हैही।" इसके सिवा, किसीके उपदेशकी सत्यताकी जांचभी तो लोग उसके आचरणसेही किया करते हैं। इसलिये यदि ज्ञानी पुरुष स्वय कर्म न करेगा, तो वह सामान्य लोगोको आलसी बनानेका एक बहुत बडा कारण हो जायगा। इसेही 'बुद्धिभेद' कहते हैं, और यह बुद्धिभेद न होने पावे, तथा सब लोग सचमुच निष्काम होकर अपना कर्तव्य करनेके लिये जागृत हो जावे, इसी हेतु ससारमेंही रहकर अपने कर्मोंसे सब लोगोको सदाचरणकी – निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेकी – प्रत्यक्ष शिक्षा देनाही ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य (ढोग नही) हो जाता है। अतएव गीताका कथन है, कि उसे (ज्ञानी पुरुषको) कर्म छोडनेका अधिकार कभी प्राप्त नही होता और अपने लिये न सही, परतु लोकसग्रहार्थ चातुर्वर्ण्यके सब कर्म अधिकारानुसार उसे करनेही चाहिये। किंतु सन्यासमार्गवालोका मत हैं, कि ज्ञानी पुरुपको चातुर्वर्ण्यके कर्म निष्काम बुद्धिसेभी करनेकी कुछ जरूरत नही – यही क्यो? करनेभी नही चाहिये, इसलिये इस सप्रदायके टीकाकार गीताके –"ज्ञानी पुरुषको लोकसग्रहार्थ कर्म करने चाहिये"– इस सिद्धान्तका कुछ गडबड अर्थ लगाकर – यहाँतक कहनेके लिये तैयारसे हो गये हैं, कि स्वय भगवानभी प्रत्यक्ष नही, तो पर्यायसे ढोगका, उपदेश करते हैं। परतु पूर्वापर सदर्भसे प्रकट है, कि गीताके लोकसग्रह शब्दका यह ढुलमुल या पोचा अर्थ सच्चा नही। गीताको तो यह मतही मजूर नही, कि ज्ञानी पुरुषको कर्म छोडनेका अधिकार प्राप्त होता है, और इसके प्रमाणमें गीतामें जो कारण दिये गये है, उनमें लोकसग्रह एक मुख्य कारण है। इसलिये पहले यह मान कर, कि ज्ञानी पुरुषके कर्म छूट जाते हैं, लोकसग्रह पदका ढोगी अर्थ करना सर्वथा अन्याय्य है। इस जगत्में मनुष्य केवल अपनेही लिये उत्पन्न नही हुआ है। यह सच है, कि सामान्य लोग अज्ञानत स्वार्थमेंही फँसे रहते हैं। परतु "सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि" (गीता ६ २९)– मैं मब भूतोंमें हूँ, और मब भूत मुझमें है – इस रीतिसे जिसको समस्त ससारही आत्मभूत हो गया है, उमका यह कहना अपने मुखसे अपने ज्ञानमें बट्टा लगाना है, कि "मुझे तो मोक्ष मिल गया, अब यदि लोग दु खी हो, तो मुझे इसकी क्या परवाह?" ज्ञानी पुरुपका आत्मा क्या कोई स्वतत्र व्यक्ति है? उसके आत्मापर जबतक अज्ञानका पर्दा पडा था, तबतक 'मैं' और 'लोग' यह भेद कायम था। परतु ज्ञानप्राप्तिके बाद सब लोगोका आत्माही उसका आत्मा है। इसीसे योगवासिष्ठमें रामसे वसिष्ठने कहा है –

यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिन.।
तावद्रूढसमाधित्व न भवत्येव निर्मलम्॥

"जबतक लोगोके परामर्श लेनेका (अर्थात् लोकसग्रहका) काम थोडाभी बाकी है – समाप्त नही हुआ है – तबतक यह कभी नही कह सकते, कि योगारूढ पुरुषकी स्थिति निर्दोप है" (यो ६, पू १२८ ९७)। उसका केवल अपनेही समाधि-

सुखमें डूब जाना मानो एक प्रकारसे अपनाही स्वार्थ साधना है। सन्यासमार्गवाले इस वातकी ओर दुर्लक्ष करते हैं यही उनकी युक्ति-प्रयुक्तियोका मुख्य दोष है। भगवान्की अपेक्षा किसीकाभी अधिक ज्ञानी, अधिक निष्काम या अधिक योगारूढ होना शक्य नही। परतु जव स्वय भगवान्भी "साधुओका सरक्षण, दुष्टोका नाश और धर्म-सस्थापना" ऐसे लोकसग्रहके काम करनेके लियेही समय-समयपर अवतार लेते हैं (गीता ४ ८), तव लोकसग्रहके कर्तव्यको छोड देनेवाले ज्ञानी पुरुपका यह कहना सर्वथा अनुचित है, कि "जिस परमेश्वरने इन सव लोगोको उत्पन्न किया है, वह उनका जैसे चाहेगा वैसे धारण-पोषण करेगा, उधर देखना मेरा काम नही है।" क्योकि ज्ञानप्राप्तिके वाद 'परमेश्वर', 'मैं' और 'लोग' – यह भेदही नही रहता, और यदि रहे, तो उसे ढोगी कहना चाहिये, ज्ञानी नही। यदि ज्ञानसे ज्ञानी पुरुष परमेश्वररूपी हो जाता है, तो परमेश्वर जो काम करता है, उसे परमेश्वरके समान अर्थात् निस्सगबुद्धिसे करनेकी आवश्यकतासे ज्ञानी पुरुष कैसे छूटेगा (गीता ३ २२, ४ १४, १५), इसके अतिरिक्त, परमेश्वरको जो कुछ करना है, वहभी ज्ञानी पुरुषके रूपसे या उसके द्वाराही करेगा। अतएव जिसे परमेश्वरके स्वरूपका ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो गया है, कि "सव प्राणियोमें एक आत्मा है" उसके मनमें सर्वभूतानुकपा आदि उदात्त वृत्तियाँ पूर्णतासे जागृत रह कर स्वभावसेही उसके मनकी प्रवृत्ति लोककल्याणकी ओर हो जानी चाहिये। इसी अभिप्रायसे तुकाराममहाराज साधुपुरुषके लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं – "जो दीनदुखियोको अपनाता है, वही साधु है – ईश्वरभी वही (उसीके पास) है" (तु गा ९६० १, २)। अथवा "जिसने परोपकारमें अपनी शक्तिओका व्यय किया है, उसीने आत्मस्थितिको जाना है" (तु गा ४५६२)।* और अतमें, सतजनोका (अर्थात् भक्तिसे परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान पानेवाले महात्माओका) वर्णन इस प्रकार किया है – "सतोकी विभूतियाँ जगत्के कल्याणहीके लिये हुआ करती हैं। वे लोग परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं।" भर्तृहरिनेभी इस प्रकार वर्णन किया है, कि परार्थही जिसका स्वार्थ हो गया है, वही पुरुष साधुओमें श्रेष्ठ है – "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणी।" क्या मनु आदि शास्त्रप्रणेता ज्ञानी न थे? परतु उन्होंने तृष्णादु खको वडा भारी हौवा मानकर तृष्णाके साथ-ही-साथ परोपकार-बुद्धि आदि सभी उदात्त वृत्तियोंको नष्ट नही कर दिया – उन्होंने तो लोकसहकारक चातुर्वर्ण्य प्रभृति शास्त्रीय मर्यादा वना देनेका

---

* इसी भावको कविवर वावू मैथिलीशरण गुप्तने यो व्यक्त किया है –

वास उसीमें है विभुवरका है बस सच्चा साधु वही –
जिसने दुखियोको अपनाया, वढ कर उनकी वाह गही।
आत्मस्थिति जानी उसनेही परहित जिसने व्यथा सही,
परहितार्थ जिनका वैभव है, है, उनसेही धन्य मही॥

उपयोगी काम किया है, ब्राह्मणको ज्ञान, क्षत्रियको युद्ध, वैश्यको खेती, गोरक्षा और व्यापार अथवा शूद्रको सेवा – ये जो गुण-कर्म और स्वभावके अनुरूप भिन्न भिन्न धर्म शास्त्रोमें वर्णित है, वे केवल किसी व्यक्तिकेही हितके लिये नही है, प्रत्युत मनुस्मृति (मनु १ ८७)में कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्यके व्यापारोका विभाग लोकसग्रहके लियेही इस प्रकार प्रवृत्त हुआ है कि सारे समाजके बचावके लिये कुछ पुरुषोको प्रतिदिन युद्धकलाका अभ्यास करके सदा तैयार रहना चाहिये, और कुछ लोगोको खेती, व्यापार एव ज्ञानार्जन प्रभृति उद्योगोंसे समाजकी अन्यान्य आवश्यकताएँ पूर्ण करनी चाहिये। गीताका (गीता ४ १३, १८ ४१) अभिप्रायभी ऐसाही है। यह पहले कहाही जा चुका है, कि इस चातुर्वर्ण्य धर्ममेंसे यदि कोई एकभी धर्म डूब जाय, तो समाज उतनाही पगु हो जायगा, और अतमें उसका नाश हो जानेकीभी सभावना रहती है। तथापि स्मरण रहे, कि उद्योगोंके विभागकी यह व्यवस्था एकही प्रकारकी नही रहती है। प्राचीन यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने एतद्विषयक अपने ग्रथमें और अर्वाचीन फ्रेंच शास्त्रज्ञ कोटने अपने ‘आधिभौतिक तत्त्वज्ञान’मे, समाज-धारणके लिये जो व्यवस्था सूचित की है, वह यद्यपि चातुर्वर्ण्यके सदृश्य है, तथापि इन ग्रथोको पढनेसे कोईभी जान सकेगा, कि उस व्यवस्थामे धर्मकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थासे कुछ-न-कुछ भिन्नता है। इनमेंसे कौन-सी समाज-व्यवस्था अच्छी है ? अथवा यह अच्छापन सापेक्ष है, और युगमानसे उसमें कुछ फेरफार हो सकता है या नही ? – इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ उठते है, और आजकल तो पश्चिमी देशोमें ‘लोकसग्रह’ एक महत्त्वका शास्त्र बन गया है। परतु गीताका तात्पर्य-निर्णयही हमारा प्रस्तुत विषय है, इसलिये यहाँ उन प्रश्नोपर विचार करनेकी कोई आवश्यकता नही है। यह बात निर्विवाद है, कि गीताके समयमे चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था अनिवार्य रूपमे प्रचलित थी, और मूलत ‘लोकसग्रह’ करनेके हेतुमेही वह प्रवृत्ति की गई थी। इसलिये यही बात मुख्यत यहाँ बतलानी है। गीताके ‘लोकसग्रह’ पदका अर्थ यही होता है, कि लोगोको प्रत्यक्ष दिखला दिया जावे, कि चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाके अनुसार प्राप्त अपने कर्म निष्काम बुद्धिमे किस प्रकार करने चाहिये ? ज्ञानी पुरुष समाजके न केवल नेत्रही है, वरन गुरुभी है। इससे आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि उपर्युक्त प्रकारका लोकसग्रह करनेके लिये, उन्हे अपने समयकी समाज-व्यवस्थामें यदि कोई न्यूनता जँचे, तो वे उसे श्वेतकेतुके समान देशकालानुरूप परिमार्जित करे, और सनमाजके धारण तथा पोषण शक्तिकी रक्षा करते हुए उसको उन्नतावस्थामें ले जानेका प्रयत्न करते रहे। इसी प्रकारका लोकसग्रह करनेके लिये राजा जनक सन्यास न लेकर जीवनपर्यंत राज्य करते रहे, और मनुने पहला राजा बनना स्वीकार किया। एव इसी कारणसे “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि” (गीता २ ३१) – स्वधर्मके अनुसार जो कर्म प्राप्त है, उनसे लिये रोना तुझे उचित नहीं – अथवा “स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति

और उत्तम मार्ग है। तथापि यह लोकसंग्रहभी फलाशा रखकर न करें। क्योंकि, लोकसंग्रहकीही क्यों न हो, पर फलाशा रखनेमे कर्म यदि निष्फल हो जाय, तो दुःख हुए विना न रहेगा। इसीसे मैं लोकसंग्रह करूँगा इस अभिमान या फलाशाकी बुद्धिको मनमें न रखकर लोकसंग्रहभी केवल कर्तव्य बुद्धिसेही करना पडता है। इसलिये गीतामें यह नही कहा, कि 'लोकसंग्रहार्थ' अर्थात् लोकसंग्रहस्वरूप फल पानेके लिये तुझे कर्म करने चाहिये। किंतु यह कहा है, कि लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि देकर (संपश्यन्) तुझे कर्म करने चाहिये – "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्" (गीता ३.२०)। इस प्रकार गीतामें जो जरा लंबी-चौडी शब्दयोजना की गई है, उसका रहस्यभी वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लोकसंग्रह सचमुच महत्त्वपूर्ण कर्तव्य हैही, पर यह न भूलना चाहिये, कि इसके पहले श्लोकमें (गीता ३.१९) अनासक्त बुद्धिसे कर्म करनेका भगवानने अर्जुनको जो उपदेश दिया है, वह लोकसंग्रहके लियेभी उपयुक्त है।

ज्ञान और कर्मका जो विरोध है, वह ज्ञान और काम्य-कर्मोंका है। ज्ञान और निष्काम कर्मोंमें आध्यात्मिक दृष्टिसेभी कुछ विरोध नहीं है। कर्म अपरिहार्य हैं, और लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनकी आवश्यकताभी बहुत है, इसलिये ज्ञानी पुरुषको, जीवनपर्यंत निस्संग बुद्धिसे यथाधिकार चातुर्वर्ण्यके कर्मही करते रहना चाहिये – यही बात शास्त्रीय युक्ति-प्रयुक्तियोंसे सिद्ध है और यदि गीताकाभी यही इत्यर्थ है, तो मनमें यह शंका सहजही होती है, कि वैदिक धर्मके स्मृति-ग्रंथोंमें वर्णित चार आश्रमोंमेंसे संन्यास आश्रमकी क्या दशा होगी? मनु आदि सब स्मृतियोंमें ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी – ये चार आश्रम बतलाकर कहा है, कि अध्ययन, यज्ञयाग, दान या चातुर्वर्ण्य-धर्मके अनुसार प्राप्त अन्य कर्मोंके शास्त्रोक्त आचरण द्वारा पहले तीन आश्रमोंमें धीरे धीरे चित्तकी शुद्धि हो जानेपर अंतमें समस्त कर्मोंको स्वरूपतः छोड देना चाहिये, तथा संन्यास लेकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये (मनु ६.१, ३३–३७)। इससे सब स्मृतिकारोंका यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि यज्ञयाग और दान प्रभृति कर्म गृहस्थाश्रममें यद्यपि विहित हैं, तथापि वे सर्व चित्तकी शुद्धिके लिये हैं – अर्थात् उनका यही उद्देश्य है, कि विषयासक्ति या स्वार्थपरायण बुद्धि छूटकर परोपकार-बुद्धि इतनी बढ जावे, कि सब प्राणियोंमें एकही आत्माको पहचाननेकी शक्ति प्राप्त हो जाय, और यह स्थिति प्राप्त होनेपर, मोक्षकी प्राप्तिके लिये अंतमें सब कर्मोंका स्वरूपतः त्यागकर संन्यासाश्रमही लेना चाहिये। श्रीशंकराचार्यने कलियुगमें जिस संन्यास-धर्मकी स्थापना की, वह मार्ग यही है, और स्मार्त-मार्गवाले कालिदासनेभी रघुवंशके आरंभमें –

> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
> वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

"बाल्यपनमें अभ्यास (ब्रह्मचर्य) करनेवाले, तरुणावस्थामें विषयोपभोगरूपी संसार

(गृहस्थाश्रम) करनेवाले, उतरती अवस्थामें मुनिवृत्तिसे या वानप्रस्थ धर्मसे रहने-वाले और अतमें (पातजल) योगसे सन्यास-धर्मके अनुसार ब्रह्माडमें आत्माको ले जाकर प्राण छोडनेवाले" – ऐसा सूर्यवशके पराक्रमी राजाओका वर्णन किया है (रघु १ ८)। ऐसेही महाभारतके शुकानुप्रश्नमें यह कहकर कि –

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥

" (चार आश्रमरूपी) चार सीढियोका यह जीना अतमे ब्रह्मपदको जा पहुँचा है। इस जीनेसे ऊपर – अर्थात् एक आश्रमसे ऊपरके दूसरे आश्रममें – इस प्रकार चढते जानेपर, अतमें मनुष्य ब्रह्मलोकमें वडप्पन पाता है" (शा २४१. १५), आगे इस क्रमका वर्णन किया है –

कषायं पाचयित्वाशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च पर स्थान पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥

"इस जीनेकी तीन सीढियोमें मनुष्यको अपने किल्मिष (पाप) का अर्थात् स्वार्थ-परायण आत्मबुद्धिका अथवा विषयासक्तिरूप दोपका शीघ्रही क्षय करके फिर सन्यास लेना चाहिये। पारिव्राज्य अर्थात् सन्यासही सवसे श्रेष्ठ स्थान है" (मभा शा २४४ ३)। एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें जानेका यही सिलसिला मनुस्मृति-मेंभी दिया है (मनु ६ ३४)। परतु यह बात मनुके ध्यानमें अच्छी तरह आ गई थी, कि इनमेंसे अतिम अर्थात् सन्यास आश्रमकी ओर लोगोकी आवश्यकतासे अधिक प्रवृत्ति होनेसे ससारका कर्तृत्व नष्ट हो जायगा, और समाजभी पगु हो जायगा। इसीसे मनुने स्पष्ट मर्यादा बना दी है, कि पूर्वाश्रममें गृह-धर्मके अनुसार पराक्रम और लोकसग्रहके सव कर्म अवश्य करने चाहिये, उसके पश्चात् –

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

"जब शरीरमे झुर्रियाँ पडने लगें, और नाती-पोतोंका मुँह दीख पडे, तब गृहस्थ वानप्रस्थ होकर सन्यास ले ले" (मनु ६ २)। इस मर्यादाका पालन इसलिये करना चाहिये, क्योंकि मनुस्मृतिमेंही लिखा है, कि प्रत्येक मनुष्य जन्मके साथही अपनी पीठपर ऋषियो, पितरो और देवताओंके (तीन) ऋण (कर्तव्य) लेकर उत्पन्न हुआ है। इसलिये वेदाध्ययनसे ऋषियोका, पुत्रोत्पादनसे पितरोका और यज्ञकर्मोंसे देवताओका – इस प्रकार, पहले इन तीनो ऋणोको चुकाये विना मनुष्य ससार छोडकर सन्यास नही ले सकता। यदि वह ऐसा न करेगा, तो जन्मसेही पाये हुए उपर्युक्त ऋणोको चुकता न करनेके कारण वह अधोगतिको पहुँचेगा (मनु ६ ३५–३७ और पिछले प्रकरणका तै स मत्र देखो)। प्राचीन हिंदु-धर्मशास्त्रके अनुसार बापका कर्ज नियत समयके गुजर जानेका कारण न वतलाकर वेटे या

किल्बिषम्" (गीता १८ ४७) – स्वभाव और गुणोके अनुरूप निश्चित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार नियमित कर्म करनेसे तुझे कोई पाप नही लगेगा – इत्यादि प्रकारसे चातुर्वर्ण्य कर्मके अनुसार प्राप्त युद्धको करनेके लिये गीतामें अर्जुनको वार-वार उपदेश किया गया है। यह कोईभी नही कहता, कि परमेश्वरका यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त न करो। गीताकाभी सिद्धान्त है, कि इस ज्ञानको सपादन करनाही मनुष्यका इस जगद्में इतिकर्तव्य है। परन्तु इससे आगे बढकर गीताका विशेष कथन यह है, कि अपने आत्माके कल्याणमेंही समाष्टिरूप आत्माके कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करनेकाभी समावेश होता है, इसलिये लोकसग्रह करनाही ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका सच्चा पर्यवसान है। तथापि यह वात नही, कि किसी पुरुष केवल ब्रह्मज्ञानी होनेसेही सब प्रकारके व्यावहारिक व्यापार अपनेही हाथसे कर डालने योग्य हो जाता हो। भीष्म और व्यास, दोनो महाज्ञानी और परम भगवद्भक्त थे। परतु यह कोई नही कहता, कि भीष्मके समान व्यासनेभी लडाईका काम किया होता। अथवा देवताओकी ओर देखें, तो वहांभी ससारके सहार करनेका काम शकरके वदले विष्णुको सौंपा हुआ नही दीख पडता। मनकी निर्विषयताकी, सभ और शुद्ध वुद्धिकी तया आध्यात्मिक उन्नतिकी अतिम सीढी जीवन्मुक्तावस्था है, वह आधिभौतिक उद्योगोकी दक्षताकी परीक्षा नही है। गीताके इसी प्रकरणमें यह विशेष उपदेश दुवारा किया गया है, कि स्वभाव और गुणोंके अनुरूप प्रचलित चातुर्वर्ण्य आदि व्यवस्थाओंके अनुसार जिस कर्मको हम जीवनभर करते चले आ रहे है, स्वभावके अनुसार उसी कर्म अथवा व्यवसायको ज्ञानोत्तरभी ज्ञानी पुरुष लोकसग्रहके निमित्त करता रहे, क्योकि उसीमें उसके निपुण होनेकी सभावना है। यदि वह कोई औरही व्यापार करने लगेगा, तो उससे समाजकी हानि होगी (गीता ३ ३५, १८ ४७)। प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वरनिर्मित प्रकृति, स्वभाव और गुणोंके अनुरूप जो भिन्न भिन्न प्रकारकी योग्यता होती है, उसेही अधिकार कहते है। और वेदान्तसूत्रमे कहा है, कि "इस अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्मोको, पुरुष ब्रह्मज्ञानी हो जानेपर भी, लोकसग्रहार्थ मरणपर्यंत करता जावे, छोड न दे – यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्" (वे सू ३ ३ ३२)। कुछ लोगोका कथन है, कि वेदान्तसूत्रकर्ताकी यह उपपत्ति केवल वडे अधिकारी पुरुषोकोही उपयोगी है, और इस सूत्रके भाष्यमे उसके समर्थनार्थ जो उदाहरण दिये गये है, उनसे जान पडेगा, कि वे सभी उदाहरण व्यास प्रभृति वडे वडे अधिकारी पुरुषोंकेही है। परतु मूल-सूत्रमें अधिकारकी छुटाई-वडाईके सबधमें कुछभी उल्लेख नही है, इससे 'अधिकार' शब्दका मतलव छोटे-वडे सभी अधिकारोंसे है। और यदि इस वातका सूक्ष्म तथा स्वतत्र विचार करें, कि ये अधिकार किसको और किस प्रकार प्राप्त होते है, तो ज्ञात होगा, कि मनुष्यके साथही समाज और समाजके साथही मनुष्यको परमेश्वरने उत्पन्न किया है, इसलिये जिसे जितना वुद्धिवल, सत्तावल, द्रव्यवल या शरीरवल स्वभावसेही हो अथवा स्वधर्मसे प्राप्त कर लिया जा सके,

उसी हिसाबसे यथाशक्ति ससारके धारण और पोषण करनेका थोडा-बहुत अधिकार — चातुर्वर्ण्य आदि अथवा अन्य गुण और कर्मविभागरूप सामाजिक व्यवस्थासे — प्रत्येकको जन्मसेही प्राप्त रहता है। किसी कलको, अच्छी रीतिसे चलानेके लिये बडे चक्रके समानही, जिस प्रकार छोटे-से पहियेकीभी आवश्यकता रहती हैं, उसी प्रकार समस्त ससारकी अपार घटनाओ अथवा कार्योंके सिलसिलेको व्यवस्थित चलाते रखनेके लिये व्यास आदिकोंके बडे अधिकारके समानही इस बातकीभी आवश्यकता है, कि अन्य मनुष्योंके छोटे अधिकारभी पूर्ण और योग्य रीतिसे अमलमे लाये जावे। क्योकि, यदि कुम्हार घडे और जुलाहा कपडे तैयार न करेगा, तो राजाके द्वारा योग्य रक्षण होनेपरभी लोकसग्रहका काम पूरा न हो सकेगा, अथवा यदि रेलका कोई सामान्य झडीवाला या पाइट्समन अपना कर्तव्य न करे, तो जो रेल-गाडी आजकल वायुकी चालसे रात-दिन बेखटके दौडा करती है, वह फिर ऐसा न कर सकेगी। अत वेदान्तसूत्रकर्ताकी उल्लिखित युक्ति-प्रयुक्तियोमेही अब यह निष्पन्न हुआ, कि व्यास प्रभृति बडे बडे अधिकारियोकोही नही, प्रत्युत अन्य पुरुषो-कोभी — फिर चाहे वह राजा हो या रक — लोकसग्रह करनेके लिये जो छोटेबडे अधिकार यथान्याय प्राप्त हुए हैं, उनको ज्ञानके पश्चात्भी छोड नही देना चाहिये, किंतु उन्ही अधिकारोको निष्काम बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझ यथाशक्ति, यथामति और यथासभव जीवनपर्यंत करते जाना चाहिये। यह कहना ठीक नही, कि मैं न सही, तो कोई दूसरा उस कामको करेगा। क्योकि ऐसा करनेसे सपूर्ण कामके लिये जितने पुरुषोकी आवश्यकता है, उनमेंसे एक घट जाता है और सघशक्ति कमही नहीं हो जाती, बल्कि ज्ञानी पुरुष उसे जितनी अच्छी रीति करेगा, उतनी अच्छी रीतिसे औरोके द्वारा उसका होना शक्य नही, फलत इस हिसाबसे लोकसग्रहभी अधूरा रह जाता है। इसके अतिरिक्त यह कह चुके आये हैं, कि ज्ञानी पुरुषके कर्म-त्यागरूपी उदाहरणसे लोगोकी बुद्धिभी बिगडती है। कभी कभी सन्यास-मार्गवाले कहा करते हैं, कि कर्मसे चित्तकी शुद्धि जानेके पश्चात् केवल अपने आत्माकी मोक्षप्राप्तिसेही सतुष्ट रहना चाहिये, ससारका नाश भलेही हो जावे, पर उसकी कुछ परवाह नही करनी चाहिये — "लोकसग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत्" न तो लोकसग्रह करे और न करावे (मभा अश्व अनुगीता ४६ ३९) परतु ये लोक व्यासप्रमुख महात्माओके व्यवहारकी जो उपपत्ति बतलाते हैं, उससे — और वसिष्ठ एव पचशिख प्रभृतिने राम तथा जनक आदिको अपने अपने अधिकारके अनुसार समाजके धारण-पोषण इत्यादिके कामही मरणपर्यत करनेके लिये जो कहा है, उससे — यही प्रकट होता है, कि कर्म छोड देनेका सन्यास-मार्गवालोका उपदेश एकदेशीय है — सर्वथा सिद्ध होनेवाला शास्त्रीय सत्य नही। अतएव कहना चाहिये, कि ऐसे एकपक्षीय उपदेशकी ओर ध्यान देकर, स्वय भगवानकेही उदाहरणके अनुसार ज्ञानप्राप्तिके पश्चात्भी अपने अधि-कारको परखकर, तदनुसार लोकसग्रहकारक कर्म जीवनभर करते जानाही शास्त्रोक्त

नातीकोभी चुकाना पडता था और किसीका कर्ज चुकानेसे पहलेही मर जानेमें वडी दुर्गति मानी जाती थी, इस वातपर ध्यान देनेसे पाठक सहजही जान जायेंगे, कि जन्मसेही प्राप्त और उल्लिखित महत्त्वके सामाजिक कर्तव्योको 'ऋण' कहनेमें हमारे शास्त्रकारोका क्या हेतु था। कालिदासने रघुवशमें कहा है, कि स्मृतिकारोकी वतलाई हुई इस मर्यादाके अनुसार सूर्यवशी राजा लोग चलते थे, और जव वेटा राज करने समर्थ हो जाता, तव उसे गद्दीपर विठला कर, फिर (पहलेसेही नही) स्वय गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होते थे (रघु ७ ६८)। भागवतमें लिखा है, कि उक्त नियमका पालन न करके, पहले दक्ष प्रजापतिके हर्यश्वसज्ञक पुत्रोको और फिर शवलाश्वसज्ञक दूसरे, अनेक पुत्रोकोभी, उनके विवाहसे पहलेही, नारदने निवृत्तिमार्गका उपदेश देकर भिक्षु वना डाला, इससे इस अशास्त्र और गर्ह्य व्यवहारके कारण नारदकी निर्भर्त्सना करके दक्ष प्रजापतिने उन्हे शाप दिया (भा ६ ५ ३५–४२)। इससे ज्ञात होता है, कि इस आश्रम-व्यवस्थाका मूल हेतु यह था, कि अपना गार्हस्थ्यजीवन यथाशास्त्र पूरा कर लडकोंके गृहस्थी चलानेयोग्य सयाने हो जानेपर या, वुढापेके निरर्थक हस्तक्षेपसे उनकी उमगके आडे न आ, निरे मोक्षपरायण हो मनुष्य स्वय आनदपूर्वक ससारसे निवृत्त हो जावे। इसी हेतुसे विदुरनीतिमे धृतराष्ट्रसे विदुरने कहा है –

उत्पाद्य पुत्राननृणाश्च कृत्वा वृत्ति च तेभ्योऽनुविधाय काचित्।
स्थाने कुमारी प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत्॥

"गृहस्थाश्रममें पुत्र उत्पन्न कर, उनके लिये कोई ऋण न रख छोडे और उनकी जीविकाके लिये कुछ थोडा-सा प्रवध कर तथा सव लडकियोंके योग्य रीतेसे विवाह करा देनेपर, वानप्रस्थ हो सन्यास लेनेकी इच्छा करे" (मभा उ ३६ ३९)। आजकल हमारे यहाँ साधारण लोगोकी ससार-सवधी समझभी प्राय विदुरके कथनानुसारही है। तोभी, कभी-न-कभी तो ससारको छोड सन्यास लेनाही मनुष्यमात्रका परम साध्य माननेके कारण, ससारके व्यवहारोकी सिद्धिके लिये स्मृतिप्रणेताओंने जान-वुझकर जो पहले तीन आश्रमोकी श्रेयस्कर मर्यादा कर दी थी, वह धीरे धीरे छूटने लगी, और यहाँतक स्थिति आ पहुँची, कि यदि किसीको पैदा होतेही अथवा अल्प अवस्था मेही ज्ञानकी प्राप्ति हो जावे, तो उसे इन तीन सीढियोपर चढनेकी कोई आवश्यकता नही रही, वह एकदम सन्यास ले ले, तो कोई हानि नही – "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" (जावा ४)। इसी अभिप्रायसे महाभारतके गोकापिलीय सवादमें कपिलने स्यूमरश्मिसे कहा है –

शरीरपक्ति. कर्माणि ज्ञान तु परमा गति·।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति॥ *

---

* वदान्तसूत्रोपर जो शाकरभाष्य है (शा भा ३ ४ २६), उससे यह श्लोक

"सारे कर्म शरीरके (विषयासक्तिरूप) रोग निकाल फेंकनेके लिये है और ज्ञानही सबसे उत्तम और अंतिम गति है। जब कर्मोंसे शरीरका कषाय अथवा अज्ञानरूपी रोग नष्ट हो जाते हैं, तब रसज्ञानकी चाह उपजती है" (शां २६९ ३८)। इसी प्रकार मोक्ष-धर्ममें पिंगला गीतामेंभी कहा है, कि "नैराश्य परम सुखम्" अथवा "योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजत सुखम्" – तृष्णारूप प्राणांतक रोग छूटे बिना सुख नहीं है (शां १७४ ६५, ५८)। जाबाल और बृहदारण्यक उपनिषदोंके वचनोंके अतिरिक्त कैवल्य और नारायणोपनिषदमें वर्णन है, कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु ।" – कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किंतु त्यागसे (या न्याससे) कुछ पुरुष मोक्ष प्राप्त करते हैं (कै १ २, नारा उ १२ ३, ७८)। यदि गीताका यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुषकोभी अंततक कर्मही करते रहना चाहिये, तो अब बतलाना चाहिये, कि इन वचनोंकी व्यवस्था कैसे लगाई जावे ? इस शंकाके होनेसेही अर्जुनने अठारहवें अध्यायके आरंभमें भगवानसे पूछा है, कि "तो अब मुझे अलग अलग बतलाइये, कि संन्यासके माने क्या हैं ? और त्यागसे क्या समझूं ?" (गीता १८ १)। यह देखनेके पहले, कि भगवानने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया, स्मृति-ग्रंथोंमे प्रतिपादित इस आश्रम-मार्गके अतिरिक्त एक दूसरे तुल्यबल वैदिक मार्गकाभी यहाँपर थोडा-सा विचार करना आवश्यक है।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और अंतमें संन्यासी, इस प्रकार आश्रमोंकी इन चार चढती हुई सीढियोंके जीनेकोही 'स्मार्त' अर्थात् "स्मृतिकारोंका प्रतिपादन किया हुआ मार्ग" कहते है। 'कर्म कर' और 'कर्म छोड' – वेदकी ऐसी जो दो प्रकारकी परस्पर-विरुद्ध आज्ञाएँ हैं, उनकी एकवाक्यता दिखलानेके लिये आयुके भेदके अनुसार आश्रमोंकी यह व्यवस्था स्मृतिकर्ताओंने की है, और कर्मोंके स्वरूपत संन्यासहीको यदि अंतिम ध्येय मान ले, तो उस ध्येयकी सिद्धिके लिये, स्मृतिकारोंके निर्दिष्ट किये हुए आयु बितानेके चार सीढियोंवाले इस आश्रम-मार्गको साधनरूप समझकर अनुचित नहीं कह सकते। आयुष्य बितानेके लिये इस प्रकारकी चढती हुई सीढियोंकी व्यवस्थासे संसारके व्यवहारका लोप न होकर, यद्यपि वैदिक कर्म और औपनिषदिक ज्ञानका मेल हो जाता है, तथापि अन्य तीनों आश्रमोंका अन्नदाता गृहस्थाश्रमही होनेके कारण मनुस्मृति और महाभारतमेंभी अंतमें उसकाही महत्त्व स्पष्टतया स्वीकृत हुआ है –

> यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जंतव ।
> एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमा ॥

लिया गया है। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है – "कषायपक्ति कर्माणि ज्ञान तु परमा गति । कषाये कर्मभि पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्तते ॥" महाभारतमें हमे यह श्लोक जैसे मिला है हमने यहाँ वैसेही लिया है।

"माताके (पृथ्वीके) आश्रयसे जिस प्रकार सब जतु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमके आसरे अन्य आश्रम हैं" (मभा शा २६८ ६, मनु ३ ७७)। मनुने तो अन्यान्य आश्रमोको नदियो और गृहस्थाश्रमको सागर कहा है (मनु ६ ९०, मभा शा २९५ ३९)। जब गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठता इस प्रकार निर्विवाद है, तब कभी-न-कभी उसे छोडकर 'कर्मसन्यास' करनेका उपदेश देनेसे लाभही क्या है ? क्या ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपरभी गृहस्थाश्रमके कर्म करना अशक्य है ? नही। तो फिर इसका क्या अर्थ है, कि ज्ञानी पुरुष ससारसे निवृत्त हो ? थोडी-बहुत स्वार्थ-बुद्धिसे बर्ताव करनेवाले साधारण लोगोकी अपेक्षा निष्काम बुद्धिसे व्यवहार करनेवाले पूर्ण ज्ञानी पुरुष लोकसग्रह करनेमें अधिक समर्थ और पात्र रहते हैं। अत ज्ञानसे जब उनकी यह सामर्थ्य पूर्णावस्थाको पहुँचती है, तभी समाजको छोड जानेकी स्वतत्रता ज्ञानी पुरुषोको देनेसे, उस समाजकीही अत्यत हानि हुआ करती है, जिसकी भलाईके लिये चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की गई है। शरीरसामर्थ्य न रहनेपरभी यदि कोई मनुष्य समाजको छोडकर वनमें चला जावे, तो बात निराली है, अत जान पडता है, कि सन्यास-आश्रमको बुढापेकी मर्यादासे लपेटनेमें मनुका हेतुभी यही रहा होगा। परतु, ऊपर कह चुके हैं, कि यह श्रेयस्कर मर्यादा आगे व्यवहारसे जाती रही। इसलिये 'कर्म कर' और 'कर्म छोड' ऐसे द्विविध वेदवचनोका मेल करनेके लियेही यदि स्मृतिकर्ताओंने आश्रमोकी चढती हुई श्रेणी बाँधी हो, तोभी इन भिन्न भिन्न वेदवाक्योकी एकवाक्यता करनेका, स्मृतिकारोकी बराबरीकाही – कदाचित् उनसेभी अधिक – निर्विवाद अधिकार जिन भगवान् श्रीकृष्णको है, उन्होने जनक प्रभृतिके प्राचीन ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक मार्गका भागवत-धर्मके नामसे पुनरुज्जीवन और पूर्ण समर्थन किया है। दोनोमें भेद यही है, कि भागवत-धर्ममें केवल अध्यात्म-विचारोपरही निर्भर न रहकर वासुदेव-भक्तिरूपी सुलभ साधनोकोभी उसमें मिला दिया है। इस विषयपर आगे तेरहवे प्रकरणमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया जावेगा। भागवत धर्म भक्तिप्रधान भलेही हो, पर उसमेंभी जनकके मार्गका यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान है, कि परमेश्वरका ज्ञान पा चुकनेपर कर्मत्यागरूप सन्यास न लेकर केवल फलाशा छोडकर ज्ञानी पुरुषकोभी लोकसग्रहके निमित्त समस्त व्यवहार यावज्जीवन निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये, अत कर्मदृष्टिसे ये दोनो मार्ग एक-से अर्थात् ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक या प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। साक्षात् परब्रह्मकेही अवतार – नर और नारायण ऋषि – इस प्रवृत्ति-प्रधान धर्मके प्रथम प्रवर्तक हैं, और इसीसे इस धर्मका प्राचीन नाम 'नारायणीय धर्म' है। ये दोनो ऋषि परम ज्ञानी थे, और लोगोको निष्काम कर्म करनेका उपदेश देनेवाले तथा स्वय निष्काम कर्म करनेवाले थे (मभा उ ४८ २१), और इसीसे महाभारतमें इस धर्मका वर्णन इस प्रकार किया गया है – "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक" (मभा शा ३४७ ८१), अथवा "प्रवृत्तिलक्षण धर्म

ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् " – नारायण ऋषिका आरभ किया हुआ धर्म आमरणात प्रवृत्ति-प्रधान है (मभा शा २१७ २)। भागवतमें स्पष्ट कहा है, कि यही सात्वत या भागवत धर्म है, और इस सात्वत या मूल भागवतधर्मका स्वरूप 'नैष्कर्म्यलक्षण' अर्थात् निष्काम प्रवृत्तिप्रधान था (भाग १ ३ ८, ११ ४ ६)। अनुगीताके इस श्लोकसे – " प्रवृत्तिलक्षणो योग ज्ञान सन्यासलक्षणम् " – प्रकट होता है, कि इस प्रवृत्ति-मार्गकाही एक और नाम 'योग' था (मभा अश्व ४३ २५), और इसीसे नारायणके अवतार श्रीकृष्णने, नरके अवतार अर्जुनको गीतामें जिस धर्मका उपदेश दिया है, उसको गीतामेही 'योग' कहा है। आजकल कुछ लोगोकी समझ है, कि भागवत और स्मार्त, दोनो पथ उपास्यभेदके कारण पहले उत्पन्न हुए थे, पर हमारे मतमें यह समझ ठीक नही है। क्योकि इन दोनो मार्गोंके उपास्य भिन्न भलेही हो, किंतु उनका अध्यात्मज्ञान एकही है। और अध्यात्मज्ञानकी नीव एकही होनेसे, यह सभव नही, कि इस उदात्त ज्ञानमे पारगत प्राचीन ज्ञानी पुरुष केवल उपास्यके भेदको लेकर झगडते रहे हो। इसी कारणसे भगवद्गीता (९ १४) एव शिवगीता (१२ ४), दोनो ग्रथोमें कहा है, कि भक्ति किसीकीभी करो, पहुँचेगी वह एकही परमेश्वरको। और महाभारतके नारायणीय धर्ममें तो इन दोनो देवताओका अभेद यो बतलाया गया है, कि नारायण और रुद्र एकही है और जो रुद्रके भक्त हैं, वेही नारायणके भक्त हैं, और जो रुद्रके द्वेषी हैं, वे नारायणकेभी द्वेषी हैं (मभा शा ३४१ २०–२६, ३४२ १२९)। हमारा यह कहना नही है, कि प्राचीन कालमें शैव और वैष्णवोका भेदही न था। पर हमारे कथनका तात्पर्य यह है, कि स्मार्त और भागवत ये दोनो पथ, शिव या विष्णुके उपास्य भेदभावके कारण भिन्न भिन्न नही हुए है, ज्ञानोत्तर निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म छोडे या नही – केवल इसी महत्त्वके विषयमें मतभेद होनेसे ये दोनो पथ प्रथम उत्पन्न हुए है। आगे कुछ समयके बाद जब मूल भागवत धर्मका यह प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग लुप्त हो गया, और उसेभी केवल विष्णु-भक्तिप्रधान अर्थात् अनेक अशोमे निवृत्ति-प्रधान आधुनिक स्वरूप प्राप्त हो गया, एव इसीके कारण जब वृथाभिमानसे ऐसे झगडे होने लगे, कि तेरा देवता 'शिव' है तो मेरा देवता 'विष्णु', तब 'स्मार्त' और 'भागवत' शब्द क्रमश 'शैव' और 'वैष्णव' शब्दोंके समानार्थक हो गये और अतमे इन आधुनिक भागवत धर्मियोका वेदान्त (द्वैत या विशिष्टाद्वैत) भिन्न हो गया, तथा वेदान्तके समानही ज्योतिष अर्थात् एकादशी और चदन लगानेकी रीतितक स्मार्तमार्गसे निराली हो गई है। किंतु 'स्मार्त' शब्दसेही व्यक्त होता है, कि यह भेद सच्चा अर्थात् मूलका (पुराना) नही है। भागवत धर्म भगवानकाही प्रवृत्त किया हुआ है, इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नही, कि इसका उपास्य देवभी श्रीकृष्ण या विष्णु है। परतु 'स्मार्त' शब्दका धात्वर्थ 'स्मृत्युक्त' – केवल इतनाही – होनेके कारण यह नही कहा जा सकता, कि स्मार्त धर्मका उपास्यदेव शिवही होना चाहिये। क्योकि मनु आदि प्राचीन

स्मृति-ग्रथोमे यह नियम कहीभी नही है, कि एक शिवकीही उपासना करनी चाहिये। इसके विपरीत, विष्णुकाही वर्णन अधिक पाया जाता है और कुछ स्थलोपर तो गणपति प्रभृतिकोभी उपास्य वतलाया है। इसके सिवा शिव और विष्णु, दोनो देवता वैदिक है अर्थात् वेदमेही इनका वर्णन किया गया है, इसलिये इनमेंसे एककोही स्मार्त कहना ठीक नही है। श्रीशकराचार्य स्मार्त मतके पुरस्कर्ता कहे जाते है। पर शाकर मठमें उपास्य-देवता शारदा है और शाकरभाष्यमें जहाँ जहाँ प्रतिमा-पूजनका प्रसग छिडा है, वहाँ वहाँ आचार्यने शिवलिगका निर्देश न कर शालग्राम अर्थात् विष्णु-प्रतिमाकाही उल्लेख किया है (वे सू शा भा १ २ ७, १ ३ १४, ४ १ ३, छा शा भा ८ १ १)। इसी प्रकार कहा जाता है, कि पचदेवपूजाका प्रारभभी पहले पहल शकराचार्यनेही किया था। इन सव वातोका विचार करनेसे यही सिद्ध होता है, कि केवल 'शिवभक्त' या 'विष्णुभक्त' इनपर ध्यान नही देना चाहिये। किंतु जिनकी दृष्टिसे स्मृति ग्रथोमेंही पहले स्पष्ट रीतिसे वर्णित आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार तरुण अवस्थामे यथाशास्त्र ससारके सव कार्य करनेपर वुढापेमें समस्त कर्म छोड चतुर्थाश्रम या सन्यास लेनाही अतिम साध्य था, वेही स्मार्त कहलाते थे और जो लोग भगवानके उपदेशानुसार यह समझते थे, कि ज्ञान एव उज्ज्वल भगवद्भक्तिके साथ-ही-साथ मरणपर्यंत गृहस्थाश्रमकेही कार्य निष्काम वुद्धिसे करते रहना चाहिये, उन्हे भागवत कहते थे। इन दोनो शव्दोके मूल अर्थ येही है, और इसीसे ये दोनो शव्द, साख्य और योग अथवा सन्यास और कर्मयोगके क्रमश समानार्थक होते है। भगवानके अवतारकृत्यसे कहो या ज्ञानयुक्त गार्हस्थ्य-धर्मके महत्त्वपर ध्यान देनेसे कहो, सन्यास-आश्रम लुप्त-सा हो गया था, और कलि-वर्ज्योमें अर्थात् कलियुगमें जिन वातोको शास्त्रने निषिद्ध माना है, उनमें सन्यासकी गिनती की गई थी।* फिर जैन और वौद्ध धर्मके प्रवर्तकोने कापिलसाख्यके मतको स्वीकारकर, इस मतका विशेष प्रचार किया, कि ससारका त्यागकर सन्यास लिये-विना मोक्ष नही मिलता। इतिहासमें प्रसिद्ध है, कि वुद्धने स्वय तरुण अवस्थामेंही राजपाट, स्त्री और वाल-वच्चोको छोडकर सन्यास-दीक्षा ले ली थी। यद्यपि श्री-शकराचार्यने जैन और वौद्ध मतोका खडन किया है, तथापि जैन और वौद्धोने जिस सन्यास-धर्मका विशेष प्रचार किया था, उसेही श्रौत-स्मार्त सन्यास कहकर आचार्यने कायम रखा। और उससे उन्होने गीताका इत्यर्थभी ऐसा निकाला, कि वही सन्यास-धर्म गीताका प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु वास्तवमे गीता स्मार्त-मार्गका ग्रथ नही है

---

* निर्णयसिंधुके तृतीय परिच्छेदका कलिवर्ज्य प्रकरण देखो। इसमें "अग्नि-होत्र गवालम्भ सन्यास पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पच विवर्जयेत्" और "सन्यासश्च न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता" इत्यादि स्मृतिवचन है। अथ अग्निहोत्र, गोवध, सन्यास, श्राद्धमे मास-भक्षण और नियोग, कलियुगमें ये पाँचो निषिद्ध है। इनमेंसे सन्यासका निषिद्धत्व श्रीशकराचार्यने पीछसे निकाल डाला।

और यद्यपि साख्य या सन्यास-मार्गसेही गीताका आरभ हुआ है, तोभी आगे सिद्धान्त-पक्षमे प्रवृत्ति-प्रधान भागवत-धर्मही उसमे प्रतिपादित है, इस प्रकार यह स्वय महाभारतकारका वचन है, जो हम पहलेही प्रकरणमे दे चुके है। इन दोनो पथोंके वैदिकही होनेके कारण सब अशोमें न सही, तो अनेक अशोमे दोनोकी एकवाक्यता करना शक्य है। परतु ऐसी एकवाक्यता करना एक बात है, और यह कहना दूसरी बात है, कि गीतामें सन्यास-मार्गही प्रतिपाद्य है और यदि कही कर्म-मार्गको मोक्षप्रद कहा हो, तो वह सिर्फ अर्थवाद या पोची स्तुति है। रुचिवैचित्र्यके कारण किसीको भागवत धर्मकी अपेक्षा स्मार्त-धर्मही बहुत प्यारा जँचेगा, अथवा कर्मसन्यासके लिये जो कारण सामान्यत बतलाये जाते है, वेही उसे अधिक बलवान् प्रतीत होंगे, नहीं कौन कहे? उदाहरणार्थ, इसमे किसीको शका नहीं, कि श्रीशकराचार्यको स्मार्त या सन्यास-धर्मही मान्य था, अन्य सब मार्गोको वे अज्ञानमूलक मानते थे। परतु सिर्फ उसी कारणसे यह नही कहा जा सकता, कि गीताका भावार्थभी वही होना चाहिये। यदि तुम्हे गीताका सिद्धान्त मान्य नही है, तो कोई चिंता नही, उसे न मानो। परतु उससे गीताके आरभमें जो कहा है, कि "इस ससारमें आयु बितानेके दो प्रकारके स्वतत्र मोक्षप्रद मार्ग अथवा निष्ठाएँ है" उसका ऐसा अर्थ करना उचित नही है कि "सन्यास-निष्ठाही एकमात्र सच्चा और श्रेष्ठ मार्ग है।" गीतामें वर्णित ये दोनो मार्ग, वैदिक धर्ममे, जनक और याज्ञवल्क्यके पहलेमेही स्वतत्र रीतिसे चले आ रहे है। पता लगता है, कि जनकके समान समाजके धारण और पोषण करनेके अधिकार क्षात्र-धर्मके अनुसार, वशपरपरासे या अपनी सामर्थ्यसे जिनको प्राप्त हो जाते थे, वे ज्ञानप्राप्तिके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे अपने काम जारी रखकर जगत्का कल्याण करनेमेही अपनी सारी आयु लगा देते थे। समाजके इस अधिकारपर ध्यान देकरही महाभारतमे अधिकार-भेदसे दुहरा वर्णन आया है, कि "सुख जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्ति समाश्रिता" (शा १७८ ११) – जगलोमें रहनेवाले मुनि आनदसे भिक्षावृत्तिको स्वीकार करते है – और "दड एव हि राजेंद्र क्षात्रधर्मो न मुण्डनम्" (मभा शा २३ ४६) – दडसे लोगोका धारण-पोषण करनाही क्षत्रियका धर्म है, मुडन करा लेना नही। परतु इससे यहभी न समझ लेना चाहिये, कि सिर्फ प्रजापालनके अधिकारी क्षत्रियोकोही, उनके अधिकारके कारण, कर्मयोग विहित था। कर्मयोगके उल्लिखित वचनका ठीक भावार्थ यह है, कि जो जिस कर्मके करनेका अधिकारी हो, वह ज्ञानके पश्चातभी उस कर्मको करता रहे, और इसी कारणसे महाभारतमें कहा है, कि "एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते" (शा २३७) – ज्ञानके पश्चात् ब्राह्मणभी अपने अधिकारानुसार यज्ञ-याग आदि कर्म प्राचीन कालमें जारी रखते थे। मनुस्मृतिमेभी सन्यास आश्रमके बदले सब वर्णोके लिये वैदिक कर्मयोगही विकल्पसे विहित माना गया है (मनु ६ ८६–९६)। इसी तरह यह कहीं नही लिखा है, कि भागवतधर्म केवल क्षत्रियो-

केही लिये है, प्रत्युत उसकी महत्ता यह कहकर गाई है, कि स्त्री और शूद्र आदि सब लोगोको वह सुलभ है (गीता ९ ३२)। महाभारतमेंभी ऐसी कथाएँ हैं, कि तुलाधार (वैश्य) और व्याध (बहेलिया) इसी धर्मका आचरण करते थे, और उन्होंने ब्राह्मणोकोभी उसका उपदेश किया था (मभा शा २६१, वन २१५)। निष्काम कर्मयोगका आचरण करनेवाले प्रमुख पुरुषोके जो उदाहरण भागवत धर्म-ग्रथोमें दिये जाते है, वे केवल जनक-श्रीकृष्ण आदि क्षत्रियोकेही नहीं हैं, प्रत्युत उनमें वसिष्ठ, जैगीषव्य और व्यास प्रभृति ज्ञानी ब्राह्मणोकाभी समावेश रहता है।

यह न भूलना चाहिये, कि यद्यपि गीतामें कर्ममार्गही प्रतिपाद्य है, तोभी निरे कर्म अर्थात् ज्ञानरहित कर्म करनेके मार्गको गीता मोक्षप्रद नहीं मानती। ज्ञानरहित कर्म करनेकेभी दो भेद हैं। एक तो दभसे या आसुरी बुद्धिसे कर्म करना और दूसरा श्रद्धासे। इनमेंसे दभके मार्ग या आसुरी मार्गको केवल गीतानेही नही (गीता १६ १६, १७ २८) तो मीमासकोंनेभी गर्ह्य तथा नरकप्रद माना है, एव ऋग्वेदमेंभी अनेक स्थलोपर श्रद्धाकी महत्ता वर्णित है (ऋ १० १५१, ९ ११३ २, २ १२ ५)। परतु दूसरे मार्गके विषयमें – अर्थात् ज्ञान-व्यतिरिक्त किंतु शास्त्रोपर श्रद्धा रखकर कर्म करनेके मार्गके विषयमें – मीमासकोका कहना है, कि परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न हो, तोभी शास्त्रोपर विश्वास रखकर केवल श्रद्धापूर्वक यज्ञयाग आदि कर्म मरणपर्यंत करते जानेसे अतमें मोक्षही मिलता है। पिछले प्रकरण-में कह चुके हैं, कि कर्मकाडरूपसे मीमासकोका यह मार्ग बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। वेदसहिता और ब्राह्मणोमें यह कहीभी नही कहा गया है, कि सन्यास आश्रम आवश्यक है, उलटे जैमिनीने वेदोका यही स्पष्ट मत बतलाया है, कि गृहस्थाश्रममें रहनेसेही मोक्ष मिलता है (वे सू ३ ४ १७–२०) और उसका यह कथन निराधारभी नही है। क्योकि कर्मकाडके इस प्राचीन मार्गको गौण माननेका आरभ उपनिषदोमेंही पहले पहल देखा जाता है। यद्यपि उपनिषद् वैदिक हैं, तथापि उनके विषय-प्रतिपादनसे प्रकट होता है, कि वे सहिता और ब्राह्मणोंके पीछेके हैं, इसके माने यह नही, कि उसके पहले परमेश्वरका ज्ञान हुआही न था। हाँ, उप-निषत्कालमेंही यह मत पहले पहल अमलमें अवश्य आने लगा, कि मोक्ष पानेके लिये ज्ञानके पश्चात् वैराग्यसे कर्मसन्यास करना चाहिये और उसके पश्चात् सहिता एव ब्राह्मणोमें वर्णित कर्मकाडको गौणत्व आ गया। उसके पहले कर्मही प्रधान माना जाता था। उपनिषत्कालमें वैराग्ययुक्त ज्ञान अर्थात् सन्यासकी इस प्रकार जीत होने लगनेपर यज्ञयाग प्रभृति कर्मोकी ओर या चातुर्वर्ण्य धर्मकी ओरभी ज्ञानी पुरुष योंही दुर्लक्ष करने लगे, और तभीसे यह समझ मद होने लगी, कि लोकसग्रह करना हमारा कर्तव्य है। स्मृति-प्रणेताओंने अपने अपने ग्रथोमें यह कहकर, कि गृहस्थाश्रममें यज्ञयाग आदि श्रौत या चातुर्वर्ण्यके स्मार्त कर्म करनेही चाहिये, गृहस्था-श्रमकी बडाई गाई है सही, परतु स्मृतिकारोंके मतमें और अतमेंभी वैराग्य, सन्यास

आश्रमही श्रेष्ठ माना गया है, इसलिये उपनिषदोंके ज्ञानप्रवाहसे कर्मकाडको जो गौणता प्राप्त हो गई थी, उसको हटानेकी सामर्थ्य स्मृतिकारोकी आश्रम-व्यवस्थामें नही रह सकती थी। ऐसी अवस्थामें ज्ञानकाड और कर्मकाडमेंसे किसीकोभी गौण न कहकर भक्तिके साथ इन दोनोका मेलकर देनेके लिये गीताकी प्रवृत्ति हुई है। उपनिषत्-प्रणेताओंके ये सिद्धान्त गीताको मान्य हैं, कि ज्ञानके बिना मोक्षप्राप्ति नही होती, और यज्ञ-याग आदि कर्मोसे, यदि बहुत हुआ तो, स्वर्गप्राप्ति हो जाती है (मुड १ २ १०, गीता २ ४१–४५)। परतु गीताका यहभी सिद्धान्त है, कि सृष्टिक्रमको जारी रखनेके लिये यज्ञ अथवा कर्मके चक्रकोभी कायम रखना चाहिये – कर्मोंको कभीभी छोड देना निरा पागलपन या मूर्खता है। इसलिये गीताका उपदेश है, कि यज्ञयाग आदि श्रौत कर्म अथवा चातुर्वर्ण्य आदि व्यावहारिक कर्म अज्ञानपूर्वक श्रद्धासे न करके ज्ञान-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करो। इससे यज्ञचक्रभी नही बिगडने पायेगा, और तुम्हारे किये हुए कर्म मोक्षके आडेभी नही आवेंगे। कहना नही होगा, कि ज्ञानकाड और कर्मकाडका (सन्यास और कर्म) मेल मिलानेकी गीताकी यह शैली स्मृति-कर्ताओकी अपेक्षा अधिक सरस है। क्योकि व्यष्टिरूप आत्माका कल्याण यत्किचितभी न घटाकर उसके साथ सृष्टिके समष्टिरूप आत्माका कल्याणभी गीता-मार्गसे साधा जाता है। मीमासक कहते हैं, कि कर्म अनादि और वेदप्रतिपादित हैं, इसलिये ज्ञान न हो, तोभी कर्म श्रद्धासे करनेही चाहिये। कितनेही (सव नही) उपनिषत्प्रणेता कर्मोको गौण मानते हैं और यह कहते हैं – या यह माननेमें कोई क्षति नही, कि निदान उनका झुकाव ऐसाही है – कि कर्मोको वैराग्यसे छोड देना चाहिये, और स्मृतिकार आयुके भेदसे – अर्थात् आश्रम-व्यवस्थासे उक्त दोनो मतोकी इस प्रकार एकवाक्यता करते हैं, कि पूर्व आश्रमोमें इन कर्मोंको करते रहना चाहिये और फिर चित्तशुद्धि हो जानेपर वुढापेमें वैराग्यसे उन सब कर्मोको छोडकर सन्यास ले लेना चाहिये। परतु गीताका मार्ग इन तीनो पर्योसे भिन्न है। ज्ञान और काम्य कर्मोंके वीच, यदि विरोध हो, तोभी ज्ञान और निष्काम कर्मोंमें कोई विरोध नही, इसीलिये गीताका कथन है, कि निष्काम बुद्धिसे सब कर्म सर्वदा करते रहो, उन्हे कभी मत छोडो। अब इन चारो मतोकी तुलना करनेसे दीख पडेगा, कि यह मत सभीको मान्य है, कि ज्ञान होनेके पहले कर्मकी आवश्यकता है, परतु उपनिषदो और गीताका कथन है, कि ऐसी स्थितिमें श्रद्धासे किये हुए कर्मका फल, केवल स्वर्गके सिवा दूसरा कुछ नही होता। इसके आगे, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपर, कर्म किये जावे या नही – इस विषयमें उपनिषत्-कर्ताओमेंभी मतभेद है। कई उपनिषत्कर्ताओका मत है, कि ज्ञानसे समस्त काम्य बुद्धिका ह्रास हो चुकनेपर जो पुरुष मोक्षका अधिकारी हो गया है, उसे केवल स्वर्गकी प्राप्ति करा देनेवाले काम्य कर्म करनेका कुछभी प्रयोजन नही रहता, परतु ईशावास्य आदि दूसरे कई उपनिषदोमें प्रतिपादन किया गया है, कि मृत्यु-

लोकके व्यवहारोंको जारी रखनेके लिये उपर्युक्त कर्म करनेही चाहिये। यह प्रगट है, कि उपनिषदोंमें वर्णित इन दो मार्गोंमेंसे दूसरा मार्गही गीतामें प्रतिपादित है (गीता ५. २)। परन्तु यद्यपि यह सच है, कि मोक्षके अधिकारी ज्ञानी पुरुषको निष्काम बुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ सब व्यवहार करने चाहिये, तथापि इस स्थानपर यह शंका आपही उत्पन्न होती है, कि जिन यज्ञयाग आदि कर्मोंका फल स्वर्गप्राप्तिके सिवा दूसरा कुछ नही, उन्हे वह करेही क्यो? इसीसे अठारहवे अध्यायके आरम्भमें इसी प्रश्नको उपस्थित कर भगवानने स्पष्ट निर्णय कर दिया है, कि 'यज्ञ, दान, तप' आदि कर्म सदैव चित्तशुद्धिकारक अर्थात् निष्काम बुद्धि उपजाने और बढानेवाले है, इसलिये 'इन्हेंभी' (एतान्यपि) अन्य निष्काम कर्मोंके समानही लोकसंग्रहार्थ ज्ञानी पुरुषको फलाशा और संग छोडकर सदा करते रहना चाहिये (गीता १८ ६)। परमेश्वरको अर्पणकर इस प्रकार सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करते रहनेसे, व्यापक अर्थमें, यह एक बडा भारी यज्ञही हो जाता है और फिर इस यज्ञके लिये जो कर्म किया जाता है, वह बंधक नहीं होता (गीता ४ २३)। किंतु सभी काम निष्काम बुद्धिसे करनेके कारण यज्ञसे जो स्वर्गप्राप्तिरूप बंधक फल मिलनेवाला था, वहभी नही मिलता, और ये सब कर्म मोक्षके आडे आ नही सकते। सारांश, मीमांसकोंका कर्मकाड यदि गीतामें कायम रखा गया हो, तोभी वह इसी रीतिसे कायम रखा गया है, कि उससे स्वर्गका आना-जाना छूट जाता है और सभी कर्म निष्काम बुद्धिसे करनेके कारण अतमें मोक्षप्राप्ति हुए विना नही रहती। ध्यान रखना चाहिये, कि मीमांसकोंके कर्ममार्ग और गीताके कर्मयोगमें यही महत्त्वका भेद है – दोनो एक नही है।

यहाँ बतला दिया, कि भगवद्गीतामें प्रवृत्ति-प्रधान भागवत-धर्म या कर्मयोगही प्रतिपाद्य है, और इस कर्मयोगमें तथा मीमासकोंके कर्मकाडमें कौनसा भेद है। अब तात्त्विक दृष्टिसे इस बातका थोडा-सा विचार करते है, कि गीताके कर्मयोगमें और ज्ञानकाडको लेकर स्मृतिकारोंकी वर्णन की हुई आश्रम-व्यवस्थामें क्या भेद है। यह भेद बहुतही सूक्ष्म है, और सच पूछो तो इसके विषयमे वाद करनेका कारणभी नही है। दोनो पक्ष मानते है, कि ज्ञानप्राप्ति होनेतक चित्तकी शुद्धिके लिये प्रथम दो आश्रमोंके (ब्रह्मचारी और गृहस्थ) कृत्य सभीको करने चाहिये। मतभेद सिर्फ इतनाही है, कि पूर्ण ज्ञान हो चुकनेपर कर्म करें या सन्यास ले ले? संभव है, कई लोग यह समझें, कि सदा ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी समाजमें थोडेही रहेगे? इसलिये इन थोडे-से ज्ञानी पुरुषोंका कर्म करना या न करना एकही-सा है। इस विषयमें विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नही। परतु यह समझ ठीक नही। क्योंकि ज्ञानी पुरुषके वर्तावको और लोग प्रमाण मानते है। और अपने अतिम साध्यके अनुसारही वर्ताव करनेकी मनुष्य पहलेसे आदत डालता है, इसलिये लौकिक दृष्टिसे यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वका हो जाता है, कि "ज्ञानी पुरुषको क्या करना चाहिये?" स्मृति-ग्रंथोंमें तो

कहा है, कि ज्ञानी पुरुष अतमे सन्यास ले ले, परन्तु ऊपर कह चुके है, कि स्मार्त-मार्गके अनुसारही इस नियमके कुछ अपवादभी है। उदाहरण लीजिये, बृहदारण्यकोपनिषदमें याज्ञवल्क्यने जनकको ब्रह्मज्ञानका बहुत उपदेश किया है, पर उन्होंने जनकसे यह कहीभी नही कहा, कि "अब तुम राजपाट छोडकर सन्यास ले लो।" उलटे यह कहा है, कि जो ज्ञानी पुरुष ज्ञानके पश्चात् ससारको छोड देते है, वे इसलिये उसे छोड देते है, कि ससार उन्हे रुचता नही है "न कामयन्ते" (बृ ४ ४ २२)। इससे बृहदारण्यकोपनिषदका यह अभिप्राय व्यक्त होता है, कि ज्ञानके पश्चात् सन्यास लेना या न लेना अपनी अपनी खुशीकी अर्थात् वैकल्पित बात है। ब्रह्मज्ञान और सन्यासका सबध नित्य नही, और वेदान्तसूत्रमे बृहदारण्यकोपनिषदके इस वचनका अर्थ वैसेही लगाया गया है (वे सू ३ ४ १५)। शकराचार्यका निश्चित सिद्धान्त है, कि ज्ञानोत्तर कर्मसन्यास किये बिना मोक्ष मिल नही सकता, इसलिये अपने भाष्यमें उन्होंने इस मतकी पुष्टिमे सब उपनिषदोकी अनुकूलता दिखलानेका प्रयत्न किया है तथापि शकराचार्यनेभी स्वीकार किया है, कि जनक आदिके समान ज्ञानोत्तरभी अधिकारानुसार जीवनभर कर्म करते रहनेमें कोई क्षति नही है (वे सू शा भा ३ ३ ३२, गीता शा भा २ ११, ३ २०)। इससे स्पष्ट विदित होता है, कि सन्यास या स्मार्त-मार्गकोभी ज्ञानके पश्चात् कर्म बिलकुलही त्याज्य नही जँचते, कुछ ज्ञानी पुरुषोको अपवाद मान, अधिकारके अनुसार कर्म करनेकी स्वतत्रता इस मार्गमेंभी दी गई है। इसी अपवादको और व्यापक बना कर गीता कहती है, कि चातुर्वर्ण्यके लिये विहित कर्म ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपरभी, लोकसग्रहके निमित्त केवल कर्तव्य समझकर प्रत्येक ज्ञानी पुरुपको निष्काम बुद्धिसे करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि गीता-धर्म व्यापक हो, तोभी उसका तत्त्व सन्यास-मार्गवालोकी दृष्टिसेभी निर्दोष है, और वेदान्तसूत्रोको स्वतत्र रीतिसे पढनेपर जान पडेगा, कि उनमेभी ज्ञानयुक्त कर्मयोग सन्यासका विकल्प समझकर ग्राह्य माना गया है। (वे सू ३ ४ २६, ३ ४ ३२–३५)।* अब यह बतलाना आवश्यक है, कि निष्काम बुद्धिसेही क्यो न हो, पर जब मरणपर्यंत कर्मही करने है, तब स्मृति-ग्रथोमे वर्णित कर्मत्यागरूपी चतुर्थ आश्रम या सन्यास आश्रमकी क्या दशा होगी? अर्जुन अपने मनमें यही सोच रहा था, कि भगवान् कभी-न-कभी कहेंगेही, कि कर्मत्यागरूपी सन्यास लियेबिना मोक्ष नही मिलता, और तब भगवान्के मुखसेही युद्ध छोडनेके लिये मुझे स्वतत्रता मिल जावेगी। परतु अब अर्जुनने देखा, कि सत्रहवे अध्यायके अततक भगवानके कर्मत्यागरूप सन्यास आश्रमकी बात नही की, बार-बार केवल यही उपदेश किया, कि फलाशाको

---

* वेदातसूत्रके इस अधिकरणका अर्थ शाकरभाष्यमे कुछ निराला है। परतु 'विहित त्वच्चाश्रमकर्माणि'का (३ ४ ३२) अर्थ हमारे मतमें ऐसा है, कि "ज्ञानी पुरुष आश्रम-कर्मभी करें, तो अच्छा है। क्योकि वह विहित है।" साराश, हमारी समझसे वेदान्तसूत्रमें ये दोनो पक्ष स्वीकृत है, कि "ज्ञानी पुरुष कर्म करे चाहे न करे।"

छोड दे, तब अठारहवे अध्यायके आरभमें अर्जुनने भगवान्से अतमें प्रश्न किया है कि "तो फिर मुझे बतलाइये कि, सन्यास और त्यागमें क्या तत्त्व है?" अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, " अर्जुन ! यदि तुमने समझा हो, कि मैंने इतने समयतक जो कर्मयोग-मार्ग बतलाया है, उसमें सन्यास नही है, तो यह समझ गलत है। कर्मयोगी पुरुष सब कर्मोंके दो भेद करते हैं – एकको कहते हैं 'काम्य' अर्थात् आसक्त बुद्धिसे किये कर्म, और दूसरेको कहते हैं 'निष्काम' अर्थात् आसक्तिको छोडकर किये गये कर्म। (मनु २३ ८९ में इन्ही कर्मोको क्रमसे 'प्रवृत्त' और 'निवृत्त' नाम दिये हैं।) इनमेंसे 'काम्य' वर्गके जितने कर्म हैं, उन सबको कर्मयोगभी बिलकुल छोड देता है – अर्थात् वह उनका 'सन्यास' करता है। बाकी रह गये 'निष्काम' या निवृत्त कर्म। सो कर्मयोगी ये निष्काम कर्म करता तो है, पर उन सबमें फलाशाका 'त्याग' सर्वथैव रहता है। साराश, कर्मयोग-मार्गमेंभी 'सन्यास' और 'त्याग' छूटा कहाँ है? स्मार्त मार्गवाले कर्मका स्वरूपत सन्यास करते हैं, तो उसके स्थानमें कर्म-मार्गके योगी कर्मफलाशाका सन्यास करते हैं – इस तरह सन्यास दोनो ओर कायमही है" (गीता १८ १–६ पर हमारी टीका देखो)। भागवत धर्मका यह मुख्य तत्त्व है, कि जो पुरुष अपने सभी कर्म परमेश्वरको अर्पणकर निष्काम बुद्धिसे करने लगे, वह गृहस्थाश्रमी हो तोभी उसे 'नित्य-सन्यासीही' कहना चाहिये (गीता ५ ३)। और भागवत-पुराणमें पहले सब आश्रम-धर्म बतला कर अतमें नारदने युधिष्ठिरको इसी तत्त्वका उपदेश किया है। वामन पडितने गीतापर जो यथार्थदीपिका नामक टीका लिखी है, उसके (य दी १८ २) कथनानुसार "शिखा बोडुनि तोडिला दोरा" – मुंड मुंडानेपर और जनेऊ तोडकर या हाथमें दड लेकर भिक्षा माँगकर, अथवा सब कर्म छोडकर जगलमें जा रहनेपरभी सन्यास नही हो जाता। सन्यास और वैराग्य बुद्धिके धर्म है, दड, चोटी या जनेऊके नही। यदि कहो, कि ये दड आदिकेही धर्म हैं, बुद्धिके अर्थात् ज्ञानके नही, तो राजछत्र अथवा छतरीकी डाँडी पकडनेवालेकोभी सन्यासीको प्राप्त होनेवाला मोक्ष मिलना चाहिये। जनकसुलभा-सवादमें ऐसेही कहा है (शा ३२०–४२) –

> **त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञाने न कस्यचित्।**
> **छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥**

क्योंकि दडपरिग्रह अर्थात् हाथमें दड धारण करनेमें, यह मोक्षका हेतु दोनो स्थानोमें एकही है। तात्पर्य यही, कि कायिक, वाचिक और मानसिक सयमही सच्चा त्रिदड है (मनु १२ १०), और सच्चा सन्यास काम्यबुद्धिका सन्यास है (गीता १८ २)। एव वह जिस प्रकार भागवत धर्ममें नही छूटता (गीता ६ २) उसी प्रकार बुद्धिको स्थिर रखनेका कर्म या भोजन आदि कर्मभी साख्य-मार्गमें अततक छूटताही नही है। फिर ऐसी क्षुद्र शकाएँ करके भगवे या सफेद कपडोके लिये झगडनेसे क्या लाभ होगा, कि त्रिदडी या कर्मत्यागरूप सन्यास कर्मयोग-मार्गमे नही है, इसलिये

वह मार्ग स्मृतिविरुद्ध या त्याज्य है। भगवानने तो निरभिमानपूर्वक बुद्धिसे यही कहा है –

एकं साख्यं च योग च यः पश्यति स पश्यति।

"जिसने यह जान लिया, कि साख्य और – कर्मयोग मोक्ष-दृष्टिसे दो नही – एकही हैं – वही पडित है" (गीता ५ ५)। और महाभारतमेंभी कहा है, कि एकातिक अर्थात् भागवत धर्म साख्य-धर्मकी बरावरीका है – "साख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवित" (शा ३४८ ७५)। साराश, सारे स्वार्थको परार्थमें लयकर अपनी अपनी योग्यताके अनुसार व्यवहारमें प्राप्त सभी कर्म सव प्राणियोंके हितार्थ मरणपर्यंत निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करते जानाही सच्चा वैराग्य या 'नित्य-सन्यास' है (गीता ५ ३), इसी कारण कर्मयोग-मार्गमें स्वरूपसे कर्मका सन्यासकर भिक्षा कभीभी नही मांगते। परतु बाहरी आचरणसे देखनेमें यदि इस प्रकार भेद दिखे, तोभी सन्यास और त्यागके सच्चे तत्त्व कर्मयोग-मार्गमेंभी कायमही रहते हैं, इसलिये गीताका अतिम सिद्धान्त है, कि स्मृति-ग्रथोकी आश्रम-व्यवस्थाका और निष्काम कर्मयोगका विरोध नही है।

सभव है, कि उपरोक्त इस विवेचनसे कुछ लोगोकी कदाचित् ऐसी समझ हो जाय, कि सन्यास धर्मके साथ कर्मयोगका मेल करनेका जो इतना वडा उद्योग गीतामें किया गया है, उसका कारण यह है, कि स्मार्त या सन्यास धर्म प्राचीन होगा, और कर्मयोग-मार्ग उसके वादका होगा। परतु इतिहासकी दृष्टिसे विचार करनेपर कोईभी जान सकेगा, कि सच्ची स्थिति ऐसी नही है। यह पहलेही कह चुके हैं, कि वैदिक धर्मका अत्यत प्राचीन स्वरूप कर्मकाडात्मकही था। आगे चल-कर उपनिषदोंके ज्ञानसे कर्मकाडको गौणता प्राप्त होने लगी, और कर्मत्यागरूपी सन्यास धीरे धीरे प्रचारमें आने लगा। वैदिक धर्म-वृक्षकी वृद्धिकी यह दूसरी सीढी है। परतु ऐसे समयमेंभी, उपनिषदोंके ज्ञानका कर्मकाडसे मेल मिलाकर जनक प्रभृति ज्ञाता पुरुष अपने कर्म निष्काम बुद्धिसे जीवनभर किया करते थे – अर्थात् कहना चाहिये, कि वैदिक धर्म वृक्षकी यह दूसरी सीढी दो प्रकारकी थी, एक जनक आदिकी और दूसरी याज्ञवल्क्य प्रभृतिकी। स्मार्त आश्रम-व्यवस्था इसके वादकी अर्थात् तीसरी सीढी है। दूसरी सीढीके समान तीसरीकेभी दो भेद हैं। स्मृति-ग्रथोमें कर्मत्यागरूप चौथे आश्रमकी महत्ता गाई तो अवश्य गई है, पर उसके साथही जनक आदिके ज्ञानयुक्त कर्मयोगकाभी – उसको सन्यास आश्रमका विकल्प समझकर – स्मृति-प्रणेताओंने वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, सब स्मृति-ग्रथोमे मूलभूत मनुस्मृति-कोही लीजिये। इस स्मृतिके छठे अध्यायमें कहा है, कि मनुष्यको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमोंसे चढते चढते कर्मत्यागरूप चौथा आश्रम लेना चाहिये, परतु सन्यास आश्रम अर्थात् यतिधर्मका यह निरूपण समाप्त होनेपर मनुने पहले यह प्रस्तावना की है, कि "यह यतियोका अर्थात् सन्यासियोका धर्म बतलाया, अव

वेद-सन्यासियोका कर्मयोग कहते है ", और फिर यह वतलाकर – कि अन्य आश्रमोकी अपेक्षा गृहस्थाश्रमही श्रेष्ठ कैसे है – उन्होने सन्यास आश्रम यतिधर्मको वैकल्पिक मान निष्काम गार्हस्थ्य-वृत्तिके कर्मयोगका वर्णन किया है (मनु ६ ८६–९६)। और आगे वारहवे अध्यायमें उसेही 'वैदिक कर्मयोग' नाम देकर कहा है, कि यह मार्गभी चतुर्थ आश्रमके समानही नि श्रेयस्कर अर्थात् मोक्षप्रद है (मनु १२ ८६–९०)। मनुका यह सिद्धान्त याज्ञवल्क्य-स्मृतिमेंभी आया है। इस स्मृतिके तीसरे अध्यायमे, यतिधर्मका निरूपण हो चुकनेपर 'अथवा' पदका प्रयोग करके लिखा है, कि आगे ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थभी (सन्यास न लेकर) मुक्ति पाता है (याज्ञ ३ २०४, २०५)। इसी प्रकार यास्कनेभी अपने निरुक्तमें लिखा है, कि कर्म छोडनेवाले तपस्वियो और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियोको एकही देवयान गति प्राप्त होती है (नि १४ ९)। इसके अतिरिक्त, इस विषयमें दूसरा प्रमाण धर्मसूत्रकारोका है। ये धर्मसूत्र गद्यमे है और विद्वानोका मत है, कि श्लोकोमे रची गई स्मृतियोसे ये पुराने होगे। इस समय हमें यह नही देखना है, कि यह मत सही है या गलत। चाहे वह सही हो या गलत, इस प्रसगपर मुख्य वात यह है, कि ऊपर मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियोके वचनोमें गृहस्थाश्रम या कर्मयोगका जो महत्त्व दिखाया गया है, उससेभी अधिक महत्त्व धर्मसूत्रोमें वर्णित है। मनु और याज्ञवल्क्यने कर्मयोगको चतुर्थ आश्रमका विकल्प कहा है। पर वौधायन और आपस्तवने ऐसा न कर, स्पष्ट कह दिया है, कि गृहस्थाश्रमही मुख्य है, और उसीसे आगे अमृतत्व मिलता है। वौधायन धर्मसूत्रमे " जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते " – जन्मसेही प्रत्येक ब्राह्मण अपनी पीठपर तीन ऋण ले आता है – इत्यादि तैत्तिरीय सहिताके वचन पहले देकर कहा है, कि इन ऋणोको चुकानेके लिये यज्ञयाग आदिपूर्वक गृहस्थाश्रमका आश्रय करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकको पहुँचता है, और ब्रह्मचर्य या सन्यासकी प्रशसा करनेवाले अन्य लोग धूलमें मिल जाते है (बौ २ ६ ११ ३३, ३४)। एव आपस्तव-सूत्रमे ऐसेही कहा है (आप २ ९ २४ ८)। यह नही, कि इन दोनो धर्मसूत्रोमे सन्यास आश्रमका वर्णनही नही है, किंतु उसका वर्णन करनेपरभी गृहस्थाश्रमकाही महत्त्व अधिक माना है। इससे और विशेषत मनुस्मृतिमे कर्मयोगको 'वैदिक' विशेषण देनेसे स्पष्ट होता है, कि मनुस्मृतिके समयमेंभी कर्मत्यागरूप सन्यास आश्रमकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोगरूपी गृहस्थाश्रम प्राचीन समझा जाता था, और मोक्षकी दृष्टिसे उसकी योग्यता चतुर्थ आश्रमके वरावरही गिनी जाती थी। गीताके टीकाकारोका जोर सन्यास या कर्मत्यागयुक्त भक्तिपरही होनेके कारण उपर्युक्त स्मृति-वचनोका उल्लेख उनकी टीकाओमें नही पाया जाता। परतु उन्होंने इस ओर दुर्लक्ष भलेही किया हो, किंतु इससे कर्मयोगकी प्राचीनता घटती नही है। साराश, यह कहनेमें कोई हानि नही, कि इस प्रकार कर्मयोग-मार्गके प्राचीन होनेके कारण, स्मृतिकारोको उसे यति-धर्मके विकल्पके

रूपमें ग्राह्य कर्मयोग मानना पडा। यह हुई वैदिक कर्मयोगकी बात। श्रीकृष्णके पहले जनक आदि इसीका आचरण करते थे। परन्तु आगे भगवानने उसमें भक्तिकोभी मिला दिया, और उसका वहुत प्रसार किया, इस कारण उसेही 'भागवत-धर्म' नाम प्राप्त हो गया है। यद्यपि भगवद्गीताने इस प्रकार सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकोही अधिक श्रेष्ठता दी है, तथापि कर्मयोग-मार्गको आगे गौणता क्यो प्राप्त हुई – और सन्यास-मार्गकाही बोलबाला क्यो हो गया? – इसका विचार ऐतिहासिक दृष्टिसे आगे किया जावेगा। यहाँ इतनाही कहना है कि, कर्मयोग स्मार्त-मार्गके पश्चातका नही है, वह प्राचीन वैदिक कालसे चला आ रहा है।

भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायके अतमे "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे" इस प्रकार जो सकल्प है, उसका मर्म अव पाठकोंके ध्यानमे पूर्णतया आ जावेगा। यह सकल्प बतलाता है, कि भगवानके गाये हुए उपनिषदमे, अन्य उपनिषदोंके समान ब्रह्मविद्या तो है, पर अकेली ब्रह्मविद्याही नही है। प्रत्युत ब्रह्मविद्यामें 'साख्य' और 'योग' (वेदान्ती सन्यासी और वेदान्ती कर्मयोगी), ये जो दो पथ उपजते हैं, उनमेंसे योगका अर्थात् कर्मयोगका प्रतिपादनही भगवद्गीताका मुख्य विषय है। यह कहनेमेंभी कोई हानि नही, कि भगवद्गीतोपनिषत् कर्मयोगका प्रधान ग्रथ है, क्योकि यद्यपि कर्मयोग वैदिक कालसे चला आ रहा है, तथापि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (ईश २) या "आरभ कर्माणि गुणान्वितानि" (श्वे ६ ४), अथवा "विद्याके साथ-ही-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करने चाहिये" (तै १ ९), इस प्रकारके कुछ थोडे-से उल्लेखोंके अतिरिक्त उपनिषदोंमें इस कर्मयोगका विस्तृत विवेचन कहीभी नही किया गया है। कर्मयोगपर भगवद्गीताही मुख्य और प्रमाणभूत ग्रथ है, और काव्यकी दृष्टिसेभी यह ठीकही जँचता है, कि भारत-भूमिके कर्ता पुरुषोंके चरित्र जिस महाभारतमें वर्णित हैं, उसीमे अध्यात्मशास्त्रको लेकर कर्मयोगकीभी उपपत्ति वतलाई जावे। इस वातकाभी अव अच्छी तरह पता लग जाता है, कि प्रस्थानत्रयीमें भगवद्गीताका समावेश क्यो किया गया है। यद्यपि उपनिषद् मूलभूत हैं, तोभी उनके कहनेवाले ऋषि अनेक हैं, इस कारण उन उपनिषदोंके विचार सकीर्ण और कुछ स्थानोमें परस्पर-विरोधीभी दीख पडते हैं। इसलिये उपनिषदोंके साथ-ही-साथ उनकी एकवाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रोंकीभी प्रस्थानत्रयीमें गणना करना आवश्यक था। परतु उपनिषद् और वेदान्तसूत्र, इन दोनोकी अपेक्षा यदि गीतामें कुछ अधिकता न होती, तो प्रस्थानत्रयीमें गीताके सग्रह करनेका कोईभी कारण न था। किंतु उपनिषदोका झुकाव प्राय सन्यास-मार्गकी ओर है, एव उनमें ज्ञानमार्गकाही विशेषत प्रतिपादन है, और भगवद्-गीतामें इस ज्ञानको लेकर भक्तियुक्त कर्मयोगका समर्थन है, वस – इतना कह देनेसे गीताकी अपूर्वता सिद्ध हो जाती है, और साथ-ही-साथ प्रस्थान-त्रयीके तीनो भागोंकी सार्थकताभी व्यक्त हो जाती है। क्योकि वैदिक धर्मके प्रमाणभूत ग्रथमे यदि ज्ञान

और कर्म (सांख्य और योग), इन दोनो वैदिक मार्गोंका विचार न हुआ होता, तो प्रस्थान-त्रयी उतनी अपूर्णही रह जाती। कुछ लोगोकी समझ है, कि जब उपनिषद् सामान्यत निवृत्तिविषयक हैं, तब गीताका प्रवृत्तिविषयक अर्थ लगानेसे प्रस्थान-त्रयीके तीनो भागोमें विरोध हो जायगा और उनकी प्रामाणिकतामेंभी न्यूनता आ जावेगी। यदि सांख्य अर्थात् सन्यासही एकमात्र सच्चा वैदिक मोक्षमार्ग हो, तो यह शका ठीक होगी, परंतु ऊपर दिखाया जा चुका है, कि कम-से-कम ईशावास्य आदि कुछ उपनिषदोंमें कर्मयोगका स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये वैदिक धर्मपुरुषको केवल एकहत्थी अर्थात् सन्यासप्रधान न समझकर, यदि गीताके अनुसार ऐसा सिद्धान्त करें, कि उस वैदिक धर्मपुरुषके ब्रह्मविद्यारूप एकही मस्तक है, और मोक्षदृष्टिसे तुल्यबल सांख्य और कर्मयोग उसके दाहिने-बाएँ दो हाथ हैं, तो गीता और उपनिषदोंमें कोई विरोध नही रह जाता। उपनिषदोंमें एक मार्गका समर्थन है और गीतामें दूसरे मार्गका, इस लिये प्रस्थान-त्रयीके ये दोनो भागभी दो हाथोंके समान परस्परविरुद्ध न हो, सहाय्यकारीही दीख पडेंगे। ऐसेही, गीतामें केवल उपनिषदोकाही प्रतिपादन माननेसे, पिष्टपेषणका जो वैयर्थ्य गीताको प्राप्त हो जाता, वहभी नही होता। गीताके सांप्रदायिक टीकाकारोंने इस विषयकी उपेक्षा की है, इस कारण सांख्य और योग, इन दोनो स्वतत्र मार्गोके पुरस्कर्ता अपने अपने पथके समर्थनमें जिन मुख्य कारणोको बतलाया करते हैं, उनकी समता और विषमता चटपट ध्यानमें आ जानेके लिये, नीचे दिये गये नक्शेके दो खानोंमें वेही कारण परस्पर एक दूसरेके सामने सक्षेपसे दिये गये है। स्मृति-ग्रथोमें प्रतिपादित अर्थात् स्मार्त आश्रम-व्यवस्था और मूल भागवत धर्मके मुख्य भेद इससे ज्ञात हो जावेगे।

ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर

कर्मसन्यास (सांख्य)	कर्मयोग (योग)
(१) मोक्ष आत्मज्ञानसेही मिलता है, कर्मसे नही। ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञ-याग आदि कर्मोसे मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।	(१) मोक्ष आत्मज्ञानसेही मिलता है, कर्मसे नही। ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञ-याग आदि कर्मोसे मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।
(२) आत्मज्ञान होनेके लिये इद्रिय-निग्रहसे बुद्धिको स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पडता है।	(२) आत्मज्ञान होनेके लिये इद्रिय-निग्रहसे बुद्धिको स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पडता है।

(३) इसलिये इद्रियोंके विपयोका पाश तोड मुक्त (स्वतत्र) हो जाओ।	(३) इसलिये इद्रियोके विषयोको न छोड कर उन्हीमे वैराग्यसे अर्थात् निष्काम बुद्धिसे व्यवहार कर इद्रिय-निग्रह की जाँच करो। निष्कामके माने निष्क्रिय नही।
(४) तृष्णामूलक कर्म दु खमय और बधक है।	(४) यदि इसका भली भाँति विचार करें, कि दु ख और बधन किसमें हैं, तो दीख पडेगा, कि अचेतन कर्म किसीकोभी बाँधते या छोडते नही है। उनके सबधमें कर्ताके मनमें जो काम या फलाशा होती है, वही बधन और दु खकी जड है।
(५) इसलिये चित्तशुद्धि होनेतक यदि कोई कर्म करे, तोभी अतमे छोड देने चाहिये।	(५) इसलिये चित्तशुद्धि हो चुकने परभी फलाशा छोड कर धैर्य और उत्साहके साथ सब कर्म करते रहो। यदि कहो, कि कर्मोंको छोड दें, तो वे छूट नही सकते। सृष्टिही तो एक कर्म है, उसे विश्राम हैही नही।
(६) यज्ञके अर्थ किये गये कर्म बधक न होनेके कारण गृहस्थाश्रममें उनके करनेसे हानि नही है।	(६) निष्कामबुद्धिसे या ब्रह्मार्पण-विधिसे किये गये समस्त कर्म एक बडा भारी 'यज्ञ' ही है। इसलिये स्वधर्मविहित समस्त कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझ कर सदैव करते रहना चाहिये।
(७) देहके धर्म कभी छूटते नही, इस कारण सन्यास लेनेपर पेटके लिये भिक्षा मांगना बुरा नही।	(७) पेटके लिये भीख मांगनाभी तो कर्मही है, और सोभी लज्जाप्रद यदि ऐसा कर्म करनाही है, तब अन्यान्य कर्मभी निष्काम बुद्धिसे क्यो न किये जावे ? गृहस्थाश्रमीके अतिरिक्त भिक्षा देगाही कौन ?

(८) ज्ञानप्राप्तिके अनतर अपना निजी कर्तव्य कुछ शेष नही रहता, और लोकसग्रह करनेकी कुछ आवश्यकता नही।

(८) ज्ञानप्राप्ति करनेके अनतर अपने लिये भलेही कुछ प्राप्त करनेको न रहे, परतु कर्म नही छूटते। इसलिये जो कुछ शास्त्रसे प्राप्त हो, उसे 'मुझे नही चाहिये' ऐसी निर्मम वुद्धिसे लोक-सग्रहकी ओर दृष्टि रखकर करते जाओ। लोकसग्रह किसीसेभी नही छूटता। उदाहरणार्थ, भगवान्‌का चरित्र देखो।

(९) परतु यदि अपवादस्वरूप कोई अधिकारी पुरुष ज्ञानके पश्चातभी अपने व्यावहारिक अधिकार जनक आदिके समान जीवनपर्यत जारी रखे, तो कोई हानि नही।

(९) गुणविभागरूप चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार छोटे-वडे अधिकार सभीको जन्मसेही प्राप्त होते है, और स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले इन अधि-कारोको लोकसग्रहार्थ नि स्वार्थ-बुद्धिसे सभीको निरपवादरूपसे जीवनपर्यत जारी रखना चाहिये। क्योकि यह चक्र जगतको धारण करनेके लिये परमेश्वर-नेही बनाया है।

(१०) इतना होने परभी कर्म-त्यागरूपी सन्यासही श्रेष्ठ है। अन्य आश्रमोंके कर्म चित्तशुद्धिके साधनमात्र है और ज्ञान और कर्मका तो स्वभावसेही विरोध है। इसलिये पूर्व आश्रममें, जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी चित्तशुद्धि करके ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् अतमें कर्मत्यागरूपी सन्यास लेना चाहिये। चित्तशुद्धि जन्मतेही या पूर्व आयुमें हो जावे, तो गृहस्थाश्रमके कर्म करते रहने-कीभी आवश्यकता नही है। कर्मका स्वरूपत त्याग करनाही सच्चा सन्यास-आश्रम है।

(१०) यह सच है, कि शास्त्रोक्त रीतिसे सासारिक कर्म करनेपर चित्त-शुद्धि होती है, परतु केवल चित्तकी शुद्धिही कर्मका उपयोग नही है। जगत्‌का व्यवहार चलता रखनेके लियेभी कर्मकी आवश्यकता है। इसी प्रकार काम्यकर्म और ज्ञानका विरोध भलेही हो, पर निष्काम कर्म और ज्ञानके बीच विलकुल विरोध नही है। इसलिये चित्तकी शुद्धिके पश्चात्‌भी फलाशाका त्याग कर निष्काम बुद्धिसे जगतके सग्रहार्थ चातुर्वर्ण्यके सब कर्म आमरण जारी रखनाही सच्चा सन्यास है। कर्मका स्वरूपत त्याग करना कभीभी उचित नही, और शक्यभी नही है।

(११) कर्म-सन्यास ले चुकने परभी शम-दम आदिक धर्म पालते जाना चाहिये ।	(११) ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् फलाशा-त्यागरूप सन्यास ले कर शम-दम आदिक धर्मोके सिवा आत्मौपम्यदृष्टिसे प्राप्त होनेवाले सभी धर्मोका पालन किया करो, और इस शम अर्थात शातवृत्ति-सेही शास्त्रसे प्राप्त समस्त कर्म लोकसग्रहके निमित्त मरणपर्यंत करते जाओ । निष्काम कर्म न छोडो ।
(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है ।	(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है ।
(१३) शुक-याज्ञवल्क्य आदि इस मार्गसे गये हैं ।	(१३) व्यास-वसिष्ठ-जैगीषव्य इ और जनक-श्रीकृष्ण प्रभृति इस मार्गसे गये हैं ।

अंतमें मोक्ष

ये दोनो मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्यामूलक है और दोनो ओर मनकी निष्काम अवस्था और शाति एकही प्रकारकी है। इस कारण दोनो मार्गोसे अतमें एकही मोक्ष प्राप्त हुआ करता है (गीता ५ ५) । ज्ञानके पश्चात् कर्मको छोड बैठना और काम्य कर्म छोडकर नित्य निष्काम कर्म करते रहना, यही इन दोनोमें मुख्य भेद है ।

ऊपर बतलाये हुए कर्म छोडने और कर्म करनेके दोनो मार्ग ज्ञानमूलक हैं अर्थात् ज्ञानके पश्चात् ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा स्वीकृत और आचरित हैं। परतु कर्म छोडना और कर्म करना, दोनो बाते ज्ञान न होने परभी हो सकती है । इसलिये इस अज्ञानमूलक कर्मका और कर्मके त्यागकाभी यहाँ थोडासा विचवेचन करना आवश्यक है । गीताके अठारहवे अध्यायमें त्यागके जो तीन भेद बतलाये गये हैं, उनका रहस्य यही है । ज्ञान न रहने परभी कुछ लोग निरे काय-क्लेश-भयसे कर्म छोड दिया करते हैं – इसे गीतामें 'राजस त्याग' कहा है (गीता १८ ८) । इसी प्रकार ज्ञान न रहनेपरभी कुछ लोग कोरी श्रद्धासेही यज्ञ-याग प्रभृति कर्म किया करते है । परतु गीताका कथन है, कि कर्म करनेका यह मार्ग मोक्षप्रद नही है – केवल स्वर्गप्रद है (गीता ९ २०) । कई लोगोकी समझ है, कि आजकल यज्ञ-याग प्रभृति श्रौत धर्मका प्रचार न रहनेके कारण, मीमासकोंके इस निरे कर्म-मार्गके सबधमें गीताका सिद्धान्त इन दिनो विशेष उपयोगी नही, परतु वह ठीक नहीं है । क्योकि श्रौत यज्ञ-

याग भलेही डूब गये हो, पर स्मार्त-यज्ञ अर्थात् चातुर्वर्ण्यके कर्म अबभी जारीही है। इसलिये अज्ञान से, परतु श्रद्धापूर्वक, यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म करनेवाले लोगोंके विषयमें गीताका जो सिद्धान्त है, वह ज्ञानविरहित किंतु श्रद्धासहित चातुर्वर्ण्य आदि कर्म करनेवालोंकोभी वर्तमान स्थितिमें पूर्णतया उपयुक्त है। जगतके व्यवहारकी ओर दृष्टि देनेपर ज्ञात होगा, कि समाजमें इसी प्रकारके लोगोंकी अर्थात् शास्त्रोपर श्रद्धा रखकर नीतिसे अपने कर्म करनेवालोंकीही विशेष अधिकता रहती है। परतु उन्हे परमेश्वरका स्वरूप पूर्णतया ज्ञात नही रहता, इसलिये गणितशास्त्रकी पूरी उपपत्ति समझे विनाही केवल मौलिक हिसाव करनेकी रीतिसे गणित करनेवाले लोगोंके समान इन श्रद्धालु और कर्मठ मनुष्योकी अवस्था हुआ करती है। इसमें कोई सदेह नही, कि सभी कर्म शास्त्रोक्त विधिसे और श्रद्धापूर्वक करनेके कारण वे निर्दोष (शुद्ध) हो जाते है, एव इसीसे पुण्यप्रद अर्थात् स्वर्गप्रद हो जाते है। परतु शास्त्रकाही सिद्धान्त है, कि विना ज्ञानके मोक्ष नही मिलता, इसलिये स्वर्ग-प्राप्तिकी अपेक्षा अधिक महत्त्वका कोईभी फल इन कर्मठ लोगोको मिल नहीं सकता। अतएव स्वर्गसुखसेभी जो परे है, उस अमृतत्व प्राप्ति जिसे कर लेनी हो – और यही तो एक परम पुरुषार्थ है – उसे उचित है, कि वह पहले साधन समझकर और आगे सिद्धावस्थामें लोकसग्रहके लिये, अर्थात् जीवनपर्यंत "समस्त प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है" इस ज्ञानयुक्त बुद्धिसे, निष्काम कर्म करनेके मार्गकाही स्वीकार करे। आयु वितानेके सब मार्गोमेंसे यही मार्ग उत्तम है। गीताका अनुकरण कर ऊपर दिये गये नक्शेंमें इस मार्गको कर्मयोग कहा है और इसेही कुछ लोग कर्म-मार्ग या प्रवृत्ति-मार्गभी कहते है। परतु कर्म-मार्ग या प्रवृत्ति-मार्ग, इन दोनो शब्दोंसे ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धासहित कर्म करनेके स्वर्गप्रद मार्गकाभी सामान्यत बोध हुआ करता है। इसलिये ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धायुक्त कर्म और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म, इन दोनोका भेद दिखलानेके लिये दो भिन्न भिन्न शब्दोकी योजना करनेकी आवश्यकता होती है, और इसी कारणसे मनुस्मृति तथा भागवतमेंभी पहले प्रकारके कर्म अर्थात् ज्ञानविरहित कर्मको 'प्रवृत्त कर्म', और दूसरे प्रकारके अर्थात् ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मको 'निवृत्त कर्म' कहा है (मनु १२ ८९, भाग ७ १५ ४७)। परतु हमारी रायमें ये शब्दभी जितने होने चाहिये, उतने निस्सदिग्ध नही हैं। क्योकि 'निवृत्ति' शब्दका सामान्य अर्थ 'कर्म से परावृत्त होना' है। अत इस शकाको दूर करनेके लिये 'निवृत्त' शब्दके आगे 'कर्म' विशेषण जोडते है, और ऐसा करनेसे 'निवृत्त' विशेषणका अर्थ 'कर्मसे परावृत्त' नही होता, और निवृत्त कर्म = निष्काम कर्म, यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है। कुछभी हो, जब तक 'निवृत्त' शब्द उसमें है, तव तक कर्मत्यागकी कल्पना मनमें आये बिना नही रहती। इसीलिये ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म करनेके मार्गको "निवृत्ति या निवृत्त कर्म" न कहकर 'कर्मयोग' नाम देना हमारे मतमें उत्तम है। क्योकि कर्मके आगे योग शब्द जुडा रहनेसे स्वभावत उसका अर्थ "मोक्षमें

बाधा न देकर कर्म करनेकी युक्ति " होता है, और अज्ञानयुक्त कर्मका तो आपही-से निरसन हो जाता है। फिरभी यह न भूल जाना चाहिये, कि गीताका कर्मयोग ज्ञानमूलक है। और यदि इसेही कर्म-मार्ग या प्रवृत्ति-मार्ग कहना किसीको अभीष्ट जँचता हो, तो ऐसा करनेमें कोई हानि नही। स्थल-विशेषमें भाषावैचित्र्यके लिये गीताके कर्मयोगको लक्ष्यकर हमनेभी इन शब्दोकी योजना की है। अस्तु, इस प्रकार कर्म करने या कर्म छोडनेके ज्ञानमूलक और अज्ञानमूलक जो भेद है, उनमेंसे प्रत्येकके सबधमें गीताशास्त्रका अभिप्राय इस प्रकार है –

आयु वितानेका मार्ग	श्रेणी		गति	
१ कामोपभोगकोही पुरुषार्थ मानकर अहकारसे, आसुरी बुद्धिसे, दभसे या लोभसे केवल आत्मसुखके लिये कर्म करना (गीता १६ १६) – **आसुर अथवा राक्षसी मार्ग** है।	अधम		नरक	
१ प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है – इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेपरभी वेदोकी आज्ञा या शास्त्रोकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा और नीतिसे अपने अपने काम्य कर्म करना (गीता २ ४१–४४, ९–२०)– **केवल कर्म, त्रयी धर्म** अथवा **मीमांसक मार्ग** है।	मध्यम (मीमासकोके मतमें उत्तम)	जनक-वर्णित तीन निष्ठाएँ	स्वर्ग (मीमासकोके मतमें मोक्ष)	
१ शास्त्रोक्त निष्काम कर्मोसे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर अतमें वैराग्यसे समस्त कर्म छोड केवल ज्ञानमेंही तृप्त हो रहना (गीता ५ २)– **केवल ज्ञान, साख्य** अथवा **स्मार्त मार्ग** है।	उत्तम		मोक्ष	गीताकी दो निष्ठाएँ
१ पहले चित्तकी शुद्धिके निमित्त, और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर, फिर केवल लोकसग्रहार्थ, मरणपर्यंत भगवानके समान निष्काम कर्म करते रहना (गीता ५ २) – **ज्ञानकर्म-समुच्चय, कर्मयोग** या **भागवत मार्ग** है।	सर्वोत्तम		मोक्ष	

साराश, यही पक्ष गीतामें सर्वोत्तम ठहराया गया है, कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये यद्यपि कर्मकी आवश्यकता नही है, तथापि उसके साथही साथ दूसरे कारणोंके लिये – अर्थात् एक तो अपरिहार्य समझकर और इसके सिवा जगत्के धारणपोपणके लिये आवश्यक मानकर – निष्काम बुद्धिसे सदैव समस्त कर्मोंको करते रहना चाहिये। अथवा गीताका अतिम सिद्धान्त है, कि "कृतबुद्धिषु कर्तार कर्तृषु ब्रह्मवादिन ।" (मनु १ ९७), मनुके इस वचनके अनुसार कर्तृत्व और ब्रह्मज्ञानका योग या मेलही सबसे उत्तम है, और निरा कर्तृत्व या कोरा ब्रह्मज्ञान, प्रत्येक एकदेशीय है।

वास्तवमें यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। परतु यह दिखलानेके लिये – कि गीताका सिद्धान्त श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है – ऊपर भिन्न भिन्न स्थानोपर जो वचन उद्धृत किये है, उनके सबधमें कुछ कहना आवश्यक है। क्योकि उपनिषदोंके साप्रदायिक भाष्योसे बहुतेरोकी यह समझ हो गई है, कि समस्त उपनिषद सन्यास-प्रधान या निवृत्ति-प्रधान है। हमारा यह कथन नही, कि उपनिषदोंमें सन्यास-मार्ग प्रतिपादित हैही नही। बृहदारण्यकोपनिषदमें कहा है – यह अनुभव हो जानेपर कि परब्रह्मके सिवा और कोई वस्तु सत्य नही है, "कुछ ज्ञानी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की" – चिता न कर, "हमें सततिसे क्या काम? ससारही हमारा आत्मा है", यह कहकर आनदसे भिक्षा मांगते हुए घूमते है। (४ ४ २२)। परतु बृहदारण्यकमें यह नियम कही नही मिलता, कि समस्त ब्रह्मज्ञानियोको यही पक्ष स्वीकार करना चाहिये। और क्या कहे? जिसे यह उपदेश किया गया, उसका इसी उपनिषदमें वर्णन है, कि वह जनक राजा ब्रह्मज्ञानके शिखरपर पहुँचकर अमृत हो गया था। परतु यह कहीं नही बतलाया है, कि उसने याज्ञवल्क्यके समान जगत्को छोड कर सन्यास ले लिया। इससे स्पष्ट होता है, कि जनकका निष्काम कर्मयोग और याज्ञवल्क्यका कर्मसन्यास मार्ग – दोनो – बृहदारण्यकोपनिषदको विकल्प-रूपसे समत है, और वेदान्तसूत्र-कर्तानेभी यही अनुमान किया है (वे सू ३ ४ १५)। कठोपनिषद् इससेभी आगे बढ गया है। पांचवे प्रकरणमें हम यह दिखला चुके है, कि हमारे मतमें कठोपनिषदमें निष्काम कर्मयोगही प्रतिपाद्य है। छान्दोग्योपनिषदमें (छा ८ १५ १) यही अर्थ प्रतिपाद्य है और यह स्पष्ट कह दिया है, कि "गुरुसे अध्ययन कर, फिर कुटुबमें रहकर धर्मसे बर्तनेवाला ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोकको जाता है, वहांसे फिर नही लौटता।" तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर उपनिषदोंके इसी अर्थके वाक्य ऊपर दिये गये है, (तै १ ९, श्वे ६ ४)। इसके सिवा यहभी ध्यान देनेयोग्य बात है, कि उपनिषदोंमें जिन्होंने दूसरोको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है, उनमें या उनके ब्रह्मज्ञानी शिष्योमें, याज्ञवल्क्यके समान एक-आध पुरुषके अतिरिक्त, कोई ऐसा नही मिलता, जिसने कर्मत्यागरूप सन्यास लिया हो। इसके विपरीत, उनके वर्णनोसे दीख पडता है, कि वे गृहस्थाश्रमीही थे। अतएव कहना पडता है, कि समस्त उपनिषद् सन्यास-प्रधान

और अविद्याका एककालीन (उभय सह) समुच्चय प्रतिपादन करता है। उल्लिखित मन्त्रमें 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दोंके समानही मृत्यु और अमृत शब्द परस्पर-प्रतियोगी हैं। इनमेंसे अमृत शब्दसे 'अविनाशी ब्रह्म' अर्थ प्रकट है, और इसके विपरीत मृत्यु शब्दसे "नाशवत मृत्युलोक या ऐहिक ससार" यह अर्थ निष्पन्न होता है, और ये दोनो शब्द इसी अर्थमें ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमेंभी आये हैं (ऋ १० १२९ २)। विद्या आदि शब्दोंके ये सरल अर्थ लेकर – अर्थात् विद्या = ज्ञान, अविद्या = कर्म, अमृत = ब्रह्म और मृत्यु = मृत्युलोक, ऐसा समझकर – यदि ईशावास्यके उल्लिखित ग्यारहवे मन्त्रका अर्थ करें, तो प्रथम दीख पडेगा, कि इस मन्त्रके पहले चरणमें विद्या और अविद्याका एककालीन समुच्चय वर्णित है, और उसी बातको दृढ करनेके लिये दूसरे चरणमें इन दोनोमेंसे प्रत्येकका भिन्न भिन्न फल बतलाया है। ईशावास्योपनिषदको ये दोनो फल इष्ट हैं, और इसीलिये इस उपनिषदमें ज्ञान और कर्म, दोनोंका एककालीन समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मृत्युलोकके प्रपचको अच्छी रीतिसे चलाने या उससे भली भाँति पार पडनेकोही गीतामें 'लोकसग्रह' नाम दिया गया है। यह सच है, कि मोक्ष प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है, परतु उसके साथही उसे लोकसग्रह करनाभी आवश्यक है, इसीसे गीताका सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुष यह लोकसग्रहकारक कर्म न छोडे, और यही सिद्धान्त शब्दभेदसे "अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इस उल्लिखित मन्त्रमें आ गया है। इससे प्रकट होगा, कि गीता उपनिषदोको केवल पकडेही नहीं है, प्रत्युत ईशावास्योपनिषदमें स्पष्टतया वर्णित अर्थही गीतामें विस्तारसहित प्रतिपादित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् जिस वाजसनेयी सहितामें है, उसी वाजसनेयी सहिताका भाग शतपथ ब्राह्मण है। इस शतपथ ब्राह्मणके आरण्यकमें बृहदारण्यकोपनिषद् आया है, जिसमें ईशावास्यका यह नवाँ मन्त्र अक्षरश ले लिया है, कि "कोरी विद्यामें (ब्रह्मज्ञान) मग्न रहनेवाले पुरुष गहरे अँधेरेमें जा पडते हैं" (बृ ४ ४ १०)। इस बृहदारण्यकोपनिषद्मेंही जनक राजाकी कथा है, और उसी जनकका दृष्टान्त कर्मयोगके समर्थनके लिये भगवान्ने गीतामें लिया है (गीता ३ २०)। इससे ईशावास्यका और भगवद्गीताके कर्मयोगका जो सबध हमने ऊपर दिखलाया है, वही अधिक दृढ और नि सशय सिद्ध होता है।

परतु जिनका साप्रदायिक सिद्धान्त ऐसा है, कि सभी उपनिषदोंमें मोक्षप्राप्तिका एकही मार्ग प्रतिपाद्य है और वहभी वैराग्यका या सन्यासकाही है, उपनिषदोंमें दो-दो मार्गोंका प्रतिपादन होना शक्य नही, उन्हे ईशावास्योपनिषदके स्पष्टार्थक मन्त्रोकाभी, खीचातानी कर, किसी प्रकार निराला अर्थ लगाना पडता है। ऐसा न करें, तो ये मन्त्र उनके सप्रदायके प्रतिकूल हो जाते हैं, और ऐसा होने देना उन्हे इष्ट नही, इसीलिये ग्यारहवे मन्त्रपर व्याख्यान करते समय शाकरभाष्यमें 'विद्या' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' न कर 'उपासना' किया गया है। यह नही, कि विद्या शब्दका

अर्थ उपासना न होता हो। शाडिल्यविद्या प्रभृति स्थानोमें उसका अर्थ उपासनाही होता है; पर वह मुख्य अर्थ नहीं है। यहभी नही, कि श्रीशकराचार्यके ध्यानमें यह वात आई न होगी या आई न थी। और तो क्या, उसका ध्यानमें न आना शक्यही न था। दूसरे उपनिषदोंमेंभी ऐसे वचन है – "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (केन. २ १२), अथवा "प्राणस्याध्यात्म विज्ञायामृतमश्नुते" (प्रश्न ३. १२)। मैत्र्युपनिषदके सातवे प्रपाठकमें "विद्या चाविद्या च" इत्यादि ईशावास्यका उल्लिखित ग्यारहवां मन्त्रही अक्षरश ले लिया है, और उससे सट करही, उसके पूर्व कठ २ ४ और आगे कठ २ ५ ये मन्त्र दिये है। अर्थात् ये तीनो मन्त्र एकही स्थानपर एकके पश्चात् एक दिये गये हैं, और विचला मन्त्र ईशावास्यका है, और तीनोमेंभी 'विद्या' शब्द वर्तमान है। इसलिये कठोपनिषदमें विद्या शब्दका जो अर्थ है, वही (ज्ञान) अर्थ ईशावास्यमेंभी लेना चाहिये – मैत्र्युपनिषदका ऐसाही अभिप्राय प्रकट होता है। परतु ईशावास्यके शाकरभाष्यमे कहा है, कि "यदि विद्या = आत्मज्ञान और अमृत = मोक्ष, ऐसे अर्थही ईशावास्यके ग्यारहवे मन्त्रमें ले, तो कहना होगा, कि ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या)का समुच्चय इस उपनिषदमें वर्णित है, परतु जव कि यह समुच्चय न्यायसे युक्त नही है, तव विद्या – देवतोपासना और अमृत = देवलोक, ये गौण अर्थही इस स्थान पर लेने चाहिये।" साराश, प्रकट है, कि "ज्ञान होने पर सन्यास ले लेना चाहिये, कर्म नही करने चाहिये, क्योकि ज्ञान और कर्मका समुच्चय कभीभी न्याय्य नही।" – शाकर-सप्रदायके इस मुख्य सिद्धान्तके विरुद्ध ईशावास्यका मन्त्र न होने पावे, इसलिये विद्या शब्दका गौण अर्थ स्वीकारकर, समस्त श्रुति-वचनोंकी अपने सप्रदायके अनुरूप एकवाक्यता करनेके लिये, शाकरभाष्यमें ईशावास्यके ग्यारहवे मन्त्रका ऊपर लिखे अनुसार अर्थ किया गया है। साप्रदायिक दृष्टिसे देखें तो ये अर्थ महत्त्वकेही नहीं, प्रत्युत आवश्यकभी हैं। परतु जिन्हे यह मूल सिद्धान्तही मान्य नही, कि समस्त उपनिषदोमें एकही अर्थ प्रतिपादित रहना चाहिये, – दो मार्गोका श्रुतिप्रतिपादित होना शक्य नही, – उन्हे उल्लिखित मन्त्रमें विद्या और अमृत शब्दके अर्थ वदलनेके लिये कोईभी आवश्यकता नही रहती। यह तत्त्व मान लेनेसेभी, कि परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय' है, यह सिद्ध नहीं होता, कि उसके ज्ञानका उपाय एकसे अधिक न रहें। एकही अटारीपर चढनेके लिये दो जीने, या एकही गांव जानेके लिये जिस प्रकार दो मार्ग हो सकते है, उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिके उपायोंकी या निष्ठाओंकी वात है, और इसी अभिप्रायमे भगवद्गीतामे स्पष्ट कह दिया है – "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा।" दो निष्ठाओंका होना सभवनीय कहने पर, कुछ उपनिषदोमें केवल ज्ञाननिष्ठाका, तो कुछमें ज्ञान-कर्म-समुच्चय-निष्ठाका वर्णन आना कुछ अशक्य नही है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठाका विरोध होता है, इसीसे ईशावास्योपनिषदके शब्दका सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट अर्थ छोडनेके लियेभी कोई कारण नही रह जाता। यह कहनेके लिये, कि श्रीमत्-

कर्मयोग-मार्गकेही अनुकूल है। साराश-रूपसे सातवे अध्यायमे लेकर सत्रहवे अध्याय-तक ग्यारह अध्यायोका तात्पर्य यही है, कि ससारमें चारो ओर एकही परमेश्वर व्याप्त है, फिर तुम चाहे उसे विश्वरूप-दर्शनके द्वारा पहचानो, चाहे ज्ञान-चक्षुके द्वारा। शरीरमें क्षेत्रज्ञभी वही है, और क्षर-सृष्टिमें अक्षरभी वही है। वही दृश्य सृष्टिमें व्याप्त है, और उसके बाहर अथवा परेभी है। यद्यपि वह एक है, तोभी प्रकृतिके गुणभेदके कारण व्यक्त सृष्टिमें नानात्व या वैचित्र्य दीख पडता है, और इस मायासे अथवा प्रकृतिके गुणभेदके कारणही दान, श्रद्धा, तप, यज्ञ, धृति, ज्ञान इत्यादि तथा मनुष्योमेंभी अनेक भेद हो जाते है। परतु इन सब भेदोमें जो एकता है, उसे पहचानकर उस एक और नित्य तत्त्वकी उपासनाके द्वारा – फिर वह उपासना चाहे व्यक्तकी हो, अथवा अव्यक्तकी – प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धिको स्थिर और सम करे, तया उस निष्काम, सात्त्विक अथवा साम्य-बुद्धि-सेही ससारमें स्वधर्मानुसार प्राप्त सब व्यवहार केवल कर्तव्य समझ किया करे। इस ज्ञान-विज्ञानका प्रतिपादन, इस ग्रथके अर्थात् गीतारहस्यके पिछले प्रकरणोमें विस्तृत रीतिसे किया गया है, इसलिये हमने सातवे अध्यायसे लगाकर सत्रहवे अध्यायतकका साराशही इस प्रकरणमें दिया है – अधिक विस्तार नही किया। हमारा प्रस्तुत उद्देश्य केवल गीताके अध्यायोकी सगति देखनाही है, अतएव उस कामके लिये जितना भाग आवश्यक है, उतनेकाही हमने यहाँ उल्लेख किया है।

कर्मयोगमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ है, इसलिये इस बुद्धिको शुद्ध और सम करनेके लिये परमेश्वरकी सर्वव्यापकता अर्थात् सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्यका जो 'ज्ञानविज्ञान' आवश्यक होता है, उसका वर्णन आरभ करके अबतक इस बातका निरूपण किया गया, कि भिन्न भिन्न अधिकारके अनुसार व्यक्त या अव्यक्तकी उपासनाके द्वारा जब यह यह ज्ञान हृदयमे भिद जाता है, तब बुद्धिको स्थिरता और समता प्राप्त हो जाती है, और कर्मोका त्याग न करनेपरभी अतमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसीके साथ क्षराक्षरका और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकाभी विचार किया गया है। परतु भगवानने निश्चित रूपसे कह दिया है, कि इस प्रकार बुद्धिके सम हो जानेपरभी कर्मोका त्याग करनेकी अपेक्षा फलाशाको छोड देना और लोकसग्रहके लिये आमरण कर्मही करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५, २)। अतएव स्मृति-ग्रथोमें वर्णित 'सन्यासाश्रम' इस कर्मयोगमें नही होता, और इससे मन्वादि स्मृति-ग्रथोका तथा इस कर्मयोगका विरोध हो जाना सभव है। इसी शकाको मनमें लाकर **अठारहवें अध्यायके** आरभमें अर्जुनने 'सन्यास' और 'त्याग'का रहस्य पूछा है। भगवान् इस विषयमें यह उत्तर देते है, कि 'सन्यास'का मूल अर्थ 'छोडना' है, और कर्मयोग-मार्गमे यद्यपि कर्मोको नही छोडते, तथापि फलाशाको छोडते है, इसलिये, कर्मयोग तत्त्वत सन्यासही होता है, क्योकि यद्यपि सन्यासीका भेष धारण करके भिक्षा न मांगी जावे, तथापि वैराग्यका और सन्यासका जो तत्त्व स्मृतियोमें कहा

गया है – अर्थात् बुद्धिका निष्काम होना – वह कर्मयोगमेंभी स्थिर रहता है। परतु फलाशाके छूटनेसे स्वर्ग-प्राप्तिकीभी आशा नही रहती, इसलिये यहाँ एक और शका उपस्थित होती है, कि ऐसी दशामे यज्ञयागादिक श्रौतकर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसपर भगवानने अपना यह निश्चित मत वतलाया है, कि उपर्युक्त कर्म चित्त-शुद्धिकारक हुआ करते हैं, इसलिये उन्हेभी अन्य कर्मोके साथ निष्काम वुद्धिसे करते रहना चाहिये और इस प्रकार लोकसग्रहके लिये यज्ञचक्रको हमेशा जारी रखना चाहिये। अर्जुनके प्रश्नोका इस प्रकार उत्तर देनेपर प्रकृति-स्वभावानुरूप ज्ञान, कर्म कर्ता, वुद्धि, धृति और सुखके जो सात्त्विक, तामस और राजस भेद हुआ करते हैं, उनका निरूपण करके गुणवैचित्र्यका विषय पूरा किया है। इसके वाद निश्चय किया गया है, कि निष्काम कर्म, निष्काम कर्ता, आसक्ति-रहित बुद्धि, अनासक्तिसे होनेवाला सुख, और 'अविभक्त विभक्तेपु' इस नियमके अनुसार होनेवाला आत्मैक्य-ज्ञान – येही सात्त्विक या श्रेष्ठ है। इसी तत्त्वके अनुसार चातुर्वर्ण्यकीभी उपपत्ति वतलाई गई है और कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्य-धर्मसे प्राप्त हुए कर्मोको सात्त्विक अर्थात् निष्काम वुद्धिसे केवल कर्तव्य मानकर करते रहनेसेही मनुष्य इस ससारमें कृतकृत्य हो जाता है और अतमें उसे शाति तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अतमें भगवानने अर्जुनको भक्ति-मार्गका यह निश्चित उपदेश किया है, कि कर्म तो प्रकृतिका धर्म है, इसलिये यदि तू उन्हे छोडना चाहे, तोभी वे न छूटेंगे, अतएव यह समझकर, कि सव करनेवाला और करानेवाला परमेश्वरही है, तू उसकी शरणमे जा और सव काम निष्काम वुद्धिसे करता जा। मैंही वह परमेश्वर हूँ, मुझपर विश्वास रख, मुझे भज, मैं तुझे सव पापोसे मुक्त करूँगा। ऐसा उपदेश करके भगवानने गीताके प्रवृत्ति-प्रधान धर्मका निरूपण पूरा किया है। साराश यह है, कि इस लोक और परलोक इन दोनोका विचार करके ज्ञानवान् एव शिष्ट जनोंने 'साख्य' और 'कर्मयोग' नामक जिन दो निष्ठाओको प्रचलित किया है, उन्हीसे गीताके उपदेशका आरभ हुआ है। इन दोनोमें-से, पाँचवे अध्यायके निर्णयानुसार, जिस कर्मयोगीकी योग्यता अधिक है, जिस कर्मयोगकी सिद्धिके लिये छठे अध्यायमे पातजलयोगका वर्णन किया है, जिस कर्मयोगके आचरणकी विधिका वर्णन अगले ग्यारह अध्यायोमें (७ से १७ तक) पिडब्रह्माड-ज्ञानपूर्वक विस्तारसे किया गया है, और यह कहा गया है, कि उस विधिसे आचरण करनेपर परमेश्वरका पूरा ज्ञान हो जाता है, एव अतमे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसी कर्मयोगका समर्थन अठारहवे अध्यायमें अर्थात् अतमेभी है। और मोक्षरूपी आत्मकल्याणके आडे न आकर परमेश्वरार्पण-पूर्वक केवल कर्तव्य-वुद्धिसे स्वधर्मानुसार लोकसग्रहके लिये सव कर्मोको करते रहनेका जो यह योग या युक्ति है, उसकी श्रेष्ठताका यह भगवत्प्रणीत उपपादन जव अर्जुनने सुना, तभी उसने सन्यास लेकर भिक्षा माँगनेका अपना पहला विचार छोड दिया और अव – केवल भगवानके कहनेहीसे नही, किंतु कर्माकर्म-शास्त्रका पूर्ण ज्ञान हो जानेके

कारण – वह स्वय अपनी इच्छासे युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त हो गया है। अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लियेही गीताका आरभ हुआ है, और उसका अतभी वैसेही हुआ है (गीता १८ ७३) ।

गीताके अठारह अध्यायोकी जो सगति ऊपर वतलाई गई है, उससे यह प्रकट हो जायगा, कि गीता केवल कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन स्वतत्न निष्ठाओकी खिचडी नही है, अथवा वह सूत, रेशम और जरीके चिथडोकी सिली हुई गुदडी नही है, वरन् दीख पडेगा, कि सूत, रेशम और जरीके ताने-वानेको यथास्थानमें योग्य रीतिसे एकत्र करके, यह कर्मयोग नामक मूल्यवान् और मनोहर गीतारूपी वस्त्र आदसे अत तक " अत्यत योगयुक्त चित्तसे " एक-सा वुना गया है। यह सच है, कि निरूपणकी पद्धति सवादात्मक होनेके कारण शास्त्रीय पद्धतिकी अपेक्षा वह, जरा ढीली है, परतु यदि इस वातपर ध्यान दिया जाय, कि सवादात्मक निरूपणसे शास्त्रीय पद्धतिकी रूक्षता हट गई है, और उसके वदले गीतामें सुलभता और प्रेमरस भरगया है, तो शास्त्रीय पद्धतिके हेतु-अनुमानोकी केवल वुद्धिग्राह्य तथा नीरस कटकट छूट जानेका किसीकोभी तिलमात्र वुरा न लगेगा। इसी प्रकार यद्यपि गीता-निरूपणकी पद्धति पौराणिक या सवादात्मक है, तोभी यह वात इस ग्रथके कुल-विवेचन-से मालूम हो जायगी, कि ग्रथपरीक्षणकी मीमासकोकी सव कसौटियोपर कसनेपरभी गीताका तात्पर्य निश्चित करनेमें कुछभी वाधा नही होती। गीताका आरभ देखा जाय तो मालूम होगा, कि अर्जुन क्षात्र-धर्मके अनुसार लडाई करनेके लिये चला था। जव धर्माधर्मकी विचिकित्साके चक्करमें पड गया, तव उसे वेदान्त-शास्त्रके आधारपर प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोग-धर्मका उपदेश करनेके लिये गीता प्रवृत्त हुई है, और हमने पहलेही प्रकरणमें यह वतला दिया है, कि गीताके उपसहार और फल दोनो इसी प्रकारके अर्थात् प्रवृत्ति-प्रधानही हैं। इसके वाद हमने वतलाया है, कि गीतामें अर्जुनको जो उपदेश किया है, उसमें " तू युद्ध अर्थात् कर्मही कर " ऐसा दस-वारह वार स्पष्ट रीतिसे और पर्यायसे तो अनेक वार (अभ्यास) वतलाया है, और हमने यहभी वतलाया है, कि सस्कृत-साहित्यमे कर्मयोगकी उपपत्ति वतलानेवाला गीताके सिवा दूसरा ग्रथ नही है, इसलिये **अभ्यास** और **अपूर्वता** इन दो प्रमाणोंसे गीतामें कर्मयोगकी प्रधानताही अधिक व्यक्त होती है। मीमासकोंने ग्रथ-तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये जो कसौटियाँ वतलाई हैं, उनमेंसे **अर्थवाद** और **उपपत्ति** ये दोनो शेष रह गई थी। उनके विषयमें पहले पृथक् पृथक् प्रकरणोमें और अव गीताके अध्यायोंके क्रमानुसार इस प्रकरणमें जो विवेचन किया गया है, उसमे यही निष्पन्न हुआ है, कि गीतामें अकेला 'कर्मयोग'ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रथतात्पर्य-निर्णयके मीमासकोके सव नियमोका उपयोग करनेपर यही वात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि गीता-ग्रथमें ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगहीका प्रतिपादन किया गया है। अव इसमे सदेह नही, कि इसके अतिरिक्त शेष सव गीता-तात्पर्य

केवल साप्रदायिक है। यद्यपि से सब तात्पर्य साप्रदायिक हो, तथापि ये प्रश्न किया जा सकता है, कि कुछ लोगोको गीतामे ये साप्रदायिक अर्थ – विशेषत सन्यास-प्रधान अर्थ – ढूढनेका मौका कैसे मिल गया? जबतक इस प्रश्नकाभी विचार न हो जायगा, तब तक यह नही कहा जा सकता, कि साप्रदायिक अर्थोकी चर्चा पुरी हो चुकी है, इसलिये अब सक्षेपमे इसी बातका विचार किया जायगा, कि ये साप्रदायिक टीकाकार गीताका सन्यास-प्रधान अर्थ कैसे कर सके, और फिर यह प्रकरण पूरा किया जायगा।

हमारे शास्त्रकारोका यह सिद्धान्त है, कि चूंकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, इसलिये पिड-ब्रह्माडके तत्त्वको पहचाननाही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है, और इसीको धर्मशास्त्रमें 'मोक्ष' कहते है। परतु दृश्य सृष्टिके व्यवहारोकी ओर ध्यान देकर शास्त्रोमेंही यह प्रतिपादन किया गया है, कि पुरुषार्थ चार प्रकारके है – जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह पहलेही बतला दिया गया है, कि इस स्थानपर 'धर्म' शब्दका अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिये। अब पुरुषार्थको इस प्रकार चतुर्विध माननेपर यह प्रश्न सहजही उत्पन्न हो जाता है, कि पुरुषार्थके चारो अग या भाग परस्पर पोषक है या नही? इसलिये स्मरण रहे, कि पिडमे और ब्रह्माडमें जो तत्त्व है, उसका ज्ञान हुएबिना मोक्ष नही मिलता, फिर वह ज्ञान किसीभी मार्गसे प्राप्त हो। इस सिद्धान्तके विषयमे शाब्दिक मतभेद भलेही हो, परतु तत्त्वत कुछ मतभेद नही है। कमसे कम गीता-शास्त्रका तो यह सिद्धान्त सर्वथैव ग्राह्य है। इसी प्रकार गीताको यह तत्त्वभी पूर्णतया मान्य है, कि यदि अर्थ और काम, इन दोनो पुरुषार्थोको प्राप्त करना हो, तो वेभी नीति-धर्मसेही प्राप्त किये जावे। अब केवल धर्म (अर्थात व्यावहारिक चातुर्वर्ण्य-धर्म) और मोक्षके पारस्परिक सबधकाही निर्णय करना शेष रह गया। इनमेसे धर्मके विषयमें तो यह सिद्धान्त सभी पक्षोको मान्य है, कि धर्म के द्वारा चित्तको शुद्ध किये बिना मोक्षकी बात ही करना व्यर्थ है। परतु इस प्रकार चित्तको शुद्ध करनेके लिये बहुत समय लगता है, इसलिये मोक्षकी दृष्टिसे विचार करनेपरभी यही सिद्ध होता है, कि तत्पूर्वकालमे पहले पहल ससारके सब कर्तव्योको 'धर्म-से' पूरा कर लेना चाहिये (मनु ६ ३५–३७)। सन्यासका अर्थ है 'छोडना', और जिसने धर्मके द्वारा इस ससारमें कुछ प्राप्त या सिद्ध नही किया है वह त्यागही क्या करेगा? अथवा, जो 'प्रपच' (सासारिक कर्म) ही ठीक ठीक साध नही सकता, उस 'अभागी'से परमार्थभी कैसे ठीक सधेगा (दास १२ १ १–१०, १२ ८ २१–३१)? किसीका अतिम उद्देश्य या साध्य चाहे सासारिक हो अथवा पारमार्थिक, परतु यह बात प्रकट है, कि उसकी सिद्धिके लिये दीर्घ प्रयत्न, मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणोकी एक-सी आवश्यकता होती है, और जिसमें ये गुण विद्यमान नही होते, उसे किसीभी उद्देश्य या साध्यकी प्राप्ति नही होती। इस बातको मान लेनेपरभी कुछ

लोग इससे आगे बढ़कर कहते हैं, कि जब दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रहके द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब अंतमें संसारके विषयोपभोगरूपी सब व्यवहार निस्सार प्रतीत होने लगते हैं, और जिस प्रकार सांप अपनी निरुपयोगी केंचुलीको छोड देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषभी सब सांसारिक विषयोंको छोड केवल परमेश्वर-स्वरूपमेंही लीन हो जाया करते हैं (बृ ४ ४ ७)। जीवन व्यतीत करनेके इस मार्गमें चूंकि सब व्यवहारोंका त्यागकर अंतमें केवल ज्ञानकोही प्रधानता दी जाती है, अतएव उसे ज्ञाननिष्ठा, सांख्यनिष्ठा अथवा सब व्यवहारोंका त्याग करनेसे संन्यास निष्ठाभी कहते हैं। परंतु इसके विपरीत गीताशास्त्रमें कहा है, कि आरंभमें चित्तकी शुद्धताके लिये 'धर्म'की आवश्यकता तो हैही, परंतु आगे चित्तकी शुद्धि होनेपरभी – स्वयं अपने लिये विषयोपभोगरूपी व्यवहार चाहे तुच्छ हो जावे, तोभी – उन्ही व्यवहारोंको केवल स्वधर्म और कर्तव्य समझकर, लोकसंग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे करते रहना आवश्यक है। यदि ज्ञानी मनुष्य ऐसा न करेगा, तो लोगोंको आदर्श बतलानेवाला कोईभी न रहेगा, और फिर इस संसारका नाश हो जायगा। इस कर्मभूमिमें किसी-केभी कर्म छूट नही सकते, और यदि बुद्धि निष्काम हो जावे, तो कोईभी कर्म मोक्षके आडे आ नही सकता। इसलिये संसारके कर्मोंका त्याग न कर सब व्यवहारोंको विरक्त-बुद्धिसे अन्य जनोंकी नाईं मृत्युपर्यंत करते रहनाही ज्ञानी पुरुषकाभी कर्तव्य हो जाता है। गीता-प्रतिपादित जीवन व्यतीत करनेके इस मार्गकोही कर्मनिष्ठा या कर्मयोग कहते हैं। परंतु यद्यपि कर्मयोग इस प्रकार श्रेष्ठ निश्चित किया गया है, तथापि उसके लिये गीतामें संन्यास-मार्गकी कहीभी निंदा नही की गई है, उलटे यह कहा है, कि वहभी मोक्षका देनेवालाही है। स्पष्टही है, कि सृष्टिके आरंभमें सनत्कुमार प्रभृतिने और आगे चल कर शुक-याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंने जिस मार्गका स्वीकार किया है, उसे भगवानभी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे? संसारके व्यवहार किसी मनुष्यको अंशत उसके प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभावसे नीरस या मधुर मालूम होते हैं, और यह पहले कह चुके हैं, कि ज्ञान हो जानेपरभी प्रारब्ध-कर्मको भोगे बिना छुटकारा नही। इसलिये इस प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभावके कारण यदि किसी ज्ञानी पुरुषका जो सांसारिक व्यवहारोंसे ऊब जावे, और यदि वह संन्यासी हो जाये, तो उसकी निंदा करनेसे कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञानके द्वारा जिस सिद्ध पुरुषकी बुद्धि नि संग और पवित्र हो गई है, वह इस संसारमें चाहे और कुछ करे, या न करे, परंतु इस बातको नही भूलना चाहिये, कि वह मानवी बुद्धिकी शुद्धताकी परम सीमा, और विषयोंमें स्वभावत लुब्ध होनेवाली हठीली मनोवृत्तियोंको अपने तावेंमें रखनेकी सामर्थ्यकी पराकाष्ठा सब लोगोंको प्रत्यक्ष रीति-से दिखला देता है। उसका यह कार्य लोकसंग्रहकी दृष्टिसेभी कुछ छोटा नही है। लोगोंके मनमें संन्यास-धर्मके विषयमें जो आदर-बुद्धि विद्यमान है, उसका सच्चा कारण यही है, और मोक्षकी दृष्टिसे वह गीताकोभी संमत है। परंतु केवल

जन्म-स्वभावकी ओर, अर्थात् प्रारब्ध-कर्मकोही ओर ध्यान न देकर यदि शास्त्रकी रीतिके अनुसार इस बातका विचार किया जावे, कि जिसने पूरी आत्म-स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, उस ज्ञानी पुरुषको इस कर्म-भूमिमें किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये, तो गीताके अनुसार यह सिद्धान्त करना पडता है, कि कर्मत्याग-पक्ष गौण है, और सृष्टिके आरंभमें मरीचि प्रभृतिने तथा आगे चल कर जनक आदिकोंने जिस कर्मयोगका आचरण किया है, उसीको ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रहके लिये स्वीकार करे। क्योंकि, अब न्यायतः यही कहना पड़ता है, कि परमेश्वरकी निर्माण की हुई सृष्टिको चलानेका कामभी ज्ञानी मनुष्यकोही करना चाहिये, और, इस मार्गमें ज्ञान-सामर्थ्यके साथही कर्म-सामर्थ्यकाभी विरोधरहित मेल होनेके कारण, यह कर्मयोग केवल सांख्यमार्गकी अपेक्षा कहीं अधिक योग्यताका निश्चित होता है।

सांख्य और कर्मयोग, इन दोनों निष्ठाओंमें जो मुख्य भेद है, उसका उक्त रीति-से विचार करने पर **सांख्य + निष्काम कर्म = कर्मयोग** यह समीकरण निष्पन्न होता है, और वैशंपायनके कथनानुसार गीता-प्रतिपादन प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोगके प्रतिपादनमेंही सांख्य-निष्ठाके निरूपणकाभी सरलतासे समावेश हो जाता है (मभा शां ३४८ ५३), और इसी कारणसे गीताके सन्यास-मार्गीय टीकाकारोंको यह बतलानेके लिये अच्छा अवसर मिल गया है, कि गीतामें उनका सांख्य या सन्यास-मार्गही प्रतिपादित है। गीताके जिन श्लोकोंमें कर्मको श्रेयस्कर निश्चित कर कर्म करनेको कहा है, उन श्लोकोंकी ओर ध्यान न देनेसे अथवा यह मनगढंत बात कह देनेसे, कि वे सब श्लोक अर्थवादात्मक अर्थात् आनुषंगिक एवं प्रशंसात्मक हैं या किसी अन्य युक्तिसे उपर्युक्त समीकरणके 'निष्काम कर्म'को उडा देनेसे, उसी समीकरणका 'सांख्य = कर्मयोग' यह रूपांतर हो जाता है, और फिर यह कहनेके लिये अवसर मिल जाता है, कि गीतामें सांख्य-मार्गकाही प्रतिपादन किया है। परंतु इस रीतिसे गीताका अर्थ किया है, वह गीताके उपक्रमोपसंहारके अत्यंत विरुद्ध है, और इस ग्रंथमें हमने स्थान-स्थानपर स्पष्ट रीतिसे दिखला दिया है, कि गीतामें कर्मयोगको गौण तथा सन्यासको प्रधान मानना वैसेही अनुचित है, जैसे घर-मालिकको कोई उसीके घरमें पाहुना कह दे, और पाहुनेको घर-मालिक ठहरा दे, और जिन लोगोंका मत है, कि गीतामें केवल वेदान्त, केवल भक्ति या सिर्फ पातंजलयोगहीका प्रतिपादन किया गया है, उनके इन मतोंकाभी खंडन हम करही चुके हैं। गीतामें कौन-सी बात नहीं है? वैदिक धर्ममें मोक्ष-प्राप्तिके जितने साधन या मार्ग हैं, उनमेंसे प्रत्येक मार्गका कुछ-न-कुछ भाग गीतामें है, और इतना होनेपरभी, "भूतभृन्न च भूतस्थो"के (गीता ९ ५) न्यायसे गीताका सच्चा रहस्य इन मार्गोंकी अपेक्षा भिन्नही है। सन्यास-मार्ग अर्थात् उपनिषदोंका यह तत्त्व गीताको ग्राह्य है, कि ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, परंतु उसे निष्काम कर्मके साथ जोड देनेके कारण गीता-प्रतिपादित भागवत धर्ममेंही यति-धर्मकाभी सहजही समावेश हो गया है। तथापि गीतामें

सन्यास और वैराग्यका अर्थ यह नही किया है, कि कर्मोको छोड देना चाहिये, किंतु यह कहा है, कि केवल फलाशाकाही त्याग करनेमें सच्चा वैराग्य या सन्यास है और अतमें सिद्धान्त किया है, कि उपनिषत्कारोके कर्म-सन्यासकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मकाडी मीमासकोका यह मतभी गीताको मान्य है, कि यदि केवल यज्ञके लियेही वेदविहित यज्ञयागादि कर्मोका आचरण किया जावे, तो वे वधक नही होते, परतु 'यज्ञ' शब्दका अर्थ विस्तृत करके गीताने उक्त मतमें यह सिद्धान्त और जोड दिया है, कि यदि फलाशा त्याग कर सब कर्म किये जावे, तो यही एक वडा भारी यज्ञ हो जाता है, इस लिये मनुष्यका यही कर्तव्य है, कि वह वर्णाश्रमविहित सब कर्मोको केवल निष्काम बुद्धिसे सदैव करता रहे। सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमसे विषयमें उपनिषत्कारोके मतकी अपेक्षा साख्योका मत गीतामें प्रधान माना गया है, तोभी प्रकृति और पुरुषतकही न ठहर कर, सृष्टिके उत्पत्तिक्रमकी परपरा उपनिषदोमें वर्णित नित्य परमात्मापर्यंत ले जाकर भिडा दी गई है। केवल बुद्धिके द्वारा अध्यात्मज्ञानको प्राप्त कर लेना क्लेशदायक है, इसलिये भागवत या नारायणीय धर्ममें जो कहा है, कि उसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिये, उस वासुदेव-भक्तिकी विधिका वर्णनभी गीतामें किया गया है, परतु इस विषयमेंभी भागवत धर्मकी सब अशोमे कुछ नकल नही की गई है, वरन् भागवत धर्ममेंभी वर्णित जीवके उत्पत्तिविषयक इस मतको वेदान्त-सूत्रकी नाई गीतानेभी त्याज्य माना है, कि वासुदेवसे सकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ है, और भागवत धर्ममें वर्णित भक्तिका तथा उपनिषदोके क्षेत्र-क्षत्रज्ञ-सबधी सिद्धान्तका गीतामें पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके सिवा मोक्ष-प्राप्तिका दूसरा साधन पातजलयोग है। यद्यपि गीताका कहना यह नही कि पातजलयोगही जीवनका मुख्य कर्तव्य है, तथापि गीता यह कहती है, कि बुद्धिको सम करनेके लिये इद्रियनिग्रह करनेकी आवश्यकता है, इसलिये उतने भरके लिये पातजलयोगके यम-नियम-आसन आदि साधनोका उपयोग कर लेन चाहिये। साराश, वैदिक धर्ममें मोक्ष-प्राप्तिके जो जो साधन बतलाये गये है, उन सभीका कुछ-न-कुछ वर्णन, कर्मयोगका सागोपाग विवेचन करनेके समय, गीतामें प्रसगानुसार करना पडा है। यदि इस सब वर्णनोको स्वतत्र माना जाय, तो विसगति उत्पन्न होकर ऐसा आभास होता है, कि गीताके सिद्धान्त परस्पर विरोधी है, और यह आभास भिन्न भिन्न साप्रदायिक टीकाओमे तो औरभी अधिक दृढ हो जाता है। परतु जैसा हमने ऊपर कहा है, उसके अनुसार यदि यह सिद्धान्त किया गया, कि ब्रह्मज्ञान और भक्तिका मेल करके अतमे उसके द्वारा कर्मयोगका समर्थन करनाही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, तो ये सब विरोध लुप्त हो जाते है और पूर्ण व्यापक दृष्टिको स्वीकार कर जिस अलौकिक चातुर्यसे गीताके तत्त्वज्ञानके साथ भक्ति तथा कर्मयोगका यथोचित मेल कर दिया गया है, उसको देख दाँतो तले अगुली दवाकर रह जाना पडता है। गगामें कितनीही नदियाँ क्यो न आ मिले,

परन्तु इससे उसका मूल स्वरूप नही बदलता, बस, ठीक यही हाल गीताकाभी है। उसमें सब कुछ भलेही हो, परतु उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो कर्मयोगही है। यद्यपि इस प्रकार कर्मयोगही मुख्य विषय है, तथापि कर्मके साथही मोक्ष-धर्मके मर्मकाभी इसमें भली भाँति निरूपण किया गया है, इसलिये कार्य-अकार्यका निर्णय करनेके हेतु बतलाया गया यह गीता-धर्मही – "स हि धर्म सुपर्याप्तो ब्रह्मण पदवेदने" (मभा अश्व १६ १२) – ब्रह्मकी प्राप्ति करा देनेके लियेभी पूर्ण समर्थ है, और भगवानने अर्जुनसे अनुगीताके आरभमें स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि इस मार्गसे चलनेवालेको मोक्ष-प्राप्तिके लिये किसीभी अन्य अनुष्ठानकी आवश्यकता नही है। हम जानते हैं, कि सन्यास-मार्गके उन लोगोको हमारा उपरोक्त कथन रोचक प्रतीत न होगा, जो यह प्रतिपादन किया करते है, कि विना सब व्यावहारिक कर्मोका त्याग किये मोक्षकी प्राप्ति होती नही, परतु इसके लिये कोई अन्य उपाय नही है। गीता-ग्रथ न तो सन्यास-मार्गका है और न निवृत्ति-प्रधान किसी दूसरेही पथकाभी। इतनाही नही, तो गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति इसीलिये हुई है, कि वह ब्रह्मज्ञानकी दृष्टिसे ठीक ठीक युक्तिसहित इस प्रश्नका उत्तर दे, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपरभी कर्मोका सन्यास करना अनुचित क्यो है? इसलिये सन्यास-मार्गके अनुयायियोको चाहिये, कि वे गीताकोभी 'सन्यास देने' की झझटमें न पड 'सन्यास-मार्ग-प्रतिपादक' जो अन्य वैदिक ग्रथ है, उन्हीसे सतुष्ट रहे। अथवा गीतामें सन्यास-मार्गकोभी भगवानने जिस निरभिमान बुद्धिसे नि श्रेयस्कर कहा है, उसी सम-बुद्धिसे साख्यमार्गवालोकोभी यह कहना चाहिये, कि "परमेश्वरका हेतु यह है, कि ससार चलता रहे, और जब कि इसीलिये वह बार बार अवतार धारण करता है, तब ज्ञानप्राप्तिके अनतर निष्कामबुद्धिसे व्यावहारिक कर्मोको करते रहनेके जिस मार्गका उपदेश भगवानने गीतामें दिया है, वही मार्ग कलिकालमें उपयुक्त है।" – और ऐसा कहनाही उनके लिये सर्वोत्तम पक्ष है।

पंद्रहवाँ प्रकरण

उपसंहार

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।*

— गीता ८ ७

चाहे आप गीताके अध्यायोंकी सगति या मेल देखिये, या उन अध्यायोंके विषयोका मीमासकोंकी पद्धतिसे पृथक् पृथक् विवेचन कीजिये, किसीभी दृष्टिसे विचार कीजिये, अतमें गीताका यही सच्चा तात्पर्य सिद्ध होता कि "ज्ञान भक्ति-युक्त कर्मयोग"ही गीताका सार है, अर्थात् साप्रदायिक टीकाकारोंने कर्मयोगको गौण ठहरा कर गीताके जो अनेक प्रकारके तात्पर्य बतलाये है, वे यथार्थ नही, हैं, किंतु उपनिषदोंमें वर्णित अद्वैत वेदान्तका भक्तिके साथ मेल कर उसके द्वारा बडे बडे कर्मवीरोंके चरित्रोंका रहस्य या उनके जीवनक्रमकी उपपत्ति बतलानाही गीताका सच्चा तात्पर्य है। मीमासकोंके कथनानुसार केवल श्रौत-स्मार्त कर्मोंको सदैव करते रहना भलेही शास्त्रोक्त हो; तोभी ज्ञानरहित केवल तात्विक क्रियासे बुद्धिमान् मनुष्यका समाधान नही होता, और यदि उपनिषदोंमें वर्णित धर्मको देखें, तो वह केवल ज्ञानमय होनेके कारण अल्प-बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये अत्यत कष्टसाध्य है। इसके सिवा एक और बात है, उपनिषदोंका सन्यास-मार्गभी लोक-सग्रहका बाधक है, इसलिये भगवानने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान और निष्काम कर्मविषयक धर्मका उपदेश गीतामें किया है, कि जिसका पालन आमरण किया जावे, जिससे बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति) और कर्तव्यका ठीक ठीक मेल हो जावे, मोक्षकी प्राप्तिमें कुछ अतर न पडने पावे, और लोक-व्यवहारभी सरलतासे होता रहे। इसीमें कर्म-अकर्मके शास्त्रका सब सार भरा हुआ है। अधिक क्या कहे, गीताके उपक्रम-उपसहारसे यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि अर्जुनको इस धर्मका उपदेश करनेमें कर्म-अकर्मका विवेचनही मूल कारण है। इस बातका विचार दो तरहसे किया जाता है, कि किस कर्मको धर्म्य, पुण्यप्रद, न्याय्य या श्रेयस्कर कहना चाहिये, और किस कर्मको इसके विरुद्ध अर्थात् अधर्म्य, पापप्रद, अन्याय्य या गर्ह्य कहना चाहिये। पहली रीति यह है, कि उपपत्ति, कारण या मर्म न बतलाकर केवल यह कह दे, कि किसी कामको अमुक रीतिसे करो, कि तो वह शुद्ध होगा, और अन्य रीतिसे करो, तो अशुद्ध हो जायगा। उदाहरणार्थ — हिंसा मत करो, चोरी मत

* "इसलिये सदैव मेरा स्मरण कर और लडाई कर।" लडाई कर — शब्दकी योजना यहांपर प्रसगानुसार की गई है, परतु उसका अर्थ केवल 'लडाई कर' ही नही है, यह अर्थभी समझा जाना चाहिये, कि "यथाधिकार कर्म कर।"

करो, सच बोलो, धर्माचरण करो, इत्यादि बातें इसी प्रकारकी है। मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रथोमें तथा उपनिषदोमे ये विधियाँ, आज्ञाएँ अथवा आचार स्पष्ट रीतिसे वतलाये गये है। परतु मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, इसलिये उसका समाधान केवल ऐसी विधियो या आज्ञाओसे नही हो सकता, क्योकि मनुष्यकी यही स्वाभाविक इच्छा होती है, कि वह उन नियमोके बनाय जानेका कारणभी जान ले, और इसलिये वह विचार करके इन नियमोके नित्य तथा मूल तत्त्वकी खोज करता है—वस, यही दूसरी रीति है, कि जिसमें कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिका विचार किया जाता है। व्यावहारिक धर्मके अतको इस रीतिसे देखकर उसके मूल तत्त्वोको ढूंढ निकालना शास्त्रका काम है, तथा उस विषयके केवल नियमोको एकत्र करके वतलाना आचारसग्रह कहलाता है। कर्ममार्गका आचार-सग्रह स्मृति-ग्रथोमे है, और उनके आचारोंके मूल तत्त्वोका शास्त्रीय अर्थात् तात्त्विक विवेचन भगवद्गीतामें सवाद-पद्धतिसे या पौराणिक रीतिसे किया गया है। अतएव भगवद्गीताके प्रतिपाद्य विषयको केवल **कर्मयोग** न कहकर **कर्मयोगशास्त्र** कहनाही अधिक उचित तथा प्रशस्त होगा, और यही **योगशास्त्र** शब्द भगवद्गीताके अध्याय-समाप्ति-सूचक सकल्पमें आया है। जिन पश्चिमी पडितोंने पारलौकिक दृष्टिको त्याग दिया है या जो लोग उसे गौण मानते है, वे गीतामें प्रतिपादित कर्मयोगशास्त्रकोही भिन्न भिन्न लौकिक नाम दिया करते है—जैसे सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमासा, नीतिशास्त्रके मूल तत्त्व, कर्तव्यशास्त्र, कार्य-अकार्य व्यवस्थिति, समाजधारणा-शास्त्र इत्यादि। इन लोगोकी नीति-मीमासाकी पद्धतिभी लौकिकही रहती है। इसी कारणसे ऐसे पाश्चात्य पडितोंके ग्रथोका जिन्होने अवलोकन किया है, उनमेंसे वहुतोकी यह समझ हो जाती है, कि सस्कृत साहित्यमें सदाचरण या नीतिके मूल तत्त्वोकी चर्चा किसीने नही की है। वे कहने लगते है कि, "हमारे यहाँ जो कुछ गहन तत्त्वज्ञान है, वह सिर्फ हमारा वेदान्तही है, और वर्तमान वेदान्त-ग्रथोको देखो, तो मालूम होगा, कि वे सासारिक कर्मोंके विषयमें प्राय उदासीन है। ऐसी अवस्थामें कर्मयोगशास्त्रका अथवा नीतिका विचार कहाँ मिलेगा? यह विचार व्याकरण अथवा न्यायके ग्रथोमें तो मिलनेवाला हैही नही, और स्मृति-ग्रथोमें धर्मशास्त्रके सग्रहके सिवा और कुछभी नहीं, इसलिये हमारे प्राचीन शास्त्रकार, मोक्षहीके गूढ विचारोमें निमग्न होनेके कारण सदाचरणके या नीतिधर्मके मूल-तत्त्वोका विवेचन करना भूल गये!" परतु महाभारत और गीताको ध्यानपूर्वक पढनेसे यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है। इतनेपरभी कुछ लोग कहते है, कि महाभारत एक अत्यत विस्तीर्ण ग्रथ है, इसलिये उसको पढ़कर पूर्णतया मनन करना वहुतही कठिन है, और गीता यद्यपि एक छोटा-सा ग्रथ है तोभी उसमे साप्रदायिक टीकाकारोके मतानुसार केवल मोक्ष-प्राप्तिहीका ज्ञान वतलाया गया है। परतु किसीने इस वातको नही जाँचा, कि सन्यास और कर्मयोग, दोनो मार्ग हमारे यहाँ वैदिक कालसेही

प्रचलित हैं, किसीभी समय समाजमें सन्यास-मार्गियोंकी अपेक्षा कर्मयोगमेंही अनुयायियोकी सख्या हजारो गुना अधिक हुआ करती है, और, पुराण-इतिहासके जिन कर्मशील महापुरुषोका अर्थात् कर्मवीरोका वर्णन है, वे सव कर्मयोग-मार्गकाही अवलव करनेवाले थे। यदि थे मव वाते सच हैं, तो क्या इन कर्मवीरोंसे किसीकोभी यह नही सूझा होगा, कि अपने कर्मयोग-मार्गका समर्थन किया जाना चाहिये?) अच्छा, यदि कहा जाय, कि उस समय जितना ज्ञान था, वह सव ब्राह्मण जातिमेंही था, और वेदान्ती ब्राह्मण कर्म करनेके विषयमें उदासीन रहा करते थे, इसलिये कर्मयोगविषयक ग्रथ नही लिखे गये होंगे, तोभी यह आक्षेप उचित नही कहा जा सकता, क्योंकि उपनिषत्कालमें और उसके वाद क्षत्रियोंमेंभी जनक और श्रीकृष्ण सरीखे ज्ञानी पुरुष हो गये हैं, और व्याससदृश बुद्धिमान् ब्राह्मणोंने वडे वडे क्षत्रियोका इतिहासभी लिखा है। इस इतिहासको लिखते समय क्या उनके मनमें यह विचार न आया होगा, कि जिन प्रसिद्ध पुरुषोका इतिहास हम लिख रहे हैं, उनके चरित्रके मर्म या रहस्यकोभी प्रकट कर देना चाहिये? इस मर्म या रहस्यको कर्मयोग अथवा व्यवहारशास्त्र कहते हैं, (और इसे वतलानेके लियेही महाभारतमें स्थान-स्थानपर सूक्ष्म धर्म-अधर्मका विवेचन करके, अतमें ससारके धारण एव पोषणके लिये कारणभूत सदाचरण अर्थात् धर्मके मूल तत्त्वोका विवेचन मोक्ष-दृष्टिको न छोडते हुए गीतामें किया गया है)। अन्यान्य पुराणोंमें भी ऐसे वहुतसे प्रसग पाये जाते हैं। परतु गीताके तेजके सामने अन्य सव विवेचन फीके पड जाते हैं, इसी कारणसे भगवद्गीता कर्मयोग-शास्त्रका प्रधान ग्रथ हो गया है। हमने इस वातका पिछले प्रकरणोमें विस्तृत विवेचन किया है, कि कर्मयोगका सच्चा स्वरूप क्या है। तथापि जवतक इस वातकी तुलना न की जावे, कि गीतामें वर्णन किये गये कर्म-अकर्मके आध्यात्मिक मूल तत्त्वोंसे पश्चिमी पडितो द्वारा प्रतिपादित नीतिके मूलतत्त्व कहाँ तक मिलते हैं, तवतक यह नहीं कहा जा सकता, कि गीता-धर्मका निरूपण पूरा हो गया। इस प्रकार तुलना करते समय दोनो ओरके अध्यात्मज्ञानकीभी तुलना करनी चाहिये। परतु यह वात सर्वमान्य है, कि अवतक पश्चिमी आध्यात्मिक ज्ञानकी पहुँच हमारे वेदान्तसे अधिक दूरतक नही होने पाई है, इसी कारणसे पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मशास्त्रोकी तुलना करनेकी कोई विशेष आवश्यकता नही रह जाती।* ऐसी अवस्थामें अव केवल उस नीति-

---

* वेदान्त और पश्चिमी तत्त्वज्ञानकी तुलना प्रोफेसर डायसनके *The Elements of Metaphysics* नामक ग्रथमें कई स्थानोमें की गई है। इस ग्रथके दूसरे सस्करणके अतमे 'On the Philosophy of Vedanta' इस विषयपर एक व्याख्यानभी छापा गया है। जव प्रो डायसन सन १८९३ में हिंदुस्थानमें आयेथे, तव उन्होंने ववईकी रायल एशियाटिक सोसायटीमें यह व्याख्यान दिया था। इसके अतिरिक्त *The Religion and Philosophy of the Upanishads* नामक डायसनसाहवका ग्रथभी इस विषयपर पढ़ने योग्य है।

शास्त्रकी अथवा कर्मयोगकी तुलनाकाही विपय वाकी रह जाता है, जिसके वारेमे कुछ लोगोकी समझ है, कि इसकी उपपत्ति हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने नही वतलाई है। परतु इस एकही विषयका विचारभी इतना विस्तृत है, कि उसका पूर्णतय प्रतिपादन करनेके लिये एक स्वतत्र ग्रथही लिखना पडेगा। तथापि, इस विपयपर इस ग्रथमे थोडाभी विचार न करना उचित न होगा, इसलिये केवल दिग्दर्शन करनेके लिये उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण वातोका विवेचन इस उपसहारमे किया जावेगा।

(थोडाभी विचार करनेपर यह सहजही ध्यानमें आ सकता है, कि सदाचार और दुराचार, तथा धर्म और अधर्म शब्दोका उपयोग यथार्थमें ज्ञानवान् मनुष्यके कर्मकेही लिये होता है, और यही कारण है, कि नीतिमत्ता केवल जड कर्मोंमें नही किंतु वुद्धिमें रहती है। "धर्मो हि तेषामधिको विशेष." — धर्म-अधर्मका ज्ञान मनुष्यका अर्थात् वुद्धिमान् प्राणियोकाही विशिष्ट गुण है — इस वचनका तात्पर्य और भावार्थही वही है।) किसी गधे या वैलके कर्मोंके परिणामको देखकर हम उसे उपद्रवी तो वेशक कहा करते है, परतु जव वह धक्का देता है, तव उसपर कोई नालिश करने नही जाता। इसी तरह किसी नदीमे वाढ आ जानेसे फसल वह जाती है, तो "अधिकाश लोगोकी अधिक हानि" होनेके कारण कोई उसे दुराचारिणी, लुटेरी, या अनीतिमान् नही कहता। इसपर कोई प्रश्न कर सकते है, कि यदि धर्म-अधर्मके नियम मनुष्यके व्यवहारोहीके लिये उपयुक्त हुआ करते है, तो मनुष्यके कर्मोके भले-बुरेपनका विचारभी केवल उसके कर्ममेही करनेमें क्या हानि है? इस प्रश्नका उत्तर देना कुछ कठिन नही। क्योकि अचेतन वस्तुओ अथवा पशुपक्षी आदि मूढ योनिके प्राणियोका दृष्टान्त छोड, यदि मनुष्यकेही कृत्योका विचार करें, तोभी दीख पडेगा, कि जव कोई आदमी अपने पागलपनसे अथवा अनजानेमे कोई अपराध कर डालता है, तव वह ससारमें और कानून द्वारा क्षम्य माना जाता है। इसमे यही वात सिद्ध होती है, कि (मनुष्यकेभी कर्म-अकर्मकी भलाई-वुराई ठहरानेके लिये, सवसे पहले कर्ताकी वुद्धिकाही विचार करना पडता है — अर्थात् यह विचार करना पडता है, कि उसने उस कार्यको किस उद्देश्य, भाव या हेतुसे किया, और उसको उस कर्मके परिणामका ज्ञान था या नही। किसी धनवान् मनुष्यके लिये यह कोई कठिन काम नही, कि वह अपनी इच्छाके अनुसार मन-माना दान दे दें। यह दानविपयक काम 'अच्छा' भलेही हो, परंतु उसकी सच्ची नैतिक योग्यता उस दानकी स्वाभाविक क्रियासे नही ठहराई जा सकती। इसके लिये यहभी देखना पडेगा, कि उस धनवान् मनुष्यकी वुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है, या नही, और इसका निर्णय करनेके लिये यदि स्वाभाविक रीतिसे किये गये दानके सिवा और कुछ प्रमाण न हो, तो इस दानकी योग्यता किसी श्रद्धापूर्वक किये गये दानकी योग्यताके वरावर नही समझी जाती, और कुछ नही, तो सदेह करनेके लिये उचित कारण अवश्य रह जाता है। सव धर्म-अधर्मका विवेचन हो जानेपर महाभारतमें यही वात एक आख्यानके स्वरूपमे उत्तम रीतिसे समझाई

गई है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके, तब उन्होंने एक बृहत् अश्वमेध-यज्ञ किया। उसमे अन्न और द्रव्य आदिके अपूर्व दान करनेसे और लाखो मनुष्योंके सतुष्ट होनेसे उनकी बहुत प्रशसा होने लगी। उस समय वहाँ एक दिव्य नकुल (नेवला) आया, और युधिष्ठिरसे कहने लगा – "तुम्हारी व्यर्थही प्रशसा की जाती है। पूर्वकालमें इसी कुरुक्षेत्रमें एक दरिद्री ब्राह्मण रहता था, जो उछवृत्तिसे अर्थात् खेतोमें गिरे हुए अनाजके दानोको चुनकर, अपना जीवन-निर्वाह किया करता था। एक दिन भोजन करनेके समय उसके यहाँ एक अपरिचित आदमी क्षुधासे पीडित अतिथि बन कर आ गया। यह दरिद्री ब्राह्मण और उसके कुटुबी-जनभी कई दिनोंके भूखे थे, तोभी उसने अपने, अपनी स्त्रीके और अपने लडकोके सामने परोसा हुआ सब सत्तू उस अतिथिको समर्पण कर दिया। इस प्रकार उसने जो अतिथि-यज्ञ किया था, उसके महत्त्वकी बराबरी तुम्हारा यह यज्ञ – कितनाही बडा क्यो न हो – कभी नही कर सकता" (मभा अश्व ९०)। उस नवलेका मुँह और आधा शरीर सोनेका था। उसने जो यह कहा, कि युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञकी योग्यता उस गरीब ब्राह्मणद्वारा अतिथिको दिये गये सेर भर सत्तूके बराबरभी नही है, उसका कारण उसने यह बतलाया है, कि – "उस ब्राह्मणके घरमे अतिथिकी जूठनपर लोटनेसे मेरा मुँह और आधा शरीर सोनेका हो गया, परतु युधिष्ठिरके यज्ञमडपकी जूठन पर लोटनेसे मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोनेका नही हो सका!" यहाँपर कर्मके बाह्य परिणामकोही देख कर यदि इसी बातका विचार करें – कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख किसमें है – तो यही निर्णय करना पडेगा, कि एक अतिथिको तृप्त करनेकी अपेक्षा लाखो आदमियोको तृप्त करनेकी योग्यता लाखगुनी अधिक है। परतु प्रश्न यह है, कि केवल धर्म-दृष्टिसेही नही, किंतु नीति-दृष्टिसेभी क्या यह निर्णय ठीक होगा? किसीको अधिक धन-सपत्ति मिल जाना या लोकोपयोगी अनेक अच्छे काम करनेका मौका मिल जाना केवल उसके सदाचारपरही अवलबित नही रहता है। यदि वह गरीब ब्राह्मण द्रव्यके अभावसे बडा भारी यज्ञ नही कर सकता था, और इसलिये यदि उसने अपनी शक्तिके अनुसार कुछ अल्प और तुच्छ कामही किया, तो क्या उसकी नैतिक या धार्मिक योग्यता कम समझी जायगी? यदि कम समझी जावे तो यही कहना पडेगा, कि गरीबोको धनवानोके सदृश नीतिमान् और धार्मिक होनेकी कभी इच्छा और आशा नही रखनी चाहिये। आत्म-स्वातत्र्यके अनुसार अपनी बुद्धिको शुद्ध रखना उस ब्राह्मणके अधिकारमे था, और यदि उसके स्वल्पाचरणसे इस बातमें कुछ सदेह नही रह जाता, कि उसकी परोपकार बुद्धि युधिष्ठिरकेही समान शुद्ध थी, तो उस ब्राह्मणकी और उसके स्वल्पकृत्यकी नैतिक योग्यता युधिष्ठिरके और उसके बहु-व्ययसाध्य-यज्ञके बराबरकीही मानी जानी चाहिये। बल्कि यहभी कहा जा सकता है, कि कई दिनोतक क्षुधासे पीडित होनेपरभी उस गरीब ब्राह्मणने अन्नदान करके अतिथिके प्राण बचानेमें जो स्वार्थत्याग किया, उससे उसकी शुद्ध बुद्धि औरभी अधिक

व्यक्त होती है। यह तो सभी जानते है, कि धैर्य आदि गुणोके समान शुद्ध बुद्धिकी सच्ची परीक्षा सकटकालमेही हुआ करती है, और काटनेभी अपने नीतिग्रथके आरभमें यही प्रतिपादन किया है, कि सकटके समयभी जिसकी शुद्ध बुद्धि (नैतिक सत्त्व) भ्रष्ट नही होती, वही सच्चा नीतिमान् है। उक्त नेवलेका अभिप्रायभी यही था। परतु युधिष्ठिरकी शुद्ध बुद्धिकी परीक्षा कुछ राज्यारूढ होनेपर सपत्तिकालमें किये गये एक अश्वमेध-यज्ञमेही होनेकी न थी, उसके पहलेही अर्थात् आपत्तिकालकी अनेक अडचनोके प्रसगोपर ब्राह्मणके समानही उसकी पूरी परीक्षा हो चुकी थी। इसीलिये महाभारतका यह सिद्धान्त है, कि धर्म-अधर्मके निर्णयके सूक्ष्म न्यायसेभी युधिष्ठिरको धार्मिकही कहना चाहिये। कहना नही होगा, कि वह नेवला निदक ठहराया गया है। तथापि महाभारतमें यह वर्णन है, कि अश्वमेध करनेवालेको जो गति मिलती है, वही उस ब्राह्मणकोभी मिली। इससे यही सिद्ध होता है, कि उस ब्राह्मणके कर्मकी योग्यता युधिष्ठिरके यज्ञकी अपेक्षा अधिक भलेही नहो, तथापि इसमें सदेह नही, कि महाभारतकार उन दोनोकी नैतिक और धार्मिक योग्यता एकसमान मानते है। व्यावहारिक कार्योको देखनेसेभी मालूम हो सकता है, कि जब किसी धर्मकृत्यके लिये या लोकोपयोगी कार्यके लिये लखपति मनुष्य हजार रुपये चदा देता है और कोई गरीब मनुष्य एक रुपया चदा देता है, तब हम लोग उन दोनोकी नैतिक योग्यता एक समानही समझते है। 'चदा' शब्दको देखकर यह दृष्टान्त कुछ लोगोको कदाचित् नया मालूम हो, परतु यथार्थमें बात ऐसी नही है, क्योकि उक्त नेवलेकी कथाका निरूपण करते समय महाभारतमेंही धर्म-अधर्मके विवेचनमें कहा गया है, कि –

सहस्रशक्तिश्च शत शतशक्तिर्दशापि च ।
दद्यादपश्च य. शक्त्या सर्वे तुल्यफला स्मृता ॥

"हजारवालेने सौ, सौवालेने दस, अथवा किसीने यथाशक्ति थोडासा पानीभी दिया, तोभी ये सब तुल्यफल है, अर्थात् इन सबकी योग्यता एकसमान है" (मभा अश्व ९० ९७), और "पत्र पुष्प फल तोय" (गीता ९ २६)– इस गीतावाक्यका तात्पर्यभी यही है। हमारे धर्ममेंही क्या, ईसाई धर्ममेंभी इस तत्त्वका सग्रह है। ईसा मसीहने एक जगह कहा है – "जिसके पास अधिक है, उससे अधिक पानेकी आशा की जाती है" (ल्यूक १२ ४८)। इक दिन जब ईसा मदिर (गिरिजाघर) गया था, तब वहाँ धर्मार्थ द्रव्य इकठ्ठा करनेका काम शुरू होनेपर एक अत्यत गरीब विधवा स्त्रीने अपने पासके दो पैसे उस धर्मकार्यके लिये दे दिये। यह देखकर ईसाके मुँहसे यह उद्‌गार निकल पडा, कि "इस स्त्रीने अन्य सब लोगोकी अपेक्षा अधिक दान दिया है।" इसका वर्णन बाइबलमें (मार्क १२ ४३, ४४) है। इससे यह स्पष्ट है, कि यह बात ईसाकोभी मान्य थी, कि कर्मकी योग्यता कर्ताकी बुद्धिमेही निश्चित की जानी चाहिये, और यदि कर्ताकी बुद्धि शुद्ध हो, तो

बहुधा छोटे छोटे कर्मोकी नैतिक योग्यताभी बडे बडे कर्मोकी योग्यताके बराबरही हो जाती है। इसके विपरीत – अर्थात् जब बुद्धि शुद्ध न हो तब – किसी कर्मकी नैतिक योग्यताका विचार करनेपर यह मालूम होगा, कि यद्यपि हत्या करना केवल एकही कर्म है, तथापि अपनी जान बचानेके लिये आक्रमणकारीकी हत्या करनेमें और किसी राह चलते धनवान् मुसाफिरको द्रव्यके लोभसे मार डालनेमें, नैतिक दृष्टिसे बहुत अतर है। जर्मन कवि शिलरने इसी आशयके एक प्रसगका वर्णन अपने 'विलियम टेल' नामक नाटकके अतमे किया है, और वहाँ बाह्यत एकहीसे दीख पडनेवाले दो कृत्योमें बुद्धिकी शुद्धता-अशुद्धताके कारण जो भेद दिखलाया गया है, वही भेद स्वार्थत्याग और स्वार्थके लिये की गई हत्यामेभी है। (इससे मालूम होता है, कि कर्म छोटे-बडे हो या बराबर हो, उनमे नैतिक दृष्टिसे जो भेद हो जाता है, वह कर्ताके हेतुके कारणही हुआ करता है। इस हेतुकोही उद्देश्य, वासना या बुद्धि कहते है। इसका कारण यह है, कि 'बुद्धि' शब्दका शास्त्रीय अर्थ यद्यपि 'व्यवसायात्मक इन्द्रिय' है, तोभी ज्ञान, वासना, उद्देश्य या हेतु सब बुद्धीन्द्रियके व्यापारकेही फल है, अतएव इनके लियेभी बुद्धि शब्दहीका सामान्यत प्रयोग किया जाता है, और पहलेभी यह बतलाया जा चुका है, कि स्थितप्रज्ञकी साम्य-बुद्धिमें व्यवसायात्मक बुद्धिकी स्थिरता और वासनात्मक बुद्धिकी शुद्धता, दोनोका समावेश होता है,) भगवानने अर्जुनसे कुछ यह सोचनेको नही कहा, कि युद्ध करनेसे कितने मनुष्योका कितना कल्याण होगा और कितने लोगोकी कितनी हानि होगी, बल्कि अर्जुनसे भगवान् यही कहते है, कि इस समय यह विचार गौण है, कि तुम्हारे युद्ध करनेसे भीष्म मरेंगे कि द्रोण, मुख्य प्रश्न यही है, कि तुम किस बुद्धि (हेतु या उद्देश्य) से युद्ध करनेको तैयार हुए हो। यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञोके समान होगी, और यदि तुम उस शुद्ध और पवित्र बुद्धिसे अपना कर्तव्य करने लगोगे, तो फिर चाहे भीष्म मरे या द्रोण, तुम्हे उसका पाप नही लगेगा। तुम कुछ इस फलकी आशासे तो युद्ध करही नही रहो हो, कि भीष्म मारे जाएँ। जिस राज्यपर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसका हिस्सा तुमने माँगा, और युद्ध टालनेके लिये यथाशक्ति गम खाकर बीच-बचाव करनेकाभी तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया। परतु जब इस मेलके प्रयत्नसे और साधुपनके मार्गसे निर्वाह नही हो सका, तब लाचारीसे तुमने युद्ध करनेका निश्चय किया है, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नही है। (क्योकि दुष्ट मनुष्यसे किसी ब्राह्मणकी नाई अपने धर्मानुसार प्राप्त अधिकारकी भिक्षा न माँगते हुए, आवश्यकता आ पडनेपर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार लोकसग्रहार्थ उसकी प्राप्तिके लिये अतमें युद्ध करनाही तुम्हारा कर्तव्य है) (सभा उ २८, ७२, वनपर्व ३३ ४८, ५०)। भगवानके उक्त युक्तिवादको व्यासजीनेभी स्वीकार किया है, और, उन्होंने इसीके द्वारा आगे चलकर शातिपर्वमें युधिष्ठिरका समाधान किया है (शा अ ३२, ३३)। परतु कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये बुद्धिको इस तरहसे श्रेष्ठ

मान ले, तोभी अब यह अवश्य जान लेना चाहिये, कि शुद्ध बुद्धि किसे कहते है। क्योकि, मन और बुद्धि दोनो प्रकृतिके विकार है, इसलिये वे स्वभावत तीन प्रकारके अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते है। इसलिये गीतामें कहा है, कि शुद्ध या सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जो बुद्धिसेभी परे रहनेवाले नित्य आत्माके स्वरूपको पहचाने, और यह पहचान कर, कि सब प्राणियोमें एकही आत्मा है, उसीके अनुसार कार्य-अकार्यका निर्णय करे। इस सात्त्विक बुद्धिकाही दूसरा नाम साम्यबुद्धि है, और इसके 'साम्य' शब्दका अर्थ "सर्वभूतान्तर्गत आत्माकी एकता या समानताको पहचाननेवाली" है। जो बुद्धि इस समानताको नही जानती, वह न तो शुद्ध है और न सात्त्विकभी। इस प्रकार जब यह मान लिया गया, कि नीतिका निर्णय करनेमें साम्य-बुद्धिही श्रेष्ठ है, तब यह प्रश्न उठता है, कि बुद्धिकी इस समता अथवा साम्यको कैसे पहचानना चाहिये? क्योकि बुद्धि तो अतरिंद्रिय है, इसलिये उसका भलाबुरापन हमारी आँखोसे दीख नही पडता। अत बुद्धिकी समता तथा शुद्धताकी परीक्षा करनेके लिये पहले मनुष्यके बाह्य आचरणको देखना चाहिये, नही तो कोईभी मनुष्य ऐसा कह कर – कि मेरी बुद्धि शुद्ध है – मनमाना बर्ताव करने लगेगा। इसीसे शास्त्रोका सिद्धान्त है, कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी पहचान उसके स्वभावसेही हुआ करती है। जो केवल मुंहसे कोरी बाते करता है, वह सच्चा साधु नही। भगवद्गीतामेभी स्थितप्रज्ञ तथा भगवद्भक्तोके लक्षण बतलाते समय खास करके इसी बातका वर्णन किया गया है, कि वे ससारके अन्य लोगोके साथ कैसा बर्ताव करते है, और तेरहवे अध्यायमें ज्ञानकी व्याख्याभी इसी प्रकार – अर्थात् यह बतलाकर, कि स्वभावपर ज्ञानका क्या परिणाम होता है – की गई है। इससे यह साफ मालूम होता है, कि गीता यह कभी नही कहती, कि बाह्य कर्मोकी ओर कुछभी ध्यान न दो। परतु इस बातपर ध्यान देना चाहिये, कि किसी मनुष्यकी विशेषकरके अपरिचित मनुष्यकी – बुद्धिकी समताकी परीक्षा करनेके लिये यद्यपि केवल उसका बाह्य कर्म या आचरण और, उसमेभी, सकट-समयका आचरणही प्रधान साधन है, तथापि केवल इस बाह्य आचरण द्वाराही नीतिमत्ताकी अचूक परीक्षा हमेशा नही हो सकती। क्योकि उक्त नकुलोपाख्यानसे यह सिद्ध हो चुका है, कि यदि बाह्य कर्म छोटाभी हो, तथापि विशेष अवसरपर उसकी नैतिक योग्यता बडे कर्मोकेही बराबर हो जाती है। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोने यह सिद्धान्त किया है, कि बाह्य-कर्म चाहे छोटा हो या बडा, एकहीको सुख देनेवाला हो या अधिकाश लोगोको, उसको केवल बुद्धिकी शुद्धताका एक प्रमाण मानना चाहिये, इससे अधिक महत्त्व उसे नही देना चाहिये। किंतु उस बाह्य-कर्मके आधारपर पहले यह देख लेना चाहिये, कि कर्म करनेवालेकी बुद्धि कितनी शुद्ध है, और अतमें इस रीतिसे व्यक्त होनेवाली बुद्धिके आधारपरही उक्त कर्मकी नीतिमत्ताका निर्णय करना चाहिये, यह निर्णय केवल बाह्य-कर्मोको देखनेसे ठीक नही हो सकता। यही कारण है, कि

"कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है" (गीता २ ४९) ऐसा कहकर गीताके कर्मयोगमें सम और शुद्ध-बुद्धिको अर्थात् वासनाकोही प्रधानता दी गई है। नारद-पंचरात्र नामक भागवतधर्मका गीतासे अर्वाचीन एक ग्रंथ है। उसमें मार्कंडेय नारदसे कहते हैं –

मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम्।
मनोनुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ।

"मनही लोगोंके सब कर्मोंका एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है, वैसीही बात निकलती है, और बातचीतसे मन प्रकट होता है" (ना प १ ७ १८)। सारांश यह है, कि मन (अर्थात् मनका निश्चय) सबसे प्रथम है, उसके अनन्तर सब कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये गीताके शुद्ध-बुद्धिके सिद्धान्तकोही बौद्ध ग्रंथकारोंने स्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ, 'धम्मपद' नामक बौद्ध-धर्मीय प्रसिद्ध नीतिग्रंथके आरंभमेंही कहा है, कि –

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा (श्रेष्ठा) मनोमया ।।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ।।

"मन याने मनका व्यापार प्रथम है। उसके अनंतर धर्म-अधर्मका आचरण होता है। ऐसा क्रम होनेके कारण इस काममें मनही मुख्य और श्रेष्ठ है, इसलिये इन सब धर्मोंको मनोमयही समझना चाहिये, अर्थात् कर्ताका मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके भाषण और कर्मभी भले-बुरे हुआ करते हैं, तथा उसी प्रकार आगे उसे सुख-दुःख मिलता है।"* इसी तरह उपनिषदों और गीताका यह अनुमानभी (कौषी ३ १, गीता १८ १७) बौद्ध धर्ममें हो गया है, कि जिसका मन एक बार पूर्ण शुद्ध और निष्काम हो जाता है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुषसे फिर कभी पाप होना संभव नहीं, अर्थात् सब कुछ करकेभी वह पाप-पुण्यसे अलिप्त रहता है। इसलिये बौद्ध धर्म-ग्रंथोमें अनेक स्थलोंपर वर्णन किया गया है, कि 'अर्हत्' अर्थात् पूर्णावस्थामें पहुँचा हुआ मनुष्य हमेशाही शुद्ध और निष्पाप रहता है (धम्मपद २९४, २९५, मिलिंद प्र ४ ५ ७)।

पश्चिमी देशोंमें नीतिका निर्णय करनेके लिये दो पंथ हैं पहला आधिदैवत पंथ, जिसके अनुसार, नीतिका निर्णय करनेके लिये सदसद्विवेक-देवताकी शरणमें

---

* पाली भाषाके इस श्लोकका भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु जहाँतक हम समझते हैं, इस श्लोककी रचना इसी तत्त्वपर की गई है, कि कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये मानसिक स्थितिका विचार अवश्य करना पडता है। 'धम्मपद'का मैक्समूलर साहबने अंग्रेजीमें भाषांतर किया है, उसमें इस श्लोककी टीका देखिये। S B E Vol X, pp 3-4

जाना पडता है, और दूसरा आधिभौतिक पथ है, कि जो इस वाह्य कसौटीके द्वाराही नीतिका निर्णय करनेके लिये कहता है, कि "अधिकाश लोगोका अधिक हित किसमे है ? " परतु ऊपर किये गये विवेचनसे यह स्पष्ट मालूम हो सकता है, कि ये दोनो पथ शास्त्र-दृष्टिसे अपूर्ण तथा एकपक्षीय है। कारण यह है, कि सदसद्विवेकशक्ति कोई स्वतन्न वस्तु या देवता नही, किंतु वह व्यवसायात्मका वुद्धिमेंही शामिल है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति और स्वभावके अनुसार उसकी सदसद्विवेकवुद्धिभी सात्त्विक, राजस या तामस हुआ करती है। ऐसी अवस्थामें उसका कार्य-अकार्य निर्णय सदैव दोषरहित नही हो सकता, और यदि केवल "अधिकाश लोगोका अधिक सुख" किसमें है, इस वाह्य आधिभौतिक कसौटीपरही ध्यान देकर नीतिमत्ताका निर्णय करें, तो कर्म करनेवाले पुरुषकी वुद्धिका कुछभी विचार नही हो सकेगा, तव यदि कोई मनुष्य चोरी या व्यभिचार करे, और उसके वाह्य अनिष्टकारक परिणामोको कम करनेके लिये या छिपानेके लिये पहलेहीसे सावधान होकर कुछ कुटिल प्रवध कर ले, तो यही कहना पडेगा, कि उसका दुष्कृत्य आधिभौतिक नीति-दृष्टिसे उतना निंदनीय नही है। अतएव यह वात नही, कि केवल वैदिक धर्ममेंही कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धताकी आवश्यकताका वर्णन किया गया हो (मनु १२ ३–८, ९ २९), किंतु [वाइवलमेभी व्यभिचारको केवल कायिक पाप न मानकर, परस्त्रीकी ओर दूसरे पुरुषोका देखना या परपुरुषकी ओर दूसरी स्त्रियोका देखनाभी व्यभिचार माना गया है (मेथ्यू ५ २८), और वौद्ध धर्ममें कायिक अर्थात् वाह्य शुद्धताके साथ साथ वाचिक और मानसिक शुद्धताकीभी आवश्यकता वतलाई गई है (धम्मपद ९६, ३९१)]। इसके सिवा ग्रीन साहवका यहभी कहना है, कि वाह्य-सुखकोही परम साध्य माननेसे मनुष्य मनुष्यमें और राष्ट्र-राष्ट्रमें उसे पानेके लिये प्रतिद्वद्विता उत्पन्न हो जाती है, और कलहका होनाभी सभव है। क्योकि वाह्य-सुखकी प्राप्तिके लिये जो वाह्य साधन आवश्यक है, वे प्राय दूसरोके सुखको कम किये विना हमें नही मिल सकते। परतु साम्य-वुद्धिके विषयमें ऐसा नही कह सकते। यह आतरिक सुख आत्मवश है, अर्थात् यह किसी दूसरे मनुष्यके सुखमें वाधा न डालकर प्रत्येकको मिल सकता है। इतनाही नही, किंतु आत्मैक्यको पहचानकर सव प्राणियोंसे समताका व्यवहार करनाही जिसका स्वभाव वन जाता है वह गुप्त या प्रकट, किसी रीतिसेभी कोई दुष्कृत्य करही नही सकता, और फिर उसे यह वतलानेकी आवश्यकताभी नही रहती, कि "हमेशा यह देखते रहो, कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख किसमें है।" कारण यह है, कि कोईभी मनुष्य हो, वह सार-असार-विचारके वादही किसी कृत्यको किया करता है। यह वात नही, कि केवल नैतिक कर्मोका निर्णय करनेके लियेही सार-असार-विचारकी आवश्यकता होती है। सार-असार-विचार करते समय यही महत्त्वका प्रश्न होता है, कि अत करण कैसा होना चाहिये ? क्योकि सव लोगोंके अत करण एक समान नही

होते। अतएव जबकि यह कह दिया जावे, कि "अंतःकरणमें सदा साम्य-बुद्धि जागृत रहनी चाहिये," तब फिर यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नही, कि अधिकांश लोगो या सब प्राणियोंके हितका सार-असार-विचार करो। पश्चिमी पंडितभी अब यह कहने लगे हैं, कि मानव-जातिके प्राणियोंके संबधमे मनुष्यके जो कुछ कर्तव्य हैं, वे तो हैंही, परंतु मूक जानवरोंके संबधमेंभी उसके कुछ कर्तव्य हैं, जिनका समावेश कार्य-अकार्य शास्त्रमे किया जाना चाहिये, और यदि इस व्यापक दृष्टिसे देखे तो मालूम होगा, कि "अधिकांश लोगोका अधिक हित"की अपेक्षा 'सर्वभूतहित' शब्दही अधिक व्यापक और उपयुक्त है, तथा 'साम्य बुद्धि'में इन सभीका समावेश हो जाता है। इसके विपरीत यदि ऐसा मान ले, कि किसीकी बुद्धि शुद्ध और सम नही है, तो वह इस बातका ठीक ठीक हिसाब भलेही कर ले, कि "अधिकांश लोगोका अधिक सुख" किसमें है, परंतु नीति-धर्मकी ओर उसकी प्रवृत्ति होना संभव नही है। क्योंकि किसी सत्कार्यकी ओर प्रवृत्ति होना शुद्ध मनका गुण या धर्म है, हिसाबी मनका नही। यदि कोई कहे, कि "हिसाब करनेवाले मनुष्यके स्वभाव या मनको देखनेकी तुम्हे कोई आवश्यकता नही है, तुम्हे केवल यही देखना चाहिये, कि उसका किया हुआ हिसाब सही है या नही, और उस हिसाबमे कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय हो कर तुम्हारा काम चल जाता है या नही" तो वहभी सच नही हो सकता। कारण यह है, कि सामान्यतः यह तो सभी जानते है कि सुख दुःख किसे कहते हैं, तोभी सब प्रकारके सुखदुःखोंके तारतम्यका हिसाब करते समय पहले यह निश्चय कर लेना पडता है,कि किस प्रकारके सुखदुःखोको कितना महत्त्व देना चाहिये। परंतु सुखदुःखकी इस प्रकार माप करनेके लिये उष्णतामापक यंत्रके समान कोई निश्चित बाह्य साधन न तो वर्तमान समयमें है, और न भविष्यमेंभी उसके मिल सकनेकी कुछ संभावना है। इसलिये सुखदुःखोकी ठीक ठीक कीमत ठहरानेका काम याने उनके महत्त्व या योग्यताका निर्णय करनेका काम, प्रत्येक मनुष्यको अपने मनसेही करना पडेगा। परंतु जिसके मनमें ऐसी आत्मौपम्य-बुद्धि पूर्ण रीतिसे जागृत नही हुई है, कि "जैसा मैं हूँ, वैसाही दूसराभी है," उसे दूसरोंके सुखदुःखकी तीव्रताका स्पष्ट ज्ञान कभी नही हो सकता, इसलिये वह इन सुखदुःखोकी सच्ची योग्यता कभी जानही नही सकेगा, और फिर तारतम्य-निर्णय करनेके लिये उसने सुखदुःखोकी जो कीमत पहले ठहरा ली होगी, उसमें भूल हो जायगी, और अंतमे उसका किया सब हिसाबभी गलत हो जायगा। इसीलिये कहना पडता है, कि "अधिकांश लोगोके अधिक सुखको देखना" इस वाक्यकी 'देखना' इस हिसाबी बाह्य क्रियाको अधिक महत्त्व नही देना चाहिये, किंतु जिस आत्मौपम्य और निर्लोभ बुद्धिसे (अनेक) दूसरोके सुखदुःखोकी यथार्थ कीमत पहले ठहराई जाती है, वह सब प्राणियोंके विषयमें साम्यावस्थाको पहुँची हुई, शुद्ध-बुद्धिही नीतिमत्ताकी सच्ची जड है। स्मरण रहे, कि नीतिमत्ता निर्मम, शुद्ध, प्रेमी, सम या (संक्षेपमें कहें तो)

सत्त्वशील अंत करणका धर्म है, वह केवल सार-असार-विचारका फल नही है। यह सिद्धान्त इस कथासे औरभी स्पष्ट हो जायगा। भारतीय युद्धके वाद युद्धिष्ठिरके राज्यासीन होनेपर जब कुती अपने पुत्रोके पराक्रमसे कृतार्थ हो चुकी, और धृत-राष्ट्रके साथ वानप्रस्थाश्रमका आचरण करनेके लिये वनको जाने लगी, तव "तू अधिकाश लोगोका कल्याण किया कर" इत्यादि व्यर्थ वाते न कर उसने युधिष्ठिरसे सिर्फ यही कहा है, कि "मनस्ते मदहस्तु च" (मभा अश्व १७ २१)– "तू अपने मनको हमेशा विशाल बनाये रख।" जिन पश्चिमी पडितोने यह प्रतिपादन किया है, कि केवल "अधिकाश लोगोका अधिक सुख किसमें है" यह देखनाही नीति-मत्ताकी सच्ची शास्त्रीय और सीधी कसौटी है। वे कदाचित् पहलेहीसे यह मान लेते है, कि उनके समानही अन्य सब लोग शुद्ध मनके है, और ऐसा समझकर वे अन्य सब लोगोको यह बतलाते है, कि नीतिका निर्णय किस रीतिसे किया जावे। परतु ये पडित जिस वातको पहलेहीसे मान लेते है, वह सच नही हो सकती, इसलिये नीति-निर्णयका उनका नियम अपूर्ण और एकपक्षीय सिद्ध होता है। इतनाही नही, वल्कि उनके लेखोंसे यह भ्रमकारक विचारभी उत्पन्न हो जाता है, कि मन, स्वभाव या शीलको यथार्थमें अधिकाधिक शुद्ध और पापभीरु बनानेका प्रयत्न करनेके वदले, यदि कोई नीतिमान् बननेके लिये अपने कर्मोके वाह्य परिणामोका हिसाब करना सीख ले, तो बस होगा, और फिर जिनकी स्वार्थ-वुद्धि नही छूटी हो, वे लोग धूर्त, मिथ्याचारी या ढोगी (गीता ३ ६) बनकर सारे समाजकी हानिका कारण हो जाते है। इसलिये केवल नीतिमत्ताकी कसौटीकी दृष्टिसे देखें, तोभी कर्मोके केवल वाह्य परिणामोपर विचार करनेवाला मार्ग कृपण तथा अपूर्ण प्रतीत होता है। अत हमारे निश्चयके अनुसार गीताका यही सिद्धान्त पश्चिमी आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पक्षोके मतोकी अपेक्षा अधिक मार्मिक, व्यापक, युक्तिसगत और निर्दोष है, कि बाह्य कर्मोसे व्यक्त होनेवाली और सकटके समयमेभी दृढ रहनेवाली साम्य-वुद्धिकाही सहारा इस काममें अर्थात् कर्मयोगमे लेना चाहिये, तथा, ज्ञानयुक्त निस्सीम शुद्ध-वुद्धि या शीलही सदाचरणकी सच्ची कसौटी है।

नीतिशास्त्रसवधी आधिभौतिक और आधिदैविक ग्रथोको छोडकर नीतिका विचार आध्यात्मिक-दृष्टिसे करनेवाले पश्चिमी पडितोंके ग्रथोको यदि देखे, तो मालूम होगा, कि उनमेंभी नीतिमत्ताका निर्णय करनेके विषयमें गीताकेही सदृश कर्मकी अपेक्षा शुद्ध-वुद्धिकोही विशेष प्रधानता दी गई है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता काटके "नीतिके आध्यात्मिक मूल तत्त्व" तथा नीतिशास्त्रसवधी दूसरे ग्रथोको लीजिये। यद्यपि काटने* सर्वभूतात्मैक्यका सिद्धान्त अपने ग्रथोमे

---

* Kant's *Theory of Ethics*, trans by Abbott 6th Ed इस पुस्तक-में ये सब सिद्धान्त दिये गये है। पहला सिद्धान्त १०, १२ १६ और २४ वे पृष्ठमें, दूसरा ११२ और ११७ वे पृष्ठमे, तीसरा ३१,५८, १२१ और २९० वे पृष्ठमें,

नही दिया है, तथापि व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धिकाही सूक्ष्म विचार करके उसने यह निश्चित किया है, कि (१) किसी कर्मकी नैतिक योग्यता इस बाह्य फलपरसे नही ठहराई जानी चाहिये, कि उस कर्मद्वारा कितने मनुष्योंको सुख होगा, बल्कि उसकी योग्यताका निर्णय यही देखकर करना चाहिये, कि कर्म करनेवाले मनुष्यकी 'वासना' कहांतक शुद्ध है। (२) मनुष्यकी इस वासनाको (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) तभी शुद्ध, पवित्र और स्वतत्र समझना चाहिये, जब कि वह इद्रियसुखोंमे लिप्त न रहकर सदैव शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धिकी आज्ञाके इस बुद्धि-द्वारा निश्चित कर्तव्य-अकर्तव्यके नियमोंके) अनुसार चलने लगे। (३) इस प्रकार इद्रियनिग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो, उस पुरुषके लिये किसी नीति-नियमादिके बधनकी आवश्यकता नही रह जाती, ये नियम तो सामान्य मनुष्योंकेही लिये है। (४) इस प्रकारसे वासनाके शुद्ध हो जानेपर जो कुछ कर्म करनेको वह शुद्ध-वासना या बुद्धि कहा करती है, वह इसी विचारसे कहा जाता है कि "हमारे समानही यदि दूसरेभी करने लगे, तो परिणाम क्या होगा", और (५) वासनाकी इस स्वतत्रता और शुद्धताकी उपपत्तिका पता कर्म-सृष्टिको छोडकर ब्रह्म-सृष्टिमें प्रवेश किये विना नही चल सकता। परतु आत्मा और ब्रह्म-सृष्टिसबधी काटके विचार कुछ अपूर्ण है, और ग्रीन यद्यपि काटकाही अनुयायी है, तथापि उसने अपने 'नीतिशास्त्रके उपोद्घातमें' पहले यह सिद्ध किया है, कि बाह्य-सृष्टिका अर्थात् ब्रह्माडका जो अगम्य तत्त्व है, वही आत्मस्वरूपसे पिंडमें अर्थात मनुष्यदेहमे अशत प्रादुर्भूत हुआ है। इसके अनतर उसने यह प्रतिपादन किया है,* कि मनुष्य-शरीरमे एक नित्य और स्वतत्र तत्त्व है, अर्थात् आत्मा जिसमे यह उत्कट इच्छा होती है, कि सर्व भूतान्तर्गत अपने सामाजिक पूर्णस्वरूपको अवश्य पहुँच जाना चाहिये, और यही इच्छा मनुष्यको सदाचारकी ओर प्रवृत्त किया करती है। इसीमे मनुष्यका नित्य और चिरकालिक कल्याण है, तथा विषयसुख अनित्य है। साराश यही दीख पडता है, यद्यपि काट और ग्रीन, दोनोकी दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि ग्रीन व्यवसायात्मका बुद्धिके व्यापारोमेंही लिपटे नही रहा, किंतु उसने कर्म-अकर्म-विवेचनकी तथा वासना-स्वातत्र्यकी उपपत्तिको पिंड और ब्रह्माड दोनोमें एकतासे व्यक्त होनेवाले शुद्ध आत्मस्वरूपतक पहुँचा दिया है। काट और ग्रीन जैसे आध्यात्मिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञोके उक्त सिद्धान्तोकी और नीचे लिखे गये गीता-प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तोकी तुलना करनेसे दीख पडेगा, कि यद्यपि वे दोनो अक्षरश एक बराबर नही है, तथापि उनमें कुछ अद्भुत समता

चौथा १८, ३८, ५५ और ११९ वे पृष्ठमें और पाँचवा ७०–७३ तथा ८० वे पृष्ठमें पाठकोको मिलेगा।

* *Green's Prolegomena to Ethics* §§ 99 174–179 and 223–2 23

अवश्य है। देखिये, गीताके सिद्धान्त ये हैं – (१) वाह्य कर्मकी अपेक्षा कर्ताकी (वासनात्मक) वुद्धिही श्रेष्ठ है। (२) व्यवसायात्मक वुद्धि आत्मनिष्ठ होकर जव संदेहरहित तथा सम हो जाती है, तव फिर वासनात्मक वुद्धि आपही आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है । (३) इस रीतिसे जिसकी वुद्धि सम और स्थिर हो जाती है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष हमेशा विधि और नियमोंसे परे रहा करता है। (४) और उसके आचरण या उसकी आत्मैक्य-वुद्धिसे सिद्ध होनेवाले नीति-नियम सामान्य पुरुषोंके लिये आदर्शके समान पूजनीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं, और (५) पिंड अर्थात् देहमें तथा ब्रह्मांड अर्थात् सृष्टिमें एकही आत्मस्वरूपी तत्त्व है, देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूपको (मोक्ष) प्राप्त कर लेनेके लिये सदा उत्सुक रहता है, तथा इस शुद्ध-स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर सव प्राणियोंके विषयमें आत्मौपम्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। परंतु यह वात ध्यान देने योग्य है, कि ब्रह्म, आत्मा, माया, आत्मस्वातंत्र्य, ब्रह्मात्मैक्य, कर्मविपाक इत्यादि विषयोंपर हमारे वेदान्तशास्त्रके जो सिद्धान्त हैं, वे कांट और ग्रीनके सिद्धान्तोंमेभी वहुत आगे वढे हुए तथा अधिक निश्चित हैं, इसलिये उपनिषदान्तर्गत वेदान्तके आधारपर किया हुआ गीताका कर्मयोग-विवेचन आध्यात्मिक दृष्टिसे असंदिग्ध, पूर्ण तथा दोपरहित हुआ है, और आजकलके वेदान्ती जर्मन पंडित प्रोफेसर डायसनने नीति-विवेचनकी इसी पद्धतिको अपने 'अध्यात्मशास्त्रके मूल तत्त्व' नामक ग्रंथमें स्वीकार किया है। डायसन शोपेनहरका अनुयायी है, उसे शोपेनहरका यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है, कि "संसारका मूल कारण वासनाही है, इसलिये उसका क्षय किये विना दुःखकी निवृत्तिका होना असंभव है, अतएव वासनाका क्षय करनाही प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है", और इसी आध्यात्मिक सिद्धान्त-द्वारा आगे नीतिका उपपत्तिका विवेचन उसने अपने उक्त ग्रंथके तीसरे भागमें स्पष्ट रीतिसे किया हैं। उसने पहले यह सिद्ध कर दिखलाया है, कि वासनाका क्षय होनेके लिये, या हो जानेपरभी, कर्मोंको छोड देनेकी आवश्यकता नहीं हैं, वल्कि "वासनाका पूरा क्षय हुआ है, कि नहीं" यह वात परोपकारार्थ किये गये निष्काम कर्मसे जैसे प्रकट होती है, वैसे अन्य किसीभी प्रकारसे व्यक्त नहीं होती, अतएव निष्काम कर्म वासना-क्षयकाही लक्षण और फल है। इसके वाद उसने यह प्रतिपादन किया है, कि वासनाकी निष्कामताही सदाचरण और नीतिमत्ताकाभी मूल है, और इसके अंतमें गीताका "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार" (गीता ३. १९) यह श्लोक दिया है।* इससे मालूम होता है, कि डायसनको इस उपपत्तिका ज्ञान गीतासेही हुआ होगा। जो हो, यह वात कुछ कम गौरवकी नहीं, कि डायसन, ग्रीन, शोपेनहर और कांटके पूर्व – अधिक क्या कहें, आरिस्टॉटलकेभी सैंकडों वर्ष पूर्वही ये विचार हमारे देशमें प्रचलित हो चुके थे। आजकल वहुतेरे लोगोंकी यह समझ हो रही है, कि वेदान्त केवल एक ऐसा वखेडा है, जो हमें इस संसारको छोड देने और मोक्षकी प्राप्ति करनेका उपदेश देता है, परन्तु

यह समझ ठीक नहीं। संसारमें जो कुछ आँखोंसे दीख रहा है, उसके परे जाकर इन गहन प्रश्नोंका यथाशक्ति शास्त्रीय रीतिसे विचार करनेके लियेही वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, कि "मैं कौन हूँ ? इस सृष्टिकी जडमें कौनसा तत्त्व है ? इस तत्त्वसे मेरा क्या संबंध है ? इस संबंधपर ध्यान दे कर इस संसारमें मेरा परम साध्य या अंतिम ध्येय क्या है ? इस साध्य या ध्येयको प्राप्त करनेके लिये मुझे जीवनयात्राके किस मार्गको स्वीकार करना चाहिये, अथवा किस मार्गसे कौनसा ध्येय सिद्ध होगा ?" बल्कि निष्पक्ष-दृष्टिसे देखा जाय तो यह मालूम होगा, कि समस्त नीतिशास्त्र अर्थात् मनुष्योंके पारस्परिक व्यवहारका विचार उस गहन शास्त्रकाही एक अंग है। सारांश यह है, कि कर्मयोगकी उपपत्ति वेदान्तशास्त्रहीके आधारपर की जा सकती है, और अब संन्यास-मार्गीय लोग चाहे कुछभी कहें, परन्तु इसमें संदेह नहीं, कि गणितशास्त्रके जैसे – शुद्ध गणित और व्यावहारिक गणित ये दो भेद हैं, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र-केभी दो भेद शुद्ध वेदान्त और नैतिक अथवा व्यावहारिक वेदान्त होते हैं। कान्ट तो यहाँ तक कहता है, कि मनुष्यके मनमें 'परमेश्वर' (परमात्मा), 'अमृतत्व' और (इच्छा) 'स्वातंत्र्य'के संबंधके गूढ विचार इन नीति-प्रश्नका विचार करते करतेही उत्पन्न हुए हैं, कि "मैं संसारमें किस तरह बर्ताव करूँ ? या इस संसारमें मेरा सच्चा कर्तव्य क्या है ?" और ऐसे प्रश्नोंके उत्तर न देकर नीतिकी उपपत्ति केवल किसी बाह्य-सुखकी दृष्टिसेही बतलाना मानो मनुष्यके मनकी उस पशुवृत्तिको—जो स्वभावत विषयसुखमें लिप्त रहा करती है—उत्तेजित करना एवं सच्ची नीतिमत्ताकी जडपरही कुल्हाडी चलाना है।* अब इस बातको अलग करके समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि यद्यपि गीताका प्रतिपाद्य विषय कर्मयोगही है, तोभी उसमें शुद्ध वेदान्त क्यों और कैसे आ गया। कान्टने इस विषयपर "शुद्ध (व्यवसायात्मक बुद्धिकी मीमांसा" और "व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धिकी मीमांसा" नामक दो अलग अलग ग्रंथ लिखे हैं। परंतु हमारे औपनिषदिक तत्त्वज्ञानके अनुसार भगवद्गीतामें इन दोनों विषयोंका समावेश किया गया है, बल्कि श्रद्धा-मूलक भक्ति-मार्गकाभी विवेचन उसीमें होनेके कारण गीता सबसे अधिक ग्राह्य और प्रमाणभूत हो गई है।

---

* "Empiricism on the contrary, cuts up at the roots the morality of intentions (in which, and not in actions only, consists the high worth that men can and ought to give themselves) Empiricism, moreover, being on this account allied with all the inclinations which (no matter what fashion they put on) degrade humanity when they are raised to the dignity of a supreme practical principle, is for that reason much more dangerous " Kant's *Theory of Ethics*, pp 163 and 236-238 See also Kant's *Critique of Pure Reason*, (trans by Max Muller) 2nd Ed pp 640-657

मोक्ष-धर्मको क्षणभरके लिये एक ओर रखकर केवल कर्म-अकर्मकी परीक्षाके नैतिक तत्त्वकी दृष्टिसेभी जब 'साम्य-बुद्धि'ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है, तब यहाँपर इस बातकाभी थोडा-सा विचार कर लेना चाहिये, कि गीताके आध्यात्मिक पक्षको छोडकर नीतिशास्त्रोमे अन्य पथ कैसे और क्यो निर्माण हुए ? डाक्टर पाल कारस* नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन ग्रथकार अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रथमे इस प्रश्नका यह उत्तर देता है, कि "पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमें मनुष्यकी जैसी समझ (राय) होती है, उसके अनुसार नीतिशास्त्रके मूल तत्त्वोंके सबधमें उसके विचारोका रग बदलता रहता है। सच पूछो तो, पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमे कुछ-न-कुछ निश्चित मत हुए बिना नैतिक प्रश्नही उपस्थित नही हो सकता। पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमें कुछ पक्का मत न रहनेपरभी हम लोगोसे कुछ नैतिक आचरण कदाचित् हो सकता है, परतु यह आचरण स्वप्नावस्थाके व्यापारके समान होगा, इसलिये इसे नैतिक कहनेके बदले देहधर्मानुसार होनेवाली केवल एक कायिक क्रियाही कहना चाहिये।" उदाहरणार्थ, बाघिन अपने बच्चोकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार हो जाती है, परतु इसे हम उसका नैतिक आचरण न कहकर उसका जन्मसिद्ध स्वभावही कहते है। इस उत्तरसे इस बातका अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है, कि नीतिशास्त्रके उपपादनमें अनेक पथ क्यो हो गये है। (इसमें कुछ सदेह नही, कि "मै कौन हूँ, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, मेरा इस ससारमे क्या उपयोग हो सकता है ?" इत्यादि गूढ प्रश्नोका निर्णय जिस तत्त्वसे हो सकेगा, उसी तत्त्वके अनुसार प्रत्येक विचारवान् पुरुष अतमें इस बातकाभी निर्णय अवश्य करेगा, कि मुझे अपने जीवन-कालमें अन्य लोगोके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये) परतु इन गूढ प्रश्नोका उत्तर भिन्न भिन्न कालमें तथा भिन्न भिन्न देशोमें एकही प्रकारका नही हो सकता। युरोप खडमे प्रचलित इसाई धर्ममे यह वर्णन पाया जाता है, कि मनुष्य और सृष्टिका कर्ता बाइबलमें वर्णित सगुण परमेश्वर है, और उसीने पहले पहल ससारको उत्पन्न करके सदाचरणके नियम या आज्ञाएँ मनुष्योको बता दी है, तथा आरभमे ईसाई पडितोकाभी यही अभिप्राय था, कि बाइबलमें वर्णित पिंड-ब्रह्माडकी इस कल्पनाके अनुसार बाइबलमे कहे गये नीतिनियमही नीतिशास्त्रके मूल तत्त्व है। फिर जब यह मालूम होने लगा, कि ये नियम व्यावहारिक दृष्टिसे अपूर्ण हैं, तब

---

* See *The Ethical Problem* by Dr Carus, 2nd Ed p 111 "Our proposition is that the leading principle in ethics must be derived from the Philosophical view back of it The world-conception a man has, can alone give character to the principle in his ethics Without any world-conception we can have no ethics (i e ethics in the highest sense of the word) We may act morally like dreamers or somnambulists but our ethics would in the case be a mere moral instinct without any rational insight into its *raison d'etre*

इनकी पूर्ति करनेके लिये अथवा स्पष्टीकरणार्थ यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि परमेश्वरहीने मनुष्यको सदसद्विवेकशक्ति दी है। परतु अनुभवसे फिर यह अडचन दीख पडने लगी, कि चोर और साह दोनोकी सदसद्विवेकशक्ति एक समान नही रहती, तब इस मतका प्रचार होने लगा, कि परमेश्वरकी इच्छा नीतिशास्त्रकी नीव भलेही हो, परतु उस ईश्वरी इच्छाके स्वरूपको जाननेके लिये केवल इसी बातका विचार करना चाहिये, कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख किसमें है – इसके सिवा परमेश्वरकी इच्छाको जाननेका अन्य कोई मार्ग नही है। पिंड-ब्रह्माडकी रचना सबधमें ईसाई लोगोकी जो यह समझ है – कि बाइबलमें वर्णित सगुण परमेश्वरही ससारका कर्ता है, और यह उसकीही इच्छा या आज्ञा है, कि मनुष्य नीतिके नियमानुसार बर्ताव करे – उसी आधारपर उक्त सब मत प्रचलित हुए हैं। परतु आधिभौतिक शास्त्रोकी उन्नति तथा वृद्धि होनेपर जब मालूम होने लगा, कि ईसाई धर्म-पुस्तकोमें पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके विषयमें कहे गये सिद्धान्त ठीक नही हैं, तब यह विचार एक ओर रखा गया, कि परमेश्वरके समान कोई सृष्टिका कर्ता है या नही, और यही विचार किया जाने लगा, कि नीतिशास्त्रकी इमारत प्रत्यक्ष दिखनेवाली बातोकी नीव पर क्योकर खडी की जा सकती है। तबसे फिर यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख या कल्याण, अथवा मनुष्यत्वकी वृद्धि, येही दृश्य-तत्त्वके नीतिशास्त्रके मूल कारण हैं। इस प्रतिपादनमें इस बातकी किसी उपपत्ति या कारण का कोई उल्लेख नही किया गया है, कि कोई मनुष्य अधिकाश लोगोका अधिक हित क्यो करे ? सिर्फ इतनाही कह दिया जाता है, कि यह मनुष्यकी नित्य बढनेवाली एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परतु मनुष्यस्वभावमें स्वार्थ सरीखी औरभी दूसरी वृत्तियाँ दीख पडती हैं, इसलिये इन पथमेंभी फिर मत-भेद होने लगे। नीतिमत्ताकी ये सब उपपत्तियाँ कुछ सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। परतु उक्त पथके सभी पडितोमें "सृष्टिके दृश्य पदार्थोंसे परे सृष्टिकी जडमें कुछ-न-कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य है", इस सिद्धान्तपर एकही-सा अविश्वास और अश्रद्धा है, इस कारण उनके विषय-प्रतिपादनमें चाहे कुछ अडचनभी क्यो न हो, तोभी वे लोग केवल बाह्य और दृश्य तत्त्वोंसेही किसी तरह निर्वाह कर लेनेका हमेशा प्रयत्न किया करते हैं। नीति तो सभीको चाहिये, परतु उक्त कथनसे मालूम हो जायगा, कि पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमें भिन्न भिन्न मत होनेके कारण उन लोगोकी नीतिशास्त्रविषयक उपपत्तियोमें हमेशा कैसे भेद हो जाया करते हैं। इसी कारणसे पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके विषयमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक मतोंके अनुसार हमने तीसरे प्रकरणमें नीतिशास्त्रके प्रतिपादनके तीन भेद किये हैं, और आगे फिर प्रत्येक पथके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोका भिन्न भिन्न विचार किया है। जिनका यह मत है, कि सगुण परमेश्वरने सर्व दृश्य सृष्टिको बनाया है, वे नीतिशास्त्रका केवल यहीतक विचार करते हैं, कि अपने अपने धर्म-ग्रथोमें परमेश्वरकी जो आज्ञाएँ

हैं वे तथा परमेश्वरकी सत्तासे निर्मित सदसद्विवेचन अथवा शक्तिरूप देवताही सब कुछ है – इसके बाद और कुछ नही है। इसीको हमने 'आधिदैविक' पथ कहा है। क्योकि सगुण परमेश्वरभी तो एक देवताही है न ! अब जिनका यह मत है, कि दृश्य सृष्टिका आदिकारण कोईभी अदृश्य मूल तत्त्व नही है, और यदि होभी, तो वह मनुष्यकी बुद्धिके लिये अगम्य है, वे लोग "अधिकाश लोगोका अधिक कल्याण" या "मनुष्यत्वका परम उत्कर्ष" जैसे केवल दृश्य-तत्त्व द्वाराही नीति-शास्त्रका प्रतिपादन किया करते है, और यह मानते है, कि इस बाह्य और दृश्य तत्त्वके परे विचार करनेकी कोई आवश्यकता नही है। इस पथको हमने 'आधि-भौतिक' नाम दिया है। जिनका यह सिद्धान्त है, कि नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिकी जडमें आत्मा सरीखा कुछ-न-कुछ नित्य और अव्यक्त तत्त्व अवश्य है, वे लोग अपने अपने नीतिशास्त्रकी उपपत्तिको आधिभौतिक उपपत्तिसेभी परे ले जाते है, और आत्मज्ञान तथा नीति या धर्मका मेल करके इस बातका निर्णय करते हैं, कि ससारमें मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है ? इस पथको हमने 'आध्यात्मिक' कहा है। इन तीनो पथोमे आचार नीति एकही है, परतु पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमें प्रत्येक पथका मत भिन्न भिन्न है, जिससे नीतिशास्त्रके मूल-तत्त्वोका स्वरूप हर एक पथमें थोडा बदलता गया है। यह बात प्रकट है, कि व्याकरणशास्त्र कोई नई भाषा नही बनाता, किंतु जो भाषा व्यवहारमें प्रचलित रहती है, उसीके नियमोकी वह खोज करता है, और भाषाकी उन्नतिमें सहायक होता है, ठीक यही हाल नीतिशास्त्रकाभी है। मनुष्य इस ससारमें जबसे पैदा हुआ है, उसी दिनसे वह स्वय अपनीही बुद्धिसे अपने आचरणको देशकालानुसार शुद्ध रखनेका प्रयत्नभी करता चला आया है, और समय समय पर जो प्रसिद्ध पुरुष या महात्मा हो गये है, उन्होंने अपनी समझके अनुसार आचार-शुद्धिके लिये, 'चोदना' या प्रेरणारूपी अनेक नियमभी बना दिये हैं। नीतिशास्त्रकी उत्पत्ति कुछ इस लिये नही हुई है, कि वह इन नियमोको तोड कर नये नियम बनाने लगे। हिंसा मत कर, सच बोल, परोपकार कर, इत्यादि नीतिके नियम प्राचीन कालसेही चलते आये है। अब नीतिशास्त्रका सिर्फ यही देखनेका काम है, कि नीतिकी यथोचित वद्धि होनेके लिये सब नीतिनियमोमें मूल तत्त्व क्या है। यही कारण है, कि जब हम नीतिशास्त्रके किसीभी पथको देखते है, तब हम वर्तमान कालमें प्रचलित नीतिके प्राय सब नियमोको सभी पथोमें एक-से पाते है, उनमें जो कुछ भेद दिखलाई पडता है, वह उपपत्तिके स्वरूप-भेदके कारण है, और इसलिये डॉ पाल कारसका यह कथन सच मालूम होता है, कि इस भेदके होनेका मुख्य कारण यही है, कि हरएक पथमें पिंड-ब्रह्माडकी रचनाके सबधमें भिन्न भिन्न मत है।

अब यह बात सिद्ध हो गई, कि मिल, स्पेन्सर, काट आदि आधिभौतिक पथके आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रविषयक ग्रथकारोंने आत्मौपम्य-दृष्टिके

सुलभ तथा व्यापक तत्त्वको छोडकर, 'सर्वभूतहित' या " अधिकाश लोगोका अधिक हित " जैसे आधिभौतिक और ब्राह्य तत्त्वपरही नीतिमत्ताको स्थापित करनेका जो प्रयत्न किया, वह इसीलिये किया है, कि पिंड-ब्रह्माडसवधी उनके मत प्राचीन मतोसे भिन्न है। परतु जो लोग उक्त नूतन मतोको नही मानते, और जो इन प्रश्नोका स्पष्ट तथा गभीर विचार कर लेना चाहते है, कि, " मै कौन हूँ ? सृष्टि क्या है ? मुझे इस सृष्टिका ज्ञान कैसे होता है ? जो सृष्टि मुझसे बाहर है, वह स्वतत्र है या नही ? यदि है, तो उसका मूल तत्त्व क्या है ? इस तत्त्वसे मेरा क्या सबध है ? एक मनुष्य दूसरेके सुखके लिये अपनी जान क्यो देवे ?" " जो जन्म लेते है, वे मरतेभी है " इस नियमके अनुसार यदि यह बात निश्चित है, कि " जिस पृथ्वीपर हम रहते है, उसका और उसके साथ समस्त प्राणियोका किसी दिन अवश्य नाश हो जायगा, तो नाशवान् भविष्यका पीढियोंके लिये हम अपने सुखका नाश क्यो करे ?"–अथवा जिन लोगोका केवल इस उत्तरसे पूरा समाधान नही होता हो, कि " परोपकार आदि मनोवृत्तियां इस समय कर्ममय, अनित्य और दृश्य-सृष्टिकी नैसर्गिक प्रवृत्तियांही है, " और जो यह जानना चाहते है, कि इन नैसर्गिक प्रवृत्तियांका मूल कारण क्या है – उनके लिये अध्यात्मशास्त्रके नित्य तत्त्वज्ञानका सहारा लेनेके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नही है, और, इसी कारणसे ग्रीनने अपने नीतिशास्त्रके ग्रथका आरभ इसी तत्त्वके प्रतिपादनसे किया है, कि जिस आत्माको जड सृष्टिका ज्ञान होता है, वह आत्मा जड सृष्टिसे अवश्यही भिन्न होगा, और काटने पहले व्यवसायत्मिका बुद्धिका विवेचन करके फिर वासनात्मक बुद्धिकी तथा नीतिशास्त्रकी मीमासा की है। " मनुष्य अपने सुखके लियेही या अधिकाश लोगोको सुख देनेके लियेहो पैदा हुआ है "–यह कथन ऊपरसे चाहे कितनाही मोहक तथा उत्तम दिखे, परतु वस्तुत यह सच नही है। यदि हम क्षणभर इस बातका विचार करें, कि जो महात्मा केवल सत्यके लिये प्राण-दान करनेको तैयार रहते हैं, उनके मनमें क्या यही हेतु रहता है, कि भविष्यकी पीढ़िके लोगोको अधिकाधिक विषय-सुख प्राप्त होवे, तो यही कहना पडता है कि अपने तथा अन्य लोगोंके अनित्य आधिभौतिक सुखोकी अपेक्षा इस ससारमें मनुष्यका औरभी कुछ दूसरा अधिक महत्त्वका परम साध्य या उद्देश्य अवश्य है। यह उद्देश्य क्या है ? (जिन्होने पिंड-ब्रह्माडके नामरूपात्मक, अतएव नाशवान्, परतु दृश्य स्वरूपसे आच्छादित आत्मस्वरूपी नित्य तत्त्वको अपनी आत्मप्रतीतिके द्वारा जान लिया है, वे लोग उक्त प्रश्नका यह उत्तर देते हैं कि अपने आत्माके अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य तथा सर्वव्यापी स्वरूपकी पहचान करके उसीमें रत रहनाही ज्ञानवान् मनुष्यका इस नाशवान् ससारमें पहला कर्तव्य है। जिसे सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्यकी इस तरहमे पहचान हो जाती है, तथा यह ज्ञान जिसकी देह तथा इद्रियोमें समा जाता है, वह पुरुष इस बातके सोचमें पडा नही रहता, कि यह ससार झूठ है या सच, किंतु वह सर्वभूतहितके लिये उद्योग करनेमें

आप-ही-आप प्रवृत्त हो जाता है, और सत्य मार्गका अग्रेसर बन जाता है। क्योंकि उसे यह पूरी तौरसे मालूम रहता है, कि अविनाशी तथा त्रिकालाबाधित सत्य कौन-सा है। मनुष्यकी यह आध्यात्मिक पूर्णावस्थाही सब नीति-नियमोका मूल उगमस्थान है, और इसेही वेदान्तमें 'मोक्ष' कहते है। किसीभी नीतिको लीजिये, वह इस अतिम साध्यसे अलग नही हो सकती, इसलिये नीतिशास्त्रका या कर्मयोगशास्त्रका विवेचन करते समय आखिर इसी तत्त्वकी शरणमें जाना पडता है। सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूल तत्त्वकाही एक व्यक्त स्वरूप सर्वभूतहितेच्छा है, और सगुण परमेश्वर तथा दृश्य सृष्टि दोनो उस आत्माकेही व्यक्त स्वरूप है, जो सर्वभूतातर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है, और इस व्यक्त स्वरूपके आगे परे जाकर अव्यक्त आत्माका ज्ञान प्राप्त किये बिना, ज्ञानकी पूर्ति तो होतीही नही, किंतु इस ससारमे हर एक मनुष्यका जो यह परम कर्तव्य है, कि शरीरस्थ आत्माको पूर्णावस्थामें पहुंचा दे, वहभी इस ज्ञानके बिना सिद्ध नही हो सकता। चाहे नीतिको लीजिये, व्यवहारको लीजिये, धर्मको लीजिये अथवा किसीभी दूसरे शास्त्रको लीजिये, अध्यात्मज्ञानही सबकी अतिम गति है – "सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" हमारा भक्ति-मार्गभी इसी तत्त्वज्ञानका अनुसरण करता है, इसलिये उसमेभी यही सिद्धान्त स्थिर रहता है, कि ज्ञान-दृष्टिसे निष्पन्न होनेवाला साम्य-बुद्धिरूपी तत्त्वही मोक्षका तथा सदाचरणका मूल स्थान है। वेदान्तशास्त्रसे सिद्ध होनेवाले उक्त तत्त्वपर एकही महत्त्वपूर्ण आक्षेप किया जा सकता है, कि कुछ वेदान्ती ज्ञान-प्राप्तिके अनतर सब कर्मोंका सन्यास कर देना उचित मानते हैं, इसीलिये यह दिखला कर – कि ज्ञान और कर्ममें विरोध नही है, गीतामें कर्मयोगके इस सिद्धान्तका विस्तारसहित वर्णन किया गया है, कि वासनाका क्षय होनेपरभी ज्ञानी पुरुष अपने सब कर्मोंको परमेश्वरार्पणपूर्वक-बुद्धिसे लोकसग्रहके लिये केवल कर्तव्य समझ करही करता चला जावे। अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये यह उपदेश अवश्य दिया गया है, कि तू परमेश्वरको सब कर्म समर्पण करके युद्ध कर, परतु यह उपदेश केवल तत्कालीन प्रसगको देखकरही किया है (गीता ८ ७)। उक्त उपदेशका भावार्थ यही मालूम होता है, कि अर्जुनके समानही किसान, सुनार, लोहार, बढई, बनिया, ब्राह्मण, व्यापारी, लेखक उद्यमी इत्यादि सभी लोग अपने अपने अधिकारानुरूप अपने व्यवहारोको परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करते हुए ससारका धारण-पोषण करते रहे, जिसे जो रोजगार निसर्गत प्राप्त हुआ है, उसे यदि वह निष्काम बुद्धिसे करता रहे, तो कर्ताको कुछभी पाप नही लगेगा, सब कर्म एकहीसे है, दोष केवल कर्ताकी बुद्धिमें है, न कि उसके कर्मोंमे, अतएव बुद्धिको सम करके यदि सब कर्म किये जायँ, तो परमेश्वरकी उपासना हो जाती है, पाप नही लगता, और अतमें सिद्धिभी मिल जाती है। परतु जिन (विशेषत अर्वाचीन कालके) लोगोका यह दृढ-सकल्प-सा हो गया है, कि चाहे कुछभी हो जाय, इस नाशवान् दृश्य-सृष्टिके आगे बढकर आत्म-अनात्म-विचारके

गहरे पानीमें पैठना ठीक नही है, वे अपने नीतिशास्त्रका विवेचन, ब्रह्मात्मैक्यरूप परम साध्यकी उच्च श्रेणीको छोड कर, मानव-जातिका कल्याण या सर्वभूतहित जैसे निम्न कोटिके आधिभौतिक दृश्य परतु अनित्य, तत्त्वसेही शुरू किया करते है। स्मरण रहे, कि किसी पेडकी चोटीको तोड देनेसेही वह नया पेड नही कहलाता, उसी तरह आधिभौतिक पडितोका निर्माण किया हुआ नीतिशास्त्र थोडा या अपूर्ण भले ही हो, परतु यह नया नही हो सकता। ब्रह्मात्मैक्यको न मानकर प्रत्येक पुरुषको स्वतत्र माननेवाले हमारे यहाके साख्य-शास्त्रज्ञ पडितोंनेभी, यही देख कर, कि दृश्य-जगतका धारण-पोषण और विनाश किन गुणोंके द्वारा होता है, सत्त्व-रज-तम तीनो गुणोके लक्षण निश्चित किये है, और फिर प्रतिपादन किया है, कि इनमेंसे सात्त्विक सद्‌गुणोका परम उत्कर्ष करनाही मनुष्यका कर्तव्य है, तथा मनुष्यको इसीसे अतमें त्रिगुणातीत अवस्था मिलकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवद्‌गीताके सत्रहवे तथा अठारहवे अध्यायोंमें थोडे भेदके साथ इसीका वर्णन है।* सच देखा जाय, तो क्या सात्त्विक सद्‌गुणोका परम उत्कर्ष, और आधिभौतिकवादके अनुसार क्या परोपकार-बुद्धिकी अथवा मनुष्यत्वकी वृद्धि, दोनोका अर्थ एक-ही है। महाभारत और गीतामें इन सब अधिभौतिक तत्त्वोका स्पष्ट उल्लेख तो है ही, बल्कि महा-भारतमे यहभी साफ साफ कहा गया है, कि धर्म-अधर्मके नियमोंके लौकिक या बाह्य उपयोगका विचार करनेपर यही जान पडता है, कि ये नीति-धर्म सर्वभूतहितार्थ अर्थात् लोककल्याणार्थ ही है। परतु पश्चिमी आधिभौतिक पडितोका किसीभी अव्यक्त तत्त्वपर विश्वास नही है, इसलिये यद्यपि वे जानते है, कि तात्त्विक दृष्टिसे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेके लिये आधिभौतिक तत्त्व पूरा काम नही देते, तोभी वे निरर्थक शब्दोका आडबर बढाकर व्यक्त तत्त्वसेही अपना निर्वाह किसी तरह कर लिया करते है। गीतामें ऐसा नही किया गया है, किंतु इन तत्त्वोकी परपराको पिड-ब्रह्माडके मूल अव्यक्त तथा नित्य-तत्त्वतक ले जाकर मोक्ष, नीतिधर्म और व्यवहार इन तीनोकीभी पूरी एकवाक्यता तत्त्वज्ञानके आधारसे गीतामें भगवानने सिद्ध कर दिखाई है, और इसलिये अनुगीताके आरभमें स्पष्ट कहा गया है, कि कार्य-अकार्य निर्णयार्थ जो धर्म बतलाया गया है, वही मोक्ष-प्राप्ति करा देनेके लियेभी समर्थ है (मभा अश्व १६ १२)। जिनका यह मत होगा कि, मोक्षधर्म और नीति-शास्त्रको अथवा अध्यात्मशास्त्र और नीतिको एकमे मिला देनेकी आवश्यकता नही है, उन्हे उक्त उपपादनका महत्त्वही मालूम नही हो सकता। परतु जो लोग इसके सबधमें उदासीन नही है, उन्हे निस्सदेह यह मालूम हो जायगा, कि गीतामें किया गया कर्मयोगका प्रतिपादन आधिभौतिक विवेचनकी अपेक्षा श्रेष्ठ तथा ग्राह्य है।

---

* बाबू किशोरीलाल सरकार, एम् ए, बी एल् ने The Hindu System of Moral Science नामक जो एक छोटासा-ग्रथ लिखा है, वह इसी ढगका है, अर्थात् उसमें सत्त्व, रज और तम तीनो गुणोके आधारपर विवेचन किया गया है।

अध्यात्मज्ञानकी वृद्धि प्राचीन कालमें हिंदुस्थानमें जैसी हो चुकी है, वैसी और कहीभी नही हुई, इसलिये किसी अन्य देशमें, कर्मयोगके ऐसे आध्यात्मिक उपपादनका पहले पाया जाना विलकुल सभव नही था – और, यह विदितही है, कि ऐसा उपपादन कही पायाभी नही जाता।

यह स्वीकार होनेपर भी – कि इस ससारके अशाश्वत होनेके कारण इसमे सुखकी अपेक्षा दु खही अधिक है (गीता ९ ३३) – गीतामें जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है, कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मण " – सासारिक कर्मोका कभी न कभी सन्यास करनेकी अपेक्षा उन्ही कर्मोको निष्काम बुद्धिसे लोककल्याणके लिये करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ३ ८, ५ २), उसके साधक तथा वाधक कारणोका विचार ग्यारहवे प्रकरणमे किया जा चुका है। परतु गीता इस कर्मयोगकी पश्चिमी कर्म-मार्गसे अथवा हमारे यहाँके सन्यास-मार्गकी पश्चिमी कर्मत्याग-पक्षसे, तुलना करते समय उक्त सिद्धान्तका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्मम पहले पहल उपनिपत्कारो तथा साख्यवादियो-द्वारा प्रचलित किया गया है, कि दु खमय तथा निस्सार ससारसे विना निवृत्त हुए मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। इसके पूर्वका वैदिक धर्म प्रवृत्ति-प्रधान अर्थात् कर्म-काडात्मकही था, परतु यदि वैदिक धर्मको छोड अन्य धर्मोका विचार किया जाय, तो यह मालूम होगा, कि उनमेंसे बहुतोने आरभसेही सन्यास-मार्गको स्वीकार कर लिया था। उदाहरणार्थ, जैन और बौद्ध धर्म पहलेहीसे निवृत्ति-प्रधान है, और ईसामसीहकाभी वैसाही उपदेश है। बुद्धने अपने शिष्योको यदि अतिम उपदेश दिया है, कि "ससारका त्याग करके यति-धर्मसे रहना चाहिये, स्त्रियोकी ओर देखना नही चाहिये, और उनसे वातचीतभी नही करना चाहिये" (महापरि-निव्वाण सुत्त ५ २३), ठीक इसी तरह मूल ईसाई धर्मकाभी कथन है। ईसाने कहा है, कि 'तू अपने पडोसीको अपनेही समान प्यार कर" (मेथ्यू १९ १९), और, पालका भी कथन है, कि "तू जो कुछ खाता, पीता या करता है, वह सब ईश्वरके लिये कर" (१ कारिं १० ३१), और ये दोनो उपदेश ठीक उसी तरहके है, जैसे कि गीतामें आत्मौपम्य-बुद्धिसे ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करनेको कहा गया है (गीता ६ २९, ९ २७)। परतु केवल इतनेहीसे यह सिद्ध नही होता, कि ईसाई धर्म गीता-धर्मके समान प्रवृत्ति-प्रधान है। क्योकि ईसाई धर्ममेंभी अतिम साध्य यही है, कि मनुष्यको अमृतत्व मिले तथा वह मुक्त हो जावे, और उसमें यहभी प्रतिपादन किया गया है, कि यह स्थिति घरद्वार त्यागे विना प्राप्त नही हो सकती, अतएव ईसा मसीहके मूल धर्मको सन्यास-प्रधानही कहना चाहिये। स्वय ईसा मसीह अततक अविवाहित रहे। जब एक समय एक आदमीने उनसे प्रश्न किया, कि "माँ-बाप तथा पडोसियोको प्यार करनेके धर्मका मै अवतक पालन करता चला आया हूँ, अब मुझे यह वतलाओ, कि अमृतत्व मिलनेमें क्या कसर है ?" तब ईसाने साफ उत्तर

दिया है कि, "तू अपने घरद्वारको बेच दे या किसी गरीबको टाल दे, और मेरा भक्त बन" (मेथ्यू १९ १६-३०, मार्क १९ २१-३१), और वे तुरत अपने शिष्योंकी ओर देख उनसे कहने लगे, कि सुईके छेदमें ऊँट भलेही निकल जाय, परतु ईश्वरके राज्यमें किसी धनवानका प्रवेश होना कठिन है।" यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नही दीख पडती, कि यह उपदेश याज्ञवल्क्यके इस उपदेशकी नकल है, कि जो उन्होंने मैत्रेयीको किया था। वह उपदेश यह है- "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृ २ ४ २) - द्रव्यसे अमृतत्व मिलनेकी आशा नही है। गीतामें कहा गया है, कि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये सासारिक कर्मोंको छोडनेकी आवश्यकता नही है, बल्कि उन्हे निष्काम बुद्धिसे करतेही रहना चाहिये, परतु ऐसा उपदेश ईसाने कहीभी नही किया है। इसके विपरीत उन्होंने यही कहा है, कि सासारिक सपत्ति और परमेश्वरके बीच चिरस्थायी विरोध है (मेथ्यू ६ २४), इसलिये "माँ-बाप, घर-द्वार, स्त्री-बच्चे और भाई-बहिन एव स्वय अपने जीवनसेभी द्वेष करके जो मनुष्य मेरा अनुयायी नहीं बनता, वह मेरा भक्त कभी हो नहीं सकता" (ल्यूक १४ २६-३३)। (ईसाके शिष्य पालकाभी स्पष्ट उपदेश है, कि "स्त्रियोको स्पर्शतकभी न करना सर्वोत्तम पक्ष है") (१ कॉरि ७ १), इसी प्रकार, हम पहलेही कह चुके हैं, कि ईसाके मुंहसे निकले हुए - "हमारी जन्मदात्री* माता, हमारी कौन होती है? हमारे आसपासके ईश्वरभक्तही हमारे माँ-बाप और बधु हैं' (मेथ्यू १२ ४६-५०) - उस वाक्यमें, और "कि प्रजया करिष्यामो येषा नोऽयमात्माऽय लोक" बृहदारण्यकोपनिषदके सन्यासविषयक इस वचनमें (बृ ४ ४ २२) बहुत कुछ समानता है। (स्वय बाइबलकेही इन वाक्योंसे यह सिद्ध होता है, कि जैन और बौद्ध धर्मोंके सदृशही ईसाई धर्मभी आरभमें सन्यास-प्रधान अर्थात् ससारको त्याग देनेका उपदेश देनेवाला है, और ईसाई धर्मके इतिहासको देखनेसेभी यही मालूम होता है† कि ईसाके इस उपदेशानुसारही पहले ईसाई धर्मोपदेशक वैराग्यसे रहा करते

---

* यह तो सन्यास-मार्गियोका हमेशाहीका उपदेश है। शकराचार्यका "का ते कान्ता कस्ते पुत्र" यह श्लोक प्रसिद्धही है, और, अश्वघोषके 'बुद्धचरित' (६ ४५) में यह वर्णन पाया है, कि बुद्धके मुखसे "क्वाह मातु क्व सा मम" ऐसा उद्गार निकला था।

† See Paulen's *System of Ethics* (Eng trans) Book I Chap 2 and 3, esp pp 89-97 "The new (Christian) converts seemed to renounce their family and country their gloomy and austere aspect, their abhorrence of the common business and pleasures of life, and their frequent predictions of impending calamities inspired the pagans with the apprehension of some danger which would arise from the new sect" *Historian's History of the World*, Vol VI, p 318 जर्मन कवि गटेने अपने Faust (फौस्ट)

थे – " ईसाके भक्तोको द्रव्य-सचय न करके रहना चाहिये " (मेथ्यू १० ९–१५) । ईसाई धर्मोपदेशकोमें तथा ईसाके भक्तोमें गृहस्थ-धर्मसे ससारमें रहनेकी जो रीति पाई जाती है, वह वहुत दिनोके वादके सुधारोका फल है – वह मूल ईसाई धर्मका स्वरूप नही है। वर्तमान समयमेंभी शोपेनहर सरीखे विद्वान् यही प्रतिपादित करते है, कि ससार दु खमय होनेके कारण त्याज्य है, और पहले यह वतलाया जा चुका है, कि ग्रीस देशमें प्राचीन कालमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ था, कि तत्त्व-विचारमेंही अपने जीवनको व्यतीत कर देना श्रेष्ठ है, या लोकहितके लिये राजकीय मामलोमें प्रयत्न करते रहना श्रेष्ठ है। साराश यह है, कि पश्चिमी लोगोका यह कर्मत्याग-पक्ष और हम लोगोका सन्यास-मार्ग कई अशोमें एकही है, और इन मार्गोका समर्थन करनेकी पूर्वी और पश्चिमी पद्धतिभी एकही-सी है। परतु आधुनिक पश्चिमी पडित कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म-मार्गकी श्रेष्ठताके जो कारण वतलाते है, वे गीतामें दिये गये प्रवृत्ति-मार्गके प्रतिपादनसे भिन्न है, इसलिये अव इन दोनोंके भेदकोभी यहाँ-पर अवश्य वतलाना चाहिये। पश्चिमी आधिभौतिक कर्म-मार्गियोका कहना है, कि ससारके सव मनुष्योका अथवा अधिकाश लोगोका अधिक सुख – अर्थात् ऐहिक सुख – ही इस जगत्में परम साध्य है, अतएव सव लोगोके सुखके लिये प्रयत्न करते हुए उसी सुखमें स्वयभी मग्न हो जाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, और इसकी पुष्टिके लिये उनमेंसे अधिकाश पडित यह प्रतिपादनभी करते है, कि ससारमें दु खकी अपेक्षा सुखही अधिक है। इस दृष्टिसे देखनेपर यही कहना पडता है, कि पश्चिमी कर्म-मार्गीय लोग " सुख-प्राप्तिकी आशासे सासारिक कर्म करनेवाले " होते है, और पश्चिमी कर्मत्यागमार्गीय लोग " ससारसे उवे हुए " होते है, तथा कदाचित् इसी कारणसे उनको क्रमानुसार 'आशावादी' और 'निराशावादी' कहते हैं।* परतु भगवद्गीतामें जिन दो निष्ठाओंका वर्णन है, वे इनसे भिन्न है। चाहे स्वय अपने लिये हो या परोपकारके लिये हो, कुछभी हो, परतु जो मनुष्य ऐहिक विषयसुख

नामक काव्यमें यह लिखा है – " Thou shalt renounce ! That is the eternal song which ring in everyone's ears which, our whole life-long every hour is hoarsely singing to us " (Faust, Part I, II 1195–1198) मूल ईसाई धर्मके सन्यास-प्रधान होनेके विषयमें कितनेही अन्य आधार और प्रमाण दिये जा सकते है।

* जेम्स सलीने (James Sulli) अपने Pessimism नामक ग्रथमें Optimist और Pessimist नामक दो पथोका वर्णन किया है। इनमेंसे Optimist का अर्थ 'उत्साही, आनदित' और Pessimist का अर्थ 'ससारसे त्रस्त' होता है, और हमने पहले एक टिप्पणीमें वतला दिया है, कि ये शब्द गीताके 'योग' और 'साख्य'के पूर्णरूपसे समानार्थक नही है (पृष्ठ ३०६)। 'दु खनिवारणेच्छुक' नामक जो एक तीसरा पथ है और जिसका वर्णन आगे किया गया है, उसका सलीने Meliorism नाम रखा है।

पानेकी लालसासे ससारके कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, उसकी साम्य-बुद्धिरूप सात्त्विक वृत्तिमें कुछ-न-कुछ बट्टा अवश्य लग जाता है, इसलिये गीताका यह उपदेश, है, कि ससार दु खमय हो या सुखमय, सासारिक कर्म जब छूटतेही नही, तब उनके सुखदु खका विचार करते रहनेसे कुछ लाभ नही होगा। चाहे सुख हो या दु ख। (परतु मनुष्यका यही कर्तव्य है, कि वह इस बातमें अपना महद्भाग्य समझे, कि उसे नरदेह प्राप्त हुई है, और कर्म-सृष्टिके इस अपरिहार्य व्यवहारमें जो कुछ प्रसगानुसार प्राप्त हो, उसे अपने अत करणको निराश न करके इस न्याय अर्थात् साम्य-बुद्धिसे सहता रहे, कि "दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह" (गीता २ ५६), एव अपने अधिकारानुसार जो कुछ कर्म शास्त्रत अपने हिस्सेमें आ पडे, उसे जीवन-पर्यत, और किसीके लिये नही, किंतु ससारके धारण-पोषणके लिये, निष्काम बुद्धिसे करता रहे।) गीताकालमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जारी थी, इसीलिये बतलाया गया है, कि ये सामाजिक कर्म चातुर्वर्ण्यके विभागके अनुसार हरएकके हिस्सेमें आ पडते हैं और अठारहवे अध्यायमें यहभी बतलाया गया है, कि ये भेद गुणकर्म-विभागसे कैसे निष्पन्न होते हैं '(गीता १८ ४१–४४)। परतु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये, कि गीताके नीति-तत्त्व चातुर्वर्ण्यरूपी समाजव्यवस्थापरही अवलवित हैं। यह बात महाभारतकारकेभी ध्यानमें पूर्णतया आ चुकी थी, कि अहिंसादि नीति-धर्मोकी व्याप्ति केवल चातुर्वर्ण्यके लियेही नही है, बल्कि ये धर्म मनुष्यमात्रके लिये एक समान हैं। इसीलिये महाभारतमें स्पष्ट रीतिसे कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्यके बाहर जिन अनार्य लोगोमें ये धर्म प्रचलित हैं, उन लोगोकीभी रक्षा राजाको इन सामान्य कर्मोके अनुसारही करनी चाहिये (शा ६५ १२–२२)। अर्थात् गीतामेंही कही गई नीतिकी उपपत्ति चातुर्वर्ण्यसरीखी किसी एक विशिष्ट समाजव्यवस्थापर अव-लवित नही है, किंतु सर्वसामान्य आध्यात्मिक ज्ञानके आधारपरही उसका प्रति-पादन किया गया है। गीताके नीति-धर्मका मुख्य तात्पर्य यही है, कि जो कर्तव्य-कर्म शास्त्रत प्राप्त हो, उसे निष्काम और आत्मौपम्य-बुद्धिसे करना चाहिये, और सब देशोंके लोगोके लिये यह एकही समान उपयोगी है। परतु, यद्यपि आत्मौपम्य-दृष्टिका और निष्काम कर्माचरणका यह सामान्य नीति-तत्त्व सिद्ध हो गया, तथापि इस बातकाभी स्पष्ट विचार कर लेना आवश्यक है, कि यह नीति-तत्त्व जिन कर्मोको उपयोगी होता है, वे कर्म इस ससारमें प्रत्येक व्यक्तिको कैसे प्राप्त होते हैं। इसे बतलानेके लियेही, उस समयमे उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरणके नातेसे गीतामें चातुर्वर्ण्यका उल्लेख किया गया है, और, साथ साथ गुणकर्म-विभागके अनुसार उस समाजव्यवस्थाकी सक्षेपमें उपपत्तिभी बतलाई है। परतु इस बातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि वह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाही कुछ गीताका मुख्य भाग नही है। सारे गीताशास्त्रका व्यापक सिद्धान्त यही है, कि यदि कही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशामें हो, तो वहाँभी तत्कालीन प्रचलित समाज-

व्यवस्थाके अनुसार समाजके धारण-पोषणके जो काम अपने हिस्सेमें आ पडे, उन्हे लोकसंग्रहके लिये धैर्य और उत्साहसे तथा निष्काम बुद्धिसे कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये, क्योंकि मनुष्यका जन्म उसी कामके लिये हुआ है, न कि केवल सुखोपभोगके लिये। कुछ लोग गीताके नीतिधर्मको केवल चातुर्वर्ण्य-मूलक समझते है, लेकिन उनकी यह समझ ठीक नही है। चाहे समाज हिंदुओंका हो या म्लेच्छोंका, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी, यदि उस समाजमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रचलित हो, तो उस व्यवस्थाके अनुसार, या दूसरी समाज-व्यवस्था जारी हो, तो उस व्यवस्थाके अनुसार, जो काम अपने हिस्सेमे आ पडे अथवा जिसे हम अपनी रुचिके अनुसार कर्तव्य समझकर एक वार स्वीकृत कर ले, वही अपना स्वधर्म हो जाता है, और गीता कहती है, कि किसीभी कारणसे इस धर्मको ऐन मौकेपर छोड देना और दूसरे कामोंमें लग जाना, धर्मकी तथा सर्वभूतहितकी दृष्टिसे निंदनीय है। यही तात्पर्य "स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह" (गीता ३ ३५)– अर्थात् स्वधर्मपालनमे यदि मृत्यु हो जाय, तो वहभी श्रेयस्कर है, परतु दूसरोंका धर्म भयावह होता है, इस गीता-वचनका है। इसी न्यायके अनुसार माधवराव पेशवाको जिन्होंने ब्राह्मण होकरभी तत्कालीन देशकालानुरूप क्षात्र-धर्मका स्वीकार किया था, रामशास्त्रीने यह उपदेश किया था, कि "स्नान-संध्या और पूजापाठमें सारा समय व्यतीत न कर क्षात्र-धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेमें अपना सब समय लगा देनेसेही तुम्हारा उभय लोकमें कल्याण होगा" यह बात महाराष्ट्र इतिहासमें प्रसिद्ध है। गीताका मुख्य उपदेश यह बतलानेका नही है, कि समाज-धारणाके लिये कैसी व्यवस्था होनी चाहिये। गीता-शास्त्रका तात्पर्य यही है, कि समाज-व्यवस्था चाहे कैसीभी हो, उसमे जो यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्सेमें पड जाएँ, उन्हे उत्साह-पूर्वक करके सर्वभूतहितरूपी आत्मश्रेयकी सिद्धि करो। इस तरहसे कर्तव्य मानकर गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं, वे स्वभावसेही लोककल्याण-कारक हुआ करते है। गीता प्रतिपादित इस कर्मयोगमें और पाश्चात्य आधिभौतिक कर्ममार्गमें यह एक बडा भारी भेद है, कि गीतामे वर्णित स्थितप्रज्ञोंके मनमें यह अभिमान-बुद्धि रहतीही नही, कि मैं अपने कर्मोंके द्वारा लोककल्याण करता हूँ, बल्कि उनके देहस्वभावहीमे साम्य-बुद्धि आ जाती है, और इसीसे वे लोग अपने समयकी समाज-व्यवस्थाके अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर जो जो कर्म किया करते हैं, वे सब स्वभावत लोककल्याणकारक हुआ करते है, और आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रकार संसारको सुखमय माननेवाले यहाँ कहते हैं, कि इस संसारमें सब लोगोंको सुखकी प्राप्ति करा देनेके लिये लोककल्याणका कार्य करना चाहिये।

तथापि सभी पाश्चात्य आधुनिक कर्मयोगी संसारको सुखमय नही मानते। शोपेनहरके समान संसारको दुःख-प्रधान माननेवाले पण्डितभी वहाँ हैं, जो यह प्रतिपादन करते हैं, कि यथाशक्ति लोगोंके दुःखका निवारण करना ज्ञानी पुरुषोंका

कर्तव्य है, इसलिये ससारको न छोडते हुए उनको ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये, जिमसे लोगोका दु ख कम होता जावे। अव तो पश्चिमी देशोमे दु खनिवारणेच्छुक कर्मयोगियोका एक अलग पथही हो गया है। इस पथका गीताके कर्मयोग-मार्गसे वहुतकुछ साम्य है। जिस स्थापनर महाभारतमें कहा गया है, कि "सुखाद्वहुतर जीविते नात्र सशय" – ससारमें सुखकी अपेक्षा दु खही अधिक हैं, वहीपर मनुने दु ख वृहस्पतिसे तथा नारदने शुकसे कहा है –

न जानपदिक दु खमेक. शोचितुमर्हति।
अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥

"जो दु ख सार्वजनिक है, उमके लिये शोक करते रहना उचित नही, उमका रोना न रोकर उसके प्रतिकारार्थ (ज्ञानी पुरुषोको) कुछ उपाय करना चाहिये" (मभा शा २०५ ५, ३३० १५)। इससे प्रकट होता है, कि यह तत्त्व महाभारत-का कोभी मान्य है, कि ससारके दु खमय होनेपरभी, उसमें सव लोगोको होनेवाले दु खको कम करनेका उद्योग चतुर पुरुष करते हैं। परतु यह कुछ हमारा सिद्धान्त पक्ष नही है। सासारिक सुखोकी अपेक्षा आत्मवुद्धि-प्रसादसे होनेवाले सुखको अधिक महत्त्व देकर, इस आत्मबुद्धि-प्रसादरूपी सुखका पूरा अनुभव करते हुए, केवल कर्तव्य समझकरही, अर्थात् ऐसी राजस अभिमान-वुद्धि मनमें न रखकर, कि मै लोगोका दु ख कम करूँगा, सव व्यावहारिक कर्मोको करनेका उपदेश देनेवाले गीताके कर्म-योगकी बरावरी करनेके लिये, दु खनिवारणेच्छुक पश्चिमी कर्मयोगमेंभी अभी वहुत-कुछ सुधार होना चाहिये। प्राय सभी पाश्चिमात्य पडितोके मनमें यह बात समाई रहती है, कि स्वय अपना या सव लोगोका सासारिक सुखही मनुष्यका इस ससारमें परम साध्य है – चाहे वह सुखके साधनोको अधिक करनेसे मिले या दु खोको कम करनेसे, इसी कारणसे उसके शास्त्रोमे गीताके निष्काम कर्मयोगका यह उपदेश कहीभी नही पाया जाता, कि यद्यपि ससार दु खमय है, तथापि उसे अपरिहार्य समझकर केवल लोकसग्रहके लियेही ससारके कर्म करते रहना चाहिये। सभी कर्म-मार्गी है तो सही, परतु शुद्ध नीतिकी दृष्टिसे देखनेपर उनमे यही भेद मालूम होता है, कि पाश्चात्त्य कर्मयोगी सुखेच्छुक या दु खनिवारणेच्छुक होते है – कुछभी कहाँ जाय परतु वे 'इच्छुक' अर्थात् 'सकाम' अवश्य ही हैं, और गीताके कर्मयोगी हमेशाही फलाशाका त्याग करनेवाले अर्थात् निष्काम होते हैं। इसी बातको यदि दूसरे शब्दमें व्यक्त करें, तो यह कहा जा सकता है, कि गीताका कर्मयोग सात्त्विक है, और पाश्चात्त्य कर्मयोग राजम है (गीता १८ २३, २४)।

केवल कर्तव्य समझकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सव कर्मोको करते रहनेका और उसके द्वारा परमेश्वरके यजन या उपासनाको मृत्युपर्यंत जारी रखनेका जो यह गीता-प्रतिपादित ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग है, इसेही 'भागवत धर्म' कहते हैं। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर" (गीता १८ ४५) – यही

इस मार्गका रहस्य है। महाभारतके वनपर्वमे ब्राह्मण-व्याध-कथामे (मभा वन २०८) और शातिपर्वमे तुलाधार-जाजली-सवादमे (मभा शा २६१) इसी धर्मका निरूपण किया गया है, और मनुस्मृतिमेंभी (मनु ६ ९६, ९७) यति-धर्मका निरूपण करनेके अनतर इसी मार्गको वेद-सन्यासियोका कर्मयोग कह कर विहित तथा मोक्षदायक बतलाया है। 'वेदसन्यासिक' पदसे और वेदकी सहिताओ तथा ब्राह्मण-ग्रथोमें जो वर्णन है, उनसे यही सिद्ध होता है, कि यह मार्ग हमारे देशमे अनादि कालसे चला आ रहा है। यदि ऐसा न होता, तो यह देश इतना वैभशाली कभी हुआ नही होता, क्योकि यह बात प्रकट ही है, कि किसीभी देशके वैभवपूर्ण होनेके लिये वहाँके कर्ता या वीर पुरुष कर्म-मार्गकेही अगुआ हुआ करते है। हमारे कर्मयोगका मुख्य तत्त्व यही है, कि कोई कर्ता या वीर पुरुष भलेही हो, परतु उन्हेभी ब्रह्मज्ञानको न छोड उसके साथही साथ कर्तव्यको स्थिर रखना चाहिये, ओर यह पहलेही बतलाया जा चुका है, कि इसी बीजरूप तत्त्वका व्यवस्थित विवेचन करके श्रीभगवानने इस मार्गका अधिक दृढीकरण और प्रसार किया था, इसलिये इस प्राचीन मार्गकाही आगे चल कर 'भागवत धर्म' नाम पडा होगा। विपरीत पक्षमें उपनिषदोसे तो यही व्यक्त होता है, कि कभी-न-कभी कुछ ज्ञानी सुत्पुरुपोके मनका झुकाव पहलेहीसे स्वभावत सन्यास-मार्गकी ओर रहा करता था, अथवा कम-से-कम इतना अवश्य होता था, कि पहले गृहस्थाश्रममे रहकर अत समयमें सन्यास लेनेकी बुद्धि मनमे जागृत हुआ करती थी – फिर चाहे वे लोग सचमुच सन्यास ले या न ले। इसलिये यहभी नही कहा जा सकता, कि सन्यास-मार्ग नया है, परतु स्वभाव-वैचित्र्यादि कारणोसे ये दोनो मार्ग यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन कालसेही प्रचलित है, तथापि इस बातकी सत्यतामे कोई शका नही, कि वदिक कालमे मीमासकोके कर्म-मार्गकोही लोगोमे विशेष प्रबलता थी, और कौरव-पाडवोके समयमें तो कर्मयोगने सन्यास-मार्गको पीछे हटा दिया था। कारण यह है, कि हमारे धर्मशास्त्रकारोंने साफ कह दिया है, कि कौरव-पाडवोके कालके अनतर अर्थात् कलियुगम सन्यास-धर्म निषिद्ध है, और जब कि धर्मशास्त्र "आचारप्रभवो धर्म" (मभा अनु १४९, १३७, मनु १ १०८) इस वचनके अनुसार प्राय आचारहीका अनुवादक हुआ करता है, तब सहज-ही सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्रकारोके उक्त निषेध करनेके पहलेही लोकाचारमे सन्यास-मार्ग गौण हो गया होगा।* परतु इस प्रकार यदि कर्मयोगको पहले प्रबलता थी और आखिर कलियुगमे सन्यास-धर्मको निषिद्ध माननेतककी नौबत आ चुकी थी, तो अब यहाँ यही स्वाभाविक शका होती है, कि तेजीसे बढते हुए इस ज्ञानयुक्त कर्मयोगके ह्रासका तथा वर्तमान समयके भक्ति-मार्गमेभी सन्यास-पक्षकोही श्रेष्ठ माने जानेका कारण क्या है?

---

* पृष्ठ ३४४-३४५ की टिप्पणीमें दिये गये वचनोको देखो।

कुछ लोग कहते है, कि यह परिवर्तन श्रीमदाद्यशकाराचार्यके द्वारा हुआ। परतु इतिहासको देखनेमे उस उपपत्तिमें सत्यता नही दीख पडती। पहले प्रकरणमें हम कह चुके है, कि श्रीशकराचार्यके सप्रदायके दो विभाग है – (१) मायावादात्मक अद्वैत ज्ञान, और (२) कर्म-सन्यास-धर्म। अब यद्यपि अद्वैत ब्रह्मज्ञानके साथ साथ सन्यास-धमकाभी प्रतिपादन उपनिषिदोंमें किया गया है, तोभी इन दोनोका कोई नित्य सबध नही है, इसलिये यह नही कहा जा सकता, कि अद्वैत-वेदान्त-मतको स्वीकार करनेपर सन्यास-मार्गकोभी अवश्य स्वीकार करनाही चाहिये। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य प्रभृतिसे अद्वैत-वेदान्तकी पुरी शिक्षा पाये हुए जनक आदिक स्वय कर्मयोगी थे। यही क्यो, बल्कि उपनिषदोका अद्वैत-ब्रह्मज्ञानही गीताका प्रतिपाद्य विषय होनेपरभी, गीता इसी ज्ञानके आधारसे सन्यासके बदले कर्मयोगकाही समर्थन किया गया है। इसलिये पहले इस बातपर ध्यान देना चाहिये, कि शाकर-सप्रदायपर सन्यास-धर्मको उत्तेजन देनेका जो आक्षेप किया जाता है, वह इस सप्रदायके अद्वैत ज्ञानको उपयुक्त न होकर उसके अतर्गत केवल सन्यास-धर्मकोही उपयोगी हो सकता है। यद्यपि श्रीशकराचार्यने इस सन्यास-मार्गको नये सिरेसे नही चलाया है, तथापि कलियुगमें निषिद्ध या वर्जित माने जानेके कारण उसमें जो गौणता आ गई थी, उसे, उन्होनें अवश्य दूर किया है। परन्तु यदि इसके भी पहले अन्य कारणोंसे लोगोमें सन्यास मार्गकी चाह हुई न होती, तो इसमें संदेह है, कि आचार्यका सन्यास-प्रधान मत इतना अधिक फैलाने पाता या नही। (ईसानेकहा है सही, कि "यदि कोई एक गालमे थप्पड मार दे, तो दूसरे गालकोभी उसके सामने कर दो" (ल्यूक ६ २९))। परतु यदि विचार किया जाय, कि इस मतके अनुयायी यूरोपके ईसाई राष्ट्रोमें कितने हैं, तो यही दीख पडेगा, कि किसी बातके प्रचलित होनेके लिये केवल इतनाही बस नही है, कि कोई धर्मोपदेशक उसे अच्छी कह दे, बल्कि ऐसा होनेके लिये – अर्थात् लोगोंके मनका झुकाव उधर होनेके लिये – उस उपदेशके पहलेही कुछ सबल कारण उत्पन्न हो जाया करते है, और तब फिर लोकाचारमे धीरे धीरे परिवर्तन होकर उसीके अनुसार धर्म-नियमोमेंभी परिवर्तन होने लगता है। "आचार-धर्मका मूल है" – इस स्मृति-वचनका तात्पर्यभी यही है। गत शताब्दीमें शोपेनहरने जर्मनीमें सन्यास-मार्गका समर्थन किया था, परतु उसका बोया हुआ बीज वहाँ अबतक अच्छी तरहसे जमने नही पाया, और इस समय तो निट्शेकेही मतोकी वहाँ धूम मची हुई है। हमारे यहाँ देखनेसेभी यही मालूम होगा, कि सन्यास-मार्ग श्रीशकराचार्यके पहले अर्थात् वैदिक-कालमेंही यद्यपि जारी हो गया था, तोभी वह उस समय कर्मयोगसे आगे अपना कदम नही बढा सका था। स्मृति-ग्रथोमे अतमे सन्यास लेनेको कहा गया है सही, परतु उसमेंभी पूर्वाश्रमोंके कर्तव्यपालनका उपदेश दियाही गया है। श्रीशकराचार्यके ग्रथोका प्रतिपाद्य विषय कर्म-सन्यास-पक्ष भलेही हो, परतु स्वयं उनके जीवन-चरितसेही यह बात सिद्ध

होती है, कि ज्ञानी पुरुषोको तथा सन्यासियोको धर्म-सस्थापनाके ममान लोकसग्रहके काम यथाधिकार करनेके लिये उनकी ओरसे कुछ मनाही नही थी (वे सू शा भा ३ ३ ३२)। सन्यास-मार्गकी प्रबलताका कारण यदि श्रीशकराचार्यका स्मार्त सप्रदायही होता तो आधुनिक भागवत सप्रदायके रामानुजाचार्य अपने गीता-भाष्यमें शकराचार्यकीही नाईं कर्मयोगको गौण नही मानते। परतु जो कर्मयोग एक वार तेजीसे जारी था, वह जब कि भागवत-सप्रदायमेंभी निवृत्ति-प्रधान भक्तिसे पीछे हटा दिया गया है, तव तो यही कहना पडता है, कि उसके पिछड जानेके लिये कुछ ऐसे कारण अवश्य उपस्थित हुए होगे, जो सभी सप्रदायोको अथवा सारे देशको एकही समान लागू हो सके। हमारे मतानुसार उनमेंसे पहला और प्रधान कारण जैन एव बौद्ध धर्मोका उदय तथा प्रचार है, क्योकि इन्ही दोनो धर्मोने चारो वर्णोके लिये सन्यास-मार्गका दरवाजा खोल दिया था, और इसीलिये क्षत्रियवर्गमेंभी सन्यास धर्मका विशेष उत्कर्ष होने लगा था। परतु, यद्यपि आरभमें बुद्धने कर्मरहित सन्यास-मार्गकाही उपदेश दिया था, तथापि गीताके कर्मयोगानुसार वौद्ध धर्ममें शीघ्रही यह सुधार किया गया, कि बौद्ध यतियोको अकेले जगलमे जाकर एक कोनेमें नही बैठे रहना चाहिये, वल्कि उनको धर्मप्रचार तथा परोपकारके अन्य काम करनेके लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये (देखो परिशिष्ट प्रकरण)। इतिहास-ग्रथोसे यह वात प्रकट है, कि इसी सुधारके कारण उद्योगी बौद्ध-धर्मीय यति-लोगोंके सघ उत्तरमें तिब्वत, पूर्वमें ब्रह्मदेश, चीन और जापान, दक्षिणमें लका और पश्चिममें तुर्किस्थान तथा उससे लगे हुए ग्रीस इत्यादि यूरोपके देशोतक जा पहुँचे थे। शालिवाहन शकके लगभग छ -सात सौ वर्ष पहले जैन और वौद्ध धर्मोके प्रवर्तकोका जन्म हुआ था, और श्रीशकराचार्यका जन्म शालिवाहन शकके छ सौ वर्ष अनतर हुआ। इस वीचमे वौद्ध यतिओके सघोका अपूर्व वैभव सव लोग अपनी आँखोके सामने देख रहे थे, इसीलिये यति-धर्मके विषयमें उन लोगोमें एक प्रकारकी चाह तथा आदर-बुद्धि शकराचार्यके जन्मके पहलेही उत्पन्न हो चुकी थी। शकराचार्यने यद्यपि जैन और वौद्ध धर्मोका खडन किया है, तथापि यति-धर्मके बारेमें लोगोमें जो आदर-बुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी, उसका उन्होने नाश नही किया, किंतु उसीको वैदिक रूप दे दिया, और बौद्ध धर्मके बदले वैदिक धर्मकी सस्थापना करनेके लिये उन्होंने वहुत प्रयत्नशील वैदिक सन्यासी तैयार किये। ये सन्यासी ब्रह्मचर्यव्रतसे रहते थे, और सन्यासका दड तथा गेरूआ वस्त्रभी धारण करते थे, परतु अपने गुरुके समान इन लोगोनेभी वैदिक धर्मकी स्थापनाका काम आगे जारी रखा था। यति-सघकी इस नई जोडीको (वैदिक सन्यासियोंके सघ) देख उस समय अनेक लोगोके मनमें शका होने लगी थी, कि शाकर-मतमें और वौद्ध-मतमें यदि कुछ अतर हैभी, तो क्या है; और प्रतीत होता है, कि प्राय इसी शकाको दूर करनेके लिये छादोग्योपनिषदके भाष्यमे आचार्यने लिखा है, कि "वौद्ध यति-धर्म और साख्य यति-धर्म दोनो वेदवाह्य

तथा खोटे है। एव हमारा सन्यास-धर्म वेदके आधारसे प्रवृत्त किया गया है, इसलिये यही सच्चा है" (छा शा भा २ २३ १)। जो हो, यह निर्विवाद सिद्ध है, कि कलियुगमे पहले जैन और वौद्ध लोगोनेही यति-धर्मका प्रचार किया था। परतु वौद्ध यतियोनेभी धर्मपसार तथा लोकसग्रहके लिये आगे चलकर उपर्युक्त कम करना शुरू कर दिया था, और इतिहाससे मालूम होता है, कि इनको हरानेके लिये श्रीशकराचार्यने जो वैदिक यति-सघ तैयार किये थे, उन्होनेभी कर्मको विल्कुल न त्याग कर अपने उद्योगसेही वैदिक धर्मकी फिरसे स्थापना की। अनतर शीघ्रही इस देशपर मुसलमानोकी चढाइयाँ होने लगी, और जब इस परचक्रसे पराक्रमपूर्वक रक्षा करनेवाले तथा देशका धारण-पोषण करनेवाले क्षत्रिय राजाओकी तथा देशकी कर्तृत्व-शक्तिका मुसलमानोंके जमानेमे ऱ्हास होने लगा, तब सन्यास और कर्मयोगमेंसे सन्यास-मार्ग, क्योकि 'राम राम' जपते हुए चुप वैठे रहनेकाही सासारिक लोगोको अधिकाधिक ग्राह्य होने लगा होगा, क्योकि तत्कालीन बाह्य परिस्थितिके लिये यही मूल एकदेशीय मत विशेष सुभीतेका हो गया था। इसके पहले यह स्थिति नही थी, क्योकि, 'शूद्रकमलाकर'मे कहे गये विष्णु-पुराणके निम्न श्लोकसेभी यही मालूम होता है –

अपहाय निज कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिन ।
ते हरेर्द्वेषिण पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरे ।। *

"अपने (स्वधर्मोक्त) कर्मोको छोड (केवल) 'कृष्ण कृष्ण' कहते रहनेवाले लोग हरिके द्वेषी और पापी है, क्योकि स्वय हरिका जन्मभी तो धर्मकी रक्षा करनेके लियेही होता है।" (सच पूछो, तो ये लोग न तो सन्यासनिष्ठ हैं और न कर्मयोगीभी, क्योकि ये लोग सन्यासियोके समान ज्ञानसे और तीव्र वैराग्यसे सब सासारिक कर्मोको नही छोडते है, और ससारमे रह करभी कर्मयोगके समान अपने हिस्सेके शास्त्रोक्त कर्तव्यका पालन निष्काम वुद्धिसे नही करते, इसलिये इन वाचिक सन्यासियोकी गणना एक निरालीही तृतीय निष्ठामें होनी चाहिये, जिसका वर्णन गीतामे नही किया गया है। चाहे किसीभी कारणसे हो, जब लोग इस तरहसे तृतीय प्रकृतिके वन जाते हैं तब आखिर धर्मकाभी नाश हुए विना नही रह सकता। इरान देशसे पारसी धर्मके हटाये जानेके लियेभी ऐसीही स्थिति कारण हुई थी और इसीसे हिंदुस्थानमें वैदिक धर्मकेभी "समूल च विनश्यति" होनेका समय आ गया था) परतु वौद्ध धर्मके ऱ्हासके वाद वेदान्तके साथही गीताके भागवत धर्मका जो पुनरुज्जीवन होने लगा था, उसके कारण हमारे यहाँ यह दुष्परिणाम नही हो सका। (जब कि दौलतावादका हिंदु राज्य मुसलमानोंने नष्ट-भ्रष्ट नही किया

*वम्बईके छपे हुए विष्णुपुराणमें यह श्लोक हमे नही मिला। परतु उसका उपयोग कमलाकर भट्ट सरीखे प्रामाणिक ग्रथकारने किया है, इससे यह निराधारभी नही कहा जा सकता।

गया था, उसके कुछ वर्ष पूर्वही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने हमारे सौभाग्यसे भगवद्-गीताको मराठी भाषामें अलंकृत कर गीताकी ब्रह्मविद्याको महाराष्ट्र प्रांतमें अति सुगम कर दिया था, और हिंदुस्थानके अन्य प्रांतोंमेंभी इसी समय अनेक साधु-संतोंने गीताके भक्ति-मार्गका उपदेश जारी कर रख था। यवन-ब्राह्मण-चांडाळ इत्यादिकोको एक समान और ज्ञानमूलक गीता-धर्मका जाज्वल्य उपदेश – चाहे वह वैराग्य-युक्त भक्तिके रूपमेंही क्यों न हो – एकही समय चारों ओर लगातर जारी था, इसलिये हिंदु धर्मका पूरा ऱ्हास होनेका कोई भय नहीं रहा। इतनाही नहीं, बल्कि उसकी कुछ कुछ छाप मुसलमानी धर्मपरपभी जमने लगी, कबीर जैसे भक्त इस देशकी संत-मंडलीमें मान्य हो गये, और औरंगजेबके बडे भाई शहाजादा दाराने इसी समय अपनी देखरेखमे उपनिषदोंका फारसीमें भाषांतर कराया। यदि वैदिक भक्ति-धर्म अध्यात्मज्ञानको छोड केवल तांत्रिक श्रद्धाकेही आधारपर स्थापित हुआ होता, तो इस बातका संदेह है, कि उसमे यह विलक्षण सामर्थ्य रह सकती थी या नहीं। परंतु भागवत धर्मका यह आधुनिक पुनरुज्जीवन मुसलमानोंकेही जमानेमें हुआ है, अतएव यहभी अनेकांशोंमें केवल भक्तिविषयक अर्थात् एकदेशीय हो गया है, और मूल भागवत-धर्मके कर्मयोगका स्वतंत्र महत्त्व जो एक बार घट गया था, वह उसे फिर प्राप्त नहीं हुआ। फलतः उस समयके भागवत-धर्मीय संतजन, पंडित और आचार्य लोगभी कर्मयोग संन्यास-मार्गका अंग या साधन है, यह कहनेके बदले कहने लगे, कि कर्मयोग भक्ति-मार्गका अंग या साधन है। उस समयमें प्रचलित इस सर्वसाधारण मत या समझके विरुद्ध केवल श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने अपने 'दासबोध' ग्रंथमें विवेचन किया है। कर्मयोगके सच्चे और वास्तविक महत्त्वका वर्णन, विशेषतः उसके उत्तरार्धको शुद्ध तथा प्रासादिक मराठी भाषामें जिसे देखना हो, उसे समर्थकृत उक्त ग्रंथको, अवश्य पढ लेना चाहिये।* शिवाजी महाराजको श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकाही उपदेश मिला था, और मरहठोंके जमानेमें जब कर्मयोगके तत्त्वोंको समझाने तथा उनके प्रचार करनेकी आवश्यकता मालूम होने लगी, तब शांडिल्य-सूत्रों तथा ब्रह्मसूत्र-भाष्यके बदले महाभारतका गद्यात्मक भाषांतर होने लगा, एवं 'बखर' नामक ऐतिहासिक लेखोंके रूपमें उसका अध्ययन शुरू हो गया। ये भाषांतर तंजौरके पुस्तकालयमें आज तक रखे हुए हैं। यदि यही कार्यक्रम बहुत समयतक अबाधित रीतिसे चलता, तो गीताकी सब एकपक्षीय और संकुचित टीकाओंका महत्त्व घट जाता, और कालमानके अनुसार एक बार फिर यह बात सब लोगोंके ध्यानमें आ जाती, कि महाभारतकी सारी नीतिका सार गीता-

---

* हिंदी प्रेमियोंको यह जानकर हर्ष होगा, कि वे अब समर्थ रामदासस्वामीकृत इस 'दासबोध' नामक मराठी ग्रंथके उपदेशामृतसे वंचित नहीं रह सकते, क्योंकि इसका शुद्ध, सरल तथा हृदयग्राही अनुवाद हिंदीमेंभी हो चुका है। यह हिंदी ग्रंथ चित्रशाला प्रेस, पूनासे मिल सकता है।

प्रतिपादित कर्मयोगमें कह दिया गया है। परंतु हमारे दुर्भाग्यसे कर्मयोगका यह पुनरुज्जीवन बहुत दिनों तक नहीं टिक सका।

हिंदुस्थानके धार्मिक इतिहासका विवेचन करनेका यह स्थान नहीं है। ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठकोंको मालूम हो गया होगा, कि गीता-धर्ममें जो एक प्रकारकी सजीवता, तेज या सामर्थ्य है, वह संन्यास-धर्मके उस दबदबेसेभी बिल्कुल नष्ट नहीं होने पायी, कि जो मध्यकालमें दैववशात् हो गया था। तीसरे प्रकरणमें यह बतला चुके हैं, कि धर्म शब्दका धात्वर्थ 'धारणाद्धर्मं' है, और सामान्यतः उसके ये दो भेद होते हैं – एक 'पारलौकिक' और दूसरा 'व्यावहारिक' अथवा 'मोक्ष-धर्म' और 'नीति-धर्म'। चाहे वैदिक धर्मको लीजिये, बौद्ध धर्मको लीजिये, अथवा ईसाई धर्मको लीजिये, सबका मुख्य हेतु यही है, कि जगत्का धारण-पोषण हो; और मनुष्यको अंतमें सद्गति मिले, इसीलिये प्रत्येक धर्ममें मोक्ष-धर्मके साथही साथ व्यावहारिक धर्म-अधर्मकाभी विवेचन थोडा-बहुत किया गया है। यही नहीं, बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है, कि प्राचीन कालमें यह भेदही नही किया जाता था, कि "मोक्षधर्म और व्यावहारिक धर्म भिन्न भिन्न हैं।" क्योंकि उस समय सब लोगोंकी यही धारणा थी, कि परलोकमें सद्गति मिलनेके लिये इस लोकमेंभी हमारा आचरण शुद्धही होना चाहिये। वे लोग गीताके कथनानुसार यही मानते थे, कि पारलौकिक तथा सांसारिक कल्याणकी जडभी एकही है। परंतु आधिभौतिक ज्ञानका प्रसार होनेपर आजकल पश्चिमी देशोंमें यह धारणा स्थिर न रह सकी, और इस बातका विचार होने लगा, कि मोक्ष-धर्मरहित नीतिकी, अर्थात् जिन नियमोंसे जगत्का धारणा-पोषण हुआ करता है उन नियमोंकी, उपपत्ति बतलाई जा सकती है या नहीं, और फलतः केवल आधिभौतिक अर्थात् दृश्य या व्यक्त आधारपरही समाजधारणा-शास्त्रकी रचना होने लगी है। इसपर प्रश्न होता है, कि केवल व्यक्तसेही मनुष्यका निर्वाह कैसे हो सकेगा? पेड, मनुष्य इत्यादि जातिवाचक शब्दोंसेभी तो अव्यक्त अर्थही प्रकट होता है न। आमका पेड या गुलाबका पेड एक विशिष्ट दृश्य वस्तु है सही, परंतु 'पेड' सामान्य शब्द किसीभी दृश्य अथवा व्यक्त वस्तुको नहीं दिखला सकता। इसी तरह हमारा सब व्यवहार हो रहा है। इससे यही सिद्ध होता है, कि मनमें अव्यक्तसंबंधी कल्पनाकी जागृतिके लिये पहले कुछ-न-कुछ व्यक्त वस्तु आँखोंके सामने अवश्य होनी चाहिये। परंतु इसेभी निश्चयही जानना चाहिये, कि व्यक्तही कुछ अंतिम अवस्था नहीं है, और बिना अव्यक्तका आश्रय लिये न तो हम एक कदम आगे बढा सकते हैं, और न एक वाक्यभी पूरा कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें अध्यात्म-दृष्टिसे सर्वभूतात्मैक्यरूप परब्रह्मकी अव्यक्त कल्पनाको नीति-शास्त्रका आधार यदि न मानें, तोभी उसके स्थानमें 'सर्व मानव-जाति'को – अर्थात् आँखोंसे न दिखनेवाली अतएव अव्यक्त वस्तुको ही – अंतमें देवताके समान पूजनीय मानना पडता है। आधिभौतिक पंडितोंका कथन है, कि 'सर्व मानव-जातिमें' पूर्वकी तथा

भविष्यतकी पीढियोका समावेश कर देनेसे अमृतत्वविषयक मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको सतुष्ट हो जाना चाहिये, और अव तो प्राय वे सभी सच्चे हृदयसे यही उपदेश करने लग गये है, कि इस (मानव-जातिरूपी) वडे देवताकी प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे उपासना करना, उसकी सेवामें अपनी समस्त आयुको बिता देना तथा उसके लिये अपने सव स्वार्थोंको तिलाजलि दे देनाही प्रत्येक मनुष्यका इस ससारमें परम कर्तव्य है। फ्रेंच पडित कोट द्वारा प्रतिपादित धर्मका सार यही है, और इसी धर्मको उसने अपने ग्रथमे 'सकल मानव-जातिधर्म' या सक्षेपमें 'मानव-धर्म' कहा है।* आधुनिक जर्मन पडित निट्शेकाभी यही हाल है। उसने तो स्पष्ट शब्दोमे कह दिया है, कि उन्नीवससी सदीमें "परमेश्वर मर गया है" और अध्यात्मशास्त्र थोथा झगडा है। इतना होनेपरभी उसने अपने सभी ग्रथोमें आधिभौतिक-दृष्टिसेही कर्मविपाक तथा पुनर्जन्मको मजूर करके प्रतिपादन किया है, कि काम ऐसा करना चाहिये, जो जन्मजन्मान्तरोमेंभी किया जा सके। और समाजकी इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिये, कि जिससे भविष्यतमे ऐसे मनुष्य-प्राणी पैदा हो, जिनकी सव मनोवृत्तियाँ अत्यत विकसित होकर पूर्णावस्थामें पहुँच जावे – बस, इस ससारमें मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य और परम साध्य यही है। इससे स्पष्ट है, कि जो लोग अध्यात्मशास्त्रको नही मानते, उन्हेभी कर्म-अकर्मका विवेचन करनेके लिये कुछ-न-कुछ परम साध्य अवश्य मानना पडता है और यह साध्य एक प्रकारसे 'अव्यक्त' ही होता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि आधिभौतिक नीतिशास्त्रज्ञोंके ये दो ध्येय हैं – (१) सब मानव-जातिरूप महादेवकी उपासना करके सब मनुष्योका हित करना चाहिये, और (२) ऐसे कर्म करना चाहिये, कि जिससे भविष्यतमें अत्यत पूर्णावस्थामें पहूँचा हुआ मनुष्य-प्राणी उत्पन्न हो सके, तथापि जिन लोगोको इन दोनोका उपदेश किया जाता है, उनकी दृष्टिसे वे अगोचर या अव्यक्तही वने रहते हैं। कोट अथवा निट्शेका यह उपदेश ईसाई धर्म सरीखे तत्त्वज्ञानरहित केवल आधिदैवत भक्ति-मार्गका विरोधी भलेही हो, परतु जिस धर्म-अधर्मशास्त्रका अथवा नीतिशास्त्रका परमध्येय अध्यात्म-दृष्टिसे सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानरूप साध्यकी या कर्मयोगी स्थितप्रज्ञकी पूर्णावस्थाकी नीवपर स्थापित हुआ है, उसके पेटमें सव आधिभौतिक साध्योका विरोधरहित समावेश सहजहीमें हो जाता है, और इससे कभी इस भयकी आशका नही हो सकती, कि अध्यात्मज्ञानसे पवित्र किया गया वैदिक धर्म उक्त उपदेशसे क्षीण हो जावेगा। अव प्रश्न ये हैं, कि यदि अव्यक्तकोही परम

---

* कोटने अपने धर्मका Religion of Humanity नाम रखा है। उसका विस्तृत विवेचन कोटके A System of Positive Polity (Eng trans in four vols) नामक ग्रथमें किया गया है। इस ग्रथमें इस वातकी उत्तम चर्चा की गई है कि केवल आधिभौतिक दृष्टिसेभी समाज-धारणा किस तरह की जा सकती है।

साध्य मानना पडता है, तो वह सिर्फ मानव-जातिके लियेही क्यो माना जाय ? अर्थात् वह मर्यादित या सकुचित क्यो कर दिया जाय ? पूर्णावस्थाकोही जब परम साध्य मानना है, तो उसमें ऐसे आधिभौतिक साध्यकी अपेक्षा, जो जानवर और मनुष्य दोनोंके लिये समान हो, अधिकताही क्या है ? इन प्रश्नोका उत्तर देते समय अध्यात्म-दृष्टिसे निष्पन्न होनेवाले समस्त चराचर सृष्टिके एक अनिर्वाच्य परम तत्त्वकोही शरणमें आखिर जाना पडता है। अर्वाचीन-कालमें आधिभौतिक शास्त्रोंकी अश्रुतपूर्व उन्नति हुई है, जिससे मनुष्यका दृश्य सृष्टिविषयक ज्ञान पूर्व-कालकी अपेक्षा सैंकडो गुना अधिक बढ गया है, और यह बातभी निर्विवाद सिद्ध है, कि 'जैसेको तैसा' इस नियमके अनसार जो प्राचीन राष्ट्र इस आधिभौतिक ज्ञानकी प्राप्ति नही कर लेगा, उसका सुधरे हुए नये पाश्चात्त्य राष्ट्रोंके सामने टिकना असभव है। परतु आधिभौतिक शास्त्रोकी चाहे जितनी वृद्धि क्यो न हो जावे, यह अवश्यही कहना होगा, कि जगत्के मूल तत्त्वको समझ लेनेकी मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल आधिभौतिक वादसे कभी पूरी तरह सतुष्ट नहीं हो सकती। केवल व्यक्त सृष्टिके ज्ञानसे सब बातोका निर्वाह नही हो सकता, इसलिये स्पेन्सर सरीखे उत्क्रांति-वादीभी स्पष्टतया स्वीकार करते है, कि नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिकी जडमें कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्यही होगा। परतु उनका यह कहना है, कि इस नित्य-तत्त्वके स्वरूपको समझ लेना सभव नही है, इसलिये इसके आधारसे किसीभी शास्त्रकी उपपत्ति नही बतलाई जा सकती – जर्मन तत्त्ववेत्ता काटभी अव्यक्त सृष्टि-तत्त्वकी अज्ञेयताको स्वीकार करता है। तथापि उसका यह मत है, कि नीतिशास्त्रकी उपपत्ति इसी अगम्य तत्त्वके आधारपर बतलाई जानी चाहिये। शोपेनहर इससेभी आगे बढकर प्रतिपादन करता है, कि यह अगम्य तत्त्व वासनास्वरूपी है, और नीतिशास्त्र-सबधी अग्रेज ग्रथकार ग्रीनका मत है, कि यही सृष्टि-तत्त्व आत्माके रूपमें अशत मनुष्यके शरीरमें प्रादुर्भूत हुआ है। गीता तो स्पष्ट रीतिसे कहती है, कि "ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन ।" हमारे उपनिषत्कारोका यही सिद्धान्त है, कि जगत्का आधारभूत यह अव्यक्त तत्त्व नित्य है, एक है, अमृत है, स्वतन्त्र है, आत्मरूपी है – बस, इससे अधिक इसके विषयमें और कुछ नही कहा जा सकता, और इस बातमे सदेह है, कि उक्त सिद्धान्तसेभी आगे मानवी ज्ञानकी गति कभी-बढेगी या नही, क्योकि जगत्का आधारभूत अव्यक्त तत्त्व इंद्रियोंसे अगोचर अर्थात् निर्गुण है, इसलिये उसका वर्णन, गुण, वस्तु, या क्रिया दिखानेवाले किसीभी शब्दसे नही हो सकता, और इसीलिये उसे 'अज्ञेय' कहते है। परतु अव्यक्त सृष्टि-तत्त्वका जो ज्ञान हमें हुआ करता है, वह यद्यपि शब्दोसे अधिक न भी बतलाया जा सके, और इसलिये देखनेमें यद्यपि वह अल्पसा दीख पडे, तथापि वही मानवी ज्ञानका सर्वस्व है, और इसीलिये लौकिक नीतिमत्ताकी उपपत्तिभी उसीके आधारसे बतलाई जानी चाहिये, एव गीतामें किये विवेचनसे साफ मालूम हो जाता है, कि ऐसी

उपपत्ति उचित रीतिसे बतलानेके लिये कुछभी अडचन नही हो सकती। दृश्य-सृष्टिके हजारो व्यवहार किस पद्धतिसे चलाये जावे – उदाहरणार्थ, व्यापार कैसे करना चाहिये, लडाई कैसे जीतनी चाहिये, रोगीको कौन-सी औषधि किस समय दी जावे, सूर्य चद्रादिकोकी दूरीको कैसे जानना चाहिये – इसे भली भाँति समझनेके लिये हमेशा नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिके ज्ञानकीही आवश्यकता हुआ करेगी और इसमें कुछभी सदेह नही, कि इन सब लौकिक व्यवहारोको अधिकाधिक कुशलतासे करनेके लिये नामरूपात्मक आधिभौतिक शास्त्रोका अधिकाधिक अध्ययन अवश्य करना चाहिये। परतु यह गीताका विषय नही है। गीताका मुख्य विषय तो यही है, कि अध्यात्म-दृष्टिसे मनुष्यकी परम श्रेष्ठ अवस्थाको बतला कर उसके आधारसे यह निर्णय कर दिया जावे, कि कर्म-अकर्मरूप नीति-धर्मका मूल तत्त्व क्या है। इनमेंसे पहले याने आध्यात्मिक परम साध्य – मोक्षके बारेमें आधिभौतिक पथ उदासीन भलेही रहे, परतु दूसरे विषयका, अर्थात् केवल नीति-धर्मके मूल तत्त्वोका, निर्णय करनेके लियेभी आधिभौतिक पक्ष असमर्थ है, और पिछले प्रकरणोमें हम बतला चुके है, कि प्रवृत्तिकी स्वतत्रता, नीति-धर्मकी नित्यता तथा अमृतत्व प्राप्त कर लेनेकी मनुष्यके मनकी स्वाभाविक इच्छा, इत्यादि गहन विषयोका निर्णय आधिभौतिक पथसे नही हो सकता – उसके लिये आखिर हमे आत्मानात्म-विचारमे प्रवेश करनाही पडता है। परतु अध्यात्मशास्त्रका काम कुछ इतनेहीसे पूरा नही हो जाता। जगतके आधारभूत अमृतत्वकी नित्य उपासना करनेसे, और अपरोक्षानुभवसे मनुष्यके आत्माको एक प्रकारकी विशिष्ट शाति मिलनेपर उसके शील-स्वभावमें जो परिवर्तन हो जाता है, वही सदाचरणका मूल है, इसलिये इस बातपर ध्यान रखनाभी उचित है, कि मानव-जातिकी पूर्णावस्थाके विषयमेभी अध्यात्मशास्त्रकी सहायतासे जैसा उत्तम निर्णय हो जाता है, वैसा केवल आधिभौतिक सुखवादसे नही होता। क्योंकि यह बात पहलेभी विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है, कि केवल विषयसुख तो पशुओका उद्देश्य या साध्य है, उससे ज्ञानवान् मनुष्यकी बुद्धिका कभी पूरा समाधान हो नही पाता, सुखदुःख अनित्य है तथा धर्मही नित्य है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर सहजही ज्ञात हो जावेगा, कि गीताके पारलौकिक धर्म तथा नीति-धर्म दोनोका प्रतिपादन जगतके आधारभूत नित्य तथा अमृतत्वके आधारसेही किया गया है, इसलिये यह परमावधिका गीता-धर्म, उस आधिभौतिकशास्त्रसे कभी हार नही खा सकता, जो मनुष्यके सब कर्मोका विचार सिर्फ इस दृष्टिसे किया करता है, कि मनुष्य केवल एक उच्च श्रेणीका जानवर है। यही कारण है, कि हमारा गीता-धर्म नित्य तथा अभय हो गया है, और भगवाननेही उसमें ऐसा सुप्रबंध कर रखा है, कि हिंदुओको इस विषयमें किसीभी दूसरे धर्म ग्रथ, या मतकी ओर मुँह ताकनेकी आवश्यकता नही पडती। जब सब ब्रह्मज्ञानका निरूपण हो गया, तब याज्ञवल्क्यने राजा जनक

कहा है, कि "अभय वै प्राप्तोऽसि" – अब तू अभय हो गया (बृ ४ २ ४), यही बात गीता-धर्मके ज्ञानके लिये अनेक अर्थोमें अक्षरश कही जा सकती है।

गीता-धर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भर और व्यापक है। वह सम है, अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदोंके झगडेमें नही पडता, किंतु सब लोगोको एकही मापतोलसे सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मोके विषयमें यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त है, और अधिक क्या कहे? वह सनातन वैदिक धर्म-वृक्षका अत्यत मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्ममें पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञोका अर्थात् केवल कर्मकाडकाही अधिक महात्म्य था, परतु फिर उपनिषदोके ज्ञानसे यह केवल कर्मकाड-प्रधान श्रौत-धर्म गौण माना जाने लगा, और उसी समय साख्यशास्त्रकाभी प्रादुर्भाव हुआ। परतु यह ज्ञान सामान्य जनोको अगम्य था, और इसका झुकावभी कर्म-सन्यासकी ओरही विशेष रहा करता था, इसलिये केवल औपनिषदिक धर्मसे अथवा दोनोकी स्मार्त एकवाक्यतासेभी सर्वसाधारण लोगोका पूरा समाधान होना सभव नही था। अतएव उपनिषदोंके केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञानके साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासनाके राजगुह्यका सयोग करके कर्मकाडकी प्राचीन परपराके अनुसारही, अर्जुनको निमित्त करके गीता-धर्म सब लोगोको मुक्तकठसे यही कहता है, कि "तुम अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने अपने सासारिक कर्तव्योका पालन लोकसग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे, आत्मौपम्य-दृष्टिसे, तथा उत्साहसे यावज्जीवन करते रहो, और उसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म-देवताका सदा यजन करो, जो पिड-ब्रह्माडमें तथा समस्त प्राणियोंमें एकत्वसे व्याप्त है, उसीमें तुम्हारा सासारिक तथा पारलौकिक कल्याण है।" उससे कर्म, बुद्धि, (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) इन तीनोंके बीचका विरोध नष्ट हो जाता है, और सब आयु या जीवनही को ज्ञानमय करनेके लिये उपदेश देनेवाले अकेले गीता-धर्ममें सकल वैदिक धर्मका साराश आ जाता है। इस नित्य-धर्मको पहचानकर, केवल कर्तव्य समझ करके, सर्वभूतहितके लिये प्रयत्न करनेवाले सैंकडो महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष जब इस पवित्र भारतभूमिको अलकृत किया करते थे, तब यह देश परमेश्वरकी कृपाका पात्र बनकर न केवल ज्ञानके वरन् ऐश्वर्यकेभी शिखरपर पहुँच गया था, और कहना नही होगा, कि जबसे दोनो लोगोका साधन यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है, तभीसे इस देशकी निकृष्टावस्थाका आरभ हुआ है। इसलिये ईश्वरसे आशापूर्वक अतिम प्रार्थना यही है, कि भक्तिका, ब्रह्मज्ञानका और कर्तृत्व-शक्तिका यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीता-धर्मके अनुसार परमेश्वरका यजन-पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देशमें फिरभी उत्पन्न हो। और, अतमें उदार पाठकोंसे निम्न मत्रद्वारा (ऋ १० १९१ ४) यह विनती करके गीताका रहस्य-विवेचन यहाँ समाप्त किया जाता है, कि इस ग्रथमें कही भ्रमसे कुछ न्यनाधिकता हुई हो, तो उसे सम-दृष्टिसे सुधार लीजिये –

समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

यथा वः सुसहासति ॥*

---

* यह मंत्र ऋग्वेद संहिताके अंतमें आया है। यज्ञमंडपमें एकत्रित लोगोंको लक्ष्य करके यह कहा गया है। अर्थ – "तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, तुम्हारे अंतःकरण एक समान हों, और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाह्य होगा, अर्थात् संघ-शक्तिकी दृढ़ता होगी।" असति = अस्ति, यह वैदिक रूप है। "यथा वः सुसहासति" इसकी द्विरुक्ति ग्रंथकी समाप्ति दिखलानेके लिये की गई है।

॥ ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट-प्रकरण

गीताकी बहिरंगपरीक्षा

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयाञ्जायते तु सः ॥ *

— स्मृति

पिछले प्रकरणोमे इस वातका विस्तृत वर्णन किया गया है, कि जव भारतीय युद्धमें होनेवाले भीषण कुलक्षय और ज्ञातिक्षयका प्रत्यक्ष दृश्य पहले पहल आंखोंके सामने उपस्थित हुआ, तव अर्जुन अपने क्षात्रधर्मका त्याग करके सन्यासका स्वीकार करनेके लिये तैयार हो गया था, और उस ममय उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये श्रीकृष्णने वेदान्तशास्त्रके आधारपर यह प्रतिपादन किया, कि कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है, कर्मयोगमें वुद्धिहीकी प्रधानता है, इसलिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे अथवा परमेश्वर-भक्तिसे अपनी वुद्धिको साम्यावस्थामें रखकर उस वुद्धिके द्वारा स्वधर्मानुसार सव कर्म करते रहनेमेही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, मोक्ष पानेके लिये इसके सिवा अन्य किसी वातकी आवश्यकता नही है, और इस प्रकार उपदेश करके, भगवानने अर्जुनको युद्ध करनेमे प्रवृत्त कर दिया। गीताका यही यथार्थ तात्पर्य है। अव "गीताको भारतमें सम्मिलित करनेका कोई प्रयोजन नही" इत्यादि जो शकाएँ इस भ्रमसे उत्पन्न हुई है — कि गीताग्रथ केवल वेदान्तविपयक और निवृत्ति-प्रधान है — उनकाभी निवारण आप-ही-आप हो जाता है। क्योकि कर्णपर्वमें सत्यानृतका विवेचन करके जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको युधिष्ठिरके वधसे परावृत्त किया है, उसी प्रकार उसे युद्धमे प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेशभी आवश्यक था, और यदि काव्यकी दृष्टिमे देखा जाय, तोभी यह सिद्ध होता है, कि महाभारतमें अनेक स्थानोपर ऐसेही जो अन्योन्य प्रमग दीख पडते है, उन सवका मूल तत्त्व कही-न-कही

---

* "किसी मत्रके ऋषि, छद, देवता और विनियोगको न जानते हुए जो (उक्त मत्रकी) शिक्षा देता है अथवा जप करता है, वह पापी होता है।" यह किसी-न-किसी स्मृति-ग्रथका वचन है, परतु मालूम नही, कि किस ग्रथका है। हाँ, उसका मूल आर्पेयब्राह्मण (आर्षेय १) श्रुति-ग्रथमे पाया जाता है, वह यह है — "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छेति गर्त वा प्रतिपद्यते ॥" अर्थात् ऋषि, छद आदि किसीभी मत्रके जो वहिरग है, उनके विना मत्र नही कहना चाहिये। यही न्याय गीता सरीखे ग्रथके लियेभी लगाया जा सकता है।

वतलाना आवश्यक था, इसलिये उसे भगवद्‌गीतामें वतलाकर व्यावहारिक धर्म-अधर्मके अथवा कार्य-अकार्य व्यवस्थितिके निरूपण की पूर्ति गीताहीमे की है। वनपर्वने ब्राह्मण-व्याध-सवादमें व्याधने वेदान्तके आधार पर इस वातका विवेचन किया है, कि " मै मास वेचनेका रोजगार क्यो करता हूँ। " और, शातिपर्वके तुलाधार-जाजलि-सवादमेभी, उसी तरह, तुलाधारने अपने वाणिज्य व्यवसायका समर्थन किया है (वन २०६–२१५, शा २६०–२६३)। परतु यह उपपत्ति उन विशिष्ट व्यवसायोहीकी है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि विषयोका विवेचन यद्यपि महाभारतमें कई स्थानोपर मिलता है, तथापि वहभी एकदेशीय अर्थात् उन विशिष्ट विषयोंके लियेही है, इसलिये वह महाभारतका प्रधान भाग नही माना जा सकता, अथवा इस प्रकारके एकदेशीय विवेचनसे यहभी निर्णय नही किया जा सकता, कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण और पाडवोंके उज्ज्वल कार्योंका वर्णन करनेके लिये व्यासजीने महाभारतकी रचना की है, उन महानुभावोके चरित्नोको आदर्श मानकर मनुष्य उस प्रकार आचरण करे या नही। यदि यही मान लिया जाय, कि ससार नि सार है और कभी-न-कभी सन्यास लेनाही हितकारक है, तो स्वभावत ये प्रश्न उपस्थित होते है, कि श्रीकृष्ण तथा पाडवोको इतनी झझटमें पडनेका कारणही क्या था ? और, यदि उनके प्रयत्नोका कुछ हेतु मान लिया जाय, तो लोकसग्रहार्थ उनका गौरव करके व्यासजीको तीन वर्षपर्यंत लगातार परिश्रम करके (मभा आ ६२ ५२) एक लाख श्लोकोंके इम वृहत्-ग्रथको लिखनेका प्रयोजनही क्या था ? केवल इतनाही कह देनेसे ये प्रश्न यथेष्ट हल नही हो सकते, कि वर्णाश्रम-कर्म चित्त-शुद्धिके लिये किये जाते है, क्योकि चाहे जो कहा जाय, स्वधर्माचरण अथवा जगतके अन्य सव व्यवहार तो सन्यास-दृष्टिसे गौणही माने जाते है। इसलिये, महाभारतमे जिन महान् पुरुषोके चरित्नोका वर्णन किया गया है, उन महात्माओंके आचरणपर ' मूले कुठार ' न्यायसे होनेवाले आक्षेपको हटाकर, उक्त ग्रथमे कही-न-कही विस्तार-पूर्वक यह वतलाना आवश्यक था, कि ससारके सव काम करने चाहिये या नही और यदि कहा जाय, कि करने चाहिये, तो प्रत्येक मनुष्यको अपना अपना कर्म ससारमें किस प्रकार करना चाहिये, जिससे वह कर्म उसकी मोक्ष-प्राप्तिके मार्गमे वाधा न डाल सके। नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि महाभारतके उपाख्यानोमे उक्त वातोका विवेचन करना उपयुक्त न हुआ होता, क्योकि ऐसा करनेसे उन उपागोके सदृश्य यह विवेचनभी गौणही माना गया होता। इसी प्रकार वनपर्व अथवा शातिपर्वके अनेक विषयोकी खिचडीमें यदि गीताकोभी सम्मिलित कर दिया जाता, तो उसका महत्त्व अवश्यही घट गया होता। अतएव उद्योगपर्व समाप्त होनेपर महाभारतका प्रधान कार्य – भारतीय युद्ध – आरभ होनेके ठीक मौकेपरही, उसपर ऐसे आक्षेप किये गये है, जो नीति-धर्मकी दृष्टिसे अपरिहार्य दीख पडते है, और वही यह कर्म-अकर्म विवेचनका स्वतत्र शास्त्र उपपत्तिसहित वतलाया गया है। साराश,

पढ़नेवाले कुछ देरके लिये यदि यह परम्परागत कथा भूल जायें, कि श्रीकृष्णजीने युद्धके आरम्भमेंही अर्जुनको गीता सुनाई है, और यदि वे इसी बुद्धिसे विचार करें, कि महाभारतमें धर्म-अधर्मका निरूपण करनेके लिये रचा गया यह एक आर्ष-महाकाव्य है, तोभी यही दीख पड़ेगा, कि गीताके लिये महाभारतमें जो स्थान नियुक्त किया गया है, वही गीताका महत्त्व प्रगट करनेके लिये काव्य-दृष्टिसेभी अत्यंत उचित है। जब इन बातोंकी ठीक ठीक उपपत्ति मालूम हो गई, कि गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है और महाभारतमें किस स्थानपर गीता बतलाई गई है, तब ऐसे प्रश्नोंका कुछभी महत्त्व दीख नहीं पड़ता, कि "रणभूमिपर गीताका ज्ञान बतलानेकी क्या आवश्यकता थी? कदाचित् किसीने इस ग्रंथको महाभारतमें पीछे घुसेड़ दिया होगा! अथवा, भगवद्गीतामें दसही श्लोक मुख्य हैं या सौ?" क्योंकि अन्य प्रकरणोंमेंभी यही दीख पड़ता है कि जब एक बार यह निर्णय हो गया, कि धर्म-निरूपणार्थ 'भारत'का 'महाभारत' करनेके लिये अमुक विषय महाभारतमें अमुक कारणसे अमुक स्थानपर रखा जाना चाहिये, तब महाभारतकार इस बातकी चिंता नहीं करते, कि उस विषयके पूर्ण निरूपणमें कितना स्थान लग जायगा। तथापि गीताकी बहिरंग-परीक्षाके संबंधमें जो अन्यान्य युक्तियाँ पेश की जाती हैं, उनपरभी अब प्रसंगानुसार विचार करके उनके सत्यांशकी जाँच करना आवश्यक है। इसलिये उनमेंसे (१) गीता और महाभारत, (२) गीता और उपनिषद्, (३) गीता और ब्रह्मसूत्र, (४) भागवत धर्मका उदय और गीता, (५) वर्तमान गीताका काल, (६) गीता और बौद्ध ग्रंथ, (७) गीता और ईसाइयोंकी बाइबल, इन सात विषयोंका विवेचन इस प्रकरणके सात भागोंमें क्रमानुसार किया गया है। स्मरण रहे, कि उक्त बातोंका विचार करते समय, केवल काव्यकी दृष्टिसे अर्थात् व्यावहारिक और ऐतिहासिक दृष्टिसेही महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रंथोंका विवेचन बहिरंग-परीक्षा किया करते हैं, इसलिये, अब उक्त प्रश्नोंका विचार हमभी उसी दृष्टिसे करेंगे।

भाग १ – गीता और महाभारत

ऊपर यह अनुमान किया है, कि श्रीकृष्णजी सरीखे महात्माओंके चरित्रोंका नैतिक समर्थन करनेके लिये महाभारतमें कर्मयोग-प्रधान गीता, उचित कारणोंसे, उचित स्थानमें रखी गई है, और गीता महाभारतकाही एक भाग होना चाहिये, वही अनुमान इन दोनो ग्रंथोंकी रचनाकी तुलना करनेसे अधिक दृढ हो जाता है। परन्तु तुलना करनेके पहले इन दोनो ग्रंथोंके वर्तमान स्वरूपका कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने गीता-भाष्यके आरंभमें श्रीमच्छंकराचार्यजीने स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि गीता ग्रंथमें सात-सौ श्लोक हैं, और वर्तमान समयमें प्राप्त सब प्रतियोंमेंभी उतनेही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात-सौ श्लोकोंमेंसे १ श्लोक

धृतराष्ट्रका है, ४० संजयके, ८४ अर्जुनके और ५७५ भगवानके हैं। परन्तु बंबईमें गणपत कृष्णाजीके छापाखानेमें मुद्रित महाभारतकी प्रतिमें भीष्मपर्वमें वर्णित गीताके अठारह अध्यायोंके बाद जो अध्याय आरंभ होता है, उसके (अर्थात् भीष्मपर्वके तेतालीसवे अध्यायके) आरंभमें साढेपाँच श्लोकोंमें गीतारहस्यका वर्णन किया गया है और उसमें कहा है –

> षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
> अर्जुनः सप्तपंचाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ।
> धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥

"गीतामें केशवके ६२०, अर्जुनके ५७, संजयके ६७ और धृतराष्ट्रका १, इस प्रकार कुल मिलाकर ७४५ श्लोक हैं।" मद्रास इलाकेमें जो पाठ प्रचलित है, उसके अनुसार कृष्णाचार्य-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी प्रतिमें ये श्लोक पाये जाते हैं। परन्तु कलकत्तेमें मुद्रित महाभारतमें ये नहीं मिलते, और भारत-टीकाकार नीलकंठने तो इनके विषयमें यह लिखा है, कि इन साढेपाँच श्लोकोंको "गौडै न पठ्यन्ते" अतएव प्रतीत होता है, कि ये प्रक्षिप्त हैं। परन्तु यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त मान लें, तथापि यह नहीं बतलाया जा सकता, कि गीतामें ७४५ श्लोक (अर्थात् वर्तमान प्रतियोंमें जो ७०० श्लोक हैं उनसे ४५ श्लोक अधिक) किसे और कब मिले। महाभारत बडा भारी ग्रंथ है, इसलिये संभव है, कि इसमें समय समयपर अन्य श्लोक जोड दिये गये हों तथा कुछ निकाल डाले गये हों। परन्तु यह बात गीताके विषयमें नहीं कही जा सकती। गीता-ग्रंथ सदैव पठनीय होनेके कारण वेदोंके सदृश पूरी गीताकोभी कंठाग्र करनेवाले लोग पहले बहुत थे, और अबतकभी कुछ हैं। यही कारण है, कि वर्तमान गीतामें बहुत-से पाठांतर नहीं हैं, और जो कुछ भिन्न पाठ हैं, वे सब टीकाकारोंको मालूम हैं। इसके सिवा यहभी कहा जा सकता है, कि इसी हेतुसे गीता-ग्रंथमें बराबर ७०० श्लोक रखे गये हैं, कि इसमें कोई फेरफार न कर सके। अब प्रश्न यह है, कि बंबई तथा मद्रासमें मुद्रित महाभारतकी प्रतियोंमेंही ४५ श्लोक, और वेभी सब भगवानहीके ज्यादा कहाँसे आ गये? संजय और अर्जुनके श्लोकोंका जोड वर्तमान प्रतियोंमें, और इस गणनामें समान अर्थात् १२४ है, और ग्यारहवें अध्यायके "पश्यामि देवान्" (गीता ११ १५–३१) आदि १७ श्लोकोंके साथ मतभेदके कारण संभव है, कि अन्य दस श्लोकभी संजयके माने जावें, इसलिये कहा जा सकता है, कि यद्यपि संजय और अर्जुनके श्लोकोंका जोड समानही है, तथापि प्रत्येक श्लोकको पृथक् पृथक् गिननेमें कुछ फर्क हो गया होगा। परन्तु इस बातका कुछ पता नहीं लगता, कि वर्तमान प्रतियोंमें भगवानके जो ५७५ श्लोक हैं, उनके बदले ६२० (अर्थात् ४५ अधिक) कहाँसे आ गये। यदि यह कहते हैं, कि गीताका 'स्तोत्र' या 'ध्यान' या इसी प्रकारके किसी अन्य प्रकरणका उसमें समावेश किया गया होगा, तो देखते हैं, कि बंबईमें मुद्रित महाभारतकी पोथीमें वह प्रकरण

नही है। इतना ही नही, किंतु इस पोथीवाली गीतामेंभी सात सौ-ही श्लोक हैं। अतएव, वर्तमान सात सौ श्लोकोकी गीताहीको प्रमाण माननेके सिवा अन्य मार्ग नही है। यह हुई गीताकी बात, परतु जब महाभारतकी ओर देखते हैं, तो कहना पडता है, कि यह विरोध कुछभी नही है। स्वय भारतहीमें यह कहा है, कि महा-भारत-सहिताकी सख्या एक लाख है। परतु रा ब चिंतामणराव वैद्यने महाभारतके अपने टीका-ग्रथमें स्पष्ट करके बतलाया है, कि वर्तमान प्रकाशित पोथियोमें उतने श्लोक नही मिलते, और भिन्न भिन्न पर्वोके अध्यायोकी सख्याभी भारतके आरभमें दी गई अनुक्रमणिकाके अनुसार नही है। ऐसी अवस्थामें, गीता और महाभारतकी तुलना करनेके लिये इन ग्रथोकी किसी-न-किसी विशेष पोथीका आधार लिये विना काम नही चल सकता, अतएव श्रीमच्छकराचार्यने जिस सात सौ श्लोकोवाली गीताको प्रमाण माना है, उसी गीताको और कलकत्तेके बाबू प्रतापचद्र राय-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी पोथीको प्रमाण मानकर हमने इन दोनो ग्रथोकी तुलना की है, और हमारे इस ग्रथमें उद्धृत महाभारतके श्लोकोका स्थान-निर्देशभी, कलकत्तेमें मुद्रित उक्त महाभारतके अनुसारही किया गया है। इन श्लोकोको बबईकी पोथीमें अथवा मद्रासके पाठक्रमके अनुसार प्रकाशित कृष्णाचार्यकी प्रतिमें देखना हो, और यदि वे हमारे निर्दिष्ट किये हुए स्थानोपर न मिले, तो कुछ आगे पीछे ढूँढनेसे वे मिल जायँगे।

सात सौ श्लोकोकी गीता और कलकत्तेके बाबू प्रतापचद्र राय-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी तुलना करनेसे प्रथम यही दीख पडता है, कि भगवद्गीता महाभारत-हीका एक भाग है, और इस बातका उल्लेख स्वय महाभारतमेंही कई स्थानोमें पाया जाता है। पहला उल्लेख आदिपर्वके आरभमें दूसरे अध्यायमें दी गई अनु-क्रमणिकामें किया गया है। पर्व-वर्णनमे पहले यह कहा है – "पूर्वोक्त भगवद्गीता-पर्व भीष्मवधस्तत" (मभा आ २ ६९), और फिर अठारह पर्वोके अध्यायो और श्लोकोकी सख्या बतलाते समय भीष्मपर्वके वर्णनमें पुनश्च भगवद्गीताका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है –

कश्मल यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामति ।
मोहज नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ॥

"जिसमें मोक्षगर्भ कारण बतलाकर वासुदेवने अर्जुनके मनका मोहज कश्मल दूर कर दिया (मभा. आ २ २४७)। इसी प्रकार आदिपर्वके (आ १ १७९) पहले अध्यायमें प्रत्येक श्लोकके आरभमे 'यदाश्रौष' कहकर, जब धृतराष्ट्रने बतलाया है, कि दुर्योधन प्रभृतिकी जय-प्राप्तिके विषयमें किस किस प्रकार मेरी निराशा होती गई, तब यह वर्णन है, कि "ज्योही सुना, कि अर्जुनके मनमें मोह उत्पन्न होनेपर श्रीकृष्णने उसे विश्वरूप दिखलाया, त्योही जयके विषयमे मेरी पूरी निराशा हो गई।" आदिपर्वके इन तीनो उल्लेखोके बाद शातिपर्वके अतमें नारायणीय धर्मका

वर्णन करते हुए गीताका फिरभी उल्लेख करना पडा है। नारायणीय, सात्वत, ऐकांतिक और भागवत – ये चारो नाम समानार्थक है। नारायणीयोपाख्यानमे (शा ३३४–३५१) उस भक्तिप्रधान प्रवृत्ति-मार्गके उपदेशका वर्णन किया गया है, कि जिसका उपदेश नारायण ऋषि अथवा भगवानने श्वेतद्वीपमे नारदजीको किया था। पिछले प्रकरणोमे भागवत धर्मके इस तत्त्वका वर्णन किया जा चुका है, कि वासुदेवकी एकातभावमे भक्ति करके इस जगतके सब व्यवहार स्वधर्मानुसार करते रहनेमेही मोक्षकी प्राप्ती हो जाती है, और यहभी बतला दिया गया है, कि इसी प्रकार भगवद्गीतामेभी सन्यास-मार्गकी अपेक्षा कर्मयोगही श्रेष्ठतर माना गया है। इस नारायणीय धर्मकी परपराका वर्णन करते समय वैशपायन जनमेजयसे कहते है, कि यह धर्म साक्षात् नारायणसे नारदको प्राप्त हुआ है, और यही धर्म "कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पत" (मभा शा ३४६ १०) – हरिगीता अथवा भगवद्गीतामे बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे चलकर ३४८ वे अध्यायके ८ वे श्लोकमें यह बतलाया गया है, कि –

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम ॥

कौरव और पाडवोंके युद्धके समय विमनस्क अर्जुनको भगवानने ऐकांतिक अथवा नारायण-धर्मकी इन विधियोका उपदेश किया था, और सब युगोमे स्थित नारायण-धर्मकी परपरा बतलाकर पुनश्च कहा है, कि इस धर्मका और यतियोके धर्म अर्थात् सन्यास-धर्मका वर्णन 'हरिगीता'मे किया गया है (मभा शा ३४८ ५३)। आदिपर्व और शातिपर्वमें किये गये इन छ उल्लेखोके अतिरिक्त अश्वमेधपर्वके अनुगीतापर्वमेभी और एक बार भगवद्गीताका उल्लेख किया गया है। जब भारतीय युद्ध पूरा हो गया, युधिष्ठिरका राज्याभिषेकभी हो गया, और एक दिन श्रीकृष्ण तथा अर्जुन एकत्र बैठे हुए थे, तब श्रीकृष्णने कहा – "यहाँ अब मेरे रहनेकी कोई आवश्यकता नही है, द्वारका जानेकी इच्छा है।" इसपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की, कि युद्धके आरभमें पहले आपने मुझे जो उपदेश किया था, वह मै भूल गया, इसलिये वह मुझे फिरसे बतलाइये (अश्व १६)। तब इस विनतीके अनुसार, द्वारकाको जानेके पहले, श्रीकृष्णने अर्जुनको अनुगीता सुनाई है। इस अनुगीताके आरभहीमे भगवानने कहा है – "दुर्भाग्य-वश तू उस उपदेशको भूल गया, जिसे मैने तुझे युद्धके आरभमें बतलाया था। उस उपदेशको फिरसे वैसेही बतलाना अब मेरे लियेभी असभव है, इसलिये उसके बदले तुझे कुछ अन्य बाते बतलाता हूँ" (मभा अश्व अनुगीता १६ ९–१३)। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि अनुगीतामे वर्णित कुछ प्रकरण गीताके प्रकरणोके समानही है। अनुगीताके उक्त निर्देशको मिलाकर महाभारतमे भगवद्गीताका सात बार स्पष्ट उल्लेख हो गया है। अर्थात् अतर्गत

प्रमाणोसे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवद्गीता वर्तमान महाभारतकाही एक भाग है।

परतु सदेहकी गति निरकुश रहती है, इसलिये उपर्युक्त सात निर्देशोसेभी कई लोगोका समाधान नही होता। वे कहते है, कि यह कैसे सिद्ध हो सकता है, कि ये उल्लेखभी भारतमे पीछेसे नही जोड दिये गये होगे? इस प्रकार उनके मनमे यह शका ज्यो-की-त्यो रह जाती है, कि गीता महाभारतका भाग है अथवा नही। पहले तो यह शका केवल इसी समझसे उपस्थित हुई है, कि गीता ग्रथ ब्रह्मज्ञान-प्रधान है, परतु हमने पहलेही विस्तारपूर्वक वतला दिया है, कि यह समझ ठीक नही, अतएव यथार्थमें देखा जाय, तो अव इस शकाके लिये कोई स्थानही नही रह जाता। तथापि इन प्रमाणोपरही अवलवित न रहते हुए अव हम वतलाना चाहते है, कि अन्य प्रमाणोंसेभी उक्त शकाकी अयथार्थता सिद्ध हो सकती है। जब दो ग्रथोंके विषयमे यह शका की जाती है, कि वे दोनो एकही ग्रथकारके हैं या नही, तव काव्यमीमासकगण पहले इन दोनो वातो – शव्दसादृश्य और अर्थसादृश्य – का विचार किया करते है। शव्दसादृश्यमे केवल शव्दोहीका समावेश नही होता किंतु उसमें भाषा-रचनाकाभी समावेश किया जाता है। इस दृष्टिसे विचार करते समय देखना चाहिये कि गीताकी भाषा और महाभारतकी भाषामें कितनी समता है। परतु महाभारत ग्रथ वहुत वडा और विस्तीर्ण है, इसलिये उसमें प्रसगके अनुसार स्थान-स्थानपर भाषाकी रचनाभी भिन्न भिन्न रीतिसे की गई है। उदाहरणार्थ, कर्णपर्वके कर्ण और अर्जुनके युद्धका वर्णन पढनेसे दीख पडता है, कि उसकी भाषारचना अन्य प्रकरणोकी भाषासे भिन्न है। अतएव यह निश्चित करना अत्यत कठिन है, कि गीता और महाभारतकी भाषामें समता है या नही। तथापि सामान्यत विचार करनेपर हमें परलोकवासी काशीनाथपत तेलगके* मतमे सहमत होकर कहना पडता है, कि गीताकी भाषा तथा छदरचना आर्ष अथवा प्राचीन है। उदाहरणार्थ, काशीनाथपतने यह वतलाया है, कि अत (गीता २ १६), भाषा (गीता २ ५४), ब्रह्म (=प्रकृति, गीता १४ ३), योग (कर्मयोग), पादपूरक अव्यय 'ह' (गीता २ ९) आदि शव्दोका प्रयोग गीतामें जिस अर्थमें किया गया है, उस अर्थमें वे शव्द कालिदास प्रभृतिके काव्योमें नही पाये जाते, और पाठभेदहीसे क्यो न हो, परतु गीताके ११ ३५ श्लोकमे 'नमस्कृत्वा' यह अपाणिनीय शव्द रखा गया है, तथा गीता

---

* स्वर्गीय काशीनाथ त्र्यवक तेलग-द्वारा रचित भगवद्गीताका अग्रेजी अनुवाद मेक्समूलर साहव-द्वारा सपादित प्राच्यधर्म-पुस्तकमालामें (Sacred Books of the East Series, Vol VIII) प्रकाशित हुआ है। इस ग्रथमें गीतापर एक टीकात्मक लेख प्रस्तावनाके तौरपर जोड दिया गया है। स्वर्गीय तैलगके मतानुसार इस प्रकरणमें जो उल्लेख है, वे (एक स्थानको छोड) इस प्रस्तावनाको लक्ष्य करकेही किये गये हैं।

११ ४८ में 'शक्य अह' इस प्रकार अपाणिनीय संधिभी की गई है। इसी तरह "सेनानीनामह स्कन्द" (गीता १० २४) मे जो 'सेनानीना' षष्ठीकारक है वहभी पाणिनीके अनुसार शुद्ध नही है। आर्ष वृत्तरचनाके उदाहरणोको स्वर्गीय तेलगने स्पष्ट करके नही बतलाया है, परतु हमे यह प्रतीत होता है, कि ग्यारहवे अध्यायवाले विश्वरूप-वर्णनके (गीता ११ १५-५०) छत्तीस श्लोकोको लक्ष्य करकेही उन्होने गीताकी छदरचनाको आर्ष कहा है। इन श्लोकोके प्रत्येक चरणमे ग्यारह अक्षर है, परतु गणोका कोई नियम नही है, एक इद्रवज्रा चरण है तो दूसरा उपेंद्र-वज्रा, तीसरा है शालिनी, तो चौथा किसी अन्य प्रकारका, इस तरह उक्त छत्तीस श्लोकोमें – अर्थात् १४४ चरणोमें – भिन्न भिन्न जातिके कुल ग्यारह चरण दीख पडते है। तथापि उनमे यह नियमभी दीख पडता है, कि प्रत्येक चरणमे ग्यारह अक्षर है, और उनमेंसे पहला, चौथा, आठवाँ और अतिम दो अक्षर गुरु है, तथा छठा अक्षर प्राय लघुही है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि ऋग्वेद तथा उप-निषदोके त्रिष्टुप् छदके ढँगपरही ये श्लोक रचे गये है। ऐसे ग्यारह अक्षरोके विषम-वृत्त कालिदासके काव्योमें नही मिलते। हाँ, शाकुतल नाटकका "अमी वेदि परित क्लृप्तधिष्ण्या" यह श्लोक इसी छदमे है, परतु कालिदासहीने उसे 'ऋक्छद' अर्थात् ऋग्वेदका छद कहा है। इससे यह बात प्रकट हो जाती है, कि आर्ष वृत्तोके प्रचारके समयहीमें गीता-ग्रथकी रचना हुई है। महाभारतके अन्य स्थलोमें उक्त प्रकारके आर्ष शब्द और वैदिक वृत्त दीख पडते है। परतु इसके अतिरिक्त इन दोनो ग्रथोके भाषासादृश्यका दूसरा दृढ प्रमाण यह है, कि महाभारत और गीतामें एकहीसे अनेक श्लोक पाये जाते है। महाभारतके सब श्लोकोकी छानबीन कर यह निश्चित करना कठिन है, कि उनमेंसे गीतामें कितने श्लोक उपलब्ध है। परतु महाभारत पढते समय उसमें जो श्लोक अक्षरश या न्यूनाधिक पाठभेदसे गीताके श्लोकके सदृश हमे जान पडे, उनकी सख्याभी कुछ कम नही है, और उनके आधारपर भाषा-सादृश्यके प्रश्नका निर्णयभी सहजही हो सकता है। नीचे दिये गये श्लोक और श्लोकार्ध, गीता और महाभारत (कलकत्ता की प्रति) में शब्दश अथवा एक-आध शब्दकी भिन्नता होकर ज्यो-के-त्यो मिलते है –

गीता	महाभारत
१ ९ नानाशस्त्रप्रहरणा० श्लोकार्ध।	भीष्मपर्व (५१ ४), गीताके सदृशही दुर्योधन द्रोणाचार्यसे अपनी सेनाका वर्णन कर रहा है।
१ १० अपर्याप्त० पूरा श्लोक।	भीष्म (५१ ६)

१ १२–१९ तक आठ श्लोक।	भीष्म (५१ २२–२९), कुछ शब्द-भेद रहते हुए शेष गीताके श्लोकोंके समानही हैं।
१ ४५ अहो वत महत्पाप० श्लोकार्ध।	द्रोण (१९७ ५०), कुछ शव्दभेद हैं, शेष गीताके श्लोकके समान।
२ १९ उभौ तौ न विजानीत० श्लोकार्ध।	शाति (२२४ १४), कुछ पाठभेद होकर वलि-वासव-सवाद और कठोप-निपदमें (२ १८) है।
२ २८ अव्यक्तादीनि भूतानि० श्लोक।	स्त्री (२ ६ ९ ११), 'अव्यक्त'के वदले 'अभाव' है, शेप सव समान है।
२ ३१ धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो० श्लोकार्ध।	भीष्म (१२४ ३६), भीष्म कर्णको यही वतला रहे है।
२ ३२ सदृच्छया० श्लोक।	कर्ण (५७ २) 'पार्थ'के वदले 'कर्ण' पद रखकर दुर्योधन कर्णसे कह रहा है।
२ ४६ यावान् अर्थ उपपाने० श्लोक।	उद्योग (८५ २६), सनत्सुजातीय प्रकरणमें कुछ शव्दभेदसे पाया जाता है।
२ ५९ विषया विनिवर्तन्ते० श्लोक।	शाति (२०४ १६), मनु-वृहस्पति-सवादमें अक्षरश मिलता है।
२ ६७ इद्रियाणा हि चरता० श्लोक।	वन (२१० २६), व्राह्मण-व्याध-सवादमे कुछ पाठभेदसे आया है और पहले रथका रूपकभी दिया गया है।
२ ७० आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ० श्लोक।	शाति (२५० ९), शुकानुप्रश्नमें ज्यो-का-त्यो आया है।
३ ४२ इद्रियाणि पराण्याहु० श्लोक।	शाति (२४५ ३, २४७ २) कुछ पाठभेदसे शुकानुप्रश्नमें दो वार आया है। परतु इस श्लोकका मूल स्थान कठोपनिषदमें है (कठ ३ १०)।
४ ७ यदा यदाहि धर्मस्य० श्लोक।	वन (१८९ २७), मार्कंडेय-प्रश्नमें ज्यो-का-त्यो है।

४ ३१ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य० श्लोकार्ध।	शांति (२६७ ४०), गोकापिलीयाख्यानमें पाया जाता है, और सब प्रकरण यज्ञविषयकही है।
४ ४० नायं लोकोऽस्ति न परो० श्लोकार्ध।	वन (१९९ ११०), मार्कण्डेय समस्यापर्वमें शब्दश मिलता है।
५ ५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं० श्लोक।	शांति (३०५, १९, ३१६ ४), इन दोनो स्थानोमें कुछ पाठभेदसे वसिष्ठकराल औरयाज्ञवल्क्य-जनकके सवादमें पाया जाता है।
५ १८ विद्याविनयसंपन्ने० श्लोक।	शांति (२३८ १९), शुकानुप्रश्नमें अक्षरश मिलता है।
६ ५ आत्मैव ह्यात्मनो बंधु० श्लोकार्ध। और आगामी श्लोकका अर्ध।	उद्योग (३३ ६३, ६४), विदुर-नीतिमें ठीक ठीक मिलता है।
६ २९ सर्वभूतस्थमात्मानं० श्लोकार्ध।	शांति (२३८ २१), शुकानुप्रश्न, मनुस्मृति (१२ ९१), ईशावास्योपनिषद् (६) और कैवल्योपनिषदमें (१ १०) तो ज्यो-का-त्यो मिलता है।
६ ४४ जिज्ञासुरपि योगस्य० श्लोकार्ध।	शांति (२३५ ७), शुकानुप्रश्नमें कुछ पाठ-भेद करके रखा गया है।
८. १७ सहस्रयुगपर्यंत० यह श्लोक पहले युगका अर्थ न बतलाकर गीतामें दिया गया है।	शांति (२३१ ३१), शुकानुप्रश्नमें अक्षरश मिलता है, और युगका अर्थ बतलानेवाला कोष्टकभी पहले दिया गया है। मनुस्मृतिमेंभी कुछ पाठांतरसे मिलता है (मनु १ ७३)।
८ २० यः स सर्वेषु भूतेषु श्लोकार्ध।	शांति (३३९ २३), नारायणीय धर्ममें कुछ पाठांतर होकर दो बार आया है।
९ ३२ स्त्रियो वैश्यास्तथा० यह पूरा श्लोक और आगामी श्लोकका पूर्वार्ध।	अश्व (१९ ६१, ६२), अनुगीतामें कुछ पाठांतरके साथ येही श्लोक है।

१३ १३ सर्वत पाणिपाद० श्लोक।	शाति (२३८ २९, अश्व १९ ४९), शुकानुप्रश्न, अनुगीता तथा अन्यत्रभी यह अक्षरश मिलता है। इस श्लोकका मूलस्थान श्वेताश्वेतरोपनिपद् (३ १६) है।
१३ ३० यदा भूतपृथग्भाव० श्लोक।	शाति (१७ २३), युधिष्ठिरने अर्जुनसे येही शब्द कहे हैं।
१४ १८ ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था० श्लोक।	अश्व (३९ १०), अनुगीताके गुरु-शिष्यसवादमें अक्षरश मिलता है।
१६ २१ त्रिविध नकरस्यद० श्लोक।	उद्योग (३२ ७) विदुरनीतिमें अक्षरश मिलता है।
१७ ३ श्रद्धामयोऽय पुरुप ० श्लोकार्ध।	शाति (२६३ १७), तुलाधार-जाजलि-सवादके श्रद्धा प्रकरणमें मिलता है।
१८ १४ अधिष्ठान तथा कर्ता० श्लोक।	शाति (३४७ ८७), नारायणीय धर्ममें अक्षरश मिलता है।

उक्त तुलनासे यह वोध होता है, कि २७ पूरे श्लोक और १२ श्लोकार्ध, गीता तथा महाभारतके भिन्न प्रकरणोमें – कही कही तो अक्षरश और कही कही कुछ पाठातर होकर – एकहीसे है, और, यदि पूरी तौरसे जाँच की जावे, तो औरभी कुछ श्लोको तथा श्लोकार्धोंका मिलना सभव है। यदि यह देखना चाहे, कि दो-दो अथवा तीन-तीन शब्द अथवा श्लोकके चतुर्थांश (चरण) गीता और महाभारतमें कितने स्थानोपर एक-से है, तो उपर्युक्त तालिका कही अधिक वढानी होगी।* परतु इस शब्द-साम्यके अतिरिक्त केवल उपर्युक्त तालिकाके श्लोक-सादृशका विचार करे,

*यदि इस दृष्टिसे सपूर्ण महाभारत देखा जाय, तो गीता और महाभारतमें समान श्लोकपाद अर्थात् चरण सौसेभी अधिक दीख पडेंगे। उनमेंसे कुछ यहां दिये जाते है – कि भोगैर्जीवितेन वा (गीता १ ३२) नैतत्त्वय्युपपद्यते (गीता २ ३), त्रायते महतो भयात् (२ ४०), अशातस्य कुत सुखम् (२ ६६), उत्सीदेयुरिमे लोका (३ २४), मनो दुर्निग्रह चलम् (६ ३५), ममात्मा भूतभावन (९ ५), मोघाशा मोघकर्माण (९ १२), सम सर्वेषु भूतेषु (९ २९), दीप्तानलार्कद्युति (११ १७), सर्वभूतेहिते रता (१२ ४), तुल्यनिंदा स्तुति (१२ १९), सतुष्टो येनकेनचित् (१२ १९), समलोष्टाश्मकाचन (१४ २४), त्रिविधा कर्मचोदना (१८ १८), निर्मम शात (१८ ५३), ब्रह्मभूयाय कल्पते (१८ ५३) इत्यादि।

तो बिना यह कहे नहीं रहा जा सकता, कि महाभारतके अन्य प्रकरण और गीता, ये दोनों एकही लेखनीके फल हैं। यदि प्रत्येक प्रकरणपर विचार किया जाय, तो यह प्रतीत हो जायगा, कि उपर्युक्त ३३ श्लोकोंमेंसे १ मार्कंडेय प्रश्नमें, आधा मार्कंडेय-समस्यामें, १ ब्राह्मण-व्याध-संवादमें, २ विदुर-नीतिमें, १ सनत्सुजातीयमें १ मनु-बृहस्पति-संवादमें, ६।। शुकानुप्रश्नमें, १ तुलाधार-जाजलि-संवादमें, १ वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य-जनक-संवादमें, १।। नारायणीय धर्ममें, २।। अनुगीतामें और शेष भीष्म, द्रोण, कर्ण, तथा स्त्रीपर्वमें उपलब्ध हैं। इनमेंसे प्रायः सब जगह ये श्लोक पूर्वापर संदर्भके उक्त उचित स्थानोंपरही मिलते हैं – प्रक्षिप्त नहीं हैं, और यहभी प्रतीत होता है, कि इनमेंसे कुछ श्लोक गीताहीमें समारोप दृष्टिसे लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, 'सहस्रयुगपर्यंतम्' (गीता ८ १७) इस श्लोकके स्पष्टीकरणार्थ वर्ष और युगकी व्याख्या पहले बतलाना आवश्यक था, और महाभारत (शां २३१) तथा मनुस्मृतिमें इस श्लोकके पहले उनके लक्षणभी कहे गये हैं। परन्तु गीतामें यह श्लोक, 'युग' आदिकी व्याख्या न बतला कर, एकदम कहा गया है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह नहीं कहा जा सकता, कि महाभारतके अन्य प्रकरणोंमें ये श्लोक गीताहीसे उद्धृत किये गये हों, और, इतने भिन्न भिन्न प्रकरणोंमेंसे गीतामें इन श्लोकोंका लिया जानाभी संभव नहीं है। अतएव, यही कहना पड़ता है, कि गीता और महाभारतके इन प्रकरणोंका लिखनेवाला कोई एकही पुरुष होना चाहिये। यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार मनुस्मृतिके कई श्लोक महाभारतमें मिलते हैं,* उसी प्रकार गीताका 'सहस्रयुग-पर्यंतम्' (८ १७) यह पूर्ण श्लोक कुछ हेरफेरके साथ, और यह श्लोकार्ध – "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (गीता ३ ३५, १८ ४७) 'श्रेयान्'के बदले 'वरं' पाठांतर होकर – मनुस्मृतिमें पाया जाता है, तथा 'सर्वभूतस्थ-मात्मानम्' यह श्लोकार्धभी (गीता ६ २९) 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' इस रूपमें मनुस्मृतिमें पाया जाता है (मनु १ ७३, १० ९७, १२ ९१)। महाभारतके अनुशासनपर्वमें तो 'मनुनाभिहितं शास्त्रम्' (अनु ४७ ३५) कहकर मनुस्मृतिका स्पष्ट रीतिसे उल्लेख किया गया है।

शब्द-सादृश्यके बदले यदि अर्थ-सादृश्य देखा जाय, तोभी उक्त अनुमान दृढ़ हो जाता है। पिछले प्रकरणोंमें गीताके कर्मयोग-मार्ग और प्रवृत्ति प्रधान भागवत-धर्म या नारायणीय धर्मकी समताका दिग्दर्शन हम करही चुके हैं। नारायणीय धर्ममें व्यक्त-

---

* 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला' में मनुस्मृतिका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें बुहलर साहबने एक फेहरिस्त जोड़ दी है, और यहभी बतलाया है, कि मनुस्मृतिके कौन कौनसे श्लोक महाभारतमें मिलते हैं। (S B E Vol XXV, p 533 ९६ देखो)

सृष्टिकी उपपत्तिकी जो यह परपरा बतलाई गई है, (मभा शा ३३९ ७१, ७२), कि वासुदेवसे सकर्षण, सकर्षणसे प्रद्युम्न, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध और अनिरुद्धसे ब्रह्मदेव हुए, वह गीतामें नही ली गई। इसके अतिरिक्त यहभी सच है, कि गीता-धर्म और नारायणीय धर्ममें अन्य अनेक भेद है। परतु चतुर्व्यूह परमेश्वरकी कल्पना गीताको मान्य भलेही न हो, तथापि गीताके सिद्धान्तोपर विचार करनेसे प्रतीत होता है, कि गीता-धर्म और भागवत-धर्म एकहीसे है। वे सिद्धान्त ये है – एकव्यूह वासुदेवकी भक्तिही राजमार्ग है, किसीभी अन्य देवताकी भक्ति की जाय, वह वासुदेवहीको अर्पण हो जाती है, भक्त चार प्रकारके होते है, स्वधर्मके अनुसार सब कर्म करके भगवद्भक्तको यज्ञचक्र जारी रखना चाहिये, और सन्यास लेना उचित नही है। यह पहले बतलाया जा चुका है, कि विवस्वान्-मनु, इक्ष्वाकु आदि साप्रदायिक परपराभी दोनो ओर एकही है। इसी प्रकार सनत्सुजातीय' शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-सवाद, अनुगीता इत्यादि प्रकरणोको पढनेसे यह बात ध्यानमें आ जायगी, कि गीतामे वर्णित वेदान्त या अध्यात्मज्ञानभी उक्त प्रकरणोमें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानसे मिलता-जुलता है। कापिल-साख्यशास्त्रके २५ तत्त्वो और गुणोत्कर्षके सिद्धान्तसे सहमत होकरभी भगवद्गीताने जिस प्रकार यह माना है, कि प्रकृति और पुरुषकेभी परे कोई नित्य-तत्त्व है, उसी प्रकार शातिपर्वके वसिष्ठ-कराल-जनक-सवादमें और याज्ञवल्क्य-जनक-सवादमे विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादन किया गया है, कि साख्योंके २५ तत्त्वोके परे एक 'छब्बीसवाँ' तत्त्व और है, जिसके ज्ञानके बिना कैवल्य प्राप्त नही होता। यह विचार-सादृश्य केवल कर्मयोग या अध्यात्म इन्ही दो विषयोंके सबधमें नही दीख पडता, किंतु इन दो मुख्य विषयोंके अतिरिक्त गीतामे जो अन्याय विषय है, उनकी बराबरीके प्रकरणभी महाभारतमें कई जगह पाये जाते है। उदाहरणार्थ, गीताके पहले अध्यायके आरभमेंही द्रोणाचार्यसे दोनो सेनाओका जैसा वर्णन दुर्योधनने किया है, ठीक वैसाही आगे भीष्मपर्वके ५१ वे अध्यायमें, उसने फिरसे द्रोणाचार्यसे वर्णन किया है। पहले अध्यायके उत्तरार्धमे अर्जुनको जैसा विषाद हुआ, वैसाही आगे युधिष्ठिरको शातिपर्वके आरभमें हुआ है, और जब भीष्म तथा द्रोणका 'योगबल'से वध करनेका समय समीप आया, तब अर्जुनके मुखसे फिर वैसेही खेदयुक्त वचन निकले, है (मभा भीष्म ९७ ४–७, १०८ ८८–९४)। गीताके (गीता १ ३२, ३३) आरभमें अर्जुनने कहा है, कि जिनके लिये उपभोग प्राप्त करना है, उन्हीका वध करके जय प्राप्त करे, तो उसका उपयोगही क्या होगा ? और जब युद्धमें सब कौरवोका वध हो गया, तब यही बात दुर्योधनके मुखसेभी निकली है (मभा शल्य ३१ ४२–५१)। दूसरे अध्यायके आरभमेंही जैसे साख्य और कर्मयोग ये दोनो निष्ठाएँ बतलाई गई है, वैसेही नारायणीय धर्ममे और शातिपर्वके जापकोपाख्यान तथा जनक-सुलभा-सवादमेंभी इन निष्ठाओका वर्णन पाया जाता है (मभा शा १९६, ३२०)। तीसरे अध्यायके,

वनपर्वके आरभमें द्रौपदीने युधिष्ठिरसे कहा है, कि अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ हैं, कर्म न किया जाय, तो उपजीविकाभी न हो सकेगी। मो यही वाते (मभा वन ३२), और इन्ही तत्त्वोका उल्लेख अनुगीतामेंभी फिरसे किया गया है। श्रौत-धर्म या स्मार्त-धर्म यज्ञमय है, यज्ञ और प्रजाको ब्रह्मदेवने एकही साथ निर्माण किया है, इत्यादि गीताका प्रवचन नारायणीय धर्मके अतिरिक्त शातिपर्वके अन्य स्थानोमें (शा २६७) और मनुस्मृति (मनु ३) मेंभी मिलता है। तुलाधार-जाजली-सवादमे तथा ब्राह्मण-व्याध-सवादमेंभी येही विचार मिलते है, कि स्वधर्मके अनुसार कर्म करनेमे कोई पाप नही है (मभा शा २६०–२६३, वन २०६-२१५)। इसके सिवा, सृष्टिकी उत्पत्तिका जो थोडा वर्णन गीताके सातवे और आठवे अध्यायोमे है, उसी प्रकारका वर्णन शातिपर्वके शुकानुप्रश्नमेंभी पाया जाता है (शा २३१), और छठे अध्यायमें पातजलयोगके आसनोका जो वर्णन है, उसीका फिरसे शुकानुप्रश्न (शा २३९)में और आगे चलकर शातिपर्वके ३००वे अध्यायमें तथा अनुगीतामेंभी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अश्व १९)। अनुगीताके गुरुशिष्य-सवादमें किये गये मध्यमोत्तम वस्तुओके वर्णन (अश्व ४३, ४४) और गीताके दसवे अध्यायके विभूति-वर्णनके विषयमे तो यह कहा जा सकता है, कि इन दोनोका प्राय एकही अर्थ है। महाभारतमे कहा है, कि गीतामें भगवानने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखलाया था, वही सधि-प्रस्तावके समय दुर्योधन आदि कौरवोको, और युद्धके वाद द्वारकाको लौटते समय मार्गमे उत्तकको भगवानने दिखलाया, और नारायणने नारदको तथा दाशरथि रामने परशुरामको दिखलाया (उ १३०, अश्व ५५, शा ३३९, वन ९९)। इसमें सदेह नही, कि गीताका विश्वरूप-वर्णन इन चारो स्थानोके वर्णनोसे कही अधिक सुरस और विस्तृत है, परतु सव वर्णनोको पढनेसे यह सहजही मालूम हो जाता है, कि अर्थ-सादृश्यकी दृष्टिसे उनमें कोई नवीनता नही है। गीताके चौदहवे और पद्रहवे अध्यायोमें इन वातोका निरूपण किया गया है, कि सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोके कारण सृष्टिमें भिन्नता कैसे उत्पन्न होती है, इन गुणोंके लक्षण क्या है, और सव कर्तृत्व गुणोहीका है, आत्माका नही, ठीक इसी प्रकार इन तीनोका वर्णन अनुगीता (अश्व ३६–३९) और शातिपर्वमेभी अनेक स्थानोमे पाया जाता है (शा २८५, ३३०–३११), साराश, गीतामें जिस प्रसगका वर्णन किया गया है, उसके अनुसार उसमें कुछ विषयोका विवेचन अधिक विस्तृत हो गया है, और गीताकी विषय-विवेचन-पद्धतिभी कुछ भिन्न है, तथापि यह दीख पडता है, कि गीताके सव विचारोंसे ममानता रखनेवाले विचार महाभारतमेंभी पृथक् पृथक्, कही-न-कही, न्यूनाधिक पायेही जाते है, और यह वतलानेकी आवश्यकता नही, कि विचार-सादृश्यके साथ-ही-साथ थोडीवहुत समता शब्दोमेंभी आप-ही आप आ जाती है। मार्गशीर्ष महीनेके सवधकी सादृश्यता तो वहुतही विलक्षण है। गीतामें "मासाना मार्गशीर्षोऽहम्"

(गीता१० ३५) कहकर इस मासको जिस प्रकार पहला स्थान दिया है, उसी प्रकार अनुशासनपर्वके दानधर्म-प्रकरणमें जहाँ उपवासके लिये महीनोंके नाम बतलानेका मौका दो बार आया है, वहाँ प्रत्येक बार मार्गशीर्षसेही महिनोंकी गिनती आरभ की गई है (अनु १०६, १०९)। गीतामें वर्णित आत्मौपम्यकी या सर्वभूतहितकी दृष्टि, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद तथा देवयान और पितृयान-गतिका उल्लेख महाभारतके अनेक स्थानोमें पाया जाता है, परतु पिछले प्रकरणोमें इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका हैं, अतएव यहांपर पुनरुक्तिकी आवश्यकता नही।

भाषा-सादृश्यकी ओर देखिये, या अर्थ-सादृश्यपर ध्यान दीजिये, अथवा गीताके विषय महाभारतमें जो छ -सात उल्लेख मिलते हैं, उन पर विचार कीजिये, अनुमान यही करना पडता है, कि गीता वर्तमान महाभारतकाही एक भाग है, और जिस पुरुषने वर्तमान महाभारतकी रचना की है, उसीने वर्तमान गीताकाभी वर्णन किया है। हमने देखा है, कि इन सब प्रमाणोकी ओर ध्यान न देकर अथवा किसी तरह उनका अटकल-पच्चू अर्थ लगाकर, कुछ लोगोंने गीताको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेका का यत्न किया है। परतु जो लोग बाह्य प्रमाणोको नही मानते, और अपनेही सशयरूपी पिशाचको अग्रस्थान दिया करते हैं, हमारे मतसे, उनकी विचार-पद्धति सर्वथा अशास्त्रीय अतएव अग्राह्य है। हाँ, यदि इस बातकी उपपत्तिही मालूम न होती, कि गीताको महाभारतमे क्या स्थान दिया गया हैं, तो बात कुछ और थी। परतु जैसे कि इस प्रकरणके आरभमें बतला दिया गया है, गीता केवल वेदान्त-प्रधान अथवा भक्ति-प्रधान नही हैं, किंतु महाभारतमें जिन प्रमाणभूत श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्रोका वर्णन किया गया है, उनके चरित्रोका नीति-तत्त्व या मर्म बतलानेके लिये महाभारतमें कर्मयोग-प्रधान गीताका निरूपण अत्यत आवश्यक था, और वर्तमान समयमें महाभारतके जिस स्थानपर वह पाई जाती है, उससे बढकर, काव्य-दृष्टि-सेभी कोई अधिक योग्य स्थान उसके लिये दीख नही पडता। इतना सिद्ध होनेपर अतिम सिद्धान्त यही निश्चित होता है, कि गीता महाभारतमें उचित कारणसे और उचित स्थानपरही कही गई है – वह प्रक्षिप्त नही है। महाभारतके समानही रामायणभी सर्वमान्य और उत्कृष्ट आर्ष महाकाव्य है, और उसमेंभी कथा-प्रसगानुसार सत्य, पुत्रधर्म, मातृधर्म, रणधर्म, आदिका मार्मिक विवेचन है। परतु यह बतलानेकी आवश्यकता नही, कि वाल्मीकि ऋषिका मूल हेतु अपने काव्यको महाभारतके समान " अनेकसमयान्वित, सूक्ष्म धर्म-अधर्मके न्यायोसे ओतप्रोत, और सब लोगोको शील तथा सच्चरितकी शिक्षा देनेमें सब प्रकारसे समर्थ " बनानेका नही था, इसलिये धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य या नीतिकी दृष्टिसे महाभारतकी योग्यता रामायणसे कही बढकर है। महाभारत केवल आर्ष काव्यका केवल इतिहास नहीं हैं, किंतु वह एक सहिताही है, जिसमें धर्म-अधर्मके सूक्ष्म प्रसगोका निरूपण किया गया है, और

यदि इस धर्म-संहितामें कर्मयोगका शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन न किया जाय, तो फिर वह कहाँ किया जा सकता है? केवल वेदान्त-ग्रंथोमें यह विवेचन नही किया जा सकता। उसके लिये योग्य स्थान धर्मसंहिताही है, और यदि महाभारत-कारने यह विवेचन न किया होता, तो यह धर्म-अधर्मका बृहत् संग्रह अथवा पाँचवाँ वेद उतनाही अपूर्ण रह जाता। इस अपूर्णताकी पूर्ति करनेके लियेही भगवद्गीता महाभारतमें रखी गई है। सचमुच यह बडा भाग्य है, कि इस कर्मयोगशास्त्रका मंडन महाभारतका जैसे उत्तम ज्ञानी सत्पुरुषनेही किया है, जो वेदान्तशास्त्रके समानही व्यवहारमें भी अत्यंत निपुण ।

इस प्रकार सिद्ध हो चुका, कि वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारतहीका एक भाग है, तथापि अब उसके अर्थका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना चाहिये। भारत और महाभारत इन दो शब्दोको हम लोग आजकल समानार्थक समझते है, परंतु वस्तुत वे दो भिन्न भिन्न शब्द है। व्याकरणकी दृष्टिसे देखा जाय, तो 'भारत' नाम उस ग्रंथको प्राप्त हो सकता है, जिसमें भरतवंशी राजाओंके पराक्रमका वर्णन हो। रामायण, भागवत आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति ऐसीही है, और, इस रीतिसे भारतीय युद्धका, जिस ग्रंथमें वर्णन है, उसे केवल 'भारत' कहना यथेष्ट हो सकता है, फिर वह ग्रंथ चाहे जितना विस्तृत हो। रामायण ग्रंथभी कुछ छोटा नही है, परंतु उसे कोई महारामायण नही कहता। फिर भारतहीको 'महाभारत' क्यो कहते है? महाभारतके अंतमें यह बतलाया है, कि महत्त्व और भारतत्व इन दो गुणोंके कारण इस ग्रंथको महाभारत नाम दिया गया है (स्वर्गा ५ ४४)। परंतु 'महाभारत'का सरल शब्दार्थ 'बडा भारत' होता है, और ऐसा अर्थ करनेसे यह प्रश्न उठता है, कि 'बडे' भारतके पहले क्या कोई 'छोटा' भारतभी था? और, उसमें गीता थी या नही? वर्तमान महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है, कि उपाख्यानोंके अतिरिक्त महाभारतके श्लोकोकी संख्या चौवीस हजार है (मभा आ १ १०१), और आगे चलकर यहभी लिखा है, कि पहले इसीका नाम 'जय' था (आ ६२ २०)। 'जय' शब्दसे भारतीय युद्धमें पांडवोकी जयका बोध होता है, और ऐसा अर्थ करनेसे यही प्रतीत होता है, कि भारतीय युद्धका वर्णन 'जय' नामक ग्रंथमें पहले किया गया था, आगे चलकर उसी ऐतिहासिक ग्रंथमें अनेक उपाख्यान जोड दिये गये, और इस प्रकार महाभारत एक बडा ग्रंथ हो गया, जिसमें इतिहास और धर्म-अधर्म विवेचनकाभी निरूपण किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्रोंके ऋषितर्पणमें "सुमंतु-जैमिनी-वैशंपायन-पैल-सूत्र-भाष्यभारत-महाभारत धर्माचार्या" (आ गृ ३ ४ ४) इस प्रकार भारत और महाभारत इन दो भिन्न भिन्न ग्रंथोका स्पष्ट उल्लेख किया गया है, उनसेभी उक्त अनुमानही दृढ हो जाता है। इस प्रकार छोटे भारतका बडे भारतमें समावेश हो जानेमे कुछ कालके बाद, छोटा 'भारत' नामक स्वतंत्र ग्रंथ शेष नही रहा, और स्वभावत लोगोंम

यह समाप्त हो गई, केवल 'महाभारत' ही एक भारत ग्रंथ है। वर्तमान महाभारतकी पोथीमेंभी यह वर्णन मिलता है, कि व्यासजीने पहले अपने पुत्र – शुक – को और अनंतर अपने अन्य शिष्योंको भारत पढाया था (आ. १. १०३), और आगे यहभी कहा, कि सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशंपायन इन पांच शिष्योंने पांच भिन्न भिन्न भारतसंहिताओंकी अथवा महाभारतोंकी रचना की (आ. ६३. ९०)। इस विषयमें यह कथा पाई जाती है, कि इन पांच महाभारतोंमेंसे वैशंपायनके महाभारतको और जैमिनीके महाभारतमें केवल अश्वमेधपर्वहीको व्यासजीने रख लिया। इससे अब यहभी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पणमें 'भारत-महाभारत' शब्दोंके पहले सुमंतु आदि नाम क्यों रखे गये हैं। परन्तु यहां इस विषयके इतने गहरे विचारका कोई प्रयोजन नहीं। रा. ब. चिंतामणराव वैद्यने महाभारतके अपने टीका-ग्रंथमें इस विषयका विचार करके जो सिद्धान्त स्थापित किया है, वही हमें सयुक्तिक मालूम होता है। अतएव यहां परइतना कह देनाही यथेष्ट होगा, कि वर्तमान समयमें जो महाभारत उपलब्ध है, वह मूलमें वैसाही न था, भारत या महाभारतके अनेक रूपांतर हो गये हैं, और उस ग्रंथको जो अंतिम स्वरूप प्राप्त हुआ, वह हमारा वर्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता, कि मूल भारतमेंभी गीता न रही होगी। हां, यह प्रकट है कि सनत्सुजातीय, विदुरनीति, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद, विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, नारायणीय धर्म आदि प्रकरणोंके समानही वर्तमान गीताकोभी महाभारतकारने पहले ग्रंथोंके आधारपरही लिखा है – नई रचना नहीं की है। तथापि, यहभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि मूल गीतामें महाभारतकारने कुछभी हेरफेर न किया होगा। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सहजही समझमें आ सकती है, कि वर्तमान सात सौ श्लोकोंकी गीता वर्तमान महाभारतहीका एक भाग है, दोनोंकी रचनाभी एकनेही की है, और वर्तमान महाभारतमें वर्तमान गीताको किसीने बादमें मिला नहीं दिया है। आगे यहभी बतलाया जायगा, कि वर्तमान महाभारतका समय कौन-सा है, और मूल गीताके विषयमें हमारा मत क्या है।

भाग २ – गीता और उपनिषद्

अब देखना चाहिये, कि गीता और भिन्न भिन्न उपनिषदोंका परस्पर संबंध क्या है। वर्तमान महाभारतहीमें स्थान-स्थानपर सामान्य रीतिसे उपनिषदोंका उल्लेख किया गया है, और बृहदारण्यक (बृ. १. ३) तथा छांदोग्य (छां. १. २)में वर्णित प्राणेंद्रियोंके युद्धका हालभी अनुगीता (अश्व. २३)मेंभी है, तथा "न मे स्तेनो जनपदे" आदि कैकेय-अश्वपति राजाके मुखमें निकले हुए शब्दभी (छां. ५. ११. ५) शांतिपर्वमें उक्त राजाकी कथाका वर्णन करते समय ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (शां. ७७. ८)। इसी प्रकार शांतिपर्वके जनक-पंचशिख संवादमें

बृहदारण्यक (बृ ४ ५ १३) का यह विषय मिलता है, कि 'न प्रेत्य सज्ञास्ति' – मरनेपर ज्ञातको कोई सज्ञा नही रहती, क्योकि वह ब्रह्ममे मिल जाता है, और वही अतमें प्रश्न (प्रश्न ६ ५) तथा मुडक (मु. ३ २ ८) उपनिपदोमे वर्णित नदी और समुद्रका दृष्टान्त नाम-रूपसे विमुक्त पुरुपके विपयमे दिया गया है। इद्रियोको घोडे कह कर ब्राह्मण-व्याध-सवाद (वन २१०) मे और अनुगीतामे बुद्धिको सारथीकी जो उपमा दी गई है, वहीभी कठोपनिपद्सेही ली गई है (कठ १ ३ ३), और कठोपनिषद्के ये दोनो श्लोक – "एप सर्वेपु भूतेपु गूढात्मा" (कठ ३ १२) और "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (कठ २ १४) - भी शातिपर्वमे दो स्थानोपर (शा १८७ २९, ३३१ ४४) कुछ फेरफारके साथ पाये जाते है। श्वेताश्वतरका 'सर्वत पाणिपादम्' श्लोकभी, जैसा कि पहले कह चुके है, महाभारतमें अनेक स्थानोपर और गीतामेभी मिलता है। परतु केवल इतनेहीमे यह सादृश पूरा नही हो जाता. इनके सिवा उपनिपदोके औरभी बहुत-से वाक्य महाभारतमें कई स्थानोपर मिलते है। यही क्यो, यहभी कहा जा सकता है, कि महाभारतका अध्यात्मज्ञान प्राय उपनिपदोसेही लिया गया है।

गीतारहस्यके नवे और तेरहवे प्रकरणोमे हमने विस्तारपूर्वक दिखला दिया है, कि महाभारतके समानही भगवद्गीताका अध्यात्मज्ञानभी उपनिपदोके आधार-पर स्थापित है, और गीतामें भक्ति-मार्गका जो वर्णन है, वहभी इस ज्ञानसे अलग नही है। अतएव यहाँ उसको दुबारा न लिखकर सक्षेपमें सिर्फ यही बतलाते है, कि गीताके द्वितीय अध्यायमें वर्णित आत्माका अशोच्यत्व, आठवे अध्यायका अक्षर-ब्रह्मस्वरूप और तेरहवे अध्यायका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार तथा विशेष करके 'ज्ञेय' पर-ब्रह्मका स्वरूप – इन सब विपयोका वर्णन गीतामें अक्षरश उपनिपदोके आधारपरही किया गया है। कुछ उपनिषद् गद्यमें है और कुछ पद्यमे है। उनमेंसे गद्यात्मक उप-निपदोके वाक्योको पद्यमय गीतामे ज्यो-का-त्यो उद्धृत करना सभव नही, तथापि जिन्होने छादोग्योपनिषद् आदिको पढा है, उनके ध्यानमें यह बात सहजही आ जायगी, कि "जो है सो है, और जो नही, हो नही" (गीता २ १६) तथा "य य वापि स्मरन् भावम्०" (गीता ८ ६) इत्यादि विचार छादोग्योपनिषदसे लिये गये है, और "क्षीणे पुण्ये" (गीता ९ २१), "ज्योतिषा ज्योति" (गीता १३ १७) तथा "मात्रास्पर्शा" (गीता २ १४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक उपनिषदसे लिये गये हैं। परतु गद्यात्मक उपनिषदोको छोड जब पद्या-त्मक उपनिषदोपर विचार करते है, तो यह समता इससेभी अधिक स्पष्ट हो जाती है। क्योकि इन पद्यात्मक उपनिषदोके कुछ श्लोक ज्यो-के त्यो भगवद्गीतामे उद्धृत किये गये है। उदाहरणार्थ, कठोपनिषदके छ-सात श्लोक अक्षरश अथवा कुछ शब्दभेदसे गीतामें लिये गये है। गीताके द्वितीय अध्यायका "आश्चर्यवत्पश्यति०" (गीता २ २९) श्लोक, कठोपनिषद्की द्वितीय वल्लीके "आश्चर्यो वक्ता०"

(कठ २ ७) श्लोकके समान है, और " न जायते म्रियते वा कदाचित्० " (गीता २ २०) श्लोक तथा " यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति०" (गीता ८ ११) श्लोकार्ध, गीता और कठोपनिषद्‌में अक्षरश एकही हैं (कठ २ १९, २ १५)। यह पहलेही बतला दिया गया है, कि गीताका "इन्द्रियाणि पराण्याहु:० " (गीता ३ ४२) श्लोक कठोपनिषदसे (कठ ३ १०) लिया गया है। इसी प्रकार गीताके पद्रहवे अध्यायमे वर्णित अश्वत्थ वृक्षका रूपक कठोपनिषदसे और " न तद्भासयते सूर्यो० " (गीता १५ ६) श्लोक कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदोमे शब्दोमें कुछ फेरफार करके लिया गया है।" श्वेताश्वतर उपनिषदकी अन्य बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोकभी गीतामें पाये जाते है। नवे प्रकरणमें कह चुके है, कि माया शब्दका प्रयोग पहले पहल श्वेताश्वेतरोपनिषदमे हुआ है, और वहींसे वह गीता तथा महा-भारतमें लिया गया होगा। शब्द-सादृश्यसे यहभी प्रकट होता है, कि गीताके छठे अध्यायमें योगाभ्यासके लिये योग्य स्थलका जो यह वर्णन किया गया है – " शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य० " (गीता ६ ११) – वह श्वेताश्वतरोपनिषदके " समे शुचौ " आदि (श्वे २ १०) मत्रसे लिया गया है, और " सम कायशिरोग्रीव " (गीता ६ १३) ये शब्दभी श्वेताश्वतरोपनिषदके " त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीरम् " (श्वे २ ८) मत्रसे लिये है। इसी प्रकार " सर्वत पाणिपाद " श्लोक तथा उसके आगेका श्लोकार्धभी गीता (गीता १३ १३) और श्वेताश्वतरोपनिषदमें शब्दश मिलते है (श्वे ३ १६), और " अणोरणीयास " तथा " आदित्यवर्णं तमस परस्तात् " पदभी गीतामे (८ ९) और श्वेताश्वतरोपनिषद् (श्वे ३ ९ २०) मे एकहीसे है। इनके अतिरिक्त गीता और उपनिषदोका शब्द-सादृश्य यह है, कि " सर्वभूतस्थमात्मानम् " (गीता ६ २९) और " वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो " (गीता १५ १५) ये दोनो श्लोकार्ध कैवल्योपनिषदमें (कै १ १०, २ ३) ज्यो-के-त्यो मिलते है। परतु इस शब्द-सादृश्यके विषयपर अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नही। क्योकि इस बातका किसीकोभी सदेह नही है, कि गीताका वेदान्त-विषय उपनिषदोके आधारपर प्रतिपादित किया गया है। हमें विशेष कर यही देखना है, कि उपनिषदोंके विवेचनमे और गीताके विवेचनमे कुछ अतर है या नही, और यदि है, तो किस बातमे, अतएव अब उसीपर दृष्टि डालनी चाहिये।

उपनिषदोकी सख्या बहुत है। उनमेंसे कुछ उपनिषदोकी भाषा तो इतनी अर्वाचीन है, कि उनका और पुराने उपनिषदोका असमकालीन होना सहजही मालूम पड जाता है। अतएव गीता और उपनिषदोमे प्रतिपादित विषयोके सादृश्य का विचार करते समय, इस प्रकरणमे हमने प्रधानतासे उन्ही उपनिषदोको तुलनाके लिये लिया है, जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रोमें है। इन उपनिषदोंके अर्थको और गीताके अध्यात्मको जब हम मिलाकर देखते हैं, तब प्रथम यही बोध होता है, कि यद्यपि दोनोमें निर्गुण परब्रह्मका स्वरूप एक-सा है, तथापि निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्तिका

वर्णन करते समय, 'अविद्या' शब्दके बदले 'माया' या 'अज्ञान' शब्दहीका उपयोग गीतामें किया गया है। नवें प्रकरणमें इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया गया है, कि 'माया' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषदमें आ चुका है, नामरूपात्मक अविद्याके लियेही यह दूसरा पर्याय शब्द है, तथा यहभी ऊपर बतला दिया गया है, कि श्वेताश्वतरोपनिषद्के कुछ श्लोक गीतामें अक्षरश पाये जाते हैं। इससे पहला अनुमान यह किया जाता है, कि – "सर्व खल्विद ब्रह्म" (छा ३ १४ १) या "सर्वमात्मान पश्यति" (बृ ४ ४ २३) अथवा "सर्वभूतेषु चात्मानम्" (ईश ६) इस सिद्धान्तका अथवा उपनिषदोंके सारे अध्यात्मज्ञानका यद्यपि गीतामें सग्रह किया गया है, तथापि गीता-ग्रथ तब बना होगा, जब कि नामरूपात्मक अविद्याको उपनिषदोंमेंही 'माया' नाम प्राप्त हो गया होगा।

अब यदि इस बातका विचार करे, कि उपनिषदोंके और गीताके उपपादनमे क्या भेद है, तो दीख पडेगा, कि गीतामें कापिल-साख्यशास्त्रको विशेष महत्त्व दिया गया है। बृहदारण्यक या छादोग्य, दोनो उपनिषद् ज्ञान-प्रधान है, परतु उनमें तो साख्य-प्रक्रियाका नामभी दीख नही पडता, और कठ आदि उपनिषदोंमें यद्यपि अव्यक्त, महान् इत्यादि साख्योंके शब्द आये है, तथापि यह स्पष्ट है, कि उनका अर्थ साख्य-प्रक्रियाके अनुसार न करके वेदान्त-पद्धतिके अनुसार करना चाहिये। मैत्र्युपनिषदके उपपादनकोभी यही न्याय उपयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार साख्य-प्रक्रियाको बहिष्कृत करनेकी सीमा यहाँतक आ पहुँची है, कि वेदान्त-सूत्रोमे पचीकरणके बदले छादोग्य उपनिषदके आधारपर त्रिवृत्करणहीसे सृष्टिके नामरूपात्मक वैचित्र्यकी उपपत्ति बतलाई गई है (वे सू २ ४ २०)। साख्योंको एकदम अलग करके अध्यायके क्षर-अक्षरका विवेचन करनेकी यह पद्धति गीतामें स्वीकृत नही हुई है। तथापि स्मरण रहे, कि गीतामें साख्योंके सिद्धान्त ज्यो-के-त्यो नही ले लिये गये हैं। त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृतिसे, गुणोत्कर्षके अनुसार, सारी व्यक्त-सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमे साख्योंके जो सिद्धान्त है, वे गीताको ग्राह्य है, और उनके इस मतसेभी गीता सहमत है, कि पुरुष निर्गुण हो कर द्रष्टा है। परतु द्वैत-साख्यज्ञानपर अद्वैत-वेदान्तका पहले इस प्रकार प्राबल्य स्थापित कर दिया है, कि प्रकृति और पुरुष स्वतत्र नही है, वे दोनो उपनिषदमें वर्णित आत्मरूपी एकही परब्रह्मके रूप अर्थात् विभूतियाँ है, और फिर साख्योंके क्षर-अक्षर-विचारका वर्णन गीतामें किया गया है। उपनिषदोंके ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैत-मतके साथ स्थापित किया हुआ द्वैती साख्योंके सृष्ट्युत्पत्तिक्रमका यह मेल गीताके समान महाभारतके अन्य स्थानोमे किये हुए अध्यात्मविवेचनमेभी पाया जाता है, और ऊपर जो अनुमान किया गया है, कि गीता और महाभारत, ये दोनो ग्रथ एकही व्यक्तिके द्वारा रचे गये है, वह इस मेलसे औरभी दृढ हो जाता है।

उपनिषदोकी अपेक्षा गीताके उपपादनमें जो दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, वह व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग है। भगवद्गीताके समानही उपनिषदोंमेंभी

केवल यज्ञयाग आदि कर्म ज्ञान-दृष्टिसे गौण माने गये है , परतु व्यक्त मानव-देहधारी ईश्वरकी उपासना प्राचीन उपनिषदोमें नही दीख पडती । उपनिषत्कार इस तत्त्वसे सहमत है, कि अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्मका आकलन होना कठिन है, इसलिये मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकोकी उपासना करनी चाहिये। परतु उपासनाके लिये प्राचीन उपनिषदोमें जिन प्रतीकोका वर्णन किया गया है, उनमें मनुष्यदेहधारी परमेश्वरके स्वरूपका प्रतीक नही वतलाया गया है। मैत्र्युपनिषद् (मै ७ ७)में कहा है, कि रुद्र, शिव, विष्णु, अच्युत, नारायण, – ये सब परमात्माहीके रूप है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें 'महेश्वर' आदि शब्द प्रयुक्त हुए है, और "ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै " (श्वे ५ १३) अथवा " यस्य देवे परा भक्ति " (श्वे ६ २३) आदि वचनभी श्वेताश्वतरमें पाये जाते है। परतु यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, कि इन वचनोंके नारायण, विष्णु आदि शब्दोंसे विष्णुके मानव-देहधारी अवतारही विवक्षित है। कारण यह है, कि रुद्र और विष्णु ये दोनो देवता, वैदिक अर्थात् प्राचीन है , तव यह कैसे मान लिया जाय, कि " यज्ञो वै विष्णु " (तै स १ ७ ४) इत्यादि प्रकारसे प्राचीन यज्ञयागहीको विष्णुकी उपासनाका जो स्वरूप आगे दिया गया है, वही उपर्युक्त उपनिषदोका अभिप्राय नही होगा ? तथापि यदि कोई कहे, कि मानव-देहधारी अवतारोकी कल्पना उस समयभी होगी, तो वहभी बिलकुलही असभव नही है। क्योकि, श्वेताश्वतरोपनिषदमें जो 'भक्ति शब्द है, उसे यज्ञरूपी उपासनाके विपयमें प्रयुक्त करना ठीक नहीं जँचता। यह बात सच है, कि महानारायण, नृसिहतापनी, रामतापनी, तथा गोपालतापनी आदि उपनिषदोंके वचन श्वेताश्वतरोपनिषदके वचनोंकी अपेक्षा कही अधिक स्पष्ट हैं, इसलिये उनके विपयमें उक्त प्रकारकी शका करनेके लिये कोई स्थानही नही रह जाता। परतु इन उपनिषदोका काल निश्चित करनेके लिये ठीक ठीक साधन नही है, इसलिये इन उपनिषदोंके आधारपर यह प्रश्न ठीक तौरसे हल नही किया जा सकता, कि वैदिक धर्ममें मानवदेहधारी विष्णुकी भक्तिका उदय कव हुआ ? तथापि अन्य रीतिसे वैदिक भक्ति-मार्गकी प्राचीनता अच्छी तरह सिद्ध की जा सकती है। पाणिनीका एक सूत्र है 'भक्ति' – अर्थात् जिसमें भक्ति हो (पा ४ ३ ९५), इसके आगे " वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् " (पा ४ ३ ९८) सूत्रमें कहा गया है, कि जिसकी वासुदेवमें भक्ति हो, उसे 'वासुदेवक' और जिसकी अर्जुनमें भक्ति हो, उसे 'अर्जुनक' कहना चाहिये, और पतजलिके महाभाष्यमें इसपर टीका करते समय कहा गया है, कि इस सूत्रमें 'वासुदेव' क्षत्रियका या भगवानका नाम है। इन ग्रथोमेंसे पातजलभाष्यके विपयमे डॉक्टर भाडारकरने यह सिद्ध किया है, कि वह ईसाई सनके लगभग ढाई सौ वर्ष पहले वना है, और इसमें तो सदेह नही, कि पाणिनीका काल इससेभी अधिक प्राचीन है। इसके सिवा भक्तिका उल्लेख वौद्ध धर्म-ग्रथोमेंभी किया गया है, और हमने आगे चलकर विस्तारपूर्वक वतलाया है, कि वौद्ध धर्मके महायान पथमें भक्तिके

तत्त्वोका प्रवेश होनेके लिये श्रीकृष्णका भागवत-धर्मही कारण हुआ होगा। अतएव यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि कम-से कम बुद्धके पहले – अर्थात् ईसाई सनके पहले लगभग छ सौसे अधिक वर्ष - हमारे यहाँका भक्ति-मार्ग पूरी तरह स्थापित हो गया था। नारद-पचरात्र या शाडिल्य अथवा नारदके भक्ति-सूत्र उसके बादके हैं। परतु उससे भक्ति-मार्ग अथवा भागवत धर्मकी प्राचीनतामे कुछभी बाधा हो नही सकती। गीतारहस्यमें किये गये विवेचनसे ये बाते स्पष्ट विदित हो जाती है, कि प्राचीन उपनिषदोमें जिन सगुणोपासनाओका वर्णन है, उसीसे क्रमश हमारा भक्ति-मार्ग निकला है, पातजलयोगमें चित्तको स्थिर करनेके लिये किसी-न-किसी व्यक्त और प्रत्यक्ष वस्तुको दृष्टिके सामने रखना पडता है, इसलिये उससे भक्ति-मार्गकी ओरभी पुष्टि हो गई है, भक्ति-मार्ग किसी अन्य स्थानसे हिंदुस्थानमें नही लाया गया है और न उसे कहीसे लानेकी आवश्यकताभी थी। हिंदुस्थानहीमे इस प्रकारसे प्रादुर्भूत भक्ति-मार्गका और विशेषत वासुदेव-भक्तिका उपनिषदोमें वर्णित वेदान्तकी दृष्टिमे मडन करनाही गीताके प्रतिपादनका एक विशेष भाग है।

परतु गीताका इससेभी अधिक महत्त्वपूर्ण भाग, कर्मयोगके साथ भक्ति और ब्रह्मज्ञानका मेल कर देनाही है। चातुर्वर्ण्यके अथवा श्रौतयज्ञयाग आदि कर्मोको यद्यपि उपनिषदोंने गौण माना है, तथापि कुछ उपनिषत्कारोका कथन है, कि उन्हे चित्त-शुद्धिके लिये तो करनाही चाहिये, और चित्त-शुद्धि होनेपरभी उन्हे छोड देना उचित नही। इतना होनेपरभी कहना चाहिये कि अधिकाश उपनिषदोका झुकाव सामान्यत कर्मसन्यासकी ओरही है। ईशावास्योपनिषदके समान कुछ अन्य उपनिषदोमेंभी " कुर्वन्नेवेह कर्मणि " जैसे आमरण कर्म करते रहनेके विषयमे वचन पाये जाते हैं, परतु अध्यात्मज्ञान और सासारिक कर्मोंके बीचका विरोध मिटाकर प्राचीन कालसे प्रचलित इस कर्मयोगका समर्थन जैसा गीतामे किया गया है, वैसा किसीभी अन्य उपनिषदमें नही पाया जाता। अथवा यहभी कहा जा सकता है, कि इसी विषयमे गीताका सिद्धान्त अधिकाश उपनिषत्कारोके सिद्धान्तोसे भिन्न है। गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरणमें इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, इसलिये उसके बारेमें यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नही।

गीताके छठे अध्यायमें जिस योग-साधनका निर्देश किया गया है, उसका विस्तृत और ठीक ठीक विवेचन पातजल-योग-सूत्रोमे पाया जाता है, और इस समय ये सूत्रही इस विषयके प्रमाणभूत ग्रथ समझे जाते हैं। इन सूत्रोके चार अध्याय है। पहले अध्यायके आरभमे ही योगकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि " योगश्चित्त-वृत्तिनिरोध ", और यह बतलाया गया है, कि " अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध "– यह निरोध अभ्यास तथा वैराग्यसे किया जा सकता है। आगे चलकर यमनियम-आसन-प्राणायाम आदि योगसाधनोका वर्णन करके तीसरे और चौथे अध्यायोमे इस बातका निरूपण किया है, कि 'असप्रज्ञात' अर्थात् निर्विकल्प समाधिसे अणिमा-

लघिमा आदि अलौकिक सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तथा इसी समाधीमे अतमें ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। भगवद्गीतामेंभी पहले चित्तनिरोध करनेकी आवश्यकता (गीता ६ २०) बतलाई गई है। फिर कहा है, कि अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनो साधनोसे चित्तका निरोध करना चाहिये (गीता ६ ३५), और अतमें निर्विकल्प समाधि लगानेकी रीतिका वर्णन करके, यह दिखलाया है, कि उसमें क्या सुख है। परतु केवल इतनेहीमे यह नही कहा जा सकेगा, कि पातजलयोग-मार्गसे भगवद्गीता सहमत है, अथवा पातजल-सूत्र भगवद्गीतासे प्राचीन हैं। पातजल-सूत्रोकी नाई भगवानने यह नही कहा है, कि समाधि सिद्ध होनेके लिये नाक पकडे पकडे सारी आयु व्यतीत कर देनी चाहिये। कर्मयोगकी सिद्धिके लिये बुद्धिकी समता होनी चाहिये, और इस समताकी प्राप्तिके लिये केवल साधनरूपसे चित्तनिरोध तथा समाधिका वर्णन गीतामें किया गया है। ऐसी अवस्थामें यही कहना चाहिये, कि इस विषयमें पातजल-सूत्रोकी अपेक्षा श्वेताश्वतरोपनिषद् या कठोपनिषदके साथ गीता अधिक मिलती-जुलती है। ध्यान-बिदु, छुरिका और योगतत्त्व उपनिषदभी योगविषयकही हैं। परतु उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय केवल योग है, और उनमें सिर्फ योगहीकी महत्ताका वर्णन किया गया है, इसलिये केवल कर्मयोगको श्रेष्ठ माननेवाली गीतासे इन एकपक्षीय उपनिषदोका मेल करना उचित नहीं, और न वह होही सकता है। थामसन साहबने गीताका अग्रेजीमें जो अनुवाद किया है, उसके उपोद्घातमें आप कहते हैं, कि गीताका कर्मयोग पातजलयोगहीका एक रूपातर है, परतु यह बात असभव है। इस विषयपर हमारा यही कथन है, कि गीताके 'योग' शब्दका ठीक ठीक अर्थ समझमे न आनेके कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। क्योकि इधर गीताका कर्मयोग प्रवृत्ति-प्रधान है, तो उधर पातजल-योग बिलकुल उसके विरुद्ध अर्थात निवृत्ति-प्रधान है। अतएव उनमेंसे एकका दूसरेसे प्रादुर्भूत होना कभी सभव नही, औरभी यह बात गीतामें कही नही गई है। इतनाही नही, यहभी कहा जा सकता है, कि योग शब्दका प्राचीन अर्थ 'कर्मयोग' था, और सभव है, कि वही शब्द पातजल-सूत्रोके अनतर केवल 'चित्तनिरोधरूपी योग'के अर्थमे प्रचलित हो गया हो। चाहे जो हो, यह निर्विवाद सिद्ध है, कि प्राचीन समयमें जनक आदिने जिस निष्काम कर्माचरणके मार्गका अवलबन किया था, उसीके सदृश गीताका योग अर्थात् कर्मयोगभी है, और वह मनु-इक्ष्वाकु आदि महानुभावोकी परपरासे चले हुए भागवत धर्मसे लिया गया है – वह कुछ पातजलयोगसे उत्पन्न नही हुआ है।

अबतक किये गये विवेचनसे यह बात समझमें आ जागयी, कि गीता-धर्म और उपनिषदोमे किन किन बातोकी विभिन्नता और समानता है। इनमेंसे अधिकाश बातोका विवेचन गीतारहस्यमें स्थान-स्थानपर किया जा चुका है। अतएव यहाँ सक्षेपमे यह बतलाया जाता है, कि यद्यपि गीतामें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान उपनिषदोके आधारपरही बतलाया गया है तथापि उपनिषदोके अध्यात्मज्ञानकाही निरा अनुवाद

न कर, उसमे वासुदेव-भक्तिका और साख्यशास्त्रमें वर्णित सृष्टयुत्पत्ति-क्रमका अर्थात् क्षराक्षर-ज्ञानकाभी समावेश किया गया है, और, उस वैदिक कर्मयोग-धर्महीका प्रधानतासे प्रतिपादन किया गया है, जो सामान्य लोगोके लिये आचरण करनेमे सुगम हो, एव इस लोक साथ परलोकमे श्रेयस्कर हो। उपनिषदोकी अपेक्षा गीतामें जो कुछ विशेषता है, वह यही है। अतएव ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य बातोमेंभी सन्यास-प्रधान उपनिषदोके तथा गीताका मेल करनेके लिये साप्रदायिक दृष्टिसे गीताके अर्थकी खीचातानी करना उचित नही है। यह सच है, कि दोनोमे अध्यात्म-ज्ञान एकही-सा है, परतु — जैसा कि हमने गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरणमे स्पष्ट दिखला दिया है — अध्यात्मज्ञानरूपी मस्तक एक भलेही हो, तोभी साख्य तथा कर्मयोग वैदिक धर्म-पुरुषके दो समान बलवाले हाथ है, और इनमेंसे ईशावास्योप-निषदके अनुसार, ज्ञानयुक्त कर्महीका प्रतिपादन मुक्त-कठसे गीतामें किया गया है।

भाग – ३ गीता और ब्रह्मसूत्र

ज्ञान-प्रधान, भक्ति-प्रधान और योग-प्रधान उपनिषदोके साथ भगवद्गीतामें जो सादृश्य और भेद है, उनका इस प्रकार विवेचन कर चुकेनेपर यथार्थमे ब्रह्म-सूत्रो और गीताकी तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नही है। क्योकि, भिन्न भिन्न उपनिषदोमें भिन्न भिन्न ऋषियोंके बतलाये हुए अध्यात्म-सिद्धान्तोका नियमबद्ध विचार करनेके लियेही बादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोकी रचना हुई है, इसलिये उनमें उपनिषदोसे भिन्न भिन्न विचारोका होना सभव नही। परतु भगवद्गीताके तेरहवे अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचार करते समय आरभमेंही ब्रह्मसूत्रोका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है —

> ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधै पृथक्।
> ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका "अनेक प्रकारसे विविध छदोंके द्वारा (अनेक) ऋषियोंने पृथक् पृथक् और हेतुयुक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदोंसेभी विवेचन किया है" (गीता १३ ४), और यदि इन ब्रह्मसूत्रोको तथा वर्तमान वेदान्त-सूत्रोको एकही मान ले, तो कहना पडता है, कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदान्त-सूत्रोके बाद बनी होगी। अतएव गीताका काल-निर्णय करनेकी दृष्टिसे इस बातका अवश्य विचार करना पडता है, कि ये ब्रह्मसूत्र कौनसे है। क्योकि वर्तमान वेदान्त-सूत्रोंके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक कोई दूसरा ग्रथ नही पाया जाता, और न उसके विषयमें कही वर्णनही है, *

---

* इस विषयका विचार परलोकवासी तेलगने किया है। इसके सिवा सन १८९५में इसी विषयपर प्रो ारान रामचद्र अमळनेरकर, बी ए नेभी एक निबध्र प्रकाशित किया है।

और, यह कहना तो किसी प्रकार उचित नही जँचता, कि वर्तमान ब्रह्मसूत्रोंके बाद गीता बनी होगी। क्योकि, गीताकी प्राचीनताके विपयमें परपरागत समझ चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राय इसी कठिनाईको ध्यानमें लाकर शाकरभाष्यमे 'ब्रह्मसूत्रपदै' का अर्थ "श्रुतियोके अथवा उपनिपदोंके ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य" किया गया है। परतु, इसके विपरीत शाकरभाष्यके टीकाकार आनदगिरि और रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य प्रभृति गीताके अन्यान्य भाष्यकार यह कहते हैं, कि यहाँ पर 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' शब्दोंसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन बादारायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोंकाही निर्देश किया गया है, और श्रीधरस्वामीको दोनो अर्थ अभिप्रेत है। अतएव इस श्लोकका सत्यार्थ हमें स्वतत्र रीतिसेही निश्चित करना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार "ऋषियोंने अनेक प्रकारसे पृथक्" कहा है, और इसके सिवा (चैव) "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदोंनेभी" वही अर्थ कहा है, इस प्रकार 'चैव' (औरभी) पदसे इस बातका स्पष्टीकरण हो जाता है, कि इस श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारके दो भिन्न भिन्न स्थानोका उल्लेख किया गया है। ये दोनो स्थान केवल भिन्नही नही हैं, किंतु उनमेंसे पहला अर्थात् ऋपियोंका किया हुआ वर्णन "विविध छदोके-द्वारा पृथक् पृथक् अर्थात् भिन्न भिन्न तथा अनेक प्रकारका" है, और उसका अनेक ऋपियो-द्वारा किया जाना 'ऋपिभि' से (इस बहुवचन तृतीयान्त पद) स्पष्ट हो जाता है, तथा ब्रह्मसूत्रपदोका दूसरा "वर्णन हेतुयुक्त और निश्चयात्मक" है, इस प्रकार इन दोनो वर्णनोकी विशेप भिन्नताकाभी स्पष्टीकरण इसी श्लोकमें है। 'हेतुमत्' शब्द महाभारतमें कई स्थानोपर पाया जाता है, और उसका अर्थ है – "नैयायिक पद्धतिसे कार्यकारणभाव बतलाकर किया हुआ प्रतिपादन" – उदाहरणार्थ, जनकके सन्मुख सुलभाका किया हुआ भाषण, अथवा श्रीकृष्ण जब शिष्टाईके लिये कौरवोकी सभामें गये, उस समय उनका किया हुआ भाषण लीजिये। महाभारतमेंही पहले भाषणको "हेतुमत् और अर्थवत्" (मभा शा ३२० १९१) और दूसरेको 'सहेतुक' (मभा उद्यो १३१ २) कहा है। इससे प्रकट होता है, कि जिस प्रतिपादनमें साधक-बाधक प्रमाण बतलाकर अतमें कोईभी अनुमान निस्सदेह सिद्ध किया जाता है, उसीको 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितै' विशेषण लगाये जा सकते हैं, ये शब्द उपनिषदोंके ऐसे सकीर्ण प्रतिपादनको नही लगाये जा सकते, कि जो एक स्थानमें कुछ हो और दूसरे स्थानमें कुछ। अतएव "ऋषिभि बहुधा विविधै पृथक्" और "हेतुमद्भि विनिश्चितै" पदोके विरोधात्मक स्वारस्यको यदि स्थिर रखना हो, तो यही कहना पडेगा कि गीताके उक्त श्लोकमें "ऋषियो-द्वारा विविध छदोमें किये गये अनेक प्रकारके पृथक्" विवेचनोसे भिन्न भिन्न उपनिषदोंके सकीर्ण और पृथक् वाक्यही अभिप्रेत हैं, तथा "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदो" से ब्रह्मसूत्र-ग्रथका वह विवेचनही अभिप्रेत है, कि जिसमें साधक-बाधक प्रमाण दिखलाकर अतिम सिद्धान्तोका सदेहरहित निर्णय किया गया है। यहभी

स्मरण रहे, कि उपनिषदोंके सब विचार इधर उधर बिखरे हुए हैं, अर्थात् अनेक ऋषियोंको जैसे सूझते गये, वैसेही वे कहे गये हैं, उनमें कोई विशेष पद्धति या क्रम नही है, अतएव उनकी एकवाक्यता किये बिना उपनिषदोंका भावार्थ ठीक ठीक समझमें नही आता। यही कारण है, कि उपनिषदोंके साथही साथ उस ग्रंथका अर्थात् वेदान्त-सूत्र '(ब्रह्मसूत्र)काभी उल्लेख कर देना आवश्यक था, जिसमें कार्यकारण-हेतु दिखला कर उनकी (अर्थात् विचारोंकी) एकवाक्यता की गई है।

गीताके श्लोकोंका उक्त अर्थ करनेसे यह प्रकट हो जाता है, कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र गीताके पहले बने हैं। उनमेंसे मुख्य मुख्य उपनिषदोंके विषयमें तो कुछभी मतभेद नही रह जाता, क्योकि इन उपनिषदोंके श्लोकही गीतामें शब्दशः पाये जाते है। परंतु ब्रह्मसूत्रोंके विषयमें संदेह अवश्य किया जा सकता है, क्योकि ब्रह्मसूत्रोंमें यद्यपि 'भगवद्गीता' शब्दका उल्लेख प्रत्यक्षमें नही किया गया है, तथापि भाष्यकार मानते हैं, कि कुछ सूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दोंसे भगवद्गीताहीका निर्देश किया गया है। जिन ब्रह्मसूत्रोंमें शांकरभाष्यके अनुसार 'स्मृति' शब्दसे गीताहीका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे नीचे दिये हुए सूत्र मुख्य हैं –

ब्रह्मसूत्र – अध्याय, पाद और सूत्र	गीता – अध्याय और श्लोक
१ २ ६ स्मृतेश्च।	गीता १८ ६१ "ईश्वरः सर्वभूतानां०" आदि श्लोक।
१ ३ २३ अपि च स्मर्यते।	गीता १५ ६ "न तद्भासयते सूर्यः" आदि।
२ १ ३६ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	गीता १५ ३ "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते०" आदि।
२ ३ ४५ अपि च स्मर्यते।	गीता १५ ७ "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत ०" आदि।
३ २ १७ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते।	गीता १३ १२ "ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि०" आदि।
३ ३ ३१ अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्	गीता ८ ३६ "शुक्लकृष्णे गती ह्येते०" आदि।
४ १ १० स्मरन्ति च।	गीता ६ ११ "शुचौ देशे०" आदि।
४.२ २१ योगिनः प्रति च स्मर्यते।	गीता ८ २३ "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ०" आदि।

उपर्युक्त आठ स्थानोंमेंसे कुछ यदि संदिग्धभी माने जायँ, तथापि, हमारे मतसे तो चौथे (ब्र सू २.३.४५) और आठवेंके (ब्र सू ४. २ २१) विषयमे कुछ संदेह नहीं है, और यह बातभी स्मरण रखने योग्य है, कि इस विषयमें, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य, इन चारों भाष्यकारोंका

मत एकही-सा है। ब्रह्मसूत्रके उक्त दोनो स्थानोंके (ब्र सू २ ३ ४५, ४ २ २१) विपयमें इस प्रसगपरभी अवश्य ध्यान देना चाहिये – जीवात्मा और परमात्माके परस्पर-सवधका विचार करते समय, पहले "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य" (ब्र सू २ ३ १७) इस सूत्रसे यह निर्णय किया है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंके ममान जीवात्मा परमात्मासे उत्पन्न नही हुआ है, उसके वाद "अशो नाना-व्यपदेशात्०" (ब्र सू २ ३ ४३) सूत्रमें यह वतलाया है, कि जीवात्मा पर-मात्माहीका 'अश' है, और आगे 'मन्त्रवर्णाच्च' (ब्र सू २ ३ ४४) इस प्रकार श्रुतिका प्रमाण देकर अतमे "अपि च स्मर्यते" (ब्र सू २ ३ ४५) – "स्मृतिमेंही यही कहा है" – इस सूत्रका प्रयोग किया गया है। सव भाष्यकारोका कथन है, कि यह स्मृतिही गीताका "ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन" (गीता १५ ७) यह वचन है। परतु इसकी अपेक्षा अतिम स्थान (अर्थात् ब्रह्मसूत्र ४ २ २१) औरभी अधिक निस्सदेह है। यह पहलेही, दसवे प्रकरणमे, वतलाया जा चुका है, कि देवयान और पितृयाण गतियोमें क्रमानुसार उत्तरायणके छ महीने और दक्षिणायनके छ महीने होते हैं, और उनका अर्थ काल-प्रधान न करके वाद-रायणाचार्य कहते है, कि इन शव्दोमे तत्कालाभिमानी देवता अभिप्रेत हैं (वे सू ४ ३ ४)। अव यह प्रश्न हो सकता है, कि दक्षिणायन और उत्तरायण शव्दोका काल-वाचक अर्थ क्या कभी लियाही न जावे? इसलिये "योगिन प्रति च स्मर्यते" (ब्र सू ४ २ २१) अर्थात् ये काल "स्मृतियोमें योगियोंके लिये विहित माने गये हैं" इस सूत्रका प्रयोग किया गया है, और गीतामे (गीता ८ २३) यह वात साफ साफ कह दी गई है, कि "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिन" – ये काल योगियोको विहित हैं। इससे भाष्यकारोंके मतानुसार यही कहना पडता है, कि उक्त दोनो स्थानोपर ब्रह्मसूत्रोमें 'स्मृति' शव्दसे भगवद्गीताही विवक्षित है।

परतु जव यह मानते है, कि भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोका स्पष्ट उल्लेख हैं, और ब्रह्मसूत्रोमे 'स्मृति' शव्दमे भगवद्गीताका निर्देश किया गया है, तो दोनोमें काल-दृष्टिसे विरोध उत्पन्न हो जाता है। क्योकि भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोका साफ साफ उल्लेख है, इसलिये ब्रह्मसूत्रोका गीताके पहले रचा जाना निश्चित होता है, और ब्रह्मसूत्रोमें 'स्मृति' शव्दसे गीताका निर्देश माना जाय तो गीताका ब्रह्मसूत्रोंके पहले होना निश्चित हुआ जाता है। ब्रह्मसूत्रोका एक वार गीता पहले रचा जाना और दूसरी वार उन्ही सूत्रोका गीताके वाद रचा जाना सभव नही। अच्छा, अव यदि इस झगडेसे वचनेके लिये गीताके 'ब्रह्मसूत्रपदै' शव्दसे शाकरभाष्यमें दिये हुए अर्थको स्वीकार करते हैं, तो 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितै' इत्यादि पदोका स्वारस्यही नष्ट हो जाता है, और यदि यह मानें, कि ब्रह्मसूत्रोंके 'स्मृति' शव्दसे गीताके अतिरिक्त कोई दूसरा स्मृति-ग्रथ विवक्षित होगा, तो यह कहना पडेगा, कि सभी भाष्यकारोंने भूल की है। अच्छा, यदि उनकी भूल कहे, तोभी यह वतलाया नही जा सकता, कि

'स्मृति' शब्दसे कौन-सा ग्रंथ विवक्षित है; तब इस अड़चनसे कैसे पार पावें? हमारे मतानुसार इस अड़चनसे बचनेका केवल एकही मार्ग है। यदि यह मान लिया जाय, कि जिसने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की है, उसीने मूल भारत तथा गीताको वर्तमान स्वरूप दिया है, तो कोई अड़चन या विरोध नहीं रह जाता। ब्रह्मसूत्रोंको 'व्याससूत्र' कहनेकी रीति पड़ गई है, और "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः" (वे. सू. ३. ४. २) इस सूत्रपर शांकरभाष्यकी टीकामें आनंदगिरिने लिखा है, कि जैमिनि वेदान्त-सूत्रकार व्यासजीके शिष्य थे, और अपने आरंभके मंगलाचरणमेंभी, 'श्रीमद्व्यासपयोनिधिर्निधिरसौ' इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका वर्णन किया है। यह कथा वर्तमान महाभारतके आधारपर हम ऊपर बतला चुके हैं, कि महाभारतकार व्यासजीके पैल, शुक, सुमन्तु, जैमिनि और वैशंपायन नामक पाँच शिष्य थे, और उनको व्यासजीने महाभारत पढ़ाया था। इन दोनों बातोंको मिला कर विचार करनेसे यही अनुमान होता है, कि मूल भारत और तदंतर्गत गीताको वर्तमान स्वरूप देनेका तथा ब्रह्मसूत्रोंकी रचना करनेका कामभी एक बादरायण व्यासजीनेही किया होगा। इस कथनका यह मतलब नहीं, कि बादरायणाचार्यने वर्तमान महाभारतकी नवीन रचना की। हमारे कथनका भावार्थ यह है — महाभारत ग्रंथके अति विस्तृत होनेके कारण संभव है, कि बादरायणाचार्यके समय उसके कुछ भाग इधर उधर बिखर गये हों या लुप्तभी हो गये हों, ऐसी अवस्थामें तत्कालीन उपलब्ध महाभारतके भागोंकी खोज करके तथा ग्रंथमें जहाँ जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ दीख पड़ीं, वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके, तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़ कर बादरायणाचार्यने इस ग्रंथका पुनरुज्जीवन किया हो, अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया हो। मराठी साहित्यमें यह बात प्रसिद्ध है, कि ज्ञानेश्वरी ग्रंथका ऐसाही संशोधन एकनाथ महाराजने किया था, और यह कथाभी प्रचलित है, कि एक बार संस्कृतका व्याकरण-महाभाष्य प्रायः लुप्त हो गया था और उसका पुनरुद्धार चन्द्रशेखराचार्यको करना पड़ा। अब इस बातकीभी ठीक ठीक उपपत्ति लग जाती है, कि महाभारतके अन्य प्रकरणोंमें गीताके श्लोक क्यों पाये जाते हैं, तथा इस बातभी सहजही हल हो जाती है कि गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख और ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे गीताका निर्देश क्यों किया गया है। जिस गीताके आधारपर वर्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्यके पहलेभी उपलब्ध थी, इसी कारण ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे उसका निर्देश किया गया; और महाभारतका संशोधन करते समय गीतामें* यह बतलाया गया, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विस्तारपूर्वक

---

* पिछले प्रकरणोंमें हमने यह बतलाया है, कि ब्रह्मसूत्र वेदान्तसंबंधी मुख्य ग्रंथ है और इसी प्रकार गीता कर्मयोगविषयक प्रधान ग्रंथ है। अब यदि हमारा यह अनुमान सत्य हो, कि ब्रह्मसूत्र और गीताकी रचना अकेले व्यासजीनेही की है, तो इन दोनों ग्रंथोंका कर्ता उन्हींको मानना पड़ता है। हम यह बात अनुमानद्वारा

विवेचन ब्रह्मसूत्रोमें किया गया है। वर्तमान गीतामें ब्रह्मसूत्रोका जो यह उल्लेख है, उसकी बराबरीकेही सूत्र-ग्रथके अन्य उल्लेख वर्तमान महाभारतमेंभी हैं। उदाहरणार्थ, अनुशासनपर्वके अष्टावक्र आदि सवादमें "अनृता स्त्रिय इत्येव सूत्रकारो व्यवस्यति" (अनु १९ ६) यह वाक्य है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (शाति ३१८ १६–२३) पचरात्र (शाति ३३९ १०७), मनु (अनु ३७ १६) और यास्कके निरुक्तकाभी (शाति ३४२ ७१) अन्यत्र साफ साफ़ उल्लेख किया गया है। परतु गीताके समान महाभारतके सब भागोको मुखाग्र करनेकी रीति नही थी, इसलिये यह शका सहजही उत्पन्न होती है, कि गीताके अतिरिक्त महाभारतमें अन्य स्थानोपर जो अन्य ग्रथोंके उल्लेख हैं, वे काल-निर्णयार्थ कहाँ-तक विश्वसनीय माने जायँ। क्योकि, जो भाग मुखाग्र नही किये जाते, उनमें क्षेपक श्लोक मिला देना कोई कठिन बात नही। परतु, हमारे मतानुसार, उपर्युक्त अन्य उल्लेखोका यह बतलानेके लिये उपयोग करना कुछ अनुचित न होगा, कि वर्तमान गीतामें किया गया ब्रह्मसूत्रोका उल्लेख केवल अकेला या अपूर्व अतएव अविश्वसनीय नही है।

ऊपर सिद्धकर चुके है, परतु कुभकोणस्थ कृष्णाचार्यने, दाक्षिणात्य पाठके अनुसार, महाभारतकी जो एक पोथी हालहीमें प्रकाशित की है, उसमें शातिपर्वके २१२ वे अध्यायमें (वार्ष्णेयाध्यात्म प्रकरणमें) प्रथम इस बातका वर्णन करते समय – कि युगके आरभमें भिन्न भिन्न शास्त्र और इतिहास किस प्रकार निर्मित हुए – ३४ वाँ श्लोक इस प्रकार दिया है –

वेदान्तकर्मयोग च वेदविद् ब्रह्मविद्विभु ।
द्वैपायनो निजग्नाह शिल्पशास्त्र भृगु. पुन ॥

इस श्लोकमें 'वेदान्तकर्मयोग' एकवचनान्त पद है, परतु उसका अर्थ 'वेदान्त और कर्मयोगही करना पडता है। अथवा यहभी प्रतीत होता है, कि 'वेदान्त कर्मयोग च' यही मूलपाठ होगा, और लिखते समय या छापते समय 'न्त'के ऊपरका अनुस्वार छूट गया हो। इस श्लोकमें यह साफ साफ कह दिया गया है, कि वेदान्त और कर्मयोग, दोनो शास्त्र व्यासजीको प्राप्त हुए थे, और शिल्पशास्त्र भृगुको मिला था। परतु यह श्लोक बबईके गणपत कृष्णाजीके छापाखानेसे प्रकाशित पोथीमें या कलकत्तेकी प्रतिमें नही मिलता। कुभकोणकी पोथीका शातिपर्वका २१२ वाँ अध्याय, बबई और कलकत्ताकी प्रतिमें, २१० वाँ है। कुभकोण पाठका यह श्लोक हमारे मित्र डॉक्टर गणेश कृष्ण गर्देने हमें सूचित किया, अतएव हम उनके कृतज्ञ हैं। उनके मतानुसार इस स्थानपर कर्मयोग शब्दसे गीताही विवक्षित है, और इस श्लोकमें गीता और वेदान्त-सूत्रोका (अर्थात् दोनोका) कर्तृत्व व्यासजीकोही दिया गया है। महाभारतकी तीन पोथियोमेंसे केवल एकही प्रतिमें ऐसा पाठ मिलता है, अतएव उसके विषयमें कुछ शका उत्पन्न होती है। इस विषयमें चाहे जो कहा जाय, किंतु इस पाठसे इतना तो अवश्य सिद्ध हो जाता है, कि हमारा यह अनुमान, कि वेदान्त और कर्मयोगका कर्ता एकही है, कुछ नया या निराधार नही।

'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव' इत्यादि श्लोकके पदोंके अर्थ-स्वारस्यकी मीमासा करके हम ऊपर इस बातका निर्णय कर चुके है, कि वर्तमान भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रो या वेदान्त-सूत्रोहीका उल्लेख किया गया है। परतु भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोका उल्लेख होनेका – और वहभी तेरहवे अध्यायमें अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारहीमें होनेका – हमारे मतसे एक और महत्त्वपूर्ण तथा दृढ कारण है। भगवद्गीतामें वासुदेव-भक्तिका तत्त्व यद्यपि मूल भागवत या पाचरात्र-धर्मसे लिया गया है, जैसा हम पिछले प्रकरणोमें कह आये है, चतुर्व्यूह-पाचरात्र-धर्ममें वर्णित मूल जीव और मनकी उत्पत्तिके विषयका यह मत भगवद्गीताको मान्य नही है, कि वासुदेवसे सकर्षण अर्थात् जीव, सकर्षणसे प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध (अहकार) उत्पन्न हुआ। ब्रह्मसूत्रोका यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा किसी अन्य वस्तुसे उत्पन्न नही हुआ है (वे सू २ ३ १७), और वह सनातन परमात्माहीका नित्य 'अश' है (वे सू॰ २ ३ ४३)। इसलिये ब्रह्मसूत्रोके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें पहले कहा है, कि वासुदेवसे सकर्षणका होना अर्थात् भागवत-धर्मीय जीवसवधी उत्पत्ति सभव नही (वे सू २ २ ४२), और फिर यह कहा है, कि मन जीवकी एक इद्रिय है, इसलिये जीवसे प्रद्युम्नका (मन) होनाभी सभव नही (वे सू २ २ ४३), क्योकि लोकव्यवहारकी ओर देखनेसे तो यही बोध होता है, कि कर्ताहीसे कारण या साधन उत्पन्न नही होता। इस प्रकार वादरायचाणार्यने, भागवत धर्ममें वर्णित जीवकी उत्पत्तिका युक्तिपूर्वक खडन किया है। सभव है, कि भागवत धर्मवाले इसपर यह उत्तर दे, कि हम वासुदेव (ईश्वर), सकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) तथा अनिरुद्धको (अहकार) एकही समान ज्ञानी समझते है, और एकसे दूसरेकी उपपत्तिको लाक्षणिक तथा गौण मानते हैं। परतु ऐसा माननेसे कहना पडेगा, कि एक मुख्य परमेश्वरके वदले चार मुख्य परमेश्वर है, अतएव ब्रह्मसूत्रोमें कहा है, कि यह उत्तरभी समर्पक नही है, और वादरायणाचार्यने अतिम निर्णय यह किया है, कि यह मत – परमेश्वरसे जीवका उत्पन्न होना – वेदो अर्थात् उपनिषदोंके मतके विरुद्ध अतएव त्याज्य है (वे सू २ २ ४४, ४५)। यद्यपि यह वात सच है, कि भागवत धर्मका कर्मप्रधान भक्ति-तत्त्व भगवद्गीतामें लिया गया है, तथापि गीताका यहभी सिद्धान्त है, कि जीव वासुदेवसे उत्पन्न नही हुआ, किंतु वह नित्य परमात्माहीका 'अश' है (गीता १५ ७)। जीवविषयक यह सिद्धान्त मूल भागवत धर्मसे नही लिया गया, इसलिये यह वातलाना आवश्यक था, कि इसका आधार क्या है। क्योकि यदि ऐसा न किया जाता, तो सभव था, कि यह भ्रम उपस्थित हो जाता, कि चतुर्व्यूह भागवत धर्मके प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वके साथही साथ जीवकी उत्पत्ति-विषयक कल्पनासेभी गीता सहमत है। अतएव क्षेत्र-क्षत्रज्ञ-विचारमें जव जीवात्माका स्वरूप वतलानेका समय आया, तव, अर्थात् गीताके तेरहवे अध्यायके आरभहीमें यह स्पष्ट रूपसे कह देना पडा, कि "क्षेत्रज्ञके अर्थात् जीवके स्वरूपके सवधमें हमारा

मत भागवत धर्मके अनुसार नही, वरन् उपनिषदोंमें वर्णित ऋषियोंके मतानुसार है, ” और फिर उसके साथही साथ स्वभावत यहभी कहना पडा है, कि भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें पृथक् पृथक् उपपादन किया है, इसलिये उन सवकी ब्रह्मसूत्रोमें की गई एकवाक्यता ही (वे सू २ ३ ४३) हमें ग्राह्य है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यही प्रतीत होगा, कि भागवत धर्मके भक्ति-मार्गका गीतामें इस रीतिसे समावेश किया गया है, जिससे वे आक्षेप दूर हो जायँ, कि जो ब्रह्मसूत्रोमें भागवत धर्मपर ला दे गये हैं। रामानुजाचार्यने अपने वेदान्तसूत्र-भाष्यमें उक्त सूत्रोंके अर्थको वदल दिया है (वे सू रा भा २ २ ४२–४५)। परतु हमारे मतसे अर्थ क्लिष्ट अतएव अग्राह्य है। थिवो साहवका झुकाव रामानुज-भाष्यमें दिये गये अर्थकी ओरही है, परतु उनके लेखोसे तो यही ज्ञात होता है, कि इस वातका यथार्थ स्वरूप उनके ध्यानमें नही आया। महाभारतके शातिपर्वके अतिम भागमें नारायणीय अथवा भागवत धर्मका जो वर्णन है, उसमें यह नही कहा है, कि वासुदेवसे जीव अर्थात् सकर्षण हुआ, किंतु पहले यह वतलाया है, कि “जो वासुदेव है, वही (स एव) सकर्षण अर्थात् जीव या क्षेत्रज्ञ है” (मभा शा ३३४ २८,२९, ३३९ ३९,७१), और इसके वाद सकर्षणसे प्रद्युम्न तककी केवल परपरा दी गई है। एक स्थानपर तो यह साफ साफ कह दिया है, कि भागवत धर्मके कोई चतुर्व्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई द्विव्यूह और अतमें कोई एकव्यूहभी मानते हैं (मभा शा ३४८ ५७)। परतु भागवत धर्मके इन विविध पक्षोको स्वीकार न कर, उनमेंसे सिर्फ वही एक मत वर्तमान गीतामें स्थिर किया गया है, जिसका मेल क्षेत्रक्षेत्रज्ञके परस्पर सवधसे उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोसे हो सके, और इस वातपर ध्यान देनेपर यह प्रश्न ठीक तौरसे हल हो जाता है, कि ब्रह्मसूत्रोका उल्लेख गीतामें क्यो किया है? अथवा यह कहनाभी अत्युक्ति नही, कि मूल गीतामें यह एक सुधारही किया गया है।

भाग – ४ भागवत धर्मका उदय और गीता

गीतारहस्यमें अनेक स्थानोपर तथा इस प्रकरणमेंभी पहले यह वतला दिया गया है, कि उपनिषदोके ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-साख्यके क्षर-अक्षर-विचारके साथ भक्ति और विशेषत निष्काम कर्मका मेल करके कर्मयोगका शास्त्रीय रीतिसे पूर्णतया समर्थन करनाही गीता-ग्रथका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। परतु इतने विषयोकी एकता करनेकी गीताकी पद्धति जिनके ध्यानमें पूरी तरह नही आ सकती, अथवा जिनका पहलेहीसे यह मत हो जाता है, कि इतने विषयोकी एकता होही नही सकती, उन्हे इस वातका आभास हुआ करता है, कि गीताके वहुतेरे सिद्धान्त परस्परविरोधी हैं। उदाहरणार्थ, इन आक्षेपकोका यह मत है, कि तेरहवे अध्यायका यह कथन कि – इस जगतमें जो कुछ है, वह सव निर्गुण ब्रह्म है, – सातवे अध्यायके इस कथनसे

विलकुल्ही विरुद्ध है, कि यह सब सगुण वासुदेवही है । (गीता ७ १९) इसी प्रकार भगवान् एक जगह कहते हैं, कि "मुझे शत्रु और मित्र समान हैं" (गीता ९ २९), और दूसरे स्थानपरभी कहते है, कि "ज्ञानी तथा भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यत प्रिय हैं" (गीता ७ १७, १२ १९) – ये दोनो वाते परस्परविरोधी हैं। परतु हमने गीतारहस्यमें अनेक स्थानोपर इस वातका स्पष्टीकरण कर दिया है, कि वस्तुत ये विरोध नही हैं, किंतु एकही बातपर एक वार अध्यात्म-दृष्टिसे और दूसरी वार भक्तिकी दृष्टिसे विचार किया गया है, इसलिये यद्यपि दिखनेमे ये विरोधी वाते कहनी पडी, तथापि अतमें व्यापक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे गीतामें उनका मेलभी कर दिया गया है। इसपरभी कुछ लोगोका यह आक्षेप है, कि अव्यक्त ब्रह्म-ज्ञान और व्यक्त परमेश्वरकी भक्तिमें यद्यपि उक्त प्रकारसे मेल कर दिया गया है, तथापि मूल गीतामें इस मेलका होना सभव नही, क्योकि मूल गीता वर्तमान गीताके समान परस्परविरोधी बातोसे भरी नही थी, उसमें वेदान्तियोंने अथवा साख्यशास्त्रा-भिमानियोंने अपने अपने शास्त्रोंके भाग पीछेसे घुसेड दिये है। उदाहरणार्थ, प्रो गार्वेका कथन हैं, कि मूल गीतामें भक्तिका मेल केवल साख्य तथा योगहीसे किया गया है, वेदान्तके साथ मीमासकोंके कर्म-मार्गके साथ भक्तिका मेल कर देनेका काम किसीने पीछेसे किया है। मूल गीतामें इस प्रकार जो श्लोक पीछेसे जोडे गये, उनकी, अपने मतानुसार, एक तालिकाभी उसने जर्मन भाषामें अनुवादित अपनी गीताके अतमें दी है। हमारे मतानुसार ये सब कल्पनाएँ भ्रममूलक है। वैदिक धर्मके भिन्न भिन्न अगोकी ऐतिहासिक परपरा और गीताके 'साख्य' तथा 'योग' शब्दोका सच्चा अर्थ ठीक ठीक न समझनेके कारण, और विशेषत तत्त्वज्ञानविरहित अर्थात् केवल भक्तिप्रधान ईसाई धर्महीका इतिहास उक्त लेखको के (प्रो गार्वे प्रभृति) सामने रखा रहनेके कारण, उक्त प्रकारके भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। ईसाई धर्म पहले केवल भक्तिप्रधान था, और ग्रीक लोगोके अथवा अन्य तत्त्वज्ञानसे उसका मेल करनेका कार्य पीछेसे किया गया है । परतु, यह बात हमारे धर्मकी नही । हिंदुस्थानमें भक्ति-मार्गका उदय होनेके पहलेही मीमासकोका यज्ञ-मार्ग, उपनिषत्कारोका ज्ञान तथा साख्य और योग – इन सबको परिपक्व दशा प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये पहलेहीसे हमारे देशवासियोको स्वतन्त्र रीतिसे प्रतिपादित ऐसा भक्ति-मार्ग कभीभी मान्य नही हो सकता था, जो इन सब शास्त्रोसे और विशेष करके उपनिषदोमे वर्णित ब्रह्मज्ञानसे अलग हो। इन वातोपर ध्यान देनेसे यह मानना पडता है, कि गीताके धर्म-प्रतिपादनका स्वरूप पहलेहीसे प्राय वर्तमान गीताके प्रतिपादनके सदृशही था। गीतारहस्यका विवेचनभी इसी बातकी ओर ध्यान देकर किया गया है, परतु यह विषय अत्यत महत्वका है, इसलिये सक्षेपमें यहांपर यह बतलाना चाहिये, कि गीता-धर्मके मूल स्वरूप तथा परपराके सबधमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर, हमारे मतमे कौन-कौन-सी बाते निष्पन्न होती है।

गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें इस बातका विवेचन किया गया है, कि वैदिक धर्मका अत्यत प्राचीन स्वरूप न तो भक्ति-प्रधान, न तो ज्ञान-प्रधान और न योग-प्रधानभी था, किंतु वह यज्ञमय अर्थात् कर्म-प्रधान था, और वेदसहिता तथा ब्राह्मणोमें विशेषत इसी यज्ञयाग आदि कर्म-प्रधान धर्मका प्रतिपादन किया गया है। आगे चल कर इसी धर्मका व्यवस्थित विवेचन जैमिनीके मीमासा-सूत्रोंमें किया गया है। इसीलिये उसे 'मीमासक-मार्ग' नाम प्राप्त हुआ। परतु, यद्यपि 'मीमासक' नाम नया है, तथापि इस विषयमें तो विलकुलही सदेह नही, कि यज्ञयाग आदि धर्म अत्यत प्राचीन है, इतनाही नही, तो उसे ऐतिहासिक दृष्टिसे वैदिक धर्मकी प्रथम सीढी कह सकते है। 'मीमासक-मार्ग' नाम प्राप्त होनेके पहले उसको त्रयी धर्म अर्थात् तीन वेदोद्वारा प्रतिपादित धर्म कहते थे, और इसी नामका उल्लेख गीतामेंभी किया गया है (गीता ९ २०, २१)। कर्ममय त्रयी धर्मके इस प्रकार जोर-शोरसे प्रचलित रहनेपर, कर्मसे अर्थात् केवल यज्ञयाग आदिके वाह्य प्रयत्नसे परमेश्वरका ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान होना एक मानसिक स्थिति है, इसलिये परमेश्वरके स्वरूपका विचार किये विना ज्ञान होना सभव नही, इत्यादि विपय और कल्पनाएँ उपस्थित होने लगी, और धीरे धीरे उन्हींमेंसे औपनिषदिक ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। यह वात, छादोग्य आदि उपनिषदोंके आरभमें जो अवतरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। इस औपनिषदिक ब्रह्मज्ञानहीको आगे चलकर 'वेदान्त' नाम प्राप्त हुआ। परतु, मीमासा शब्दके समान यद्यपि वेदान्त नाम पीछेंसे प्रचलित हुआ है, तथापि उससे यह नही कहा जा सकता, कि ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञान-मार्गभी नया है। यह सच है, कि कर्मकाडके अनतरही ज्ञानकाड उत्पन्न हुआ। परतु स्मरण रहे, कि ये दोनो प्राचीन हैं। इस ज्ञान-मार्गहीकी दूसरी, किंतु स्वतत्र शाखा 'कापिल-साख्य' है। गीतारहस्यमें यह वतला दिया गया है, कि इधर ब्रह्मज्ञान अद्वैती है, तो उधर साख्य है द्वैती, और सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमके सबधमें साख्योके विचार मूलमें भिन्न हैं। परतु औपनिपदिक अद्वैती ब्रह्मज्ञान तथा साख्योका द्वैती ज्ञान, दोनो यद्यपि मूलमें भिन्न भिन्न हो, तथापि केवल ज्ञान-दृष्टिसे देखनेपर जान पडेगा, कि ये दोनो मार्ग अपने पहलेके यज्ञ-याग आदि कर्म-मार्गके एकहीसे विरोधी थे। अतएव यह प्रश्न स्वभावत उत्पन्न हुआ, कि कर्मका ज्ञानसे किस प्रकार मेल किया जाए? इसी कारणसे उपनिपत्-कालहीमें इस विपयपर दो दल हो गये थे। उनमेंसे वृहदारण्यकादि उपनिपद् तथा साख्य यह कहने लगे, कि कर्म और ज्ञानमे नित्य विरोध है, इसलिये ज्ञान हो जानेपर कर्मका त्याग करना प्रशस्तही नही, किंतु आवश्यकभी है। इसके विरुद्ध ईशावास्यादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे, कि ज्ञान हो जानेपरभी कर्म छोडा नही जा सकता, वैराग्यमे वुद्धिको निष्काम करके जगतमें व्यवहारकी सिद्धिके लिये ज्ञानी पुरुपको सब कर्म करनेही चाहिये। इन उपनिपदोंके

भाष्योंमेंसे इस भेदको निकाल डालनेका प्रयत्न किया गया है। परतु गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरणके अतमें किये गये विवेचनमे यह बात ध्यानमे आ जाएगी, कि शाकर-भाष्यमें ये साप्रदायिक अर्थ खीचातानीसे किये गये है, और इसलिये इन उपनिषदोपर स्वतत्र रीतिसे विचार करते समय वे अर्थ ग्राह्य नही माने जा सकते। यह नही कि, केवल यज्ञयागादि कर्म तथा ब्रह्मज्ञानहीमें मेल करनेका प्रयत्न किया गया हो, किंतु मैत्र्युपनिषदके विवेचनसे यह बातभी साफ साफ प्रकट होती है, कि कापिलसाख्यमें पहले पहल स्वतत्र रीतिसे प्रादुर्भूत क्षराक्षरज्ञानकी तथा उपनिषदोंके ब्रह्मज्ञानकी एकवाक्यता – जितनी हो सकती थी – करनेकाभी प्रयत्न उसी समय आरभ हुआ था। बृहदारण्यकादि प्राचीन उपनिषदोमें कापिल-साख्यज्ञानको कुछ महत्त्व नही दिया गया है। परतु मैत्र्युपनिषदमें साख्योकी परिभाषाका पूर्णतया स्वीकार करके यह कहा है, कि अतमें एक परब्रह्महीसे साख्योंके चौवीस तत्त्व निर्मित हुए हैं। तथापि कापिल-साख्यशास्त्रभी वैराग्य-प्रधान अर्थात् कर्मके विरुद्ध है। तात्पर्य यह है, कि प्राचीन कालमेंही वैदिक धर्मके तीन दल हो गये थे – (१) केवल यज्ञयाग आदि कर्म करनेका मार्ग, (२) ज्ञान तथा वैराग्यसे कर्मसन्यास करना, अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अथवा साख्यमार्ग, और (३) ज्ञान तथा वैराग्यबुद्धिहीमे नित्य कर्म करनेका मार्ग, अर्थात् ज्ञानकर्म-समुच्चय-मार्ग। इनमेंसे ज्ञानमार्गहीसे आगे चलकर दो अन्य शाखाएँ – योग और भक्ति – निर्मित हुई हैं। छादोग्यादि प्राचीन उपनिषदोमें यह कहा है, कि परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचिंतन अत्यत आवश्यक है, और यह चिंतन, मनन तथा ध्यान करनेके लिये चित्त एकाग्र होना चाहिये, और चित्तको स्थिर करनेके लिये परब्रह्मका कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रोंके सामने रखना पडता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहनेसे चित्तकी जो एकाग्रता हो जाती है, उसीको आगे विशेप महत्त्व दिया जाने लगा और चित्तनिरोधरूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया, और जब सगुण प्रतीकके बदले परमेश्वरके मानवरूपधारी व्यक्त प्रतीतकी उपासनाका आरभ धीरे धीरे होने लगा, तब अतमे भक्ति-मार्ग उत्पन्न हुआ। यह भक्तिमार्ग औपनिपदिक ज्ञानसे अलग, बीचहीमे स्वतत्र रीतिसे प्रादुर्भूत नही हुआ है, और न भक्तिकी कल्पना हिंदुस्थानमें किसी अन्य देशसे लाई गई है। सब उपनिपदोका अवलोकन करनेसे यह क्रम दीख पडता है, कि पहले ब्रह्मचिंतनके लिये यज्ञके अगोकी अथवा ॐकारकी उपासना थी, आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओकी, अथवा आकाश आदि सगुण व्यक्त-ब्रह्म-प्रतीकोकी, उपासनाका आरभ हुआ, और अतमें इसी हेतुसे अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके लियेही राम, नृसिह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदिकी भक्ति, अर्थात् एक प्रकारकी उपासना, जारी हुई है। उपनिपदोकी भापासे यह बातभी साफ साफ मालूम होती है, कि उनमेंसे योगतत्त्वादि योगविपयक उपनिपद् अथवा नृसिहतापनी, रामतापनी आदि भक्तिविपयक उपनिपद्

छांदोग्यादिकी अपेक्षा अर्वाचीन है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कहना पड़ता है, कि छांदोग्यादि प्राचीन उपनिषदोंमें वर्णित कर्म, ज्ञान अथवा सन्यास, और ज्ञानकर्म-समुच्चय – इन तीनो दलोका प्रादुर्भूत हो जानेपरही आगे योग-मार्ग और भक्ति-मार्गको श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। परतु योग और भक्ति, ये दोनो साधन यद्यपि उक्त प्रकारसे आगे श्रेष्ठ माने गये, तथापि उनके पहलेके ब्रह्मज्ञानकी श्रेष्ठता उससे कुछ कम नही हुई, और न उसका कम होना सभवही था। इसी कारण योग-प्रधान अथवा भक्ति-प्रधान उपनिषदोंमेंभी ब्रह्मज्ञानको भक्ति और योगका अतिम साध्य कहा है। और ऐसा वर्णनभी कई स्थानोमें पाया जाता है, कि जिन रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण तथा वासुदेव आदिकी भक्ति की जाती है, वेभी परमात्माके अथवा परब्रह्मके रूप हैं (मैत्र्यु ७ ७, रामपू १६, अमृतबिंदु २२ आदि)। साराश वैदिक धर्ममें समय समयपर आत्मज्ञानी पुरुषोंने जिन धर्मांगोको प्रवृत्त किया है, वे प्राचीन समयमें प्रचलित धर्मांगोंसेही प्रादुर्भूत हुए हैं, और नये धर्मांगोका प्राचीन समयमे प्रचलित धर्मांगोके साथ मेल करा देनाही वैदिक धर्मकी उन्नतिका पहलेसे मुख्य उद्देश्य रहा है तथा भिन्न भिन्न धर्मांगोकी एकवाक्यता करनेके इसी उद्देश्यका स्वीकार करके, आगे चलकर स्मृतिकारोंने आश्रमव्यवस्था-धर्मका प्रतिपादन किया है। भिन्न भिन्न र्मांगोकी एकवाक्यता करनेकी इस प्राचीन पद्धतिपर ध्यान दिया जाता है, तब यह कहना सयुक्तिक नही प्रतीत होता, कि उक्त पूर्वापर पद्धतिको छोड केवल गीता-धर्मही अकेला प्रवृत्त हुआ होगा।

ब्राह्मण-ग्रथोके यज्ञ-यागादि कर्म, उपनिषदोका ब्रह्मज्ञान, कापिल-सांख्य, चित्त-निरोधरूपी योग तथा भक्ति, येही वैदिक धर्मके मुख्य मुख्य अग हैं, और इनकी उत्पत्तिके क्रमका सामान्य इतिहास ऊपर लिखा गया है। अब इस बातका विचार किया जाएगा, कि गीतामे इन सब धर्मांगोका जो प्रतिपादन किया गया है, उसका मूल क्या है? – अर्थात् वह प्रतिपादन साक्षात् भिन्न भिन्न उपनिषदोंसे गीतामें लिया गया है अथवा बीचमें एक-आध सीढी और है। केवल ब्रह्मज्ञानके विवेचनके समय कठ आदि उपनिषदोके कुछ श्लोक गीतामें ज्यो-के-त्यो लिये गये हैं, और ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षका प्रतिपादन करते समय जनक आदिके औपनिषदिक उदाहरणभी दिये गये हैं। इससे प्रतीत होता है, कि गीता-ग्रथ साक्षात् उपनिषदोंके आधारपर रचा गया होगा। परतु गीताहीमे गीता-धर्मकी जो परपरा दी गई है, उसमें तो उपनिषदोका कहीभी उल्लेख नही मिलता। जिस प्रकार गीतामें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञको श्रेष्ठ माना है (गीता ४ ३३), उसी प्रकार छांदोग्योप-निषदमेभी एक स्थानपर यह कहा है, कि मनुष्यका जीवन एक प्रकारका यज्ञही है (छा ३ १६, १७), और इस प्रकारके यज्ञकी महत्ताका वर्णन करते हुए यहभी कहा है, कि "यह यज्ञ-विद्या घोर आगिरस नामक ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको बतलाई।" इस देवकीपुत्र कृष्ण तथा गीताके श्रीकृष्णको एकही व्यक्ति माननेसे

३३४–३५१), शाडिल्य-सूत्र, भागवत-पुराण, नारद-पचरात्र, नारद-सूत्र, तथा रामानुजाचार्य आदिके ग्रथ। इनमें रामानुजाचार्यके ग्रथ तो प्रत्यक्षमें साप्रदायिक दृष्टिसेही, अर्थात् भागवतधर्मके विशिष्टाद्वैत वेदान्तसे मेल करनेके लिये विक्रम सवत् १३३५ में (शालिवाहन शकके लगभग बारहवे शतकमें) लिखे गये है। अतएव भागवत धर्मका मूल-स्वरूप निश्चित करनेके लिये इन ग्रथोका सहारा नही लिया जा सकता, और यही बात मध्वादिके अन्य वैष्णव ग्रथोकीभी है। श्रीमद्भागवतपुराण इसके पहलेका है। परतु इस पुराणके आरभमेंही यह कथा है (भाग स्क १ अ ४ ५), कि जब व्यासजीने देखा, कि महाभारतमें, अतएव गीतामेंभी, नैष्कर्म्य-प्रधान भागवत धर्मका जो निरूपण किया गया है, उसमे भक्तिका जैसा चाहिये वैसा वर्णन नही है, और "भक्तिके विना केवल नैष्कर्म्य शोभा नही पाता", तब उनका मन कुछ उदास और अप्रसन्न हो गया, एव अपने मनकी इस तलमलाहटको दूर करनेके लिये नारदजीकी सूचनासे उन्होंने भक्तिके माहात्म्यका प्रतिपादन करनेवाले भागवतपुराणकी रचना की। इस कथाका ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर दीख पडेगा, कि मूल भागवत धर्ममें अर्थात् भारतान्तर्गत भागवत धर्ममें नैष्कर्म्यको जो श्रेष्ठता दी गयी थी, वह जब समयके हेरफेरसे कम होने लगी, और उसके बदले जब भक्तिको प्रधानता दी जाने लगी, तब भागवत धर्मके इस दूसरे स्वरूपका (अर्थात् भक्तिप्रधान भागवत धर्मका) प्रतिपादन करनेके लिये यह भागवतपुराणरूपी मेवा पीछे तैयार किया गया है। नारदपचरात्र-ग्रथभी इसी प्रकार का अर्थात् केवल भक्ति-प्रधान है, और उसमें द्वादश-स्कधोके भागवतपुराणका तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारतका नामोल्लेख कर स्पष्ट निर्देश किया गया है (ना प २ ७ २८–३२, ३ १४ ७३, ४ ३ १५४)। इसलिये यह प्रकट है, कि भागवत धर्मके मूल-स्वरूपका निर्णय करनेके लिये इस ग्रथकी योग्यता भागवतपुराणसेभी कम दर्जेकी है। नारदसूत्र तथा शाडिल्य-सूत्र कदाचित् नारदपचरात्रसेभी कुछ प्राचीन हो, परतु नारद-सूत्रमें व्यास और शुक (ना सू ८३) का उल्लेख है, इसलिए वह भारत और भागवतके बादका है, और शाडिल्यसूत्रमें भगवद्गीताके श्लोक ही उद्धृत किये गये हैं (शा सू ९ १५ और ८३), अतएव यह सूत्र यद्यपि नारद-सूत्र (ना सू ८३) से प्राचीनभी हो, तथापि इसमे सदेह नही, कि यह गीता और महाभारतके अनतर का है। अतएव, भागवत-धर्मके मूल तथा प्राचीन स्वरूपका निर्णय अतमे महाभारतान्तर्गत नारायणीयाख्यानके आधारसेही करना पडता है। भागवतपुराण (भाग १ ३ २४) और नारद-पचरात्र (ना प ४ ३ १५६–१५९, ४ ८ ८१) ग्रथोमें बुद्धको विष्णुका अवतार कहा है। परतु नारायणीयाख्यानमें वर्णित दशावतारोमें बुद्धका समावेश नही किया गया है—पहला अवतार हसका और आगे कृष्णके बाद एकदम कल्कि अवतार

वतलाया है (मभा शा ३३९ १००)। इससे यही सिद्ध होता है, कि नारायणीयाख्यान भागवतपुराणसे और नारद-पचरात्रसे प्राचीन है। इस नारायणीयाख्यानमे यह वर्णन है, कि नर तथा नारायण (जो परब्रह्महीके अवतार है) नामक दो ऋषियोंने नारायणीय अर्थात् भागवत धर्मको पहले पहल जारी किया, और उनके कहनेसे जव नारद ऋषि श्वेतदीपको गये, तव वहाँ स्वय भगवानने नारदको इस धर्मका प्रथम उपदेश किया। भगवान् जिस श्वेतदीपमे रहते है, वह क्षीर-समुद्रमे है, और क्षीर-समुद्र मेरुपर्वतकी उत्तरमें है, इत्यादि नारायणीयाख्यानकी वाते प्राचीन और पौराणिक ब्रह्माडवर्णनके अनुसारही है, और इस विषयमें हमारे यहाँ किसीको कुछ कहनाभी नही है। परतु वेबर नामक पश्चिमी सस्कृतज्ञ पडितने इसी कथाका विपर्यास करके यह दीर्घ शका की थी, कि भागवत धर्ममें वर्णित भक्ति-तत्त्व श्वेतदीपसे – अर्थात् हिंदुस्थानके वाहरके किसी अन्य देशसे – हिंदुस्थानमें लाया गया है, और भक्तिका यह तत्त्व इस समय ईसाई धर्मके अतिरिक्त और कहीभी प्रचलित नही था, इसलिए ईसाई देशोसेही भक्तिकी कल्पना भागवत धर्मियोको सूझी है। परतु पाणिनीको वासुदेव-भक्तिका तत्त्व मालूम था, और वौद्ध तथा जैन धर्ममेंभी भागवतधर्म तथा भक्तिके उल्लेख पाये जाते है, एव यह बातभी निर्विवाद है, कि पाणिनी और बुद्ध दोनो ईसाके पहले हुए थे। इसलिये अब पश्चिमी पडितोंनेभी निश्चित किया है कि वेबर साहबकी उपर्युक्त शका निराधार है। ऊपर यह वतला दिया गया है, कि भक्तिरूप धर्मांगका उदय हमारे यहाँ ज्ञान-प्रधान उपनिषदोके अनतर हुआ है। इससे यह वात निर्विवाद प्रकट होती है, कि ज्ञान-प्रधान उपनिपदोंके वाद तथा बुद्धके पहले वासुदेव-भक्तिसबधी भागवत धर्म उत्पन्न हुआ है। अव प्रश्न केवल इतनाही है, कि वह बुद्धके कितने शतक* पहले हुआ ? अगले विवेचनसे यह वात ध्यानमें आ जाएगी, कि यद्यपि उक्त प्रश्नका पूर्णतया निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता, तथापि स्थूल-दृष्टिसे उस कालका अदाज करना कुछ असभव नही है।

गीता (गी ४ २) में यह कहा है, कि श्रीकृष्णने जिस भागवत धर्मका उपदेश अर्जुनको किया है, उसका पहले लोप हो गया था। भागवत धर्मके तत्त्वज्ञानमें

---

* भक्तिमान् (पाली = भत्तिमा) शब्द थेरगाथा (श्लो ३७०) में मिलता है, और एक जातकमेंभी भक्ति का उल्लेख किया गया है। इसके सिवा, प्रसिद्ध फ्रेंच पाली पडित सेनार्त (Senart) ने 'बौद्ध धर्मका मूल' इस विषयपर सन १९०९ में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें स्पष्ट रूपसे यह प्रतिपादन किया है, कि भागवत धर्म वौद्ध धर्मके पहलेका है। "No one will claim to derive from Buddhism Vishnuism or the Yoga Assuredly, Buddhism is the borrower", "To sum up, if there had not previously, existed a religion made up of the doctrines of Yoga, of Vishnuite legends, of devotion to Vishnu-Krishna, worshipped under the title of Bhagavata

परमेश्वरको वासुदेव, जीवको सकर्पण, मनको प्रद्युम्न तथा अहकारको अनिरुद्ध कहा है। इनमेंसे वासुदेव तो स्वय श्रीकृष्णहीका नाम है, सकर्पण उनके ज्येष्ठ भ्राता वलरामका नाम है, तथा प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्णजीके पुत्र और पौत्रके नाम हैं। इसके सिवा इस धर्मका जो दूसरा नाम 'सात्वत'भी है, वह उस यादव-जातिका नाम है, जिसमें श्रीकृष्णजीने जन्म लिया था। इससे यह वात प्रकट होती है, कि जिस कुल तथा जातिमें श्रीकृष्णजीने जन्म लिया था, उसमें यह धर्म प्रचलित हो गया था, और तभी उन्होंने अपने प्रिय मित्र अर्जुनको उसका उपदेश किया होगा – और यही वात पौराणिक कथामेंभी कही गई है। यहभी कथा प्रचलित है, कि श्रीकृष्णजीके साथही सात्वत जातिकाभी अत हो गया। इस कारण श्रीकृष्णके वाद सात्वत जातिमें इस धर्मका प्रसार होनाभी सभव नही था। भागवतधर्मके भिन्न भिन्न नामोंके विपयमे इस प्रकारकी ऐतिहासिक उपपत्ति वतलाई जा सकती है, कि जिस धर्मको श्रीकृष्णजीने प्रवृत्त किया था, वह उनके पहले कदाचित् नारायणीय या पाँचरात्र नामोंसे न्यूनाधिक अशोमे प्रचलित रहा होगा, और आगे सात्वत जातिमें उसका प्रसार होनेपर उसे 'सात्वत' नाम प्राप्त हुआ होगा। तदनतर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको नर-नारायणके अवतार मानकर लोग इस धर्मको 'भागवत धर्म' कहने लगे होगे। इस विषयके सवधमें यह माननेकी कोई आवश्यकता नही, कि तीन या चार भिन्न भिन्न श्रीकृष्ण हो चुके है, और उनमेंसे हर एकने इस धर्मका प्रचार करते समय अपनी ओरसे कुछ-न-कुछ सुधार करनेका प्रयत्न किया है – वस्तुत ऐसा माननेके लिए कोई प्रमाणभी नही है। मूल धर्ममें न्यूनाधिक परिवर्तन हो जानेके कारणही यह कल्पना उत्पन्न हो गई है। वुद्ध, ईसा तथा मुहमद तो अपने अपने धर्मके स्वय एकही एक सस्थापक हो गये हैं, और आगे उनके धर्मोंमें भले-वुरे अनेक परिवर्तनभी हो गये हैं। परतु इससे कोई यह नहीं मानता, कि वुद्ध, ईसा या मुहमद अनेक हो गये। इसी प्रकार यदि मूल भागवत धर्मको आगे चलकर भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त हो गये या श्रीकृष्णजीके विषयमें आगे भिन्न भिन्न कल्पनाएँ रूढ हो गईं, तो यह कैसे माना जा सकता है, कि उतनेही भिन्न

Buddhism would not have come to birth at all" सेनार्तका यह लेख पूनेसे प्रकाशित होनेवाले The Indian Interpreter नामक मिशनरी त्रैमासिक पत्र अक्तूबर १९०९ और जनवरी १९१० के अकोमें प्रसिद्ध हुआ है, और ऊपर दिये गये वाक्य जनवरीके अकके १७७ तथा १७८ पृष्ठो में हैं। डॉ बुल्हरनेभी कहा है – The ancient Bhagavta, Satvata or Pancharatra sect devoted to the worship of Narayana and his defied teacher Krishna-Devakiputra dates from a period long anterior to the rise of Jainas the 8th Century B C" – Indian Antiquary Vol XXIII (1894), P 248 इस विषयका अधिक विवेचन आगे चलकर इसी परिशिष्ट प्रकरणके छठे भागमें किया गया है।

भिन्न श्रीकृष्णभी हो गये ? हमारे मतानुसार ऐसा माननेके लिये कोई कारण नही है। कोईभी धर्म लीजिये, समयके हेरफेरसे उसका रूपातर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है, उसके लिये इस बातकी आवश्यकता नही, कि भिन्न भिन्न कृष्ण, बुद्ध या ईसा मसीह माने जावे।* कुछ लोग, और विशेषत कुछ कुछ पश्चिमी तर्कज्ञानी – यह किया करते है, कि श्रीकृष्ण, यादव और पाडव, तथा भारतीय युद्ध आदि ऐतिहासिक घटनाएँ नही है, ये सब कल्पित कथाएँ हैं, और कुछ लोगोके मतमें तो महाभारत अध्यात्म विषयका एक बृहत् रूपकही है। परतु हमारे प्राचीन ग्रथोंके प्रमाणोको देखकर किसीभी नि पक्षपाती मनुष्यको यह मानना पडेगा, कि उक्त शकाएँ बिलकुल निराधार है। यह बात निर्विवाद है, कि इन कथाओंके मूलमें इतिहासहीका आधार है। साराश, हमारा मत यह है, कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नही हुए, वे केवल एकही ऐतिहासिक पुरुष थे। अब श्रीकृष्णजीके अवतार-कालपर विचार करते समय रा ब चितामणराव वैद्यने यह प्रतिपादन किया है, कि श्रीकृष्ण, यादव, पाडव तथा भारतीय युद्धका एकही काल – अर्थात् कलियुगका आरभ-काल न होकर पुराणगणनाके अनुसार उस कालसे अबतक पाँच हजारसेभी अधिक वर्ष बीत चुके है। और यही श्रीकृष्णजीके अवतारका यथार्थ काल है।† परतु पाडवोंसे लगाकर शक-काल तकके राजाओकी पुराणोंमें वर्णित पीढ़ियोंसे इस कालका मेल नही दीख पडता। अतएव भागवत तथा विष्णु-पुराणमे जो यह वचन है, कि "परीक्षित राजाके जन्मसे नदके अभिषेकतक १११५ अथवा १०१५ वर्ष होते है"

---

* श्रीकृष्णके चरित्रमें पराक्रम, भक्ति और वेदान्तके अतिरिक्त गोपियोकी रासक्रिडाका समावेश होता है, और ये बाते परस्पर-विरोधी है। इसलिये आजकल कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन किया करते है कि महाभारतका कृष्ण भिन्न, गीताका भिन्न और गोकुलका कन्हैयाभी भिन्न है। डॉ भाडारकरने अपने वैष्णव, शैव आदि पथ सबधी अग्रेजी ग्रथमे इसी मतको स्वीकार किया है। परतु हमारे मतमे यह ठीक नही है। यह बात नही, कि गोपियोकी कथामें जो शृगार-वर्णन है, वह बादमे न आया हो। परतु केवल उतनेहीके लिये यह माननेकी कोई आवश्यकता नही, कि श्रीकृष्ण नामके कई भिन्न भिन्न पुरुष हो गये, और इसके लिये कल्पनाके सिवा कोई अन्य आधारभी नही है। इसके सिवा, यहभी नही, कि गोपियोकी कथाका प्रचार पहले भागवत-कालहीमे हुआ हो, किंतु शककालके आरभमे यानी विक्रम सवत् १३६ के लगभग अश्वघोष-विरचित 'बुद्धचरित' (८ १८) मे और भास कविकृत 'बालचरित' नाटक (३ २) मेभी गोपियोका उल्लेख किया गया है। अतएव इस विषयमे हमे डॉ भाडारकरके कथनसे चितामणराव वैद्यका मत अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।

† रावबहादुर चितामणराव वैद्यका यह मत उनके महाभारतके टीकात्मक अग्रेजी ग्रथमे है। इसके सिवा इसी विषयपर आपने सन १९१४ में डेक्कन कॉलिज गॅनिवरसरीके समय जो व्याख्यान दिया था उसमेभी इस बातका विवेचन किया था।

(भाग. १२ २ २६, विष्णु ४ २४ ३२), उसीके आधारपर विद्वानोंने अव यह निश्चित किया है, कि ईसाई सनके लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाडव हुए होगें। अर्थात् श्रीकृष्णका अवतार-कालभी यही है, और इस कालको स्वीकारकर लेनेपर यह वात सिद्ध होती है, कि श्रीकृष्णने भागवत धर्मको, ईसासे लगभग १४०० वर्ष पहले, अथवा वुद्धसे ८०० वर्ष पहले – प्रचलित किया होगा। इसपर कुछ लोग यह आक्षेप करते है, कि श्रीकृष्ण तथा पाडवोंके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें कोई सदेह नही, परतु श्रीकृष्णके जीवन-चरित्रमें उनके अनेक रूपातर दीख पडते हैं – जैसे श्रीकृष्ण नामक एक क्षत्रिय योद्धाको पहले महापुरुपका पद प्राप्त हुआ, पश्चात् विष्णुका पद मिला और धीरे धीरे अतमें पूर्ण परब्रह्मका रूप ब्राह्मणोंसे प्राप्त हो गया – इन सव अवस्थाओमें आरभसे अततक वहुत-सा काल वीत चुका होगा, इसीलिये भागवत-धर्मके उदयका तथा भारतीय युद्धका एक-ही काल नही माना जा सकता। परतु यह आक्षेप निरर्थक है। "किसे देव मानना चाहिये, और किसे नहो मानना चाहिये" इस विषयपर आधुनिक तर्कज्ञोकी समझमें तथा दो-चार हजार वर्ष पहलेके लोगोकी समझ (गीता १० ४१)में वडा अतर हो गया है। श्रीकृष्णके पहलेही वने हुए उपनिषदोमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि ज्ञानी पुरुप स्वय ब्रह्ममय हो जाता है (वृ ४ ४ ६), और मैत्र्युपनिषदमें यह साफ साफ कह दिया है, कि रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण ये सव ब्रह्मही हैं (मैत्र्यु ७ ७)। फिर श्रीकृष्णको परब्रह्मत्व प्राप्त होनेके लिये अधिक समय लगनेका कारण क्या है? इतिहासकी ओर देखनेसे विश्वसनीय वौद्ध ग्रथोमेंभी यह वात दीख पडती है, कि स्वय अपनेको 'ब्रह्मभूत' (सेलसुत्त १४, थेरगाथा ८३१) कहलाता था, उसके जीवनकालहीमें उसे देवके सदृश सन्मान दिया जाता था और उसके स्वर्गस्थ होनेके वाद शीघ्र ही उसे 'देवाधिदेव'का अथवा वैदिक धर्मके परमात्माका स्वरूप प्राप्त हो गया था, और उसकी पूजाभी हो गई थी। यही वात ईसा मसीहकीभी हैं। यह वात सच है, कि वुद्ध तथा ईसाके समान श्रीकृष्ण सन्यासी नही थे, और न भागवत धर्मही निवृत्ति-प्रधान है। परतु केवल इसी आधारपर, वौद्ध तथा ईसाई धर्मके मूल पुरुषोके समान, भागवत धर्मप्रवर्तक श्रीकृष्णकोभी पहलेहीसे ब्रह्म अथवा देवका स्वरूप प्राप्त होनेमें किसी वाधाके उपस्थित होनेका कारण दीख नही पडता।

इस प्रकार श्रीकृष्णका समय निश्चित कर लेनेपर, उसी कालको भागवत धर्मका उदयकाल माननाभी प्रशस्त तथा सयुक्तिक है, परतु सामान्यत पश्चिमी पडित ऐसा करनेसे जो हिचकिचाते हैं, उसका कारण कुछ औरही है। इन पडितोमेंसे अधिकाशका अवतक यही मत है, कि खुद ऋग्वेदकाही काल ईसाके पहले लगभग १५०० वर्ष या वहुत हुआ तो २००० वर्षसे अधिक प्राचीन नही है। अतएव उन्हे अपनी दृष्टिसे यह कहना असभव प्रतीत होता है, कि भक्ति-प्रधान भागवत धर्म

ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले प्रचलित हुआ होगा। क्योंकि वैदिक धर्मसाहित्यसे यह क्रम निर्विवाद सिद्ध है, कि ऋग्वेदके बाद यज्ञयाग आदि कर्म-प्रतिपादक यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रंथ बने। तदनंतर ज्ञान-प्रधान उपनिषद और सांख्यशास्त्र निर्मित हुए, और अंतमें भक्ति-प्रधान ग्रंथ रचे गये, और केवल भागवत धर्मके ग्रंथोंका अवलोकन करनेसेभी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि औपनिषदिक ज्ञान, सांख्यशास्त्र, चित्त-निरोधरूपी योग आदि धर्मांग भागवत धर्मके उदयके पहलेही प्रचलित हो चुके थे। समय की मनमानी खींचातानी करनेपरभी यही मानना पडता है, कि ऋग्वेदके बाद और भागवत धर्मके उदयके पहले, उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगोंका प्रादुर्भाव तथा वृद्धि होनेके लिये, बीचमें कम-से-कम दस-बारह शतक अवश्य बीत गये होंगे। परंतु यदि माना जाए, कि भागवत धर्मको श्रीकृष्णने अपनेही समयमें – अर्थात् ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले – प्रवृत्त किया होता, तो उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगोंकी वृद्धिके लिये उक्त पश्चिमी पंडितोंके मतानुसार कुछभी उचित कालावकाश नहीं रह जाता। क्योंकि, ये पंडित लोग ऋग्वेद-कालहीको ईसासे पहले १५०० तथा २००० वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं मानते, ऐसी अवस्थामें यह मानना पडता है, कि सौ या अधिकसे अधिक पांच-छः सौ वर्षके बादही भागवत धर्मका उदय हो गया। इसलिये उपर्युक्त कथनानुसार कुछ निरर्थक कारण बतला कर वे लोग श्रीकृष्ण और भागवत धर्मकी समकालीनताको नहीं मानते, और यह कहनेके लियेभी उद्यत हो गये हैं, कि भागवत धर्मका उदय बुद्धके बाद हुआ होगा। परंतु जैन तथा बौद्ध ग्रंथोंमेंही भागवत धर्मके जो उल्लेख पाये जाते हैं, उनसे तो यही बात स्पष्ट विदित होती है कि भागवत धर्म बुद्धसे प्राचीन है। अतएव डॉ बुल्हरने* कहा है, कि भागवत धर्मका उदय-काल बौद्ध-कालके आगे हटानेके बदले, हमारे 'ओरायन' ग्रंथके प्रतिपादनके अनुसार ऋग्वेदादि ग्रंथोंका कालही पीछे हटाया जाना चाहिये। पश्चिमी पंडितोंने अटकलपच्चू अनुमानोंसे वैदिक ग्रंथोंके जो काल निश्चित किये हैं, वे भ्रममूलक हैं, अतः वैदिक-कालकी पूर्वमर्यादा ईसाके पहले ४५०० वर्षसे कम नहीं ली जा सकती, इत्यादि बातोंको हमने अपने 'ओरायन' ग्रंथमें वेदोंके उदगयन-स्थिति-दर्शक वाक्योंके आधारपर सिद्ध कर दिया है, और यही अनुमान अब अधिकांश पश्चिमी पंडितोंकोभी ग्राह्य है। इस प्रकार ऋग्वेद-कालको पीछे हटानेसे वैदिक धर्मके सब अंगोंकी वृद्धि होनेके लिये उचित कालावकाश मिल जाता है, और भागवत धर्मोदय-कालको संकुचित करनेका प्रयोजनही नहीं रह जाता। परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षितने अपने (मराठी) "भारतीय ज्योतिःशास्त्रके इतिहास" में

---

* डॉ. बुल्हरने *Indian Antiquary*, September 1894 (Vol XXIII, pp 238–244) में हमारे 'ओरायन' ग्रंथकी जो समालोचना की है, उसे देखो।

यह बतलाया है, कि वेदोंके बाद ब्राह्मण आदि ग्रंथोंमें कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रोंकी गणना है, इसलिये उनका काल ईसासे लगभग २५०० वर्ष पहले निश्चित करना पड़ता है। परन्तु हमारे देखनेमें यह अबतक नहीं आया है, कि उदगयन-स्थितिसे ग्रंथके कालका निर्णय करनेकी इस रीतिका प्रयोग उपनिषदोंके विषयमें किया गया हो। रामतापनीसरीखे भक्तिप्रधान तथा योगतत्त्वसरीखे योग-प्रधान उपनिषदोंकी भाषा और रचना प्राचीन नहीं दीख पड़ती, केवल इसी आधार-पर कई लोगोंने यह अनुमान किया है कि सभी उपनिषद् प्राचीनतामें बुद्धकी अपेक्षा चार-पाँच सौ वर्षसे अधिक नहीं हैं। परन्तु काल-निर्णयकी उपर्युक्त रीतिसे देखा जाय, तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी। यह सच है कि ज्योतिषकी रीतिसे सभी उपनिषदोंका काल निश्चित नहीं किया जा सकता, तथापि मुख्य मुख्य उपनिषदोंका काल निश्चित करनेके लिए इस रीतिका बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाय, तो भी प्रो० मॅक्समूलरका यह कथन है, कि *मैत्र्युपनिषद् पाणिनिसेभी प्राचीन है*,* क्योंकि इस उपनिषदमें ऐसी कई खास शब्द-सन्धियोंका प्रयोग किया गया है, जो सिर्फ मैत्रायणी-संहितामेंही पायी जाती हैं, और जिनका प्रचार पाणिनीके समय बंद हो गया था। परतु मैत्रायण्युपनिषद् कुछ सबसे पहला अर्थात् अति-प्राचीन उपनिषद् नहीं है। उसमें न केवल ब्रह्मज्ञान और सांख्यका मेलकर दिया है, किंतु कई स्थानोंपर छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषदोंके वाक्य अथवा श्लोकभी उसमें प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं। हाँ; यह सच है, कि मैत्र्युप-निषदमें स्पष्ट रूपसे उक्त उपनिषदोंके नाम नहीं दिये गये हैं। परतु इन वाक्योंके पहले ऐसे परवाक्य-दर्शक पद रखे गये हैं कि 'एवं ह्याह' या 'उक्तं च' (= ऐसा कहा है), इसीलिये इस विषयमें कोई सदेह नहीं रह जाता, कि ये वाक्य दूसरे ग्रंथोंसे लिये गये हैं – स्वयं मैत्र्युपनिषत्कारके नहीं हैं, और अन्य उपनिषदोंका देखनेसे सहजही मालूम हो जाता है, कि वे वचन कहाँसे उद्धृत किये हैं। अब इस मैत्र्युपनिषदमें कालरूपी अथवा सवत्सररूपी ब्रह्मका विवेचन करते समय यह वर्णन पाया जाता है, कि " मघा नक्षत्रके आरभसे क्रमश श्रविष्ठा अर्थात् धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भागपर पहुँचनेतक (मघाद्य श्रविष्ठार्धम्) दक्षिणायन होता है, और सार्प अर्थात् आश्लेषा नक्षत्रसे विपरीत क्रमपूर्वक, अर्थात् आश्लेषा, पुष्य आदि क्रमसे, पीछे गिनते हुए धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भागतक उत्तरायण होता है" (मैत्र्यु ६ १४)। इसमें सदेह नही, कि उदगयन-स्थितिदर्शक ये वचन तत्कालीन उदगयन-स्थितिको लक्ष्य करकेही कहे गये हैं, और फिर उससे इस उप

---

* See Sacred Books of the East Series, Vol XV, Intro pp xlviii--lii

निपदका काल-निर्णयभी गणितकी रीतिसे सहजही किया जा सकता है। परंतु दीख पडता है, किसीनेभी उसका इस दृष्टिसे विचार नही किया है। मैत्र्युपनिपदमे वर्णित यह उदगयन-स्थिति वेदागज्योतिषमें कही गई उदगयन-स्थितिके पहलेकी है। क्योकि वेदागज्योतिषमें यह वात स्पष्ट रूपसे दी गई है, कि उदगयनका आरभ धनिष्ठा नक्षत्रके आरभसे होता है, और मैत्र्युपनिपदमे उसका आरभ 'धनिप्ठार्ध'से किया गया है। इस विपयमे मतभेद है, कि मैत्र्युपनिपदके 'श्रविप्ठार्धम्' शब्दमें जो 'अर्धम्' पद है, उसका अर्थ 'ठीक आधा' करना चाहिये, अथवा "धनिष्ठा और शततारकाके बीच किसी स्थानपर" करना चाहिये? परतु चाहे जो कहा जाएँ, इसमें तो कुछभी सदेह नही, कि वेदागज्योतिपके पहलेकी उदगयन-स्थितिका वर्णन मैत्र्युपनिपदमें किया है, और वही उस समयकी स्थिति होनी चाहिये। अतएव यह कहना चाहिये, कि वेदागज्योतिप-कालका उदगयन, मैत्र्युपनिपत्कालीन उदगयनकी अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्रसे पीछे हट आया था। ज्योतिर्गणितसे यह सिद्ध होता है, कि वेदागज्योतिपमे कही गई उदगयन-स्थिति ईसवी सनके लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहलेकी है,* और आधे नक्षत्रमे उदगयनके पीछे हटनेमे लगभग ४८० वर्प लग जाते है, इसलिये गणितसे यह वात निष्पन्न होती है, कि मैत्र्युपनिषद् ईसाके पहले १८८० से १६८० वर्पके बीच कभी-न-कभी वना होगा। और कुछ नही तो यह उपनिपद् निस्सदेह वेदागज्योतिषके पहलेका है। अब यह कहनेकी कोई आवश्यकता नही कि छादोग्यादि जिन उपनिपदोके अवतरण मैत्र्युपनिषदमें दिये गये है, वे उससेभी प्राचीन है। साराश, इन सव ग्रथोंके कालका निर्णय इस प्रकार हो चुका है, कि ऋग्वेद सन ईसवीसे लगभग ४५०० वर्प पहलेका है, यज्ञयाग आदि विपयक ब्राह्मण-ग्रथ सन ईसवीसे लगभग २५०० वर्ष पहलेके है, और छादोग्य आदि ज्ञान-प्रधान उपनिषद् सन ईसवीसे लगभग १६०० वर्ष पुराने है। अब यथार्थमें वे वाते अवशिष्ट नही रह जाती, जिनके कारण पश्चिमी पडित लोग भागवत धर्मके उदय-कालको आगेकी ओर हटा लानेका यत्न किया करते है, और श्रीकृष्ण तथा भागवत धर्मको, गाय और वछडेकी नैसर्गिक जोडीके समान, एक ही काल-रज्जुसे वाँधनेम कोई भयभी नही दीख पडता, एव फिर वौद्ध ग्रथकारो द्वारा वर्णित अथवा अन्य ऐतिहासिक स्थितिसेभी ठीक ठीक मेल हो जाता है। इसी समय वैदिक-कालकी समाप्ति हुई, और सूत्र तथा स्मृति-कालका आरभ हुआ है।

---

* वेदागज्योतिपका कालविषयक विवेचन हमारे *Orion* (ओरायन) नामक अग्रेजी ग्रथमें तथा प वा शकर वालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योति शास्त्रका इतिहास' मराठी ग्रथमें (पृ ८७–९४ तथा १२७–१३९) किया गया है। उसमे इस वातकाभी विचार किया गया है, उदगयनसे वैदिक ग्रथोका कौन-सा काल निश्चित किया जा सकता है।

उक्त कालगणनासे यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि भागवत धर्मका उदय ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले, अर्थात् बुद्धके लगभग सात-आठ सौ वर्ष पहले, हुआ है। यह काल बहुत प्राचीन है, तथापि यह ऊपर बतला चुके है, कि ब्राह्मण-ग्रथोमें वर्णित कर्ममार्ग इससेभी अधिक प्राचीन है, और उपनिषदो तथा साख्यशास्त्रमें वर्णित ज्ञानभी भागवत धर्मके उदयके पहले ही प्रचलित होकर सर्वमान्य हो गया था। ऐसी अवस्थामें हमारे मनसे, यह कल्पना करना सर्वथा अनुचित है, कि उक्त ज्ञान तथा धर्मांगोकी कुछ चिंता न करके श्रीकृष्णसरीखे ज्ञानी और चतुर पुरुषने अपना धर्म प्रवृत्त किया होगा, अथवा उनके प्रवृत्त करने परभी यह धर्म तत्कालीन राजर्षियो तथा ब्रह्मर्षियोको मान्य हुआ होगा, और लोगोमें उसका प्रसार हुआ होगा। ईसाने अपने भक्ति-प्रधान धर्मका उपदेश पहले पहल जिन यहुदी लोगोको किया था, उनमें उस समय धार्मिक तत्त्वज्ञानका प्रसार नही हुआ था, इसलिये अपने धर्मका मेल तत्त्वज्ञानके साथ कर देनेकी उसे कोई आवश्यकता नही थी। केवल यह बतला देनेसे ईसाका धर्मोपदेश-सबधी काम पूरा हो सकता था, कि पुरानी बाईबलमें जिस कर्ममय धर्मका वर्णन किया गया है, हमारा यह भक्ति-मार्गभी उसीके लिये हुआ है, और उसने प्रयत्नभी केवल इतनाही किया है। परतु ईसाई धर्मकी इन बातोंसे भागवत धर्मके इतिहासकी तुलना करते समय यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि जिन लोगोमें तथा जिस समय भागवत धर्मका प्रचार किया गया, उस उमयके वे लोग केवल कर्म-मार्गहीसे नही, किंतु ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-साख्यशास्त्रसेभी परिचित हो गये थे, और इन तीनो धर्मांगोकी एकवाक्यता (मेल) करनाभी सीख चुके थे। ऐसे लोगोंसे यह कहना किसी प्रकार उचित नही हुआ होता, कि "तुम अपने कर्मकाड या औपनिषदिक और साख्यज्ञानको छोड दो, और केवल श्रद्धापूर्वक भागवत धर्मको स्वीकार कर लो।" ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रथोमें वर्णित और उस समयमें प्रचलित यज्ञयाग आदि कर्मोंका फल क्या है? क्या उपनिषदोका या साख्यशास्त्रका ज्ञान वृथा है? भक्ति और चित्त-निरोधरूपी योगका मेल कैसे हो सकता है? — इत्यादि उस समय स्वभावत उपस्थित होनेवाले प्रश्नोका जबतक ठीक ठीक उत्तर न दिया जाता, तब भागवत धर्मका प्रचार होनाभी सभव नही था। अतएव न्यायकी दृष्टिसे अब यही कहना पडेगा, कि भागवत धर्ममें ०.~भहीसे इन सब विषयोकी चर्चा करना अत्यत आवश्यक था, और महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यानके देखनेसेभी यह सिद्धान्त दृढ हो जाता है। इस आख्यानमें भागवत धर्मके साथ औप-निषदिक ब्रह्मज्ञानका और साख्य-प्रतिपादित क्षराक्षर-विचारका मेल कर दिया गया है, और यहभी कहा है, कि "चार वेद और साख्य तथा योग, इन पाँचोका उसमें (भागवत धर्ममें) समावेश होता है, इसलिये उसे पाचरात्र-धर्म नाम प्राप्त हुआ है" (मभा शा ३३९ १०७), और "वेदारण्यकसहित (अर्थात् उपनिषदोकोभी

लेकर) ये सब (शास्त्र) परस्पर एक दूसरेके अंग हैं " (मभा शा ३४८ ८२)। 'पाचरात्र' शब्दकी यह निरुक्ति व्याकरणकी दृष्टिसे चाहे शुद्ध न हो, तथापि उससे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि सब प्रकारके ज्ञानकी एकवाक्यता भागवत धर्ममें आरभहीसेकी गई थी। परतु भक्तिके साथ अन्य सब धर्मांगोकी एकवाक्यता करनाही भागवत धर्मकी प्रधान विशेषता नही है। यह नही, कि भक्तिके धर्मतत्त्वको पहले भागवत धर्महीने प्रवृत्त किया हो। ऊपर दिये हुए मैत्र्युपनिषदके (मैत्र्यु ७ ७) वाक्यो से यह बात प्रकट है, कि रुद्रकी या विष्णुके किसी न किसी स्वरूपकी भक्ति, भागवत धर्मका उदय होनेके पहलेही जारी हो चुकी थी, और यह भावनाभी पहलेही उत्पन्न हो चुकी थी, कि उपास्य कुछभी हो, वह ब्रह्महीका प्रतीक अथवा एक प्रकारका रूप है। यह सच है, कि रुद्र आदि उपास्योके बदले भागवत धर्ममें वासुदेव उपास्य माना गया है, परतु गीता तथा नारायणीयोपाख्यानमेंभी यह कहा है, कि भक्ति चाहे जिसकी की जाएँ, वह एक भगवानहीके प्रति पहुँचती है, रुद्र और भगवान् भिन्न भिन्न नही हैं, (गीता ९ २३, मभा शा ३४१ २०–२६)। अतएव केवल वासुदेवभक्तिही भागवत धर्मका मुख्य लक्षण नही मानी जा सकती। जिस सात्वत-जातिमें भागवत धर्म प्रादुर्भूत हुआ, उस जातिके सात्यकि आदि पुरुष, परम भगवद्भक्त भीष्म और अर्जुन, तथा स्वय श्रीकृष्णभी बडे पराक्रमी एव दूसरोसे पराक्रमके कार्य करनेवाले हो गये है। अतएव अन्य भगवद्भक्तोकोभी उचित था, कि वे इसी आदर्शको अपने समुख रखें, और तत्कालीन प्रचलित चातुर्वर्ण्यके अनुसार युद्ध आदि सब व्यावहारिक कर्म करें – बस, यही मूल भागवत धर्मका मुख्य विषय था। यह बात नही, कि भक्तिके तत्त्वको स्वीकार करके वैराग्ययुक्त बुद्धिसे ससारका त्याग करनेवाले पुरुष उस समय बिलकुल ही न होगे। परतु, यह सात्वतोंके या श्रीकृष्णके भागवत धर्मका मुख्य तत्त्व नही है। श्रीकृष्णजीके उपदेशका सार यही है, कि भक्तिसे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर भगवद्भक्तको परमेश्वरके समान जगतके धारण-पोषणके लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। उपनिषत्कालमें जनक आदिकोनेभी यह निश्चित कर दिया था, कि ब्रह्मज्ञानी पुरुषके लियेभी निष्काम कर्म करना कोई अनुचित बात नही। परतु उस समय उसमें भक्तिका समावेश नही किया गया था, और इसके सिवा ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना हर एककी इच्छापर अवलबित था – अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था (वे सू ३ ४ १५)। वैदिक धर्मके इतिहासमें भागवत धर्मने जो अत्यत महत्त्वपूर्ण और स्मार्त-धर्मसे विभिन्न कार्य किया, वह यह है, कि उस (भागवत धर्म) ने कुछ कदम आगे बढकर केवल निवृत्तिकी अपेक्षा निष्काम कर्म-प्रधान प्रवृत्ति-मार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया, और केवल ज्ञानहीसे नहीं, किंतु भक्तिसेभी कर्मका उचित मेल कर दिया। इस धर्मके मूल प्रवर्तक नर और नारायण ऋषिभी इसी प्रकार सब

काम निष्काम बुद्धिसे किया करते थे, और महाभारत (मभा उद्यो ४८ २१, २२) में कहा है, कि सब योगोको उनके समान कर्म करनाही उचित है। नारायणीय आख्यानमें तो भागवत धर्मका लक्षण स्पष्ट वतलाया है, कि " प्रवृत्ति-लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक " (मभा शा ३४७ ८१) – नारायणीय अथवा भागवत धर्म प्रवृत्ति-प्रधान या कर्म-प्रधान है। नारायणीय या मूल भागवत धर्मका जो निष्काम प्रवृत्ति-तत्त्व है, उसीका नाम नैष्कर्म्य है, और यही मूल भागवत धर्मका मुख्य तत्त्व है। परतु, भागवत-पुराणसे यह वात दीख पडती है, कि आगे कालातरमें यह तत्त्व मद होने लगा और इस धर्ममें तो वैराग्य-प्रधान वासुदेव-भक्ति श्रेष्ठ मानी जाने लगी। नारद-पचरात्रमें भक्तिके साथ साथ मन्नतन्त्रोकाभी समावेश भागवत धर्ममें कर दिया गया है। तथापि, भागवतहीसे यह वात स्पष्ट हो जाती है, कि ये सब इस धर्मके मूल स्वरूप नही हैं। क्योकि, भागवत (भाग १ ३ ८, ११ ४ ४६) मेही यह कहा है, कि जहाँ नारायणीय अथवा सात्वत-धर्मके विषयमें कुछ कहनेका मौका आया है, वहाँ सात्वत-धर्म या नारायण ऋषिका धर्म (अर्थात् भागवत धर्म) 'नैष्कर्म्यलक्षण' है, और आगे यहभी कहा है, कि इस नैष्कर्म्य-धर्ममें भक्तिको उचित महत्त्व नही दिया गया था, इसलिये भक्ति-प्रधान भागवत-पुराण कहना पडा (भाग १ ५ १२)। इससे यह वात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि मूल भागवत धर्म नैष्कर्म्य-प्रधान अर्थात् निष्काम कर्म-प्रधान था, किंतु आगे समयके हेरफेरसे उसका स्वरूप वदलकर वह भक्ति-प्रधान हो गया। गीतारहस्यमें ऐसी ऐतिहासिक वातोका विवेचन पहलेही हो चुका है, कि ज्ञान तथा भक्तिसे पराक्रमका सदैव सबध रखनेवाले मूल भागवत धर्ममे और आश्रम-व्यवस्थारूपी स्मार्त-मार्गमें क्या भेद है? केवल सन्यास-प्रधान जैन और वौद्ध धर्मके प्रसारसे भागवत धर्मके कर्मयोगकी अवनति होकर उसे दूसराही स्वरूप अर्थात वैराग्ययुक्त भक्ति-स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ? और वौद्ध धर्मका न्हास होनेके वाद जो वैदिक सप्रदाय प्रवृत्त हुए, उनमेंसे कुछने तो अतमें भगवद्गीताहीको सन्यास-प्रधान, कुछने केवल भक्ति-प्रधान तथा कुछने विशिष्टाद्वैत-प्रधान स्वरूप कैसे दे दिया।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचनसे यह वात समझमें आ जाएगी, कि वैदिक धर्मके सनातन प्रवाहमें भागवत धर्मका उदय कव हुआ? और पहले उसके प्रवृत्ति-प्रधान या कर्म-प्रधान रहनेपरभी आगे चलकर भक्ति-प्रधान स्वरूप एव अतमें रामानुजाचार्यके समय विशिष्टाद्वैती स्वरूप कैसे प्राप्त हो गया। भागवत धर्मके इन भिन्न भिन्न स्वरूपोमेंसे जो मूलारभका अर्थात निष्काम कर्म-प्रधान स्वरूप है, वही गीता-धर्मका स्वरूप है। अव यहाँपर सक्षेपमें यह वतलाया जाएगा, कि उक्त प्रकारकी मूल गीताके कालके विषयमें क्या अनुमान किया जा सकता है? श्रीकृष्ण तथा भारतीय युद्धका काल यद्यपि एकही है, अर्थात् सन ईसवीके पहले लगभग १४०० वर्ष है, तथापि यह नही कहा जा सकता, कि भागवत धर्मके ये दोनो प्रधान ग्रथ – मूल गीता तथा

मूल भारत – उसी समय रचे गये होगे। किसीभी धर्म-ग्रथका उदय होनेपर तुरतही उस धर्मपर ग्रथ रचे नही जाते, और भारत तथा गीताके विषयमेभी यही न्याय पर्याप्त होता है। वर्तमान महाभारतके आरभमें यह कथा है, कि जब भारतीय युद्ध समाप्त हो चुका, और जब पाडवोका पोता (पौत्र) जनमेजय सर्प-सत्र कर रहा था, तब वहाँ वैशपायनने जनमेजयको पहले पहल गीतासहित भारत सुनाया था, और आगे जब वही सौतीने शोनकको सुनाया, तभीसे भारत प्रचलित हुआ। यह बात प्रकट है, कि सौती आदि पौराणिकोके मुखसे निकलकर आगे भारतको काव्यमय ग्रथका स्थायी स्वरूप प्राप्त होनेमे कुछ समय अवश्य बीत गया होगा। परतु इस कालका निर्णय करनेके लिये अब कोई साधन उपलब्ध नही है। ऐसी अवस्थामें यदि यह मान लिया जाए, कि भारतीय युद्धके लगभग पाँच सौ वर्षके भीतरही आर्ष महाकाव्यात्मक मूल भारत निर्मित हुआ होगा, तो कुछ विशेष साहसकी बात नही होगी। क्योकि बौद्ध धर्मके ग्रथ, बुद्धकी मृत्युके बाद, इससेभी जल्दी तैयार हुए है। अब आर्ष महाकाव्यमें नायकका केवल पराक्रम बतला देनेसेही काम नही चलता, किंतु उसमे यहभी बतलाना पडता है, कि नायक जो कुछ करता है, वह उचित है या अनुचित। इतनाही क्यो ? सस्कृतके अतिरिक्त अन्य साहित्योमें जो उक्त प्रकारके महाकाव्य है, उनसेभी यही ज्ञात होता है, कि नायकके कार्योके गुण-दोषोका विवेचन करना आर्ष महाकाव्यका एक प्रधान भाग होता है। अर्वाचीन दृष्टिसे देखा जाए, तो कहना पडेगा, कि नायकोके कार्योका समर्थन केवल नीतिशास्त्रके आधारपर करना चाहिये। किंतु प्राचीन समयमें धर्म तथा नीतिमें पृथक भेद नही माना जाता था, अतएव उक्त समर्थनके लिए धर्म-दृष्टिके सिवा अन्य मार्ग नही था। फिर यह बतलानेकी आवश्यकता नही, कि जो भागवत धर्म भारतके नायकोको ग्राह्य हुआ था अथवा जो उन्हीके द्वारा प्रवृत्त किया गया था, उसी भागवत धर्मके आधारपर उनके कार्योका समर्थन करनाभी आवश्यक था। इसके सिवा दूसरा कारण यहभी है, कि भागवत धर्मके अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित अन्य वैदिक धर्मपथ न्यूनाधिक रीतिसे अथवा सर्वथा निवृत्ति-प्रधान थे, इसलिये उनमे वर्णित-धर्मतत्त्वोके आधारपर भारतके नायकोंकी वीरताका पूर्णतया समर्थन करना सभव नही था। अतएव कर्मयोग-प्रधान भागवत धर्मका निरूपण महाकाव्यात्मक मूल भारतहीमे करना आवश्यक था। यही मूल गीता है, और यदि भागवत धर्मके मूल स्वरूपका उपपत्तिसहित प्रतिपादन करनेवाला सबसे पहला ग्रथ यह न भी हो, तो यह स्थूल अनुमान किया जा सकता है, कि यह आदि-ग्रथोमेसे एक अवश्य है, और इसका काल ईसासे लगभग ९०० वर्ष पहले है। इस प्रकार गीता यदि भागवत धर्म-प्रधान पहला ग्रथ न हो, तोभी वह मुख्य ग्रथोमेसे एक अवश्य है, इसलिये इस बातका दिग्दर्शन करना आवश्यक था, कि उसमे प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित अन्य धर्म-पंथोसे – अर्थात् कर्मकाडसे, औपनिषदिक ज्ञानसे, सांख्यसे, चित्तनिरोधरूपी योगसे तथा भक्तिसेभी –

अविरुद्ध है, इतनाही नही, किंतु यही इस ग्रथका मुख्य प्रयोजनभी कहा जा सकता है। नियमवद्ध वेदान्त और मीमासाशास्त्र पीछेमे वने हैं, इसलिये उनका प्रतिपादन मूल गीतामें नही आ सकता, और यही कारण है, कि कुछ लोग यह शका करते हैं, कि वेदान्त विषय गीतामें पीछेसे मिला दिया गया है। परतु नियमवद्ध वेदान्त और मीमासाशास्त्र पीछे भलेही वने हो, किंतु इसमें कोई सदेह नही, कि इन शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषय वहुत प्राचीन हैं, और इस वातका उल्लेख हम ऊपर करही आये हैं। अतएव मूल गीतामें इन विषयोका प्रवेश होना काल-दृष्टिसे किसी प्रकार विपरीत नही कहा जा सकता। तथापि हम यहभी नही कहते, कि जव मूल भारतका महाभारत वनाया गया होगा, तव मूल गीतामें कुछभी परिवर्तन नही हुआ होगा। किसीभी धर्म-पथको लीजिये, उसके इतिहाससे तो यही वात प्रकट होती है, कि उसमें समय-समयपर मतभेद होकर अनेक उपपथ निर्माण हो जाया करते हैं। यही वात भागवत धर्मके विषयमेंभी कही जा सकती है। नारायणीयाख्यानमें (मभा शा ३४८ ५७) यह वात स्पष्ट रूप कह दी गई है, कि भागवत धर्मको कुछ लोग तो चतुर्व्यूह – अर्थात् वासुदेव, सकर्पण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इस प्रकार चार व्यूहोका मानते हैं, और कुछ लोग त्रिव्यूह, द्विव्यूह या एकव्यूहही मानते हैं। आगे चलकर, ऐसेही औरभी अनेक मतभेद उपस्थित हुए होंगे। इसी प्रकार औपनिषदिक और साख्यज्ञानकीभी वृद्धि हो रही थी। अतएव इस वातकी सावधानी रखना अस्वाभाविक या मूल गीताके हेतुके विरुद्धभी नही था, कि मूल गीतामें जो कुछ विभिन्नता हो, वह दूर हो जावे, और वढते हुए पिंडब्रह्माडज्ञानसे भागवत धर्मका पूर्णतया मेल हो जावे। हमने पहले 'गीता और ब्रह्मसूत्र' शीर्षक लेखमे यह वतला दिया है, कि इसी कारणसे वर्तमान गीतामें ब्रह्मसूत्रोका उल्लेख पाया जाता है। इसके सिवा, उक्त प्रकारके अन्य परिवर्तनभी मूल गीतामें हो गये होंगे। परतु मूल गीता-ग्रथमें ऐसे अनेक परि-वर्तनोका होनाभी सभव नही था। वर्तमान समयमें गीताकी जो प्रामाणिकता है, उससे प्रतीत नही होता, कि वह उसे वर्तमान महाभारतके वाद मिली होगी। ऊपर कह चुके हैं, कि ब्रह्मसूत्रोमेंही 'स्मृति' शव्दसे गीताको प्रमाण माना है। मूल भारतका महाभारत होते समय यदि मूल गीतामेंभी वहुतसे परिवर्तन हो गये होते, तो इस प्रामाणिकतामें निस्सदेह कुछ वाधा आ गई होती। परतु वैसे नही हुआ, और गीता-ग्रथकी प्रामाणिकता कही अधिक वढ गई है। अतएव यही अनुमान करना पडता है, कि मूल गीतामें जो कुछ परिवर्तन हुए होंगे, वे महत्त्वके न थे, किंतु ऐसे थे, जिनसे मूल ग्रथके अर्थकी पुष्टि हो गई है। भिन्न भिन्न पुराणोमें वर्तमान भगवद्गीताके नमूनेकी जो अनेक गीताएँ कही गई हैं, उनसे यह वात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि उक्त प्रकारसे मूल गीताको जो स्वरूप एक वार प्राप्त हो गया था, वही अवतक वना हुआ है, उसके वाद उसमें कुछभी परिवर्तन नही हुआ। क्योकि, इन सव पुराणो-मेंसे अत्यत प्राचीन पुराणोंके कुछ शतक पहलेही यदि वर्तमान गीता पूर्णतया प्रमाण-

भूत, और इसीलिये परिर्वातित न होने योग्य, न हो गई होती, तो उसी नमूनेकी अन्य गीताओकी रचना करनेकी कल्पना होनाभी सभव नही था। इसी प्रकार गीताके भिन्न भिन्न साप्रदायिक टीकाकारोने एकही गीताके शब्दोकी खीचातानी करके यह दिखलानेका जो प्रयत्न किया है, कि गीताका अर्थ हमारेही सप्रदायके अनुकूल है, उसकीभी कोई आवश्यकता नही थी। वर्तमान गीताके कुछ सिद्धान्तोको परस्पर-विरोधी देख कुछ लोग यह शका करते हैं, कि वर्तमान महाभारतार्न्गत गीतामेंभी आगे समय-समयपर कुछ परिवर्तन हुआ होगा। परतु हम पहलेही बतला चुके है, कि वास्तवमें यह विरोध नही है, किंतु यह भ्रम है, जो धर्म-प्रतिपादन करनेवाली पूर्वापार वैदिक पद्धतियोंके स्वरूपको ठीक तौरपर न समझनेसे हुआ है। साराश, ऊपर किये गये विवेचनसे यह बात समझमे आ जायगी, कि भिन्न भिन्न प्राचीन वैदिक धर्मांगोकी एकवाक्यता करके प्रवृत्ति मार्गका विशेष रीतिसे समर्थन करने-वाले भागवत-धर्मका उदय हो चुकनेपर लगभग पाँच सौ वर्षके पश्चात् अर्थात् ईसाके लगभग ९०० वर्ष पहले, मूल भारत और मूल गीता, दोनो ग्रथ निर्मित हुए, जिनमें उस मूल भागवत धर्मकाही प्रतिपादन किया गया था, और भारतका महा-भारत होते समय यद्यपि इस मूल गीतामें तदर्थपोषक कुछ सुधार किये गये हो, तथापि उसके असली रूपमें उस समयभी कुछ परिवर्तन नही हुआ। एव वर्तमान महाभारतमें जब गीता जोडी गई, तब (और उसके बादभी) उसमें कोई नया परिवर्तन नही हुआ -- और होनाभी असभव था। मूल गीता या मूल भारतके स्वरूप एव कालका यह निर्णय स्वभावत स्थूल दृष्टिसे एव अदाजसे किया गया है। क्योकि इस मसय उसके लिये कोई विशेष साधन उपलब्ध नही है। परतु वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीताकी यह बात नही, क्योकि उनके कालका निर्णय करनेके लिये बहुतेरे साधन उपलब्ध है। अतएव उसकी चर्चा स्वतत्र रीतिसे अगले भागमे की गई है। यहाँपर पाठकोको स्मरण रखना चाहिये, कि वर्तमान गीता और वर्तमान महाभारत ये दोनोही ग्रथ है, जिनके मूल स्वरूपमें कालान्तरसे परिवर्तन होता रहा, और जो इस समय गीता तथा महाभारतके रूपमें हमें उपलब्ध है, ये उस समयके पहले मूल ग्रथ नही है।

भाग ५ -- वर्तमान गीताका काल

इस बातका विवेचन हो चुका, कि भगवद्गीता भागवत धर्मपर प्रधान ग्रथ है, और स्थूलमानसे यह निश्चित किया गया, कि यह भागवत धर्म ईसवी सनके लगभग १४०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ, एव उसके कुछ शतकोके बाद मूल गीता बनी होगी, और यहभी बतलाया गया, कि मूल भागवत धर्मके निष्काम कर्म-प्रधान होनेपरभी आगे उसीका भक्ति-प्रधान स्वरूप हो कर अतमें विशिष्टाद्वैतकाभी उसमें समावेश हो गया। मूल गीता अथवा मूल भागवत धर्मके विषयमें इससे अधिक जान-

कारी निदान वर्तमान समयमे तो मालूम नही है, और यही दशा पचास वर्ष पहले वर्तमान गीता तथा वर्तमान महाभारतकीभी थी। परतु डॉक्टर भाडारकर, परलोकवासी काशीनाथपत तेलग, परलोकवासी शकर बाळकृष्ण दीक्षित तथा रावबहादुर चितामणराव वैद्य प्रभृति विद्वानोंके उद्योगसे वर्तमान गीता एव वर्तमान महाभारतका काल निश्चित करनेके लिये यथेष्ट साधन उपलब्ध हो गये है, और अभी हालहीमें स्वर्गवासी त्र्यबक गुरुनाथ काळेने दो-एक प्रमाण औरभी बतलाये है। इन सबको एकत्रित कर तथा हमारे मतसे उनमें जिन बातोका मिलाना ठीक जँचा, उनकोभी मिलाकर परिशिष्टका यह भाग सक्षेपमें लिखा गया है। इस परिशिष्ट-प्रकरणमें आरभहीमें हमने यह बात प्रमाणसहित दिखला दी है, कि वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीता, दोनो ग्रथ एक-ही व्यक्ति द्वारा रचे गये है। यदि दोनो ग्रथोको एकही व्यक्तिद्वारा रचे गये अर्थात् एककालीन मान ले, तो महाभारतके कालसे गीताका कालभी सहजही निश्चित हो जाता है। अतएव इस भागमें पहलेही ये प्रमाण दिये गये है, जो वर्तमान महाभारतका काल निश्चित करनेमे अत्यत प्रधान माने जाते है, और उनके बाद स्वतन्त्र रीतिसे वे प्रमाणभी दिये गये है, जो वर्तमान गीताका काल निश्चित करनेमें उपयोगी है। ऐसा करनेका उद्देश्य यह है, कि महाभारतका कालनिर्णय करनेके जो प्रमाण है वे यदि किसीको सदिग्ध प्रतीत हो, तो उससे गीताके कालका निर्णय करनेमे कोई बाधा न होने पाये।

महाभारत-काल-निर्णय · महाभारत ग्रथ बहुत बडा है, और उसीमें लिखा है, कि वह लक्ष श्लोकात्मक है। परतु रावबहादुर वैद्यने महाभारतके अपने टीकात्मक अग्रेजी ग्रथके पहले परिशिष्टमें यह बतलाया है,* कि जो महाभारत ग्रथ इस समय उपलब्ध है, उसमें उपरोक्त लाख श्लोकोको सख्यामें कुछ न्यूनाधिकता हो गई है, और यदि उनमें हरिवशके श्लोक मिला दिये जावे, तोभी योगफल एक लाख नही होता। तथापि यह माना जा सकता है, कि भारतका महाभारत होनेपर जो बृहत् ग्रथ तैयार हुआ, वह प्राय वर्तमान ग्रथहीसा होगा। ऊपर बतला चुके है, कि इस महाभारतमें यास्कके निरुक्त तथा मनुसहिताका और भगवद्गीतामें तो ब्रह्मसूत्रोकाभी उल्लेख पाया जाता है। अब इसके अतिरिक्त, महाभारतके काल-निर्णय करनेके लिये जो प्रमाण पाये जाते है, वे ये है –

(१) अठारह पर्वोका यह ग्रथ तथा हरिवश, ये दोनो सवत् ५३५ और ६३५के बीच जावा और बाली द्वीपोमें गये थे, तथा वहाँकी प्राचीन 'कवि' नामक भाषामें उनका अनुवाद हुआ है। इस अनुवादके ये आठ पर्व – आदि, विराट्, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रास्थानिक और स्वर्गारोहण – बाली द्वीपमे इस समय

---

* 'The Mahabharata A Criticism, p, 185 रा ब वैद्यके महाभारतके जिस टीकात्मक ग्रथका हमने आगे कही कही उल्लेख किया है, वह यही पुस्तक है।

उपलब्ध है, और उनमेंसे कुछ प्रकाशितभी हो चुके है। यद्यपि अनुवाद कवि-भाषामें किया गया है, तथापि उसमें स्थान-स्थानपर महाभारतके मूल सस्कृत श्लोकही रखे गये हैं। उनमेंसे उद्योगपर्वके श्लोकोकी जाँच हमने की है। वे सब श्लोक वर्तमान महाभारतकी कलकत्तेमें प्रकाशित पोथीके उद्योगपर्वके अध्यायोमें – बीच-बीचमे क्रमश – मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि लक्ष-श्लोकात्मक महाभारत सवत् ५३५के लगभग दो सौ वर्ष पहले हिंदुस्थानमे प्रमाणभूत माना जाता था। क्योकि, यदि वह यहाँ प्रमाणभूत न हुआ होता, तो जावा तथा बाली द्वीपोमे उसे न ले गये होते। तिब्बतकी भाषामेंभी महाभारतका अनुवाद हो चुका है, परतु वह उसके बादका है।*

(२) गुप्त राजाओके समयका एक शिलालेख हालमें उपलब्ध हुआ है, कि जो चेदि सवत् १९७ अर्थात् विक्रम सवत् ५०२ में लिखा गया था। उसमें इस बातका स्पष्ट रीतिसे निर्देश किया गया है, कि उस समय महाभारत ग्रथ एक लाख श्लोकोका था, और इससे यह प्रकट हो जाता है, कि विक्रम सवत् ५०२ के लगभग दो सौ वर्ष पहले उसका अस्तित्व अवश्य होगा।†

(३) आजकल भास कविके जो नाटक-ग्रथ प्रकाशित हुए है, उनमेंसे अधिकाश महाभारतके आख्यानोंके आधारपर रचे गये हैं। इससे प्रकट है, कि उस समय महाभारत उपलब्ध था, और वह प्रमाणभी माना जाता था। भास कविकृत 'बालचरित' नाटकमें श्रीकृष्णजीकी शिशु-अवस्थाकी बातोका तथा गोपियोका उल्लेख पाया जाता है। अतएव यह कहना पडता है, कि हरिवशभी उस समय अस्तित्वमें होगा। यह बात निर्विवाद है, कि भास कवि कालिदाससे पुराना है। भास कविकृत नाटकोंके सपादक पडित गणपतिशास्त्रीनीने स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटककी प्रस्तावनामें लिखा है, कि भास चाणक्यसेभी प्राचीन है, क्योकि भास कविके नाटकका एक श्लोक चाणक्यके अर्थशास्त्रमे पाया जाता है, और उसमें यह बतलाया है, कि वह किसी दूसरेका है। परतु यह काल यद्यपि कुछ सदिग्ध माना जाय, तथापि हमारे मतसे यह बात निर्विवाद है, कि भासका समय सन ईसवीके दूसरे अथवा तीसरे शतकके औरभी इस ओरका नही माना जा सकता।

(४) बौद्ध ग्रथोंके द्वारा यह निश्चित किया गया है, कि शालिवाहन शकके आरभमें अश्वघोष नामक एक बौद्ध कवि हो गया है, जिसने 'बुद्धचरित' और

---

* जावा द्वीपके महाभारतका ब्योरा The Modern Review, July 1914 pp 32–38 में दिया गया है, और तिब्बती भाषामें अनुवादित महाभारतका उल्लेख Rockhill's Life of the Buddha, p 228 note I में किया है।

† यह शिलालेख Inscriptionum Indicarum नामक पुस्तकके तृतीय खडके पृष्ठ १३४ में पूर्णतया दिया हुआ है, और स्वर्गवासी शकर बाळकृष्ण दीक्षितने उसका उल्लेख अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' में (पृ १०८) किया है।

'सौदरानद' नामक दो बौद्ध धर्मीय सस्कृत महाकाव्य लिखे थे। अब ये ग्रथ छापकर प्रकाशित किये गये हैं। इन दोनोमेभी भारतीय कथाओका उल्लेख है। इनके सिवा 'वज्रसूचिकोपनिषद्'पर अश्वघोषका व्याख्यानरूपी एक और ग्रथ है, अथवा यह कहना चाहिये, कि यह 'वज्रसूचिकोपनिषद्' उसीका रचा हुआ है। इस ग्रथको प्रोफेसर वेबरने सन १८६० में, जर्मनीमें प्रकाशित किया है। उसमें हरिवशके श्राद्ध माहात्म्यमेंसे "सप्तव्याधा दशार्णेषुऽ" (हरि २४ २०, २१) इत्यादि श्लोक, तथा स्वय महाभारतके कुछ अन्य श्लोक (उदाहरणार्थ, मभा शा २६१ १७), पाये जाते हैं। इससे प्रकट होता है, कि शक सवत्से पहले हरिवशको मिलाकर वर्तमान लक्ष श्लोकात्मक महाभारत प्रचलित था।

(५) आश्वलायन गृह्यसूत्रोमें (३ ४ ४) भारत तथा महाभारतका पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है, और बौधायन धर्मसूत्रमें एक स्थान (२ २. २६) पर महाभारतमें वर्णित ययाति उपाख्यानका एक श्लोक मिलता है, (मभा आ ७८ १०)। बुल्हर साहबका कथन है, कि केवल एकही श्लोकके आधारपर यह अनुमान दृढ नही हो सकता, कि महाभारत बौधायनके पहले था।* परतु यह शका ठीक नही, क्योकि बौधायनके गृह्य शेष-सूत्रमें विष्णुसहस्रनामका स्पष्ट उल्लेख है। (बौ गृ शे १ २२८), और आगे चलकर इसी सूत्रमें (२ २२ ९) गीताका "पत्र पुष्प फल तोयऽ" श्लोकभी (गीता ९ २६) मिलता है। बौधायन सूत्रमें पाये जानेवाले इन उल्लेखोको पहले पहल परलोकवासी त्र्यबक गुरुनाथ काळेने प्रकाशित किया था,† और इन सब उल्लेखोंसे यही कहना पडता है, कि बुल्हर साहबकी शका निर्मूल है, आश्वलायन तथा बौधायन और दोनोभी महाभारतसे, परिचित थे। बुल्हरहीने अन्य प्रमाणोसे निश्चित किया है, कि बौधायन सन् ईसवीके लगभग ४०० वर्ष पहले हुआ होगा।

(६) स्वय महाभारतमें जहाँ विष्णुके अवतारोका वर्णन किया गया है, वहाँ बुद्धका नामतक नही, और नारायणीयोपाख्यानमें (मभा शा ३३९ १००), जहाँ दस अवतारोके नाम दिये है, वहाँ हसको प्रथम अवतार कहकर तथा कृष्णके बाद एकदम कल्किको लाकर पूरे दस गिना दिये है। परतु वनपर्वमें कलियुगकी भविष्यत् स्थितिका वर्णन करते समय कहा है, कि "एडूकचिन्हा पृथिवी न देवगृहभूषिता" (मभा वन १९० ६८) पृथ्वीपर देवालयोंके बदले एडूक होंगे। बुद्धके बाल तथा दाँत प्रभृति किसी स्मारक वस्तुको जमीनमें गाडकर उसपर जो खभ, मीनार या इमारत बनाई जाती थी, उसे एडूक कहते थे, और आजकल उसे 'डागोबा'

---

* See 'Sacred Books of the East Series' Vol XIV, Intro p xli

† परलोकवासी त्र्यबक गुरुनाथ काळेका पूरा लेख The Vedic Magazine and Gurukula Samachar, Vol VII, Nos 6-7, pp 528-532, में प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखकका नाम प्रोफेसर काळे लिखा है, पर वह अशुद्ध है।

कहते है। डागोबा शब्द सस्कृत 'धातुगर्भ' (= पाली डागव)का अपभ्रंश है, और 'धातु' शब्दका अर्थ "भीतर रक्खी हुई स्मारक वस्तु" है, सीलोन तथा ब्रह्मदेशमें ये डागोबा कई स्थानोपर पाये जाते है। इससे प्रतीत होता है, कि बुद्धके बाद, परतु अवतारोमें उसकी गणना होनेके पहलेही महाभारत रचा गया होगा। महाभारतम 'बुद्ध' तथा 'प्रतिबुद्ध' शब्द अनेक बार मिलते है (मभा शा १९४ ५८, ३०७ ४७, ३४३ ५२)। परतु वहाँ केवल ज्ञानी, जाननेवाला अथवा स्थितप्रज्ञ पुरुष इतनाही अर्थ उन शब्दोसे अभिप्रेत है। प्रतीत नही होता, कि ये शब्द बौद्ध धर्मसे लिये गये हो, किंतु यह माननेके लिये दृढ कारणभी है, कि बौद्धोंनेही ये शब्द वैदिक धर्मसे लिये होगें।

(७)कालनिर्णयकी दृष्टिसे यह बात अत्यत महत्त्वपूर्ण है, कि महाभारतमें नक्षत्रगणना अश्विनी आदिसे नही है, किंतु वह कृत्तिका आदिसे है (मभा अनु ६४ ८९), और मेष-वृभष आदि राशियोका कहीभी उल्लेख नही है। क्योकि इस बातसे यह अनुमान सहजही किया जा सकता है, कि यूनानियोके सहवाससे हिंदुस्थानमें मेष, वृषभ आदि राशियोके आनेके पहले – अर्थात् सिकदरके पहलेही – महाभारत ग्रथ रचा गया होगा। परतु इससेभी अधिक महत्त्वकी बात श्रवण आदि नक्षत्रगणनाके विषयकी है। अनुगीतामें (मभा अश्व ४४ २, और आदि ७१ ३४) कहा है, कि विश्वामित्रने श्रवण आदिकी नक्षत्रगणना आरभ की और टीकाकारने उसका यह अर्थ किया हैं, कि उस समय श्रवण नक्षत्रसे उत्तरायणका आरभ होता था, इसके सिवा उसका कोई दूसरा ठीक ठीक अर्थभी नही हो सकता। वेदागज्योतिषके समय उत्तरायणका आरभ धनिष्ठा नक्षत्रसे हुआ करता था। धनिष्ठामें उदगयन होनेका काल ज्योतिर्गणितकी रीतिसे शकके पहले लगभग १५०० वर्ष आता है, और ज्योतिर्गणितकी रीतिसे उदगयनको एक नक्षत्र पीछे हटनेके लिये लगभग हजार वर्ष लग जाते हैं। इस हिसाबसे श्रवणके आरभमे उदयगन होनेका काल शकके पहले लगभग ५०० वर्ष आता है। साराश, गणितके द्वारा यह बतलाया जा सकता है, कि शकके पहले ५०० वर्ष वर्षके लगभग वर्तमान महाभारत बना होगा। परलोकवासी शकर बाळकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योति शास्त्र 'की विशेषता यह है, कि इसके कारण वर्तमान महाभारतका काल शकके पहले ५०० वर्षसे अधिक पीछे हटायाही नही जा सकता।

(८) रावबहादुर वैद्यने महाभारतपर जो टीकात्मक ग्रथ अग्रेजीमें लिखा है, उसमें यह बतलाया है, कि चद्रगुप्तके दरबारमें (सन ईसवीसे लगभग ३२० वर्ष पहले रहनेवाले मेगस्थनीज नामक ग्रीक वकीलको महाभारतकी कथाएँ मालूम थी। मेगस्थनीजका पूरा ग्रथ इस समय उपलब्ध नही है, परतु उसके अवतरण कई ग्रथोमें पाये जाते है। वे सब एकत्रित करके, पहले जर्मन भाषामें प्रकाशित किये गये, और फिर मेक्‌क्रिंडलने उनका अग्रेजी अनुवाद किया है। इस

पुस्तकमें (पृ २००-२०५) कहा है, कि उसमें वर्णित हेरेक्लीजही श्रीकृष्ण है; और मेगस्थनीज्के समय शौरसेनीय लोग – जो मथुराके निवासी थे – उसीकी पूजा किया करते थे। उसमें यहभी लिखा है, कि हेरेक्लीज अपने मूलपुरुष डायोनिसनसे पद्रहवां था। इसी प्रकार महाभारतमेंभी (मभा अनु १४७ २५–३३) कहा है, कि श्रीकृष्ण दक्षप्रजापतिसे पद्रहवे पुरुष है। और मेगस्थनीजने कर्णप्रावरण, एकपाद, ललाटाक्ष आदि अद्भुत लोगोका (पृ ७४) अथवा सोनेकी ऊपर निकालनेवाली चीटियोका (पिपीलिकाओ) (पृ ९४) वर्णन किया है, वहभी महाभारतहीमें (मभा सभा ५१, ५२) पाया जाता है। इन बातोसे और अन्य बातोंसे प्रकट हो जाता है, कि मेगस्थनीजके समय न केवल महाभारत ग्रथही न प्रचलित था, किंतु श्रीकृष्ण-चरित्र तथा श्रीकृष्ण-पूजाकाभी प्रचार हो गया था।

यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि उपर्युक्त प्रमाण परस्परसापेक्ष अर्थात् एक दूसरेपर अवलबित नही है, किंतु वे स्वतत्र है, तो यह बात निस्सदेह प्रतीत होगी, कि वर्तमान महाभारत शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्वमे जरूर था। इसके बाद कदाचित् किसीने उसमें कुछ नये श्लोक मिला दिये होगे, अथवा उसमेंसे कुछ निकालभी डाले होगे। परतु इस समय कुछ विशिष्ट श्लोकोंके विषयमें कोई प्रश्न नही है – प्रश्न तो समूचे ग्रथकेही विषयमें है, और यह बात सिद्ध है, कि यह समस्त ग्रथ शककालके कम-से-कम पाँच शतक पहलेही रचा गया है। इस प्रकरणके आरभहीमें हमने यह सिद्ध कर दिया है, कि गीता समस्त महाभारत ग्रथकाही एक भाग है – वह कुछ उसमे पीछे नही मिलाई गई है। अतएव गीताकाभी वही काल मानना पडता है, जो कि महाभारतका है। सभव है, कि मूल गीता इसके पहलेकी हो, क्योकि जैसे इसी प्रकरणके चौथे भागमे बतलाया गया है, उसकी परपरा

---

* See M'Crindle's Ancient India-Megasthenes and Arrian, pp 202–205 मेगस्थनीजका यह कथन एक वर्तमान खोजके कारण विचित्रतापूर्वक दृढ हो गया है। बम्बई सरकारके Archaeological Department की १९१४ ईसवी की Progress Report हालहीमें प्रकाशित हुई है। उसमें एक शिलालेख है, जो ग्वालियर रियासतके भेलसा शहरके पास बेसनगर गाँवमे खाम्बबाबा नामक एक गरुडध्वज-स्तभपर मिला है। इस लेखमें यह कहा है, कि हेलिओडोरस नामक एक हिंदु बने हुए यवन अर्थात् ग्रीकने इस स्तभके सामने वासुदेवका मदिर बनवाया था, और यह यवन वहाँके भगभद्र नामक राजाके दरबारमें तक्षशिलाके ऍटिआल्किडस नामक ग्रीक राजाके एलचीकी हैसियतसे रहता था। ऍटिआल्किडसके सिक्कोंसे अब यह सिद्ध किया गया है, कि वह ईसाके पहले १४० वे वर्षमें राज्य करता था। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, कि उस समय वासुदेवभक्ति प्रचलित थी, केवल इतनाही नही, किंतु यवन लोगभी वासुदेवके मदिर बनवाने लगे थे। यह पहलेही बतला चुके हैं, कि मेगस्थनीजहीको नही, किंतु पाणिनीकोभी वासुदेवभक्ति मालूम थी।

बहुत प्राचीन समय तक हटानी पडती है। परतु, चाहे जो कुछ कहा जाय, यह निर्विवाद सिद्ध है, कि उसका काल महाभारतके बादका नही माना जा सकता। यह नही, कि यह बात केवल उपर्युक्त प्रमाणोहीसे सिद्ध होती है, किंतु इसके विषयमें स्वतत्र प्रमाणभी दीख पडते है। अब आगे उन स्वतत्र प्रमाणोकाही वर्णन किया जाता है।

गीता-कालका निर्णय : ऊपर जो प्रमाण बतलाये गये है, उनमें गीताका स्पष्ट अर्थात् नामत निर्देश नही किया गया है, वहाँ गीताके कालका निर्णय महाभारत-कालसे किया गया है। अब यहाँ क्रमश वे प्रमाण दिये जाते है, जिनमें गीताका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। परतु पहले यह बतला देना चाहिये, कि परलोकवासी तेलगने गीताको आपस्तम्बके पहलेकी अर्थात् ईसासे कम-से-कम तीन सौ वर्षसे अधिक प्राचीन कहा है। डॉक्टर भाडारकरने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पथ' नामक अग्रेजी ग्रथमें प्राय इसी कालको स्वीकार किया है। प्रोफेसर गार्वेके* मतानुसार तेलगद्वारा निश्चित किया गया काल ठीक नही। उनका यह कथन है, कि मूल गीता ईसाके पहले दूसरी सदीमें हुई, और ईसाके बाद दूसरे शतकमें उसमें कुछ सुधार किये गये है। परतु नीचे लिखे प्रमाणोसे यह बात भली भाँति प्रकट हो जायगी, कि गार्वेका उक्त कथन ठीक नही है।

(१) गीतापर जो टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध है, उनमे शाकरभाष्य अत्यत प्राचीन है। श्रीशकराचार्यने महाभारतके सनत्सुजातीय प्रकरणपरभी भाष्य लिखा है, और उनके ग्रथोमें महभारतके मनु-बृहस्पति-सवाद शुकानुप्रश्न और अनुगीतामेंसे बहुतेरे वचन अनेक स्थानोपर प्रमाणार्थ लिये गये है। इससे यह बात प्रकट है, कि उनके समयमें महाभारत और गीता, दोनो ग्रथ प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठकने एक साप्रदायिक श्लोकके आधारपर श्रीशकराचार्यका जन्मकाल ८४५ विक्रमी सवत् (शक ७१०) निश्चित किया है। परतु हमारे मतसे इस कालको औरभी सौ वर्ष पीछे हटाना चाहिये। क्योकि महानुभव पथके 'दर्शन-प्रकाश' नामक ग्रथमें यह कहा है, कि 'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक ६४२ मे (विक्रमी सवत् ७७७) श्रीशकराचार्यने गुहामें प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु ३२ वर्षकी थी, अतएव यह सिद्ध होता है, कि उनका जन्म शक ६१० में (सवत् ७४५) हुआ। हमारे मतमे यही समय, प्रोफेसर पाठक-द्वारा निश्चित किये हुए कालसे, कही अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है। परतु, यहाँ-पर उसके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन नही किया जा सकता। गीतापर जो शाकर-भाष्य है, उसमें पूर्व समयके अधिकाश टीकाकारोका उल्लेख किया गया है, और

---

* See Telang's Bhagavadgıta, S B E Vol VIII. Intro pp 21 and 34, Dr Bhandarkar's Vaıshnavısm, Shaıvısm and other Sects, P 13, Dr Garbe's Dıe Bhagavadgıta, p 64

उक्त भाष्यके आरभहीमे श्रीशकराचार्यने कहा है, कि इन टीकाकारोंके मतोका खडन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्यका जन्मकाल चाहे शक ६१० लीजिये या ७१०, इसमे तो कुछभी सदेह नही, कि उस समयके कम-से-कम दो-तीन सौ वर्ष पहले अर्थात् शक ४०० के लगभग गीता प्रचलित थी। अब देखना चाहिये, कि इस कालकेभी और पहले कैसे और कितना जा सकते है।

(२) परलोकवासी तेलगने यह दिखलाया है, कि कालिदास और बाणभट्ट गीतामे परिचित थे। कालिदासकृत रघुवशमे (१० ३१) विष्णुकी स्तुतिके विषयमे जो "अनवाप्तमवाप्तव्य न ते किंचन विद्यते" यह श्लोक है, वह गीताके (३ २२) "नानवाप्तमवाप्तव्य" श्लोकसे मिलता है, और बाणभट्टकी कादबरीके "महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दिततर" इस एक श्लेष-प्रधान वाक्यमें गीताका स्पष्ट-रूपसे उल्लेख किया गया है। कालिदास और भारविका उल्लेख स्पष्टरूपसे सवत् ६९१ के (शक ५५६) एक शिलालेखमें पाया जाता है, और अब यहभी निश्चित हो चुका है, कि बाणभट्टभी सवत् ६६३ के (शक ५२८) लगभग हर्ष राजाके पास था। इस बातका विवेचन परलोकवासी पाडुरग गोविंद-शास्त्री पारखीने बाणभट्टपर लिखे हुए अपने एक मराठी निबधमें किया है।

(३) जावा द्वीपमे जो महाभारत ग्रथ यहाँसे गया है, उसके भीष्मपर्वमें एक गीता प्रकरण है, जिसमे गीताके भिन्न भिन्न अध्यायोंके लगभग सौ-सव्वा सौ श्लोक अक्षरश मिलते है। सिर्फ १२, १५, १६ और १७ – इन चार अध्यायोंके श्लोक उसमें नही है। इससे यह कहनेमें कोई आपत्ति नही दीख पडती, कि उस समयभी गीताका स्वरूप वर्तमान गीताके सदृशही था। क्योकि कवि-भाषामें गीताका यह अनुवाद है, और उसमें जो सस्कृत श्लोक मिलते है, वे बीच-बीचमें उदाहरण तथा प्रतीकके तौरपर ले लिये गये है। इससे यह अनुमान करना युक्तिसगत नही, कि उस उमय गीतामें केवल उतनेही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल सरदेसाई जावा द्वीपको गये थे, तब उन्होंने इस बातकी खोज की है। इस विषयका वर्णन कल-कत्तेके 'मॉडर्न रिव्यू' नामक मासिक पत्रके जुलाई १९१४के अकमें तथा उसके पूर्व पूनाके 'चित्रमय-जगत्' मासिकपत्रमेभी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है, कि शक चार-पांच सौके कम-से-कम दो सौ वर्ष पहले महाभारतके भीष्मपर्वमें गीता थी, और उसके श्लोकभी वर्तमान गीताके श्लोकोंके क्रमानुसारही थे।

(४) विष्णुपुराण और पद्मपुराण आदि ग्रथोमें भगवद्गीताके नमूनेपर बनी हुई जो अन्य गीताएं दीख पडती है, अथवा उनके उल्लेख पाये जाते है, उनका वर्णन इस ग्रथके पहले प्रकरणमे किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी, इसीलिये उसका उक्त प्रकारसे अनुकरण किया गया है, और यदि ऐसा न होता, तो उसका कोईभी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है, कि इन पुराणोमें जो अत्यत प्राचीन

पुराण है, उनसेभी भगवद्गीता कम-से-कम सौ-दौ-सौ वर्ष अधिक प्राचीन अवश्य होगी। पुराण-कालका आरभ-समय सन ईसवीके दूसरे शतकसे अधिक अर्वाचीन नही माना जा सकता, अतएव गीताका काल कम-से-कम शकारभके कुछ थोडा पहलेही मानना पडता है।

(५) ऊपर यह बतला चुके है, कि कालिदास और बाण गीतासे परिचित थे। कालिदाससे पुराने भास कविके नाटक हालहीमें प्रकाशित हुए है। उनमेंसे 'कर्णभार' नाटकमें बारहवाँ श्लोक इस प्रकार है –

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥

यह श्लोक गीताके "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्" (गीता २ ३७) श्लोकके समानार्थक है, और जब कि भास कविके अन्य नाटकोंसे यह प्रकट होता है, कि वह महाभारतसे पूर्णतया परिचित था, तब तो यही अनुमान किया जा सकता है, कि उपर्युक्त श्लोक लिखते समय उसके मनमें गीताका उक्त श्लोक अवश्य आया होगा। अर्थात् यह सिद्ध होता है, कि भास कविके पहलेभी महाभारत और गीताका अस्तित्व था। पडित गणपतिशास्त्रीने यह निश्चित किया है, कि भास कविका काल शक-के दो-तीन सौ वर्ष पहले रहा होगा। परतु कुछ लोगोका मत है, कि वह शकके सौ-दौ सौ वर्ष बाद हुआ है। यदि इस दूसरे मतको सत्य माने, तोभी उपर्युक्त प्रमाणसे सिद्ध हो जाता है, कि भाससे कम-से-कम सौ-दौसौ वर्ष पहले अर्थात् शक-कालके आरभमें महाभारत और गीता, दोनो ग्रथ सर्वमान्य हो गये थे।

(६) परतु प्राचीन ग्रथकारो-द्वारा गीताके श्लोक लिये जानेका औरभी अधिक दृढ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यबक गुरुनाथ काळेने गुरुकुलकी 'वैदिक मेगजीन' नामक अग्रेजी मासिक पुस्तक (पुस्तक ७, अक ६–७, पृष्ठ ५२८–५३२, मार्गशीर्ष और पौष, सवत् १९७०) में प्रकाशित किया है। इसके पहले पश्चिमी सस्कृत पडितोका यह मत था, कि सस्कृत काव्य-पुराणोंकी अपेक्षा किन्ही अधिक अथवा प्राचीन ग्रथोमें, उदाहरणार्थ सूत्र-ग्रथोमेंभी, गीताका उल्लेख नही पाया जाता, और इसलिये यह कहना पडता है, कि सूत्र-कालके बाद, अर्थात् अधिकसे अधिक सन् ईसवीके पहले, दूसरी सदीमें गीता बनी होगी। परतु परलोकवासी काळेने प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया है, कि यह मत ठीक नही है। बौधायन-गृह्यशेष-सूत्रमें (२ २२ ९) गीताका (९ २६) निम्नलिखित श्लोक 'तदाह भगवान्' कहकर स्पष्ट रूपसे लिया गया है –

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वार्चयेदिति। तदाह भगवान् –
पत्र पुष्पं फल तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन. ॥ इति

और आगे चलकर कहा है, कि भक्तिसे नम्र होकर इन मन्त्रोको पढना चाहिये – "भक्तिनम्रः एतान्मन्त्रानधीयीत।" इसी गृह्यशेष-सूत्रके तीसरे प्रश्नके अतमें यहभी कहा है, कि "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षर-मन्त्रका जप करनेसे अश्वमेधका फल मिलता है। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि वौधायनके पहले गीता प्रचलित थी, और वासुदेव-पूजाभी सर्वमान्य समझी जाती थी। इसके-सिवा बौधायनके पितृमेध-सूत्रके तृतीय प्रश्नके आरम्भहीमें यह वाक्य है –

जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जाते
न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत।

इससे सहजही दीख पडता है, कि वह गीताके "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥" इस श्लोकसे सूझ पडा होगा, और उसमें उपर्युक्त 'पत्र पुष्प' श्लोकका योग कर देनेसे तो कुछ शकाही नही रह जाती। ऊपर वतला चुके है, स्वय महाभारतका एक श्लोक वौधायन-सूत्रोमें पाया जाता है। बुल्हर साहवने निश्चित किया है* कि वौधायनका काल आपस्तबके सौ-दोसौ वर्ष पहले होगा, और आपस्तबका काल ईसाके पहले तीन सौ वर्पसे कम हो नही सकता। परतु हमारे मतानुसार उसे कुछ इस ओर हटाना चाहिये। क्योकि महाभारतमें मेष-वृषभ आदि राशियाँ नही हैं और 'काल-माधव'मे तो वौधायनका "मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वा वसत" यह वचन दिया गया है, यही वचन परलोकवासी शकर बालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योति शास्त्र'मेंभी (पृष्ठ १०२) लिया गया है। इससेभी यही निश्चित अनुमान किया जाता है, कि महाभारत वौधायनके पहलेका है, तथा शकारम्भके कम-से-कम चार सौ वर्ष पहले वौधायनका समय होना चाहिये, और पाँच सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीताका अस्तित्व था। परलोकवासी काळेने वौधायनका काल ईसाके सात-आठ सौ वर्ष पहलेका निश्चित किया है, किंतु वह ठीक नही है। जान पडता है, कि वौधायनका राशिविषयक वचन उनके ध्यानमें न आया होगा।

(७) उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह बात किसीकोभी स्पष्ट रूपसे विदित हो जायगी, कि वर्तमान गीता शकके लगभग पाँच सौ वर्प पहले अस्तित्वमें थी, वौधायन तथा आश्वलायनभी उससे परिचित थे, और उस समयसे श्रीशकराचार्यके समय-तक उसकी परपरा अविच्छिन्न रूपमें दिखलाई जा सकती है। परतु अब तक जिन प्रमाणोका उल्लेख किया गया है, वे सब वैदिक धर्मके ग्रथोंसे लिये गये हैं। अब आगे चलकर जो प्रमाण दिया जायगा, वह वैदिक धर्म-ग्रथोंसे भिन्न अर्थात् वौद्ध साहित्यका है। इससे गीताकी उपर्युक्त प्राचीनता स्वतत्र रीतिसे औरभी अधिक दृढ तथा

* See Sacred Books of the East Series, Vol II, Intro p xliii and also the same Series, Vol XIV, Intro p xliii.

निःसदिग्ध हो जाती है। बौद्ध धर्मके पहलेही भागवत धर्मका उदय हो गया था, इस विषयमे वुल्हर और प्रसिद्ध फ्रेंच पडित सेनार्तके मतोका उल्लेख पहले हो चुका है, तथा प्रस्तुत प्रकरणके अगले भागमें इन बातोका विवेचन स्वतत्र रीतिसे किया जायगा, कि बौद्ध धर्मकी वृद्धि कैसे हुई? तथा हिंदु धर्मसे उसका क्या सबध है? यहाँ केवल गीता-कालके सबधमेंही आवश्यक उल्लेख सक्षिप्त रूपसे किया जायगा। भागवत धर्म बौद्ध धर्मके पहलेका है, तथापि केवल इतना कह देनेसेही इस बातका निश्चय नही किया जा सकता, कि गीताभी बुद्धके पहले थी। क्योकि यह कहनेके लिये कोई निश्चित प्रमाण नही है, कि भागवत धर्मके साथही गीता-ग्रथकाभी उदय हुआ। अतएव यह देखना आवश्यक है, कि बौद्ध ग्रंथकारोंने गीता-ग्रथका स्पष्ट उल्लेख कही किया है या नही? प्राचीन बौद्ध ग्रथोमे यह स्पष्ट रूपसे लिखा है, कि बुद्धके समय चार वेद, वेदाग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघटु आदि वैदिक धर्मग्रथ प्रचलित हो चुके थे, अतएव इसमें सदेह नही, कि बुद्धके पहलेही वैदिक धर्म पूर्णावस्थामे पहुँच चुका था। इसके बाद बुद्धने जो नया पथ चलाया, वह अध्यात्मकी दृष्टिसे अनात्मवादी था, परतु जैसे अगले भागमें बतलाया जायगा आचरण-दृष्टिसे उसमे उपनिषदोंके सन्यास-मार्गहीका अनुकरण किया गया था। परतु अशोकके समय बौद्ध धर्मकी यह दशा बदल गई थी, बौद्ध भिक्षुओने जगलमें रहना छोड दिया था – धर्म प्रसारार्थ तथा परोपकारके काम करनेके लिये वे लोग पूर्वकी ओर चीनमें और पश्चिमकी ओर अलेक्जेंड्रिया तथा ग्रीसतक चले गये थे। बौद्ध धर्मके इतिहासमें यह एक अत्यत महत्त्वका प्रश्न है, कि जगलोंमें रहना छोडकर लोकसग्रहके काम करनेके लिये बौद्ध यति कैसे प्रवृत्त हो गये? बौद्ध धर्मके प्राचीन ग्रथोपर दृष्टि डालिये। सुत्तनिपातके खग्गविसाणसुत्तमें कहा है, कि जिस भिक्षुने पूर्ण अर्हतावस्था प्राप्त कर ली है, वह कोईभी काम न करे, केवल गेंडेके सदृश्य जगलमे निवास किया करे, और महावग्गमे (५ १ २७) बुद्धके प्रमुख शिष्य सोनकोलीविसकी गाथामें कहा है, कि जो भिक्षु निर्वाणपदतक पहुँच चुका है, उसके लिये न तो कोई कामही अवशिष्ट रह जाता है, और न किया हुआ कर्मही भोगना पडता है – "कतस्स पटिचयो नत्थि करणीय न विज्जति।" यह शुद्ध सन्यास-मार्ग है, और हमारे औपनिषदिक सन्यास-मार्गसे इसका पूर्णतया मेल मिलता है। यह "करणीय न विज्जति" वाक्य, गीताके "तस्य कार्यं न विद्यते" इस वाक्यसे केवल समानार्थकही नही है, किंतु शब्दशः भी एकही है। परतु जब बौद्ध भिक्षुओंका यह मूल सन्यास-प्रधान आचार बदल गया और जब वे परोपकारके काम करने लगे, तब नये तथा पुराने मतमें झगडा हो गया, पुराने लोग अपनेको 'थेरवाद' (वृद्धपंथ) कहने लगे, और नवीन मत-वादी लोग अपने पथका 'महायान' नाम रख कर पुराने पथको 'हीनयान' (अर्थात् हीन पथके) नामसे सबोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पथका था, और वह इस मतको मानता था, कि बौद्ध

यति लोग परोपकारके काम किया करें। अतएव 'सौंदरानद' (सौं १८ ५४) काव्यके अतमें, जव नद अर्हतावस्थामें पहुँच गया, तव उसे वुद्धने जो उपदेश दिया, है, उसमें पहले यह कहा है –

अवाप्तकार्योऽसि परा गति गत. न तेऽस्ति किंचित्करणीयमण्वपि ।

"तेरा कर्तव्य हो चुका, तुझे उत्तम गति मिल गई, अव तेरे लिये तिलभरभी कर्तव्य नही रहा।" और आगे स्पष्ट-रूपसे यह उपदेश किया है, कि –

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मन कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्ययो ।।

"अतएव अव तू अपना कार्य छोड, वुद्धिको स्थिर करके परकार्य किया कर" (सौं १८ ५७)। प्राचीन धर्म-ग्रयोमें पाये जानेवाले वुद्धके कर्मत्यागविपयक उपदेशमें तथा कर्मयोगविपयक इस उपदेशमें कि जिसे 'सौंदरानद' काव्यमें अश्व घोपने वुद्धके मुखसे कहलाया है, अत्यत भिन्नता है। और, अश्वघोपकी इन दलीलोमें तथा गीताके तीसरे अध्यायमें जो युक्ति-प्रयुक्तियाँ हैं, उनमें – "तस्य कार्यं न विद्यते   तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर" तेरे लिये कुछ रह नही गया है, इसलिये जो कर्म प्राप्त हो, उनको निष्काम वुद्धिसे किया कर (गीता ३ १७, १९) न केवल अर्थदृष्टिसेही, किंतु शव्दश भी समानता है। अतएव इससे यह अनुमान होता है, कि ये दलीले अश्वघोपको गीताहीसे मिली हैं। इसका कारण ऊपर वतलाही चुके हैं, कि अश्वघोपसेभी पहले महाभारत था। परतु इसे केवल अनुमानही न समझिये। वौद्ध धर्मानुयायी तारानाथने वौद्ध धर्मविषयक इतिहाससवधी जो ग्रथ तिव्वती भाषामें लिखा है, उसमें लिखा है, कि वौद्धोंके पूर्वकालीन सन्यास-मार्गमें महायान पथने जो कर्मयोगविपयक सुधार किया था, उसे महायान-पथके मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुनके गुरु राहुलभद्रने 'ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश'से जाना था। इस ग्रथका अनुवाद रूसी भाषासे जर्मन भाषामें किया गया है– अग्रेजीमें अभीतक नही हुआ है। डॉ केर्नने १८९६ ईसवीमें वौद्ध धर्मपर एक पुस्तक लिखी थी।* यहाँ उसीसे हमने यह अवतरण लिया है। डॉक्टर केर्नकाभी यही मत है, कि यहाँपर श्रीकृष्णके नामसे भगवद्गीताहीका उल्लेख किया गया है। महायान-पथके वौद्ध ग्रथोमेंसे 'सद्धर्मपुडरीक' नामक ग्रथमेंभी भगवद्गीताके श्लोकोंके किया समान कुछ श्लोक हैं। परतु इन वातोका और अन्य वातोका विवेचन अगले भागमें जायगा। यहाँपर केवल यही वतलाना है, कि वौद्ध-ग्रथकारोंकेही मतानुसार मूल वौद्ध-धर्मके सन्यास-प्रधान होने परभी उसमें भक्ति-प्रधान तथा कर्म-प्रधान महायान-पथकी उत्पत्ति भगवद्गीताके कारणही हुई है, और अश्वघोषके काव्यसे

* See Dr Kern's Manual of Indian Buddhism (Grundriss, III 8) P 122 महायान पथके 'अमितायुसुत्त' नामक मुख्य ग्रथका अनुवाद चीनी भाषामें सन १४८ के लगभग किया गया था।

गीताकी जो ऊपर समता वतलाई गई है, उससे इस अनुमानको औरभी दृढता प्राप्त हो जाती है। पश्चिमी पडितोका निश्चय है, कि महायान-पथका पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शकके लगभग सौ-डेढ सौ वर्ष पहले हुआ होगा, और यह तो स्पष्टही है, कि इस पथका वीजारोपण अशोकके राजशासनके समयमें हुआ होगा। वौद्ध ग्रथोंसे तथा स्वय बौद्ध ग्रथकारोंके लिखे हुए उस धर्मके इतिहाससे यह बात स्वतत्र रीतिसे सिद्ध हो जाती है, कि भगवद्‌गीता महायान वौद्ध-पथके जन्मसे पहले – अशोकसेभी पहले – याने सन ईसवीसे लगभग ३०० वर्ष पहलेही अस्तित्वमें थी।

इन सव प्रमाणोपर विचार करनेसे इसमें कुछभी शका नही रह जाती, कि वर्तमान भगवद्‌गीता शालिवाहन शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहलेही अस्तित्वमें थी। डॉक्टर भाडारकर, परलोकवासी तेलग, रावबहादुर चितामणराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षितका मतभी इससे वहुत-कुछ मिलता-जुलता है, और उसीको यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये। हाँ, प्रोफेसर गार्वेका मत भिन्न है। उन्होंने उसके प्रमाणमें गीताके चौथे अध्यायवाले सप्रदाय-परपराके श्लोकोमेंसे 'योगो नष्ट' – योगका नाश हो गया – इस वाक्यको लेकर योग शब्दका अर्थ 'पातजल योग' किया है। परतु हमने प्रमाणसहित पहलेही वतला दिया है, कि वहाँ योग शब्दका अर्थ 'पातजल-योग' नही – 'कर्मयोग' है। इसलिये प्रो गार्वेका मत भ्रममूलक अतएव अग्राह्य है। यह वात निर्विवाद है, कि वर्तमान गीताका काल शालिवाहन शकके पाँच सौ वर्ष पहलेकी अपेक्षा और कम नही माना जा सकता। पिछले भागमे यह वतलाही चुके है कि मूल गीता इससेभी कुछ सदियोसे पहलेकी होनी चाहिये।

भाग ६ – गीता और बौद्ध ग्रंथ

वर्तमान गीताका काल निश्चित करनेके लिये पिछले भागमें जिन वौद्ध ग्रथोंके प्रमाण दिये गये है, उनका पूरा पूरा महत्त्व समझनेके लिये गीता और वौद्ध ग्रथ या वौद्ध धर्मकी साधारण समानता तथा विभिन्नता परभी यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले कई वार वतला चुके है, कि गीता-धर्मकी विशेषता यह है, कि गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ प्रवृत्तिमार्गावलवी रहता है। परतु इस विशेष गुणको थोडी देरके लिये अलग रख दें, और उक्त पुरुषके केवल मानसिक तथा नैतिक गुणोहीका विचार करें, तो गीतामें स्थितप्रज्ञके (गीता २ ५५–७२), ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके (४ १९–२३, ५ १८–२८) और भक्तियोगी पुरुषके (१२ १३–१९) जो लक्षण वतलाये है, उनमें और निर्वाणपदके अधिकारी अर्हतोंके अर्थात् पूर्णावस्थाको पहुचे हुए वौद्ध भिक्षुओंके जो लक्षण भिन्न भिन्न वौद्ध ग्रथोमें दिये हुए है, उनमें विलक्षण समता दीख पडती है (धम्मपद श्लोक ३६०–४२३ और सुत्त-निपातोमेंसे मुनिमुत्त तथा धम्मिकसुत्त देखो)। इतनाही नही, किंतु इन वर्णनोके

शब्दसाम्यसे दीख पडता है, कि स्थितप्रज्ञ अथवा भक्तिमान् पुरुषके समानही सच्चा भिक्षुभी 'शात', 'निष्काम', 'निर्मम', 'निराशी' (निरिस्सित), 'समदु खसुख', 'निरारभ', 'अनिकेतन' या 'अनिवेशन' अथवा 'समानिन्दा-स्तुति', और 'मान-अपमान तथा लाभ-अलाभको समान माननेवाला' रहता है (धम्मपद ४०, ४१ १, सुत्तनि मुनिसुत्त १ ७, १४, द्वयतानुपस्सनसुत्त २१–२३, और विनयपिटक चुल्लवग्ग ७ ४ ७)। द्वयतानुपस्सनसुत्तके ४०वे श्लोकका यह विचार – ज्ञानी पुरुषके लिये जो प्रकाश है, वही अज्ञानीको अधकार है – गीताके (गीता २ ६९) "या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी" इस श्लोकान्तर्गत विचारके सदृश है। और मुनिसुत्तके १० वे श्लोकका यह वर्णन – "अरोसनेय्यो न रोसेति" अर्थात् न तो स्वय कष्ट पाता है और न दूसरोकोभी कष्ट देता है – गीताके "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य" (गीता १२ १५) इस वर्णनके समान है। इसी प्रकार सेल्लसुत्तके ये विचार, कि "जो कोई जन्म लेता है वह मरता है" और "प्राणियोका आदि तथा अत अव्यक्त है, इसलिये उसका शोक करना वृथा है" (सेल्लसुत्त १, ९, गी २ २७, २८), कुछ शब्दोके हेरफेरसे गीताकेही विचार है। गीताके दसवे अध्यायमें अथवा अनुगीतामें (मभा अश्व ४३, ४४) "ज्योतिष्मानोमें सूर्य, नक्षत्रोमें चद्र, और वेद-मत्रोमें गायत्री" आदि जो वर्णन है, वही सेल्लसुत्तके २१ वे और २२ वे श्लोकोमें तथा महावग्गमें (६ ३५ ८) ज्यो-का-त्यो आया है। इसके सिवा शब्दसादृश्यके तथा अर्थसमताके छोटे-मोटे उदाहरण परलोकवासी तेलगने गीताके अपने अग्रेजी अनुवादकी टिप्पणियोमें दे दिये हैं। तथापि प्रश्न होते हैं, कि यह सदृशता हुई कैसे ? ये विचार असलमे बौद्ध धर्मके हैं या वैदिक धर्मके ? और इनसे अनुमान क्या निकलता है ? किंतु इन प्रश्नोको हल करनेके लिये उस समय जो साधन उपलब्ध थे वे अपूर्ण थे। यही कारण है, जो उपर्युक्त चमत्कारिक शब्दसादृश्य और अर्थ-सादृश्य दिखला देनेके सिवा परलोकवासी तेलगने इस विषयमें और कोई विशेष बात नही लिखी। परतु अब बौद्ध धर्मकी जो अधिक बातें उपलब्ध हो गई हैं, उनके उक्त प्रश्न हल किये जा सकते हैं, इसलिये यहां पर बौद्ध धर्मकी उन बातोका सक्षिप्त वर्णन किया जाता है। परलोकवासी तेलगकृत गीताका अग्रेजी अनुवाद जिस 'प्राच्यधर्म-ग्रथमाला'में प्रकाशित हुआ था, उसीमें आगे चलकर पश्चिमी विद्वानोंने बौद्ध धर्म-ग्रथोंके अग्रेजी अनुवाद प्रसिद्ध किये हैं। ये बातें प्राय उन्हीसे एकत्रित की गई है, और प्रमाणमें बौद्ध ग्रथोंके जो स्थल बतलाये गये हैं, उनका सिलसिलाभी इसी मालाके अनुवादोमें मिलेगा। कुछ स्थानोपर पाली शब्दो तथा वाक्योंके अवतरण मूल पाली ग्रथोसेही उद्धृत किये गये है।

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है, कि जैन धर्मके समान बौद्ध धर्मभी अपने वैदिक धर्म-रूप पिताकाही पुत्र हैं, जो जितनी चाहिये उतनी सपत्तिका हिस्सा

लेकर किसी कारणसे विभक्त हो गया है, अर्थात् वह कोई पराया नहीं है, किंतु उसके पहले यहाँपर जो ब्राह्मण-धर्म था, उसीकी यही उपजी हुई यह एक शाखा है। लंकाके महावंस या दीपवंस आदि प्राचीन पाली भाषाके ग्रंथोंमें बुद्धके पश्चाद्वर्ती राजाओं तथा बौद्ध आचार्योंकी परंपराका जो वर्णन है, उसका हिसाब लगा कर देखनेसे ज्ञात होता है, कि गौतमबुद्धने अस्सी वर्षकी आयु पाकर ईसवी सनसे ५४३ वर्ष पहले अपना शरीर छोडा। परन्तु इसमें कुछ बातें असंबद्ध हैं। इसलिये प्रोफेसर मेक्समूलरने इस गणनापर सूक्ष्म विचार करके बुद्धका यथार्थ निर्वाण-काल इसवी सनसे ४७३ वर्ष पहले बतलाया है, और डॉक्टर बुल्हरभी अशोकके शिलालेखोंसे इसी कालका सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रोफेसर न्हिस्डेविड्स् या डॉ. केर्नके समान कुछ खोज करनेवाले इस कालको उक्त कालसे ६५ या १०० वर्ष औरभी आगे हटाना चाहते हैं। प्रोफेसर गायगरने हालहीमें इन सब मतोंकी जाँच करके बुद्धका यथार्थ निर्वाण-काल ईसवी सनसे ४८३ वर्ष पहले माना है।* इनमेंसे कोईभी काल क्यों न स्वीकार कर लिया जाय, यह निर्विवाद है, कि बुद्धका जन्म होनेके पहलेही वैदिक धर्म पूर्ण अवस्थामें पहुँच चुका था, और न केवल उपनिषदही किंतु धर्म-सूत्रोंके समान ग्रंथभी उसके पहलेही तैयार हो चुके थे। क्योंकि, पाली भाषाके प्राचीन बौद्ध धर्म-ग्रंथोंहीमें लिखा है, कि – "चारों वेद, वेदांग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और निघंटु" आदि विषयोंमें प्रवीण कुछ सत्त्वशील ब्राह्मण गृहस्थों तथा जटिल तपस्वियोंसे स्वयं गौतमबुद्धने वाद करके उनको अपने धर्मकी दीक्षा दी (सुत्तनिपातोंमेंसे सेलसुत्तके सेलका वर्णन तथा वथ्थुगाथा ३०–४५ देखो)। कठ आदि उपनिषदोंमें (कठ १ १८, मुंड १ २ १०) अथवा उन्हींको लक्ष्य करके गीतामें (२ ४०–४५, ९ २०–२१) जिस प्रकार यज्ञयाग आदि श्रौतकर्मोंकी गौणताका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार तथा कुछ अंशोंमें उन्हीं शब्दोंके द्वारा तेविज्जसुत्तोंमें (त्रैविद्य-सूत्रों) बुद्धनेभी अपने मतानुसार 'यज्ञयागादि'को निरुपयोगी तथा त्याज्य बतलाया है, और इस बातका निरूपण किया है, कि ब्राह्मण जिसे ('ब्रह्मसहव्यत्ययता' = ब्रह्मसायुज्यता) कहते हैं, वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है। इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है, कि ब्राह्मण-धर्मके कर्मकांड तथा ज्ञानकांड – अथवा गार्हस्थ्य-धर्म और सन्यास-धर्म, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति – इन दोनों शाखाओंके पूर्णतया रूढ हो जानेपर उनमें सुधार करनेके लिये बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ है। सुधारके विषयमें सामान्य नियम यह है, कि उसमें

---

* बुद्ध-निर्वाणकालविषयक वर्णन प्रो. मेक्समूलरने अपने 'धम्मपद'के अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें (S B E Vol X Intro pp. xxxv-xlv) किया है, और उसकी परीक्षा डॉ. गायगरने सन १९१२ में प्रकाशित अपने 'महावंस'के अनुवादकी प्रस्तावनामें की है (The Mahavamsa by Dr Geiger, Pali Text Society, Intro p xxii f)

पहलेकी कुछ बातें स्थिर रह जाती है, और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्यायके अनुसार अब इस बातका विचार करना चाहिये, कि बौद्ध धर्ममें वैदिक धर्मकी किन किन बातोको स्थिर रख लिया है, और किनको छोड दिया है। यह विचार गार्हस्थ्य धर्म और सन्यास इन दोनोकी पृथक् पृथक् दृष्टियोंसे, करना चाहिये। परतु बौद्ध धर्म मूलमें सन्यास-मार्गीय अथवा केवल निवृत्ति-प्रधान है, इसलिये पहले दोनोंके सन्यास-धर्मका विचार करके अनतर दोनोके गार्हस्थ्य धर्मके तारतम्यपर विचार किया जायगा।

वैदिक सन्यास-धर्मपर दृष्टि डालनेसे दीख पडता है, कि कर्ममय सृष्टिके सब व्यवहार तृष्णामूलक अतएव दु खमय हैं, उससे अर्थात् जन्म-मरणके भवचक्रसे आत्माका सर्वथा छुटकारा होनेके लिये मन निष्काम और विरक्त करना चाहिये तथा उसको दृश्यसृष्टिके मूलमें रहनेवाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्ममें स्थिर करके सासारिक कर्मोंका सर्वथा त्याग करना उचित है, इस आत्मनिष्ठ स्थितिहीमें सदा निमग्न रहना सन्यास-धर्मका मुख्य तत्त्व है। दृश्य-सृष्टि नामरूपात्मक तथा नाशवान् है, और कर्मविपाकके कारणही उसका अखडित व्यापार जारी है।

कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा (प्रजा)।
कम्मनिबधना सत्ता (सत्त्वानि) रथस्साऽणीव यायतो ।।

"कर्महीसे लोग और प्रजाभी जारी हैं। जिस प्रकार चलती हुई गाडी रथकी कीलसे नियन्त्रित रहती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्मसे बधा हुआ है" (सुत्तनि वासेठसुत्त ६१)। वैदिक धर्मके ज्ञानकाडका उक्त तत्त्व, अथवा जन्म-मरणका चक्कर, या ब्रह्मा, इद्र, महेश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके भिन्न भिन्न स्वर्ग-पाताल आदि लोकोका ब्राह्मण-धर्ममें वर्णित अस्तित्वभी बुद्धको मान्य था, और इसी कारण नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या साख्य-शास्त्रके शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओकी कथाएँभी (बुद्धकी श्रेष्ठताको स्थिर रखकर) कुछ हेरफेरसे बौद्ध ग्रथोमें पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्धको वैदिक धर्मके कर्म सृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे, कि दृश्य सृष्टि नाशवान् और अनित्य है, एव उसके व्यवहार कर्मविपाकके कारण जारी हैं, तथापि वैदिक धर्म अर्थात् उपनिषत्कारोका यह सिद्धान्त उन्हे मान्य न था, कि नामरूपात्मक नाशवान् सृष्टिके मूलमें नामरूपसे व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्मके समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है – इन दोनो धर्मोमे जो विशेष भिन्नता है, वह यही है। गौतम-बुद्धने यह बात स्पष्ट रूपसे कह दी है, कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थमें कुछ नही है – केवल भ्रम है, इसलिये आत्म-अनात्मके विचारमें या ब्रह्म-चितनके पचडेमे पडकर किसीकोभी अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९–१३)। दीघ्घनि-कायोके ब्रह्मजालसुत्तोंसेभी यही बात स्पष्ट होती है, कि आत्माविषयक कोईभी

कल्पना बुद्धको मान्य न थी ।* इन सुत्तोके अतमें कहा है, कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो, फिर ऐसेही भेद बतलाते हुए आत्माकी भिन्न भिन्न ६२ प्रकारकी कल्पनाएँ बतलाकर कहा है, कि ये सभी मिथ्या 'दृष्टि' हैं, और मिलिंदप्रश्नमेभी (मि प्र २, ३, ६, २ ७ १५) बौद्ध धर्मके अनुसार नागसेनने यूनानी मिलिंदसे (मिनादर) साफ साफ कह दिया है, कि "आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नही है।" यदि मान ले, कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्मभी, दोनो भ्रमही हैं, यथार्थ नही हैं, तो वस्तुत धर्मकी नीवही गिर जाती है। क्योकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँही बच रहती हैं, और नित्य-सुख या उसका अनुभव करनेवाला कोईभी नही रह जाता। यही कारण है, जो श्रीशकराचार्यने तर्कदृष्टिसेभी इस मतको अग्राह्य निश्चित किया है परतु अभी हमें केवल यही देखना है, कि असली बुद्ध धर्म क्या है ? इसलिये इस वादको यही छोडकर देखेंगे, कि बुद्धने आगे अपने धर्मकी क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्धको आत्माका अस्तित्व मान्य न था, तथापि इन बातोसे वे पूर्णतया सहमत थे, कि (१) कर्मविपाकके कारण नाम-रूपात्मक देहको (आत्माको नही) नाशवान्, जगतके प्रपचमें बार बार जन्म लेना पडता है, और (२) पुनर्जन्मका यह चक्कर या सारा ससारही दु खमय है, इससे छुटकारा पा कर स्थिर शाति या सुखको प्राप्त कर लेना अत्यत आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातो – अर्थात् सासारिक दु खके अस्तित्व और उसके निवारण करनेकी आवश्यकताको मान लेनेसे वैदिक धर्मका यह प्रश्न फिरभी ज्यो-का-त्यो बनाही रहता है, कि दु खनिवारण करके अत्यत सुख प्राप्तकर लेनेका मार्ग कौन-सा है ? और उसका कुछ-न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारोंने कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्मोके द्वारा ससारचक्रसे छुटकारा हो नही सकता, और बुद्धने इससेभी कही आगे बढकर इन सब कर्मोका हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वय 'ब्रह्म'हीको एक बडा भारी भ्रम मानें, तो दु ख-निवारणार्थ जो ब्रह्मज्ञान-मार्ग है, वहभी भ्रातिकारक या असभव निर्णित होता है। फिर दु खमय भवचक्रसे छूटनेका मार्ग कौन-सा है ? बुद्धने इसका यह उत्तर दिया है, कि किसी रोगको दूर करनेके लिये उस रोगका मूल कारण ढूँढ कर उसीको हटानेका प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैद्य किया करता है, उसी प्रकार सासारिक दु खके रोगको दूर करनेके लिये (३) उसके कारणको जानकर, (४) उसी कारणको दूर करनेवाले मार्गका अवलब बुद्धिमान् पुरुषको करना चाहिये। इन कारणोका विचार करनेसे दीख पडता है, कि तृष्णा या कामनाही इस जगतके सब दु खोकी जड है, और एक नामरूपात्मक शरीरका नाश हो जानेपर बचे हुए इस वासनात्मक

---

* ब्रह्मजालसुत्तका अग्रेजीमें अनुवाद नही हैं, परंतु उसका सक्षिप्त विवेचन र्‍हिस्‌डेविड्‌स्‌ने S B E Vol XXVI Intro pp xxiii-xxv में किया है।

बीजहीसे अन्यान्य नाम-रूपात्मक शरीर पुन पुन उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्धने निश्चित किया है, कि पुनर्जन्मके दु खमय ससारसे पिंड छुडानेके लिये इद्रिय-निग्रहसे, ध्यानसे तथा वैराग्यसे तृष्णाका पूर्णतया क्षय करके सन्यासी या भिक्षु बन जानाही एकमेव यथार्थ मार्ग है, और इसी वैराग्ययुक्त सन्याससे अचल शाति एव सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है, कि यज्ञयाग आदिकी, तथा आत्म-अनात्म विचारकी झझटमें न पडकर, निम्न चार दृश्य बातोपरही बौद्ध धर्मकी रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं सासारिक दु खका अस्तित्व, उसका कारण, उसके निरोध या निवारण करनेकी आवश्यकता, और उसे समूल नष्ट करनेके लिये वैराग्यरूप-साधन, अथवा बौद्धकी परिभाषाके अनुसार क्रमश दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग। अपने धर्मके इन्ही चार मूल तत्त्वोको बुद्धने 'आर्यसत्य' नाम दिया है। उपनिषदके आत्मज्ञानके बदले चार आर्यसत्योकी दृश्य नीवके ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्ध धर्म खडा किया गया है, तथापि अचल शाति या सुख पानेके लिये तृष्णा अथवा वासनाका क्षय करके मनको निष्काम करनेके जिस मार्गका (चौथा सत्य) उपदेश बुद्धने किया है, वह मार्ग, और मोक्ष-प्राप्तिके लिये उपनिषदोमें वर्णित मार्ग, दोनो वस्तुत. एकही हैं, इसलिये यह बात स्पष्ट है, कि दोनोका अतिम दृश्य-साध्य मनकी निर्विषय स्थिति ही है। परतु इन दोनो धर्मोमें भेद यह है, कि ब्रह्म तथा आत्माको एक माननेवाले उपनिषत्कारोंने मनकी इस निष्काम अवस्थाको 'आत्मनिष्ठा', 'ब्रह्म-सस्था', 'ब्रह्मभूतता', 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५ १७–२५, छा २ २३ १), अर्थात् ब्रह्ममें आत्माका लय होना आदि अतिम आधारदर्शक नाम दिये है, और बुद्धने उसे केवल 'निर्वाण' अर्थात् 'विराम पाना', या "दीपकके बुझ जानेके समान वासनाका नाश होना" यह केवल क्रियादर्शक नाम दिया है। क्योकि, ब्रह्म या आत्माको भ्रम कह देनेपर यह प्रश्नही नही रह जाता, कि "विराम कौन पाता है और किसमें पाता है?" (सुत्तनिपातमेंसे रतनसुत्त १४ और वगीससुत्त १२, १३), एव बुद्धने तो यह स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि चतुर मनुष्यको इस गूढ प्रश्नका विचारभी न करना चाहिये (सब्बासवसुत्त ८–१३, मिलिंदप्रश्न ४ २ ४, ५)। यह स्थिति प्राप्त होनेपर, पुनर्जन्म नही होता, इसलिये एक शरीरके नष्ट होनेपर फिर दूसरे शरीरको पानेकी सामान्य क्रियाके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'मरण' शब्दका उपयोग बौद्ध धर्मके अनुसारभी 'निर्वाण'के लिये किया नही जा सकता। निर्वाण तो 'मृत्युकी मृत्यु', अथवा उपनिषदोके वर्णनानुसार "मृत्युको पारकर जानेका मार्ग" है – निरी मौत नही है। बृहदारण्यक उपनिषदमें (४ ४ ७) यह जो दृष्टान्त दिया है, कि जिस प्रकार सर्पको अपनी कैंचली छोड देनेपर उसकी कुछ परवाह नही रहती, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य उक्त स्थितिमें पहुँच जाता है, तब उसेभी अपने शरीरकी कुछ चिंता नही रह जाती, और उसी दृष्टान्तका आधार असली भिक्षुका वर्णन करते समय सुत्तनिपातके उरगसुत्तके प्रत्येक श्लोकमें लिया गया है। वैदिक धर्मका

यह तत्त्वभी (कौषी ब्रा ३ १), कि "आत्मनिष्ठ पुरुष पाप-पुण्यसे सदैव अलिप्त रहता है" (बृ ४ ४ २३), "इसलिये उसे मातृवध तथा पितृवधसरीखे पातकोकाभी दोष नही लगता", धम्मपदमें शब्दश ज्यो-का-त्यो बतला गया है (धम्म २९४, २९५, मिलिंदप्रश्न ४ ५ ७)। साराश, यद्यपि ब्रह्म तथा आत्माका अस्तित्व बुद्धको मान्य नही था, तथापि मनको शात, विरक्त तथा निष्काम करना प्रभृति मोक्ष-प्राप्तिके जिन साधनोका उपनिषदोमें वर्णन है, वेही साधन बुद्धके मतसे निर्वाण-प्राप्तिके लियेभी आवश्यक है, इसीलिये बौद्ध यति तथा वैदिक सन्यासियोके वर्णन मानसिक स्थितिकी दृष्टिसे एकहीसे होते है, और इसी कारण पाप-पुण्यकी जिम्मेदारीके बधसे तथा जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा पानेके विषयमे वैदिक सन्यास-धर्मके जो सिद्धान्त है, वेही बौद्ध धर्ममें स्थिर रखे गये है। परतु वैदिक धर्म गौतमबुद्धसे पहलेका है, अतएव इस विषयमे कोई शका नही, कि ये विचार असलमें वैदिक धर्मकेही है।

वैदिक तथा बौद्ध सन्यास-धर्मोकी विभिन्नताका वर्णन हो चुका। अब देखना चाहिये, कि गार्हस्थ्य-धर्मके विषयमे बुद्धने क्या कहा है। आत्म-अनात्म-विचारके तत्त्वज्ञानको महत्त्व न देकर सासारिक दु खोके अस्तित्व आदि दृश्य आधारपरही यद्यपि बौद्ध धर्म खडा किया गया है, तथापि स्मरण रखना चाहिये, कि कोटसरीखे आधुनिक पश्चिमी पडितोंके निरे आधिभौतिक धर्मके अनुसार – अथवा गीता-धर्मके अनुसारभी बौद्ध धर्म मूलमें प्रवृत्ति-प्रधान नही है। यह सच है कि, बुद्धको उपनिषदोंके आत्मज्ञानकी 'तात्त्विक दृष्टि' मान्य नही है। परतु बृहदारण्यक उपनिषदमें (बृ ४ ४ ६) वर्णित याज्ञवल्क्यका यह सिद्धान्त कि, "ससारको बिलकुल छोड करके मनको निर्विषय तथा निष्काम करनाही इस जगतमें मनुष्यका केवल एक परम कर्तव्य है", बौद्ध धर्ममेंभी सर्वथा स्थिर रखा गया है, इसीलिये बौद्ध धर्म मूलमें केवल सन्यास-प्रधान हो गया है। यद्यपि बुद्धके समग्र उपदेशोका तात्पर्य यह है, कि ससारका त्याग कियेबिना, केवल गृहस्थाश्रममेंही बने रहनेसे, परम सुख अर्हतावस्था कभी प्राप्त हो नही सकती, तथापि यह न समझ लेना चाहिये कि उसमें गार्हस्थ्यवृत्तिका बिलकुल विवेचनही नही है। जो मनुष्य बिना भिक्षु बने बुद्ध, उसके धर्म, और बौद्ध भिक्षुओके सघ अर्थात् मेले या मडलियाँ, इन तीनोपर विश्वास रखे, और "बुद्ध शरण गच्छामि, धर्म शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि" इस सकल्पके उच्चारण द्वारा उक्त तीनोकी शरणमें जाय, उसको बौद्ध-ग्रथोमे उपासक कहा है। येही लोग बौद्ध धर्मावलबी गृहस्थ है। प्रसग-प्रसगपर स्वय बुद्धनेभी कुछ स्थानोपर उपदेश किया है, कि उन उपासकोको अपना गार्हस्थ्य-व्यवहार कैसा रखना चाहिये (महापरिनिब्बाणसुत्त १ २४)। वैदिक गार्हस्थ्य-धर्ममेंसे हिंसात्मक श्रौत यज्ञयाग और चारो वर्णोका भेद बुद्धको ग्राह्य नही था। इन बातोको छोड देनेसे स्मार्त पचमहायज्ञ, दान आदि परोपकार धर्म और नीतिपूर्वक आचरण

करनाही गृहस्थका कर्तव्य रह जाता है, तथा गृहस्थोंके धर्मका वर्णन करते समय केवल इन्ही वातोंका उल्लेख वौद्ध-ग्रथोमें पाया जाता है। वुद्धका मत है, कि प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् उपासकको पचमहायज्ञ करनाही चाहिये। उनका स्पष्ट कथन है, कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वभूतानुकपा और (आत्मा मान्य न हो, तथापि) आत्मौपम्य-दृष्टि, शौच या मनकी पवित्रता, तथा विशेप करके सत्पात्रो याने वौद्ध-भिक्षुओंको एव वौद्ध भिक्षु-सघको अन्न-वस्त्र आदिका दान देना प्रभृति नीति-धर्मोकाभी पालन वौद्ध उपासकोंको करना चाहिये। वौद्ध धर्ममें इसीको 'शील' कहा है, और दोनोकी तुलना करनेसे यह वात स्पष्ट हो जाती है, कि पचमहायज्ञके समान ये नीति-धर्मभी ब्राह्मण-धर्मके धर्म-सूत्रो अथवा प्राचीन स्मृति-ग्रथोंसे (मनु ६ ९२, १० ६३) वुद्धने लिये है।* और तो क्या, इस आचारके विपयमें प्राचीन ब्राह्मणोकी स्तुति स्वय वुद्धनेही ब्राह्मणधम्मिकसुत्तोमें की है, तथा मनुस्मृतिके कुछ श्लोक तो धम्मपदमें अक्षरश पाये जाते है (मनु २ १२१, ५ ४५, धम्मपद १०९, १३१) वौद्ध धर्ममें वैदिक ग्रथोसे न केवल पचमहायज्ञ और नीति-धर्मही लिये गये है, किंतु वैदिक धर्ममे पहले कुछ उपनिपत्कारो-द्वारा प्रतिपादित इस मतकोभी वुद्धने स्वीकार किया है, कि गृहस्थाश्रममें पूर्ण मोक्ष-प्राप्ति कभीभी नही होती। उदाहरणार्थ, सुत्तनिपात्तोके धम्मिकसुत्तमें भिक्षुके साथ उपासककी तुलना करके वुद्धने साफ साफ कह दिया है, कि गृहस्थको उत्तम शीलके द्वारा वहुत हुआ तो 'स्वयप्रकाश' देवलोककी प्राप्ति हो जावेगी, परतु जन्म-मरणके चक्करसे पूर्णतया छुटकारा पानेके लिये ससार तथा लडके-वच्चे, स्त्री आदिको छोड करके अतमें उसको भिक्षु-धर्मही स्वीकार करना चाहिये (धम्मिकसुत्त १७, २९, वृ ४ ४ ६, मभा वन २ ६३)। तेविज्जसुत्तमें (ते सु १ ३५ ३ ५) यह वर्णन है, कि कर्म-मार्गीय वैदिक ब्राह्मणोसे वाद करते समय अपने उक्त सन्यास-प्रधान मतको सिद्ध करनेके लिये वुद्ध ऐसी युक्तियां पेश करते थे, कि "यदि तुम्हारे व्रह्मके वाल-वच्चे-स्त्री तथा क्रोध-लोभ नही है, तो स्त्री-पुत्रोमे रहकर तथा यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मोके द्वारा तुम्हे व्रह्मकी प्राप्ति होगीही कैसे ?" और यहभी प्रसिद्ध है, कि स्वय वुद्धने युवावस्थामेंही अपनी स्त्री, अपने पुत्र तथा राजपाटकोभी त्याग दिया था, एव भिक्षु-धर्म स्वीकार-कर लेनेपर छ वर्पके वाद उन्हे वुद्धावस्था प्राप्त हुई थी। वुद्धके समकालीन, परतु उनसे पहलेही समाधिस्थ हो जानेवाले, महावीर नामक अतिम जैन तीर्थंकरकाभी ऐसाही उपदेश है। परतु वह वुद्धके समान अनात्मवादी नही था, और इन दोनो धर्मोमें महत्त्वका भेद यह है, कि वस्त्रप्रावरण आदि ऐहिक सुखोका त्याग और अहिंसाव्रत प्रभृति धर्मोका पालन वौद्ध भिक्षुओकी अपेक्षा जैन यति अधिक दृढतामे किया करते थे, एव अवभी करते रहते है। खानेहीकी नियतसे जो प्राणी न मारे

---

* See Dr Kern s Manual of Buddhism (Grundriss III 8) p 68

गये हो, उनका 'पवत्त' (स प्रवृत्त) अर्थात् "तैयार किया हुआ माम" (हाथी, सिंह, आदि कुछ प्राणियोको छोडकर) वुद्ध स्वय खाया करते थे, 'पवत्त' मास तथा मछलियाँ खानेकी आज्ञा बौद्ध भिक्षुओकोभी दी गई है, एव बिना वस्त्रोके नग-धडग घूमना बौद्ध-भिक्षु-धर्मके नियमानुसार अपराध है, (महावग्ग ६ ३१ १४, ८ २८ १)। साराश, यद्यपि वुद्धका निश्चित उपदेश था, कि अनात्मवादी भिक्षु बनो, तथापि काया-क्लेशमय उग्र तपसे वुद्ध सहमत नही थे (महावग्ग ५ १ १६, गीता ६ १६), बौद्ध भिक्षुओके विहारो अर्थात् उनके रहनेके मठोकी सारी व्यवस्थाभी ऐसी रखी जाती थी, कि जिससे उनको कोई विशेष शारीरिक कष्ट न सहना पडे, और प्राणायाम आदि योगाभ्यास सरलतापूर्वक हो सके। तथापि बौद्ध धर्ममें यह तत्त्व पूर्णतया स्थिर है, कि अर्हतावस्था या निर्वाणसुखकी प्राप्तिके लिये गृहस्थाश्रमको त्यागनाही चाहिये, इसलिये यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नही, कि बौद्ध धर्म सन्यास-प्रधान धर्म है।

यद्यपि वुद्धका निश्चित मत था, कि ब्रह्मज्ञान अथवा आत्म-अनात्म-विचार भ्रमका एक बडा-सा जाल है, तथापि इस दृश्य कारणके लिये, अर्थात् दु खमय ससार-चक्रसे छूटकर निरतर शाति तथा सुख प्राप्तिके लिये, उपनिषदोमें वर्णित सन्यास-मार्गवालोंके इसी साधनको उन्होंने मान लिया था, कि वैराग्यसे मनको निर्विषय रखना चाहिये, और जब यह सिद्ध हो गया, कि चातुर्वर्ण्य भेद या हिंसात्मक यज्ञ-यागको छोडकर बौद्ध धर्ममें वैदिक गार्हस्थ्य-धर्मके नीतिनियमही कुछ हेरफेर करके लिये गये हैं, तब यदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि ग्रथोमें वैदिक सन्यासियोके जो वर्णन है, वे वर्णन, एव बौद्ध भिक्षुओ या अर्हतोके वर्णन, अथवा अहिंसा आदि नीति-धर्म, दोनो धर्मोमें एकहीसे – और कई स्थानोपर शब्दश एकहीसे – दीख पडें, तो आश्चर्यकी बात नही है। ये सब बाते मूल वैदिक धर्महीकी है। परतु बौद्धोने केवल इतनीही बाते वैदिक धर्मसे नही ली है, प्रत्युत बौद्ध धर्मके दशरथ-जातकके समान जातक-ग्रथभी प्राचीन वैदिक पुराण-इतिहासकी कथाओंके, वुद्ध धर्मके अनुकूल तैयार किये हुए, रूपातर हैं। न केवल बौद्धोनेही, किंतु जैनोनेभी अपने अभिनव-पुराणोमें वैदिक कथाओके ऐसेही रूपातर कर लिये है। सेल* साहबने तो यह लिखा है, कि ईसाके अनतर प्रचलित हुए मुहमदी धर्ममे ईसाके चरित्रका इसी प्रकार विपर्यास कर लिया गया है। वर्तमान समयकी खोजसे यह सिद्ध हो चुका है, कि पुरानी बाइबलमें सृष्टिकी उत्पत्ति, प्रलय तथा नूह आदिकी जो कथाएँ है, वे सब प्राचीन खाल्दी जातिकी धर्म-कथाओके रूपातर हैं, कि जिनका वर्णन यहुदी लोगोका किया हुआ है। उपनिषद्, प्राचीन धर्म-सूत्र, तथा मनुस्मृतिके वर्णन कथाएँ अथवा

---

* See Sele's Koran, "To the Reader" (Preface), p x and the Preliminary Discourse, See IV p 58 (Chandos Classics Edition)

विचार जब बौद्ध ग्रथोमे इस प्रकार – कई बार तो बिलकुल शब्दश – लिये गये है, तब यह अनुमान सहजही हो जाता है, कि ये असलमें महाभारतकेही है। बौद्ध-ग्रथ-प्रणेताओने इन्हे वहीमे उद्धृत कर लिया होगा। वैदिक धर्म-ग्रथोके जो भाव और श्लोक बौद्ध-ग्रथोमें पाये जाते है, उनके कुछ उदाहरण ये है – "जयसे वैरकी वृद्धि होती है, और वैरसे वैर शात नही होता" (मभा उद्यो ७१ ५९, ६३), "दूसरेके क्रोधको शातिसे जीतना चाहिये" आदि विदुरनीति (मभा उद्योग ३८ ७३) तथा जनकका यह वचन कि "यदि मेरी एक भुजामें चदन लगाया जाय और दूसरी काटकर अलगकर दी जाय, तोभी मुझे दोनो बातें समानही है" (मभा शा ३२० ३६), इनके अतिरिक्त महाभारतके औरभी बहुतसे श्लोक बौद्ध-ग्रथोमें शब्दश पाये जाते है (धम्मपद ५, २२३, मिलिंदप्रश्न ७ ३ ५)। इसमें कोई सदेह नही, कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रथ बुद्धकी अपेक्षा प्राचीन है, इसलिये उनके जो विचार तथा श्लोक बौद्ध-ग्रथोमें पाये जाते है, उनके विषयमें विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि उन्हे बौद्ध-ग्रथकारोने उपर्युक्त वैदिक ग्रथोहीसे लिया है, किंतु यह बात महाभारतके विषयमे नही कही जा सकती। महाभारतमेंही बौद्ध डागोबाओका जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है, कि महाभारतका अतिम सस्करण बुद्धके बाद रचा गया है। अतएव केवल श्लोकके सादृश्यके आधारपर यह निश्चय नही किया जा सकता, कि वर्तमान महाभारत बौद्ध-ग्रथोके पहलेहीका है, और गीता महाभारतकाही एक भाग है, इसलिये यही न्याय गीताकोभी उपर्युक्त हो सकेगा। इसके सिवा, यह पहलेही कहा जा चुका है, कि गीतामेंही ब्रह्म-सूत्रोका उल्लेख है, और ब्रह्म-सूत्रोमे है बौद्ध धर्मका खडन। अतएव स्थितप्रज्ञके वर्णन प्रभृतिकी (वैदिक और बौद्ध) दोनोकी समताको छोड देते है, और यहां अब इस बातका विचार करते है, कि उक्त शकाको दूर करने एव गीताको निर्विवाद रूपसे बौद्ध-ग्रथोसे पुरानी सिद्ध करनेके लिये बौद्ध-ग्रथोमें कोई अन्य साधन मिलता है या नही।

ऊपर कह चुके है, कि बौद्ध धर्मका मूल स्वरूप शुद्ध निरात्मवादी और निवृत्ति-प्रधान है। परतु उसका यह स्वरूप बहुत दिनोतक टिक न सका। भिक्षुओके आचरणके विषयमें मतभेद हो गया, और बुद्धकी मृत्युके पश्चात् उसमें अनेक उपपथोका निर्माणही नही होने लगा, किंतु धार्मिक तत्त्वज्ञानके विषयमेभी इसी प्रकारका मतभेद उपस्थित हो गया। आजकल कई लोग तो यहभी कहने लगे है, कि "आत्मा नही है" इस कथनके द्वारा बुद्धको मनसे यही बतलाना है, कि "अचिन्त्य आत्मज्ञानके शुष्क-वादमें मत पडो, वैराग्य तथा अभ्यासके द्वारा मनको निष्काम करनेका प्रयत्न पहले करो, आत्मा हो चाहे न हो, मनके निग्रह करनेका कार्य मुख्य है, और उसे सिद्ध करनेका प्रयत्न पहले करना चाहिये।" उनके कहनेका यह मतलब नही है, कि ब्रह्म या आत्मा बिलकुल हैही नही। क्योकि तेविज्जसुत्तमें स्वय बुद्धनेही 'ब्रह्मसहव्यताय' स्थितिका उल्लेख किया है, और सेल्लसुत्त तथा थेरगाथामेंभी उन्होने कहा है, कि

मैं ब्रह्मभूत हूँ (सेल्लसुत्त १४, थेरगाथा ८३१)। परतु मूल हेतु चाहे जो हो, यह निर्विवाद है, कि ऐसे अनेक प्रकारके मत, वाद तथा आग्रही पथ तत्त्वज्ञानकी दृष्टिमे आगे निर्मित हो गये, जो कहते थे, कि "आत्मा या ब्रह्ममेंसे कोईभी नित्य वस्तु जगतके मूलमें नही है, जो कुछ दीख पडता है, वह क्षणिक या शून्य है, अथवा जो कुछ दीख पडता है, वह ज्ञान है, ज्ञानके अतिरिक्त – जगतमें कुछभी नही है", इत्यादि (वे सू. शा भा २ २ १८–२६)। इस निरीश्वर या अनात्मवादी वौद्ध मतकोही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते हैं। परन्तु यहाँपर इन सब पथोके विचार करनेका कोई प्रयोजन नही है। हमारा प्रश्न ऐतिहासिक है। अतएव उसका निर्णय करनेके लिये 'महायान' नामक पथका वर्णन, जितना आवश्यक है उतनाही, यहाँपर किया जाता है। वुद्धके मूल उपदेशमें आत्मा या ब्रह्मका (अर्थात् परमात्मा या परमेश्वर) अस्तित्वही अग्राह्य अथवा गौण माना गया है, इसलिये स्वय वुद्ध अपने जीवन-कालमेंसेही भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी प्राप्ति करनेके मार्गका उपदेश किया जाना सभव नही था, और जवतक वुद्धकी भव्य मूर्ति एव चरित्रक्रम लोगोंके सामने प्रत्यक्ष रीतिसे उपस्थित था, तवतक उस मार्गकी कुछ आवश्यकताही नही थी। परतु आगे यह आवश्यक हो गया, कि यह धर्म सामान्य जनोको प्रिय हो, और उसका अधिक प्रसारभी होवे। अत घरदार छोड, भिक्षु वन करके मनो-निग्रहसे बैठे-विठाये निर्वाण पाने – यह न समझकर कि किसमें ? – के इस निरीश्वर निवृत्ति-मार्गकी अपेक्षा किसी सरल और प्रत्यक्ष मार्गकी आवश्यकता हुई। वहुत सभव है, कि साधारण वुद्ध-भक्तोंने तत्कालीन प्रचलित वैदिक भक्ति-मार्गका अनुकरण करके, वुद्धकी उपासनाका आरभ पहले पहल स्वय कर दिया हो, अतएव वुद्धके निर्वाण पानेके पश्चात् शीघ्रही वौद्ध पडितोंने वुद्धहीको "स्वयभू तथा अनादि, अनत पुरुषोत्तम"का रूप दे दिया, और वे कहने लगे, कि वुद्धका निर्वाण होना तो उन्हीकी लीला है, "असली वुद्धका कभी नाश नही होता – वह तो सदैव अचल रहता है।" इसी प्रकार बौद्ध-ग्रथोमें यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि असली वुद्ध "सारे जगतका पिता है, और जनसमूह उनकी सतान है", इसलिये वहभी सभीको "समान है, न वह किसीसे प्रेमही करता है और न किसीसे द्वेषभी करता है।" "धर्मकी व्यवस्था विगडनेपर 'धर्मकृत्य'के लिये वही समय-समयपर वुद्धके रूपसे प्रकट हुआ करता है", और इसी देवाधिदेव बुद्धकी "भक्ति करनेसे, उसके ग्रथोकी पूजा करनेसे और उसके डागोबाके समुख कीर्तन करनेसे" अथवा "उसे भक्तिपूर्वक दो-चार कमल या एक फूल समर्पण कर देनेभीसे मनुष्यको सद्गति प्राप्त होती है (सद्धर्मपुडरीक २ ७७–९८, ५ २२, १५ ५–२२, मिलिंदप्रश्न ३ ७ ७)।* मिलिंदप्रश्नमें

* प्राच्यधर्म-पुस्तकमालाके २१वे खडमें 'सद्धर्मपुडरीक' ग्रथका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। यह मूल ग्रथ सस्कृत भाषाका है। अब मूल सस्कृत ग्रथभी प्रकाशित हो चुका है।

(मि प्र ३ ७ २) यहभी कहा है, कि " किसी मनुष्यकी सारी उम्र दुराचरणोमें क्यो न वीत गई हो, परन्तु मृत्युके समय यदि वह वुद्धकी शरणमें जावे, तो उसे स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य होगी ", और सद्धर्मपुडरीकके दूसरे तथा तीसरे अध्यायोमें इस वातका विस्तृत वर्णन है, कि सव लोगोका " अधिकार, स्वभाव तथा ज्ञान एकही प्रकारका नही होता, इसलिये अनात्मपर निवृत्ति-प्रधान-मार्गके अतिरिक्त भक्तिके इस मार्गको (यान) वुद्धनेही दया करके अपनी–" उपायचातुरीसे निर्मित किया है।" स्वय वुद्धके वतलाये हुए इस धर्म-तत्त्वको एकदम छोड देना कभीभी सभव नही था, कि निर्वाणपादकी प्राप्ति होनेके लिये भिक्षु-धर्महीको स्वीकार करना चाहिये, क्योकि यदि ऐसा किया जाता, तो मानो वुद्धके मूल उपदेशपरही हरताल पोता जाता। परतु यह कहना कुछ अनुचित नही था, कि भिक्षु हो गया तो क्या हुआ, उसे जगलमें 'गेंडे'के समान अकेले तथा उदासीन न वने रहना चाहिये, किंतु धर्मप्रसार आदि लोकहित तथा परोपकारके काम 'निरिस्सित' वुद्धिसे करते जानाही वौद्ध भिक्षुओका कर्तव्य है,† इसी मतका प्रतिपादन महायान-पथके सद्धर्मपुडरीक आदि ग्रथोमें किया गया है, और नागसेनने मिलिंदसे कहा है, कि " गृहस्थाश्रममें रहते हुए निर्वाण-पदको पा लेना विलकुल अशक्य नही है – और उसके कितनेही उदाहरणभी हैं," (मि प्र ६ २ ४)। यह वात किसीकेभी ध्यानमें सहजही आ जायगी, कि ये विचार अनात्मवादी तथा केवल सन्यास-प्रधान मूल वौद्ध धर्मके नही हैं, अथवा शून्यवाद या विज्ञान-वादको स्वीकार करकेभी इनकी उपपत्ति नही जानी जा सकती, और पहले पहल अधिकाश वौद्ध धर्मवालोको स्वय मालूम पडता था, कि ये विचार वुद्धके मूल उपदेशसे विरुद्ध है। परतु फिर यही नया मतही स्वभावसे अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगा, और वुद्धके मूल उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालेको 'हीनयान' (हलका मार्ग) तथा इस नये पथको 'महायान' (वडा मार्ग) नाम प्राप्त हो गया।* चीन, तिव्वत और जापान आदि देशोमे आजकल जो वौद्ध धर्म प्रचलित

---

† सुत्तनिपातमें खग्गविसाणसुत्तके ४१ वे श्लोकका ध्रुवपद "एको चरे खग्गविसाणकप्पो" है। उसका यह अर्थ है, कि खग्गविसाण याने गेंडा और उसीके समान वौद्ध भिक्षुको जगलमें अकेले रहना चाहिये।

* हीनयान और महायान-पथोका भेद वतलाते हुए डॉक्टर केर्नने कहा है, कि – " Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists, and this attractive side of the creep has, more perhaps than anything else, contributed to their wide conquests, whereas S Buddhism has not been able to make converts except where the soil had been prepared by Hindusism and Mahayanism "—Manual of Indian Buddhism, p 69 Southern Buddhism अर्थात् हीनयान है। महायान-पथमें भक्तिकाभी समावेश हो चुका था। " Mahayanism lays

है, वह महायान-पथका है, और बुद्धके निर्वाणके पश्चात् महायान-पथी भिक्षुसघके दीर्घोद्योगके कारणही बौद्ध धर्मका इतनी शीघ्रतासे फैलाव हो गया। डॉक्टर केर्नकी राय है, कि बौद्ध धर्ममें इस सुधारकी उत्पत्ति शालिवाहन शकके लगभग तीन सौ वर्ष पहले हुई होगी।† क्योकि बौद्ध-ग्रथोमें इसका उल्लेख है, कि शक राजा कनिष्ठके शासन-कालमें बौद्ध-भिक्षुओकी जो एक महापरिषद् हुई थी, उसमें महायान-पथके भिक्षु उपस्थित थे। इस महायान-पथके 'अमितायुसुत्त' नामक प्रधान सूत्र-ग्रथका वह अनुवाद अभी उपलब्ध है, जो कि चीनी भाषामें सन् १४८ इसवीके लगभग किया गया था। परतु हमारे मतानुसार यह काल इससेभी प्राचीन होना चाहिये। क्योकि, सन ईसवीसे लगभग २३० वर्ष पहले प्रसिद्ध किये गये अशोकके शिलालेखो में सन्यास-प्रधान निरीश्वर बौद्ध धर्मका विशेष रीतिसे कोई उल्लेख नही मिलता, उनमें सर्वत्र प्राणिमात्रपर दया करनेवाले प्रवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्महीका उपदेश किया गया है। तव यह स्पष्ट है, कि पहलेही बौद्ध धर्मको महायान-पथके प्रवृत्ति-प्रधान स्वरूपका प्राप्त होना आरभ हो गया था। बौद्ध यति नागार्जुन इस पथका मुख्य पुरस्कर्ता था, न कि मूल उत्पादक।

ब्रह्म या परमात्माके अस्तित्वको न मानकर, उपनिषदोंके मतानुसार, केवल मनको निर्विषय करनेवाले निवृत्ति-मार्गके स्वीकारकर्ता मूल निरीश्वरवादी बुद्ध धर्महीमेंसे यह कव सभव था, कि आगे क्रमश स्वाभाविक रीतिसे भक्ति-प्रधान प्रवृत्ति-मार्ग निकल पडेगा, इसलिये बुद्धका निर्वाण हो जानेपर बौद्ध धर्मको शीघ्रही जो यह कर्म-प्रधान भक्ति-स्वरूप प्राप्त हो गया, उससे प्रकट होता है, कि इसके लिये बौद्ध धर्मके बाहरका तत्कालीन कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हुआ होगा, और इस कारणको ढूंढते समय भगवद्गीतापर दृष्टि पहुँचेविना नही रहती। क्योकि, जैसे हमने गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरणमें स्पष्टीकरण कर दिया है, हिंदुस्थानमे तत्कालीन प्रचलित धर्मोमेंसे जैन तथा उपनिषद्-धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधानही थे, और वैदिक धर्मके पाशुपत अथवा शैव आदि पथ यद्यपि भक्ति-प्रधान थे तो सही, पर प्रवृत्ति-मार्ग और भक्तिका मेल भगवद्गीताके अतिरिक्त अन्यत्र कहीभी नही पाया जाता था। गीतामें भगवानने अपने लिये पुरुषोत्तम नामका उपयोग किया है, और

---

a great stress on devotion in this respect as in many others harmonising with the current of feeling in India which led to the growing importance of Bhakti" *Ibid*, p 124

† See Dr Kern's Manual of Indian Buddhism, pp 6, 69 and 119. (मिलिंद मिनँडर नामी यूनानी राजा) सन् ईसवीसे लगभग १४० या १५० वर्ष पहले हिंदुस्तानकी वायव्यकी ओर, वॅक्ट्रिया देशमें राज्य करता था। मिलिंदप्रश्नमे इस वातका उल्लेख है, कि नागसेनने इसे बौद्ध धर्मकी दीक्षा दी थी। बौद्ध धर्म फैलानेके ऐसे काम महायान-पथके लोगही किया करते थे, इसलिये स्पष्टही है, कि तव महायान-पथ प्रादुर्भूत हो चुका था।

ये विचार भगवद्गीतामेंही आये है, कि " मै पुरुषोत्तमही सब लोगोका 'पिता' और 'पितामह' हूँ (गीता ९ ७), सबको 'सम' हूँ, मुझे न तो कोई द्वेष्यही है और न कोई प्रिय (गीता ९ २९), मै यद्यपि अज और अव्यय हूँ, तथापि धर्म-सरक्षणार्थ समय-समयपर अवतार लेता हूँ (४ ६–८), मनुष्य कितनाही दुराचारी क्यो न हो, पर मेरा भजन करनेसे वह साधुही हो जाता है (९ ३०), अथवा मुझे भक्ति-पूर्वक एक-आध फूल, फल, पत्ता या थोडासा पानी अर्पण कर देनेसेभी मै उसे बडेही सतोषपूर्वक ग्रहण करता हूँ (गीता ९ २६), और अज्ञ लोगोके लिये भक्ति एक सुलभ मार्ग है " (गीता १२ ५), इत्यादि। इसी प्रकार इस तत्त्वका विस्तृत प्रतिपादन गीताके अतिरिक्त कहीभी नही किया गया है, कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुप लोक-सग्रहके लिये प्रवृत्त-धर्महीको स्वीकार करें। अतएव यह अनुमान करना पडता है, कि जिस प्रकार मूल बुद्ध धर्ममें वासनाका क्षय करनेका निरा निवृत्ति-प्रधान-मार्ग उपनिषदोंसे लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान-पथ निकाला तब उसमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वभी भगवद्गीताहीसे लिया गया होगा। परतु यह बात केवल अनुमानोपरही अवलबित नही है। तिब्बती भाषामें बौद्ध धर्मके इतिहासपर बौद्ध-धर्मी तारानाथ-लिखित जो ग्रथ है, उसमें स्पष्ट लिखा है, कि महायान-पथके मुख्य पुरस्कर्ताका अर्थात् "नागार्जुनका गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहले ब्राह्मण था, और इस ब्राह्मणको (महायान-पथकी) कल्पना सूझ पडनेके लिये ज्ञानी श्रीकृष्ण तथा गणेश कारण हुए।" इसके सिवा, एक दुसरे तिब्बती ग्रथमेंभी यही उल्लेख पाया जाता है।* यह सच है, कि तारानाथका ग्रथ बहुत प्राचीन नही है, परतु यह कहनेकी आवश्यकता नही, कि उसका वर्णन प्राचीन ग्रथोके आधारको छोड कर नही किया गया है। क्योकि, यह सभव नही है, कि कोईभी बौद्ध ग्रथकार स्वय अपने धर्मपथके तत्त्वोको बतलाते समय, बिना किसी कारणके, परधर्मियोका इस प्रकार उल्लेख कर दे। इसलिये स्वय बौद्ध ग्रथकारोहीके द्वारा इस विषयमें श्रीकृष्णके नामका उल्लेख किया जाना बडे महत्त्वका है। क्योकि, भगवद्गीताके अतिरिक्त श्रीकृष्णोक्त दूसरा प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-ग्रथ वैदिक धर्ममें हैही नही, अतएव इससे

---

*See Dr Kern's Manual of Indian Buddhism, p 122
" He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rahula-bhadra, who himself was a Mahayanist This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesha This quassi–historical notice, reduced to its less allegorical expression means that Mahayanism is much indebted to the Bhagavadgita and more even to Shivaism " जान पडता है, कि डॉ केर्न 'गणेश' शब्दसे शैव पथ समझते है। डॉ केर्नने प्राच्यधर्म-पुस्तक-मालामें 'सद्धर्मपुडरीक' ग्रथका अनुवाद किया है, और उसकी प्रस्तावनामें इसी मतका प्रतिपादन किया है। (S B E Vol XXI, Intro pp xxv-xxviii).

यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, कि महायान-पथके अस्तित्वमें आनेसे पहलेही न केवल भागवत धर्मही किंतु भागवत धर्मविपयक श्रीकृष्णोक्त ग्रथ अर्थात् भगवद्-गीताभी उस उमय प्रचलित थी, और डॉक्टर केर्नभी इसी मतका समर्थन करते है। जव गीताका अस्तित्व वुद्ध धर्मीय महायान-पथसे पहलेका निश्चित हो गया, तब अनुमान किया जा सकता है, कि उसके साथ महाभारतभी रहा होगा। वौद्ध-ग्रथोमें कहा गया है, कि वुद्धकी मृत्युके पश्चात् शीघ्रही उनके मतोका सग्रह कर लिया गया, परतु इससे वर्तमान समयमें पाये जानेवाले अत्यत प्राचीन वौद्ध-ग्रथोकाभी उसी समयमें रचा जाना सिद्ध नही होता। महापरिनिव्वाणसुत्तको वर्तमान बौद्ध-ग्रथोमें प्राचीन मानते है। परतु उसमे पाटलिपुत्र शहरके विपयमें जो उल्लेख है, उससे प्रोफेसर न्हिस्‌डेविड्‌स्‌ने दिखलाया है, कि यह ग्रथ वुद्धका निर्वाण हो चुकनेपर कम-से-कम सौ वर्ष पहले तैयार न किया गया होगा और वुद्धके अनतर सौ वर्ष वीतनेपर वौद्ध-धर्मीय भिक्षुओकी जो दूसरी परिपद् हुई थी, उसका वर्णन विनयपिटकामे चुल्लवग्ग ग्रथके अतमे है। इससे विदित होता है,† कि लकाद्वीपके पाली भाषामे लिखे हुए विनयपिटकादि प्राचीन वौद्ध-ग्रथ इस परिषदके हो चुकनेपर रचे गये है। इस विपयमें वौद्ध ग्रथकारोहीने कहा है, कि अशोकके पुत्र महेद्रने ईसाकी सदीसे लगभग २४१ वर्ष पहले जव प्रथम सिहलद्वीपमे वौद्ध धर्मका प्रचार करना आरभ किया, तव ये ग्रथभी वहाँ पहुँचाये गये, और फिर कोई डेढ सौ वर्षके वाद ये यहाँ पहले पहल पुस्तकके रूपमें लिखे गये। यदि मान ले, कि इन ग्रथोको मुखाग्र रट डालनेकी चाल थी, इसलिये महेद्रके समयसे उनमे कुछ भी फेरफार न किया गया होगा, तोभी यह कैसे कहा जा सकता है, कि वुद्धके निर्वाणके पश्चात् ये ग्रथ जव पहले पहल तैयार किये गये, तव अथवा आगे महेद्र या अशोक-कालतक, तत्कालीन प्रचलित वैदिक-ग्रथोंसे इनमें कुछभी नही लिया गया? अतएव यदि महाभारत वुद्धके पश्चातका हो तोभी अन्य प्रमाणोमेभी उसका सिकदर वादशाहसे पहलेका अर्थात् सन् ३२५ ईसवीसे पह-लेका होना सिद्ध है, इसलिये मनुस्मृतिके श्लोकोंके समानही महाभारतके श्लोकोकाभी उन पुस्तकोमें पाया जाना सभव है, कि जिनको महेंद्र सिंहलद्वीपमे ले गया था। साराश, बुद्धकी मुत्युके पश्चात् उनके धर्मका प्रसार होते देखकर शीघ्रही प्राचीन वैदिक गाथाओ तया कथाओका महाभारतमें एकत्रित सग्रह किया गया है, और दिखाई देता है, कि उसके जो श्लोक वौद्ध-ग्रथोमें शव्दश पाये जाते हैं, उनको वौद्ध-ग्रथ-कारोंने महाभारतसेही लिया है, न कि स्वय महाभारतकारने वौद्ध-ग्रथोंसे। परतु यदि मान लिया जाय, कि वौद्ध ग्रथकारोंने इन श्लोकोको महाभारतसे नही लिया है, वल्कि उन पुराने वैदिक-ग्रथोसे लिया होगा, कि जो महाभारतकेभी आधार हैं, परतु वर्तमान समयमें उपलब्ध नही है और इस कारण महाभारतके कालका निर्णय

† See S B E Vol XI, Intro pp xv-xx and p 58

उपर्युक्त श्लोक-समानतासे पूरा नही होता, तथापि नीचे लिखी हुई चार वातोंसे इतना तो निस्सदेह सिद्ध हो जाता है, कि वौद्ध धर्ममें महायान-पथका प्रादुर्भाव होनेसे पहले केवल भागवत धर्मही प्रचलित न था, वल्कि उस समय भगवद्गीताभी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीताके आधारपर महायान-पथ निकला है, एव श्रीकृष्णप्रणीत गीताके तत्त्व वौद्ध धर्मसे नही लिये गये है। वे चार वाते इस प्रकार हैं (१) केवल अनात्मवादी तथा सन्यास-प्रधान मूल वुद्ध धर्महीसे आगे चलकर क्रमश स्वाभाविक रीतिसे भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वोका निकलना सभव नही है। (२) महायान-पथकी उत्पत्तिके विषयमें स्वय वौद्ध ग्रथकारोंने श्रीकृष्णके नामका स्पष्टतया निर्देश किया है। (३) गीताके भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वोकी महायान-पथके मतोसे अर्थत तथा शव्दश समानता है। और (४) वौद्ध धर्मके साथ साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन अथवा वैदिक पथोमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्गका प्रचार न था। उपर्युक्त प्रमाणोंसे वर्तमान गीताका ऊपर जो काल निर्णीत हुआ है, वह इससे पूर्णतया मिलता-जुलता है।

भाग ७ – गीता और ईसाइयोंकी वाइवल

पिछले भागमें वतलाई हुई वातोंसे निश्चित हो गया, कि हिंदुस्थानमें भक्ति-प्रधान भागवत धर्मका उदय ईसासे लगभग १४ सौ वर्ष पहले हो चुका था, और ईसाके पहले प्रादुर्भूत मूल सन्यास-प्रधान वौद्ध धर्ममें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वका प्रवेश, वह वौद्ध-ग्रथकारोकेही मतानुसार, श्रीकृष्णप्रणीत गीताहीके कारण हुआ है। गीताके वहुतेरे सिद्धान्त ईसाइयोकी नई वाइवलमें दीख पडते हैं, वस, इसी वुनियाद-पर कई ईसाई ग्रथोमें यह प्रतिपादन रहता है, कि ये तत्त्व ईसाई धर्मसे गीतामें ले लिये गये होगे, और विशेषत डॉक्टर लारिनसरने गीताके उस जर्मन भाषानुवाद-में – कि जो सन् १८६९ ईसवीमें प्रकाशित हुआ था – जो कुछ प्रतिपादन किया है, उसका निर्मूलत्व अब आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है। लारिनसरने अपनी पुस्तकके (अर्थात् गीताके जर्मन अनुवादके) अतमे भगवद्गीता और वाइवल – विशेष-कर नई वाइवल – के शब्द-सादृश्यके कोई एक सौ से अधिक स्थल वतलाये हैं, और उनमेंसे कुछ तो विलक्षण एव ध्यान देने योग्यभी है। एक उदाहरण लीजिये – "उस दिन तुम जानोगे, कि मै अपने पितामें, तुम मुझमें और मै तुममें हूँ" (जान १४ २०), यह वाक्य गीताके नीचे लिखे हुए वाक्योंसे समानार्थकही नही है, प्रत्युत शव्दश भी एक-ही है – "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (गीता ४ ३५), और "यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" (गीता ६ ३०)। उसी प्रकार जानका आगेका यह वाक्यभी "जो मुझसे प्रेम करता है, उससे मैं प्रेम करता हूँ" (गीता १४ २१), गीताके "प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अह स च मम प्रिय" (गीता ७ १७) इस वाक्यके विल्कुलही सदृश है। इन वाक्यो तथा

इन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे अनेक सदृश वाक्योंकी बुनियादपर डॉक्टर लारिनसरने अनुमान करके कह दिया है, कि गीताकार बाइबलसे परिचित थे, और ईसाके लगभग पाँच सौ वर्षोंके पीछे गीता बनी होगी। डॉ लारिनसरकी पुस्तकके इस भागका अंग्रेजी अनुवाद 'इडियन एंटिक्वेरी'की दूसरी पुस्तकमें उस समय प्रकाशित हुआ था, और परलोकवासी तेलगने भगवद्गीताका जो पद्यात्मक अंग्रेजी अनुवाद किया है, उसकी प्रस्तावनामें उन्होंने लारिनसरके उक्त मतका पूर्णतया खडन किया है।* डॉ लारिनसर पश्चिमी सस्कृतज्ञ पडितोंमें नही लेखे जाते थे, और सस्कृतकी अपेक्षा उनका ईसाई धर्मका ज्ञान तथा अभिमान कही अधिक था। अतएव उनके मत न केवल परलोकवासी तेलगहीको, किंतु मेक्समूलर प्रभृति मुख्य मुख्य पश्चिमी सस्कृत पडितोंकोभी अग्राह्य हो गये थे। बेचारे लारिनसर को यह कल्पनाभी न हुई होगी, कि ज्योंही एक बार गीताका समय ईसासे प्रथम निस्सदिग्ध निश्चित हो गया, त्योंही गीता और बाइबलके जो सैकडों अर्थ-सादृश्य और शब्द-सादृश्य मैं दिखला रहा हूँ, वे भूतोंके समान उलटे मेरेही गलेसे आ लिपटेंगे! परतु इसमें सदेह नही, कि जो बात कभी स्वप्नमेंभी नही दीख पडती, वही कभी कभी आँखोंके सामने नाचने लगती है, और सचमुच देखा जाय, तो अब डॉक्टर लारिनसरको उत्तर देनेकीभी कोई आवश्यकताही नही है। तथापि कुछ बडे बडे अंग्रेजी ग्रथोंमें अभीतक इसी असत्य मतका उल्लेख दीख पडता है, इसलिये यहाँपर उस अर्वाचीन खोजके परिणामका सक्षेपमें दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जो इस विषयमें निष्पन्न हुआ है। पहले यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि जब किन्ही दो ग्रथोंके सिद्धान्त एक-से होते हैं, तब केवल इन सिद्धान्तोंकी समानताहीके भरोसे यह निश्चय नही किया जा सकता, कि अमुक ग्रथ पहले रचा गया है, और अमुक पीछे। क्योंकि यहाँपर ये दोनो बातें सभव हैं, (१) इन दोनों ग्रथोंमेंसे पहले ग्रथके विचार दूसरे ग्रथसे लिये गये होंगे, अथवा (२) दूसरे ग्रथके विचार पहलेसे। अतएव पहले जब दोनो ग्रथोंके कालका स्वतत्र रीतिसे निश्चय कर लिया जाय, तब फिर विचार-सादृश्यसे यह निर्णय करना चाहिये, कि अमुक ग्रथकारने अमुक ग्रथसे अमुक विचार लिये हैं। इसके सिवा, दो भिन्न भिन्न देशोंके दो ग्रथकारोंको एकहीसे विचारोंका एकही समयमें, अथवा कभी आगे-पीछेभी, स्वतत्र रीतिसे सूझ पडना कोई बिलकुल अशक्य बात नही है, इसलिये उन दोनो ग्रथोंकी समानताको जाँचते समय यह विचारभी करना पडता है, कि यह समानता स्वतत्र रीतिसे आविर्भूत होनेके योग्य है या नही? और जिन दो देशोंमें ये ग्रथ निर्मित हुए हो, उनमें उस समय कुछ

---

* See Bhagavadgita translated into English Blank Verse with Notes &c by K T Telang, 1875 (Bombay) This book is different from the translation in the S B series

आवागमन होकर एक देशके विचारोंका दूसरे देशमें पहुँचना सभव था या नही ? इस प्रकार चारो ओरसे विचार करनेपर दीख पडता है, कि ईसाई धर्मसे किसीभी बातका गीतामें लिया जाना सभवही नही था, बल्कि गीताके तत्त्वोंके समान जो कुछ तत्त्व ईसाईयोकी बाइबलमें पाये जाते है, उन तत्त्वोंको ईसाने अथवा उसके शिष्योंने बहुत करके बौद्ध धर्मसे – अर्थात् पर्यायसे गीता या वैदिक धर्महीसे – बाइबलमें ले लिया होगा, और अब इस बातको कुछ पश्चिमी पडित लोग स्पष्ट रूपसे कहनेभी लग गये है। इस प्रकार तराजूका फिरा हुआ पलडा देखकर ईसाके कट्टर भक्तोंको आश्चर्य होगा, और यदि उनके मनका झुकाव इस बातको स्वीकृत न करनेकी ओर हो जाय, तो कोई आश्चर्य नही है। परतु ऐसे लोगोंसे हमें इतनाही कहना है, कि यह प्रश्न धार्मिक नही है – ऐतिहासिक है, इसलिये इतिहासकी सार्व-कालिक पद्धतिके अनुसार हालमें उपलब्ध हुई बातोपर शातिपूर्वक विचार करना आवश्यक है, और फिर उससे निकलनेवाले अनुमानोको सभी लोग – और विशेषत वे लोग, कि जिन्होंने यह विचार सादृश्यका प्रश्न प्रथम उपस्थित किया है – आनद-पूर्वक तथा पक्षपात-रहित बुद्धिसे ग्रहण करें, यही न्याय्य तथा युक्तिसगत है।

नई बाइबलका ईसाई धर्म, यहुदी बाइबल अर्थात् प्राचीन बाइबलमें प्रति-पादित प्राचीन यहुदी धर्मका सुधरा हुआ रूपातर है। यहुदी भाषामें ईश्वरको 'इलोहा' (अरबीमें 'इलाह') कहते है – परतु मोजेसने जो नियम बना दिये है, उनके अनुसार यहुदी धर्मके मुख्य उपास्य देवताकी विशेष सज्ञा 'जिहोव्हा' है। पश्चिमी पडितोंनेही अब निश्चय किया है, कि यह 'जिहोव्हा' शब्द असलमें यहुदी नही है, किंतु खाल्दी भाषाके 'यव्हे' (सस्कृत यह्व) शब्दसे निकला है। यहुदी लोग मूर्ति-पूजक नही है। उनके धर्मका मुख्य आचार यह है, कि अग्निमें पशु या अन्य वस्तुओंका हवन करें, ईश्वरके बतलाये हुए नियमोका पालन करके जिहोव्हाको सतुष्ट करें, और उसके द्वारा इस लोकमें अपना तथा अपनी जातिका कल्याण प्राप्त करें। अर्थात् सक्षेपमें कहा जा सकता है, कि वैदिक धर्मीय कर्मकाडके समान यहुदी धर्मभी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। उसके विरुद्ध ईसाका अनेक स्थानोपर उपदेश है, कि "मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नही चाहिये, मैं (ईश्वरकी) कृपा चाहता हूँ" (मेथ्यू ९ १३), "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनोको साध लेना सभव नही" (मेथ्यू ६ २४), "जिसे अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेनी हो, उसे स्त्री-बच्चे छोड करके मेरा भक्त होना चाहिये" (मेथ्यू १९ २१), और जब ईसाने अपने शिष्योंको धर्मप्रचारार्थ देश-विदेशमें भेजा, तब सन्यास-धर्मके इन नियमोका पालन करनेके लिये उनको उपदेश किया कि "तुम अपने पास सोना, चाँदी तथा बहुतसे वस्त्रप्रावरणभी न रखना" (मेथ्यू १० ९-१३)। यह सच है, कि अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रोंने ईसाके इन सब उपदेशोको लपेट कर ताकमें रख दिया है, परतु जिस प्रकार आधुनिक शकराचार्यके हाथी-घोडे रखनेसे शाकर-सप्रदाय दरबारी नही

कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रोंके इस आचरणसे मूल ईसाई धर्मके विषयमेंभी यह नही कहा जा सकता, कि वह धर्मभी प्रवृत्ति-प्रधान था। मूल वैदिक धर्मके कर्मकाडात्मक होनेपरभी जिस प्रकार उसमे आगे चल कर ज्ञानकाडका उदय हो गया, उसी प्रकार यहूदी तथा ईसाई धर्मका सबध है। परतु वैदिक कर्मकाडमें धीरे धीरे, क्रमश ज्ञानकाडकी और फिर भक्ति-प्रधान भागवत धर्मकी उत्पत्ति एव वृद्धि सैकडो वर्षों तक होती रही है, किंतु यह वात ईसाई धर्ममें नही है। इतिहाससे पता चलता है, कि ईसाके अधिकसे अधिक लगभग दो सौ वर्ष पहले **एसी या एसीन** नामक सन्यासियोका पथ यहुदियोके देशमें एकाएक आविर्भूत हुआ था। ये एसी लोग थे तो यहुदी धर्मकेही, परतु हिंसात्मक यज्ञयागको छोडकर ये अपना समय किसी शात स्थानमें वैठे परमेश्वरके चिंतनमें विताया करते थे, और उदरपोषणार्थ कुछ करना पडा, तो खेतीके समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्य-मासंसे परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, सघके साथ मठमें रहना और किसीको कुछ द्रव्य मिल जाय, तो उसे पूरे सघकी सामाजिक आमदनी समझना आदि, उनके पथके मुख्य तत्त्व थे, और यदि कोई उस मडलीमे प्रवेश करना चाहता था, तो उसे तीन वर्ष तक उम्मीदवारी करके फिर कुछ शर्तें मजूर करनी पडती थी – उनका प्रधान मठ मृत-समुद्रके पश्चिमी किनारे एगदीमें था। वही पर वे सन्यास-वृत्तिसे शातिपूर्वक रहा करते थे। स्वय ईसाने तथा उसके शिष्योंने नई वाइवलमें एसी पथके मतोका जो मान्यतापूर्वक निर्देश किया है (मेथ्यू ५ ३४, १९ १२, जेम्स ५ १२ कृत्य ४ ३२–३५), उससे दीख पडता है, कि ईसाभी इसी पथका अनुयायी था, और इस पथके सन्यास-धर्मकाही उसने अधिक प्रचार किया है। यद्यपि ईसाके सन्यास-प्रधान भक्ति-मार्गकी परपरा इस प्रकार एसी पथकी परपरासे मिला दी जावे, तोभी ऐतिहासिक दृष्टिसे इस वातकी कुछ-न-कुछ सयुक्तिक उपपत्ति वतलाना आवश्यक है, कि मूल कर्ममय यहुदी धर्मसे सन्यास-प्रधान एसी पथका उदय कैसे हो गया ? इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि ईसा एसीन-पथी नही था। अव जो इस वातको सच मान ले, तो यह प्रश्न नही टाला जा सकता, कि नई वाइवलमें जिस सन्यास-प्रधान धर्मका वर्णन किया गया है, उसका मूल क्या है ? अथवा कर्म-प्रधान यहुदी धर्ममें उसका प्रादुर्भाव एकदम कैसे हो गया ? इसमें भेद केवल इतनाही होता है, कि एसीन पथकी उत्पत्तिवाले प्रश्नके वदले इस प्रश्नको हल करना पडता है। क्योकि, अव समाजशास्त्रका यह मामूली सिद्धान्त निश्चित हो गया है, कि "कोईभी वात किसीभी स्थानमें एकदम उत्पन्न नही हो जाती, उसकी वृद्धि धीरे धीरे तथा वहुत दिन पहलेसे हुआ करती है, और जहाँ-पर इस प्रकारकी वृद्धि दीख नही पडती, वहाँपर वह वात प्राय पराये देशो या पराये लोगोंसे ली हुई होती है।" प्राचीन ईसाई ग्रथकारोंके ध्यानमे यह अडचन आईही न हो, सो वात नही, परतु यूरोपियन लोगोका वौद्ध धर्मका ज्ञान होनेके पहले –

अर्थात् अठारहवी सदीतक – शोधक ईसाई विद्वानोका यह मत था, कि यूनानी तथा यहुदी लोगोका पारस्परिक निकट संबंध हो जानेपर यूनानियोंके – विशेषत पायथागोरसके – तत्त्वज्ञानकी बदौलत कर्ममय यहुदी धर्ममें एसी लोगोंके सन्यास-मार्गका प्रादुर्भाव हुआ होगा। किंतु अर्वाचीन शोधोंसे यह सिद्धान्त सत्य नही माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञमय यहुदी धर्महीमें एकाएक सन्यास-प्रधान एसी या ईसाई धर्मकी उत्पत्ति हो जाना स्वभावत संभव नही था, और उसके लिये यहूदी धर्मसे बाहरका कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हो चुका है – यह कल्पना नई नही है, किंतु ईसाकी अठारहवी सदीसे पहलेके ईसाई पंडितोकोभी वह मान्य हो चुकी थी।

कोलब्रुक साहबने* कहा है, कि पायथागोरसके तत्त्वज्ञानके साथ बौद्ध धर्मके तत्त्वज्ञानकी कही अधिक समता है। अतएव यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सच मान लिया जाय, तोभी कहा जा सकेगा, कि एसी-पंथका जनकत्व परपरासे हिंदुस्थानकोही मिलता है। परंतु इतनी आनाकानी करनेकीभी अब कोई आवश्यकता नही है। बौद्ध-ग्रंथोके साथ नई बाइबलकी तुलना करनेपर स्पष्टही दीख पड़ता है, कि एसी या ईसाई धर्मकी पायथागोरियन मंडलियोंसे जितनी समता है, उससे कही अधिक और विलक्षण समता केवल एसी धर्मकीही नही, किंतु ईसाके चरित्र और ईसाके उपदेशकीभी बुद्धके धर्मसे है। जिस प्रकार ईसाको भ्रममें फँसानेका प्रयत्न शैताननें किया था, और जिस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त होनेके समय ईसाने ४० दिन उपवास किया था, उसी प्रकार बुद्ध-चरित्रमेंभी यह वर्णन है, कि बुद्धको मारका डर दिखलाकर मोहमें फँसानेका प्रयत्न किया गया था, और उस समय बुद्ध ४९ दिन (सात सप्ताह) तक निराहार रहा था। इसी प्रकार पूर्ण श्रद्धाके प्रभावसे पानीपर चलना, मुख तथा शरीरकी कांतिको एकदम सूर्य-सदृश बना लेना, अथवा शरणागत चोरो या वेश्याओंकोभी सद्‌गति देना इत्यादि बातेभी बुद्ध और ईसा, दोनोंके चरित्रोंमें एकही-सी मिलती हैं, और ईसाके जो ऐसे मुख्य मुख्य नैतिक उपदेश हैं, कि "तू अपने पडोसियो या शत्रुओंसेभी प्रेम कर," वेभी ईसासे पहलेही मूल बुद्ध धर्ममें कही कही बिलकुल अक्षरश आ चुके हैं। ऊपर बतलाही चुके हैं, कि भक्तिका तत्त्व मूल बुद्ध धर्ममें नही था, परन्तु वहभी आगे चलकर, अर्थात् कम-से-कम ईसासे दो-तीन सदियोंसे पहलेही, महायान बौद्ध-पंथमें भगवद्‌गीतासे लिया जा चुका था। मि आर्थर लिलीने अपनी पुस्तकमें आधारपूर्वक स्पष्ट करके दिखला दिया है, कि यह साम्य केवल इतनीही बातोमें नही है, बल्कि इसके सिवा बौद्ध तथा ईसाई धर्म की अन्यान्य सैंकडो छोटी-मोटी बातोमें उक्त प्रकारकाही साम्य वर्तमान है। यही क्यों, सूलीपर चढाकर ईसाका वध किया गया था, इसलिये ईसाई लोग जिस सूलीके चिन्हको पूज्य तथा पवित्र मानते हैं, उसी सूलीके चिन्हको 'स्वस्तिक' 卐

---

* See Colebrooke's Miscellaneous Essays, Vol I, pp 399-400

(साँथिया)के रूपमें वैदिक तथा बौद्ध धर्मवाले ईसाके सैकडो वर्ष पहलेसेही शुभदायक चिन्ह मानते थे, और प्राचीन शोधकोंने यह निश्चय किया है, कि मिश्र आदि, पृथ्वीके पुरातन खडोके देशोहीमे नही, किंतु कोलबससे कुछ शतक पहले अमेरिकाके पेरू तथा मेक्सिको देशमेभी स्वस्तिक चिन्ह शुभदायक माना जाता था।* इससे यह अनुमान करना पडता है, कि ईसाके पहलेही सब लोगोको स्वस्तिक चिन्ह पूज्य हो चुका था, और उसीका उपयोग आगे चल कर ईसाके भक्तोंने एक विशेष रीतिसे कर लिया है। बौद्ध भिक्षु और प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशकोकी — विशेपत पुराने पादडियोकी — पोशाक और धर्मविधिमेंभी कही अधिक समता पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'बाप्तिस्मा' अर्थात् स्नानके पश्चात् दीक्षा देनेकी विधिभी ईसासे पहलेही प्रचलित थो, और अब सिद्ध हो चुका है, कि दूर दूरके देशोमे धर्मोपदेशक भेजकर धर्म-प्रसार करनेकी पद्धति, ईसाई धर्मोपदेशकोंसे पहलेही, बौद्ध भिक्षुओको पूर्णतया स्वीकृत हो चुकी थी।

किसीभी विचारवान् मनुष्यके मनमें यह प्रश्न होना बिलकुलही स्वाभाविक है, कि बुद्ध और ईसाके चरित्रोमे तथा उनके नैतिक उपदेशोमें और उनके धर्मोकी धार्मिक विधियोतकमें यह जो अद्भुत और व्यापक समता पाई जाती है, उसका क्या कारण है?† बौद्ध धर्म-ग्रथोका अध्ययन करनेसे जब पहले पहल यह समता पश्चिमी लोगोको दीख पडी, तब कुछ ईसाई पडित कहने लगे, कि बौद्ध धर्मवालोंने इन तत्त्वोको 'नेस्टोरियन' नामक ईसाई पथसे लिया होगा, कि जो एशिया खडमें प्रचलित था, परतु यह बातही सभव नही है। क्योकि नेस्टार-पथका प्रवर्तकही ईसासे लगभग सवा चार सौ वर्षके पश्चात् उत्पन्न हुआ था, और अब अशोकके शिलालेखोसे यह भली भांति सिद्ध हो चुका है, कि ईसाके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले, अर्थात् नेस्टारसे तो लगभग नौ सौ वर्ष पहले, बुद्धका जन्म हो गया था, अशोकके समय और अर्थात् सन् ईसवीसे कम-से-कम ढाई सौ वर्ष पहले, बौद्ध धर्म हिंदुस्थानमें और आसपासके देशोमें तेजीसे फैला हुआ था, एव बुद्ध-चरित आदि ग्रथभी उस समय तैयार हो चुके थे। इस प्रकार जब बौद्ध धर्मकी प्राचीनता निर्विवाद है, तब ईसाई तथा बौद्ध धर्ममे दीख पडनेवाले साम्यके विषयमें वे दोही पक्ष रह जाते है

* See The 'Secret of the Pacific' by C Reginald Enock, 1912, pp 248-252

† इस विषयपर मि आर्थर लिलीने Buddhism in Christendom नामक एक स्वतत्र ग्रथ लिखा है। इसके सिवा Buddha and Buddhism नामक ग्रथके अन्तिम चार भागोमे उन्होंने अपने मतका सक्षिप्त निरूपण स्पष्ट रूपसे किया है। हमने परिशिष्टके इस भागमें जो विवेचन किया है, उसका आधार विशेषतया यही दूसरा ग्रथ है। Buddha and Buddhism ग्रंथ The World's Epoch-makers' Series मे सन् १९०० ईसवीमें प्रसिद्ध हुआ है। इसके दसवे भागमें बौद्ध और ईसाई धर्मके कोई ५० समान उदाहरणोका दिग्दर्शन कराया है।

(१) वह साम्य स्वतन्त्र रीतिसे दोनो ओर उत्पन्न हुआ हो, अथवा (२) इन तत्त्वोको ईसाने या उसके शिष्योंने बौद्ध धर्मसे लिया हो। इसपर प्रोफेसर न्हिस्-डेविड्स्का मत है, कि बुद्ध और ईसाकी परिस्थिति एकहीसी होनेके कारण दोनो ओर यह सादृश्य आप-ही-आप स्वतन्त्र रीतिसे उत्पन्न हुआ है।* परतु, थोडा-सा विचार करनेपर यह बात सबके ध्यानमें आजावेगी, कि यह कल्पना समाधानकारक नही है। क्योकि, जब कोई नई बात किसीभी स्थानपर स्वतन्त्र रीतिसे उत्पन्न होती है, तब उसका उदय सदैव क्रमश हुआ करता है, और इसलिये उसकी उन्नतिका क्रमभी बतलाया जा सकता है। उदाहरण लीजिये – सिलसिलेवार ठीक तौरपर यह बतलाया जा सकता है, कि वैदिक कर्मकाडसे ज्ञानकाड, और ज्ञानकाड अर्थात् उपनिषदोहीसे आगे चलकर भक्ति, पातजलयोग अथवा अतमें बौद्ध धर्म कैसे उत्पन्न हुआ ? परन्तु यज्ञमय यहुदी धर्ममें सन्यास-प्रधान एसी या ईसाई धर्मका उदय उक्त प्रकारसे नही हुआ है। वह एकदम उत्पन्न हो गया है, और ऊपर बतलाही चुके है, कि प्राचीन ईसाई पडितभी यह मानते है, कि इस रीतिसे उसके एकदम उदय हो जानेमें यहुदी धर्मके अतिरिक्त कोई अन्य बाहरी कारण निमित्त रहा होगा। इसके सिवा बौद्ध, तथा ईसाई धर्ममें जो समता दीख पडती है, वह इतनी विलक्षण और पूर्ण है, कि वैसी समताका स्वतन्त्र रीतिसे उत्पन्न होना सभवभी नही है। यदि यह बात सिद्ध हो गई होती, कि उस समय यहुदी लोगोको बौद्ध धर्मका ज्ञान होनाही सर्वथा असभव था, तो बात दूसरी थी। परतु इतिहाससे सिद्ध होता है, कि सिकदरके समयसे आगे – और विशेष कर अशोकके समयमेंही (अर्थात् ईसासे लगभग २५० वर्ष पहले) – पूर्वकी ओर मिश्रके एलेक्जेंड्रिया तथा यूनानतक बौद्ध यतियोकी पहुँच हो चुकी थी। अशोकके एक शिलालेखमेही यह बात लिखी है, कि यहुदी लोगोंके तथा आसपासके देशोके यूनानी राजा एटिओकससे उसने सधि की थी। इसी प्रकार बाइबलमें (मेथ्यू २ १) वर्णन है, कि जब ईसा पैदा हुआ, तब पूर्वकी ओरके कुछ ज्ञानी पुरुष जेरूसलेम गये थे। ईसाई लोग कहते है, कि ये ज्ञानी पुरुष मगी अर्थात् ईरानी धर्मके होगे – हिदुस्थानी नही। परतु चाहे जो कहा जाय, अर्थ तो दोनोका एकही है। क्योकि, इतिहाससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि बौद्ध धर्मका प्रसार इस समयसे पहलेही कश्मीर और काबुलमे हो गया था, एव वह पूर्वकी ओर ईरान तथा तुर्किस्तानतकभी पहुँच चुका था। इसके सिवा 'प्लूटार्कने'†

---

* See Buddhist Suttas, S B E Series, Vol XI, p 163

† See Plutarch's Morals – Theosophical Essays *translated* by C N King (George Bell & Sons) pp 96–97 पाली भाषाके महावशमें (२९ ३९) यवनो अर्थात् यूनानियोंके अलसदा (योन-नगराऽलसदा) नामक शहरका उल्लेख है। उसमें यह लिखा है, कि ईसाकी सदीसे कुछ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीपमें एक मदिर बन रहा था, तब वहाँ बहुत-से बौद्ध यति उत्सवार्थ

साफ साफ लिखा है, कि ईसाके समयमे हिंदुस्थानका एक यति लालसमुद्रके किनारे और एलेक्जेंड्रियाके आसपासके प्रदेशोमें प्रतिवर्ष आया करता था। तात्पर्य इस, विषयमें अब कोई शका नही रह गई है, कि ईसासे दो-तीन सौ वर्ष पहलेही यहुदियोंके देशमें बौद्ध यतियोका प्रवेश होने लगा था, और जब यह सबध सिद्ध हो गया, तब यह बात सहजही निष्पन्न हो जाती है, कि यहुदी लोगोमें पहले सन्यास-प्रधान एसी पथका और फिर आगे चलकर सन्यासयुक्त भक्ति-प्रधान ईसाई धर्मका प्रादुर्भाव होनेके लिये बौद्ध धर्महो विशेष कारणभूत हुआ होगा। अग्रेजी ग्रथकार लिलीनेभी यही अनुमान किया है, और इसकी पुष्टिमें फ्रेंच पडित एमिल् बुर्नुफ् और रोस्नीके† इसी प्रकारके मतोका उसने अपने ग्रथोमें हवाला दिया है, एव, जर्मन देशके लिपजिकके तत्त्वज्ञानशास्त्राध्यापक प्रोफेसर सेडनने इस विषयके अपने ग्रथमेंभी उक्त मतहीका प्रतिपादन किया है। जर्मन प्रोफेसर श्रडरने अपने एक निबधमें कहा है, कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म सर्वथा एक-से नही है, यद्यपि उन दोनोकी कुछ बातोमें समता हो, तथापि अन्य बातोमें वैषम्यभी थोडा नही है, और इसी कारण बौद्ध धर्मसे ईसाई धर्मका उत्पन्न होना नही माना जा सकता। परतु यह कथन विषयसे बाहरका है, इसलिये इसमें कुछभी जान नही है। यह कोईभी नही कहता, कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म सर्वथा एक-सेही हैं। क्योकि यदि ऐसा होता, तो ये दोनो धर्म पृथक् पृथक् न माने गये होते। मुख्य प्रश्न तो यह है, कि जब मूलमें यहुदी धर्म केवल कर्ममय है, तब उसमें सुधारके रूपसे सन्यासयुक्त भक्ति-मार्गके प्रतिपादक ईसाई धर्मकी उत्पत्ति होनेके लिये कारण क्या हुआ होगा? और ईसाकी अपेक्षा बौद्ध धर्म सचमुचही प्राचीन है, उसके इतिहासपर ध्यान देनेसे यह कथन ऐतिहासिक दृष्टिसेभी सभव नही प्रतीत होता, कि सन्यास-प्रधान भक्ति और नीतिके तत्त्वोको ईसाने स्वतन्त्र रीतिसे ढूंढ निकाला हो। बाइबलमें इस बातका कहोभी वर्णन नही मिलता, कि ईसा अपनी आयुके बारहवे वर्षसे लेकर तीस वर्षकी आयुतक क्या करता था और कहाँ था? यह प्रकट है, कि उसने अपना यह समय ज्ञानार्जन, धर्मचितन और प्रवासमें बिताया होगा। अतएव विश्वासपूर्वक कौन कह सकता है, कि आयुके इस भागमें उसका बौद्ध भिक्षुओंसे प्रत्यक्ष या पर्यायसे कुछभी सबध हुआही न होगा? क्योकि, इस समय बौद्ध यतियोका दौर-दौरा यूनानतक हो चुका था। नेपालके एक बौद्ध

पधारे थे। महावशके अग्रेजी अनुवादक अलसदा शब्दसे मिश्र देशके एलेक्जेंड्रिया शहरको नही लेते। वे इस शब्दसे यहाँ उस अलसदा नामक गाँवकोही विवक्षित बतलाते हैं, कि जिसे सिकदरने काबूलमें बसाया था, परतु यह ठीक नही है, क्योकि इस छोटे-से गाँवको किसीनेभी यवनोका नगर न कहा होता। इसके सिवा ऊपर बतलाये हुए अशोकके शिलालेखहीमें यवनोंके राज्योमें बौद्ध भिक्षुओंके भेजे जानेका स्पष्ट उल्लेख है।

† See Lillie's Buddha and Buddhism, pp 158 *ff*

मठके ग्रथमे स्पष्ट वर्णन है, कि उस समय ईसा हिंदुस्थानमें आया था और वहां उसे वौद्ध धर्मका ज्ञान पाप्त हुआ। यह ग्रथ निकोलस नोटोव्हिश नामके एक रूसीके हाथ लग गया था और उसने फ्रेंच भाषामे इसका अनुवाद सन १८९४ ईसवीमें प्रकाशित किया है। वहुतेरे ईसाई पडित कहते हैं, कि नोटोव्हिशका अनुवाद सच भलेही हो,– परतु मूल ग्रथका प्रणेता कोई लफगा है, जिसने यह वनावटी ग्रथ गढ डाला है। हमाराभी कोई विशेष आग्रह नही है, कि उक्त ग्रथको ये पडित लोग सत्यही मान ले। नोटोव्हिशका मिला हुआ ग्रथ सत्य हो या प्रक्षिप्त, परतु हमने केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे जो विवेचन ऊपर किया है, उससे यह वात स्पष्टतया विदित हो जायगी, कि यदि ईसाको नही, तो कम-से-कम उसके भक्तोंको तो कि जिन्होंने नई वाइवलमें उसका चरित्र लिखा है वौद्ध धर्मका ज्ञान होना असभव नही था, और यदि यह वात असभव नही है, तो ईसा और वुद्धके चरित्र तथा उपदेशमें जो विलक्षण समता पाई जाती है, उसकी केवल स्वतत्र रीतिसे उत्पत्ति माननाभी युक्तिसगत नही जँचता।* साराश यह है, कि मीमासकोका केवल कर्म-मार्ग, जनक आदिका ज्ञानयुक्त कर्मयोग (नैष्कर्म्य), उपनिषत्कारो तथा साख्योकी ज्ञाननिष्ठा और सन्यास, चित्त-निरोध-रूपी पातजलयोग, एव पाचरात्र वा भागवत धर्म अर्थात् भक्ति, ये सभी धार्मिक अग और तत्त्व मूलमें प्राचीन वैदिक धर्मकेही हैं। इनमेंसे ब्रह्मज्ञान, कर्म और भक्तिको छोड कर, चित्त-निरोधरूपी योग तथा कर्म-सन्यास, इन्ही दोनो तत्त्वोंके आधारपर बुद्धने पहले पहल अपने सन्यास-प्रधान धर्मका उपदेश चारो वर्णोंको किया था। परतु आगे चलकर उसीमें भक्ति तथा निष्काम कर्मको मिलाकर वुद्धके अनुयायियोंने उसके धर्मका चारो ओर प्रसार किया। अशोकके समय वौद्ध धर्मका इस प्रकार प्रचार हो जानेके पश्चात् शुद्ध कर्म-प्रधान यहुदी धर्ममें सन्यास-मार्गके तत्त्वोका प्रवेश होना आरभ हुआ, और अतमे उसीमें भक्तिको मिलाकर ईसाने अपना धर्म प्रवृत्त किया है। इतिहाससे निष्पन्न होनेवाली इस परपरापर दृष्टि देनेसे, डॉक्टर लारिन-सरका यह कथन तो असत्य सिद्ध होताही है, कि गीतामें ईसाई धर्मसे कुछ वाते ली गई है, किंतु इसके विपरीत, यह वात अधिक सभवही नही, वल्कि विश्वास करने योग्यभी है, कि आत्मौपम्य-दृष्टि, सन्यास, निर्वैरत्व या भक्तिके जो तत्त्व नई बाइवलमे पाये जाते हैं, वे ईसाई धर्ममेंही बौद्ध धर्मसे – अर्थात् परपरासे वैदिक धर्मसे – लिये गये होगे, और यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि इसके लिये हिंदुओको दूसरोका मुंह ताकनेकी कभी आवश्यकता थीही नही।

---

* वाबू रमेशचद्र दत्तकाभी यही मत है, उन्होंने उसका विस्तारपूर्वक विवेचन अपने ग्रथमें किया है। Ramesh Chander Dutt's History of Civilization in Ancient India, Vol II Chap XX, pp 328–340

इस प्रकार, इस प्रकरणके आरभमें दिये हुए सात प्रश्नोका विवेचन हो चुका। अब इन्हीके साथ महत्त्वके कुछ ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं, कि हिंदुस्थानमें जो भक्तिपथ आजकल प्रचलित हैं, उनपर भगवद्गीताका क्या परिणाम हुआ है? परतु इन प्रश्नोको गीता-ग्रथसबधी कहनेकी अपेक्षा यही कहना ठीक है, कि ये हिंदु धर्मके अर्वाचीन इतिहाससे सबध रखते हैं, इसलिये, और विशेषत यह परिशिष्ट-प्रकरण थोडा थोडा करनेपरभी हमारे अदाजसे अधिक वढ गया है, इसीलिये. अव यहीपर गीताकी वहिरग परीक्षा समाप्त की जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

गीताके मूल श्लोक, हिंदी अनुवाद और टिप्पणियाँ

उपोद्घात

ज्ञानसे और श्रद्धासे – उसमेंभी विशेषत भक्तिके सुलभ राजमार्गसे जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसग्रहके निमित्त स्वधर्मानुसार अपने अपने कर्म निष्कामबुद्धिसे मरणपर्यंत करते रहनाही प्रत्येक मनुष्यका परम कर्तव्य है, उसीमे उसका सासारिक और पारलौकिक परम कल्याण है, तथा उसे मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्म छोड बैठनेकी अथवा और कोईभी दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नही है – समस्त गीताशास्त्रका यही फलितार्थ है, जो गीतारहस्यमें प्रकरणश विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है। इसी प्रकार चौदहवे प्रकरणमें यहभी दिखला चुके हैं, कि उल्लिखित उद्देश्यसे गीताके अठारह अध्यायोका मेल कैसे अच्छा और सरल मिल जाता है, एव इस कर्मयोग-प्रधान गीता-धर्ममें अन्यान्य मोक्ष-साधनोंके कौन-कौन-से भाग किस प्रकार आये हैं। इतना कह चुकनेपर, वस्तुत इससे अधिक काम नही रह जाता, कि गीताके श्लोकोका हमारे मतानुसार क्रमश हिंदी भाषामें सरल अर्थ बतला दिया जावे। किंतु गीतारहस्यके सामान्य विवेचनमें यह बतलाते न बनता था, कि गीताके प्रत्येक अध्यायके विषय-विभाग कैसे किये गये हैं? अथवा टीकाकारोने अपने सप्रदायकी सिद्धिके लिये गीताके कुछ विशेष श्लोकोंके पदोकी किस प्रकार खीचातानी की है, अत इन दोनो बातोका विचार करके और जहांका तहां पूर्वापर सदर्भ दिखला देनेके लियेभी अनुवादके साथ साथ आलोचनाके ढँगपर कुछ टिप्पणियोंके देनेकी आवश्यकता हुई। फिरभी जिन विषयोका गीतारहस्यमें विस्तृत वर्णन हो चुका है, उनका केवल दिग्दर्शन करा दिया है, और गीतारहस्यके जिस प्रकरणमें उस विषयका विचार किया गया है, उसका सिर्फ हवाला दे दिया है। ये टिप्पणियां मूल ग्रथसे अलग पहचान ली जा सके, इसके लिये उन्हे ऐसे [ ] चौकोन कोष्टकोंके भीतर रखा गया है और उनके पीछे टूटी हुई खडी रेखाएँभी लगा दी गयी हैं। श्लोकोका अनुवाद, जहांतक बना पडा है शब्दश किया गया है, और कितनेही स्थलोपर तो मूलकेही शब्द रख दिये गये है, एव 'अर्थात्, याने 'से जोडकर उनका अर्थ खोल दिया है, और छोटी-मोटी टिप्पणियोका काम अनुवादसेही निकाल लिया गया है। इतना करनेपरभी सस्कृतकी और हिंदीकी भाषाप्रणाली भिन्न भिन्न है, इस कारण, मूल सस्कृत श्लोकका पूर्ण अर्थ व्यक्त करनेके लिये हिंदीमें कुछ अधिक शब्दोका प्रयोग अवश्य करना पडता है, और अनेक स्थलोपर मूलके शब्दको अनुवादमें प्रमाणार्थ लेना पडता है। इन शब्दोपर ध्यान जमनेके लिये ऐसे ( ) गोलाकार कोष्टकमें ये शब्द रखे गये है। सस्कृत ग्रथोमे श्लोकका आंकडा श्लोकके अतमें रहता है, परतु अनुवादमें हमने उसे आरभमे रखा है। अत किसी श्लोकका अनुवाद देखना हो,

तो अनुवाद उस अकके आगेका वाक्य पढना चाहिये। अनुवादकी रचना प्राय ऐसी की गई है, कि टिप्पणी छोडकर निरा अनुवादही पढते जायें, तो अर्थमें कहीभी कोई व्यतिक्रम न पडे। इसी प्रकार जहाँ मूलमें एकही वाक्य एकसे अधिक श्लोकोमें पूरा हुआ है, वहाँ उतनेही श्लोकोंके अनुवादमें वह अर्थ पूर्ण किया गया है। अतएव कुछ श्लोकोका अनुवाद मिलाकरही पढना चाहिये। ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ है, वहाँ वहाँ श्लोकके अनुवादमें पूर्णविराम चिन्ह (।) नही लगाया गया है। फिरभी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अतमें अनुवादही है। हमने अपने अनुवादमें गीताके सरल, खुले और प्रधान अर्थको ले आनेका प्रयत्न किया है सही, परतु सस्कृत शब्दोमें और विशेषत भगवानकी प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षणमें नई रुचि देनेवाली वाणीमें, लक्षणासे अनेक व्यग्यार्थ उत्पन्न करनेकी जो सामर्थ्य है, उसे जराभी न घटा-वढाकर दूसरे शब्दोमें ज्यो-का-त्यो अनुवादमें झलका देना असभव है, अर्थात् सस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरोपर लक्षणासे गीताके श्लोकोका जैसे उपयोग करेगा, वैसे गीताका निरा अनुवाद पढनेवाले पुरुष नही कर सकेगे। अधिक क्या कहे ? सभव है, कि वे गोताभी खा जायँ। अतएव सब लोगोंसे हमारी आग्रहपूर्वक विनती है, कि मूल गीता-ग्रथका अध्ययन सस्कृतमेंही अवश्य कीजिये, और अनुवादके साथही साथ मूल श्लोक रखनेका प्रयोजनभी यही है। गीताके प्रत्येक अध्यायके विपयका सुविधासे ज्ञान होनेके लिये इन सब विपयोकी– अध्यायोके क्रमसे प्रत्येक श्लोककी – अनुक्रमणिकाभी पहले अलग दे दी है। यह अनुक्रमणिका वेदान्त-सूत्रोकी अधिकरण-मालाके ढँगकी है। प्रत्येक श्लोक पृथक् पृथक् न पढकर, अनुक्रमणिकाके इस सिलसिलेसे गीताके श्लोक एकत्र पढनेपर गीताके तात्पर्यके सवधमें जो भ्रम फैला है, वह कई अशोमें दूर हो सकता है। क्योकि, साप्रदायिक टीकाकारोंने गीताके श्लोकोकी खीचातानी कर अपने सप्रदायकी सिद्धिके लिये कुछ श्लोकोंके जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्राय इस पूर्वापर सदर्भकी ओर दुर्लक्ष करकेही किये गये है। उदाहरणार्थ, गीता ३ १९, ६ ३, १८ २ देखिये। इस दृष्टिसे देखें तो यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि गीताका यह अनुवाद और गीतारहस्य, दोनो परस्पर एक दूसरेकी पूर्ति करते हैं, और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनो भागोका अवलोकन करना चाहिये। भगवद्गीता ग्रथको कठस्थ कर लेनेकी रीति प्रचलित है, इसलिये उसमें महत्त्वके पाठभेद कहीभी नही पाये जाते है। फिरभी यह वतलाना आवश्यक है, कि वर्तमानकालमें गीतापर उपलब्ध होनेवाले भाष्योमें जो सवसे प्राचीन भाष्य है, उसी शाकरभाष्यके मूल पाठोको हमने प्रमाण माना है।

गीताके अध्यायोंकी श्लोकशः विषयानुक्रमणिका

[टिप्पणी – इस अनुक्रमणिकामें गीताके अध्यायोंके, विषयोंके, श्लोकोंके क्रमसे जो विभाग किये गये गये हैं, वे मूल संस्कृत श्लोकोंके पहले §§ इस चिन्हसे दिखलाये गये हैं, और अनुवादमें ऐसे श्लोकोंसे अलग परिच्छेद शुरू किया गया है।]

पहला अध्याय – अर्जुनविषादयोग

१ संजयसे धृतराष्ट्रका प्रश्न। २–११ दुर्योधनका द्रोणाचार्यसे दोनो दलोंकी सेनाओंका वर्णन करना। १२–१९ युद्धके आरंभमें परस्पर सलामीके लिये शंख-ध्वनि। २०–२७ अर्जुनका रथ आगे ले जाकर सैन्यनिरीक्षण। २८–३७ दोनो सेनाओंमें अपनेही बांधव हैं, उनको मारनेसे कुलक्षय होगा, यह सोचकर अर्जुनको विषाद हुआ। ३८–४४ कुलक्षय प्रभृति पातकोंका परिणाम। ४५–४७ युद्ध न करनेका अर्जुनका निश्चय और धनुर्बाणत्याग।

दूसरा अध्याय – सांख्ययोग

१–३ श्रीकृष्णका उत्तेजन। ४–१० अर्जुनका उत्तर, कर्तव्यमूढता और धर्म-निर्णयार्थ श्रीकृष्णके शरणापन्न होना। ११–१३ आत्माका अशोच्यत्व। १४, १५ देह और सुखदुःखकी अनित्यता। १६–२५ सदसद्विवेक और आत्माके नित्यादि स्वरूपकथनसे उसके अशोच्यत्वका समर्थन। २६, २७ आत्माके अनित्यत्व पक्षको उत्तर। २८ सांख्यशास्त्रानुसार व्यक्त भूतोंका अनित्यत्व और अशोच्यत्व। २९, ३० लोगोंको आत्मा दुर्ज्ञेय है सही, परंतु तू सत्य ज्ञानको प्राप्तकर, शोक करना छोड दे। ३१–३८ क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकता। ३९ सांख्य-मार्गानुसार विषय-प्रतिपादनकी समाप्ति और कर्मयोगके प्रतिपादनका आरंभ। ४० कर्मयोगका स्वल्प आचरणभी क्षेमकारक है। ४१ व्यवसायात्मिका बुद्धिकी स्थिरता। ४२–४४ कर्मकांडके अनुयायी मीमांसकोंकी अस्थिर बुद्धिका वर्णन। ४५, ४६ स्थिर और योगस्थ बुद्धिसे कर्म करनेके विषयमें उपदेश। ४७ कर्मयोगकी चतुःसूत्री। ४८–५० कर्मयोगका लक्षण और कर्मकी अपेक्षा कर्ताकी बुद्धिकी श्रेष्ठता। ५१–५३ कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति, ५४–७० अर्जुनके पूछनेपर, कर्मयोगी स्थितप्रज्ञके लक्षण, और उसीमें प्रसंगानुसार विषयासक्तिसे काम आदिकी उत्पत्तिका क्रम। ७१, ७२ ब्राह्मी स्थिति।

तीसरा अध्याय – कर्मयोग

१, २ अर्जुनका यह प्रश्न, कि कर्मोको छोड देना चाहिये या करते रहना चाहिये, सच क्या है ? ३–८ यद्यपि साख्य (कर्म-सन्यास) और कर्मयोग, दो निष्ठाएँ है, तोभी कर्म किसीके नही छूटते, इसलिये कर्मयोगकी श्रेष्ठता सिद्ध करके अर्जुनको उसीके आचरण करनेका निश्चित उपदेश। ९–१६ मीमासकोंके यज्ञार्थ कर्मकोभी आसक्ति छोडकर करनेका उपदेश, यज्ञचक्रका अनादित्व और जगत्के धारणार्थ उसकी आवश्यकता । १७–१९ ज्ञानी पुरुषमें स्वार्थ नही होता, इसीलिये प्राप्त कर्मोको वह नि स्वार्थ अर्थात् निष्काम-बुद्धिसे किया करे, क्योकि कर्म किसीकेभी नही छूटते। २०–२४ जनक आदिका उदाहरण, लोकसग्रहका महत्त्व और स्वय भगवानका दृष्टान्त। २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोमें भेद, एव यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानीको सदाचरणका आदर्श दिखलावे। ३० ज्ञानी पुरुषके समान परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे युद्ध करनेका अर्जुनको उपदेश। ३१, ३२ भगवानके इस उपदेशके अनुसार श्रद्धापूर्वक वर्ताव करने अथवा न करनेका फल। ३३, ३४ प्रकृतिकी प्रवलता और इद्रियनिग्रह। ३५ निष्काम कर्मभी स्वधर्मकाही करे, उसमें यदि मृत्यु हो जाय, तो कोई परवाह नही। ३६–४१ कामही मनुष्यको उसकी इच्छाके विरुद्ध पाप करनेके लिये उकसाता है, इद्रियसयमसे उसका नाश। ४२, ४३ इद्रियोकी श्रेष्ठताका क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन।

चौथा अध्याय – ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग

१–३ कर्मयोगकी सप्रदाय-परपरा –। ४–८ जन्मरहित परमेश्वर मायासे दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेता है – इसका वर्णन। ९, १०, इस दिव्य जन्मका और कर्मका तत्त्व जान लेनेसे पुनर्जन्म छूटकर भगवद्प्राप्ति। ११, १२ अन्य रीतिसे भजे तो वैसा फल, उदाहरणार्थ, इस लोकके फल पानेके लिये देवताओकी उपासना। १३–१५ भगवानके चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म, उनके तत्त्वको जान लेनेसे कर्मबधका नाश और वैसे कर्म करनेके लिये उपदेश। १६–२३ कर्म, अकर्म और विकर्मका भेद, अकर्मही नि सग कर्म है। वही सच्चा कर्म है, और उसीसे कर्मबधका नाश होता है। २४-३३ अनेक प्रकारके लाक्षणिक यज्ञोका वर्णन, और ब्रह्म-बुद्धिसे किये हुए यज्ञकी अर्थात् ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता। ३४–३७ ज्ञातासे ज्ञानोपदेश, ज्ञानसे आत्मौपम्य-दृष्टि और पापपुण्यका नाश। ३८–४० ज्ञान प्राप्तिके उपाय – बुद्धि(- योग) और श्रद्धा। इसके अभावमें नाश। ४१, ४२ (कर्म -) योग और ज्ञानका पृथक् उपयोग बतलाकर दोनोंके आश्रयसे युद्ध करनेके लिये उपदेश।

पाँचवाँ अध्याय – संन्यासयोग

१, २ यह स्पष्ट प्रश्न, कि सन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग ? इसपर भगवानका यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनो हैं, पर उनमेंसे कर्मयोगही श्रेष्ठ है। ३–६ सकल्पोको छोड देनेसे कर्मयोगी नित्य-सन्यासीही होता है, और बिना कर्मके सन्यासभी सिद्ध नही होता। इसलिये तत्त्वत दोनो एकही हैं। ७–१३ मन सदैव सन्यस्त रहता है, और कर्म केवल इद्रियाँ किया करती हैं, इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शात और मुक्त रहता है। १४, १५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृतिका है, परतु अज्ञानसे आत्माका अथवा परमेश्वरका समझा जाता है। १६, १७ इस अज्ञानके नाशसे पुनर्जन्मसे छुटकारा। १८–२३ ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होनेवाले समदर्शित्वका, स्थिर बुद्धिका और सुखदु खकी क्षमताका वर्णन। २४-२८ सर्वभूत-हितार्थ कर्म करते रहनेपर भी कर्मयोगी इसी लोकमें सदैव ब्रह्मभूत, समाधिस्थ और मुक्त है। २९ (कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर) परमेश्वरको यज्ञ-तपका भोक्ता और सब भूतोका मित्र जान लेनेका फल।

छठा अध्याय – ध्यानयोग

१, २ फलाशा छोडकर कर्तव्य करनेवालाही सच्चा सन्यासी और योगी है। सन्यासीका अर्थ निरग्नि और अक्रिय नही है। ३, ४ कर्मयोगीकी साधनावस्थामें और सिद्धावस्थामें शम एव कर्मके कार्य-कारणका बदल जाना तथा योगारूढका लक्षण। ५, ६ योगको सिद्ध करनेके लिये आत्माकी स्वतत्रता। ७–९ जितात्म योगयुक्तोमेंभी सम-बुद्धिकी श्रेष्ठता। १०–१७ योगसाधनके लिये आवश्यक आसन और आहारविहारका वर्णन। १८–२३ योगीके और योगसमाधिके आत्यतिक सुखका वर्णन। २४–२६ मनको धीरे धीरे समाधिस्थ, शात और आत्मनिष्ठ कैसे करना चाहिये ? २७, २८ योगीही ब्रह्मभूत और अत्यत सुखी है। २९–३२ प्राणि-मात्रमें योगीकी आत्मौपम्य-बुद्धि। ३३–३६ अभ्यास और वैराग्यसे चचल मनका निग्रह। ३७–४५ अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस विषयका वर्णन, कि योगभ्रष्टको अथवा जिज्ञासुकोभी जन्मजन्मातरमें उत्तम फल मिलनेसे अतमें पूर्ण सिद्धि कैसे मिलती है ? ४६, ४७ तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मोकी अपेक्षा कर्मयोगी – और उनमेंभी भक्तिमान् कर्मयोगी – श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुनको (कर्म-)योगी होनेके विषयमें उपदेश।

सातवाँ अध्याय – ज्ञान-विज्ञानयोग

१–३ कर्मयोगकी सिद्धिके लिये ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरंभ। सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोका कम मिलना। ४–७ क्षराक्षरविचार। भगवानकी

अष्टधा अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति उससे आगे सारा विस्तार। ८–१२ विस्तारके सात्त्विक आदि सब भागोंमें गुथे हुए परमेश्वरस्वरूपका दिग्दर्शन। १३ – १५ परमेश्वरकी यही गुणमयी और दुस्तर माया है, और उसीके शरणागत होनेपर मायासे उद्धार होता है। १६–१९ भक्त चतुर्विध है, उनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। अनेक जन्मोंमे ज्ञानकी पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल। २०–२३ अनित्य काम्य-फलोंके निमित्त देवताओंकी उपासना, परतु उसमेंभी उनकी श्रद्धाका फल भगवानही देते हैं। २४–२८ भगवानका सत्य-स्वरूप अव्यक्त है, परतु मायाके कारण और द्वद्वमोहके कारण वह दुर्ज्ञेय है। मायामोहके नाशसे स्वरूपका ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, और अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सब एक परमेश्वरही है – यह जान लेनेसे अततक ज्ञानसिद्धि हो जाती है।

आठवाँ अध्याय – अक्षर-ब्रह्मयोग

१–४ अर्जुनके प्रश्न करनेपर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेहकी व्याख्याएँ। उन सबमे एकही ईश्वर है। ५–८ अतकालमें भगवत्स्मरणसे मुक्ति। परतु जो मनमें नित्य रहता है, वही अतकालमेंभी रहता है, अतएव सदैव भगवानका स्मरण करने और युद्ध करनेके लिये उपदेश। ९-१३ अतकालमें परमेश्वरका अर्थात् ॐकारका समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल १४–१६ भगवानका नित्य चिंतन करनेसे पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नही है। १७–१९ ब्रह्मका दिन-रात, दिनके आरभमें अव्यक्तसे सृष्टिकी उत्पत्ति और रात्रिके आरभमें उसीमे लय। २०–२२ इस अव्यक्तसेभी परेका अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्तिसे उनका ज्ञान और उसकी प्राप्तिसे पुनर्जन्मका नाश। २३–२६ देवयान और पितृयाणमार्ग, पहला पुनर्जन्मनाशक है और दूसरा इसके विपरीत है। २७, २८ इन मार्गोंके तत्त्वको जाननेवाले योगीको अत्युत्तम फल मिलता है, अत तदनुसार सदा व्यवहार करनेका उपदेश।

नौवाँ अध्याय – राजविद्या-राजगुह्ययोग

१–३ ज्ञान-विज्ञानयुक्त भक्ति-मार्ग मोक्षप्रद होनेपरभी प्रत्यक्ष और सुलभ है। अतएव राजमार्ग है। ४–६ परमेश्वरकी अपार योगसामर्थ्य। प्राणिमात्रमें रहकरभी उनमें नही है, और प्राणिमात्रभी उसमें रहकर नही है। ७–१० मायात्मक प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति और सहार, भूतोकी उत्पत्ति और लय। इतना करनेपरभी वह निष्काम है, अतएव अलिप्त है। ११, १२ इसे विना पहचाने, मोहमें फँसकर, मनुष्यदेहधारी परमेश्वरकी अवज्ञा करनेवाले मूर्ख और आसुरी हैं। १३–१५ ज्ञानयज्ञके द्वारा अनेक प्रकारसे उपासना करनेवाले दैवी है। १६–१९ ईश्वर सर्वत्र है, वही जगत्का माँ-बाप है, स्वामी है, पोषक है और भले-बुरेका कर्ता है।

२०–२२ श्रौत यज्ञयाग आदिका दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है, तोभी वह फल अनित्य है। योगक्षेमके लिये यदि आवश्यक समझें तो वह भक्तिसेभी साध्य है। २३–१५ अन्यान्य देवताओकी भक्ति पर्यायसे परमेश्वरकीही होती है, परतु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा, फलभी वैसाही मिलेगा। २६ भक्ति हो, तो परमेश्वर फूलकी पँखुरीसेभी सतुष्ट हो जाता है। २७, २८ सब कर्मोको ईश्वरार्पण करनेका उपदेश। उसीके द्वारा कर्मबधसे छुटकारा और मोक्ष। २९–३३ परमेश्वर सबको एक-सा है। दुराचारी हो या पापयोनि, स्त्री हो, या वैश्य या शूद्र, निसीम भक्त होनेपर सबको एकही गति मिलती है। ३४ यही मार्ग अगीकार करनेके लिये अर्जुनको उपदेश।

दसवॉ अध्याय – विभूतियोग

१–३ यह जान लेनेसे पापका नाश होता है, कि अजन्मा परमेश्वर देवताओ और ऋषियोसेभी पूर्वका है। ४–६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वरसेही बुद्धि आदि भावोकी, सप्तर्षियोकी और मनुकी, एव परपरासे सबकी, उत्पत्ति। ७–११ इसे जाननेवाले भगवद्भक्तोको ज्ञान-प्राप्ति, परतु उन्हेभी बुद्धि-सिद्धि भगवानही देते है। १२–१८ अपनी विभूति और योग बतलानेके लिये भगवानसे अर्जुनकी प्रार्थना। १९–४० भगवानकी अनत विभूतियोमेंसे मुख्य मुख्य विभूतियोका वर्णन। ४१, ४२ जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है, परतु अशसे है।

ग्यारहवॉं अध्याय – विश्वरूप-दर्शनयोग

१–४ पूर्व अध्यायमें बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूपको दिखलानेके लिये भगवानसे प्रार्थना। ५–८ इस आश्चर्यकारक और दिव्य रूपको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्य-दृष्टि-ज्ञान। ९–१४ विश्वरूपका सजयकृत वर्णन। १५–३१ विस्मय और भयसे नम्र होकर अर्जुनकृत विश्वरूप-स्तुति और यह प्रार्थना, कि प्रसन्न होकर बतलाइये, कि "आप कौन है?" ३२–३४ पहले यह बतलाकर, कि "मै काल हूँ" फिर अर्जुनको उत्साहजनक ऐसा उपदेश, कि पूर्वसेही इस कालके-द्वारा ग्रसे-हुए वीरोको तुम निमित्त बनकर मारो। ३५–४६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा, प्रार्थना और पहलेका सौम्य रूप दिखलानेके लिये विनय। ४७–५१ विना अनन्य-भक्तिके विश्वरूपका दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्व स्वरूप-धारण। ५२–५४ विना भक्तिके विश्वरूपका दर्शन देवताओकोभी नही हो सकता। ५५ अत भक्तिसे निस्सग और निर्वैर होकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिके द्वारा कर्म करनेके विषयमें अर्जुनको सर्वार्थ-सारभूत अतिम उपदेश।

बारहवॉ अध्याय – भक्तियोग

१ पिछले अध्यायके अतिम सारभूत उपदेशपर अर्जुनका प्रश्न – व्यक्तोपासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना? २–८ दोनोमें गति एकही है, परतु अव्यक्तो-

पासना क्लेशकारक है, और व्यक्तोपासना सुलभ एव शीघ्र-फलप्रद है। अत निष्काम कर्मपूर्वक व्यक्तोपासना करनेके विषयमें उपदेश। ९–१२ भगवानमें चित्तको स्थिर करनेके अभ्यास, ज्ञान-ध्यान इत्यादि उपाय और उनमें कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता। १३–१९ भक्तिमान् पुरुषकी स्थितिका वर्णन और भगवत्प्रियता। २० इस धर्मका आचरण करनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवानको अत्यत प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग

१, २ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी व्याख्याएँ। उनका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है। ३, ४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार उपनिषदोका और ब्रह्मसूत्रोका है। ५, ६ क्षेत्र-स्वरूप-लक्षण। ७–११ ज्ञानका स्वरूप-लक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान।१२–१७ ज्ञेयके स्वरूपका लक्षण। १८ इस सवको जान लेनेका फल। १९–२१ प्रकृति-पुरुष-विवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है, पुरुष अकर्ता किंतु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२, २३ पुरुषही देहमें परमात्मा है। इस प्रकृति-पुरुष-ज्ञानसे पुनर्जन्म नष्ट होता है। २४, २५ आत्मज्ञानके मार्ग – ध्यान, साख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवणसे भक्ति। २६–२८ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके सयोगसे स्थावर-जगम सृष्टि, उसमें जो अविनाशी हैं, वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्नसे उसकी प्राप्ति। २९ ३० करने-धरनेवाली प्रकृति है, और आत्मा अकर्ता है, सव प्राणिमात्र एकमें हैं, और एकसे सव प्राणिमात्र होते हैं। यह जान लेनेसे ब्रह्म-प्राप्ति। ३१–३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव यद्यपि वह क्षेत्रका प्रकाशक है, तथापि निर्लेप है। ३४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको जान लेनेसे परम सिद्धि।

चौदहवाँ अध्याय – गुणत्रयविभागयोग

१, २ ज्ञान-विज्ञानान्तर्गत प्राणिवैचित्र्यका गुणभेदसे विचार। वहभी मोक्षप्रद है। ३, ४ प्राणिमात्रका पिता परमेश्वर है, और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५–९ प्राणिमात्रपर सत्त्व, रज और तमके होनेवाले परिणाम। १०–१३ एक एक गुण अलग नही रह सकता। किन्ही दोको दवाकर तीसरेकी वृद्धि, और प्रत्येककी वृद्धिके लक्षण। १४–१८ गुण-प्रवृद्धिके अनुसार कर्मके फल और मरनेपर प्राप्त होनेवाली गति। १९, २० त्रिगुणातीत हो जानेसे मोक्ष-प्राप्ति। २१–२५ अर्जुनके प्रश्न करनेपर त्रिगुणातीतके लक्षणका और आचारका वर्णन। एकान्त-भक्तिसे त्रिगुणातीत अवस्थाकी सिद्धि, और फिर सव मोक्षके, धर्मके, एव सुखके अतिम स्थान परमेश्वरकी प्राप्ति।

पंद्रहवाँ अध्याय – पुरुषोत्तमयोग

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्षके वेदोक्त और साख्योक्त वर्णनका मेल। ३–६ असगसे इसको काट डालनाही उससे परेके अव्यक्त पदकी प्राप्तिका मार्ग है। अव्यय

पदवर्णन। ७–११ जीव और लिगशरीरका स्वरूप एव सबध। ज्ञानीके लिये गोचर है। १२–१५ परमेश्वरकी सर्वव्यापकता। १६–१८ क्षराक्षरलक्षण। उससे परे पुरुषोत्तम। १९,२० इस गुह्य पुरुषोत्तम-ज्ञानसे सर्वज्ञता और कृतकृत्यता।

सोलहवाँ अध्याय – दैवासुरसम्पद्विभागयोग

१–३ दैवी सपत्तिके छब्बीस गुण। ४ आसुरी सपत्तिके लक्षण। ५ दैवी सपत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बधनकारक है। ६–२० आसुरी लोगोका विस्तृत वर्णन, उनको जन्म जन्ममें अधोगति मिलती है। २१, २२ नरकके त्रिविध द्वार – काम, क्रोध और लोभ। इनसे वचनेमें कल्याण है। २३, २४ शास्त्रानुसार कार्या-कार्यका निर्णय और आचरण करनेके विषयमें उपदेश।

सत्रहवाँ अध्याय – श्रद्धात्रयविभागयोग

१–४ अर्जुनके पूछनेपर प्रकृति-स्वभावानुरूप सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धाका वर्णन। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। ५, ६ इनसे भिन्न आसुर। ७–१० सात्त्विक, राजस और तामस आहार। ११–१३ त्रिविध यज्ञ। १४–१६ तपके तीन भेद – शारीर, वाचिक और मानस। १७–१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदोंसे प्रत्येक त्रिविध है। २०–२२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान। २३ ॐ तत्सत् ब्रह्मनिर्देश। २४–२७ इनमें 'ॐ'से आरम्भसूचक, 'तत्'से निष्काम और 'सत्'से प्रशस्त कर्मका समावेश होता है। २८ शेष, अर्थात् असत् इहलोक और परलोकमें निष्फल है।

अठारहवाँ अध्याय – मोक्ष-संन्यासयोग

१, २ अर्जुनके पूछनेपर सन्यास और त्यागकी कर्मयोग-मार्गान्तर्गत व्याख्याएँ। ३–६ कर्मका त्याज्य-अत्याज्यविषयक निर्णय, यज्ञयाग आदि कर्मोकोभी अन्यान्य कर्मोके समान नि सग-बुद्धिसे करनाही चाहिये। ७–९ कर्मत्यागके तीन भेद– सात्त्विक, राजस और तामस, फलाशा छोडकर कर्तव्य-कम करनाही सात्त्विक त्याग है। १०, ११ कर्मफलत्यागी ही सात्त्विक त्यागी है। क्योकि कर्म तो किसीसेभी छूटही नही सकता। १२ कर्मका त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुषको बधक नही होता। १३–१५ कोईभी कर्म होनेके पांच कारण है, केवल मनुष्यही कारण नही है। १६, १७ अतएव यह अहकार-बुद्धि कि मै करता हूं छूट जानेसे कर्म करनेपरभी अलिप्त रहता है। १८, १९ कर्मचोदना और कर्मसग्रहका सास्यो-क्त लक्षण और उनके तीन भेद। २०–२२ सात्त्विक आदि गुण-भेदसे ज्ञानके तीन भेद। 'अविभक्त विभक्तेषु' यह सात्त्विक ज्ञान है। २३–२५ कर्मकी त्रिविधता। फलाशारहित कर्म सात्त्विक है। २६–२८ कर्ताके तीन भेद। निस्सग कर्ता सात्त्विक है। २९–३२ बुद्धिके तीन भेद। ३३–३५ धृतिके तीन भेद। ३६–३९ सुखके

तीन भेद। आत्मबुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है। ४० गुणभेदसे सारे जगत्के तीन भेद। ४१–४४ गुणभेदसे चातुर्वर्ण्यकी उपपत्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्रके स्वभावजन्य कर्म। ४५, ४६ चातुर्वर्ण्य-विहित स्वकर्माचरणसेही अतिम सिद्धि। ४७–४९ परधर्मका आचरण भयावह है, स्वकर्म सदोष होनेपरभी अत्याज्य है, सारे कर्म स्वधर्मके अनुसार, निस्सग-बुद्धिके द्वारा करनेसेही नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है। ५०–५६ इसका निरूपण कि सारे कर्म करते रहनेभी यह सिद्धि किस प्रकार मिलती है? ५७, ५८ इसी मार्गको स्वीकार करनेके विषयमें अर्जुनको उपदेश। ५९–६३ प्रकृति-धर्मके सामने अहकारकी एक नही चलती। ईश्वरकीही शरणमें जाना चाहिये। अर्जुनको यह उपदेश, कि इस गुह्यको समझकर फिर जो दिलमें आवे, सो कर। ६४–६६ भगवानका यह अतिम आश्वासन, कि सब धर्म छोडकर 'मेरी शरणमें आ,' सब पापोसे 'मैं तुझे मुक्तकर दूंगा। ६७–६९ कर्मयोग-मार्गकी परपराको आगे प्रचलित रखनेका श्रेय। ७०, ७१ उसका फलमाहात्म्य। ७२, ७३ कर्तव्यमोह नष्ट होकर अर्जुनकी युद्ध करनेके लिये तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्रको यह कथा सुना चुकनेपर सजयकृत उपसहार।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पहला अध्याय ।

[भारतीय युद्धके आरभमें श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस गीताका उपदेश किया है, उसका आगे लोगोंमें प्रचार कैसे हुआ, इसकी परपरा वर्तमान महाभारत ग्रथमेंही इस प्रकार दी गई है – युद्धमें आरभ होनेसे प्रथम व्यासजीने धृतराष्ट्रसे जाकर कहा, कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो, तो मैं तुम्हे दृष्टि देता हूँ।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा, कि 'मैं अपने कुलका क्षय नही देखना चाहता।" तव एकही स्थानपर बैठे बैठे, सव वातोका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जानेके लिये सजय नामक सूतको व्यासजीने दिव्य-दृष्टि दे दी। इस सजयके द्वारा युद्धके अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्रको अवगत करा देनेका प्रवध करके व्यासजी चले गये (मभा भीष्म २)। जव आगे युद्धमें भीष्म आहत हुए और उक्त प्रवधके अनुसार, वह समाचार सुनानेके लिये पहले सजय धृतराष्ट्रके पास गया, तव भीष्मके वारेमे शोक करते हुए धृतराष्ट्रने सजयको आज्ञा दी, कि युद्धकी सारी वातोका वर्णन करो। तदनुसार सजयने पहले दोनो दलोंकी सेनाओका वर्णन किया, और फिर धृतराष्ट्रके पूछनेपर गीता वतलाना आरम्भ किया है। आगे चलकर यह सव वार्ता व्यासजीने अपने शिष्योंको, वादमें उन शिष्योंमेंसे वैशपायनने जनमेजयको और अतमें सौतीने शौनकको सुनाई। महाभारतकी सभी छपी हुई प्रतियोमें भीष्मपर्वके २५ वे अध्यायसे ४२ वे अध्यायतक यही गीता कही गई है। इस परंपराके अनुसार –]

धृतराष्ट्रने पूछा – (१) हे सजय! कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें एकत्रित मेरे और पाडुके युद्धेच्छुक पुत्रोंने क्या किया?

| [हस्तिनापुरके चहूँ ओरका मैदान कुरुक्षेत्र है। वर्तमान दिल्ली शहर
| इसी मैदानपर वसा हुआ है। महाभारतमें यह कथा है, कि कौरव-पाडवोंका

संजय उवाच ।

§ § दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथः ॥ ६ ॥

| पूर्वज कुरु नामका राजा इस मैदानको हलसे बडे कष्टपूर्वक जोता करता था, अतएव उसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं । जब इद्रने कुरुको यह वरदान दिया, कि इस क्षेत्रमें जो लोग तप करते करते या युद्धमें मर जावेगे, उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होगी, तब उसने इस क्षेत्रमें हल चलाना छोड दिया (मभा शल्य ५३)। इद्रके इस वरदानके कारणही यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहलाने लगा । इस मैदानके विषयमें यह कथा प्रचलित है, कि यहीपर परशुरामने एकीस वार सारी पृथ्वीको नि क्षत्रिय करके पितृतर्पण किया था, और अर्वाचीन कालमेंभी इसी क्षेत्रपर वडी वडी लढाईयाँ हो चुकी हैं ।]

सजयने कहा – (२) उस समय पाडवोकी सेनाको व्यूह रचकर (खडी) देख, राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्यके पास गया, और उनसे कहा लगा, कि –

| [महाभारत (मभा भी १९ ४–७, मनु ७ १९१)के उन अध्यायोमें, कि जो गीतासे पहले लिखे गये हैं, यह वर्णन है, कि जब कौरवोकी सेनाका भीष्मद्वारा रचा हुआ व्यूह पाडवोंने देखा, और जब उनको अपनी सेना कौरवोकी सेनासे कम दीख पडी, तब उन्होने युद्धविद्याके अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खडी की । युद्धमें प्रतिदिन ये व्यूह वदला करते थे ।]

(३) हे आचार्य ! पाडुपुत्रोकी इस बडी सेनाको देखिये, कि जिसकी व्यूहरचना तुम्हारे वुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रने (धृष्टद्युम्न) की है । (४) इसमें शूर, महाधनुर्धर, और युद्धमें भीम तथा अर्जुनसरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद, (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित् कुतिभोज, और नरश्रेष्ठ शैव्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्य और वीर्यशाली उत्तमौजा

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

एव सुभद्राका पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदीके (पाच) पुत्र—ये सभी महारथी है।

[दस हजार धनुर्धारी योद्धाओके साथ अकेले युद्ध करनेवालेको महारथी कहते हैं। दोनो ओरकी सेनाओमे जो रथी, महारथी अथवा अतिरथी थे, उनका वर्णन उद्योगपर्वके (१६४ से १७१ तक) आठ अध्यायोमें किया गया है। वहाँ बतला दिया है, कि धृष्टकेतु शिशुपालका बेटा था। इसी प्रकार पुरुजित् कुतिभोज, ये दो भिन्न भिन्न पुरुषोंके नाम नही है। जिस कुतिभोज राजाको कुती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था, और कुतिभोज उसके कुलका नाम है, एव यह वर्णन पाया जाता है, कि वह धर्म, भीष्म और अर्जुनका मामा था। (मभा उ १७१ २)। युधामन्यु और उत्तमौजा, दोनो पाचाल्य थे, और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा, युद्धमे, दोनो अर्जुनके चक्र-रक्षक थे। शैब्य शिबी देशका राजा था।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ! अब हमारी ओर, सेनाके जो मुख्य मुख्य नायक है, उनके नामभी मैं आपको सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनिये। (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजित् कृप, अश्वत्थामा और (दुर्योधनके सौ भाइयोमेंसे एक) विकर्ण, तथा सोमदत्तका पुत्र (भूरिश्रवा), (९) एव इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देनेको तैयार है, और सभी नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण तथा युद्धमें प्रवीण है। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना – जिसकी रक्षा स्वय भीष्म कर रहे है – अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या अमर्यादित है, किंतु उनकी (पाडवो) वह सेना – जिसकी रक्षा भीम कर रहा है – पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोकमें 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दोंके अर्थके विषयमें मतभेद है। 'पर्याप्त'का सामान्य अर्थ 'बस' या 'काफी' होता है, इसलिये कुछ लोग यह अर्थ बतलाते हैं, कि "पाडवोकी सेना काफी है, और हमारी काफी नही है।" परतु यह अर्थ ठीक नही है। पहले उद्योगपर्वमें, धृतराष्ट्रसे अपनी सेनाका वर्णन करते समय उक्त मुख्य मुख्य सेनापतियोंके नाम बतलाकर दुर्योधनने कहा है'

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

कि "मेरी सेना बडी और गुणवान् है, इसलिये जीत मेरीही होगी" (उ ५४ ६०-७०)। इसी प्रकार आगे चलकर भीष्मपर्वमें, जिस समय द्रोणाचार्यके पास दुर्योधन फिरसे सेनाका वर्णन कर रहा था, उस समयभी, गीताके उपर्युक्त श्लोकोंके समानही श्लोक उसने अपने मुँहसे ज्यो-के-त्यो कहे हैं (भीष्म ५१ ४-६)। और तीसरी बात यह है, कि सब सैनिकोको प्रोत्साहित करनेके लियेही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है। इन सब बातोका विचार करनेसे इस स्थानपर 'अपर्याप्त' शब्दका 'अमर्यादित, अपार या अगणित' के सिवा और कोई अर्थही हो नही सकता। 'पर्याप्त' शब्दका धात्वर्थ 'चहूँ ओर (परि-)वेष्टन करने-योग्य' (आप् = प्रापना) हैं। परन्तु 'अमूक कामके लियें पर्याप्त' या 'अमुक मनुष्यके लिये पर्याप्त' इस प्रकार पर्याप्त शब्दके पीछे चतुर्थी अर्थके दूसरे शब्द जोडकर प्रयोग करनेसे 'पर्याप्त' शब्दका यह अर्थ हो जाता है – 'उस कामके लिये या मनुष्यके लिये भरपूर अथवा समर्थ।' और यदि 'पर्याप्त' के पीछे कोई दूसरा शब्द न रखा जावे, तो केवल 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ होता है 'भरपूर, परिमित या जिसकी गिनती की जा सकती है।' प्रस्तुत श्लोकमें 'पर्याप्त' शब्दके पीछे दूसरा शब्द नही है, इसलिये यहाँपर उसका उपर्युक्त दूसरा अर्थ (परिमित या मर्यादित) विवक्षित है, और महाभारतके अतिरिक्त अन्यत्रभी ऐसे प्रयोग किये जानेके उदाहरण ब्रह्मानदगिरिकृत टीकामें दिये गये हैं। कुछ लोगोंने यह उपपत्ति बतलाई है, कि दुर्योधन भयसे अपनी सेनाको 'अपर्याप्त' अर्थात् 'अपूरा' कहता है, परतु यह ठीक नही है। क्योकि, दुर्योधनके डर जानेका वर्णन कहींभी नही मिलता, किंतु इसके विपरीत यह वर्णन पाया जाता है, कि दुर्योधनकी बडी भारी सेनाको देखकर पाडवोंने वज्र नामक व्यूह रचा, और कौरवोकी अपार सेनाको देख युधिष्ठिरको बहुत खेद हुआ था (मभा भीष्म १९ ५, २१ १)। पाडवोकी सेनाका सेनापति धृष्टद्युम्न था, परतु "भीम रक्षा कर रहा है" कहनेका कारण यह है, कि पहले दिन पाडवोंने वज्र नामका जो व्यूह रचा था, उसकी रक्षाके लिये इस व्यूहके अग्रभागमें भीमही नियुक्त किया गया था, अतएव सेनारक्षककी दृष्टिसे दुर्योधनको वही सामने दिखाई दे रहा था (मभा भीष्म १९ ४-११, ३३, ३४), और इसी अर्थमें इन दोनो सेनाओंके विषयमें महाभारतके गीताके पहलेके अध्यायोमें 'भीमनेत्र' और 'भीष्मनेत्र' कहा गया है (मभा भी २० १)।]

(११) (तो अब) नियुक्तिके अनुसार सब अयनोमें अर्थात् सेनाके भिन्न भिन्न प्रवेशद्वारोमें रहकर तुम सबको मिल करके भीष्मकीही सभी ओरसे रक्षा करनी चाहिये।

§§ तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

[सेनापति भीष्म स्वय पराक्रमी और किसीसेभी हार जानेवाले न थे । "सभी ओरसे सवको उनकी रक्षा करनी चाहिये", इस कथनका कारण दुर्योधनने दूसरे स्थलपर (मभा भी १५ १५-२०, ९९ ४०, ४१) । यह वतलाया है, कि भीष्मका निश्चय था कि हम शिखडीपर शस्त्र न चलावेगे, इसलिये शिखडीकी ओरसे भीष्मका घात होनेकी सभावना थी, अतएव सवको सावधानी रखनी चाहिये –

अरक्ष्यमाण हि वृको हन्यात् सिह महावलम् ।
मा सिह जवुकेनेव घातयेथा शिखडिना ॥

"महावलवान् सिंहकी रक्षा न करें, तो भेडिया उसे मार डालेगा, इसलिये जवुक-सदृश शिखडीसे सिंहका घात न होने दो ।" शिखडीको छोड और दूसरे किसीकोभी खबर लेनेके लिये भीष्म अकेलेही समर्थ थे, अन्यकी किसी सहायताकी उन्हे अपेक्षा न थी ।]

(१२) (इतनेमें) दुर्योधनको हर्षाते हुए प्रतापशाली वृद्ध कौरव पितामह (सेनापति भीष्म)ने सिंहकी ऐसी वडी गर्जना कर (लडाईकी सलामीके लिये) अपना शख फूंका । (१३) इसके साथही साथ अनेक शख, भेरी (नौवतें), पणव, आनक और गोमुख (ये लडाईके वाजे) एकदम वजने लगे, और इन वाजोका नाद चारो ओर खूब गूंज उठा । (१४) अनतर सफेद घोडोसे जुते हुए वडे रथमें वैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पाडवने (अर्जुन) (यह सूचना करनेके लिये कि हमारे पक्षकीभी तैयारी है, प्रत्युत्तरके ढँगपर) दिव्य शख वजाये । (१५) हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्णने पाचजन्य (नामक शख), अर्जुनने देवदत्त भयकर कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेनने पौंड्र नामक वडा शख फूंका,

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
§ § अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षव ॥ २३ ॥

(१६) कुतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनतविजय, नकुल और सहदेवने सुघोप, एव मणिपुष्पक, (१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखडी, धृष्टद्युम्न, विराट, तथा अजेय सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रौपदीके (पाचो) वेटे, तथा महावाहु सौभद्र (अभिमन्यु), इन सबने, हे राजा (धृतराष्ट्र) ! चारो ओर अपने अपने अलग अलग शख वजाये। (१९) आकाश और पृथिवीको दहला देनेवाली उस तुमुल आवाजने कौरवोका कलेजा फाड डाला।

(२०) अनतर कौरवोको व्यवस्थासे खडे देख, परस्पर एक दूसरेपर शस्त्रप्रहार होनेका समय आनेपर धनुष्य उठाकर, कपिध्वज पाडव अर्थात् अर्जुन, (२१) हे राजा धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्णसे ये शब्द वोला अर्जुनने कहा – हे अच्युत ! मेरा रथ दोनो सेनाओके वीच ले चलकर खडा करो, (२२) उतनेमें युद्धकी इच्छा से तैयार हुए इन लोगाको में अवलोकन करता हूँ, और मुझे इस रणसग्राममें किनके साथ लडना है, एव (२३) युद्धमें दुर्वुद्धि दुर्योधनका कल्याण

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

करनेकी इच्छासे यहाँ जो लडनेवाले जमा हुए है, उन्हे मै देख लूं। सजय बोला – (२४) हे धृतराष्ट्र ! गुडाकेश अर्थात् आलस्यको जीतनेवाले अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर हृषीकेश अर्थात् इद्रियोके स्वामी श्रीकृष्णने (अर्जुनके) उत्तम रथको दोनो सेनाओंके मध्यभागमें लाकर खडा कर दिया, और –

[हृषीकेश और गुडाकेश शब्दोके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, वे टीकाकारोंके मतानुसार है। नारदपचरात्रमेंभी 'हृषीकेश'की यह निरुक्ति है, कि हृषीक = इद्रियाँ और उनका ईश = स्वामी (नारदपच ५ ८ १७), और अमरकोशपर क्षीरस्वामीकी जो टीका है, उसमें लिखा है, कि हृषीक (अर्थात् इद्रियाँ) शब्द हृष् = आनद देना, इस धातुसे बना है, इद्रियाँ मनुष्यको आनद देती हैं, इसलिये उन्हे हृषीक कहते हैं। तथापि, यह शका होती है, कि हृषीकेश और गुडाकेशके जो अर्थ ऊपर दिये गये है, वे ठीक हैं या नही ? क्योकि, हृषीक (अर्थात् इद्रियाँ) और गुडाका (अर्थात् निद्रा या आलस्य) ये शब्द प्रचलित नही है, हृषीकेश और गुडाकेश इन दोनो शब्दोकी व्युत्पत्ति दूसरी रीतिसेभी लग सकती है। हृषीक + ईश और गुडाका + ईशके बदले हृषी + केश और गुडा + केश ऐसाभी पदच्छेद किया जा सकता है, और फिर ये अर्थ हो सकते है, कि हृषी अर्थात् हर्षसे खडे किये हुए या प्रशस्त जिसके केश (बाल) हैं, वह श्रीकृष्ण, और गुडा अर्थात् गूढ या घने जिसके केश है, वह अर्जुन। भारतके टीकाकार नीलकठने गुडाकेश शब्दका यह अर्थ, गीता १० २० पर अपनी टीकामें विकल्पसे सूचित किया है, और सूतके बापका जो रोमहर्षण नाम है, उससे हृषीकेश शब्दकी उल्लिखित दूसरी व्युत्पत्तिकोभी असभवनीय नही कह सकते। महाभारतके शातिपर्वान्तर्गत नारायणीयोपाख्यानमें विष्णुके मुख्य मुख्य नामोकी निरुक्ति देते हुए यह अर्थ किया है, कि हृषी अर्थात् आनददायक, और केश अर्थात् किरण, और कहा है, कि सूर्यचद्ररूप अपनी विभूतियोकी किरणोंसे समस्त जगत्को हर्षित करता है, इसलिये उसे हृषीकेश कहते हैं (महा शाति ३४१ ४७, ३४२ ६४, ६५, उद्यो ६९ ९), और पहलेके श्लोकोमें कहा गया है, कि उसी प्रकार केशव शब्दभी केश अर्थात् किरण शब्दसे बना है (शा ३४१ ४७) इनमेंसे कोईभी अर्थ क्यो न ले, पर श्रीकृष्ण और अर्जुनके ये नाम रखे जानेके, सभी अशोमें, योग्य कारण बतलाये जा नही सकते, लेकिन यह दोष नैरुक्तिकोका नही है। जो व्यक्तिवाचक या विशेष नाम अत्यत

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

§§ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

| रूढ हो गये हैं, उनकी निरपि; वर्तमानमें इस प्रकारकी अड़चनोंका आना या
| मतभेद हो जाना बिलकुल सहज बात है ।]

(२५) भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओंके सामने (वे) बोले, कि "अर्जुन ! (यहाँ) एकत्रित हुए इन कौरवोंको देखो ।" (२६) तब अर्जुनको दिखाई दिया, कि वहाँ पर इकट्ठे हुए सब (अपनेही) बड़े-बूढ़े, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनोंही सेनाओंमें हैं, (और इस प्रकार) यह देखकर, कि ये सभी एकत्रित हमारे बांधव हैं, कुंतीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणासे व्याप्त होता हुआ खिन्न होकर यह कहने लगा –

अर्जुनने कहा – हे कृष्ण ! युद्ध करनेकी इच्छासे (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनोंको देखकर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी उठकर रोएँभी खड़े हो गये हैं, (३०) गांडीव (धनुष्य) हाथसे गिर पड़ता है, और शरीरमेंभी सर्वत्र दाह हो रहा है, खड़ा नही रहा जाता और मेरा मन चक्कर-सा खा गया है । (३१) इसी प्रकार हे केशव ! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं , और स्वजनोंको युद्धमें मारकर श्रेय अर्थात् कल्याण (होगा

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

ऐसा) नही दीख पडता। (३२) हे कृष्ण! मुझे विजयकी इच्छा नही, न राज्य चाहिये और न सुखभी। हे गोविंद! राज्य, उपभोग या जीवित रहनेसेभी हमें उसका क्या उपयोग है? (३३) जिनके लिये राज्यकी, उपभोगोकी और सुखोकी इच्छा करनी थी, वेही ये लोग जीव और सपत्तिकी आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हैं। (३४) आचार्य, बडे-बूढे, लडके, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और सबधी (३५) यद्यपि ये (हमें) मारनेके लिये खडे है, तथापि हे मधुसूदन! त्रैलोक्यके राज्यतकके लिये, मैं (इन्हे) मारनेकी इच्छा नही करता, फिर पृथ्वीकी बात है क्या चीज? (३६) हे जनार्दन! इन कौरवोको मारकर हमारा कौन-सा प्रिय होगा? यद्यपि ये आततायी हैं, तोभी इनको मारनेसे हमें पापही लगेगा। (३७) इसलिये हमे अपनेही बाधव कौरवोको मारना उचित नही है। क्योकि हे माधव! स्वजनोको मारकर हम सुखी क्योकर होगे?

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिन॥ (वसिष्ठस्मृ ३ १६) अर्थात् घर जलानेके लिये आयाहुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला और स्त्री या खेत हरणकर्ता—ये छ आततायी है। मनुनेभी कहा है, कि इन दुष्टोको बेधडक जानसे मार डाले, इसमें कोई पातक नही है (मनु ८ ३५०, ३५१)।]

§§ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

(३८) लोभसे इनकी वुद्धि नष्ट हो गई है, इन्हे कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नही देता, (३९) तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें स्पष्ट दाख पडा रहा है, अत इस पापसे पराङमुख होनेकी बात हमारे मनमें आये विना कैसे रहेगी ?

[प्रथमसेही यह प्रत्यक्ष हो जानेपर, कि युद्धमें गुरुवध, सुहृद्वध और कुलक्षय होगा, लडाईसवधी अपने कर्तव्यके विपयमें अर्जुनको जो व्यामोह हुआ, उसका क्या वीज है ? गीतामे आगे जो प्रतिपादन है, उससे इसका क्या सवध है ? और उस दृष्टिसे प्रथमाध्यायका कौन-सा महत्त्व है ? – इन सब प्रश्नोका विचार गीतारहस्यके पहले और फिर चौदहवे प्रकरणमें हमने किया है, उसे देखो। इस स्थानपर ऐसी साधारण युक्तियोका उल्लेख किया गया है, कि लोभसे बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण दुष्टोको अपनी दुष्टता जान न पडती हो, तो चतुर पुरुषोको दुष्टोंके फदेमें पडकर दुष्ट न होना चाहिये – " न पापे प्रतिपाप स्यात " उन्हे चुप रहना चाहिये। इन साधारण युक्तियोका ऐसे प्रसगपर कहाँतक उपयोग किया जा सकता है, अथवा करना चाहिये ? – यहभी ऊपरके समानही एक महत्त्वका प्रश्न है, और इसका गीताके अनुसार जो उत्तर है, उसका हमने गीतारहस्यके वारहवे प्रकरणमे (पृ ३९३–३९८) निरूपण किया है। गीताके अगले अध्यायोमें जो विवेचन है, वह अर्जुनकी उन शकाओकी निवृत्ति करनेके लिये है, कि जो उसे पहले अध्यायमें हुई थी, इस वातपर ध्यान दिये रहनेसे गीताका तात्पर्य समझनेमें किसी प्रकारका सदेह नही रह जाता। भारतीय युद्धमें एकही राष्ट्र और धर्मके लोगोमें फूट हो गई थी, और वे परस्पर मरने-मारनेपर उतारू हो गये थे, इसी कारणसे उक्त शकाएँ उत्पन्न हुई है। अर्वाचीन इतिहासमें जहाँ जहाँ ऐसे प्रसग आये हैं, वहाँ वहाँ ऐसेही प्रश्न उपस्थित हुए है। अस्तु, कुलक्षयसे आगे जो जो अनर्थ होते हैं, उन्हें अर्जुन स्पष्ट कर कहता है।]

(४०) कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते है, और (कुल)धर्मोंके

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

§§ अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

छूटनेसे समूचे कुलपर अधर्मकी धाक जमती है, (४१) हे कृष्ण ! अधर्मके फैलनेसे कुलस्त्रियाँ बिगडती है, हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोके बिगड जानेपर वर्णसकर होता है। (४२) और वर्णसकर होनेसे वह कुलघातकको और (समग्र) कुलको निश्चयही नरकमे ले जाता है, एव पिंडदान और तर्पणादि क्रियाओके लुप्त हो जानेसे उनके पितरभी पतन पाते हैं। (४३) कुलघातकोंके इन वर्णसकरकारक दोषोसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म उत्पन्न होते है, (४४) और हे जनार्दन ! हम ऐसा सुनते आ रहे है, कि जिन मनुष्योके कुलधर्म विच्छिन्न हो जाते है, उनको निश्चयही नरकवास होता है।

(४५) देखो तो सही ! हम राज्य-सुख-लोभसे स्वजनोको मारनेके लिये उद्यत हुए है, (सचमुचही) यह हमने एक बडा पाप करनेकी योजना की है ! (४६) इसकी अपेक्षा मेरा अधिक कल्याण तो इसमें होगा, कि मै नि शस्त्र होकर प्रतिकार करना छोड दूं, (और ये) शस्त्रधारी कौरव मुझे रणमें मार डाले। सजयने कहा –

[रथमें खडे होकर युद्ध करनेकी प्रणाली थी, अत " रथमें अपने स्थान-पर बैठ गया " इन शब्दोंसे यही अर्थ अधिक व्यक्त होता है, कि खिन्न हो जानेके कारण युद्ध करनेकी उसे इच्छा न थी। महाभारतमें कुछ स्थलोपर इन रथोका जो वर्णन है, उससे दीख पडता है, कि भारतकालीन रथ प्राय दो पहियोके होते थे, बड़े-बडे रथोमें चार-चार घोडे जोते जाते थे, और रथी एव

संजय उवाच।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

(४७) इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्यथितचित्त अर्जुन (हाथका) धनुष्य-बाण त्याग कर रथमें अपने स्थानपर योंही बैठ गया।

[सारथी, दोनो अगले भागमें परस्पर एक दूसरेकी आजूबाजूमें बैठते थे। रथ की पहचानके लिये प्रत्येक रथपर एक प्रकारकी विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है, कि अर्जुनकी ध्वजापर प्रत्यक्ष हनुमानही बैठे थे।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

[गीतारहस्यके पहले (पृष्ठ ३), तीसरे (पृष्ठ ६०), और ग्यारहवे (पृष्ठ ३५३) प्रकरणमें इस संकल्पका ऐसा अर्थ किया गया है, कि गीतामें केवल ब्रह्मविद्याही नही है, किंतु उसमें ब्रह्मविद्याके आधारपर कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह संकल्प महाभारतमें नही है, परन्तु यह गीतापर संन्यासमार्गी टीका होनेके पहलेका होगा, क्योंकि, संन्यास-मार्गका कोईभी पंडित ऐसा संकल्प न लिखेगा। और इससे यह प्रकट होता है, कि गीतामें संन्यास-मार्गका प्रतिपादन नही है, किंतु कर्मयोगका शास्त्र समझकर, संवाद-रूपसे विवेचन है। संवादात्मक और शास्त्रीय पद्धतिका भेद रहस्यके चौदहवे प्रकरणके आरंभमें बतलाया गया है।]

द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

§ § कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

दूसरा अध्याय ।

सजयने कहा – (१) इस प्रकार करुणासे व्याप्त, आँखोमें आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुनसे मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले – श्रीभगवानने कहा – (२) हे अर्जुन ! सकटके इस प्रसगपर तेरे (मनमें) यह मोह (कश्मल) कहाँसे आ गया, जिसका कि आर्योने अर्थात् सत्पुरुषोंने (कभी) आचरण नही किया, जो अधोगतिको पहुँचानेवाला है, और जो दुष्कीर्तिकारक है ? (३) हे पार्थ ! ऐसा नामर्द मत हो ! यह तुझे शोभा नही देता । अरे, शत्रुओको ताप देनेवाले ! अत करणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोडकर (युद्धके लिये) खडा हो ।

[इस स्थानपर हमने 'परतप' शब्दका अर्थ कर तो दिया है, परतु बहुतेरे टीकाकारोका यह मत हमारी रायमें युक्तिसगत नही है, कि अनेक स्थानोपर आनेवाले विशेषणरूपी सबोधन या कृष्ण-अर्जुनके नाम गीतामें हेतु-गर्भित अथवा अभिप्रायसहित प्रयुक्त हुए हैं। हमारा मत है, कि पद्यरचनाके लिये अनुकूल नामोका प्रयोग किया गया है, और उनमें कोई विशेष अर्थ उद्दिष्ट नही है। अतएव कई बार हमने श्लोकमें प्रयुक्त नामोकाही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है।]

अर्जुनने कहा – (४) हे मधुसूदन ! मैं (परम-)पूज्य भीष्म और द्रोणके

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

साथ, हे शत्रुनाशने! युद्धमें बाणोसे कैसे लडूंगा? (५) महात्मा गुरु लोगोको न मारकर इस लोकमे भीख माँग करके पेट पालनाभी श्रेयस्कर है, परतु अर्थलोलुप (हो, तोभी) गुरु लोगोको मारकर इसी जगतमें मुझे उनके रक्तसे सने हुए भोग भोगने पडेंगे।

| ['गुरु लोगोको' इस बहुवचनान्त शब्दसे 'बडे-बूढो' काही अर्थ लेना
| चाहिये। क्योकि, विद्या सिखानेवाला गुरु एक द्रोणाचार्यको छोड, सेनामें
| और कोई दूसरा न था। युद्ध छिडनेके पहले जब ऐसे गुरु लोगो – अर्थात् भीष्म,
| द्रोण और शल्य – की पादवदना कर उनका आशीर्वाद लेनेके लिये युधिष्ठिर
| रणागणमें अपना कवच उतारकर नम्रतासे उनके समीप गये, तब शिष्ट-
| सप्रदायका उचित पालन करनेवाले युधिष्ठिरका अभिनदन कर सबने इसका
| कारण बतलाया, कि दुर्योधनकी ओरसे हम क्यो लडेंगे?

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्य महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवं ॥

| "सच तो यह है, कि मनुष्य अर्थका गुलाम है, अर्थ किसीका गुलाम नही,
| इसलिये हे युधिष्ठिर महाराज! कौरवोंने मुझे अर्थसे जकड रखा है" (मभा
| भी अ ४३, श्लो ३५ ५०, ७६)। ऊपर जो यह 'अर्थलोलुप' शब्द है, वह
| इसी श्लोकके अर्थका द्योतक है।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत ले – इन दोनो बातोमेंसे हमें श्रेयस्कर कौन है, यहभी समझ नही पडता। जिन्हे मारकर फिर जीवित रहनेकी इच्छा नही, वेही ये कौरव (युद्धके लिये) सामने डटे है।

| ['गरीय' शब्दसे प्रकट होता है, कि अर्जुनके मनमें "अधिकाश लोगोके
| अधिक सुख" के समान कर्म और अकर्मकी लघुता-गुरुता ठहरानेकी कसौटी थी,
| पर वह इस बातका निर्णय नही कर सकता था, कि उन कसौटीके अनुसार
| किसकी जीत होनेमें भलाई है? गीतारहस्य प्र ४, पृ ८४–८७ देखो।]

(७) दीनतासे मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई, है (मुझे अपने) धर्म अर्थात्

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

कर्तव्यका मनमें मोह हो गया है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ, कि जो निश्चयसे श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागतको समझाइये। (८) क्योंकि पृथ्वीका निष्कटक समृद्ध राज्य या देवताओ (स्वर्ग) काभी स्वामित्व मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछभी (साधन) नजर नही आता, कि जो इद्रियोको सुखा डालनेवाले मेरे इस शोकको दूर करे। सजयने कहा – (९) इस प्रकार शत्रुसतापी गुडाकेश अर्थात् अर्जुनने हृषीकेशसे (श्रीकृष्ण) कहा, और फिर श्रीगोविंदसे 'मैं न लडूंगा' कहकर (वह) चुप हो गया। (१०) (फिर) हे भारत (धृतराष्ट्र)! दोनो सेनाओंके बीच खिन्न होकर बैठे हुए अर्जुनसे श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुए-से बोले।

[एक ओर तो क्षत्रियका स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एव कुलक्षय-के पातकोका भय – इस खीचातानीमें 'मरें या मारें', के झमेलेमें पडकर, लडाई छोडकर भिक्षा माँगनेके लिये तैयार हो जानेवाले अर्जुनको अब भगवान् इस जगतके उसके सच्चे कर्तव्यका उपदेश करते है। अर्जुनकी शका थी, कि लडाई जैसे घोर कर्मसे आत्माका कल्याण न होगा। इसीसे, जिन उदार पुरुषोने परब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर अपने आत्माका पूर्ण कल्याण कर लिया है, वे इस दुनियामें कैसा वर्ताव करते हैं, यहीसे गीताके उपदेशका आरभ हुआ है। भगवान् कहते है, कि ससारकी चाल-ढालके परखनेसे दीख पडता है, कि आत्मज्ञानी पुरुषोंके जीवन बितानेके अनादिकालसे दो मार्ग चले आ रहे हैं (गीता ३ ३, गीतारहस्य प्र ११)। आत्मज्ञान सपादन करनेपर शुकसरीखे पुरुष ससार छोडकर आनदसे भिक्षा माँगते फिरते है, तो जनकसरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञानके पश्चातभी स्वधर्मानुसार लोगोंके कल्याणार्थ ससारके सैकडो व्यवहारोमें अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्गको साख्य या साख्यनिष्ठा कहते है, और दूसरेको कर्मयोग या योग कहते है (श्लोक ३९)। यद्यपि ये दोनो निष्ठाएँ प्रचलित है, तथापि गीताका यह सिद्धान्त है, कि इनमेंसे कर्मयोगही अधिक श्रेष्ठ है (गीता

श्रीभगवानुवाच।

§ § अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

| ५२)–यह सिद्धान्त आगे बतलाया जावेगा। इन दोनो निष्ठाओमेंसे
| अर्जुनके मनकी चाह अब सन्यासनिष्ठाकी ओरही अधिक बढी हुई थी। अतएव
| उसी मार्गके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी भूल पहले उसे सुझा दी गई है, और
| आगे ३९ वे श्लोकमे भगवानने कर्मयोगका प्रतिपादन करना आरभ कर दिया
| है। सास्य-मार्गवाले पुरुष ज्ञानके पश्चात् कर्म भलेही न करतें हो, पर उनका
| ब्रह्मज्ञान और कर्मयोगका ब्रह्मज्ञान कुछ भिन्न भिन्न नही है। तव सास्य-निष्ठाके
| अनुसार देखने परभी आत्मा यदि अविनाशी और नित्य है, तो फिर किंचित्
| उपहासपूर्वक अर्जुनसे भगवानका प्रथम कथन है, कि तेरी यह बकबक व्यर्थ
| है, कि "मैं अमुकको कैसे मारूँ?"]

श्रीभगवानने कहा – (११) जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हींका शोक कर रहा है और ज्ञानकोभी हाँकता है! किसीके प्राण (चाहे) जायें या (चाहे) रहें, ज्ञानी पुरुष उनका शोक नही करते।

| [इस श्लोकमें यह कहा गया है, कि ज्ञानी लोग स्वाभाविक प्राणोंके
| जानेका या रहनेकाभी शोक नही करते। इनमेंसे जानेका शोक करना तो
| स्वाभाविक है उसे न करनेका उपदेश करना उचित है। पर टीकाकारोंने यह
| शका करके, कि प्राण रहनेका शोक कैसा और क्यो करना चाहिये, उसके
| विषयमे बहुत-कुछ चर्चा की है, और कई एकोंने कहा है, कि मूर्ख एव अज्ञानी
| लोगोंके प्राण रहना शोककाही कारण है। किंतु इतनी बालकी खाल निकालते
| रहनेकी अपेक्षा 'शोक करना' शब्दकाही 'भला या बुरा लगना' अथवा
| 'परवाह करना' ऐसा व्यापक अर्थ करनेसे कोईभी अडचन रह नही जाती।
| यहाँ इतनाही वक्तव्य है, कि ज्ञानी पुरुषको दोनो बाते एकहीसी होती हैं।]

(१२) देखो न, ऐसा तो हैही नही, कि मैं (पहले) कभीही था नही। ऐसाभी नही, कि तू और ये राजा लोग (पहले) न थे, और ऐसाभी नही हो सकता, कि हम सब लोग अब आगे न होगे।

| [इस श्लोकपर रामानुज-भाष्यमें जो टीका है, उसमें लिखा है – इस
| श्लोकसे ऐसा सिद्ध होता है, कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और 'तू एव राजा लोग'
| अर्थात् अन्यान्य आत्मा, ये दोनो यदि पहले (अतीतकालमें) थे, और आगे

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥
§§ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

| होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, ये दोनो पृथक्, स्वतन्त्र और नित्य हैं।
| किंतु यह अनुमान ठीक नही है, साप्रदायिक आग्रहका है, क्योकि इस स्थान-
| पर प्रतिपाद्य इतनाही है, कि सभी नित्य है, उनका पारस्परिक सबध यहाँ
| बतलाया नही है और बतलानेकी कोई आवश्यकताभी न थी। जहाँ वैसा प्रसग
| आया है, वहाँ गीतामेंही ऐसा अद्वैत सिद्धान्त (गीता ८ ४, १३ ३१) स्पष्ट
| रीतिसे बतला दिया है, कि समस्त प्राणियोके शरीरमें देहधारी आत्मा मैं अर्थात्
| एकही परमेश्वर हूँ।]

(१३) जिस प्रकार देह धारण करनेवालेको इस देहमें बालपन, जवानी, और बुढापा (प्राप्त होता है), उसी प्रकार (आगे) दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। (इसलिये) इस विषयमें ज्ञानी पुरुषोको मोह नही होता।

| [अर्जुनके मनमें यही तो बडा डर या मोह था, कि "अमुकको मैं कैसे
| मारूँ।" इसलिये उसे दूर करनेके निमित्त, तत्त्वकी दृष्टिसे भगवान् पहले
| इसीका विचार बतलाते हैं, कि मरना क्या है और मारना क्या है (श्लोक
| ११–३०)। मनुष्य केवल देहरूपी निरी वस्तुही नही है, वरन् देह और
| आत्माका समुच्चय है। इनमेंसे 'मैं' इस अहंकाररूपसे व्यक्त होनेवाला आत्मा नित्य
| और अमर है। वह आज है, कल था और कलभी रहेगाही। अतएव मरना या
| मारना, ये शब्दही उसके लिये उपयुक्त नही किये जा सकते और उसका शोकभी
| न करना चाहिये। अब बाकी रह गई देह, सो यह प्रकटही है, कि वह अनित्य
| और नाशवान् है, आज नही तो कल, कल नही तो सौ वर्षोंमे सही, उसका तो
| नाश होनेहीको है – "अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिना ध्रुव" (भाग
| १० १ ३८), और एक देह छूटभी गई, तोभी कर्मोंके अनुसार आगे दूसरी
| देह मिलेबिना नही रहती, अतएव उसकाभी शोक करना उचित नही। साराश,
| देह या आत्मा, दोनो दृष्टियोंसे विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मरे हुएका
| शोक करना पागलपन है, यह पागलपन भलेही हो पर यह अवश्य बतलाना
| चाहिये, कि वर्तमान देहका नाश होते समय जो क्लेश होते हैं, उनके लिये
| शोक क्यो न करें? अतएव अब भगवान् इन कायिक सुखदु खोका स्वरूप बतला
| कर दिखलाते हैं, कि उनकाभी शोक करना उचित नही है।]

(१४) हे कुंतिपुत्र! शीतोष्ण या सुखदु ख देनेवाले, ये मात्राओ अर्थात्

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

बाह्य सृष्टिके पदार्थोंके (इंद्रियोंसे) जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् है। हे भारत! (शोक न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ! सुख और दुःखको समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुषको इनकी व्यथा नही होती, वही अमृतत्व अर्थात अमृत-ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्तकर लेनेमें समर्थ होता है।

[जिस पुरुषको ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेपरभी नामरूपात्मक जगत् मिथ्या नही जान पडा है, वह बाह्य पदार्थो और इंद्रियोंके संयोगसे होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुखदुःख आदि विकारोंको सत्य मानकर आत्मामें उनका अध्यारोप किया करता है, और इस कारणसे उसको दुःखकी पीडा होती है। परंतु जिसने यह जान लिया है, कि ये सभी विकार प्रकृतिके हैं, आत्मा अकर्ता और अलिप्त है, उसे सुख और दुःख एकहीसे है। अब भगवान् अर्जुनसे यह कहते है, कि इस सम-बुद्धिसे तू उनको सहन कर। और यही अर्थ अगले अध्यायमें अधिक विस्तारसे वर्णित है। शांकरभाष्यमे 'मात्रा' शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है – " मीयते एभिरिति मात्रा " अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते है या ज्ञात होते हैं, उन्हे इंद्रियां कहते है। पर मात्राका अर्थ इंद्रियां न करके, कुछ लोग ऐसाभी अर्थ करते है, कि इंद्रियोंसे मापे जानेवाले शब्दरूप आदि बाह्य पदार्थोंको मात्रा कहते हैं, और उनका इंद्रियोंसे जो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, उसे मात्रास्पर्श कहते है। इसी अर्थको हमने स्वीकृत किया है। क्योंकि, इस श्लोकके विचार गीतामें आगे जहाँपर आये है (गीता ५. २१–२३), वहाँ 'बाह्यस्पर्श' शब्द है। और 'मात्रास्पर्श' शब्दका, हमारे किये हुए अर्थके समान, अर्थ करनेमे इन दोनो शब्दोका अर्थ एकही-सा हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार ये दोनो शब्द मिलते-जुलते है, तोभी मात्रास्पर्श शब्द पुराना दीख पडता है। क्योंकि मनु-स्मृतिमे (६. ५७) इसी अर्थमें मात्रासंग शब्द आया है, और बृहदारण्यकोप-निषदमें वर्णन है, कि मरनेपर ज्ञानी पुरुषके आत्माका मात्राओंसे असंसर्ग (मात्राऽसंसर्ग) होता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है, और उसे संज्ञा नही रहती (बृ. माध्य ४. ५. १४, वे. सू. शां. भा. १. ४. २२)। शीतोष्ण और सुखदुःख पद उपलक्षणात्मक हैं, उनमेंही राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्पर-विरोधी द्वंद्वोंका समावेश होता है। ये सब माया-सृष्टिके द्वंद्व हैं। सच्चा परब्रह्म, नासदीय सूक्तमें जो वर्णन है, उसके अनुसार, इन द्वंद्वोंसे परे है। इसलिये प्रकट है, कि अनित्य माया-सृष्टिके इन द्वंद्वोंको शांतिपूर्वक सहकर, इन द्वंद्वोंसे बुद्धिको छुडाये बिना ब्रह्म-प्राप्ति नही होती (गीता २. ४५, ७. २८,

§ § नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

| गीतार प्र ९, पृष्ठ २२६ और २४५–२४७)। अब अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे
| इसी अर्थको व्यक्तकर दिखलाते हैं –]

(१६) जो नही (असत्) है, वह होही नही सकता, और जो है (सत्), उसका अभाव नही होता, तत्त्वज्ञानी पुरुषोने इस प्रकार 'है और नही है' (इन सत् और असत्) इन दोनोका अत देख लिया है – अर्थात अत देखकर उनके स्वरूपका निर्णय किया है।

| [इस श्लोकके 'अन्त' शब्दका अर्थ और 'राद्धान्त', 'सिद्धान्त' एव
| 'कृतान्त' शब्दोके (गीता १८ १३) 'अन्त' शब्दका अर्थ एकही है। शाश्वत-,
| कोशमें (शा ३८१) 'अन्त' शब्दके ये अर्थ हैं – "स्वरूपप्रान्तयोरन्तमन्तिकेऽपि
| प्रयुज्यते।" इस श्लोकमें सत्का अर्थ ब्रह्म और असत्का अर्थ नामरूपात्मक
| दृश्य जगत् है (गीतार प्र ९, पृ २२६–२२७, और २४५–२४७)
| स्मरण रहे, कि "जो है, उसका अभाव नही होता" इत्यादि तत्त्व देखनेमे
| यद्यपि सत्कार्यवादके समान दीख पडे, तोभी उसका अर्थ कुछ निराला है। जहाँ
| एक वस्तुसे दूसरी वस्तु निर्मित है – उदा, बीजसे वृक्ष – वहाँ सत्कार्यवादका तत्त्व
| उपयुक्त होता है। प्रस्तुत श्लोकमें इस प्रकारका प्रश्न नही है, वक्तव्य इतनाही
| है, कि सत् अर्थात् जो है, उसका अस्तित्व (भाव) और असत् अर्थात् जो नही
| है, उसका अभाव, ये दोनो नित्य याने सदैव कायम रहनेवाले हैं। इस प्रकार
| क्रमसे दोनोंके भाव-अभावको नित्य मान ले, तो आगे फिर आप-ही-आप कहना
| पडता है, कि जो 'सत्' है, उसका नाश होकर उसीका 'असत्' नही हो जाता।
| परतु यह अनुमान, और सत्कार्यवादमें पहलेही ग्रहणकी हुई एक वस्तुसे दूसरी
| वस्तुकी कार्यकारणरूप उत्पत्ति, ये दोनो एक-सी नही हैं (गीतार प्र ७, पृ
| १५६)। माध्वभाष्यमें इस श्लोकके "नासतो विद्यते भाव" इस पहले चरणके
| 'विद्यते भाव' का 'विद्यते + अभाव' ऐसा परिच्छेद है और उसका यह अर्थ
| किया है, कि असत् याने अव्यक्त-प्रकृतिका अभाव, अर्थात् नाश, नही होता।
| और जब कि दूसरे चरणमें यह कहा है, कि सत्काभी नाश नही होता, तब
| अपने द्वैती सप्रदायके अनुसार मध्वाचार्यने इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया है,
| कि सत् और असत् दोनो नित्य है। परतु यह अर्थ सरल नही है, इसमे
| खीचातानी है। क्योकि स्वाभाविक रीतिसे दीख पडता है, कि परस्पर-विरोधी
| असत् और सत् शब्दोके समानही अभाव और भाव ये दो विरोधी शब्दही इस
| स्थलपर प्रयुक्त है, एव दूसरे चरणमें अर्थात् "नाभावो विद्यत सत" यहाँपर

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

| 'नाभावो'में यदि अभाव शब्दही लेना पडता है, तो प्रकट है, कि पहले चरणमें भाव शब्दही रहना चाहिये । इसके अतिरिक्त यह कहनेके लिये, कि असत् और सत् ये दोनो नित्य ह, 'अभाव' और 'विद्यते' इन पदोके दो बार प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता न थी । किंतु मध्वाचार्यके कथनानुसार यदि इस द्विरुक्तिको आदरार्थक मानभी ले, तोभी आगे अठारहवे श्लोकमे स्पष्टही कहा है, कि व्यक्त या दृश्यसृष्टिमें आनेवाला मनुष्यका शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है । अतएव आत्माके साथही भगवद्गीताके अनुसार, देहकोभी नित्य नही मान सकते, प्रकट रूपसे यह सिद्ध होता है, कि एक नित्य है और दूसरा अनित्य । पाठकोको यह दिखलानेके लिये कि, साप्रदायिक दृष्टिसे खीचातानी कैसे की जाती है, हमने नमूनेके ढँगपर यहाँ इस श्लोकका मध्वभाष्यवाला अर्थ लिख दिया है – अस्तु, जो सत् है, वह कभी नष्ट होनेवाला नही, अतएव सत्स्वरूपी आत्माका शोक न करना चाहिये, और तत्त्वकी दृष्टिसे नामरूपात्मक देह आदि अथवा सुखदु ख आदि विकार मूलमेंही विनाशी है, इसलिये उनके नाश होनेका शोक करनाभी उचित नही । फलत आरभमें अर्जुनसे जो यह कहा है, कि "जिसका शोक न करना चाहिये, उसका तू शोक कर रहा है", वह सिद्ध हो गया । अब 'सत्' और 'असत्'के अर्थोकोही अगले दो श्लोकोमें औरभी स्पष्ट कर बतलाते है –

(१७) स्मरण रहे, कि यह सपूर्ण (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह (मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है । इस अव्यक्त तत्त्वका विनाश करनेके लिये कोईभी समर्थ नही है ।

| [पिछले श्लोकमे जिसे सत् कहा है, उसीका यह वर्णन है । यह बतलाकर, कि शरीरका स्वामी अर्थात् आत्मा इसी 'नित्य' श्रेणीमें आता है, अब यह बतलाते है, कि अनित्य या सत् किसे कहना चाहिये –]

(१८) कहा है, कि जो शरीरका स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिंत्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है । अतएव हे भारत ! तू युद्ध कर !

| [साराश, इस प्रकार नित्य-अनित्यका विवेक करनेसे तो यह भावही झूठा होता है, कि "मैं अमुकको मारता हूँ", और युद्ध न करनेके लिये

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

[अर्जुनने जो कारण दिखलाया था, वह निर्मूल हो जाता है। इसी अर्थको अब और अधिक स्पष्ट करते हैं –]

(१९) (शरीरके स्वामी या आत्मा) कोही जो मारनेवाला मानता है, या जो ऐसा समझता है, कि वह मारा जाता है, उन दोनोंकोभी सच्चा ज्ञान नही है। (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न माराभी जाता है।

[क्योंकि यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है सब खेल तो प्रकृतिकाही है। कठोपनिषदमे यह और अगला श्लोक आया है (कठ २ १८, १९)। इसके अतिरिक्त महाभारतके अन्य स्थानोंमेंभी ऐसा वर्णन है, कि कालसे सब ग्रसे हुए हैं, कालकी इस क्रीडाकोही 'मारने और मरने'की लौकिक सज्ञाएँ हैं (शा २५ १५)। गीतामेंभी (गीता ११ ३३) आगे भक्ति-मार्गकी भाषामे यही तत्त्व भगवानने अर्जुनको फिर बतलाया है, कि भीष्म-द्रोण आदिको कालस्वरूपसे मैंनेही पहले मार डाला है, तू केवल निमित्त हो जा।]

(२०) यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरताभी है, ऐसाभी नही है, कि यह (एक बार) होकर फिर होनेका नही, यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तोभी मारा नही जाता। (२१) हे पार्थ ! जिसने जान लिया, कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसीको कैसे मरवायेगा और किसीको कैसे मारेगा ? (२२) जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर दूसरे नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है। (२३) इसे अर्थात् आत्माको शस्त्र काट नही सकते, इसे आग जला नही सकती, वैसेही इसे पानी भिगा या गला नही सकता और वायु सुखाभी नही सकती है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

§§ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

[वस्त्रकी यह उपमा प्रचलित है। महाभारतमें एक स्थानपर, एक घर (शाला) छोडकर दूसरे घरमें जानेका दृष्टान्त पाया जाता है (शा १५, १६), और एक अमेरिकन ग्रथकारने यही कल्पना पुस्तकको नई जिल्द वाँधनेका दृष्टान्त देकर व्यक्त की है। पिछले तेरहवे श्लोकमें वालपन, जवानी और वुढापा, इन तीन अवस्थाओको जो न्याय उपयुक्त किया गया है, वही अव सव शरीरके विपयमें किया गया है।]

(२४) (कभीभी) न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सूखनेवाला यह (आतमा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरतन है। (२५) इस आत्माकोही, अव्यक्त अर्थात् जो इद्रियोको गोचर न होनेवाला, अचिंत्य अर्थात् जो मनसेभी जाना नही जा सकता और अविकार्य अर्थात् जिसे किमीभी विकारकी उपाधि नही है, कहते है। इसलिये उसे (आत्माको) इस प्रकारका समझकर उसका शोक करना तुझे उचित नही है।

[यह वर्णन उपनिपदोसे लिया है। यह वर्णन निर्गुण आत्माका है, सगुणका नही। क्योकि अविकार्य या अचित्य विशेषण सगुणको लग नही सकते (गीतारहस्य प्र ९ देखो)। आत्माके विपयमे वेदान्तशास्त्रका जो अतिम सिद्धान्त है, उमके आधारमे शोक न करनेके लिये यह उपपत्ति वतलाई गई है। अव कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे, कि हम आत्माको नित्य नही समझते, इसलिये तुम्हारी उपपत्ति हमें ग्राह्य नही, तो इस पूर्वपक्षका प्रथम उल्लेख करके भगवान् उसका यह उत्तर देते है कि —]

(२६) अथवा, यदि तू ऐसा मानता हो, कि यह आत्मा (नित्य नही, शरीरके साथही) सदा जन्मता या सदा मरता है, तोभी हे महावाहु! उसका शोक करना तुझ उचित नही। (२७) क्योकि जो जन्मता है, उसकी मृत्यु निश्चित

§ § अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

§ § आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

है, और जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है, इसलिये (इस) अपरिहार्य बातका (ऊपर उल्लिखित तेरे मतके अनुसारभी) शोक करना तुझको उचित नही।

[स्मरण रहे, कि ऊपरके दो श्लोकोमें वतलाई हुई उपपत्ति सिद्धान्त-पक्षकी नहीं है, यह ' अथ च = अथवा ' शब्दसे वीचमेंही उपस्थित किये हुए पूर्व पक्षका उत्तर है। आत्माको नित्य मानो चाहे अनित्य, दिखलाना इतनाही है, कि दोनोंभी पक्षोमे शोक करनेका प्रयोजन नही है। गीताका यह सच्चा सिद्धान्त पहलेही वतला चुके हैं, कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकाय और अचिंत्य या निर्गुण है। अस्तु, देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नही, इसीका, सांख्यशास्त्रके अनुसार, दूसरी उपपत्ति वतलाते है –]

(२८) सब भूत आरभमें अव्यक्त, मध्यमें व्यक्त और मरणसमयमे फिर अव्यक्त होते हैं, (ऐसी यदि सभीकी स्थिति है) तो हे भारत! उसमें शोक किस वात का ?

['अव्यक्त' शब्दकाही अर्थ है –" इंद्रियोको गोचर न होनेवाला "। मूल एक अव्यक्त द्रव्यसेही आगे क्रमक्रमसे समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है, और अतमें अर्थात प्रलय-कालमें सब व्यक्त सृष्टिका फिर अव्यक्तमेंही लय हो जाता है (गीता ८ १८), इस सांख्य-सिद्धान्तका अनुसरण कर, इस श्लोककी दलीले हैं। सांख्य-मतवालोके इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके सातवे और आठवे प्रकरणमे किया गया है। किसीभी पदार्थकी व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्गसेही नाशवान् है, उसके विषयमें शोक करनेकी कोई आवश्यकताही नही। यही श्लोक 'अव्यक्त'के वदले 'अभाव' शब्दसे संयुक्त होकर महाभारतके स्त्रीपर्वमें (मभा स्त्री २ ६) आया है। और आगे " अदर्शनादापतिता पुनश्चादर्शन गता। न ते तव न तेषा त्व तत्र का परिदेवना।" (स्त्री २ १३) इस श्लोकमे 'अदर्शन' अर्थात् " नजरसे दूर हो जाना " इस शब्दकाभी मृत्युको उद्देश्यकर उपयोग किया गया है। सांख्य और वेदान्त, दोनो शास्त्रोके अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है, और आत्मा-को अनित्य माननेमेभी यदि यही वात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्युके विषयमें शोक क्यो करते है? आत्मस्वरूपसंबधी अज्ञानही इसका उत्तर है। क्योंकि –]

(२९) कोई तो मानो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझकर इसकी ओर

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

देखता है, कोई आश्चर्यसरीखा इसका वर्णन करता है, और कोई मानो आश्चर्य समझकर सुनता है। परतु (इस प्रकार देखकर अन्य वर्णन और) सुनकरभी (इनमेंसे), कोई इसे (तत्त्वत) नही जानता है।

[अपूर्व वस्तु समझकर बडे-बडे लोग आश्चर्यसे आत्माके विषयमें कितनाही विचार क्यो न करे, पर उसके सच्चे स्वरूपको जाननेवाले लोग बहुतही थोडे है, इसीसे बहुतेरे लोग मृत्युके विषयमें शोक किया करते है। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचारसे आत्मस्वरूपको यथार्थ रीतिपर समझ ले और शोक करना छोडदे यही इसका अर्थ है। कठोपनिषद (कठ २ ७)में इसी ढगका आत्माका वर्णन है।]

(३०) सबके शरीरमे (रहनेवाला) शरीरका स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभीभी वध न किया जानेवाला है, अतएव हे भारत (अर्जुन) ! सब अर्थात् किसीभी प्राणीके विषयमे शोक करना तुझे उचित नही है।

[अबतक यह सिद्ध किया गया, कि साख्य या सन्यास-मार्गके तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभावसेही अनित्य है, इस कारण कोई मरे या मारे, उसमे 'शोक' करनेकी कोई आवश्यकता नही है, परतु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले, कि कोई किसीको मारे तो उसमेभी 'पाप' नही, तो वह भयकर भूल होगी। मरना या मारना, इन दो शब्दोंके अर्थोका यह पृथक्करण है, मरने या मारनेमे जो डर लगता है, उसे पहले दूर करनेके लियेही यह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देहका समुच्चय है। इनमें आत्मा अमर है, इसलिये मरना या मारना ये दोनो शब्द उसे उपयुक्त नही होते। बाकी रह गई देह, वहभी स्वभावसेही अनित्य है, इसलिये यदि उसका नाश हो जाय, तो शोक करने योग्य कुछ है नही। परतु यदृच्छा या कालकी गतिसे कोई मर जाय, या किसीको कोई मार डाले, तो उसका सुख-दुःख न मानकर शोक करना छोड दे, तोभी इस प्रश्नका निपटारा नही हो जाता, कि युद्ध जैसा घोर कर्म करनेके लिये, जानबूझकर, प्रवृत्त होकर लोगोंके शरीरोका नाश हम क्यो करें? क्योकि, देह यद्यपि अनित्य है, तथापि आत्माका पक्का कल्याण या मोक्ष सपादन कर देनेके लिये देहही तो एकमात्र साधन है, अतएव आत्महत्या करना अथवा बिना योग्य कारणोंके किसी दूसरेको मार डालना, ये दोनो शास्त्रानुसार घोर पातकही है। इसलिये मरे हुएका शोक करना यद्यपि उचित नही है, तोभी इसका कुछ-न-कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है, कि एक दूसरेको क्यो मारे। इसीका नाम

§§ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

| धर्माधर्म-विवेक है और गीताका वास्तविक प्रतिपाद्य विषयभी यही है। इसीसे
| जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था साख्य-मार्गकोभी समत है, उसके अनुसारभी अव प्रथम
| युद्ध करना क्षत्रियोका कर्तव्य है, इसलिये भगवान् कहते है, कि तू मरने-
| मारनेका शोक मत कर, इतनाही नही, वल्कि लडाईमें मरना या मार डालना,
| ये दोनो वाते क्षत्रियधर्मके अनुसार तुझको आवश्यकही है –]

(३१) इसके सिवा स्वधर्मकी ओर देखें, तोभी (इस समय) हिंमत हारना तुझे उचित नही है। क्योकि धर्मोचित युद्धकी अपेक्षा क्षत्रियको श्रेयस्कर और कुछ हैही नही।

| [स्वधर्मकी यह उपपत्ति आगेभी दो वार (गीता ३ ३५, १८ ४७)
| वतलाई गई है। सन्यास अथवा साख्य-मार्गके अनुसार यद्यपि कर्मसन्यासरूपी
| चतुर्थ आश्रम अतकी सीढी है, तोभी मनु आदि सभी स्मृति-कर्ताओका कथन
| है, कि उसके पहले चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाके अनुसार ब्राह्मणको ब्राह्मण-धर्म और
| क्षत्रियको क्षत्रिय-धर्मका पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिये, अतएव
| इस श्लोकका और आगेके श्लोकका तात्पर्य यह है, कि गृहस्थाश्रमी अर्जुनको
| युद्ध करना आवश्यक है।]

(३२) और हे पार्थ! यह युद्ध आपही आप खुला हुआ स्वर्गका द्वारही है, ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियोहीको मिला करता है। (३३) अतएव यदि तू (अपने) धर्मके अनुकल यह युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पाप वटोरेगा, (३४) यही नही, वल्कि (सव) लोग तेरी अक्षय्य दुष्कीर्ति गाते रहेगे! और अपयश तो सभावित पुरुषके लिये मृत्युसेभी वढकर है।

| [श्रीकृष्णने यही तत्त्व उद्योगपर्वमे युधिष्ठिरकोभी वतलाया है (मभा
| उ ७२ २४)। वहाँ यह श्लोक है – " कुलीनस्य च या निंदा वधो वाऽमित्र-
| कर्षणम्। महागुणो वधो राजन् न तु निंदा कुजीविका ।। " परतु गीतामे उसकी

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

| अपेक्षा यह अर्थ सक्षेपमे है, और गीता-ग्रथका प्रचारभी अधिक है, इस कारण
| गीताके 'सभावितस्य०' इत्यादि वाक्यका कहावतका-सा उपयोग होने लगा है।
| गीताके और बहुतेरे श्लोकभी इसीके समान सर्वसाधारण लोगोमें प्रचलित हो
| गये है। अब दुष्कीर्तिका स्वरूप बतलाते है –]

(३५) (सब) महारथी समझेंगे, कि तू डरकर रणसे भाग गया, और जिन्हें (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वेही तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे। (३६) ऐसेही तेरी सामर्थ्यकी निंदा कर, तेरे शत्रु ऐसी ऐसी अनेक बातें (तेरे विषयमें) कहेंगे, जो न कहनी चाहिये। इससे अधिक दु खकारक और हैही क्या ? (३७) मर जायगा, तो स्वर्गको जावेगा, और जीतेगा तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा ! इसलिये हे अर्जुन ! युद्धका निश्चय करके उठ !

| [उल्लिखित विवेचनसे न केवल यही सिद्ध हुआ, कि साख्य-ज्ञानके
| अनुसार मरने-मारनेका शोक न करना चाहिये, प्रत्युत यहभी सिद्ध हो गया,
| कि स्वधर्मके अनुसार युद्ध करनाही कर्तव्य है। तोभी अब इस शकाका उत्तर
| दिया जाता है, कि लडाईमें होनेवाली हत्याका 'पाप' कर्ताको लगता है या
| नही। वास्तवमें इस उत्तरकी युक्तियाँ कर्मयोग-मार्गकी है, इसलिये उस मार्गकी
| प्रस्तावना यहीं हुई है।]

(३८) सुख-दु ख, लाभ-नुकसान और जय-पराजयको एकसा मानकर फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे (कोईभी) पाप लगनेका नही।

| [ससारमें आयु बितानेके दो मार्ग हैं – एक साख्य और दूसरा योग।
| इनमेंसे जिस साख्य अथवा सन्यास-मार्गके आचारको ध्यानमें लाकर अर्जुन
| युद्ध छोड भिक्षा मांगनेके लिये तैयार हुआ था, उस सन्यास-मार्गके तत्त्वज्ञाना-
| नुसारही आत्माका या देहका शोक करना उचित नही है। भगवानने अर्जुनको
| सिद्ध कर दिखलाया है, कि सुख और दु खोको सम-बुद्धिसे सह लेना चाहिये,

§ § एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

§ § नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

| एव स्वधर्मकी ओर ध्यान देकर युद्ध करनाही क्षत्रियको उचित है, तथा सम-
| बुद्धिसे युद्ध करनेमें कोईभी पाप नही लगता। परतु इस मार्गका (साख्य)
| मत है, कि कभी-न-कभी ससार छोडकर सन्यास ले लेनाही प्रत्येक मनुष्यका
| इस जगतमें परम कर्तव्य है, इसलिये इष्ट जान पडे तो अभीही युद्ध छोडकर
| सन्यास क्यो न ले ले, अथवा स्वधर्मपालनही क्यो करें? इत्यादि शकाओका
| निवारण साख्य-ज्ञानसे नही होता, और इसीसे यह कह सकते है, कि अर्जुनका
| मूल आक्षेप ज्यो का त्यो बना रहता है। अतएव अब भगवान् कहते है —]

(३९) साख्य अर्थात् सन्यास-निष्ठाके अनुसार तुझे यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान या उपपत्ति बतलाई। अब जिस बुद्धिसे युक्त होनेपर (कर्मोके न छोडने परभी) हे पार्थ! तू कर्मबध छोडेगा, ऐसी यह (कर्म)-योगकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान (तुझे बतलाता हूँ) सुन!

| [भगवद्गीताका रहस्य समझनेके लिये यह श्लोक अत्यत महत्त्वका है।
| साख्य शब्दसे कपिलका साख्य या निरा वेदान्त, और योग शब्दसे पातजल-
| योग यहाँपर उद्दिष्ट नही है, साख्यसे सन्यास-मार्ग और योगसे कर्म-मार्गहीका
| अर्थ यहाँपर लेना चाहिये। गीताके (३ ३) श्लोकसे प्रकट यह है, कि ये दोनो
| मार्गस्वतत्र है, इनके अनुयायियोकोभी क्रमसे 'साख्य' — सन्यास-मार्गी, और 'योग'
| कर्मयोग-मार्गी कहते हैं (गीता ५ ५)। इनमेंसे साख्य-निष्ठावाले लोग कभी-
| न-कभी अतमे कर्मोको सर्वथा छोड देनाही श्रेष्ठ मानते है, इसलिये इस मार्गके
| तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी इस शकाका पूरा पूरा समाधान नही होता, कि "युद्ध क्यो
| करूँ?" अतएव जिस कर्मयोग-निष्ठाका ऐसा मत है, कि सन्यास न लेकर ज्ञान-
| प्राप्तिके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे सदैव कर्म करते रहनाही प्रत्येकका सच्चा
| पुरुषार्थ है, उसी कर्मयोगका, अथवा सक्षेपमें योग-मार्गका, ज्ञान बतलाना अब
| आरभ किया गया है, और गीताके अतिम अध्याय तक, अनेक कारण दिखलाते
| हुए, अनेक शकाओका निवारण कर, इसी मार्गका, पुष्टीकरण किया गया है।
| गीताके विषय-निरूपणका, स्वय भगवानका किया हुआ, यह स्पष्टीकरण ध्यानमें
| रखनेसे इस विषयमें कोई शका रह नही जाती, कि कर्मयोगही गीतामें प्रतिपाद्य
| है। कर्मयोगके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोका पहले निर्देश करते है —]

(४०) यहाँ अर्थात इस कर्मयोग-मार्गमें (एक बार) आरभ किये हुए

§§ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

कर्मका नाश नही होता और (आगे) विघ्नभी नही होते। इस धर्मका थोडा-साभी (आचरण) बडे भयसे संरक्षण करता है।

| [इस सिद्धान्तका महत्त्व गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमे (पृष्ठ २८६) दिखलाया गया है, और अधिक स्पष्टीकरण आगे गीतामेंभी किया गया है (गीता ६ ४०–४६)। इसका यह अर्थ है, कि कर्मयोग-मार्गमें यदि एक जन्ममें सिद्धि न मिले, तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्ममें उपयोगी होता है, और प्रत्येक जन्ममें इसकी बढती होती है, एव अतमें कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलतीही है। अब कर्म-योगमार्गका दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बतलाते है –]

(४१) हे कुरुनन्दन, इस मार्गमे व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्यका निश्चय करनेवाली (इद्रियरूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पडती है, क्योकि जिनकी बुद्धिका (इस प्रकार एक) निश्चय नही होता, उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओंसे युक्त और अनत (प्रकारकी) होती है।

| [सस्कृतमे बुद्धि शब्दके अनेक अर्थ है। ३९ वे श्लोकमे यह शब्द-ज्ञानके अर्थमें आया है, और आगे ४९ वे श्लोकमें इस 'बुद्धि' शब्दकाही "समझ, इच्छा, वासना, या हेतु" अर्थ है। परतु बुद्धि शब्दके पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है, इसलिये इस श्लोकके पूर्वार्धमे उसी शब्दका अर्थ यो होता है– व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धि-इद्रिय (गीतार प्र ६, १३४–१३९)। पहले इस बुद्धि-इद्रियसे किसीभी बातका भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करनेकी इच्छा या वासना मनमे हुआ करती है, अतएव इस इच्छा या वासनाकोभी बुद्धिही कहते हैं, परतु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नही लगाते। भेद दिखलाना आवश्यकही हो, तो 'वासनात्मक' बुद्धि कहते है। इस श्लोकके दूसरे चरणमे सिर्फ 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मका' यह विशेषण नही है, इसलिये बहुवचनान्त 'बुद्धय'से 'वासना, कल्पनातरग' अर्थ होकर पूरे श्लोकका यह अर्थ होता है, कि "जिसकी व्यवसायात्मका बुद्धि अर्थात निश्चय करनेवाली बुद्धि-इद्रिय स्थिर नही होती, उनके मनमे क्षण क्षण में नई तरगे या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती है।" बुद्धि शब्दके 'निश्चय करनेवाली इद्रिय' या 'वासना' इन दोनो अर्थोको ध्यानमे रखे बिना कर्मयोगकी बुद्धिके विवेचनका मर्म भली भाँति समझमें आनेका नही। व्यवसायात्मका बुद्धिके स्थिर या एकाग्र न रहनेसे प्रतिदिन भिन्न भिन्न

६९ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

| वासनाओंसे मन व्यग्र हो जाता है, और मनुष्य ऐसी अनेक झझटोमे पड जाता
| है, कि आज पुत्रप्राप्तिके लिये अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्गकी प्राप्तिके लिये
| अमुक कर्म करो। बस इसीका वणन अव करते है –)

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकाडात्मक वेदोके (फलश्रुति-युक्त) वाक्योमे भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ लोग कि, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नही है, वढा कर कहा करते है, कि – (४३) " अनेक प्रकारके (यज्ञ-याग आदि) कर्मोसेही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है, और (जन्म-जन्मान्तरमें) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है, " – स्वर्गके पीछे पडे हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषणकी ओरही उनके मन आकर्षित हो जानेसे, भोग और ऐश्वयमेंही गर्क रहते है, इस कारण उनकी व्यवसायात्मका अर्थात् कार्य-अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धि (कभीभी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थानमें स्थिर नही रह सकती।

| [ऊपरके तीनो श्लोकोका मिलकर एकही वाक्य है, उसमें उन ज्ञान-
| विरहित कर्मठ मीमासा-मार्गवालोका वर्णन है, जो श्रौत-स्मार्त कर्मकाडके अनुसार
| आज अमुक हेतुकी सिद्धिके लिये, तो कल और किसी हेतुसे, सदैव स्वार्थके
| लियेही, यज्ञ-याग आदि कर्म करनेमे निमग्न रहते है। यह वर्णन उपनिषदोके
| आधारपर किया गया है – उदाहरणार्थ, मुडकोपनिषदमें कहा है –

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

| " इष्टापूर्तही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछभी श्रेष्ट नही – यह माननेवाले मूढ
| लोग स्वर्गमे पुण्यका उपभोग कर चुकनेपर फिर नीचेके इस मनुष्य-लोकमे
| आते है " (मुड १ २ १०)। ज्ञानविरहित कर्मोकी इसी ढगकी निदा ईशा-
| वास्य और कठ उपनिषदोमेंभी की गयी है (कठ २ ५, ईश ९ १२)। परमे-
| श्वरका ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मोमेंही फसे रहनेवाले इन लोगोको (गीता
| ९ २१) अपने अपने कर्मोके स्वर्ग आदि फल मिलते तो है, पर उनकी वासना
| आज एक कर्ममें, तो कल किसी दूसरेही कर्ममें रत होकर चारो ओर घुड-

§§ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

| दौडसी मचाये रहती है, इस कारण उन्हें स्वर्गका आवागमन नसीब हो जाने
| परभी मोक्ष नही मिलता। मोक्षकी प्राप्तिके लिये बुद्धि-इद्रियको स्थिर या एकाग्र
| रखना चाहिये। आगे छठे अध्यायमे विचार किया गया है, कि उसको एकाग्र
| किस प्रकार करना चाहिये। अभी तो इतनाही कहते है कि –]

(४५) हे अर्जुन! (कर्मकाडात्मक) वेद (इस रीतिसे) त्रैगुण्यकी बातोसे भरे पडे है, इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणोंसे अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुखदु ख आदि द्वद्वोमे अलिप्त हो, एव योगक्षेम आदि स्वार्थोमें न पडकर आत्मनिष्ठ हो!

| [सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोंसे मिश्रित प्रकृतिकी सृष्टिको
| त्रैगुण्य कहते हैं। यह बात गीतारहस्य (पृ २३१–२५७)में स्पष्ट कर दिखलाई
| गई है, कि सृष्टि, सुख-दुख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान् द्वद्वोंसे भरी
| हुई है, और सत्य ब्रह्म उसके परे है। इसी अध्यायके ४३ वे श्लोकमें, कहा है,
| कि प्रकृतिके अर्थात् मायाके इस ससारके सुखोंकी प्राप्तिके लिये मीमासक-
| मार्गवाले लोग श्रौत, यज्ञ-याग आदि क्रिया करते है, और वे इन्हीमें निमग्न
| रहा करते हैं। कोई पुत्र-प्राप्तिके लिये एक विशेष यज्ञ करता है, तो कोई पानी
| बरसानेके लिये दूसरी इष्टि करता है। ये सब कर्म इस लोगमें ससारी व्यवहारके
| लिये अर्थात् अपने योगक्षेमके लिये है। अतएव प्रकटही है, कि जिसे मोक्ष प्राप्त
| करना हो, वह वैदिक कर्मकाडके इन त्रिगुणात्मक और निरे योगक्षेम सपादन
| करनेवाले कर्मोको छोडकर, अपना चित्त इसके परेके परब्रह्मकी ओर लगावे।
| इसी अर्थमें 'निर्द्वन्द्व' और 'निर्योगक्षेम' – शब्द ऊपर आये है। यहाँ ऐसी शका
| हो सकती है, कि वैदिक कर्मकाडके इन काम्य कर्मोको छोड देनेसे योग-क्षेम
| (निर्वाह) कैसे होगा (गीतार पृ २९२–३९१)। किंतु इसका उत्तर यहाँ
| नही दिया है, यह विषय आगे फिर नवे अध्यायमे आया है, वहाँ कहा है,
| कि इस योग-क्षेमको भगवान् करते है, और इन्ही दो स्थानोपर, गीतामें
| 'योगक्षेम' शब्द आया है (गीता ९ २२ और उसपर हमारी टिप्पणी देखो)।
| नित्य-सत्त्वस्थ पदकाही अर्थ त्रिगुणातीत होता है। क्योकि आगे कहा है, कि
| सत्त्वगुणके नित्य उत्कर्षसेही फिर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है, और
| वही सच्ची सिद्धावस्था है (गीता १४ १४, २०, गीतार पृ १६६–१६७
| तात्पर्य यह है, कि मीमासकोंके योगक्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म
| छोडकर एव सुख-दु खके द्वद्वोसे निपटकर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होनेके

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

विषयमें यहाँ उपदेश किया गया है। किंतु इस बातपर फिरभी ध्यान देना चाहिये, कि आत्मनिष्ठ होनेका अर्थ सब कर्मोको स्वरूपत एकदम छोड देना नही है। ऊपरके श्लोकमें वैदिक काम्य कर्मोकी जो निंदा की गई है, या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मोकी नहा, बल्कि उन कर्मोके विषयमें जो काम्य-बुद्धि होती है, उसकी है। यदि यह काम्य-बुद्धि मनमें न हो तो निरे यज्ञयाग किसीभी प्रकारसे मोक्षके लिये प्रतिबधक नही होते (गीतार पृ २९५–२९७)। आगे अठारहवे अध्यायके आरभमें भगवानने अपना यह निश्चित और उत्तम मत बतलाया है, कि मीमासकोंके इन्ही यज्ञयाग आदि कर्मोको फलाशा और सग छोडकर चित्तकी शुद्धि और लोकसग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये (गीता १८ ६))। गीताकी इन दो स्थानोकी बातोको एकत्र करनेसे यह प्रकट हो जाता है, कि इस अध्यायके श्लोकमे मीमासकोके कर्मकाडकी जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह उसकी काम्य-बुद्धिको उद्देश्य करके है, केवल क्रियाके लिये नही है। इसी अभिप्रायको मनमे लाकर भागवतमेंभी कहा है –

वेदोक्तमेव कुर्वाणो नि सगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धि रोचनार्था फलश्रुति ॥

वेदोक्त कर्मोकी वेदमें जो फलश्रुति कही गयी है, वह रोचनार्थ है अर्थात् इसीलिये है, कि कर्ताको ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मोको उस फल-प्राप्तिके लिये न करे, किंतु नि सग-बुद्धिसे अर्थात् फलकी आशा छोडकर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करें, जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्यसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है" (भाग ११ ३ ४६)। साराश, यद्यपि, वेदोमें कहा है, कि अमुक अमुक कारणोंके निमित्त यज्ञ करे, तथापि उसमें न भूलकर केवल इसीलिये यज्ञ करे कि वे यष्टव्य हैं। अर्थात् यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है, काम्य-बुद्धिको तो छोड दें, पर यज्ञको न छोडे (गीता १५ ११), और उसी प्रकार अन्यान्य कर्मभी किया करे – यह गीताके उपदेशका सार है, और यही अर्थ अगले श्लोकमे व्यक्त किया गया है।]

(४६) चारो ओर पानीकी बाढ आ जाने पर कुएँका जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछभी काम नही रहता), उतनाही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मणको सब (कर्मकाडात्मक) वेदका रहता है (अर्थात् सिर्फ काम्य-कर्मरूपी वैदिक कर्मकाडकी उसे कुछ आवश्यकता नही रहती।

[इस श्लोकके फलितार्थके सबधमें मतभेद नही है। पर टीकाकारोंने

इसके शब्दोंकी नाहक खींचातानी की है। 'सर्वतः सम्प्लुतोदके' यह सप्तम्यन्त सामासिक पद है। परन्तु उसे निरी सप्तमी या उदपानका विशेषणभी न समझ कर 'सति सप्तमी' मान लेंगे, "सर्वतः सम्प्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः" इस प्रकार किसीभी बाहरके पदको अध्याहृत मानना नही पडता, सरल अन्वय लग जाता है, और उसका यह सरल अर्थभी हो जाता है, कि "चारो ओर पानीही पानी होनेपर (पीनेके लिये कहीभी बिना प्रयत्नके यथेष्ट पानी मिलने लगनेपर) जिस प्रकार कुएँको कोईभी नही पूछता, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्त पुरुषको यज्ञ-याग आदि केवल वैदिक कर्मका कुछभी उपयोग नही रहता।" क्योंकि, वैदिक कर्म केवल स्वर्ग-प्राप्तिके लियेही नही, बल्कि अंतमें मोक्षसाधक ज्ञान-प्राप्तिके लिये करना होता है, और इस पुरुषको तो ज्ञान-प्राप्ति पहलेही हो जाती है, इस कारण उसे वैदिक कर्म करके कोई नई वस्तु पानेके लिये शेष रह नही जाती। इसी हेतुसे, आगे तीसरे अध्यायमें (गीता ३. १७) कहा है, कि "जो ज्ञानी हो गया, उसे इस जगतमें कर्तव्य शेष नही रहता।" बडे भारी तालाव या नदी पर अनायासही, जितना चाहिये उतना, निर्मल पानी पीनेकी सुविधा होनेपर कुएँकी ओर कौन झाँकेगा? ऐसे समय कोईभी कुएँकी अपेक्षा नही रखता। सनत्सुजातीयके अंतिम अध्यायमें (मभा. उद्योग ४५. २६) यही श्लोक कुछ थोडे-से शब्दोंके हेरफेरसे आया है। माधवाचार्यने इस श्लोककी टीकामें वैसाही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है, एवं शुकानुप्रश्नमें ज्ञान और कर्मके तारतम्यका विवेचन करते समय साफ कह दिया है– "न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव" – नदीपर जिसे पानी मिलता है, वह जिस प्रकार कुएँकी परवाह नही करता उसी प्रकार 'ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्मकी कुछ परवाह नही करते (मभा. शां. २४०. १०)। ऐसेही पांडव-गीताके सत्रहवे श्लोकमें कुएँका दृष्टान्त यों दिया है – जो वासुदेवका छोडकर दूसरे देवताकी उपासना करता है, वह – "तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः" – भागीरथी तटपर पीनेके लिये पानी मिलने परभी, कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुषके समान मूर्ख है। यह दृष्टान्त केवल वैदिक ग्रंथोंमेंही नहीं है, प्रत्युत पालीके बौद्ध ग्रंथोंमेंभी उसके प्रयोग है। यह सिद्धान्त बौद्ध धर्मकोभी मान्य है, कि जिस पुरुषने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो उसे आगे और कुछ प्राप्त करनेके लिये नही रह जाता, और इस सिद्धान्तको वतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रंथके (७. ९) इस श्लोकमें यह दृष्टान्त दिया है – "किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुं" – सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जानेसे कुएँको लेकर क्या करना है? आजकल बडे-बडे शहरोंमें यह देखाभी जाता है, कि घरमें नल हो जानेसे फिर कोई कुएँकी परवाह नही करता। इससे और विशेष कर

§ § कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

शुकानुप्रश्नके विवेचनसे गीताके दृष्टान्तका स्वारस्य ज्ञात हो जायगा, और यह दीख पडेगा, कि हमने इस श्लोकका ऊपर जो अर्थ किया है, वही सरल और ठीक है। परतु, चाहे इस कारणसे हो, कि ऐसे अर्थसे वेदोमे कुछ गौणता आ जाती है, अथवा इस साप्रदायिक सिद्धान्तकी ओर दृष्टि देनेसे हो, कि ज्ञानमेंही समस्त कर्मोंका समावेश रहनेके कारण ज्ञानीको कर्म करनेकी जरूरत नही। गीताके टीकाकार इस श्लोकके पदोका अन्वय कुछ निराले ढँगसे लगाते है। वे इस श्लोकके पहले चरणमें 'तावान्' और दूसरे चरणमें 'यावान्' पदोको अध्याहृत मानकर ऐसा अर्थ लगाते है – " उदपाने यावानर्थं तावानेव सर्वत सम्प्लुतोदके यथा सम्पद्यते तथा यावान् सर्वेषु वेदेषु अर्थ तावान् विजानत ब्राह्मणस्य सम्पद्यते " – अर्थात् स्नान-पान आदि कर्मोंके लिये कुएँका जितना उपयोग होता है, उतनाही वडे तालावकाभी (सर्वत सम्प्लुतोदके) हो सकता है, उसी प्रकार वेदोका जितनाभी उपयोग है, उतना सव, ज्ञानी पुरुषको ज्ञानसे हो सकता है। परतु इस अन्वयमें पहली श्लोकपक्तिमें 'तावान्' और दूसरी पक्तिमें 'यावान्' इन दो पदोंके अध्याहार कर लेनेकी आवश्यकता पडनेके कारण, हमने इस अन्वय और अर्थको स्वीकृत नही किया। हमारा अन्वय और अर्थ किसीभी पदके, अध्याहार किये विनाही लग जाता है, और पूर्वके श्लोकसे सिद्ध होता है, कि उसमें प्रतिपादित वेदोके कोरे अर्थात् ज्ञानव्यतिरिक्त कर्मकाडका गौणत्वही इस स्थलपर विवक्षित है। अव ज्ञानी पुरुषको यज्ञयाग आदि कर्मोंकी कोई आवश्यकता न रह जानेसे, कुछ लोग जो यह अनुमान किया करते हैं, कि इन कर्मोंको ज्ञानी पुरुष न करे, विलकुल छोड दे – यह बात गीताको समत नही है। क्योंकि, यद्यपि इन कर्मोंका फल ज्ञानी पुरुषको अभीष्ट नहीं होता, तथापि फलके लिये न सही, तोभी यज्ञयाग आदि कर्मोंको, अपना शास्त्र-विहित कर्तव्य समझकर, वह कभी छोड नही सकता – अठारहवे अध्यायमें भगवानने अपना निश्चित मत स्पष्ट कह दिया है, कि फलाशा न रहे, तोभी अन्यान्य निष्काम कर्मोंके समान यज्ञयाग आदि कर्मभी ज्ञानी पुरुषको नि सग-बुद्धिसे करनेही चाहिये (पिछले श्लोकपर और गीता ३ १९ पर हमारी जो टिप्पणी है, उसे देखो)। यही निष्कामविषयक अर्थ अब अगले श्लोकमें व्यक्त कर दिखलाते हैं –]

(४७) कर्म करने मात्रका तेरा अधिकार है, फल (मिलना या न मिलना) कभीभी तेरे अधिकार अर्थात् तावेमें नही, (इसलिये मेरे कर्मका)

§ § योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अमुक फल मिले, यह (लालची) हेतु (मनमें) रखकर काम करनेवाला न हो, और कर्म न करनेकाभी तू आग्रह न कर।

[इस श्लोकके चारो चरण परस्पर एक दूसरेके अर्थके पूरक हैं। इस कारण अतिव्याप्ति न होकर कर्मयोगका सारा रहस्य थोडेमें उत्तम रीतिसे वतला दिया गया है। और तो क्या, यह कहनेमेंभी कोई हानि नही, कि ये चारो चरण कर्मयोगकी चतु सूत्रीही हैं। यह पहले कह दिया है, कि " कर्म करने मात्रका तेरा अधिकार है। " परतु इसपर यह शका होती है, कि, कर्मका फल तो कर्मसेही सयुक्त होनेके कारण " जिसका पेड, उसीका फल " इस न्यायसे जो कर्म करनेका अधिकारी है, वही फलकाभी अधिकारी होगा। अतएव इस शकाको दूर करनेके निमित्त दूसरे चरणमें स्पष्ट कह दिया है, कि " फलमें तेरा अधिकार नही है। " फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है, कि " मनमें फलाशा रखकर कर्म करनेवाला मत हो। " ('कर्मफलहेतु ' = कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतु ऐसा बहुव्रीहि समास होता है,), परतु कर्म और उसका फल दोनो सलग्न होते हैं, इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे, कि फलाशाके साथ साथ फलकोभी छोडही देना चाहिये, तो उसेभी सच न माननेके लिये अतमें स्पष्ट उपदेश किया है, कि " फलाशाको तो छोड दे, पर इसके साथही कर्म न करनेका अर्थात् कर्म छोडनेका आग्रह न कर।" साराश, " कर्म कर " कहनेसे यह अर्थ तो नही होता कि " फलकी आशाको रख " और " फलकी आशाको छोड " कहनेसे यह अर्थ नही हो जाता कि " कर्मोको छोड दे " अतएव इस श्लोकका यह अर्थ है, कि फलाशा छोडकर कर्तव्य-कर्म अवश्य करना चाहिये, किंतु न तो कर्मकी आसक्तिमें फँसे और न कर्मही छोडें — " त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि राग " (योग ५ ५ ५४)। और यह दिखलाकर कि फल मिलनेकी वात अपने वशमें नही है, किंतु उसके लिये और अनेक वातोकी अनुकूलता आवश्यक है, अठारहवे अध्यायमें फिर यही अर्थ औरभी दृढ किया गया है (गीता १८ १४–१६, गीतारहस्य प्र ५, पृ ११५, प्र १२)। अव कर्मयोगका यह स्पष्ट लक्षण वतलाते हैं, कि इसेही योग अथवा कर्मयोग कहते है —]

(४८) हे धनजय ' आसक्ति छोडकर, और कर्मकी सिद्धि हो या असिद्धि, दोनोको समानही मानकर 'योगस्थ' हो करके कर्म कर, (कर्मके सिद्ध होने या निष्फल होनेमें रहनेवाली) समताकी (मनो-)वृत्तिकोही (कर्म-)योग कहते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

(४९) क्योकि हे धनजय! बुद्धिके (साम्य-)योगकी अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुतही कनिष्ठ है। अतएव इस साम्य-बुद्धिकी शरणमें जा। फलहेतुक अर्थात् फलपर दृष्टि रखकर काम करनेवाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जेके हैं। (५०) जो (साम्य-)बुद्धिसे युक्त हो जाय, वह इस लोकमें पाप और पुण्य, दोनोसे अलिप्त रहता है, अतएव योगका आश्रय कर। (पाप-पुण्यमे बचकर) कर्म करनेकी चतुराईकोही (कुशलता या युक्ति) कर्मयोग कहते हैं।

[इन श्लोकोमें कर्मयोगका जो लक्षण बतलाया है, वह महत्त्वका है, इस सबधमें गीतारहस्यके तीसरे प्रकरणमें (पृ ५६–६४) जो विवेचन किया गया है, उसे देखो। पर उसमेंभी कर्मयोगका जो तत्त्व – "कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है" – ४९ वे श्लोकमें बतलाया है, वह अत्यत महत्त्वका है। 'बुद्धि' शब्दके पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण नही है, इसलिये इस श्लोकमें उसका अर्थ 'वासना' या 'समझ' होना चाहिये। कुछ लोग बुद्धिका अर्थ 'ज्ञान' करके इस श्लोकका ऐसा अर्थ करना चाहते है, कि ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म हलके दर्जेका है, परतु यह अर्थ ठीक नही है। क्योकि, पीछे ४८ वे श्लोकमे समत्वका लक्षण बतलाया है, और ४९ वे तथा अगले श्लोकमेंभी वही वर्णित है, इस कारण यहाँ बुद्धिका अर्थ समत्व-बुद्धिही करना चाहिये। किसीभी कर्मकी भलाई-बुराई कर्मपर अवलबित नही होती, कर्म एकही क्यो न हो, पर करनेवालेकी भली वा बुरी बुद्धिके अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है, अत कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ है, इत्यादि नीतिके तत्त्वोका विचार गीतारहस्यके चौथे, बारहवे और पद्रहवे प्रकरणमे (पृ ८८, ३८३–३८४, ४७७–४८०) किया गया है, इस कारण यहाँ और अधिक चर्चा नही करते। ४१ वे श्लोकमे बतलायाही है, कि वासनात्मक बुद्धिको सम और शुद्ध रखनेके लिये कार्य-अकार्यका निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मका बुद्धि पहले स्थिर हो जानी चाहिये। इसलिये 'साम्य-बुद्धि' – इस शब्दसेही स्थिर व्यवसायात्मका बुद्धि, और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनोकाभी बोध हो जाता है। यह साम्य-बुद्धिही, शुद्ध आचरण अथवा कर्मयोगकी जड है, इसलिये ३९ वे श्लोकमें भगवानने पहले जो यह कहा है, कि कर्म करनेकीभी कर्मकी बाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुझे बतलाता हूँ, उसीके अनुसार इस श्लोकमें कहा है, कि "कर्म करते समय बुद्धिको

§§ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

| स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखनाही " वह 'युक्ति' या 'कौशल्य' है, और
| इसीको 'योग' कहते हैं – इस प्रकार योग शब्दकी दो बार व्याख्या की गई है।
| ५० वे श्लोकके " योग कर्मसु कौशलम् " इस पदका इस प्रकार सरल अर्थ
| लगनेपरभी, कुछ लोगोंने ऐसी खींचातानीसे अर्थ लगानेका प्रयत्न किया है,
| कि " कर्मसु योग कौशलम् " – कर्ममे जो योग है, उसको कौशल कहते है। पर
| 'कौशल' शब्दकी व्याख्या करनेका यहाँ कोई प्रयोजन नही है, 'योग' शब्दका
| लक्षण बतलानाही अभीष्ट है, इसलिये यह अर्थ सच्चा नही माना जा सकता।
| इसके अतिरिक्त जब कि " कर्मसु कौशलम् " ऐसा सरल अन्वय लग सकता है,
| तब 'कर्मसुयोग ' ऐसा औंधासीधा अन्वय करनाभी ठीक नही है। अब बतलाते
| हैं, कि इस प्रकार साम्य-बुद्धिसे समस्त कर्म करते रहनेसे व्यवहारका लोप नही
| होता और पूर्ण सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त हुए विना नही रहता –]

(५१) (समत्व-) बुद्धिसे युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफलका त्याग करते हैं, (वे) जन्मके बंधसे मुक्त होकर (परमेश्वरके) दुःखविरहित पदको जा पहुँचते हैं। (५२) जब तेरी बुद्धि मोहके गँदले आवरणसे पार हो जायगी, तब उन बातोसे तू विरक्त हो जायगा, जो सुनी हैं और सुननेकी है।

| [अर्थात् तुझे अधिक कुछ सुननेकी इच्छा न होगी। क्योकि इन बातोंके
| सुननेसे मिलनेवाला फल तुझे पहलेही प्राप्त हो चुका होगा। 'निर्वेद' शब्दका
| उपयोग प्राय संसारी प्रपंचसे उकताहट या वैराग्यके लिये किया जाता है। इस
| श्लोकमें उसका सामान्य अर्थ ' ऊब जाना ' या ' चाह न रहना 'ही है। अगले
| श्लोकसे दीख पडेगा, कि यह उकताहट, विशेष करके पीछे बतलाये हुए, त्रैगुण्य-
| विषयक श्रौत-कर्मोंके सबधमें है।]

(५३) (नाना प्रकारके) वेदवाक्योंसे घबडाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधिवृत्तिमें स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्य-बुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

[साराश, द्वितीय अध्यायके ४४ वे श्लोकके कथनानुसार, लोग जो वेद-
| वाक्यकी फलश्रुतिमें भूले हुए हैं, और जो लोग किसी विशेष फलकी प्राप्तिके

अर्जुन उवाच।

§ § स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

| लिये कुछ-न-कुछ कर्म करनेकी धुनमें लगे रहते है, उनकी बुद्धि स्थिर नही होती – औरभी अधिक गडवडा जाती है। इसलिये अनेक उपदेशोका सुनना छोड कर चित्तको निश्चल समाधि-अवस्थामें रख, ऐसा करनेसे साम्य-बुद्धिरूप कर्मयोग तुझे प्राप्त होगा और अधिक उपदेशकी जरूरत न रहेगी, एव कर्म करनेपरभी तुझे उनका पाप न लगेगा। इस रीतिसे जिस कर्मयोगीकी बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते है। अब अर्जुनका प्रश्न है, कि उसका व्यवहार कैसा होता है।]

अर्जुनने कहा – (५४) हे केशव! (मुझे वतलाओ कि) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहे? उस स्थितप्रज्ञका वोलना, वैठना, और चलना कैसा रहता है?

| [इस श्लोकमें 'भाषा' शब्द 'लक्षण'के अर्थमे प्रयुक्त है और हमने उसका भाषातर, उसकी भाषा धातुके अनुमार 'किसे कहे' किया है। गीतारहस्यके वारहवे प्रकरणमें (पृ ३६८–३६९) स्पष्ट कर दिया है, कि स्थितप्रज्ञका वर्ताव कर्मयोगशास्त्रका आधार है, और उससे अगले वर्णनका महत्त्व ज्ञात हो जायगा।]

श्रीभगवानने कहा – (५५) हे पार्थ! (जब कोई मनुष्य अपने) मनके समस्त काम अर्थात् वासनाओको छोडता है, और अपने आपमेंही सतुष्ट होकर रहता है, तव उसको स्थितप्रज्ञ कहते है। (५६) दु खमें जिसके मनको खेद नही होता, सुखमें जिसकी आसक्ति नही, और प्रीति, भय एव क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते है। (५७) सव वातोमें जिसका मन नि सग हो गया, और यथाप्राप्त शुभ-अशुभका जिसे आनद या विपादभी नही, (कहना चाहिये

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५८) जिस प्रकार कछुवा अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओरसे सिकोड लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इद्रियोंके (शब्द, स्पर्श आदि) विषयोसे (अपनी) इद्रियोको खीच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५९) निराहारी पुरुषके विषय छूट जावे, तोभी (उनका) रस अर्थात् चाह नही छूटती। परतु परब्रह्मका अनुभव होनेपर (सब विषय और उनकी) चाहभी छूट जाती है—अर्थात् विषय और उनकी चाह, दोनो छूट जाते है।

[अन्नसे इद्रियोका पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करनेसे इद्रियाँ अशक्त होकर अपने विषयोका सेवन करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीतिसे विषयोपभोगका छूटना केवल जबर्दस्तीकी, अशक्तताकी बाह्य क्रिया हुई। उससे मनकी विषयवासना (रस) कुछ कम नही होता, इसलिये वह वासना जिससे नष्ट हो, उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मका अनुभव हो जानेपर मन एव उसके साथही साथ इद्रियाँभी आप-ही-आप तावेमे रहती है, इद्रियोको तावेमें रखनेके लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नही है, यही इस श्लोकका भावार्थ है। और यही अर्थ आगे छठे अध्यायके इस श्लोकमे स्पष्टतासे वर्णित है (गीता ६ १६, १७, ३ ६, ७), कि योगीका आहार नियमित रहे, आहार-विहार आदिको वह बिलकुलही न छोड दे। साराश, गीताका यह सिद्धान्त ध्यानमें रखना चाहिये, कि शरीरको कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकागी हैं, अतएव वे त्याज्य हैं, नियमित आहारविहार और ब्रह्म-ज्ञानही इद्रियनिग्रहका उत्तम साधन है। इस श्लोकमें रस शब्दका "जिह्वासे अनुभव किया जानेवाला मीठा, कडुवा इत्यादि रस" ऐसा अर्थ करके, कुछ लोग यह अर्थ करते है, कि उपवासोंसे शेष इद्रियोंके विषय यदि छूटभी जायँ, तोभी जिह्वाका रस अर्थात् खाने-पीने-की इच्छा कम न होकर बहुत दिनोंके निराहारसे वह औरभी अधिक तीव्र हो जाती है, और, भागवतमें ऐसे अर्थका एक श्लोकभी है (भाग ११ ८ २०)। पर हमारी रायमें गीताके इस श्लोकका ऐसा अर्थ करना ठीक नही। क्योकि दूसरे चरणसे वह मेल नही रखता। इसके अतिरिक्त भागवतमें 'रस' शब्द नही, 'रसन' है, और गीताके श्लोकका दूसरा चरणभी वहाँ नही है। अतएव भागवत और गीताके श्लोकको एकार्थक

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१ ॥

| मान लेना उचित नही है। अब आगेके दो श्लोकोमें यही अर्थ अधिक स्पष्टकर
| वतलाते हैं, कि विना ब्रह्मसाक्षात्कारके पूरा इद्रियनिग्रह होही नही सकता है —]

(६०) कारण यह है, कि केवल (इद्रियोंके दमन करनेके लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वानकेभी मनको, हे कुतीपुत्र ! ये प्रवल इद्रियाँ बलात्कारसे मनमानी ओर खीच लेती हैं। (६१) (अतएव) इन सब इद्रियोका सयमनकर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इद्रियाँ अपने आधीन हो जायँ, (कहना चाहिये कि) उसकी वुद्धि स्थिर हो गई।

| [इस श्लोकमें कहा है, कि नियमित आहारसे इद्रियनिग्रह करके, साथही
| साथ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये मत्परायण होना चाहिये। अर्थात् ईश्वरमें चित्त
| लगाना चाहिये, और ५९ वे श्लोकका हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रकट
| होगा, कि उसका हेतु क्या है ? मनुनेभी निरे इद्रियनिग्रह करनेवाले पुरुषको
| यह इशारा किया है, कि "वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति' (मनु
| २ २१५), और उसीका अनुवाद ऊपरके ६० वे श्लोकमें किया है। साराश,
| इन तीन श्लोकोका भावार्थ यह है, कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना
| आहार-विहार नियमित रखकर ब्रह्मज्ञानही प्राप्त करना चाहिये, और यह
| ब्रह्मज्ञान होनेपरही मन निर्विषय होता है, शरीरक्लेशके उपाय तो ऊपरी
| हैं — सच्चे नही। 'मत्परायण' पदसे यहाँ भक्ति-मार्गकाभी आरम हो गया
| है (गीता ९ १३४)। ऊपरके श्लोकमें जो 'युक्त' शब्दका अर्थ योगसे तैयार
| या वना हुआ है। गीता ६ १७ के 'युक्त' शब्द है, उसका अर्थ 'नियमित' है।
| पर गीताके इस शब्दका सदैवका अर्थ है — "साम्य-वुद्धिका जो योग गीतामें
| वतलाया गया है, उसका उपयोग करके तदनुसार समस्त सुखदु खोको शाति-
| पूर्वक सहन कर, व्यवहार करनेमें चतुर पुरुष" (गीता ५ २३)। इस
| रीतिसे निष्णात हुए पुरुषकोही 'स्थितप्रज्ञ' यह कहते हैं, उसकी यह अवस्थाही
| सिद्धावस्था कहलाती है, और इस अध्यायके तथा पाँचवे एव वारहवे अध्यायके
| अतमें इसीका वर्णन है। यह वतला दिया, कि विषयोकी चाह छोडकर स्थित-
| प्रज्ञ होनेके लिये क्या आवश्यक है ? अब अगले श्लोकोमें यह वर्णन करते हैं कि,
| विषयोंमें चाह कैसे उत्पन्न होती है ? इस चाहसे आगे चलकर कामक्रोध आदि

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

| विकार कैसे उत्पन्न होते है ? और अतमें उससे मनुष्यका नाश कैसे हो जाता
| है। एव इनसे छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है ?]

(६२) विषयोका चितन करनेवाले पुरुषका इन विषयोमें सग वढता जाता है। फिर इस सगसे यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये, और (इस कामकी तृप्ति होनेमें विघ्न आनेसे) उस कामसेही क्रोधकी उत्पत्ति होती है, (६३) क्रोधसे समोह अर्थात् अविवेक होता है, समोहसे स्मृति-भ्रश, स्मृति-भ्रशसे बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाशसे (पुरुषका) सर्वस्व नाश हो जाता है। (६४) परतु अपना आत्मा अर्थात् अत करण जिसके कावूमें है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेषसे छूटी हुई, अपने आधीन इद्रियोंसे विषयोमें वर्ताव करकेभी (चित्तसे) प्रसन्न रहता है। (६५) चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सव दु खोका नाश होता है। क्योकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धिभी तत्काल स्थिर होती है।

| [स्मरण रहे, कि इन दो श्लोकोमें स्पष्ट वर्णन है, कि विषय या कर्मोको
| न छोड, स्थितप्रज्ञ केवल उनका सग छोडकर विषयोमेंही नि सग-बुद्धिसे वर्तता
| रहता है और उसे जो शाति मिलती है, वह कर्मत्यागसे नही, किंतु फलाशाके
| त्यागसे प्राप्त होती है। क्योकि, इसके सिवा अन्य वातोमें इस स्थितप्रज्ञमें और
| सन्यास-मार्गवाले स्थितप्रज्ञमें कोई भेद नही है। इद्रिय-सयमन, निरिच्छा और
| शाति ये गुण दोनोकोभी चाहिये, परतु इन दोनोमें महत्त्वका भेद यह है, कि
| गीताका स्थितप्रज्ञ कर्मोका सन्यास नही करता, किंतु लोकसग्रहके निमित्त
| समस्त कर्म निष्काम बुद्धिसे किया करता है, और सन्यास-मार्गवाला स्थित-
| प्रज्ञ करताही नही है (गीता ३ २५)। किंतु गीताके सन्यास-मार्गीय टीका-
| कार इस भेदको गौण समझकर, साप्रदायिक आग्रहसे प्रतिपादन किया करते
| हैं, कि स्थितप्रज्ञका उक्त वर्णन सन्यास-मार्गकाही है। इस प्रकार जिसका

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

[चित्त प्रसन्न नही, उसका वर्णनकर स्थितप्रज्ञके स्वरूपको अब औरभी अधिक व्यक्त करते है –]

(६६) जो पुरुष उक्त रीतिसे युक्त अर्थात् योगयुक्त नही हुआ है उसमें (स्थिर) बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ-बुद्धिरूप निष्ठाभी नही रहती। जिसे भावना नही, उसे शाति नही, और जिसे शाति नही, उसे सुख मिलेगा कहांसे? (६७) (विषयोमें) सचार अर्थात् व्यवहार करनेवाली इद्रियोंके पीछे पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुषकी बुद्धिको ऐसे हरण किया करता है, जैसे कि पानीमें नौकाको वायु खीचती है। (६८) अतएव हे महाबाहु अर्जुन! इद्रियोंके विषयोंसे जिसकी इद्रियाँ चहूँ ओरसे हटी हुई हो, (कहना चाहिये कि) उसीकी बुद्धि स्थिर हुई।

[साराश, मनके निग्रहके द्वारा इद्रियोका निग्रह करना सब साधनोका मूल है। विषयोमें व्यग्र होकर इद्रियाँ इधर-उधर दौडती रहें, तो आत्मज्ञान प्राप्तकर लेनेकी (वासनात्मक) बुद्धिही नही हो सकती। अर्थ यह है, कि बुद्धि न हो, तो उसके विषयमें दृढ उद्योगभी नही होता, और फिर शाति एव सुखभी नही मिलता। गीतारहस्यके चौथे प्रकरणमें दिखलाया है, कि इद्रिय-निग्रहका यह अर्थ नही है, कि इद्रियोको सर्वथा दबाकर सब कर्मोको बिलकुल छोड दे, किंतु गीताका अभिप्राय यह है, कि ६४ वे श्लोकमें जो वर्णन है, उसके अनुसार निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहना चाहिये।]

(६९) सब लोगोकी जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है, और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुषको रात मालूम होती है।

[यह विरोधाभासात्मक वर्णन अलकारिक है। अज्ञान अधकारको और ज्ञान प्रकाशको कहते हैं (गीता १४ ११)। अर्थ यह है, कि अज्ञानी

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

§ § विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

[लोगोको जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है, (अर्थात् उन्हे जो अधकार है वही ज्ञानियोको आवश्यक होती है, और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते है, उन्हे जहाँ उजेला मालम होता है – वही ज्ञानीको अँधेरा दीख पडता है – अर्थात् ज्ञानीको वह अभीष्ट नही रहता। उदाहरणार्थ, ज्ञानी पुरुष काम्य कर्मोको तुच्छ मानता है, तो सामान्य लोग उन्हीसे लिपटे रहते हैं, और ज्ञानी पुरुषको जो निष्काम कर्म चाहिये, उसकी औरोको चाह नही होती।]

(७०) चारो ओरसे (पानी) भरते जानेपरभी जिसकी मर्यादा नही डिगती, ऐसे समुद्रमें जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुषमें समस्त विषय (उसकी शांति भग किये विनाही) प्रवेश करते हैं, उसेही (सच्ची) शाति मिलती है। विषयोकी इच्छा करनेवालेको (यह शाति मिलना सभव नही है)।

[इस श्लोकका अर्थ यह नही है, कि शाति प्राप्त करनेके लिये कर्म न करने चाहिये; प्रत्युत भावार्थ यह है, कि साधारण लोगोका मन फलाशासे या काम्य-वासनासे घवडा जाता है, और उनके कर्मोसे उनसे मनकी शाति बिगड जाती है, परतु जो सिद्धावस्थामें पहुँच गया है, उसका मन फलाशासे क्षुब्ध नही होता, कितनेही कर्म करनेको क्यो न हो, पर उसके मनकी शाति नही डिगती। वह समुद्रसरीखा शात बना रहता है, और सब काम किया करता है, अतएव उसे सुख-दु खकी व्यथा नही होती। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और गीता ४ १९)। अब इस विषयका उपसहार करके वतलाते हैं, कि स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिका नाम क्या है ?]

(७१) जो पुरुष समस्त काम अर्थात् आसक्ति छोडकर और नि स्पृह हो करके (व्यवहारमें) बर्तता है, एव जिसे ममत्व और अहकार नही होता, उसेही शाति मिलती है !

[सन्यास-मार्गके टीकाकार इस 'चरति' (वर्तता है) पदका "भीख माँगता फिरता है" ऐसा अर्थ करते है, परतु यह अर्थ ठीक नही है। पिछले ६४ वे और ६७ वे श्लोकोमें 'चरन्' एव 'चरता'का जो अर्थ है, वही अर्थ यहांभी करना चाहियें। गीतामें ऐसा उपदेश कहीभी नही है, कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ, इसके विरुद्ध ६४ वे श्लोकमें यह स्पष्ट कह दिया है, कि स्थित-प्रज्ञ पुरुष इंद्रियोको अपने अधीन रखकर 'विषयोमें वर्ते।' अतएव 'चरति'का

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

[ऐसाही अर्थ करना चाहिये, कि "बर्तता है" अर्थात् "जगतके व्यवहार करता है"। श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने दासबोधके उत्तरार्धमें इस बातका उत्तम वर्णन किया है, कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहारमें कैसे बर्तता है, और गीतारहस्यके चौदहवे प्रकरणका विषयभी वही है।]

(७२) हे पार्थ। ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जानेपर कोईभी मोहमें नही फँसता, और अंतकालमें अर्थात् मरनेके समयमेंभी इस स्थितिमें रहकर वह ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें मिल जानेके स्वरूपका मोक्ष पाता है।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोगकी अंतिम और अत्युत्तम स्थिति है (गीतार. प्र ९, पृ २३१, २५१), और इसमें विशेषता यह है, कि इसके प्राप्त हो जानेसे फिर मोह नही होता। यहाँपर इस विशेषत्वके बतलानेका कारण यह कि, यदि किसीको किसी दिन दैवयोगसे घडी-दो घडीके लिये इस ब्राह्मी स्थितिका अनुभव हो सके, तो उससे चिरकालिक लाभ नही होता। क्योंकि किसीभी मनुष्यकी यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी, तो मरणकालमें जैसी वासना मनमें रहेगी, उसीके अनुसार आगे पुनर्जन्म होगा (गीतारहस्य पृ २९१)। यही कारण है, जो ब्राह्मी स्थितिका वर्णन करते हुए इस श्लोकमें स्पष्टतया कह दिया है, कि 'अंतकालेऽपि' = अंतकालमेंभी, स्थितप्रज्ञकी यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अंतकालमें मनके शुद्ध रहनेकी विशेष आवश्य-कताका वर्णन उपनिषदोंमें (छा ३ १४ १, प्र ३ १०) और गीतामेंभी (गीता ८ ५-१०) है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मोंके मिलनेका कारण है, इसलिये प्रकटही है, कि कम-से-कम मरनेके समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये। और फिर यहभी कहना पडता है, कि मरण समयमें वासना शून्य होनेके लिये पहलेही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये। क्योंकि, वासनाको शून्य करनेका कर्म अत्यंत कठिन है, और बिना ईश्वरकी विशेष कृपाके उसका सहसा किसीकोभी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है, वरन् असंभवभी है, यह तत्त्व केवल वैदिक धर्ममेंही नही है, कि मरण-समयमें वासना शुद्ध होनी चाहिये, किंतु अन्यान्य धर्मोंमेंभी यह तत्त्व अंगीकृत हुआ है। (गीतारहस्य प्र १३, पृ ४४१)]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके सवादमें साख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

[इस अध्यायमें, आरभमें साख्य अथवा सन्यास-मार्गका विवेचन है, इस कारण इसको साख्ययोग नाम दिया गया है । परतु इससे यह न समझ लेना चाहिये, कि पूरे अध्यायमें वही विषय है । एकही अध्यायमें प्राय अनेक विषयोका वर्णन होता है । जिस अध्यायमें जो विषय आरभमें आ गया है, अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है, उसके अनुसार उस अध्यायका नाम रख दिया जाता है । (गीतारहस्य प्रकरण १४, पृ. ४४६)]

तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्माणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥ ३ ॥

तीसरा अध्याय

[अर्जुनको भय हो गया था, कि मुझे भीष्म-द्रोण आदिको मारना पडेगा। अत साख्य-मार्गके अनुसार आत्माकी नित्यता और अशोच्यत्वसे यह सिद्ध करके कि अर्जुनका भय वृथा है, फिर स्वधर्मका थोडा-सा विवेचन करके गीताके मुख्य विषय कर्मयोगका दूसरेही अध्यायमें आरभ किया गया है, और कहा गया है, कर्म करनेपरभी उनके पाप-पुण्यसे वचनेके लिये केवल वही एक युक्ति या योग है, कि वे कर्म साम्य-बुद्धिसे किये जावे। इसके अनतर अतमें उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञका वर्णनभी किया गया है, कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई है। परतु इतनेसेही कर्मयोगका विवेचन पूरा नही हो जाता। यह वात सच है, कि कोईभी काम सम-बुद्धिसे किया जावे, तो उसका पाप नही लगता, परतु जव कर्मकी अपेक्षा समवुद्धिकीही श्रेष्ठता विवादरहित सिद्ध होती है (गीता २ ४९), तव फिर स्थितप्रज्ञकी नाई बुद्धिको सम कर लेनेसेही काम चल जाता है, इससे यह सिद्ध नही होता, कि कर्म करनेही चाहिये। अतएव जव अर्जुनने यही शका प्रश्नरूपमें उपस्थित की, तव भगवान् इस अध्यायमें तथा अगले अध्यायमें प्रतिपादन करते हैं, कि "कर्म करनेही चाहिये।"]

अर्जुनने कहा – (१) हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा यही मत है, कि कर्मकी अपेक्षा (साम्य-)बुद्धिही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे (युद्धके) घोर कर्ममें क्यो लगाते हो ? (२) देखनेमें व्यामिश्र अर्थात् सदिग्ध भाषण करके तुम मेरी वुद्धिको भ्रममें डाल रहे हो ! इसलिये तुम ऐसी एकही वात निश्चित करके मुझे वतलाओ, जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो।

श्रीभगवानने कहा – (३) हे निष्पाप अर्जुन ! (अर्थात् दूसरे अध्यायमें)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

मैंने यह बतलाया है, कि इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ है – अर्थात् ज्ञानयोगसे साख्योकी और कर्मयोगसे योगियोकी ।

[हमने 'पुरा' शब्दका अर्थ, 'पहले' अर्थात् ' दूसरे अध्यायमें ' किया है, यही अर्थ सरल है । क्योकि दूसरे अध्यायमें पहले साख्य-निष्ठाके अनुसार ज्ञानका वर्णन करके फिर कर्मयोग-निष्ठाका आरभ किया गया है । परतु 'पुरा' शब्दका अर्थ ' सृष्टिके आरभमें ' भी हो सकता है, क्योकि महाभारतमें, नारायणीय या भागवत-धर्मके निरूपणमें यह वर्णन है, कि साख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) इन दोनो प्रकारकी निष्ठाओको भगवानने स्वतत्र रूपसे जगत्के आरभमेंही उत्पन्न किया है (शा ३४०, ३४७) । 'निष्ठा' शब्दके पहले मोक्ष शब्द अध्याहृत है । ? 'निष्ठा' शब्दका अर्थ वह मार्ग है, कि जिसपर चलनेपर अतमें मोक्ष मिलता है । गीताके अनुसार ऐसी निष्ठाएँ दोही है, और वे दोनोभी स्वतत्र हैं, कोई किसीका अग नही है – इत्यादि बातोका विस्तृत विवेचन गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरण (पृ ३०६–३१७)में किया गया है, इसलिये उसे यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नही है । गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरणके अतमें (पृष्ठ ३५४–३५७) नक्शा देकर इस बातकाभी वर्णन कर दिया गया है, इन दोनो निष्ठाओमें भेद क्या है । मोक्षकी दो निष्ठाएँ बतला दी गई, अब तदगभूत नैष्कर्म्य-सिद्धिका स्वरूप स्पष्ट करके बतलाते हैं –]

(४) (परतु) कर्मोका प्रारभ न करनेसेही पुरुषको नैष्कर्म्य-प्राप्ति नही हो जाती, और कर्मोका (त्याग) करनेसेही सिद्धि नही मिल जाती । (५) क्योकि कोईभी मनुष्य (कुछ-न-कुछ) कर्म किये विना क्षणभरभी नही रह सकता । प्रकृतिके गुण प्रत्येक परतत्र मनुष्यको (तो सदा कुछ-न-कुछ) कर्म करनेमें लगायाही करते हैं ।

[चौथे श्लोकके पहले चरणमें जो 'नैष्कर्म्य' पद है, उसका 'ज्ञान' अथ मानकर सन्यास-मार्गवाले टीकाकारोंने इस श्लोकका अर्थ अपने सप्रदायके अनुकूल इस प्रकार बना लिया है – " कर्मोका आरभ न करनेसे ज्ञान नही होता, अर्थात् कर्मोसेही ज्ञान होता है " क्योकि कर्म ज्ञानप्राप्तिका साधन है । परतु यह अर्थ न तो सरल है और न ठीकभी है । नैष्कर्म्य शब्दका उपयोग वेदान्त और मीमासा, इन दोनो शास्त्रोमे कई बार किया गया है, और सुरेश्वरा-

चार्यका 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' नामक इसी विषयपर एक ग्रथभी है। तथापि नैष्कर्म्यके ये तत्त्व कुछ नये नही है, और न केवल सुरेश्वराचार्यहीके, किंतु मीमांसा और वेदान्तके मूल बननेकेभी पूर्वसेही इनका प्रचार होता आ रहा है। यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नही, कि कर्म बधक होताही है, इसलिये पारेका उपयोग करनेके पहले जिस प्रकार वैद्य लोग उसे मारकर शुद्ध कर लेते है, उसी प्रकार कर्म करनेके पहले ऐसा उपाय करना पडता है, कि जिससे उसका बधकत्व या दोष मिट जाय, और ऐसी युक्तिसे कर्म करनेकी स्थितिकोही 'नैष्कर्म्य' कहते है। इस प्रकार बधकत्वरहित कर्म मोक्षके लिये बाधक नहीं होता, अतएव मोक्षशास्त्रका यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कि यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय? मीमासक लोग इसका यह उत्तर देते है, कि नित्य और निमित्त होनेपर, नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिये, पर काम्य और निषिद्ध कर्म नही करने चाहिये, इससे कर्मका बधकत्व नही रहता, और नैष्कर्म्यावस्था सुलभ रीतिसे प्राप्त हो जाती है। परतु वेदान्तशास्त्रने सिद्धान्त किया है, कि मीमासकोकी यह युक्ति ग़लत है, और इस बातका विवेचन गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें (पृष्ठ २७६) किया गया है। अन्य कुछ लोगोका कथन है, कि यदि कर्मही किये न जावे, तो उनसे बाधाभी तो कैसे हो सकती है? इसलिये, उनके मतानुसार, नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करनेके लिये सब कर्मोंहीको छोड देना चाहिये। इनके मतसे कर्मशून्यताकोही 'नैष्कर्म्य' कहते है। परन्तु चौथे श्लोकमें बतलाया गया है, कि यह मत ठीक नही है, इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्षभी नही मिलता, और पाँचवे श्लोकमें उसका कारणभी बतला दिया है। यदि हम कर्मको छोड देनेका विचार करें, तोभी जबतक यह देह है, तबतक सोना, बैठना इत्यादि कर्म कभी रुकही नही सकते (गीता ५ ९, १८ ११)। इसलिये कोईभी मनुष्य कभी कर्मशून्य नही हो सकता। फलत कर्मशून्यरूपी नैष्कर्म्यभी असभव है। सारांश, कर्मरूपी बिच्छू कभी नही मरता। इसलिये ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये, कि जिससे वह विषरहित हो जाय। गीताका सिद्धान्त है, कि कर्मोंमेंसे अपनी आसक्तिको हटा देनाही एकमात्र उपाय है, और आगे अनेक स्थानोंमें इसी उपायका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परतु इसपरभी शका हो सकती है, कि यद्यपि सब कर्मोंको छोड देना नैष्कर्म्य नही है, तथापि सन्यास-मार्गवाले तो सब कर्मोंका सन्यास अर्थात् त्याग करकेही मोक्ष प्राप्त करते है, अत मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका त्याग करना आवश्यक है। इस तर्कका उत्तर गीता इस प्रकार देती है, कि सन्यास-मार्गवालोंको मोक्ष तो मिलता है सही, परतु उन्हे वह कर्मोंका त्याग करनेसे नही मिलता, किंतु मोक्षसिद्धि उनके ज्ञानका फल है। यदि केवल कर्मोंका त्याग करनेसेही मोक्षसिद्धि होती हो, तो फिर पत्थरोंकोभी मुक्ति मिलनी चाहिये। इससे ये तीन बाते सिद्ध

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

होती है – (१) नैष्कर्म्य कर्मशून्यता नही है, (२) कर्मोको त्याग देनेका कोई कितनाभी प्रयत्न क्यो न करे, परतु वे छूट नही सकते, और (३) कर्मोको त्याग देना सिद्धि प्राप्त करनेका उपाय नही है, और येही बाते ऊपरके श्लोकमें बतलाई गई है। जब ये तीनो बाते सिद्ध हो गई, तब अठारहवे अध्यायके कथनानुसार 'नैष्कर्म्यसिद्धि'की (गीता १८ ४८, ४९) प्राप्तिके लिये यही एक मार्ग शेष रह जाता है, कि कर्म तो छोडे नही, पर ज्ञान-द्वारा यद्यपि आसक्तिका क्षय करके सब कर्म सदा करते रहे। क्योकि ज्ञान मोक्षका साधन हो, तोभी कर्मशून्य रहनाभी कभी सभव नही, इसलिये कर्मोके बधकत्वको (बधन) नष्ट करनेके लिये आसक्ति छोडकर उन्हे करना आवश्यक होता है। इसीको कर्मयोग कहते हैं, और अब बतलाते हैं, कि यही ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक मार्ग विशेष योग्यताका अर्थात् श्रेष्ठ है –]

(६) जो मूढ (हाथ-पैर आदि) कर्मेद्रियोको रोककर मनसे इद्रियोके विषयोका चितन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दाभिक कहते है। (७) परतु हे अर्जुन! जो मनसे इद्रियोका आकलन करके, (केवल) कर्मेद्रियो-द्वारा अनासक्त-बुद्धिसे 'कर्मयोग'का आरभ करता है, उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है।

[पिछले अध्यायमें जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोगमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २ ४९), उसीका इन दोनो श्लोकोमें स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ साफ कह दिया है, कि जिस मनुष्यका मन तो शुद्ध नही है, पर जो केवल दूसरोके भयसे या इस अभिलाषासे कि दूसरे मुझे भला कहे, केवल बाह्येद्रियोके व्यापारको रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नही है, वह ढोगी है। जो लोग इस वचनका प्रमाण देकर – कि "कलौ कर्ता च लिप्यते" कलियुगमें दोष बुद्धिमें नही, किंतु कर्ममें रहता है, यह प्रतिपादन किया करते है, कि बुद्धि चाहे जैसी हो, परतु कर्म बुरा न हो, उन्हें उक्त श्लोकमें वर्णित गीतातत्त्वपर विशेष ध्यान देना चाहिये। सातवे श्लोकसे यह बात प्रकट होती है, कि निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेके योगकोही गीतामें 'कर्मयोग' कहा है। कुछ सन्यास-मार्गीय टीकाकार इस श्लोकका ऐसा अर्थ करते हैं, कि यद्यपि यह कर्मयोग छठे श्लोकमें बतलाये हुए दाभिक मार्गसे श्रेष्ठ है, तथापि यह सन्यास-मार्गसे श्रेष्ठ नही है। परतु यह युक्ति साप्रदायिक आग्रहकी है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

| क्योकि न केवल इसी श्लोकमें, वरन् फिर पाँचवे अध्यायके आरभमें और अन्यत्रभी, यह स्पष्ट कह दिया गया है, कि सन्यास-मार्गसेभी कर्मयोग अधिक योग्यताका या श्रेष्ठ है (गीतार प्र ११, पृ ३०९–३१०)। इस प्रकार जब कर्मयोगही श्रेष्ठ है, तब अर्जुनको इसी मार्गका आचरण करनेके लिये अब उपदेश करते है –]

(८) (अपने धर्मके अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म तू कर। क्योकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना कही अधिक अच्छा है। इसके अतिरिक्त (यह समझ ले, कि यदि) तू कर्म न करेगा, तो (भोजनभी न मिलनेसे) तेरा शरीर-निर्वाहतक न हो सकेगा।

| ['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदोंसे शरीरयात्राको कम-से-कम हेतु कहा है। अब यह बतलानेके लिये यज्ञ-प्रकरणका आरभ किया जाता है, कि 'नियत' अर्थात् नियत किया हुआ 'कर्म' कौन-सा है? और दूसरे किस महत्त्वके कारण उसका आचरण करना चाहिये? आजकल यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म लुप्त-सा हो गया है, इसलिये इस विषयका आधुनिक पाठकोको कोई विशेष महत्त्व मालूम नही होता। परतु गीताके समयमें इन यज्ञयागोका पूरा पूरा प्रचार था, और 'कर्म' शब्दसे मुख्यत इन्हीका बोध हुआ करता था। अतएव, गीताधर्ममें इस बातका विवेचन करना अत्यावश्यक था, कि ये धर्मकृत्य किये जावे या नही, और यदि किये जावे, तो किस प्रकार? इसके सिवा, यहभी स्मरण रहे, कि यज्ञ शब्दका अर्थ केवल ज्योतिष्टोम आदि श्रौतयज्ञ या अग्निमें किसीभी वस्तुका हवन करनाही नही है (गीता ४ ३२)। सृष्टिका निर्माण करके, उसका काम ठीक ठीक चलते रहनेके लिये, अर्थात् लोकसग्रहार्थ, ब्रह्माने प्रजाको चातुर्वर्ण्यविहित जो जो काम बाँट दिये हैं, उन सबका 'यज्ञ' शब्दमें समावेश होता है (मभा अनु ४८ ३, गीतार प्र १०, पृ २९१–२९७)। धर्मशास्त्रोमें इन्ही कर्मोका उल्लेख है, और यहाँ 'नियत' शब्दसे वेही विवक्षित हैं। इसलिये कहना चाहिये, कि यद्यपि आजकल श्रौत यज्ञ-याग लुप्तप्राय हो गये है, तथापि यज्ञ-चक्रका यह विवेचन अबभी निरर्थक नही है। शास्त्रोके अनुसार ये सब कर्म काम्य हैं, अर्थात् इसलिये बतलाये गये हैं, कि मनुष्यका इस जगत्में कल्याण हो और उसे सुख मिले। परतु पीछे दूसरे अध्याय (गीता २ ४१–४४)में यह सिद्धान्त किया है, कि मीमामकोके ये सहेतुक या काम्यकर्म मोक्षके लिये प्रतिबधक है, अतएव वे नीचे दर्जेके है, और

§ § यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

अब तो मानना पडता है, कि उन्ही कर्मोको करना चाहिये, इसलिये अगले श्लोकोमे इस बातका विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इन कर्मोका शुभाशुभ लेप अथवा बधकत्व कैसे मिट जाता है और उन्हे करते रहनेपरभी नैष्कर्म्यावस्था क्योकर प्राप्त होती है ? यह समग्र विवेचन भारतमें वर्णित नारायणीय या भागवत धर्मके अनुसार है (मभा शा ३४०)।]

(९) यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते है, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मोसे यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोडकर करता जा।

[इस श्लोकके पहले चरणमे मीमासकोका और दूसरेमें गीताका सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमासकोका कथन है, कि जब वेदोंनेही यज्ञयागादि कर्म हरएक मनुष्यके लिये नियत कर दिये हैं, और जब कि ईश्वरनिर्मित सृष्टिके व्यवहार ठीक ठीक चलते रहनेके लिये यह यज्ञ-चक्र आवश्यक है, तब कोईभी इन कर्मोका त्याग नही कर सकता। यदि कोई इनका त्याग कर देगा, तो समझना होगा, कि वह श्रौतधर्मसे वचित हो गया। परतु कर्मविपाक-प्रक्रियाका सिद्धान्त है, कि प्रत्येक कर्मका फल मनुष्यको भोगनाही पडता है, और उसके अनुसार कहना पडता है, कि यज्ञके लिये मनुष्य जो जो कर्म करेगा, उसका भला या बुरा फलभी उसे भोगनाही पडेगा। मीमासकोका इसपर यह उत्तर है, कि वेदोकीही आज्ञा है, कि 'यज्ञ' करने चाहिये, इसलिये यज्ञार्थ जो जो कर्म किये जावेगे, वे सब ईश्वरसमत होगे, अत उन कर्मोसे कर्ता बद्ध नही हो सकता। परतु यज्ञोंके-सिवा दूसरे कर्मोके लिये उदाहरणार्थ, केवल अपना पेट भरनेके लिये, मनुष्य जो कुछ कर्म करेगा, वह यज्ञार्थ नही हो सकता, उसमें तो केवल मनुष्यकाही निजी लाभ है। यही कारण है, जो मीमासक उसे 'पुरुपार्थ' कर्म कहते हैं, और उन्होंने निश्चित किया है, कि ऐसे याने यज्ञार्थके अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात् पुरुपार्थ कर्मका जो कुछ भला या बुरा फल होगा, वह मनुष्यको भोगनाही पडता है – यही सिद्धान्त उक्त श्लोककी पहली पक्तिमें दिया है (गीतार प्र ३, पृ ५३–५६)। कुछ टीकाकार, यज्ञ = विष्णु ऐसा गौण अर्थ करके, कहते हैं, कि यज्ञार्थ शब्दका अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पण-पूर्वक है। परतु हमारी समझमें यह अर्थ खीचातानीका और क्लिष्ट है। पर यहाँपर प्रश्न होता है, कि यज्ञके लिये जो कर्म करने पडते हैं, उनके सिवा मनुष्य यदि दूसरे कुछभी कर्म न करे, तो क्या वह कर्मबधनसे छूट सकता है ? क्योकि

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

यज्ञभीतो कर्मही है, और उसका स्वर्गप्राप्तिरूप जो शास्त्रोक्त फल है, वह मिले बिना नही रहता। परन्तु गीताके दूसरेही अध्यायमे स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है, कि यह स्वर्गप्राप्तिरूप फल मोक्षप्राप्तिके विरुद्ध है (गीता २ ४०–४४, ९ २०, २१)। इसीलिये उक्त श्लोकके दूसरे चरणमें यह बात फिर बतलाई गई है, कि मनुष्यको यज्ञार्थभी जो नियत कर्म करना होता है, उसेभी वह फलकी आशा छोडकर अर्थात् केवल कर्तव्य समझकर करे, और इसी अर्थका प्रतिपादन आगे सात्त्विक यज्ञकी व्याख्या करते समय किया गया है (गीता १७ ११, १८ ६)। इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सोभी फलाशा छोडकर करनेसे, (१) वे मीमासकोके न्याया-नुसारही किसीभी प्रकार मनुष्यको बद्ध नही करते, क्योकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते है, और (२) उनका स्वर्गप्राप्तिरूप शास्त्रोक्त एव अनित्य फल मिलनेके बदले मोक्षप्राप्ति होती है, क्योकि वे फलाशा छोडकर किये जाते है। आगे १९वे श्लोकमें और फिर चौथे अध्यायके २३ वे श्लोकमे यही अर्थ दुबारा प्रति-पादित हुआ है। तात्पर्य यह है, कि मीमासकोके इस सिद्धान्त "यज्ञार्थ कर्म-करने चाहिये। क्योकि वे बधक नही होते" मेंही भगवद्गीताने औरभी यह सुधार कर दिया है, कि "जो कर्म यज्ञार्थ किये जावे, उन्हेभी फलाशा छोडकर करना चाहिये।" किंतु इसपरभी यह शका होती है, कि मीमासकोके सिद्धान्तको इस प्रकार सुधारनेका प्रयत्न करके यज्ञयाग आदि गार्हस्थ्यवृत्तिको जारी रखनेकी अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नही है, कि कर्मोकी झझटमे छूटकर मोक्षप्राप्तिके लिये सब कर्मोको छोडकर सन्यास ले ले? भगवद्गीता इस प्रश्नका साफ यही उत्तर देती है, कि 'नही'। क्योकि यज्ञ-चक्रके बिना इस जगतके व्यवहार जारी नही रह सकते। अधिक क्या कहे? जगतके धारण-पोषणके लिये ब्रह्माने इस चक्रको प्रथम उत्पन्न किया है, और जब कि जगतकी सुस्थिति या सग्रहही भगवानको इष्ट है, तब इस यज्ञ-चक्रको कोईभी नही छोड सकता। अब यही अर्थ अगले श्लोकमें बतलाया गया है। इस प्रकरणमें पाठकोको सदा स्मरण रखना चाहिये, कि यज्ञ शब्द यहाँ केवल श्रौत-यज्ञकेही अर्थमें प्रयुक्त नही है, किंतु उसमें स्मार्त-यज्ञोका तथा चातुर्वर्ण्य आदिके यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मोंका समावेश है।]

(१०) आरभमे यज्ञके साथ साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने (उनसे) कहा, "इसके (यज्ञ) द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे,

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलोको देनेवाला होवे। (११) तुम इस यज्ञसे देवताओंको समृद्ध करते रहो, (और) वे देवता तुम्हे यज्ञसे समृद्ध करते रहे। (इसप्रकार) परस्पर एक दूसरेको समृद्ध करते हुए (दोनोभी) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्तकर लो।" (१२) क्योकि, यज्ञसे सतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हे देगे। उन्हींका दिया हुआ उन्हे (वापिस) न देकर, जो (केवल स्वय) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है।

[जब ब्रह्माने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोकोको उत्पन्न किया, तब उसे चिंता हुई, कि इन लोगोका आगे धारण-पोपण कैसे होगा ? महाभारतके नारायणीय धर्ममें वर्णन है, कि ब्रह्माने इसके बाद हजार वर्पतक तप करके भगवानको सतुष्ट किया, तब भगवानने सब लोकोंके निर्वाहके लिये प्रवृत्ति-प्रधान यज्ञचक्र उत्पन्न किया, और देवता तथा मनुष्य, दोनोंसे कहा, कि उसके अनुसार वर्ताव करके एक दूसरेकी रक्षा करो। उक्त श्लोकमें इसी कथाका कुछ शब्दभेदसे अनुवाद किया गया है (मभा शा ३४० ३८–७२)। इससे यह सिद्धान्त औरभी अधिक दृढ हो जाता है, कि प्रवृत्ति-प्रधान भागवत धर्मके तत्त्वकाही गीतामें प्रतिपादन किया गया है। परतु भागवत धर्ममें यज्ञोमें की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (मभा शा ३३६, ३३७), इसलिये पशु-यज्ञके स्थानमे प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ, और अतमें यह मत प्रचलित हो गया, कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञही सबमें श्रेष्ठ है (गीता ४ २३–३३)। यज्ञ शब्दसे मतलब चातुर्वर्ण्यके सब कर्मोसे है, और यह बात स्पष्ट है, कि समाजका उचित रीतिने धारण-पोपण होनेके लिये इन यज्ञकर्मों या यज्ञचक्रको अच्छी तरह जारी रखना चाहिये (मनु १ ८७)। अधिक क्या कहे ? यह यज्ञचक्र आगे बीसवे श्लोकमें वर्णित लोकसग्रहकाही एक स्वरूप है (गीतार प्र ११)। इसीलिये स्मृतियोमेंभी लिखा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक, इन दोनोंके सग्रहार्थ भगवाननेही प्रथम जिस लोकसग्रहकारक कर्मको निर्माण किया है, उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्यका कर्तव्य है, और यही अर्थ अब अगले श्लोकमें स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है –]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

(१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परतु (यज्ञ न करके केवल) अपनेही लिये जो (अन्न) पकाते है, वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं।

[ऋग्वेदके १० ११७ ६ मन्त्रमेंभी यही अर्थ है। उसमें कहा है, कि "नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी" – जो मनुष्य अर्यमा या सखाका पोषण नही करता, अकेलेही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिये। इसी प्रकार मनुस्मृतिमेंभी कहा है, कि अघ स केवल भुक्ते य पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशन ह्येतत्सतामन्न विधीयते"॥ (मनु ३ ११८) – जो मनुष्य अपने लियेही (अन्न) पकाता है, वह केवल पाप भक्षण करता है। यज्ञ करनेपर जो शेष रह जाता है, उसे 'अमृत' और दूसरोके भोजन कर चुकनेपर जो शेष रहता है (भुक्तशेष), उसे 'विघस्' कहते हैं (मनु ३ २८५), और भले मनुष्योंके लिये यही अन्न विहित कहा गया है (गीता ४ ३१)। अब इस बातका औरभी स्पष्टीकरण करते हैं, कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलोको आगमें झोकनेके लियेही हैं, या न स्वर्गप्राप्तिके लियेभी, वरन् जगतका धारण-पोषण होनेकेलिये उनकी बहुत आवश्यकता है, अर्थात् यज्ञपरही सारा जगत् अवलंबित है –]

(१४) प्राणिमात्रकी उत्पत्ति अन्नसे होती है, अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है, और यज्ञकी उत्पत्ति कर्मसे होती है।

[मनुस्मृतिमेंभी मनुष्यकी और उसके धारणके लिये आवश्यक अन्नकी उत्पत्तिके विषयमें इसी प्रकारका वर्णन है। मनुके श्लोकका भाव यह है – "यज्ञकी आगमें दी हुई आहुति सूर्यको मिलती है, और फिर सूर्यसे (अर्थात् परपरा-द्वारा यज्ञसेही) पर्जन्य उपजता है, पर्जन्यसे अन्न और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है" (मनु ३ ७६)। यही श्लोक महाभारतमेंभी है (मभा शा २६२ ११)। तैत्तिरीय उपनिषद्में (२ १) यह पूर्वपरम्परा इससेभी पीछे हटा दी गई है और ऐसा क्रम दिया है, "कि परमात्मासे प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, और फिर क्रमसे वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, पृथ्वीसे औषधि, औषधिसे अन्न, और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ।" अतएव इस परपराके अनुसार, प्राणिमात्रके कर्मपर्यंत बतलाई हुई पूर्वपरपराको अब

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

| कर्मके पहले प्रकृति और प्रकृतिके पहले सीधे अक्षर-ब्रह्मपर्यंत पहुँचाकर, पूरी
| करते है –]

(१५) (यह) जान ले, कि कर्मकी उत्पत्ति ब्रह्मसे अर्थात् प्रकृतिसे हुई (है), और यह ब्रह्म अक्षरसे अर्थात् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये (यह समझ ले, कि) सर्वगत ब्रह्मही यज्ञमें सदा अधिष्ठित रहता है।

| [कोई कोई इस श्लोकके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' नही समझते, वे
| कहते है, कि यहाँ ब्रह्मका अर्थ 'वेद' है। परतु 'ब्रह्म' शब्दका 'वेद' अर्थ करनेसे
| यद्यपि इस वाक्यमें आपत्ति नही हुई, कि "ब्रह्म अर्थात् 'वेद' परमेश्वरसे उत्पन्न
| हुए हैं," तथापि वैसा अर्थ करनेसे "सर्वगत ब्रह्म यज्ञमें है" इसका अर्थ
| ठीक ठीक नही लगता। इसलिये "मम योनिर्महत् ब्रह्म" (गीता १४ ३)
| श्लोकमें 'ब्रह्म'पदका जो 'प्रकृति' अर्थ है, उसके अनुसार रामानुजभाष्यमें जो
| यह अर्थ किया गया है, कि इस स्थानमेंभी 'ब्रह्म' शब्दसे जगतकी मूल प्रकृतिही
| विवक्षित है, वही अर्थ हमेंभी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महाभारतके
| शातिपर्वके यज्ञप्रकरणमें यह वर्णन है कि "अनुयज्ञ जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा"
| (शा २६७ ३४) – यज्ञके पीछे जगत् है, और जगतके पीछे पीछे यज्ञ है।
| ब्रह्मका अर्थ 'प्रकृति' करनेसे उस वर्णनकाभी प्रस्तुत श्लोकसे मेल हो जाता
| है, क्योकि जगतही प्रकृति है। गीतारहस्यके सातवे और आठवे प्रकरणमें यह
| वात विस्तारपूर्वक वतलाई गई है कि परमेश्वरसे प्रकृति और त्रिगुणात्मक
| प्रकृतिसे जगतके सव कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पुरुषसूक्तमेंभी यह
| वर्णन है, कि देवताओंने प्रथम यज्ञ करकेही सृष्टिको निर्माण किया है।]

(१६) हे पार्थ ! इस प्रकार (जगतके धारणार्थ) चलाये हुए चक्र अर्थात् कर्म या यज्ञके चक्रको, जो इस जगत्में आगे नही चलाता, उसकी आयु पापरूप है, उस इद्रियलपटका (अर्थात् देवताओको न देकर स्वय उपभोग करनेवालाका) जीवन व्यर्थ है।

| [स्वय ब्रह्मानेही – मनुष्योंने नही – लोगोंके धारण-पोषणके लिये
| यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्य-वृत्ति उत्पन्न की है। यह सृष्टिका क्रम चलते रहनेके
| लिये (श्लोक १४) और साथही साथ अपना निर्वाह होनेके लिये (श्लोक
| ८), इन दोनों कारणोंसे, उस वृत्तिकी आवश्यकता है, और इससे सिद्ध होता

§§ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

| है, कि इस यज्ञचक्रको अनासक्त-बुद्धिसे इस जगत्‌में सदा चलाते जाना चाहिये। अब यह बात मालूम हो चुकी, कि मीमासकोका या त्रयी-धर्मका कर्मकाड (यज्ञचक्र) गीता-धर्ममें अनासक्त-बुद्धिकी युक्तिसे कैसे स्थिर रखा गया है (गीतार प्र ११, पृ ३४७–३४८)। परतु कई सन्यास-मार्गवाले वेदान्ती इस विपयमें शका करते है, कि आत्मज्ञानी पुरुषको जब यही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, और उसे जो कुछ प्राप्त करना होता है, वह सब उसे यही मिल जाता है, तब उसे इस जगतमें कुछभी कर्म करनेकी आवश्यकता नही है, और उसको कर्म करनाभी न चाहिये। इसी शकाका उत्तर अगले तीन श्लोकोमें दिया है।]

(१७) परतु जो मनुष्य केवल आत्मामेंही रत, आत्मामेंही तृप्त और आत्मामेंही सतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वय अपना) कुछभी कार्य (शेप) नही रह जाता, (१८) उसी प्रकार यहाँ अर्थात् इस जगतमें (कोई काम) करनेसे या न करनेसेभी उसका लाभ नही होता, और सब प्राणियोमें उसका (अपना) कुछभी मतलव अटका नही रहता। (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोईभी अपेक्षा नही रखता, तव तूभी (फलकी) आसक्ति छोडकर (अपना) कर्तव्य-कर्म सदैव किया कर। क्योकि आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाले मनुष्यको परमगति प्राप्त होती है।

| [१७ से १९ तकके श्लोकोका टीकाकारोंने बहुतही विपर्यास कर डाला है, इसलिये हम पहले उनका सरल भावार्थही बतलाते है। तीनो श्लोक मिलकर हेतु-अनुमानयुक्त एकही वाक्य है। इनमेंसे १७ वे और १८ वे श्लोकोमे पहले उन कारणोका उल्लेख किया गया है, कि जो ज्ञानी पुरुपके कर्म करनेके विषयमें साधारण रीतिसे बतलाये जाते है, और इन्ही कारणोंसे गीताने जो अनुमान निकाला है; वह १९ वे श्लोकमे कारणबोधक 'तस्मात्' शब्दका प्रयोग पहले करके बतलाया गया है। इस जगतमें सोना, बैठना, उठना या जिंदा रहना आदि सब कर्मोंको कोई छोडनेकी इच्छा करे, तो वे छूट नही सकते। अत इस अध्यायके आरभमें, चौथे और पाँचवे श्लोकोमें, स्पष्ट कह दिया गया है, कि कर्मोंको

छोड देनेसे न तो नैष्कर्म्य होता है और न वह सिद्धि प्राप्त करनेका उपायभी है। परतु इसपर सन्यास-मार्गवालोकी यह दलील है, कि "हम कुछ सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कर्म करना नही छोडते है। प्रत्येक मनुष्य इस जगतमें जो कुछ करता है, वह अपने या पराये लाभके लियेही करता है। किंतु मनुष्यका अपना परम साध्य जो सिद्धावस्था अथवा मोक्ष है, वह ज्ञानी पुरुषको उसके ज्ञानसे प्राप्त हुआ करता है, इसलिये उसको ज्ञान प्राप्त हो जानेपर अन्य कुछभी प्राप्त करनेके लिये नही रहता (श्लोक १७)। ऐसी अवस्थामें, चाहे वह कर्म करे या न करे, उसे दोनो वाते समान है। अच्छा, यदि कहे कि उसे लोकोपयोगार्थ कर्म करने चाहिये, तो लोगोसेभी उसे कुछ लेना-देना नही रहता (श्लोक १८)। फिर वह कर्म करेही क्यो ?" इसका उत्तर गीता यो देती हैं, कि जव कर्म करना और न करनाभी तुम्हे दोनो एक-से है, तव कर्म न करनेकाही तुम्हारा इतना हठ क्यो है ? जो कुछ शास्त्रके अनुसार प्राप्त होता जाय, उसे आग्रहविहीन बुद्धिसे करके छुट्टी पा जाओ। इस जगतमें कर्म किसीकेभी छूटते नही हैं, फिर चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी। अव दीखनेमें तो यह बडीही जटिल समस्या जान पडती है, कि कर्म तो छूटनेसे रहे, और ज्ञानी पुरुषको स्वय अपने लिये उनकी आवश्यकता नही ! परतु गीताको यह समस्या कुछ कठिन नही जँचती। गीताका कथन यह है, कि जव कर्म छूटताही नही हैं, तव उसे करनाही चाहिये। किंतु अव स्वार्थबुद्धि न रहनेसेही उसे नि स्वार्थ अर्थात् निष्काम वुद्धिसे किया करो। १९ वे श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके यही उपदेश अर्जुनको किया गया है, एव इसकी पुष्टिमें आगे २२ वे श्लोकमें यह दृष्टान्त दिया गया है, कि सवसे श्रेष्ठ ज्ञानी भगवान् स्वय अपना कुछभी कर्तव्य न होनेपरभी कर्मही करते हैं। साराश, सन्यास-मार्गके लोग ज्ञानी पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं, उसे ठीक मान ले, तो गीताका यह वक्तव्य है, कि उस स्थितिसे कर्म-सन्यास-पक्ष सिद्ध होनेके वदले, सदा निष्काम कर्म करते रहनेका पक्षही औरभी दृढ हो जाता है। परतु सन्यास-मार्गवाले टीकाकारोको कर्मयोगकी उक्त युक्ति और सिद्धान्त (श्लोक ७, ८, ९) मान्य नही है, इसलिये वे उक्त कार्यकारणभावको, अथवा समूचे अर्थप्रवाहको, या आगे वतलाये हुए भगवानके दृष्टान्तकोभी नही मानते (श्लोक २२, २५, ३०)। उन्होने, इन तीनो श्लोकोको तोड-मरोडकर स्वतत्र मान लिया है, और इनमेंसे पहले दो श्लोकोमें जो यह निर्देश है, कि "ज्ञानी पुरुषको स्वय अपना कुछभी कर्तव्य नही रहता।" उसीको गीताका अतिम सिद्धान्त मानकर, उसी आधारपर यह प्रतिपादन किया है, कि भगवान् ज्ञानी पुरुषसे कहते है, कि कर्म छोड दे ! परतु ऐसा करनेसे तीसरे अर्थात् १९ वे श्लोकमें अर्जुनको जो लगे हाथ यह उपदेश किया है, कि "आसक्ति छोडकर कर्म कर।" वह अलग हुआ जाता है और उसकी उपपत्तिभी नही लगती। इस

पेंचसे बचनेके लिये, इन टीकाकारोंने यह अर्थ करके अपना समाधान कर लिया है, कि अर्जुनको कर्म करनेका उपदेश तो इसलिये किया है, कि वह अज्ञानी था। परतु इतनी माथापच्ची करनेपरभी १९वे श्लोकका 'तस्मात्' पद निरर्थकही रह जाता है, और सन्यास-मार्गवालोका किया हुआ यह अर्थ इसी अध्यायके पूर्वापर सदर्भसेभी विरुद्ध होता है, एव गीताके अन्यान्य स्थलोंके इन उल्लेखोंसेभी विरुद्ध हो जाता है, कि ज्ञानी पुरुषोकोभी आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिये, तथा आगे भगवानने जो अपना दृष्टान्त दिया है, उससेभी यह अर्थ विरुद्ध हो जाता है (गीता २ ४७, ३ ७ २५, ४ २३; ६ १, १८. ६ ९, गीतारहस्य प्र ११, पृ ३२३–३२६)। इसके सिवा एक बात औरभी है, वह यह, कि इस अध्यायमें उस कर्मयोगकाही विवेचन चल रहा है, कि जिसके कारण कर्म करनेपरभी वे बधक नही होते (गीता २ ३९), उस विवेचनके बीचमेंही यह बे-सिरपैरकी-सी बात कोईभी समझदार मनुष्य न कहेगा, कि "कर्म छोडना उत्तम है"। फिर भला भगवान् यह बात क्यो कहने लगे? अतएव निरे साप्रदायिक आग्रहके और खीचातानीके ये अर्थ माने नही जा सकते। योगवासिष्ठमें लिखा है, कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषकोभी कर्म करने चाहिये, और जब रामने पूछा – "मुझे बतलाइये, कि मुक्त पुरुष कर्म क्यो करे?" तब वसिष्ठने उत्तर दिया है –

> ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागै. नार्थ. कर्मसमाश्रयैः।
> तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

"ज्ञ अर्थात् ज्ञानी पुरुषको कर्म छोडनेसे या करनेसेभी कोई लाभ नही उठाना होता, अतएव (तेन) वह जो जैसे प्राप्त हो जाय, उसे वैसे किया करता है" (योग ६ उ १९९ ४)। इसी ग्रथके अतमें, उपसहारमें फिर गीताकेही शब्दोमे पहले यह कारण दिखलाया है –

> मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
> यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥

"किसी बातका करना या न करना मुझे एक-सा-ही है।" और दूसरीही पक्तिमें कहा है, कि जब दोनो बातें एकहीसी है, तब फिर "कर्म न करनेका आग्रहही क्यो है? जो जो शास्त्रकी रीतिसे प्राप्त होता जाय, उसे मैं करता रहता हूँ" (यो ६ उ २१६ १४)। उसी प्रकार इसके पहले, योगवासिष्ठमें "नैव तस्य कृतेनार्थो०" आदि, और गीताका श्लोकही शब्दश लिया गया है, और आगेके श्लोकमें कहा है, कि "यद्यथा नाम सपन्न तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्" – अत जो प्राप्त हो, उसेही (जीवमुक्त) किया करता है; और कुछ प्रतीक्षा करता हुआ नही बैठता (यो ६ उ. १२५ ४९ ५०)। योगवासिष्ठमेंही

§§ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

| नही, किंतु गणेशगीतामेंभी इसी अर्थके प्रतिपादनमें यह श्लोक आया है –
| किंचिदस्य न साध्य स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदः।
| अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभि ॥
| "उसका अन्य प्राणियोमें कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नही रहता, अतएव हे राजन्! लोगोको अपना अपना कर्तव्य आसक्तबुद्धिसे करते रहना चाहिये" (गणेशगीता २ १८)। इन सब उदाहरणोपर ध्यान देनेसे ज्ञात होगा, कि यहांपर गीता तीनो श्लोकोका जो कार्यकारण-सबध हमने ऊपर दिखलाया है वही ठीक है। और गीताके तीनो श्लोकोका पूरा अर्थ योगवासिष्ठके एक ही श्लोकमें आ गया है। अतएव उसके कार्यकारणभावके विषयमें शका करनेके लिये स्थानही नही रह जाता। गीताकी इन्ही युक्तियोको महायान-पथके बौद्ध ग्रथकारोंनेभी पीछेसे ले लिया है (गीतारहस्य परिशिष्ट पृ ५६८–५६९, ५८२–५८३)। ऊपर जो यह कहा गया है, कि स्वार्थ न रहनेके कारणसेही ज्ञानी पुरुषको अपना कर्तव्य निष्काम बुद्धिसे करना चाहिये, और इस प्रकारसे किये हुए निष्काम कर्मका मोक्षमें बाधक होना तो दूर रहा, उसीसे सिद्धि मिलती है – इसीकी पुष्टिके लिये अब दृष्टान्त देते हैं –]

(२०) जनक आदिनेभी इस प्रकार कर्मसेही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोक-सग्रहपर दृष्टि देकरभी तुझे कर्म करनाही उचित है।

| [इस श्लोकके पहले चरणमें इस बातका उदाहरण दिया है, कि निष्काम कर्मोंसे सिद्धि मिलती है, और दूसरे चरणसे भिन्न रीतिके प्रतिपादनका आरभ कर दिया है। यह तो सिद्ध किया, कि ज्ञानी पुरुषका लोगोमे कुछ अटका नही रहता, तोभी जब उसका कर्म छूटही नही सकता, तब तो उसे निष्काम कर्मही करना चाहिये। परतु यद्यपि यह युक्ति नियमसगत है, कि कर्म जब छूट नही सकता है, तब उन्हे करनाही चाहिये। तथापि सिर्फ इसीसे साधारण मनुष्योका पूरा पूरा विश्वास नही हो जाता। मनमें शका होती है, कि क्या कर्म टाले नहीं टलते हैं, इसीलिये उसे करना चाहिये? उसमे और कोई साध्य नही है? अतएव इस श्लोकके दूसरे चरणसे यह दिखलानेका आरभ कर दिया है, कि इस जगतमें अपने कर्मसे लोकसग्रह करना ज्ञानी पुरुषका एक अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष साध्य है। 'लोकसग्रहमेवापि' के 'एवापि' पदका यही तात्पर्य है। और इससे स्पष्ट होता है, कि अब भिन्न रीतिके प्रतिपादनका आरंभ हो गया है। 'लोकसग्रह' शब्दमें 'लोक'का अर्थ व्यापक है, अत इस शब्दमें न केवल मनुष्यजातिकोही, वरन् सारे जगतको सन्मार्गपर लाकर, उसको नाशसे

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

| बचाते हुए सग्रह करना – अर्थात् भली भाँति धारण, पोषण-पालन या बचाव करना इत्यादि सभी बातोका समावेश हो जाता है। गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरण (पृ ३३०–३३८) में इन बातोका विस्तृत विचार किया गया है, इसलिये हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नही करते। अब पहले यह बतलाते हैं, कि लोकसग्रह करनेका यह कर्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुषकाही क्यो है –]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी) पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य अर्थात् साधारण मनुष्यभी किया करते है। वह जिसे प्रमाण मानकर अगीकार करता है, लोग उसीका अनुकरण करते है।

| [तैत्तिरीय उपनिषदमेंभी पहले 'सत्य वद', 'धर्मं चर' इत्यादि उपदेश किया है और फिर अतमें कहा है, कि "जब तुम्हे सदेह हो कि यहाँ ससारमें किसी प्रसगपर कैसे बर्ताव करें, तब वैसेही बर्ताव करो, कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धर्मिष्ठ ब्राह्मण करते हो" (तै १ ११ ४)। इसी अर्थका एक श्लोक नारायणीय धर्ममेंभी है (मभा शा ३४१ २५), और इसी आशयका मराठीमें श्रीरामदास स्वामीजीका जो एक श्लोक है, वह इसीका अनुवाद है। और जिसका सार यह है – "लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करना है वैसेही, इस ससारमें, सब लोगभी किया करते हैं।" यही भाव इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है – "देख भलोकी चालको, बर्ते सब ससार।" रामदास स्वामीजीका यह लोककल्याणकारी पुरुषही गीताका श्रेष्ठ कर्मयोगी है। श्रेष्ठ शब्दका अर्थ "आत्मज्ञानी सन्यासी" नही है (गीता ५ २)। अब भगवान् स्वय अपना उदाहरण देकर इसी अर्थको औरभी दृढ करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुषकी स्वार्थबुद्धि छूट जानेपरभी, लोककल्याणके कर्म उससे छूट नही जाते –]

(२२) हे पार्थ ! (देखो, कि) त्रिभुवनमें न तो (मेरा) कुछ कर्तव्य (शेष) रहा है, (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेको (रह गई) है, तोभी मैं कर्म करताही रहता हूँ। (२३) क्योकि यदि मैं कदाचित् आलस्य छोडकर कर्मोंमें न वर्तुंगा, तो हे पार्थ ! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरेही पथका अनुकरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४

§§ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

(२४) यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं संकरकर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनोंका मेरे हाथसे नाश होगा।

[भगवानने अपना उदाहरण देकर इस श्लोकमें भली भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है। इसी प्रकार हमने ऊपर १७ से १९ वें श्लोकका जो यह अर्थ किया है, कि ज्ञान प्राप्त हो जानेपर ज्ञाताका कुछ कर्तव्य भलेही न रह गया हो; फिरभी निष्काम बुद्धिसे सारे कर्म उसे करते रहना चाहिये, वहभी स्वयं भगवानके इस दृष्टान्तसे पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा न हो, तो यहही दृष्टान्त निरर्थक हो जायगा (गीतार प्र ११, पृ ३२४–३२५)। सांख्य-मार्ग और कर्म-मार्गमें यह बड़ा भारी भेद है, कि सांख्यमार्गके ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते हैं, फिर चाहे इस कर्मत्यागसे यज्ञचक्र डूब जाय और जगतका कुछभी हुआ करे – उन्हें उसकी परवाह नहीं होती, और कर्ममार्गके ज्ञानी पुरुष, स्वयं अपने लिये आवश्यक न भी हो, तोभी लोकसंग्रहको महत्त्वपूर्ण आवश्यक साध्य समझकर, तदर्थ अपने धर्मके अनुसार, अपने सारे काम किया करते हैं (गीतारहस्य प्र ११, पृ ३५५–३५८)। यह बतला दिया गया, कि स्वयं भगवान क्या करते हैं। अब ज्ञानियों और अज्ञानियोंके कर्मोंका भेद दिखलाकर बतलाते हैं, कि अज्ञानियोंको सुधारनेके लिये ज्ञाताका आवश्यक कर्तव्य क्या है –]

(२५) हे अर्जुन! (इसलिये) लोकसंग्रह करनेकी इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुषकोभी आसक्ति छोड़कर उसी प्रकार बर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि (व्यावहारिक) कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी लोग बर्ताव करते हैं। (२६) कर्ममें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे, (आप स्वयं) युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर सभी काम करे, और लोगोंसे खुशीसे करावे।

[इस श्लोकका अर्थ यह है, कि अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेदभाव उत्पन्न न करें, और आगे चल कर २९ वे श्लोकमेंभी यही बात फिरसे कही गई है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि लोगोंको अज्ञानमें बनाये रखे। २५ वे श्लोकमें

कहा है, कि ज्ञानी पुरुषको लोकसग्रह करना चाहिये। लोकसग्रहका अर्थही लोगोको चतुर बनाना है। परतु इसपर कोई शका करे, कि जो लोकसग्रहही करना हो, तो फिर यह आवश्यक नही, कि उसके लिये ज्ञानी पुरुष स्वय कर्म करे, लोगोको समझा देने – ज्ञानका उपदेश कर देने – सेही काम चल जाता है। इसका भगवान यह उत्तर देते हैं, कि जिनको सदाचारणका दृढ अभ्यास हो नही गया है, (और साधारण लोग ऐसेही होते है), उनको यदि केवल मुंहसे उपदेश किया जाय – सिर्फ ज्ञान बतला दिया जाय – तो वे अपने अनुचित बर्तावके समर्थनमेंही उस ब्रह्मज्ञानका दुरुपयोग किया करते हैं, और उलटे वे ऐसी व्यर्थ बातें कहते-सुनते सदैव देखे जाते है, कि " अमुक ज्ञानी पुरुष तो ऐसे कहता है।" इसी प्रकार यदि ज्ञानी पुरुष कर्मोको सर्वथा छोड बैठे, तो अज्ञानी लोगोको निरुद्योगी बननेके लिये वह एक उदाहरणही बन जाता है। लोगोका इस प्रकार बातूनी, अथवा निरुद्योगी हो जानाही चालाक बुद्धिभेद है, और लोगोकी बुद्धिमें इस प्रकारसे भेद-भाव उत्पन्न कर देना ज्ञाता पुरुषको उचित नही है। अतएव गीतामें यह सिद्धान्त किया है, कि जो पुरुष ज्ञानी हो जाय, वह लोकसग्रहके लिये, अर्थात् लोगोको चतुर और सदाचरणी बनानेके लिये, स्वय ससारमें रहकर निष्काम कर्म अर्थात् सदाचरणका प्रत्यक्ष आदर्श लोगोको दिखलावे, और तदनुसार उनसे आचरण करावे – यही जगत्में उसका बडा महत्त्वपूर्ण काम है (गी र प्र १२, पृ ४०३–४०४)। किंतु गीताके इस अभिप्रायको समझे-बूझेविना कुछ टीकाकार इस श्लोकका यो विपरीत अर्थ किया करते हैं, कि "ज्ञानी पुरुषको अज्ञानियोके समानही कर्म करनेका स्वाँग इसलिये करना चाहिये, जिससे कि अज्ञानी लोग नादान बने रह करही अपने कर्म करते रहे!" मानो दभाचरण सिखलाने अथवा लोगोको अज्ञानी बने रहने देकर जानवरोंके समान उनसे कर्म करा लेनेके लियेही गीता प्रवृत्त हुई है! जिनका यह दृढ निश्चय है, कि ज्ञानी पुरुप कर्म न करे, सभव है, कि उन्हे लोकसग्रह एक ढोग-सा प्रतीत हो, परतु गीताका वास्तविक अभिप्राय ऐसा नही है। भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी पुरुषके कामोमेंसे लोकसग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है, और ज्ञानी पुरुषभी अपने उत्तम आदर्शके द्वारा लोगोको सुधारनेके लिये – नादान बनाये रखनेके लिये नही – कर्मही किया करे (गीतारहस्य प्र ११, १२)। अब यह शका हो सकती है, कि यदि आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार लोकसग्रहके लिये सासारिक कर्म करने लगे तो वहभी अज्ञानीही बन जायगा, अतएव स्पष्ट कर बतलाते है, कि यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी, दोनोभी ससारी बन जाय, तथापि उन दोनोंके बर्तावमें भेद क्या है और ज्ञानवानसे अज्ञानीको किस बातकी शिक्षा लेनी चाहिये –]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ।
§ § मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

(२७) प्रकृतिके (सत्त्व-रज-तम) गुणोंसे सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं, पर अहकारसे मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है, कि मैं कर्ता हूँ, (२८) परतु हे महाबाहु अर्जुन ! "गुण और कर्म ये दोनोभी मुझसे भिन्न है" इस तत्त्वको जानने-वाला (ज्ञानी पुरुष), यह समझ कर उनमें आसक्त नही होता, कि गुणोका यह आपसमें खेल हो रहा है। (२९) प्रकृतिके गुणोंसे बहके हुए लोग गुण और कर्मोंमेंही आसक्त रहते हैं, इन असर्वज्ञ और मद जनोको सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्यागसे किसी अनुचित मार्गमें लगा कर) बिचला न दे।

[यहाँ २६ वे श्लोकके अर्थकाही अनुवाद किया गया है। इस श्लोकमें जो ये सिद्धान्त है, कि प्रकृति भिन्न है और आत्मा भिन्न है, प्रकृति अथवा मायाही सब कुछ करती है, आत्मा कुछ करता-धरता नही है, जो इस तत्त्वको जान लेता है, वही बुद्ध अथवा ज्ञानी हो जाता है, उसे कर्मका बधन नही होता, इत्यादि – वे मूलमें कापिल-साख्यशास्त्रके है, और गीतारहस्यके ७ वे प्रकरण (पृ १६५–१६७) में उनका पूर्ण विवेचन किया गया है, उसे देखिये। २८ वे श्लोकका कुछ लोग यो अर्थ करते हैं, कि गुण याने इद्रियाँ गुणोमें याने विषयोमें बर्तती हैं। यह अर्थ कुछ अशुद्ध नही है, क्योकि साख्यशास्त्रके अनुसार ग्यारह इद्रियाँ और शब्द-स्पर्श आदि पाँच विषय मूल प्रकृतिके २३ गुणोमेंसेही गुण हैं। परतु इसकी अपेक्षा प्रकृतिके समस्त अर्थात् चौबीस गुणोको लक्ष्य करकेही यह "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" सिद्धान्त स्थिर किया गया है (गीता १३ १९–२२, १४ २३)। हमने उसका शब्दश और व्यापक रीतिसे अनुवाद किया है। भगवानने यह बतलाया है, कि ज्ञानी और अज्ञानी एकही कर्म करें, तोभी उसमें बुद्धिकी दृष्टिसे इस प्रकार बहुत बडा भेद रहता है (गीतारहस्य प्र ११, पृ ३१२, ३३०) अब इस पूरे विवेचनके सार-रूपसे यह उपदेश करते है –]

(३०) (इसलिये हे अर्जुन !) मुझमें अध्यात्म बुद्धिसे सब कर्मोका सन्यास

§§ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

§§ सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अर्थात् अर्पण करके और (फलकी) आशा एव ममता छोड कर तू निश्चित हो करके युद्ध कर ।

| [अब यह बतलाते है, कि इस उपदेशके अनुसार वर्ताव करनेसे क्या फल मिलता है और वर्ताव न करनेसे कैसी गति होनी है –]

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुष) दोषोको न खोजकर मेरे इस मतके अनुसार नित्य वर्ताव करते है, वेभी कर्मसे अर्थात् कर्मबधनसे मुक्त हो जाते है। (३२) परतु जो दोष-दृष्टिसे शकाएँ करके मेरे इस मतके अनुसार नही वर्तते, उन सर्वज्ञान-विमूढ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियोको नष्ट हुए समझ ।

| [निष्काम बुद्धिसे समस्त कर्म करनेके लिये कहनेवाले कर्मयोगकी श्रेयस्करताके सबधमें ऊपर अन्वयव्यतिरेकसे जो फलश्रुति बतलाई गई है, उससे पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, कि गीतामें कौनसा विषय प्रतिपाद्य है। इसी कर्म-योग-निरूपणकी पूर्तिके हेतु भगवान् प्रकृतिकी प्रबलताका और फिर उसे रोकनेके लिये इद्रियनिग्रहका वर्णन करते है –]

(३३) ज्ञानी पुरुषभी अपनी प्रकृतिके अनुसार बर्तता है। सभी प्राणी (अपनी अपनी) प्रकृतिके अनुसार रहते है, अर्थात् (वहाँ) निग्रह जबर्दस्ती क्या करेगी ? (३४) इद्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयोमे प्रीति एव द्वेष (दोनो) व्यवस्थित है – अर्थात् स्वभावत निश्चित है। इस प्रीति और द्वेषके वशमें न जाना चाहिये, (क्योकि) वे मनुष्यके शत्रु है।

| [तैंतीसवे श्लोकके 'निग्रह' शब्दका अर्थ ' निरा सयमन ' नही है किंतु उसका अर्थ 'जबर्दस्ती' अथवा 'हठ' है। इद्रियोका योग्य सयमन तो गीताको इष्ट है, किंतु यहाँपर कहना यह है, कि हठसे या जबर्दस्तीसे इद्रियोकी स्वाभाविक वृत्तियोकोभी एकदम मार डालना सभव नही है। उदाहरण लीजिये, जबतक देह है, तबतक भूख-प्यास आदि धर्म, प्रकृतिसिद्ध होनेके कारण, छूट नही सकते,

§§ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

[मनुष्य कितनाही ज्ञानी क्यो न हो, भूख लगतेही भिक्षा माँगनेके लिये तो उसे बाहर निकलनाही पडता है, इसलिये चतुर पुरुषका यही कर्तव्य है, कि जबर्दस्तीसे इद्रियोको बिलकुलही मार डालनेका वृथा हठ न करें, और योग्य सयमके द्वारा उन्हे अपने वशमें करके उनको स्वभावसिद्ध वृत्तियोका लोकसग्रहार्थ उपयोग किया करे – यही इस श्लोकका भावार्थ है । इसी प्रकार ३४ वे श्लोकके 'व्यवस्थित' पदसे प्रकट होता है, कि सुख और दु ख, ये दोनो विकार स्वतत्र हैं, एक दूसरेका अभाव नही है (गीतारहस्य प्र ४, पृ १००, ११५) । प्रकृति अर्थात् सृष्टिके अखडित व्यापारमें कई बार हमें ऐसी बातेंभी करनी पडती हैं, कि जो हमें स्वय पसद नही (गीता १८ ५९), और यदि नही करते हैं, तो निर्वाह नही होता । ऐसे समय ज्ञानी पुरुष इन कर्मोको निरिच्छ-बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करता जाता है और उनके पापपुण्यसे अलिप्त रहता है, और अज्ञानी उन्हीमें आसक्ति रखकर दु ख पाता है, भास कविके वर्णनानुसार बुद्धिकी दृष्टिसे यही इन दोनोमें बडा भारी भेद है । परतु अब एक और शका होती है, कि यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि इद्रियोको जबर्दस्ती मारकर कर्मत्याग न करे, किंतु नि सग-बुद्धिसे सभी काम करता जावे, परतु यदि ज्ञानी पुरुष युद्धके समान हिंसात्मक घोर कर्म करनेकी अपेक्षा खेती, व्यापार या भिक्षा माँगना आदि निरुपद्रवी और सौम्य कर्म करे, तो क्या अधिक प्रशस्त नही है ? भगवान इसका यह उत्तर देते है –]

(३५) पराये धर्मका आचरण सुखसे करते बने, तोभी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्मही अधिक श्रेयस्कर है, (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भलेही हो । स्वधर्मके अनुसार (बर्तनेमें) मृत्यु हो जावे, तोभी उसमें कल्याण है, (परतु) परधर्म भयकर होता है ।

[स्वधर्मका अर्थ, वह व्यवसाय है, कि जो स्मृतिकारोकी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है, स्वधर्मका अर्थ मोक्ष-धर्म नही है । सब लोगोके कल्याणके लिये ही गुण-कर्मके विभागसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको (गीता १८ ४१) शास्त्रकारोने प्रवृत्त कर दिया है, अतएव भगवान् कहते है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि, ज्ञानी हो जानेपरभी, अपना अपना व्यवसाय करते रहे, इसीमें उनका और समाजका कल्याण है और इस व्यवस्थामें बार बार गडबड करना योग्य नही है (गीतार प्र ११, पृ ३३६, प्र १५, पृ ४९६) । " तेलीका काम तँबोली करे, दैव न मारे आप

अर्जुन उवाच।

§§ अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

मरे" इस प्रचलित लोकोक्तिका भावार्थभी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका चलन नहीं है, वहाँभी सबको यही श्रेयस्कर जँचेगा, कि जिसने सारी जिंदगी फौजी मुहकमेमे बिताई हो, यदि फिर काम पडे, तो उसको सिपाहीका पेशाही सुभीतेका होगा, न कि दर्जीका रोजगार, और यही न्याय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके लियेभी उपयोगी है। यह प्रश्न भिन्न है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भली है या बुरी, और वह यहाँ उपस्थितभी नही होता। यह बात तो निर्विवाद है, कि समाजका समुचित धारण-पोषण होनेके लिये खेतीके जैसे निरुपद्रवी और सौम्य व्यवसायकीही भाँति अन्यान्य कर्मभी आवश्यक हैं। अतएव, जहाँ एक बार किसीभी उद्योग को अंगीकार किया – फिर चाहे उसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके कारण स्वीकार करो या अपनी मर्जीसे, – कि वह धर्म हो गया। फिर किसी विशेष अवसरपर उसमें मीन-मेख निकालकर अपना कर्तव्य-कर्म छोड बैठना अच्छा नही है, आवश्यकता होनेपर उस व्यवसायमेंही मर जाना चाहिये। बस, यही इस श्लोकका भावार्थ है। कोईभी व्यापार या रोजगार हो, उसमें कुछ-न-कुछ दोष सहजही निकाला जा सकता है (गीता १८. ४८)। परन्तु इस नुक्ताचीनीके मारे अपना नियत कर्तव्यही छोड देना, कुछ धर्म नही है। महाभारतके ब्राह्मण-व्याध-संवादमें और तुलाधार-जाजलि-संवादमेंभी यही तत्त्व बतलाया गया है, एवं वहाँके ३५ वे श्लोकका पूर्वार्ध मनुस्मृतिमे (मनु १०. ९७) और गीतामेंभी (गीता १८. ४७) आया है। भगवानने ३३ वे श्लोकमे कहा है, कि "इंद्रियाको मारनेका हठ नही चलता।" इसपर अब अर्जुनने पूछा है, कि इंद्रियोंको मारनेका हठ क्यो नही चलता? और अपनी मर्जी न होने परभी मनुष्य बुरे कामोकी ओर क्यो घसीटा जाता है?]

अर्जुनने कहा – (३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! अब (यह बतलाओ, कि) अपनी इच्छा न रहनेपरभी मनुष्य, जबर्दस्तीसे, किसकी प्रेरणासे पाप करता है। श्रीभगवानने कहा – (३७) इस विषयमें यह समझ कि रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला बडा पेटू और बडा पापी यह काम एवं यह क्रोधही शत्रु है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
§§ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

(३८) जिस प्रकार धुएँसे अग्नि, धूलिसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार उससे यह सब ढँका हुआ है। (३९) हे कौन्तेय ! कभीभी तृप्त न होनेवाला यह कामरूपी अग्निही ज्ञाताका नित्य वैरी है; इसने ज्ञानको और ढँक रखा है।

[यह मनुकेही कथनका अनुवाद है, मनुने कहा है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" (मनु. २. ९४) – कामके उपभोगोंसे काम कभी अघाता नहीं है; बल्कि इंधन डालनेपर अग्नि जैसे बढ जाती है, उसी प्रकार यह कामभी अधिकाधिक बढता जाता है (गीतार. प्र. ५, पृ. १०६)।]

(४०) इंद्रियोंको, मनको, और बुद्धिको इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ कहते हैं। इनके आश्रयसे ज्ञानको लपेटकर (ढँककर) यह मनुष्यका भुलावेमें डाल देता है। (४१) अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इंद्रियोंका संयम करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञानका (विशेष ज्ञान) नाश करनेवाले इस पापीको तू मार डाल।

(४२) कहा है, कि (स्थूल बाह्य पदार्थोंके मानसे उनको जाननेवाली) इंद्रियाँ पर अर्थात् परे हैं, इंद्रियोंके परे मन है, मनसेभी परे (व्यवसायात्मिका) बुद्धि है, और जो बुद्धिसेभी परे है, वह आत्मा है। (४३) हे महाबाहु अर्जुन !

इस प्रकार (जो) बुद्धिसे परे है, उसको पहचानकर और अपने आपको रोक करके दुरासाध्य कामरूपी शत्रुको तू मार डाल।

[कामरूपी आसक्तिको छोड कर स्वधर्मके अनुसार लोकसग्रहार्थ समस्त कर्म करनेके लिये इद्रियोपर अपनी सत्ता होनी चाहिये, बस, यहाँ इतनाही इद्रियनिग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नही है, कि इद्रियोको जबर्दस्तीसे एकदम मार करके सारे कर्म छोड दे (गीतार प्र ५, पृ ११५)। गीतारहस्यमे (परि पृ ५२८) दिखलाया है, कि " इद्रियाणि पराण्याहु ० " इत्यादि ४२ वाँ श्लोक कठोपनिषदका है, और उसी उपनिपदके अन्य चार-पाच श्लोकभी गीतामें लिये गये हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारका यह तात्पर्य है, कि बाह्य पदार्थोके सस्कार ग्रहण करना इद्रियोका काम है, मनका काम इनकी व्यवस्था करना है, और फिर बुद्धि इनको अलग अलग छाँटती है, एव आत्मा इन सबसे परे है तथा इन सबसे भिन्न है। इस विषयका विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्यके छठे प्रकरणके अंतमें (पृ १३२–१४९) किया गया है। – कर्मविपाकके ऐसे गूढ प्रश्नोका विचार, गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें (पृ २८०–२८७) किया गया है, कि अपनी इच्छा न रहनेपरभी मनुष्य काम-क्रोध आदि प्रवृत्तिधर्मोके कारण कोई काम करनेमें क्योकर प्रवृत्त हो जाता है, और आत्मस्वतत्रताके कारण इद्रिय-निग्रहरूप साधनके द्वारा इससेभी छुटकारा पानेका मार्ग कैसे मिल जाता है, इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नही की जाती है। गीताके छठे अध्यायमे यह विचार किया गया है, कि इद्रियनिग्रह कैसे करना चाहिये।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविपयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके सवादमे, कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

[कर्म किसीके, छूटते नही है, इसलिये बुद्धि निष्काम हो जानेपरभी कर्म करनाही चाहिये, कर्मके मानेही यज्ञयाग आदि कर्म है, पर मीमासकोंके ये कर्म स्वर्गप्रद है, अतएव एक प्रकारसे बधक है, इस कारण इन्हे आसक्ति छोड करके करना चाहिये। ज्ञानसे स्वार्थबुद्धि छूट जावे, तोभी कर्म छूटते नही है, अतएव ज्ञाताकोभी निष्काम कर्म करनेही चाहिये, लोकसग्रहके लिये वे आवश्यक है, इत्यादि प्रकारसे अब तक कर्मयोगका जो विवेचन किया गया, उसीको इस अध्यायमे दृढ किया है । कही यह शका न हो, कि आयुष्य वितानेका यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुनको युद्धमे प्रवृत्त करनेके लिये नई बतलाई गई है, एतदर्थ इस मार्गकी प्राचीन गुरुपरपरा पहले बतलाते है –]

श्रीभगवानने कहा – (१) अव्यय अर्थात् कभीभी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकालमेंभी अबाधित और नित्य यह (कर्म-)योग(-मार्ग) मैंने विवस्वान् अर्थात् सूर्यको बतलाया था, विवस्वानने (अपने पुत्र) मनुको और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुको बतलाया। (२) ऐसी परपरासे प्राप्त हुए इसको (योग) राजर्षियोने जाना। परतु हे शत्रुतापन (अर्जुन)! दीर्घकालके अनन्तर वही योग इस लोकमें नष्ट हो गया। (३) (सब रहस्योंमेंसे) उत्तम रहस्य समझकर उस पुरातन योगको, (कर्मयोगमार्ग) मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

| [गीतारहस्यके तीसरे प्रकरणमे (पृ ५६–६५) हमने सिद्ध किया है,
| कि इन तीनो श्लोकोमे 'योग' शब्दसे, आयु वितानेके उन दोनो मार्गोमेंसे –

अर्जुन उवाच ।

§§ अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

| कोही भागवतधर्मकी परंपरा गीतामें वर्णित है, विस्तारभयसे अधिक वर्णन नही किया है । यह भागवत धर्मही योग या कर्मयोग है, और मनुको कर्मयोगके उपदेश किये जानेकी यह कथा न केवल गीतामेंही है, प्रत्युत भागवत-पुराण-मेंभी (भाग ८ २४ ५५) इस कथाका उल्लेख है और मत्स्य-पुराणके ५२ वे अध्यायमें मनुको उपदिष्ट कर्मयोगका महत्त्वभी बतलाया गया है । परन्तु इनमेंसे कोईभी वर्णन नारायणीयोपाख्यानमें किये गये वर्णनके समान पूर्ण नही है । विवस्वान् – मनु – इक्ष्वाकुकी यह परंपरा सांख्य-मार्गको बिलकुलही उपयुक्त नही होती, और सांख्य एव योग, इन दोनोंके अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीतामें वर्णितही नही है । इस बातपर ध्यान देनेसे दूसरी रीतिसेभी सिद्ध होता है, कि यह परंपरा कर्मयोगकीही है (गीता २ ३९) । परन्तु सांख्य और योग, इन दोनो निष्ठाओंकी परंपरा यद्यपि एक न हो तोभी कर्मयोग अर्थात् भागवत धर्मके निरूपणमेंही सांख्य या सन्यास-निष्ठाके निरूपणका पर्यायसे समावेश हो जाता है (गीतारहस्य प्र १४, पृ ४६९) । इस कारण वैशंपायनने कहा है, कि भगवद्गीतामें यति-धर्म अर्थात् सन्यास-धर्मभी वर्णित है । मनुस्मृतिमें चार आश्रम-धर्मोका जो वर्णन है, उसके छठे अध्यायमें पहले यति अर्थात् सन्यास आश्रमका धर्म कह चुकनेपर विकल्पसे 'वेदसन्यासिओंका कर्मयोग' इस नामसे गीता या भागवत धर्मके कर्मयोगका वर्णन है, और स्पष्ट कहा है कि "निःस्पृहतासे अपना कार्य करते रहनेसेही अंतमें परम सिद्धि मिलती है" (मनु ६ ९६) इससे स्पष्ट दीख पडता है, कि कर्मयोग मनुकोभी ग्राह्य था । इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारोंकोभी यह मान्य था, और इस विषयके अनेक प्रमाण गीतारहस्यके ११ वे प्रकरणके अंतमें (पृ ३६२–३६७) दिये गये हैं । अब अर्जुनको इस परंपरापर यह शंका है, कि –]

अर्जुनने कहा – (४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है, और विवस्वानका इससे बहुत पहले हो चुका है, (ऐसी दशामें) मैं यह कैसे जानूं, कि तुमने (यह योग) पहले बतलाया था ?

| [अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् अपने अवतारोंके कार्योका वर्णनकर आसक्तिविरहित कर्मयोग या भागवत धर्मकाही अब फिर समर्थन करते है, "कि इस प्रकार मैंभी कर्मोको करता आ रहा हूं" –]

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

श्रीभगवानने कहा — (५) हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ (और) हे परंतप! तू नहीं जानता (यही भेद है)। (६) मैं (सब) प्राणियोंका स्वामी और जन्मविरहित हूँ और, यद्यपि मेरे आत्मस्वरूपमें कभी भी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता, तथापि अपनीही प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर मैं अपनी मायासे जन्म लिया करता हूँ।

[इस श्लोकके अध्यात्मज्ञानमें कापिल-सांख्य और वेदान्त, इन दोनों मतोंकाही मेल कर दिया गया है। सांख्य-मतवालोंका कथन है, कि प्रकृति आप-ही सृष्टि निर्माण करती है। परन्तु वेदान्ती लोग प्रकृतिको परमेश्वरकाही एक स्वरूप समझकर यह मानते हैं, कि प्रकृतिमें परमेश्वरके अधिष्ठित होनेपर प्रकृतिसे व्यक्त-सृष्टि निर्मित होती है। अपने अव्यक्त स्वरूपसे सारे जगतको निर्माण करनेकी परमेश्वरकी इस अचिन्त्य शक्तिकोही गीतामें 'माया' कहा है, और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी ऐसा वर्णन है — "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।" अर्थात् प्रकृतिही माया है, और उस मायाका अधिपति परमेश्वर है (श्वे. ४. १०), और "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" — इससे मायाका अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे. ४. १०)। प्रकृतिको माया क्यों कहते हैं, इस मायाका स्वरूप क्या है और इस कथनका क्या अर्थ है, कि मायासे सृष्टि उत्पन्न होती है? — इत्यादि प्रश्नोंका अधिक विवरण गीतारहस्यके ९ वें प्रकरणमें किया गया है। यह बतला दिया, कि अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त कैसे होता है अर्थात् कर्म उपजा हुआ-सा कैसे दीख पड़ता है; अब इस बातका स्पष्टीकरण करते हैं कि वह ऐसा कब और किसलिये करता है —]

(७) हे भारत! जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मकी प्रबलता फैल जाती है, तब तब मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

§§ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

(८) साधुओकी सरक्षाके निमित्त और दुष्टोका नाश करनेके लिये, युग-युगमें धर्मसस्थापनाके अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनो श्लोकोमे 'धर्म' शब्दका अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नही है, किंतु चारो वर्णोके धर्म, न्याय और नीति प्रभृति बातोकाभी उसमें मुख्यतासे समावेश होता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि जगतमे जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अधाधुधी मचकर साधुओको कष्ट होने लगता है और जब दुष्टोका दबदबा बढ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगतकी सुस्थितिको स्थिर रखकर, उसका कल्याण करनेके लिये तेजस्वी और पराक्रमी पुरुषके रूपसे (गीता १० ४१) अवतार लेकर भगवान् समाजकी बिगडी हुई व्यवस्थाको फिर ठीक कर दिया करते है। इस रीतिमे अवतार लेकर भगवान् जो काम करते हैं, उसीको 'लोकसग्रह' भी कहते हैं, और पिछले अध्यायमें कह दिया गया है, कि यही काम अपनी शक्ति और अधिकारके अनुसार आत्मज्ञानी पुरुषोकोभी करना चाहिये (गीता ३ २०)। यह बतला दिया गया, कि परमेश्वर कब और किसलिये अवतार लेता है। अब यह बतलाते हैं, कि इस तत्त्वको परख कर जो पुरुष तदनुसार वर्ताव करते हैं उनको कौनसी गति मिलती है —]

(९) हे अर्जुन! इस प्रकारके मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके तत्त्वको जो जानता है, वह देह त्यागनेके पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझमे आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोधसे छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रयमें आये हुए अनेक लोग (इस प्रकार) ज्ञानरूप तपसे शुद्ध होकर मेरे स्वरूपमे आकर मिल गये हैं।

[भगवानके दिव्य जन्मको समझनेके लिये यह जानना पडता है, कि अव्यक्त परमेश्वर मायामे सगुण कैसे होता है, और इसके जान लेनेसे अध्यात्मज्ञान हो जाता है एव दिव्य कर्मको जान लेनेपर कर्म करकेभी अलिप्त रहनेका, अर्थात् निष्काम कर्मके तत्त्वका, ज्ञान हो जाता है। सारांश परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको पूरा पूरा जान लेनेपर, अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग

§§ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

| इन दोनोकीभी पूरी पहचान हो जाती है, और मोक्षकी प्राप्तिके लिये इसीकी आवश्यकता होनेके कारण ऐसे मनुष्यको अतमे भगवत्प्राप्ति हुए विना नही रहती । अर्थात् भगवानके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेनेमें सव कुछ आ गया, फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग, इन दोनोकाभी अलग अलग अध्ययन नही करना पडता । अतएव वक्तव्य यह है, कि भगवानके जन्म और कृत्यका विचार करो, एव उसके तत्त्वको परखकर वर्ताव करो, भगवत्प्राप्ति होनेके लिये दूसरा कोई साधन अपेक्षित नही है। भगवानकी यही सच्ची उपासना है। अव इसकी अपेक्षा नीचेके दर्जेकी उपासनाओके फल और उपयोग वतलाते है —]

(११) जो मुझे जिस प्रकारसे भजते है, उन्हे मै उसी प्रकारके फल देता हूँ। हे पार्थ ! किसीभी ओरसे हो, मनुष्य मेरेही मार्गमे आ मिलते है ।

| [" मम वर्त्मानुवर्तन्ते " इत्यादि उत्तरार्ध पहले (गी ३ २३) कुछ निराले अर्थमें आया है, और इससे ध्यानमे आवेगा, कि गीतामें पूर्वापर सदर्भके अनुसार अर्थ कैमे वदल जाता है, यद्यपि यह सच है, कि किसीभी मार्गसे जानेपर मनुष्य परमेश्वरकीही ओर जाता है, तोभी यह जानना चाहिये, कि अनेक लोग अनेक मार्गोसे क्यो जाते है ? अव इसका कारण वतलाते है —]

(१२) (कर्मवधनके नाशकी नही, केवल) कर्मफलकी इच्छा करनेवाले लोग इस लोकमें देवताओकी पूजा इसलिये किया करते है, कि (ये) कर्मफल (इस) मनुष्यलोकमें शीघ्रही मिल जाते है ।

| [येही विचार सातवे अध्याय में (गीता ७ २१, २२) फिर आये है, परमेश्वरकी आराधनाका सच्चा फल है मोक्ष, परतु वह तभी प्राप्त होता है, कि जव कालातरसे एव दीर्घ और एकान्त उपासनासे कर्मवधका पूर्ण नाश हो जाता है, परन्तु इतने दूरदर्शी और दीर्घ-उद्योगी पुरुष वहुतही थोडे होते हैं। इस श्लोकका भावार्थ यह है कि वहुतेरोको अपने उद्योग अर्थात् कर्मसे इसी लोकमें कुछ-न-कुछ प्राप्त करना होता है, और ऐसेही लोग देवताओकी पूजा किया करते है (गीतार प्र १३, पृ ४२४) । गीताका यहभी कथन है, कि पर्यायसे यहभी तो परमेश्वरकाही पूजन होता है, और वढते वढते इस योगका पर्यवसान निष्काम भक्तिमे होकर अतमें मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गीता

§§ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

[७ ११)। पहले कह चुके हैं, कि धर्मकी संस्थापना करनेके लिये परमेश्वर अवतार लेता है, अब संक्षेपमें बतलाते हैं, कि धर्मकी संस्थापना करनेके लिये क्या करना पड़ता है –]

(१३) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णोंकी *व्यवस्था गुण और कर्मके भेदके अनुसार मैंनेही निर्माण की है।* इसे तू ध्यानमें रख कि मैं उसका कर्ताभी हूँ, और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मैंही) हूँ।

[अर्थ यह है, कि परमेश्वर कर्ता भलेही हो, पर अगले श्लोकके वर्णनानुसार वह सदैव निःसंग है, इस कारण अकर्ता ही है (गीता ५ १४)। परमेश्वरके स्वरूपके "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" ऐसे दूसरेभी विरोधाभासात्मक वर्णन आगे हैं (गीता १३ १४)। चातुर्वर्ण्यके गुण और भेदका निरूपण आगे अठारहवें अध्यायमें (गी १८ ४१–४९) किया गया है। अब भगवानने "करके न करनेवाला" ऐसा जो अपना वर्णन किया है, उसका मर्म बतलाते हैं –]

(१४) मुझे कर्मका लेप अर्थात् बाधा नहीं होती, (क्योंकि) कर्मके फलमें मेरी इच्छा नहीं है – जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्मकी बाधा नहीं होती।

[ऊपर नवम श्लोकमें जो दो बातें कही हैं, कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म'को जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है, उन्हींमेंसे कर्मके तत्त्वका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया है। 'जानता' है शब्दसे यहाँ "जान कर तदनुसार वर्तने लगता है" इतना अर्थ विवक्षित है। भावार्थ यह है, कि भगवानको उनके कर्मकी बाधा नहीं होती, इसका यह कारण है, कि वे फलाशा रखकर कामही नहीं करते, और इसे जान कर तदनुसार जो वर्तता है, उसको कर्मोंका बंधन नहीं होता। अब इस श्लोकके सिद्धान्तकोही प्रत्यक्ष उदाहरणसे दृढ़ करते हैं –]

(१५) इसे जान कर प्राचीन समयके मुमुक्षु लोगोंनेभी कर्म किया था, इसलिये पूर्वके लोगोंके किये हुए अति प्राचीन कर्मही तू कर।

[इस प्रकार मोक्ष और कर्मका विरोध नहीं है अतएव अर्जुनको निश्चित

§§ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

| उपदेश किया है, कि तू कर्म कर। परतु इसपर यह शका होती है, कि सन्यास-
| मार्गवालोका जो यह कथन है, कि "कर्मोके छोडनेसे अर्थात् अकर्मसेही मोक्ष
| मिलता है।" उस कथनका बीज क्या है? अतएव अव कर्म और अकर्मके
| विवेचनका आरभ करके आगे तेईसवे श्लोकमे सिद्धान्त करते है, कि अकर्म
| कुछ कर्मत्याग नही है, निष्काम कर्मकोही अकर्म कहना चाहिये।]

(१६) इस विषयमें बडे बडे विद्वानोकोभी भ्रम हो जाता है, कि कौन कर्म है और कौन अकर्म? (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ, कि जिसे जान लेनेसे तू पापसे मुक्त होगा।

| ['अकर्म' नञ् समास है और व्याकरणकी रीतिसे उसके अ = नञ् शब्दके
| 'अभाव' अथवा 'अप्राशस्त्य' ये दोनो अर्थ हो सकते है, और यह नही कह
| सकते, कि इस स्थलपर ये दोनोभी अर्थ विवक्षित न होगे, परतु अगले श्लोकमें
| 'विकर्म' नामसे कर्मका एक और तीसरा भेद किया है। अतएव इस श्लोकमें
| अकर्म शब्दसे विशेषत वही कर्मत्याग उद्दिष्ट है, जिसे सन्यास-मार्गवाले
| लोग "कर्मका स्वरूपत त्याग" कहते है। सन्यास-मार्गवाले कहते है, कि
| "सव कर्म छोड दो", परतु १८ वे श्लोककी टिप्पणीसे दीख पडेगा, कि इस
| बातको दिखलानेके लियेही यह विवेचन किया गया है, कि कर्मको सर्वथा त्याग
| देनेकी कोई आवश्यकता नही है, सन्यास-मार्गवालोका कर्मत्याग सच्चा 'अकर्म'
| नही है, अकर्मका मर्म कुछ औरही है।]

(१७) कर्मकी गति गहन है, (अतएव) यह जान लेना चाहिये, कि कर्म क्या है, और यह समझना चाहिये, कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है, और यहभी ज्ञात कर लेना चाहिये, कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है? (१८) कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म जिसे दीख पडता है, वह पुरुष सव मनुष्योमें ज्ञानी है, और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एव समस्त कर्म करनेवाला है।

| [इस श्लोकमे और अगले पांच श्लोकोमें अकर्म एव विकर्मका
| स्पष्टीकरण किया गया है, और इसमें जो कुछ कमी रह गई है, उसे आगे

अठारहवे अध्यायमें कर्मत्याग, कर्म और कर्ताके त्रिविध भेद-वर्णनमें पूरा कर दिया है (गीता १८ ४–७, १८ २३–२५, १८ २६–२८)। यहाँ सक्षेपमें स्पष्टतापूर्वक यह बतला देना आवश्यक है, कि दोनो स्थलोंके कर्म-विवेचनसे कर्म, अकर्म और विकर्मके सबधमें गीताके सिद्धान्त क्या है, क्योकि, टीकाकारोंने इस सबधमें बडी गडबड कर दी है। सन्यास-मार्गवालोको सब कर्मोका स्वरूपत त्याग इष्ट है, इसलिये वे गीताके 'अकर्म' पदका अर्थ खीचातानीमे अपने मार्गकी ओर लाना चाहते है, मीमासकोको यज्ञयाग आदि काम्य कर्म इष्ट है, इसलिये उनके अतिरिक्त और सभी कर्म उन्हे 'विकर्म' जँचते है। इसके सिवा मीमासकोंके नित्यनैमित्तिक आदि कर्मभेदभी उसीमे आ जाते है, और फिर धर्मशास्त्री उसीमें अपनी ढाई चावलकी खिचडी पकानेकी इच्छा रखते है। साराश, चारो ओरसे ऐसी खीचातानी होनेके कारण, अतमें यह जान लेना कठिन हो जाता है, कि गीता 'अकर्म' किसे कहती है और 'विकर्म' किसे ? अतएव पहलेसेही इस बातपर ध्यान दिये रहना चाहिये, कि गीतामें जिस तात्त्विक दृष्टिसे इस प्रश्नका विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगीकी है, काम्य-कर्म करनेवाले मीमासकोकी या कर्म छोडनेवाले सन्यासमार्गियोकी नही है। गीताकी इस दृष्टिको स्वीकार कर लेने पर तो यही कहना पडता है, कि 'कर्म-शून्यता'के अर्थमें 'अकर्म' इस जगतमें कहीभी नही रह सकता अथवा कोईभी मनुष्य कभी कर्म-शून्य नही हो सकता (गीता ३ ५, १८ ११), क्योकि सोना, उठना, बैठना और कम-से-कम जीवित रहना तो किसीकाभी छूट नही जाता। और यदि कर्म-शून्य होना सभव नही है, तो निश्चय करना पडता है, कि अकर्म कहे किसे ? इसके लिये गीताका यह उत्तर है, कि कर्मको निरी क्रिया न समझकर उससे आगे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामोका विचार करके, कर्मका कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टिके मानेही कर्म है, तो मनुष्य जबतक सृष्टिमें है, तब तक उससे कर्म नही छूटता। अत कर्म और अकर्मका जो विचार करना हो, वह इसी दृष्टिसे करना चाहिये, कि मनुष्यको वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने परभी जो कर्म हमे बद्ध नही करता, उसके विषयमें कहना चाहिये, कि उसका कर्मत्व अथवा बधकत्व नष्ट हो गया, और यदि किसीभी कर्मका बधकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो गया हो, तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्मका प्रचलित सासारिक अर्थ कर्मशून्यता है सही, परतु शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करनेपर उसका यहाँ मेल नही मिलता। क्योकि हम देखते हैं, कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करनाभी कई बार कर्मही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने माँ-बापको कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोक-कर चुप्पी साधे बैठे रहना, उस समय यदि व्यावहारिक दृष्टिसे अकर्म अर्थात् कर्म-शून्यता हो तोभी वह कर्मही, – सभवत विकर्म – है, और कर्मविपाककी

दृष्टिसे उसके अशुभ परिणाम हमें भोगने पड़ेंगे। अतएव गीता इस श्लोकमें विरोधाभासकी रीतिसे बड़ी खूबीके साथ कहती है, कि ज्ञानी वही है, जिसने जान लिया, कि अकर्ममेंभी (कभी कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है, और कर्म करकेभी वह कर्मविपाककी दृष्टिसे मरा-सा, अर्थात् अकर्म, होता है, तथा यही अर्थ अगले श्लोकमें भिन्न भिन्न रीतिसे वर्णित है। कर्मके फलका बंधन न लगनेके लिये गीताशास्त्रके अनुसार यही एकमेव सच्चा साधन है, कि निःसंग-बुद्धिसे अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धिसे, वह कर्म किया जावे (गीतारहस्य प्र ५, पृ १११–११५, प्र १०, पृ २८६–२८७)। अत इस साधनका उपयोग कर निःसंग बुद्धिसे जो कर्म किया जाय, वही गीताके अनुसार प्रशस्त अर्थात् सात्त्विक कर्म है (गीता १८ ९), और गीताके मतमें वही सच्चा 'अकर्म' है। क्योंकि उसका कर्मत्व, अर्थात् कर्मविपाककी क्रियाके अनुसार बंधकत्व, निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और इस 'करते हैं' पदमें चुपचाप निठल्ले बैठे रहनेकाभी समावेश करना चाहिये), उनमेंसे उक्त प्रकारके अर्थात् 'सात्त्विक कर्म' अथवा गीताके अनुसार 'अकर्म' घटा देनेसे बाकी जो कर्म रह जाते हैं, उनके दो भाग हो सकते हैं एक राजस और दूसरा तामस। इनमेंसे तामस कर्म मोह और अज्ञानसे हुआ करते हैं, इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं। फिर यदि कोई कर्म मोहसे छोड़ दिया जाय, तोभी वह विकर्मही है, अकर्म नहीं (गीता १८ ७)। अब रह गये राजस कर्म। ये कर्म पहले दर्जेके अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं, अथवा ये वे कर्मभी नहीं हैं, जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है। गीता इन्हें 'राजस' कर्म कहती है, परंतु यदि कोई चाहे, तो ऐसे राजस कर्मोंको केवल 'कर्म'भी कह सकता है। तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूपसे अथवा कोरे धर्मशास्त्रसेभी कर्म-अकर्मका निश्चय नहीं होता, किंतु कर्मके बंधकत्वसे यह निश्चय किया जाता है, कि कर्म है या अकर्म? अष्टावक्रगीता संन्यास-मार्गकी है, तथापि उसमेंभी कहा है –

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खोंकी निवृत्ति, अथवा हठसे या मोहके द्वारा कर्मसे विमुखताही वास्तवमें प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पंडित लोगोंकी प्रवृत्ति, अर्थात् निष्काम कर्मसेही निवृत्ति यानी कर्मत्यागका फल मिलता है (अष्टा १८ ६१)। गीताके उक्त श्लोकमें यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलंकारकी रीतिसे बड़ी सुंदरतासे बतलाया गया है और गीताके अकर्मके इस लक्षणको भलीभाँति समझे बिना गीताके कर्म-अकर्मके विवेचनका मर्म कभीभी समझमें आनेका नहीं। अब इसी अर्थको अगले श्लोकोंमें अधिक व्यक्त करते हैं –)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

(१९) ज्ञानी पुरुष उसीको पडित कहते हैं, कि जिसके सभी समारभ अर्थात् उद्योग फलकी इच्छासे विरहित होते हैं, और जिसके कर्म ज्ञानाग्निमे भस्म हो जाते हैं।

["ज्ञानसे कर्म भस्म होते हैं" इसका अर्थ कर्मोंको छोडना नही है, किंतु इस श्लोकसे प्रकट होता है, कि "फलकी इच्छा छोड कर कर्म करना", यही अर्थ यहां लेना चाहिये (गीतार प्र १०, पृ २८६–२९१)। इसी प्रकार आगे भगवद्भक्तके वर्णनमे जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' समस्त – आरभ या उद्योग छोडनेवाला – पद आया है (गीता १२ १६, १४ २५), उसकेभी अर्थका निर्णय उससे हो जाता है। अव इसी अर्थको अधिक स्पष्ट करते है .–]

(२०) कर्मफलकी आसक्ति छोडकर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, अर्थात् (जो पुरुष) कर्मफलके साधनकी आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता, कि अमुक कार्यकी सिद्धिके लिये अमुक काम करता हूँ, '(कहना चाहिये कि) वह कर्म करनेमे निमग्न रहनेपरभी कुछभी नही करता। (२१) 'आशी अर्थात फलकी वासना छोडनेवाला, चित्तका नियमन करनेवाला और सर्वसगसे मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेंद्रियोसेही कर्म करते समय पापका भागी नही होता।

[कुछ लोग बीसवे श्लोकके 'निराश्रय' शब्दका अर्थ 'घर-गिरस्ती' न रखनेवाला (सन्यासी) करते है, पर वह ठीक नही है। आश्रयको घर या गिरस्ती कह सकेंगे, परतु इस स्थानपर कर्ताके स्वय रहनेका ठिकाना विवक्षित नही है, यहां यह अर्थ है, कि वह जो कर्म करता है, उसका हेतुरूप ठिकाना (आश्रय) कही न रहे। यही अर्थ गीताके ६ १ श्लोकमे 'अनाश्रित कर्मफल' इन शब्दोंसे स्पष्ट व्यक्त किया है, और वामन पडितने गीताकी 'यथार्थदीपिका' नामक अपनी मराठी टीकामे इसे स्वीकार किया है। ऐसेही २१ वे श्लोकमें 'शारीरके' माने सिर्फशरीरपोषणके लिये भिक्षाटन आदि कर्म नही है। आगे पाँचवे अध्यायमें "योगी अर्थात् कर्मयोगी लोग आसक्ति अथवा काम्य-बुद्धिको मनमें न रखकर केवल इद्रियोसे कर्म किया करते है" (गीता ५ ११) ऐसा जो वर्णन है, उसके समानार्थकही 'केवल शारीर कर्म' इन पदोका सच्चा अर्थ है।

§§ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

| विरहित करनेवाला पुरुष कर्मके 'समग्र' फलसे मुक्त होता हुआ अंतमें मोक्ष
| पाता है (गीतार प्र ११, पृ ३४६–३५०)। ब्रह्मार्पणरूपी इस बडे यज्ञकाही
| वर्णन अगले श्लोकमें पहले किया गया है, और फिर उसकी अपेक्षा कम
| योग्यताके अनेक लाक्षणिक यज्ञोका स्वरूप बतलाया गया है, एव तेतीसवे
| श्लोकमें समग्र प्रकरणका उपसहार कर कहा गया है, कि ऐसा "ज्ञानयज्ञही
| सबमे श्रेष्ठ है,"]

(२४) अर्पण अर्थात् हवन करनेकी क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करनेका द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्निमे ब्रह्मने हवन किया है – (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिमें (सभी) कर्म ब्रह्ममय, है, उसको ब्रह्मही मिलता है।

| [शाकरभाष्यमे 'अर्पण' शब्दका अर्थ "अर्पण करनेका साधन अर्थात्
| आचमनी इत्यादि" है, परन्तु यह जरा कठिन है। इसकी अपेक्षा, अर्पण =
| अर्पण करनेकी या हवन करनेकी क्रिया, यह अर्थ अधिक सरल है। यह
| ब्रह्मार्पणपूर्वक अर्थात् निष्कामबुद्धिसे यज्ञ करनेवालोका वर्णन हुआ। अब देव-
| ताके उद्देश्यसे अर्थात् काम्य-बुद्धिसे किये हुए यज्ञका स्वरूप बतलाते है –]

(२५) कोई कोई (कर्म)-योगी (ब्रह्मबुद्धिके बदले) देवता आदिके उद्देश्यसे यज्ञ किया करते है, और कोई ब्रह्माग्निमे यज्ञसेही यज्ञका यजन करते है।

| [पुरुषसूक्तमें विराट्रूपी यज्ञपुरुषके देवताओ द्वारा, यजन होनेका जो
| वर्णन है – "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ।" (ऋ १० ९० १६), उसीको लक्ष्य-
| कर इस श्लोकका उत्तरार्थ कहा गया है 'यज्ञ यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेदके
| 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'से समानार्थकही दीख पडते है। प्रकट है, कि इस यज्ञमें,
| जो सृष्टिके आरभमे हुआ था, जिस विराट्रूपी पशुका हवन किया गया था, वह
| पशु, और जिस देवताका यजन किया गया था, वह देवता, ये दोनो ब्रह्मस्वरूपीही
| होगे। साराश, चौबीसवे श्लोकका यह वर्णनही तत्त्वदृष्टिसे ठीक है, कि सृष्टिके
| सब पदार्थोमें सदैवही ब्रह्म भरा हुआ है, इस कारण इच्छारहित बुद्धिसे सब
| व्यवहार करते करते ब्रह्मसेही ब्रह्मका सदा यजन होता रहता है, केवल बुद्धि
| वैसी होनी चाहिये। पुरुषसूक्तको लक्ष्य कर गीतामें यही एक श्लोक नहीं है,
| प्रत्युत आगे दसवे अध्यायमेभी (१० ४२) इस सूक्तके अनुसार वर्णन है।
| देवताके उद्देश्यसे किये हुए यज्ञका वर्णन हो चुका, अब अग्नि, हवि इत्यादि

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

[शब्दोंके लाक्षणिक अर्थ लेकर बतलाते हैं, कि प्राणायाम आदि पातञ्जलयोगकी क्रियाएँ अथवा तपश्चरणभी एक प्रकारका यज्ञ होता है –]

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान, आँख आदि) इंद्रियोका संयमरूप अग्निमें होम करते हैं, और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्निमें (इंद्रियोंके) शब्द आदि विषयोका हवन करते है। (२७) और कुछ लोग इंद्रियो तथा प्राणोंके सब कर्मोंको अर्थात् व्यापारोको ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगकी अग्निमें हवन किया करते हैं।

[इन श्लोकोंमें दो-तीन प्रकारके लाक्षणिक यज्ञोका वर्णन है। जैसे (१) इंद्रियोका संयमन करना अर्थात् उनको योग्य मर्यादाके भीतर अपने अपने व्यवहार करने देना, (२) इंद्रियोके विषय अर्थात् उपभोगके पदार्थ सर्वथा छोडकर, इंद्रियोको बिलकुल मार डालना, (३) न केवल इंद्रियोके व्यापारोको, प्रत्युत प्राणोकेभी व्यापारोको बंद कर, अर्थात् पूरी समाधि लगा करके, केवल आत्मानंदमेंही मग्न रहना। अब इन्हे यज्ञकी उपमा दी जाय, तो पहले प्रकारमें इंद्रियोको मर्यादित करनेकी क्रिया (संयमन) अग्नि हुई, क्योकि दृष्टान्तसे यह कहा जा सकता है, कि इस मर्यादाके भीतर जो कुछ आ जाय, उसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरेमें साक्षात् इंद्रियाँ और तीसरे प्रकारमें इंद्रियाँ एवं प्राण मिलकर दोनो होम करनेके द्रव्य हो जाते है और आत्मसंयमन अग्नि है, इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे है, जो निरा प्राणायामही किया करते है, उनका वर्णन उनतीसवे श्लोकमें है। 'यज्ञ' शब्दके मूल अर्थ द्रव्यात्मक यज्ञको लक्षणासे विस्तृत और व्यापक कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्तिके सब प्रकारके साधनोका एक 'यज्ञ' शीर्षकमेंही समावेश कर देनेकी भगवद्गीताकी यह कल्पना कुछ अपूर्व नही है। मनुस्मृतिके चौथे अध्यायमें गृहस्थाश्रमके वर्णनके सिलसिलेमें पहले यह बतलाया गया है, कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ – इन स्मार्त पंचमहायज्ञोको कोई गृहस्थ न छोडे, और फिर कहा है, कि इनके बदले कोई कोई 'इंद्रियोमें वाणीका हवनकर, अथवा वाणीमें प्राणका हवन करके या अंतमें ज्ञानयज्ञसेभी परमेश्वरका यजन करते हैं" (मनु ४ २१–२४)। इतिहासकी दृष्टिसे देखें, तो विदित होता है, कि इंद्र-वरुण प्रभृति देवताओके उद्देश्यसे जो द्रव्यमय यज्ञ श्रौत ग्रंथोमें कहे गये है, उनका प्रचार धीरे धीरे घटता गया, और जब पातंजलयोगसे,

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

| सन्याससे अथवा आध्यात्मिक ज्ञानसे परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके मार्ग अधिकाधिक प्रचलित होने लगे, तब 'यज्ञ' शब्दका अर्थ विस्तृतकर उसीमें मोक्षके समग्र उपायोका लक्षणासे समावेश करनेका आरभ हुआ होगा। इसका मर्म यही है, कि पहले जो शब्द धर्मकी दृष्टिसे प्रचलित हो गये थे, उन्हीका उपयोग अगले धर्ममार्गके लियेभी किया जावे। कुछभी हो, मनुस्मृतिके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है, कि गीताके पहले या कम-से-कम उस कालमें तो उक्त कल्पना सर्वसान्य हो चुकी थी।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रतका आचरण करनेवाले यति अर्थात् सयमी पुरुष कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं। (२९) प्राणायाममें तत्पर होकर प्राण और अपानकी गतिको रोक करके, कोई प्राणवायुका अपानमें (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायुका प्राणमें हवन किया करते हैं।

| [इस श्लोकका तात्पर्य यह है, कि पातजलयोगके अनुसार प्राणायाम करनाभी एक यज्ञही है। यह पातजलयोगरूप यज्ञ उनतीसवे श्लोकमें बतलाया गया है, अत अठ्ठाईसवे श्लोकके 'योगरूप यज्ञ' पदका अर्थ कर्मयोगरूपी यज्ञ करना चाहिये। प्राणायाम शब्दके 'प्राण' शब्दसे श्वास और उच्छ्वास, दोनो क्रियाएँ प्रकट होती हैं, परतु जब प्राण और अपानका भेद करना होता है, तब प्राण = बाहर जानेवाला अर्थात् उच्छ्वास वायु, और अपान = भीतर आनेवाला श्वास, यह अर्थ किया जाता है (वे सू शा भा २ ४ १२, छादोग्य शा भा १ ३ ३)। ध्यान रहे, कि प्राण और अपानके ये अर्थ प्रचलित अर्थोंसे भिन्न हैं। इस अर्थमेंसे अपानमें अर्थात् भीतर खीचे हुए श्वासमें प्राणका – उच्छ्वासका – होम करनेसे पूरक नामका प्राणायाम होता है, और इसके विपरीत प्राणमें अपानका होम करनेसे रेचक प्राणायाम होता है। प्राण और अपान, इन दोनोंकेही निरोधसे वही प्राणायाम कुम्भक हो जाता है। अब इनके सिवा व्यान, उदान और समान ये तीन वायु बचे रहे। इनमेंसे व्यान, प्राण और अपानके सधिस्थलोमें रहता है, धनुष्य खीचने, वजन उठाने आदि दम रोककर या आधे श्वासका दमन करके शक्तिके काम करते समय व्यक्त होता है (छा १ ३ ५)। मरणसमयमें निकल जानेवाले वायुको उदान

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

कहते हैं (प्रश्न ३ ७), और शरीरके सब स्थानोपर एक-सा अन्नरस पहुँचाने-वाले वायुको समान कहते हैं (प्रश्न ३ ५) – इस प्रकार वेदान्त-शास्त्रमें इन शब्दोंके सामान्य अर्थ दिये गये हैं। परतु कुछ स्थलोपर इनसे निराले अर्थ अभिप्रेत होते हैं, उदाहरणार्थ, महाभारतके वनपर्वके २१२ वे अध्यायमें प्राण आदि वायुओके निरालेही लक्षण दिये गये है और उसमें कहा है, कि प्राण मस्तकका वायु है और अपान नीचे सरकनेवाला वायु है (प्रश्न. ३ ५ मैत्र्यु २ ६)। ऊपरके श्लोकमें जो वर्णन है, उसका यह अर्थ है, कि इनमेंसे जिस वायुका निरोध करते हैं, उसका अन्य वायुओमें होम होता है।]

(३०–३१) और कुछ लोग आहारको नियमित कर प्राणोकाही प्राणोमें होम किया करते हैं। ये सभी लोग सनातन ब्रह्ममें जा मिलते हैं, कि जो यज्ञके जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञसे क्षीण हो गये है, (और जो) अमृतका अर्थात् यज्ञसे बचे हुएका उपभोग करनेवालें हैं। यज्ञ न करनेवालेको (जब) इस लोगमें सफलता नही होती। (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ! (उसे) परलोक कहाँसे (मिलेगा)?

[साराश, यज्ञ करना यद्यपि वेदकी आज्ञाके अनुसार मनुष्यका कर्तव्य है, तोभी यह यज्ञ एकही प्रकारका नही होता। प्राणायाम करो, तप करो, वेदका अध्ययन करो, अग्निष्टोम करो, पशुयज्ञ करो, तिल-चावल अथवा घीका हवन करो, पूजापाठ करो या नैवेद्य-वैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करो, फला-सक्तिके छूट जानेपर ये सब व्यापक अर्थमें यज्ञही हैं और फिर यज्ञशेष-भक्षणके विषयमें मीमासकोंके जो सिद्धान्त है, वे सव इनमेंसे प्रत्येक यज्ञके लिये उपयुक्त हो जाते हैं। इनमेंसे पहला नियम यह है, कि "यज्ञके अर्थ किया हुआ कर्म बधक नही होता", और इसका वर्णन तेईसवे श्लोकमें हो चुका है (गीता ३ ९ पर टिप्पणी देखो)। अब दूसरा नियम यह है, कि प्रत्येक गृहस्थ पचमहायज्ञ कर अतिथि आदिके भोजन कर चुकनेपर फिर अपनी पत्नी-सहित भोजन करे, और इस प्रकार बर्तनेसे गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। "विघस भुक्तशेष तु यज्ञशेषमथामृतम्" (मनु ३ २८५) – अतिथि वगैरहके भोजन कर चुकनेपर जो बचे, उसे 'विघस' और यज्ञ करनेसे जो शेष रहे, उसे 'अमृत' कहते हैं, इस प्रकार व्याख्या करके मनुस्मृति और अन्य स्मृतियोमेंभी कहा है, कि प्रत्येक गृहस्थको नित्य विघसाशी और अमृताशी होना चाहिये (गीता ३ १३, गीतारहस्य प्र १०, पृ २९४)। अब भगवान्

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

[कहते है कि सामान्य मखयज्ञको उपयुक्त होनेवाला यह सिद्धान्तही सब प्रकारके उक्त यज्ञोको उपयोगी होता है । यज्ञके अर्थ किया हुआ कोईभी कर्म बधक नही होता, यही नही, बल्कि उन कर्मोमेंसे अवशिष्ट काम यदि अपने निजी उपयोगमें आ जावे, तोभी वे बधक नही होते (गीतार प्र १२, पृ ३८६)। "विना यज्ञके इहलोकभी सिद्ध नही होता" यह अतिम वाक्य मार्मिक और महत्त्वका है। उसका अर्थ इतनाही नही है, कि यज्ञके विना पानी नही बरसता, और पानीके न बरसनेसे इस लोककी गुजर नही होती, किंतु 'यज्ञ' शब्दका व्यापक अर्थ लेकर, इस सामाजिक तत्त्वकाभी उसमें पर्यायसे समावेश हुआ है, कि अपनी कुछ प्यारी बातोका छोडे विना न तो सबको एक-सी सुविधा मिल सकती है, और न जगतके व्यवहारभी चल सकते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी समाजशास्त्रप्रणेता जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि हरएकके अपनी स्वतत्रताको परिमित किये विना औरोको एक-सी स्वतत्रता नही मिल सकती है, वही इस तत्त्वका उदाहरण है, और, यदि गीताकी परिभाषामें इसी अर्थको कहना हो, तो इस स्थलपर ऐसी यज्ञप्रधान भाषाकाही प्रयोग करना पडेगा, कि "जबतक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतत्रताके कुछ अशकाभी यज्ञ न करे, तबतक इस लोकके व्यवहार चल नही सकते।" इस प्रकारके व्यापक और विस्तृत अर्थसे जब यह निश्चय हो चुका, कि यज्ञही सारी समाजरचनका आधार है, तब कहना नही होगा, कि केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे उक्त 'यज्ञ' करना जबतक प्रत्येक मनुष्य न सीखेगा, तबतक समाजकी व्यवस्था ठीक न रहेगी।]

(३२) इस प्रकार भाँति भाँतिके यज्ञ ब्रह्मके (ही) मुखमें जारी हैं। यह जान, कि वे सब कर्मसे निष्पन्न होते हैं। यह ज्ञान हो जानेसे तू मुक्त हो जायगा।

[ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौतयज्ञ अग्निमे हवन करके किये जाते है और शास्त्रमे कहा है, कि देवताओका मुख अग्नि है, इस कारण ये यज्ञ उन देवताओको मिल जाते है। परतु यदि कोई शका करे, कि देवताओके मुख – अग्नि – में उक्त लाक्षणिक यज्ञ नही होते, अत लाक्षणिक यज्ञोंसे श्रेय प्राप्ति होगी कैसे, तो उसे दूर करनेके लिये, कहा है, कि अब ये यज्ञ साक्षात् ब्रह्मकेही मुखमें होती हैं। दूसरे चरणका भावार्थ यह है, कि जिस पुरुषने यज्ञविधिके इस व्यापक स्वरूपको – केवल मीमासकोके सकुचित अर्थकोही नही – जान लिया, उसकी बुद्धि सकुचित नही रहती, किंतु वह ब्रह्मके स्वरूपको पहचाननेका अधि-कारी हो जाता है। अब बतलाते है, कि इन सब यज्ञोमें श्रेष्ठ यज्ञ कौन है –]

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

§§ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

(३३) हे परतप ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योकि, हे पार्थ ! सब प्रकारके समस्त कर्मोका पर्यवसान ज्ञानमे होता है।

['ज्ञानयज्ञ' शब्द आगेभी दो बार गीतामे आया है (गीता ९ १५, १८ ७०)। हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते है, वह परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये किया करते है। परतु परमेश्वरकी प्राप्ति, उसके स्वरूपका ज्ञान हुए बिना नही होती। अतएव परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर, उस ज्ञानके अनुसार आचरण करके परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके मार्ग या साधनको 'ज्ञानयज्ञ' कहते है। यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अत द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है। मोक्षशास्त्रमें ज्ञानयज्ञका यह ज्ञानही मुख्य है, और इसी ज्ञानसे सब कर्मोका क्षय हो जाता है, कुछभी हो, गीताका यह स्थिर सिद्धान्त है, कि अतमें परमेश्वरका ज्ञान होना चाहिये, बिना ज्ञानके मोक्ष नही मिलता। तथापि " कर्मका पर्यवसान ज्ञानमें होता है " इस वचनका यह अर्थ नही है, कि ज्ञानके पश्चात् कर्मोको छोड देना चाहिये – यह बात गीतारहस्यके दसवे और ग्यारहवे प्रकरणमे विस्तारपूर्वक प्रतिपादन की गई है। अपने लिये नही, तो लोकसग्रहके निमित्त कर्तव्य समझकर सभी कर्म करनेही चाहिये, और जब कि वे ज्ञान एव समबुद्धिसे किये जाते हैं, तब उनके पापपुण्यकी बाधा कर्ताको नही होती (आगे ३७ वां श्लोक देखो) और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है। अत गीताका सब लोगोको यही उपदेश है, कि यज्ञ करो, किंतु ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धिसे करो।]

(३४) ध्यानमें रख, कि प्रणिपातसे, प्रश्न करनेसे और सेवा करनेसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेगे, (३५) जिस ज्ञानको पाकर, हे पाडव ! फिर तुझे ऐसा मोह नही होगा, और जिस ज्ञानके योगसे समस्त प्राणियोको तू अपनेमें और मुझमे भी देखेगा।

[सब प्राणियोको अपनेमें और अपनेको सब प्राणियोमे देखनेका, समस्त प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताका आगे जो जो ज्ञान, वर्णित है (गीता ६ २९),

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यासि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
§§ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

| उसीका यहाँ उल्लेख किया गया है। मूलमें आत्मा और भगवान्, दोनो एकरूप
| है, अतएव आत्मामें सब प्राणियोका समावेश होता है, अर्थात् भगवानमेंभी
| उनका समावेश होकर, आगे आत्मा (मैं), अन्य प्राणी और भगवान् यह
| त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसीलिये भागवत पुराणमें भगवद्भक्तोका
| लक्षण देते हुए कहा है, कि "सब प्राणियोको भगवानमें और अपनेमें जो देखता
| है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिये" (भाग ११ २ ४५)। इस महत्त्वके
| नीतितत्त्वका अधिक स्पष्टीकरण गीतारहस्यके बारहवे प्रकरणमें (पृ ३९१–
| ३९९) और भक्ति-दृष्टिसे तेरहवे प्रकरणमें (पृ ४३०–४३१) किया गया है।]

(३६) सब पापियोंसे यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तोभी (इस) ज्ञान-नौकासेही तू सब पापोको पारकर जावेगा। (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) इंधनको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोको (शुभ-अशुभ बंधनोको) जला डालती है।

| [ज्ञानकी महत्ता बतला दी। अब बतलाते है, कि इस ज्ञानकी प्राप्ति
| किन उपायोसे होती है –]

(३८) इस लोकमे ज्ञानके समान पवित्र सचमुचही और कुछभी नही है। काल पाकर जिसको योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है वह पुरुष आप-ही उस ज्ञानको अपनेमें प्राप्त कर लेता है।

| [३७ वे श्लोकमें 'कर्मो'का अर्थ 'कर्मका बंधन' है (गीता ४ १९
| देखो)। अपनी बुद्धिसे आरंभ किये हुए निष्काम कर्मोके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति
| कर लेना, ज्ञानकी प्राप्तिका मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परंतु जो स्वयं इस
| प्रकार अपनी बुद्धिसे ज्ञानको प्राप्त न कर सके, उसके लिये अब श्रद्धाका दूसरा
| मार्ग बतलाते है –]

(३९) जो श्रद्धावान् पुरुष इंद्रियसंयम करके उसीके पीछे पड़ा रहे, उसे(भी) यह

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

§ § योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे ज्ञानकर्मसन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

ज्ञान मिल जाता है, और ज्ञान प्राप्त हो जानेसे तुरतही उसे परम शाति प्राप्त होती है।

| [साराश, बुद्धिसे जो ज्ञान और शाति प्राप्त होगी, वही श्रद्धासेभी मिलती है (गीता १३ २५)। परतु जिसके अपनी बुद्धि नही और श्रद्धाभी नही, वह –]

(४०) परतु जिसे न स्वय ज्ञान है और न श्रद्धाभी है, उस सशयग्रस्त मनुष्यका नाश हो जाता है। सशयग्रस्तको न यह लोक है (और) न परलोक, एव सुखभी नही है।

| [ज्ञानप्राप्तिके ये दो मार्ग बतला चुके, एक अपनी बुद्धिका और दूसरा श्रद्धाका। अब ज्ञान और कर्मयोगका पृथक् उपयोग दिखलाकर समस्त विषयका उपसहार करते हैं –]

(४१) हे धनजय ! उस आत्मज्ञानी पुरुषको कर्म बद्ध नही कर सकते, कि जिसने (कर्म-)योगके आश्रयसे कर्म अर्थात् कर्मबधन त्याग दिये हैं, और ज्ञानसे जिसके (सब) सदेह दूर हो गये है। (४२) इसलिये अपने हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए इस सशयको ज्ञानरूप तलवारसे काटकर, (कर्म-)योगका आश्रय कर। (और) हे भारत ! (युद्धके लिये) खडा हो !

| [ईशावास्य उपनिषद्में 'विद्या' और 'अविद्या'का पृथक् उपयोग दिखला कर जिस प्रकार दोनोको बिना छोडेही आचरण करनेके लिये कहा गया है (ईश ११, गीतार प्र ११, पृ ३५७), उसी प्रकार गीताके इन दो श्लोकोमें ज्ञान और (कर्म-)योगका पृथक् उपयोग दिखलाकर उनके अर्थात् ज्ञान और योगके समुच्चयसेही कर्म करनेके विषयमे अर्जुनको उपदेश दिया गया है। इन दोनोका पृथक् पृथक् उपयोग यह है, कि निष्काम बुद्धियोगके द्वारा कर्म करनेपर

| उनके बधन टूट जाते हैं, और वे मोक्षके लिये प्रतिबधक नही होते, एव ज्ञानसे
| मनके सदेह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अत अतिम उपदेश यह है, कि अकेले
| कर्म या अकेले ज्ञानको स्वीकार न कर, किंतु ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक कर्मयोगका
| आश्रय करके युद्ध कर। योगका आश्रय करके युद्धके लिये खडा रहना था,
| इस कारण गीतारहस्यके प्र ३, पृ ५६ में दिखलाया गया है, कि योग शव्दका
| अर्थ यहाँ 'कर्मयोग'ही लेना चाहिये। ज्ञान और योगका यह मेलही 'ज्ञानयोग-
| व्यवस्थिति' पदसे आगे दैवी सपत्तिके लक्षणमें (गीता १६ १) फिर
| बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानुके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके सवादमें ज्ञान-कर्म-सन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

| [ध्यान रहे, कि 'ज्ञान-कर्म-सन्यास' पदमें 'सन्यास' शव्दका अर्थ स्वरूपत
| 'कर्मत्याग' नही है, किंतु निष्काम बुद्धिसे परमेश्वरमें कर्मका सन्यास अर्थात्
| 'अर्पण करना' अर्थ है, और आगे अठारहवे अध्यायके आरभमें उसीका
| स्पष्टीकरण किया गया है।]

है, परतु (अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता समान होने परभी) इन दोनोमें कर्मसन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी योग्यता विशेष है।

[उक्त प्रश्न और उत्तर, दोनो नि सदिग्ध और स्पष्ट हैं। व्याकरणकी दृष्टिसे पहले श्लोकके 'श्रेय' शब्दका अर्थ अधिक प्रशस्त या बहुत अच्छा है, और दोनो मार्गोके तारतम्य-भावविषयक अर्जुनके प्रश्नकाही यह उत्तर है, कि "कर्मयोगो विशिष्यते" – कर्मयोगकी योग्यता विशेष है। तथापि यह सिद्धान्त साख्यमार्गको इष्ट नही है, क्योंकि उसका कथन है, कि ज्ञानके पश्चात् सब कर्मोका स्वरूपत सन्यासही करना चाहिये, इस कारण इन स्पष्ट-अर्थवाले प्रश्नोत्तरोकी कुछ लोगोने व्यर्थ खीचातानी की है, और जब यह खीचातानी करनेपरभी निर्वाह न हुआ, तब उन लोगोने यह तुर्रा लगाकर किसी प्रकार अपना समाधान कर लिया है, कि 'विशिष्यते' (योग्यता या विशेषता) पदसे भगवानने कर्मयोगकी अर्थवादात्मक अर्थात् कोरी स्तुति कर दी है, असलमें भगवानका ठीक अभिप्राय वैसा नही है। यदि भगवानका यह मत होता, कि ज्ञानके पश्चात् कर्मोकी आवश्यकता नही है, तो क्या वे अर्जुनको यह उत्तर नही दे सकते थे, कि "इन दोनोमें सन्यास श्रेष्ठ है ?" परतु ऐसा न करके उन्होने दूसरे श्लोकके पहले चरणमें बतलाया है, कि "कर्मोका करना और कर्मोको छोड देना" ये दोनो मार्ग एक-हीसे मोक्षदाता है," और आगे 'तु' अर्थात् 'परतु' पदका प्रयोग करके जब भगवानने यह नि सदिग्ध विधान किया है, कि 'तयो' अर्थात् इन दोनो मार्गोमें कर्म छोडनेके मार्गकी अपेक्षा कर्म करनेका पक्षही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है, तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवानको यही मत ग्राह्य है, कि साधनावस्थामें ज्ञानप्राप्तिके लिये किये जानेवाले निष्काम कर्मोकोही, ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्थामेंभी लोकसग्रहके अर्थ मरणपर्यंत कर्तव्य समझकर करता रहे। यही अर्थ गीता ३ ७ में वर्णित है और यही 'विशिष्यते' पद वहांभी है, और उसके अगले श्लोकमें अर्थात् गीता ३ ८ में ये स्पष्ट शब्द फिरभी है, कि "अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।" इसमें सदेह नही, कि उपनिषदोमें कई स्थलो पर (बृ ४ ४ २२) वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रख कर भिक्षा मांगते हुए घूमा करते हैं। परतु उपनिषदोमेभी यह नही कहा है, कि ज्ञानके पश्चात् यह एक-ही मार्ग है, दूसरा नही है। अत केवल उल्लिखित उपनिषद्-वाक्यसेही गीताकी एकवाक्यता करना उचित नही है। गीताका यह कथन नही है, कि उपनिषदोमें वर्णित यह सन्यास-मार्ग मोक्षप्रद नही है, किंतु यद्यपि कर्मयोग और सन्यास, दोनो मार्ग एक-सेही मोक्षप्रद है, तथापि, अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे दोनोका फल एकही होने परभी, जगतके व्यवहारका विचार करनेपर गीताका यह निश्चित मत है, कि ज्ञानके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहनेका मार्गही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीताके बहुतेरे टीकाकारोको मान्य नही

§ § ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

| है, उन्होने कर्मयोगको गौण निश्चित किया है। परतु हमारी समझमें ये अर्थ
| सरल नही है, और गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरण (विशेषकर पृ ३०६–३१५)में
| इसके कारणोका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, इस कारण यहाँ उसके दुहरानेकी
| आवश्यकता नही है। इस प्रकार दोनोमेंसे अधिक प्रशस्त मार्गका निर्णय कर
| दिया गया, अब यह सिद्ध कर दिखलाते है, कि ये दोनो मार्ग व्यवहारमें
| यदि लोगोको भिन्न दीख पडे तोभी तत्त्वत वे दो नही है –]

(३) जो (किसीकाभी) द्वेष नही करता और (किसीकीभी) इच्छा नही करता, उस पुरुषको (कर्म करनेपरभी) नित्यसन्यासी समझना चाहिये, क्योकि, हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुख दुख आदि) द्वद्वोसे मुक्त हो जाय, वह अनायासही (कर्मोके सब) बधोसे मुक्त हो जाता है। (४) मूर्ख लोग कहते है, कि साख्य (कर्मसन्यास) और योग (कर्मयोग) भिन्न भिन्न है, परतु पडित लोग ऐसा नही कहते। किसीभी एक मार्गका भलीभाँति आचरण करनेसे दोनोका फल मिल जाता है। (५) जिस (मोक्ष-)स्थानमें साख्य-(मार्गवाले लोग) पहुँचते है, वही योगी अर्थात् कर्मयोगीभी जाते है। (इस रीतिसे) जिसने यह जान लिया, कि साख्य और योग, (ये दोनो मार्ग) एकही है उसीने (ठीक तत्त्वको) पहचाना। (६) हे महाबाहु! योग अर्थात् कर्मके बिना सन्यासको प्राप्त कर लेना कठिन है। जो मुनि कर्मयोगयुक्त हो गया, उसे ब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें विलब नही लगता।

| [सातवे अध्यायसे लेकर सत्रहवे अध्यायतक इस बातका विस्तारपूर्वक वर्णन
| किया गया है, कि साख्यमार्गसे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोगसे अर्थात् कर्मोके
| न छोडनेपरभी मिलता है। यहाँ तो इतनाही कहना है, कि मोक्षकी दृष्टिसे
| दोनोमें कुछ फर्क नही है, इस कारण अनादि कालसे चलते आये हुए इन
| दोनो मार्गोका भेदभाव वढाकर झगडा करना उचित नही है, और आगेभी

§ § योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

| येही युक्तियाँ पुन पुन आई हैं (गीता ६ २, १८ १, २ एव उनकी टिप्पणी देखो) । " एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति " यही श्लोक कुछ शब्दभेदसे महाभारतमेंभी दो वार आया है (शा ३०५ १९, ३१६ ४) । मन्यास-मार्गमें ज्ञानको प्रधान मान लेनेपरभी उस ज्ञानकी सिद्धि कर्म किये विना नही होती, और कर्म-मार्गमें यद्यपि कर्म किया करते हैं, तोभी वे ज्ञानपूर्वक होते हैं, इस कारण ब्रह्मप्राप्तिमे कोई बाधा नही होती (गीता ६ २), फिर इस झगडेको बढानेमें क्या लाभ है, कि दोनो मार्ग भिन्न भिन्न हैं ? यदि कहा जाय, कि कर्म करनाही वधक है, तो अव वतलाते हैं, कि वह आक्षेपभी निष्काम कर्मके विषयमे नही किया जा सकता –]

(७) जो (कर्म-)योगयुक्त हो गया, जिसका अत करण शुद्ध हो गया, जिसने अपने मन और इद्रियोको जीत लिया, और सव प्राणियोका आत्माही जिसका आत्मा हो गया, वह (सव कर्म) करता हुआभी (कर्मोके पाप-पुण्यसे) अलिप्त रहता है । (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुषको समझना चाहिये, कि " मैं कुछभी नही करता, (और) देखनेमें, सुननेमे, स्पर्श करनेमे, खानेमें, सूघनेमे, चलनेमे, सोनेमें, साँस लेनेछोडनेमें, (९) वोलनेमें, विसर्जन करनेमें, लेनेमे, आँखोके पलक खोलने और वद करनेमेंभी, वह ऐसी बुद्धि रख कर (व्यवहार करे) कि (केवल) इद्रियाँ अपने अपने विषयोमे वर्तती हैं ।

| [अतके दो श्लोक मिल कर एक-ही वाक्य वना है और उसमें वतलाये हुए सव कर्म भिन्न भिन्न इद्रियोके व्यापार हैं, उदाहरणार्थ, विसर्जन करना गुदका, लेना हाथका, पलक हिलाना प्राणवायुका, देखना आँखोका इत्यादि । " मैं कुछभी नही करता " इसका यह मतलव नही, कि इद्रियोको चाहे जो करने दे, किंतु मतलब यह है, कि 'मैं' इस अहकार-बुद्धिके छूट जानेसे अचेतन इद्रियाँ आपही आप कोई बुरा काम नही कर सकती, और वे आत्माके काबूमें रहती हैं । साराश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय, तोभी श्वासोच्छ्वास आदि इद्रियोंके कर्म उसकी इद्रियाँ करतीही रहेगी । यही क्यो पलभर जीवित रहनाभी कर्मही है । फिर यह भेद कहाँ रह गया, कि सन्यास-मार्गका ज्ञानी पुरुष कर्म छोडता है और

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

युक्त. कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

[कर्मयोगी करता है ? कर्म तो दोनोकोभी करनाही पडता है । पर अहकारयुक्त आसक्ति छूट जानेमे वेही कर्म बधक नही होते, इस कारण आसक्तिका छोडनाही इसका मुख्य तत्त्व है, और उसीका अब अधिक निरूपण करते है –]

(१०) जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसेही पाप नही लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नही लगता । (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहकारबुद्धि न रखकर, कि 'मै करता हूँ' – केवल) शरीरसे, (केवल) मनसे, (केवल) बुद्धिसे और (केवल) इद्रियोसेभी आसक्ति छोड कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं ।

[कायिक, वाचिक, मानसिक आदि, कर्मोके भेदोको लक्ष्यकर इस श्लोकमें शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं । मूलमे यद्यपि 'केवल' विशेषण 'इद्रियै' शब्दके पीछे है, तथापि वह शरीर, मन और बुद्धिकोभी लागू है (गीता ४ २१) इसीसे अनुवादमे उसे 'शरीर' शब्दके समानही अन्य शब्दोकेभी पीछे लगा दिया है । जैसे ऊपरके आठवे और नवे श्लोकमें कहा है, वैसेही यहाँभी कहा है, कि अहकारबुद्धि एव फलाशाके विषयमें आसक्ति छोड कर केवल कायिक, केवल वाचिक या केवल मानसिक, कोईभी कर्म किया जाय, तोभी कर्ताको उसका दोप नही लगता (गीता ३ २७, १३ २९, १८ १६) । अहकारके न रहनेसे जो कर्म होते हैं, वे सिर्फ इद्रियोके हैं, और मन आदिक सभी इद्रियाँ प्रकृतिकेही विकार हैं, अत ऐसे कर्मोका बधन कर्ताको नही लगता । अब इसी अर्थको शास्त्रानुसार सिद्ध करते हैं –]

(१२) जो युक्त अर्थात् योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोडकर अतकी पूर्ण शाति पाता है, और जो अयुक्त है अर्थात् योगयुक्त नही है, वह कामसे अर्थात् वासनासे फलके विषयमें सक्त हो कर (पाप-पुण्यसे) बद्ध हो जाता है । (१३) सब कर्मोका

§ § न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
§ § ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

मनसे (प्रत्यक्ष नही) सन्यास कर, जितेन्द्रिय देहवान् (पुरुष) नौ द्वारोंके इस (देहरूपी) नगरमें न कुछ करता और न कराता हुआ आनदसे पडा रहता है।

[अर्थात् वह जानता है, कि आत्मा अकर्ता है, सब खेल तो प्रकृतिका है, और इसका कारण स्वस्थ या उदासीन पडा रहता है (गीता १३ २०, १८ ५९)। दोनो आँखें, दोनो कान, नासिकाके दोनो छिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुद – ये शरीरके नौ द्वार या दरवाजे समझे जाते है। अध्यात्म-दृष्टिसे यही उपपत्ति बतलाते हैं, कि कर्मयोगी कर्मोंको करकेभी मुक्त कैसे बना रहता है –]

(१४) प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगोंके कर्तृत्वको, उनके कर्मोंको (या उनको प्राप्त होनेवाले) कर्मफलके सयोगकोभी निर्माण नही करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृतिही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसीका पाप और किसीका पुण्यभी नही लेता। ज्ञानपर अज्ञानका पर्दा पडा रहनेके कारण (अर्थात् मायासे) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[इन दोनो श्लोकोका तत्त्व असलमें सांख्यशास्त्रका है (गीतार प्र ७, पृ १६४–१६७) और वेदान्तियोंके मतसे आत्माका अर्थ परमेश्वर है, अत वेदान्ती लोग परमेश्वरके विषयमेंभी "आत्मा अकर्ता है" इस तत्त्वका उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मानकर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृतिका मानते है, और आत्माको उदासीन कहते हैं। परतु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ कर यह मानते हैं, कि इन दोनोकाभी मूल एक निर्गुण परमेश्वर है, और वह सांख्यवालोके आत्माके समान उदासीन और अकर्ता है, एव सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति)का है (गीतार प्र ९, पृ २६७)। अज्ञानके कारण साधारण मनुष्यको ये बातें जान नही पडती, परतु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्वका भेद जानता है, इस कारण अब यही कहते, हैं कि वह कर्म करकेभी अलिप्तही रहता है –]

(१६) परतु ज्ञानसे जिनका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिये उन्हीका ज्ञान परमार्थतत्त्वको, सूर्यके समान, प्रकाशित कर देता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥
§§ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

(१७) और उस परमार्थतत्त्वमेंही जिनकी बुद्धि रँग जाती है, वही जिनका अत करण रम जाता है और जो तन्निष्ठ एव तत्परायण हो जाते है, उनके पाप ज्ञानसे बिलकुल धुल जाते है और वे फिर जन्म नही लेते।

| [इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो जाय, उस कर्मयोगीकी (सन्यासीकी | नही) ब्रह्मभत या जीवन्मुक्त अवस्थाका अब अधिक वर्णन करते है –]

(१८) पडितोकी अर्थात् ज्ञानियोकी दृष्टि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, ऐसेही कुत्ता और चाडाल, इन सभीके विषयमं समान रहती है।
(१९) इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्थामें स्थिर हो जाता है, वे वहीके वही अर्थात् मरणकी प्रतीक्षा न कर, मृत्युलोकको जीत लेते है। क्योकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अत साम्य-बुद्धिवाले ये पुरुष (सदैव) ब्रह्ममें स्थित अर्थात् यहीके यही ब्रह्मभूत हो जाते हैं।

| [जिसने इस तत्त्वको जान लिया, कि "आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता | है", और सारा खेल प्रकृतिका है, वह 'ब्रह्मसस्थ' हो जाता है। और | उसीको मोक्ष मिलता है – "ब्रह्मसस्थोऽमृतत्वमेति" (छा २ २३ १) यह वर्णन | उपनिषदोमें है, और उसीका अनुवाद ऊपरके श्लोकोमें किया गया है। परतु | इस अध्यायके १–१२ श्लोकोंसे गीताका यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि इस | अवस्थामेंभी कर्म नही छूटते। शकराचार्यने छादोग्य उपनिषदके उक्त वाक्यका | सन्यासप्रधान अर्थ किया है। परतु मूल उपनिषदका पूर्वापार सदर्भ देखनेसे | विदित होता है, कि 'ब्रह्मसस्थ' होनेपरभी तीनो आश्रमोंके कर्म करनेवालेके | विषयमेंही यह वाक्य कहा गया होगा, और इस उपनिषदके अतमें यही अर्थ | स्पष्टरूपसे बतलाया गया है (छा ८ १५ १)। ब्रह्मज्ञान हो चुकनेपर यह | अवस्था जीते जी प्राप्त हो जाती है, अत इसेही जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं | (गीतार प्र १०, पृ २९७–३०२)। अध्यात्मविद्याकी यही पराकाष्ठा है | और चित्तवृत्ति-निरोधरूपी जिन योगसाधनोंसे यह अवस्था प्राप्त हो सकती | है, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्यायमें किया गया है। इस अध्यायमें | अब केवल इसी अवस्थाका अधिक वर्णन है –]

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
§ § योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

(२०) प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तुको पाकर प्रसन्न न हो जावे, और अप्रियको पानेसे खिन्नभी न होवे। (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो मोहमे नही फँसता (कहना चाहिये, कि) वही ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें स्थित हुआ। (२१) बाह्य पदार्थोके (इद्रियोसे होनेवाले) सयोगमें अर्थात् विषयोपभोगमें जिसका मन आसक्त नही, उसे (ही) आत्मसुख मिलता है, और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है। (२२) (बाहरी पदार्थोके) सयोगसेही उत्पन्न होनेवाले भोगोका आदि और अत है, अतएव वे दुःखकेही कारण है, हे कौन्तेय! उनमें पडित लोग रत नही होते। (२३) शरीर छूटनेके पहले अर्थात् मरणपर्यंत कामक्रोधसे होनेवाले वेगको इस लोकमेंही सहन करनेमें (इद्रियसयमसे) जो समर्थ होता है, वही मुक्त और वही (सच्चा) सुखी है।

[गीताके दूसरे अध्यायमे भगवानने कहा है, कि तुझे सुख-दुःख सहने चाहिये (गीता २ १४), यह उसीका विस्तार और निरूपण है। गीता २ १४ मे सुख-दुःखोको 'आगमापायिन' विशेषण लगाया है, तो यहाँ २२ वे श्लोकमें उनको 'आद्यन्तवन्त' कहा है, और 'मात्रा' शब्दके बदले 'बाह्य' शब्दका प्रयोग किया है। इसीमें 'युक्त' शब्दकी व्याख्याभी आ गई है। सुख-दुःखोका त्याग कर सम-बुद्धिसे उनको सहते रहनाही युक्तताका सच्चा लक्षण है। (गीता २ ६१ की टिप्पणी देखो)।]

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखोकी अपेक्षा न कर) जो अतःसुखी अर्थात् अतःकरणमेंही सुखी हो जाय, जो अपने आपमेंही आराम पाने लगे, और ऐसेही जिसे (यह) अतःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-)योगी ब्रह्मरूप हो जाता है, एव उसेही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें मिल जानेका मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

जिन ऋषियोकी द्वद्वबुद्धि छूट गई है, अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्वको जान लिया है, कि सब स्थानोमे एकही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो गये है, और जो आत्मसयमसे सब प्राणियोका हित करनेमें रत हो गये हैं, उन्हे यह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) कामक्रोधविरहित, आत्मसयमी और आत्मज्ञानसपन्न यतियोको 'अभित' अर्थात् आसपास या सन्मुख रखा हुआ-सा (अर्थात् बैठे-बिठाये) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्य पदार्थोंके (इद्रियोंके सुख-दुःखदायक) सयोगसे अलग होकर, दोनो भौंहोके बीचमे दृष्टिको जमाकर और नाकसे चलनेवाले प्राण एव अपानको सम करके, (२८) जिसने इद्रियो, मन और बुद्धिका सयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये है, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्तही है।

[गीतारहस्यके नवम (पृ २३४, २४८) और दशम (पृ ३००) प्रकरणोसे ज्ञात होगा कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्थाका है। परतु हमारी रायमें टीकाकारोका यह कथन ठीक नही, कि यह वर्णन सन्यास-मार्गके पुरुषका है। सन्यास और कर्मयोग, दोनो मार्गोमें शाति तो एक-ही-सी रहती है, और उतनेहीके लिये यह वर्णन सन्यासमार्गको उपयुक्त हो सकेगा। परतु इस अध्यायके आरभमें कर्मयोगको श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५ वे श्लोकमें जो यह कहा है, कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियोका हित करनेमें प्रत्यक्ष मग्न रहते है, उससे प्रकट होता है, कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्तकाही है, सन्यासीका नही है (गीतार प्र १२, पृ ३५८ देखो)। कर्ममार्गमेंभी सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वरको पहचाननाही परमसाध्य है, अत भगवान् अतमें कहते है, कि –]

§§ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

(२९) जो मुझको (सब) यज्ञों और तपोंका भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकोंका बड़ा स्वामी, एवं सब प्राणियोंका मित्र जानता है, वही शांति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद्में, ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

छठा अध्याय

[इतना तो सिद्ध हो गया, कि मोक्षप्राप्ति होनेके लिये ज्ञानके सिवा और किसीकीभी अपेक्षा न हो, तोभी लोकसग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके अनतरभी कर्म करते रहना चाहिये, परतु फलाशा छोडकर उन्हे सम-बुद्धिसे इसलिये करे, ताकि वे बधक न हो जावे, इसेही कर्मयोग कहते है, और कर्म-सन्यास-मार्गकी अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। तथापि इतनेसेही कर्मयोगका प्रतिपादन समाप्त नही होता। तीसरेही अध्यायमे काम-क्रोध आदिका वर्णन करते हुए भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि ये शत्रु मनुष्यकी इद्रियोमे, मनमें और बुद्धिमे घर करके उसके ज्ञान-विज्ञानका नाशकर देते है (गीता ३ ४०), अत तू इद्रियोके निग्रहसे इनको पहले जीत ले। इस उपदेशको पूर्ण करनेके लिये इन दो प्रश्नोका स्पष्टीकरण करना आवश्यक था, कि (१) इद्रियनिग्रह कैसे करें और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते है? परतु बीचमेही अर्जुनके प्रश्नोंसे यह बतलाना पडा कि कर्म-सन्यास और कर्मयोग इन दोनोंमे अधिक अच्छा मार्ग कौन-सा है, और फिर इन दोनो मार्गोकी यथाशक्य एकवाक्यताभी करके यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मोको न छोडकरभी, उन्हीको नि सग-बुद्धिसे करते जानेपर ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष क्योकर मिलता है? अब इस अध्यायमे उन साधनोके निरूपण करनेका आरभ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोगमेभी उक्त नि सग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करनेमें होती है। तथापि यह निरूपणभी स्वतत्र रीतिसे पातजलयोगका उपदेश करनेके लिये नही किया गया है, और यह बात पाठकोके ध्यानमें आ जाय, इसलिये यहां पिछले अध्यायोमे प्रतिपादन की हुई बातोंकाही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे – फलाशा छोडकर कर्म करनेवाले पुरुषकोही सच्चा सन्यासी समझना चाहिये, कर्म छोडनेवालेको नही, (गीता ५. ३) इत्यादि।]

श्रीभगवानने कहा –(१) कर्मफलका आश्रय न करके (अर्थात् मनमें फलाशाको न टिकने देकर) जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्तव्य-कर्म करता है, वही सन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मोंको छोड देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोईभी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
§§ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

(सच्चा सन्यासी और योगी) नही है। (२) हे पाडव ! जिसे सन्यास कहते हैं, उसीको (कर्म-योग) समझ। क्योकि सकल्प अर्थात् काम्य-बुद्धिरूप फलाशाका सन्यास (= त्याग) कियेविना कोईभी (कर्म-)योगी नही होता।

[पिछले अध्यायमे जो कहा है, कि "एक साख्य च" (गीता ५ ५), या "विना योगके सन्यास नही होता" (५ ६) अथवा "ज्ञेय स नित्य-सन्यासी" (५ ३), उसीका यह अनुवाद है, और आगे अठारहवे अध्यायमें (१८ २) समग्र विषयका उपसहार करते हुए इसी अर्थका फिरभी वर्णन किया है। गृहस्थाश्रममे अग्निहोत्र रखकर यज्ञयाग आदि कर्म करने पडते हैं, पर जो सन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिये मनुस्मृतिमें कहा है, कि उसको इस प्रकार अग्निकी रक्षा करनेकी कोई आवश्यकता नही रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो जाय, और जगलमे रहकर भिक्षासे पेट पाले, जगतके व्यवहारमें न पडे (मनु ६ २५ इत्यादि)। पहले श्लोकमे मनुके इसी मतका उल्लेख किया गया है, और इसपर भगवानका कथन है, कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे सन्यासका लक्षण नही है। काम्य-बुद्धिका या फलाशाका त्याग करनाही सच्चा सन्यास है। सन्यास बुद्धिमें है, अग्नित्याग अथवा कर्मत्यागकी बाह्य क्रियामे नही है। अतएव फलाशा अथवा सकल्पका त्यागकर कर्तव्यकर्म करनेवालेकोही सच्चा सन्यासी कहना चाहिये। गीताका यह सिद्धान्त स्मृतिकारोंके सिद्धान्तसे भिन्न है, और गीतारहस्यके ११ वे प्रकरणमें (पृ ३४८–३५१) स्पष्टकर दिखला दिया है, कि गीताने स्मार्त-मार्गसे इसका मेल कैसे किया है, इस प्रकार सच्चा सन्यास बतलाकर अब यह बतलाते हैं, कि ज्ञान होनेके पहले अर्थात् साधनावस्थामें जो कर्म किये जाते हैं, उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्थामें फलाशा छोडकर जो कर्म किये जाते उनमे क्या भेद है –]

(३) (कर्म-)योगारूढ होनेकी इच्छा रखनेवाले मुनिके लिये कर्म (शमका) कारण अर्थात् साधन कहा गया है, और उसी पुरुषके योगारूढ अर्थात् पूर्ण योगी हो जानेपर कहा जाता है, कि उसके लिये (आगे) शम (कर्मका) कारण हो जाता है।

[टीकाकारोंने इस श्लोकके अर्थका अनर्थ कर डाला है। श्लोकके पूर्वार्धमें योग = कर्मयोग यही अर्थ है, और यह बात सभीको मान्य है, कि उसकी सिद्धिके

लिये पहले कर्मही कारण होता है। किंतु "योगारूढ होनेपर उसीके लिये शम कारण हो जाता है" – इसका अर्थ टीकाकारोंने सन्यास-प्रधान कर डाला है। उनका कथन यो है – 'शम' = कर्मका 'उपशम', और जिसे योग सिद्ध हो गया है, उसे, कर्म छोड देने चाहिये ! क्योकि उनके मतमे कर्मयोग सन्यासका अग अर्थात् पूर्व-साधन है। परन्तु यह अर्थ साप्रदायिक आग्रहका है, जो ठीक नही है। इसका पहला कारण यह है, कि जव इस अध्यायके पहलेही श्लोकमें भगवानने कहा है, कि कर्मफलका आश्रय न करके "कर्तव्यकर्म करनेवाला" पुरुषही सच्चा योगी अर्थात् योगारूढ है, कर्म न करनेवाला (अक्रिय) सच्चा योगी नही है, तव यह मानना सर्वथा अन्याय्य है, कि तीसरे श्लोकमे योगारूढ पुरुषको कर्मका शम करनेके लिये, या कर्म छोडनेके लिये भगवान् कहेगे। सन्यास-मार्गका यह मत भलेही हो, कि शाति मिल जानेपर योगारूढ पुरुप कर्म न करे, परतु गीताको यह मत मान्य नही है। गीतामें अनेक स्थानोपर स्पष्ट उपदेश किया गया है, कि कर्मयोगी सिद्धावस्थामेभी भगवानके समान यावज्जीवन निष्काम वुद्धिसे सव कर्म केवल कर्तव्य समझकर रहता रहे (गीता २ ७१, ३ ७, १९, ४ १९–२१, ५, ७–१२, १२ १२, १८ ५६, ५७, गीतार प्र ११, १२)। दूसरा कारण यह है, कि शम शव्दका अर्थ 'कर्मका शम' कहाँसे आया ? भगवद्गीतामें 'शम' शव्द दो-चार वार आया है (गीता १० ४, १८ ४२), वहाँ और व्यवहारमेंभी उसका अर्थ 'मनकी शाति' है। फिर इसी श्लोकमे 'कर्मकी शाति' अर्थ क्यो ले ? इस कठिनाईको दूर करनेके लिये गीताके पैशाचभाष्यमें 'योगारूढस्य तस्यैव'के 'तस्यैव' इस दर्शक सर्वनामका सवध 'योगारूढस्य' से न लगाकर, 'तस्य'को नपुसकलिगकी षष्ठी विभक्ति समझ करके ऐसा अर्थ किया है, कि 'तस्यैव कर्मण शम' (तस्य अर्थात् पूर्वार्धके कर्मका शम) किंतु यह अन्वयभी सरल नही है। क्योकि, इसमें कोई सदेह नही, कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुषका वर्णन इस श्लोकके पूर्वार्धमें किया गया है, उसीकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकनेपर होती है, उसे वतलानेकेलिये उत्तरार्धका आरभ हुआ है। अतएव 'तस्यैव' पदोसे 'कर्मण एव' यह अर्थ लिया नही जा सकता, अथवा यदि लेही ले, तो उसका सवध "'शम'मे न जोडकर 'कारणमुच्यते'के साथ जोडनेसे ऐसा अन्वय लगता है "शम योगारूढस्य तस्यैव कर्मण कारणमुच्यते।" और गीताके सपूर्ण उपदेशके अनुसार उसका यह अर्थभी ठीक लग जायगा, कि "अव योगारूढके कर्मकाही शम कारण होता है।" टीकाकारोके अर्थको त्याज्य माननेका तीसरा कारण यह है, कि सन्यास-मार्गके अनुसार योगारूढ पुरुषको यदि कुछभी करनेकी आवश्यकता नही रह जाती, उसके सव कर्मोका अत शममेंही हो जाता है, और यह सच है, तो "योगारूढको शम कारण होता है" इस वाक्यका 'कारण'

शब्द बिलकुलही निरर्थक हो जाता है। 'कारण' शब्द सदैव सापेक्ष है। 'कारण' कहनेसे उसको कुछ-न-कुछ 'कार्य' अवश्य चाहिये और सन्यास-मार्गके अनुसार योगारूढको तो कोईभी 'कार्य' नही रह जाता। यदि शमको मोक्षका 'कारण' अर्थात् साधन कहे, तो मेल नही मिलता। क्योकि मोक्षका साधन ज्ञान है, शम नही। अच्छा, शमको ज्ञानप्राप्तिका 'कारण' अर्थात् साधन कहे, तो यह वर्णन योगारूढ अर्थात् पूर्णावस्थाको पहुँचे हुए पुरुषकाही है, इसलिये उसको ज्ञान-प्राप्ति तो कर्मके साधनसे पहलेही हो चुकती है। फिर यह शम 'कारण' है किसका ? सन्यास-मार्गके टीकाकारोंसे इस प्रश्नका कुछभी समाधानकारक उत्तर देते नही बनता। परतु उनके इस अर्थको छोडकर विचार करने लगें, तो उत्तरार्धका अर्थ करनेमे पूर्वार्धका 'कर्म पद सान्निध्यसामर्थ्यसे सहजही मनमे आ जाता है और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि योगारूढ पुरुषको लोक-सग्रहकारक कर्म करनेके लिये अब 'शम' 'कारण' या साधन हो जाता है, क्योकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नही रह गया है, तथापि लोकसग्रहकारक कर्म किसीसे छूट नही सकते (गीता ३ १७–१९)। पिछले अध्यायमे जो यह वचन है, कि "युक्त कर्मफल त्यक्त्वा शातिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" (गीता ५ १२) – कर्मफलका त्याग करके योगी पूर्ण शाति पाता है इससेभी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्यो कि, उसमे शातिका सबध कर्मत्यागसे न जोडकर केवल फलाशाके त्यागसेही वर्णित है, वहीपर स्पष्ट कहा है, कि योगी जो कर्म-सन्यास करे, वह 'मनसा अर्थात् मनमे करे (गीता ५ १३), शरीरके द्वारा या केवल इद्रियोके द्वारा उहे कर्म करनेही चाहिये। हमारा तो यह मत है, कि अलकार-शास्त्रके अन्योन्यालकारका-सा अर्थचमत्कार या सौरस्य इस श्लोकमे सध गया है, और पूर्वार्धमे यह बतला कर, कि 'शम'का कारण 'कर्म' कब होता है, उत्तरार्धमे इसके विपरीत वर्णन किया है, कि 'कर्म'का कारण 'शम' कब होता है ? भगवान् कहते हैं, कि प्रथम साधनावस्थामें 'कर्म'ही शमका अर्थात् योग-सिद्धिका कारण है। भाव यह है, कि यथाशक्ति निष्काम कर्म करते करतेही चित्त शात होकर उसीके द्वारा अतमे पूर्ण योगसिद्धि हो जाती है। किंतु योगीके योगारूढ होकर सिद्धावस्थामे पहुँच जानेपर कर्म और शमका उक्त कार्यकारण-भाव बदल जाता है याने कर्मशम कारण नही होता, किंतु शमही कर्मका कारण बन जाता है, अर्थात् योगारूढ पुरुष अपने सब काम अब कर्तव्य समझकर, फलकी आशा न रखकरके, शातचित्तसे किया करता है। साराश, इस श्लोकका भावार्थ यह नही है, कि सिद्धावस्थामें कर्म छूट जाते हैं किंतु गीताका यह कथन है कि साधनावस्थामे 'कर्म' और 'शम'के बीच जो कार्यकारणभाव होता है, सिर्फ वही सिद्धावस्थामे बदल जाता है (गीतारहस्य प्र ११, पृ ३२४–३२५)। गीतामे यह कहीभी नही कहा, कि कर्मयोगीको अतमे कर्म

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुसज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

§ § उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

| छोड देने चाहिये, और ऐसा कहनेका उद्देश्यभी नही है । अतएव अवसर पाकर
| किसी ढगसे गीताके वीचकेही किसी श्लोकका सन्यास-प्रधान अर्थ लगाना उचित
| नही है। आजकल गीता वहुतेरोको दुर्वोध-सी हो गई है, उसका कारणभी
| यही है। अगले श्लोककी व्याख्यामें यही अर्थ व्यक्त होता है, कि योगारूढ
| पुरुपको कर्म करने चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है –]

(४) क्योकि, जव वह इद्रियोके (शब्द स्पर्श आदि) विषयोमें और कर्मोमें अनुषक्त नही होता तया सव सकल्प अर्थात् काम्यवुद्धिरूप फलाशाका (प्रत्यक्ष कर्मोका नही) सन्यास करता है, तव उसको योगारूढ कहते हैं ।

| [कह सकते है, कि यह श्लोक पिछले श्लोकके साथ और पहलेके तीनो
| श्लोकोके साथभी मिला हुआ है। इससे गीताका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है,
| कि योगारूढ पुरुपको कर्म न छोडकर केवल फलाशा या काम्य-वुद्धि छोडकरके
| शात चित्तसे निष्काम कर्म करने चाहिये। 'सकल्पका सन्यास' ये शव्द ऊपर
| दूसरे श्लोकमें आये है, वहाँ इनका जो अर्थ है, वही इस श्लोकमेंभी लेना चाहिये।
| कर्मयोगमेंही फलाशात्यागरूपी सन्यासका समावेश होता है, और फलाशा छोड-
| कर कर्म करनेवाले पुरपकोही सच्चा सन्यासी और योगी अर्थात् योगारूढ कहना
| चाहिये। अव यह वतलाते है, कि इस प्रकारके निष्काम कर्मयोग या फलाशा-
| सन्यासकी सिद्धि प्राप्त कर लेना प्रत्येक मनुष्यके अधिकारमें है, जो स्वय प्रयत्न
| करेगा उसे इसकी प्राप्ति हो जाना कुछ असभव नही –]

(५) (मनुष्य) अपना उद्धार आपही करे। अपने आपको (कभीभी) गिरने न दे। क्योकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयही अपना वधु (अर्थात् सहायक), या स्वयही अपना शत्रु है। (६) जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वय अपना वधु है, परन्तु जो अपने आपको नही पहचानता, वह स्वय अपने साथ शत्रुके समान वैर करता है।

| [इन दो श्लोकोमें आत्मस्वतत्रताका वर्णन है, और इस तत्त्वका प्रतिपादन
| है, कि हरएकको अपना उद्धार आपही करना चाहिये, और प्रकृति कितनीभी क्यो

§§ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

[न हो, उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हरएकके वलवती वसकी वात है (गीतार प्र १०, पृ २८०–२८४)। मनमे इस तत्त्वके भली भाँति जम जानेके लियेही एक वार अन्वयसे और फिर व्यतिरेकसे, दोनो रीतियोसे, वर्णन किया है, कि आत्मा अपनाही मित्र कव होता है और आत्मा अपना शत्रु कव हो जाता है, और यही तत्त्व फिर १३ २८ श्लोकमेंभी आया है। सस्कृतमें 'आत्मा' शब्दके ये तीन अर्थ होते हैं – (१) अतरात्मा, (२) मै स्वय, और (३) अत करण या मन, इसीसे यह आत्मा शब्द इस श्लोकमें और अगले श्लोकोमें अनेक वार आया है। अव वतलाते हैं, कि आत्माको अपने अधीन रखनेसे क्या फल मिलता है –]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अत करणको जीत लिया हो और जिसे शाति प्राप्त हो गई हो, उसका 'परमात्मा' शीत-उष्ण, सुख-दु ख और मान-अपमानमें समाहित अर्थात् सम एव स्थिर रहता है।

[इस श्लोकमे 'परमात्मा' शब्द आत्माके लियेही प्रयुक्त है। देहका आत्मा सामान्यत सुख-दु खकी उपाधिमें मग्न रहता है, परतु इद्रियसयमसे उपाधियोको जीत लेनेपर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वरस्वरूपी वना करता है। परमात्मा कुछ आत्मासे विभिन्न स्वरूपका पदार्थ नही है, और आगे गीतामेंही (गीता १३ २२, ३१) कहा है, कि मानवी शरीरमे रहनेवाला आत्माही तत्त्वत परमात्मा है। महाभारतमेंभी यह वर्णन है –]

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्त सयुक्त प्राकृतैर्गुणै ।
तैरेव विनिर्मुक्त परमात्मेत्युदाहृत ॥

"प्राकृत अथवा प्रकृतिके गुणोसे (सुख-दु ख आदि विकारोसे) वद्ध रहनेके कारण आत्माकोही क्षेत्रज्ञ या शरीरका जीवात्मा कहते हैं, और इन गुणोसे मुक्त होनेपर वही परमात्मा हो जाता है" (मभा शा १८७ २४)। गीता-रहस्यके ९ वे प्रकरणसे ज्ञात होगा, कि अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्तभी यही है। जो कहते है, कि गीतामे अद्वैत मतका प्रतिपादन नही है, विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैतही गीताको ग्राह्य है, वे 'परमात्मा'को एक पद न मान 'पर' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'पर'को 'समाहित'का क्रियाविशेषण समझते हैं। यह अर्थ क्लिष्ट है, परतु इस उदाहरणसे समझमें आ जावेगा, कि साप्रदायिक टीकाकार अपने मतके अनुसार गीताकी कैसी खीचातानी करते है।]

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

§§ योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१० ॥

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञानसे अर्थात् विविध ज्ञानसे तृप्त हो जाय, जो अपनी इद्रियोको जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूलमे जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एव सोनेको एक-सा मानने लगे, उसी (कर्म-)योगी पुरुषको 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्थाको पहुँचा हुआ कहते है। (९) सुहृद्, मित्र, शत्रू, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करनेयोग्य और बाधवोके विषयमें, एव साधु तथा दुष्ट लोगोके विषयमेंभी जिसकी बुद्धि सम हो गयी हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यताका है।

[प्रत्युपकारकी इच्छा न रखकर सहायता करनेवाले स्नेहीको सुहृद् कहते हैं, जब दो दल हो जायँ, तब किसीकीभी बुराई-भलाई न चाहनेवालेको उदासीन कहते हैं, दोनो दलोकी भलाई चाहनेवालेको मध्यस्थ कहते हैं, और सबधीको बधु कहते है – टीकाकारोने ऐसेही अर्थ किये है। परतु इन अर्थोसे कुछ भिन्न अर्थभी कर सकते है। क्योकि, इन शब्दोका प्रयोग प्रत्येकमे कुछ भिन्न अर्थ दिखलानेके लियेही नही किया गया है, किंतु अनेक शब्दोकी यह योजना सिर्फ इसीलिये की जाती है, कि सबके मेलसे व्यापक अर्थका बोध हो जाय, उसमे कुछभी न्यूनता न रहने पावे। इस प्रकार सक्षेपसे बतला दिया, कि योगी, योगारूढ या युक्त किसे कहना चाहिये (गीता २ ६१, ४ १८, ५ २३), और यहभी बतला दिया, कि इस कर्मयोगको सिद्ध कर लेनेके लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतत्र है, उसके लिये किसीका मुंह जोहनेकी कोई जरूरत नही। अब कर्मयोगकी सिद्धिके लिये अपेक्षित साधनका निरूपण करते है –]

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्तमे अकेला रहकर चित्त और आत्माका सयम करे, किसीभी काम्यवासनाको न रखे, परिग्रह अर्थात् पाश छोडकरके निरतर अपने योगाभ्यासमे लगा रहे।

[अगले श्लोकमे स्पष्ट होता है, कि यहाँपर 'युजीत'पदमे पातजलसूत्रका योग विवक्षित है। तथापि इसका यह अर्थ नही, कि कर्मयोगको प्राप्त कर लेनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातजलयोगमे बिता दे। कर्मयोगके लिये आवश्यक साम्य-बुद्धिको प्राप्त करनेके लिये साधनस्वरूप

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

| पातजलयोग इस अध्यायमे वर्णित है, और उतनेहीके लिये एकान्तवासभी आवश्यक है। प्रकृति-स्वभावके कारण सभव नही, कि सभीको पातजलयोगकी समाधि एकही जन्ममें सिद्ध हो जाय। इसी अध्यायके अतमे भगवानने कहा है, कि जिन पुरुषोको समाधिसिद्ध नही हुई है, वे अपनी सारी आयु पातजल-योगमेंही न बिता दें, किंतु जितना हो सके उतना, बुद्धिको स्थिर करके कर्मयोगका आचरण करते जावे, उसीसे अनेक जन्मोमें उनको अतमे सिद्धि मिल जायगी। (गीतार प्र १०, पृ २८४–२८७)।

(११) पहले दर्भ, फिर मृगछाला, और उसपर फिर वस्त्र बिछाकर योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थानपर अपना स्थिर आसन लगावे, जो कि न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा भी, (१२) वहाँ चित्त और इद्रियोंके व्यापार रोककर तथा मनको एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे। (१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवाको सम करके अर्थात् सीधी खडी रेखामे निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, दिशाओको याने इधर-उधर न रखकर, अपनी नाककी नोकपर दृष्टि जमाकर, (१४) निडर हो, शात अत करणसे, ब्रह्मचर्यव्रत पालकर तथा मनका सयम करके, मुझमेंही चित्त लगाकर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो कर बैठ जाय।

| ['शुद्ध स्थानपर' और 'काय, गीवा एव मस्तकको समकर' ये शब्द श्वेताश्वतर उपनिषदके है (श्वे २ ८, १०), और ऊपरका समस्त वर्णनभी हटयोगका नही है, प्रत्युत पुराने उपनिषदोमे योगका जो वर्णन है, उससे अधिक मिलता-जुलता है। हठयोगमें इद्रियोका निग्रह बलात्कारसे किया जाता है, पर आगे इसी अध्यायके २४ वे श्लोकमे कहा है, कि ऐसा न करके "मनसैव इद्रिय-ग्राम विनियम्य" – मनसेही इद्रियोको रोके। इससे प्रकट है, कि गीतामें हठयोग विवक्षित नही है। ऐसेही इसी अध्यायके अतमें कहा है, कि इस वर्णनका यह

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

| उद्देश्य नही, कि कोई अपनी सारी जिंदगी योगाभ्यासमेंही विता दे। अव इसी
| योगाभ्यासके फलका अधिक निरूपण करते है –]

(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखनेसे मन कावूमे होकर (कर्म-)योगीको मुझमें रहनेवाली और अतमें निर्वाणपद अर्थात् मेरे स्वरूपमे लीन करा देनेवाली शाति प्राप्त होती है।

| [इस श्लोकमें 'सदा'पदसे प्रतिदिनके २४ घटोका मतलव नही है।
| इतनाही अर्थ विवक्षित है, कि प्रतिदिन यथाशक्ति घडी-घडी भर यह अभ्यास
| करे (श्लोक १० की टिप्पणी देखो)। कहा है, कि इस प्रकार योगाभ्यास करता
| हुआ 'मच्चित्त' और 'मत्परायण' हो, इसका कारण यह है, कि पातजलयोग
| मनके निरोध करनेकी एक युक्ति या क्रिया है। इस कसरतसे यदि मन आधीन
| हो जाय तोभी वह एकाग्र मन भगवानमें न लगाकर और दूसरी वातकी
| ओरभी लगाया जा सकता है। पर गीताका कथन है, कि एकाग्र चित्तका ऐसा
| दुरुपयोग न कर, मनकी इस एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वरके
| स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेमें होना चाहिये, और ऐसेही यह योग सुखकारक
| होता है, अन्यथा ये निरे क्लेश है, और यही अर्थ आगे २९ वे, ३० वे एव
| अध्यायके अतमें ४७ वे श्लोकमें फिर आया है। परमेश्वरमें निष्ठा न रख जो
| लोग केवल इद्रियनिग्रहका योग या कसरत करते है, वे लोगोको क्लेशप्रद
| जारण, मारण या वशीकरण वगैरह कर्म करनेमेंही प्रवीण हो जाते है। यह
| अवस्था न केवल गीताकोही, प्रत्युत किसीभी मोक्षमार्गको इष्ट नही। अव फिर
| इस योगक्रियाकाही अधिक स्पष्टीकरण करते है –]

(१६) हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या विलकुल न खानेवालेको, और खूव सोनेवाले अथवा जागरण करनेवालेको (यह) योग सिद्ध नही होना। (१७) जिसका आहारविहार नियमित है, कर्मोका आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है।

| [इस श्लोकमें 'योग'से पातजलयोगकी क्रिया और 'युक्त'से नियमित,
| नपी-तुली अथवा परिमितका आर्थ है, और आगेभी दो-एक स्थानोपर योग-से

§ § यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

पातजलयोगका ही अर्थ है । तथापि इतनेहीसे यह नही समझ लेना चाहिय, कि इस अध्यायमें पातजलयोगही स्वतन्न रीतिसे प्रतिपाद्य है । पहले स्पष्ट वतला दिया है, कि कर्मयोगको सिद्ध कर लेना जीवनका प्रधान कर्तव्य है, और उसके साधन मात्रके लिये पातजलयोगका यह वर्णन है, और इस श्लोकके "कर्मके उचित आचरण" इन शब्दोसेभी प्रकट होता है, कि अन्यान्य कर्मोको न छोडते हुए इस योगका अभ्यास करना चाहिये । अव योगीका थोडा-सा वर्णन करके समाधि-सुखका स्वरूप वतलाते है –]

(१८) सयत मन जव आत्मामेंही स्थिर हो जाता है, और किसीभी उपभोगकी इच्छा नही रहती, नव कहते हैं, कि वह 'युक्त' हो गया । (१९) वायुरहित स्थानपर रखे हुए दीपककी ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्तको सयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीको दी जाती हैं ।

[इस उपमाके अतिरिक्त महाभारतमे (शाति ३०० ३२, ३४) ये दृष्टान्त है – "तेलसे भरे हुए पात्रको जीने परसे ले जानेमें, या तूफानके समय नावका वचाव करनेमें मनुष्य जैसा 'युक्त' अथवा एकाग्र होता है, योगीका मन वैसाही एकाग्र रहता है ।" कठोपनिषदका "सारथी और रथके घोडो"वाला दृष्टान्त तो प्रसिद्धही है, और यद्यपि वह दृष्टान्त गीतामे स्पष्ट नही आया है, तथापि दूसरे अध्यायके ६७ और ६८ तथा इसी अध्यायका २५ वां श्लोक, उस दृष्टान्तको मनमें रखकरही कहे गये हैं । यद्यपि योगका गीताका पारिभाषिक अर्थ कर्मयोग है, तथापि उस शब्दके अन्य अर्थभी गीतामे आये है । उदाहरणार्थ, ९ ५ और १० ७ श्लोकोमें योगका अर्थ है, "अलौकिक अथवा चाहे जो करनेकी शक्ति ।" यहभी कह सकते है, कि योग शब्दके अनेक अर्थ होनेके कारणही गीतामें पातजलयोग या साख्य-मार्गको प्रतिपाद्य वतलानेकी सुविधा उन सप्रदायवालोको मिल गई है । १९ वे श्लोकमें वर्णित चित्तनिरोधरूपी पातजलयोगकी समाधिकाही स्वरूप अव विस्तारसे कहते हैं –]

(२०) योगानुष्ठानसे निरुद्ध चित्त जिस स्थानमें रम जाता है, और जहाँ स्वय

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न :खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

आत्माको देखकर आत्मामेही सतुष्ट हो रहता है, (२१) जहाँ (केवल) वुद्धिगम्य और इद्रियोको अगोचर अत्यत सुखका उसे अनुभव होता है, और जहाँ वह (एकवार) स्थिर हुआ, तो तत्त्वसे कभीभी नही डिगता, (२२) ऐसेही जिस स्थितिको पानेसे उसकी अपेक्षा दूसरा कोईभी लाभ उसे अधिक नही जँचता, और जहाँ स्थिर होनेसे कोईभी वडा भारी दु ख (उसको) वहाँसे विचला नही सकता, (२३) उसको दु खके स्पर्शसे वियोग अर्थात् 'योग' नामकी स्थिति कहते हैं, और इस 'योग'का आचरण मनको उकताने न देकर निश्चयसे करना चाहिये ।

[इन चारो श्लोकोका एकही वाक्य है । २३ वे श्लोकके आरभके 'उसको' ('त') इस दर्शक सर्वनामसे पहलेके तीन श्लोकोका वर्णन उद्दिष्ट है, और चारो श्लोकोमें 'समाधि'का वर्णन पूरा किया गया है । पातजलयोग-सूत्रमे योगका यह लक्षण दिया है, कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' – चित्तकी वृत्तिके निरोधको योग कहते है, उसीके सदृश २० वे श्लोकके आरभके शव्द हैं । अव इस 'योग' शव्दका नया लक्षण जानवूझ कर दिया है, कि समाधि इस चित्त-वृत्तिनिरोधकीही पूर्णावस्था है, और उसीको 'योग' कहते हैं । उपनिपदो और महाभारतमें कहा है, कि निग्रहकर्ता और उद्योगी पुरुपको सामान्य रीतिसे यह योग छ महीनोमे सिद्ध होता है (मैत्र्यु ६ २८, अमृतनाद २९, मभा अश्व अनुगीता १९ ६६) । किंतु पहले २० वे और फिर २८ वे श्लोकमें स्पष्ट कह दिया है, कि पातजलयोगकी समाधिसे प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्तनिरोधसे, प्रत्युत चित्तनिरोधके द्वारा अपने आपके आत्माकी पहचान कर लेनेपर होता है । इस दु खरहित स्थितिकोही 'व्रह्मानद' या 'आत्मप्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानद' कहते है (गीता १८ ३७, गीतार प्र ९, पृ २३४) । अगले अध्यायोम इसका वर्णन है, कि आत्मज्ञान होनेके लिये आवश्यक चित्तकी यह समता केवल पातजलयोगसेही नही उत्पन्न होती, किंतु चित्तशुद्धिका यही परिणाम ज्ञान और भक्तिमेभी हो जाता है, और यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है । समाधिका लक्षण वतला चुके, अब बतलाते हैं, कि उसे किस प्रकार लगाना चाहिये –]

§ § संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्‌ ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्‌।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्‌ ॥ २६ ॥

§ § प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्‌।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्‌ ॥ २७ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

(२४) सकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सव कामो अर्थात्‌ वामनाओका नि शेप त्यागकर, और मनसेही सव इद्रियोका चारो ओरमे सयमकर, (२५) धैर्ययुक्त वुद्धिसे धीरे धीरे शात होता जावे, और मनको आत्मामे स्थिर करके कोईभी विचार मनमें न आने दे। (२६) (इस रीतिसे चित्तको एकाग्र करते हुए) चचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ-से वाहर जाने लगे, वहाँ-वहाँसे उसको रोककर आत्माकेही आधीन करे।

[मनकी समाधि लगानेकी क्रियाका यह वर्णन कठोपनिषदमे दी गई रथकी उपमासे (कठ १ ३ ३) अच्छी तरह व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथके घोडोको इधर-उधर न जाने देकर सीधे रास्तेसे ले जाता है, उसी प्रकारका प्रयत्न मनुष्यको समाधिके लिये करना पडता है। जिसने किसीभी विषयपर अपने मनको स्थिरकर लेनेका अभ्यास किया है, उसकी समझमें ऊपरवाले श्लोकका मर्म तुरत आ जावेगा। मनको एक ओर रोके, तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है, और वह आदत रुके विना समाधि लग नही सकती। अव, इस प्रकार योगाभ्याससे चित्त स्थिर होनेपर जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते है —]

(२७) इस प्रकार शातचित्त, रजसे रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म-)-योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है। (२८) इस रीतिसे निरतर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म-)योगी पापोसे छूटकर ब्रह्मसयोगसे प्राप्त होनेवाले अत्यत सुखका आनदसे उपभोग करता है।

[इन दो श्लोकोमें हमने योगीका अर्थ कर्मयोगी किया है। क्योकि, कर्मयोगका साधन समझ करही पातजलयोगका वर्णन किया गया है, अत

§§ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

| पातजलयोगके अभ्यास करनेवाले उक्त पुरुषमे कर्मयोगीही विवक्षित है । तथापि योगीका अर्थ " समाधि लगाये बैठा हुआ पुरुष "भी कर सकते है । किंतु स्मरण रहे, कि गीताका प्रतिपाद्य मार्ग इससेभी परे है । यही नियम अगले दो-तीन श्लोकोको लागू है । निर्वाण ब्रह्मसुखका इस प्रकार अनुभव होनेपर सब प्राणियोके विषयमे जो आत्मौपम्य-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, उसका अब वर्णन करते है —]

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है, और उसे सर्वत्र ऐसा दीख पडने लगता है, कि मै सब प्राणियोमे हूँ और सब प्राणी मुझमें है । (३०) जो मुझको (परमेश्वर परमात्मा) सब स्थानोमे और सबको मुझमे देखता है, उससे मै कभी नही बिछुडता, और न वही मुझसे कभी दूर होता है ।

[इन दो श्लोकोमे, पहला वर्णन 'आत्मा' शब्दका प्रयोगकर अव्यक्त अर्थात् आत्म-दृष्टिसे, और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुषदर्शक 'मै' पदके प्रयोगसे व्यक्त अर्थात् भक्तिदृष्टिसे किया गया है । परतु अर्थ दोनोका एकही है (गीतार प्र १३, पृ ४३०–४३४) । मोक्ष और कर्मयोग, इन दोनोकाभी आधार यह ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिही है । २९ वे श्लोकका पहला अर्धांश कुछ फर्कसे मनुस्मृति (मनु १२ ९१), महाभारत (शा २३८ २१, २६८ २२) । और उपनिषदो मेंभी (कैव १ १०, ईश ६) पाया जाता है । हमने गीतारहस्यके १२ वे प्रकरणमें विस्तारसहित दिखलाया है, कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानही समग्र अध्यात्म और कर्मयोगका मूल है (पृ ३८७ प्रभृति) । यह ज्ञान हुए बिना इद्रियनिग्रहका सिद्ध हो जानाभी व्यर्थ है, इसीलिये अगले अध्यायसे परमेश्वरका ज्ञान बतलाना आरभ कर दिया है ।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्यबुद्धिको मनमे रखकर सब प्राणियोमे रहनेवाले मुझको (परमेश्वरको) भजता है, वह (कर्म-)योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआभी मुझमे रहता है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच ।

§ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

(३२) हे अर्जुन ! सुख हो या दुःख, अपने समान औरोंकोभी । जो ऐसी (आत्मौपम्य-) दृष्टिसे सर्वत्र समान । देखने लगे, वह (कर्म-)योगी परम अर्थात् उत्कृष्ट माना जाता है ।

| ["प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है" यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग, दोनो मार्गोमें एक-सी है । ऐसेही पातंजलयोगमेंभी समाधि लगाकर परमेश्वरकी पहचान हो जानेपर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है । परंतु सांख्य और पातंजलयोगी, दोनोंकोभी सब कर्मोका त्याग इष्ट है, अतएव वे व्यवहारमें इस साम्य-बुद्धिके उपयोग करनेका मौकाही नही आने देते, और गीताका कर्मयोगी ऐसा न कर, अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त हुई इस साम्य-बुद्धिका व्यवहारमेंभी नित्य उपयोग करके, जगतके सभी काम लोकसंग्रहके लिये किया करता है, यही इन दोनोमें बडा भारी भेद है, और इसीसे इस अध्यायके अंतमें (श्लोक ४६) स्पष्ट कहा है, कि तपस्वी अर्थात् पातंजलयोगी, और ज्ञानी अर्थात् सांख्य-मार्गी, इन दोनोंकी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है । साम्ययोगके इस वर्णनको सुनकर अब अर्जुनने यह शंका की –]

अर्जुनने कहा – (३३) हे मधुसूदन ! साम्यसे अर्थात् साम्य-बुद्धिसे प्राप्त होनेवाला जो यह योग अर्थात् (कर्म-)योग तुमने बतलाया, मैं नही देखता, कि (मनकी) चंचलताके कारण वह स्थिर रहेगा । (३४) क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ है । वायुके समान, अर्थात् हवाकी गठरी बाँधनेके समान, इसका निग्रह करना मुझे अत्यंत दुष्कर दिखता है ।

| [३३ वे श्लोकके 'साम्य'से अथवा 'साम्य-बुद्धि'से प्राप्त होनेवाला, इस विशेषणसे यहाँ योग शब्दका कर्मयोगही अर्थ है । यद्यपि पहले पातंजलयोगकी समाधिका वर्णन आया है, तोभी इस श्लोकमें 'योग' शब्दसे पातंजलयोग विवक्षित नही है । क्योंकि, दूसरे अध्यायमें भगवाननेही कर्मयोगकी ऐसी व्याख्या की है, कि "समत्वं योग उच्यते" (गीता २. ४८) – "बुद्धिकी समता या

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

समत्वकोही योग कहते हैं। " अस्तु, अर्जुनकी कठिनाईको मान कर भगवान् अव कहते है –]

श्रीभगवानने कहा – (३५) हे महावाहु अर्जुन ! इसमें कुछभी सदेह नही, कि मन चचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परतु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्यसे उसे आधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मतमें, जिसका अत करण अपने कावूमें नही, उसको इस (साम्य-वुद्धिरूप) योगका प्राप्त होना कठिन है। किंतु अत करणको कावूमें रखकर प्रयत्न करते रहनेपर उपायसे (इस योगका) प्राप्त होना सभव है।

[तात्पर्य, पहले जो वात कठिन दीख पडती है, वही अभ्याससे और दीर्घ उद्योगसे अतमें सिद्ध हो जाती है। किसीभी कामको वारवार करना 'अभ्यास' कहलाता है, और 'वैराग्य'का मतलव है राग या प्रीति न रखना, अर्थात् इच्छाविहीनता। पातजलयोग-सूत्रमें आरभमेंही योगका यह लक्षण वतलाया है, कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' – चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं (इसी अध्यायका २० वां श्लोक देखो), और फिर अगले सूत्रमें कहा है, कि " अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोध " – अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। येही शब्द गीतामें आये है और अभिप्रायभी वही है, परतु इतनेहीसे यह नही कहा जा सकता, कि गीतामें ये शब्द पातजलयोग-सूत्रसे लिये गये हैं (गीतार पृ ५३२)। इस प्रकार, यदि मनोनिग्रह करके समाधि लगाना सभव हो, और कुछ निग्रही पुरुषोको छ महिनोंके अभ्याससे यदि यह सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, इसपर तोभी अव यह दूसरी शका होती है, कि प्रकृति-स्वभावके कारण अनेक लोग दो-एक जन्मोमेंभी कर्मयोगकी इस परमावस्थामें नही पहुँच सकते, फिर ऐसे लोग इस सिद्धि क्योकर पावे ? क्योकि एक जन्ममें, जितना हो सका, उतना इद्रियनिग्रहका अभ्यास कर कर्मयोगका आचरण करने लगें, तो वह मरते समय अधुराही रह जायगा, और अगले जन्ममें फिर पहलेसे आरभ करे, तो फिर आगेके जन्ममेंभी वही हाल होगा। अत अर्जुनका दूसरा प्रश्न है, कि इस प्रकारके पुरुष क्या करे –]

अर्जुन उवाच ।

§§ अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुनने कहा – (३७) हे कृष्ण ! श्रद्धा (तो) है, परतु अयति अर्थात् (प्रकृति-स्वभावसे) पूरा प्रयत्न अथवा सयमन नही होता, इसलिये जिसका मन (साम्य-बुद्धिरूप कर्मयोगसे विचल जावे, वह योगसिद्धि न पाकर किस गतिको जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त होकर ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें स्थिर न होनेके कारण दोनो ओरसे छूटा हुआ या भ्रष्ट हो जानेपर छिन्न-भिन्न वादलके समान (बीचमेंही) नष्ट तो नही हो जाता ? (३९) हे कृष्ण ! मेरे इस सदेहको तुम्हेंही नि शेष दूर करना चाहिये, तुम्हे छोडकर इस सदेहको मिटानेवाला दूसरा कोई न मिलेगा ।

[यद्यपि नञ् समासमें आरभके नञ् (अ) पदका साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई वार 'अल्प' अर्थमेंभी उसका प्रयोग हुआ करता है, इस कारण ३७ वे श्लोकके 'अयति' शब्दका अर्थ " अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या सयम करनेवाला " होता है । ३८वे श्लोकमें जो कहा है, कि " दोनो ओरका आश्रय छूटा हुआ " अथवा " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट " उसका अर्थभी कर्मयोग-प्रधानही करना चाहिये । कर्मके दो प्रकारके फल है – (१) काम्य-बुद्धिसे किंतु शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्म करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होती है, और निष्काम बुद्धिसे करनेपर वह बधक न होकर मोक्षदायक हो जाता है । परतु इस अधूरे मनुष्यको कर्मके स्वर्ग आदि काम्य-फल नही मिलते, क्योकि उसका ऐसा हेतुही नही रहता, और साम्य-बुद्धि पूर्ण न होनेके कारण उसे मोक्ष मिल नही सकता । इसलिये अर्जुनके मनमें शका उत्पन्न हुई, कि उस वेचारेको न तो स्वर्ग मिला और न मोक्षभी – कही उसकी ऐसी स्थिति तो नही हो जाती, कि दोनो दिनसे गये पांडे, हलुवा मिले न मांडे ? यह शका केवल पातजलयोग-रूपी कर्मयोगके साधनके लियेही नही की जाती । अगले अध्यायोमे वर्णन है, कि कर्मयोग-सिद्धिके लिये आवश्यक साम्य-बुद्धि कभी पातजलयोगसे, कभी भक्तिसे और कभी ज्ञानसे प्राप्त होती है, और जिस प्रकार पातजलयोगरूपी

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

| यह साधन एकही जन्ममे अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी
| साधनभी एक जन्मर्मे अपूर्ण रह सकते है। अतएव कहना चाहिये, कि अर्जुनके
| उक्त प्रश्नका भगवानने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोग-मार्गके सभी साधनोको
| साधारण रीतिमेही उपयुक्त हो सकता है]

श्रीभगवानने कहा – (४०) हे पार्थ ! क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, ऐसे पुरुषका कभी विनाश होताही नही। क्योकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसीभी पुरुषकी दुर्गति नही होती। (४१) पुण्यकर्ता पुरुषोको मिलने-वाले (स्वर्ग आदि) लोकोको पाकर और (वहाँ) वहुत वर्षोंतक निवास करके फिर यह योग-भ्रष्ट अर्थात् कर्मयोगसे भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगोके घरमे जन्म लेता है, (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म-)योगियोकेही कुलमें जन्म पाता है। इस प्रकारके जन्म (इस) लोकमे वडे दुर्लभ है। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकारसे प्राप्त हुए जन्ममें वह पूर्व-जन्मके बुद्धि-सस्कारको पाता है, और हे कुरुनदन ! वह उससे भय अर्थात् अधिक (योग)सिद्धि पानेका प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्मके उस अभ्याससेही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने-परभी, वह (पूर्ण सिद्धिकी ओर) खीचा जाता है। जिसे (कर्म-)योगकी जिज्ञासा अर्थात् ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हो गई है, वहभी शब्दब्रह्मके परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापोसे शुद्ध होता हुआ

(कर्म-)योगी अनेक जन्मोके अनन्तर सिद्धि पाकर अतमें उत्तम गति पा लेता है।

[इन श्लोकोमें योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द,- कर्मयोग, कर्मयोगसे भ्रष्ट और कर्मयोगीके अर्थमेंही व्यवहृत है। क्योकि श्रीमान् कुलमें जन्म लेनेकी स्थिति दूसरोको इष्ट होना सभवही नही है। भगवान् कहते है, कि पहलेसे, जितना हो सके उतना, शुद्ध-बुद्धिसे कर्मयोगका आचरण करना आरभ करे। थोडा-ही क्यो न हो, पर इस रीतिसे जो कर्म किया जावेगा, वही इस जन्ममें नही तो अगले जन्ममें, इस प्रकार अधिक अधिक सिद्धि मिलनेके लिये उत्तरोत्तर कारणीभूत होगा, और उसीसे अतमें पूर्ण सद्गति मिलती है। "इस धर्मका थोडा-साभी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयसे रक्षा करता है" (गीता २ ४०), और "अनेक जन्मोके पश्चात् वासुदेवकी प्राप्ति होती है" (७ १९), ये श्लोक इसी सिद्धान्तके पूरक है। अधिक विवेचन गीतारहस्यके प्र १०, पृ २८४–२८७में किया गया है। ४४ वे श्लोकके शब्दब्रह्मका अर्थ है "वैदिक यज्ञयाग आदि काम्यकर्म" क्योकि ये कर्म वेदविहित हैं, और वेदोपर श्रद्धा रखकरही किये जाते है, तथा वेद अर्थात् सब सृष्टिके पहलेका शब्द याने शब्दब्रह्म है। प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्य-बुद्धिसे-ही किया करता है, परतु इस कर्मसे जैसे जैसे चित्तशुद्धि हो जाती है, वैसे वैसे आगे निष्काम-बुद्धिसे कर्म करनेकी इच्छा होती है। इसीसे उपनिषदोमें और महाभारतमेंभी (मैत्र्यु ६ २२, अमृतबिंदु १७, मभा शा २३१ ६३, २६९ १) यह वर्णन है, कि –

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

"जानना चाहिये, कि ब्रह्म दो प्रकारका है, एक शब्दब्रह्म और दूसरा उससे परेका (निर्गुण)। शब्दब्रह्ममें निष्णात हो जानेपर फिर उससे परेका (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है।" शब्दब्रह्मके काम्यकर्मोसे उकता कर अतमें लोकसग्रहके अर्थ उन्ही कर्मोंको करानेवाले कर्मयोगकी इच्छा होती है और फिर इस निष्काम कर्मयोगका थोडावहुत आचरण पहले पहल होने लगता है। "अनन्तर स्वल्पारम्भा क्षेमकरा" के न्यायसे यही थोडा-सा आचरण उस मनुष्यको इस मार्गमें धीरे धीरे आगे खीचता जाता है, और अतमें क्रम-क्रमसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त करा देता है। ४४ वे श्लोकमें जो यह कहा है, कि "कर्मयोगकी इच्छा होनेसेभी वह शब्दब्रह्मके परे चला जाता है" उसका तात्पर्यभी यही है। क्योकि यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी कोल्हूका मुंह है, और एक वार इस कोल्हूके मुंहमें चले जानेपर फिर इस जन्ममें नही तो अगले जन्ममें, कभी न कभी पूर्ण सिद्धि मिलती है। और वह शब्दब्रह्मसे परेके ब्रह्मके ब्रह्मतक पहुँचेविना नही रहता। पहले पहल जान पडता है, कि यह सिद्धि जनक आदिको एक-ही जन्ममें

§ § तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

| मिल गई होगी, परतु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर, चलता है, कि उन्हेंभी यह
| फल जन्मजन्मान्तरके पूर्वसस्कारसेही मिला होगा। अस्तु, कर्मयोगका थोडा-सा
| आचरण, यहाँतक कि जिज्ञासाभी इस रीतिसे सदैव कल्याणकारक है, इसके
| अतिरिक्त अतमें मोक्षप्राप्तिभी नि मदेह इसीसे होती है, अत अव भगवान्
| अर्जुनसे कहते है, कि –]

(४६) तपस्वी लोगोकी अपेक्षा (कर्म-)योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषोकी अपेक्षाभी श्रेष्ठ है, और कर्मकाडवालोकी अपेक्षाभी श्रेष्ठ समझा जाता है, इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।

| [जगलमें जाकर उपवास आदि शरीरको क्लेशदायक व्रतोंसे अथवा
| हठयोगके साधनोंसे सिद्धि पानेवाले लागोको इस श्लोकमें तपस्वी कहा है,
| और सामान्य रीतिसेभो इस शब्दका यही अर्थ है। "ज्ञानयोगेन साख्याना०"
| (गीता ३ ३) में वर्णित, ज्ञानसे अर्थात् साख्य-मार्गसे कर्म छोडकर सिद्धि
| प्राप्तकर लेनेवाले साख्यनिष्ठ लोगोको ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गीता
| २ ४२–४४ और ९ २०, २१ में वर्णित निरे काम्य-कर्म करनेवाले स्वर्गपरायण
| कर्मठ मीमासकोको कर्मी कहा है। इन तीनो पथोमेंसे प्रत्येक यही कहता है,
| कि हमारे मार्गसेही सिद्धि मिलती है। किंतु अब गीताका यह कथन है, कि
| तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमासक हो या ज्ञाननिष्ठ साख्य हो, इनमें प्रत्येककी
| अपेक्षा कर्मयोगी – अर्थात् कर्मयोग-मार्गभी – श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धान्त
| "अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ०" (गीता. ३ ८), एव "कर्मसन्यासकी अपेक्षा
| कर्मयोग विशेष०" (गीता ५ २) इत्यादि श्लोकोमें वर्णित है (गीतार.
| प्र ११, पृ ३०९, ३१०)। और तो क्या, तपस्वी, मीमासक अथवा ज्ञान-
| मार्गी इनमेंसे प्रत्येककी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, 'इमीलिये' पीछे जिस प्रकार
| अर्जुनको उपदेश किया है, कि "योगस्थ होकर कर्म कर" (गीता २ ४८,
| गीतार प्र ३, पृ ५८), अथवा "योगका आश्रय करके खडा हो" (४ ४२),
| उसी प्रकार यहाँभी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि "तू (कर्म-)योगी
| हो।" यदि इस प्रकार कर्मयोगको श्रेष्ठ न मानें, तो "तस्मात् तू योगी हो"
| इस उपदेशका 'तस्मात् = इसलिये' पद निरर्थक हो जावेगा। किंतु सन्यास-मार्गके
| टीकाकारोंको यह सिद्धान्त कैसे स्वीकृत हो सकता है? अत उन लोगोंने 'ज्ञानी'
| शब्दका अर्थ बदल दिया है, और वे कहते हैं, कि ज्ञानी शब्दका अर्थ केवल
| शब्दज्ञानी है, अथवा वे लोग, कि जो सिर्फ पुस्तके पढकर ज्ञानकी लंबी-चौडी

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वाले छाँटा करते हैं । किंतु यह अर्थ निरे सांप्रदायिक आग्रहका है । ये टीकाकार गीताके इस अर्थको नहीं चाहते, कि कर्म छोडनेवाले ज्ञान-मार्गको गीता कम दर्जेका समझती है । क्योंकि उससे उनके संप्रदायको गौणता प्राप्त होती है । और इसीलिये "कर्मयोगो विशिष्यते" काभी (गीता ५. २) अर्थ उन्होंने बदल दिया है । परंतु इसका पूरा पूरा विचार गीतारहस्यके ११ वे प्रकरणमें कर चुके है, अतः इस श्लोकका जो अर्थ हमने किया है, उसके विषयमें यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते । हमारे मतमें यह निर्विवाद है, कि गीताके अनुसार कर्म-योगमार्गही सबसे श्रेष्ठ है । अब आगेके श्लोकमें बतलाते हैं, कि कर्म-योगियोंमेंभी कौन-सा तारतम्य भाव देखना पडता है –]

(४७) तथापि सब (कर्म-)योगियोंमेंभी मैं उसेही सबसे उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ, कि जो मुझमें अंतःकरण रख कर श्रद्धासे मुझको भजता है ।

[इस श्लोकका यह भावार्थ है, कि कर्मयोगमेंभी भक्तिका प्रेमपूरित मेल हो जानेसे वह योगी भगवानको अत्यन्त प्रिय हो जाता है । इसका यह अर्थ नहीं है, कि निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षाभी भक्ति श्रेष्ठ है । क्योंकि आगे बारहवे अध्यायमें भगवाननेही स्पष्ट कह दिया है, कि ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है (गीता १२. १२) । निष्काम कर्म और भक्तिके समुच्चयको श्रेष्ठ कहना एक बात है, और सब निष्काम कर्मयोगको व्यर्थ कहकर, भक्तिहीको श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है । गीताका सिद्धान्त पहले ढँगका है और भागवत-पुराणका पक्ष दुसरे ढँगका है । सब प्रकारके क्रियायोगको आत्मज्ञान-विघातक निश्चितकर भागवत के (भाग. १. ५. ३४) पहले और फिर अंतिम स्कंधमेंभी कहा है –

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् ।

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्मभी (भाग. ११. ३. ४६) बिना भगवद्भक्तिके शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १. ५. १२, १२. १२. ५२) इससे व्यक्त होगा, कि भागवतकारका ध्यान केवल भक्तिकेही ऊपर होनेके कारण वे विशेष प्रसंगपर भगवद्गीताकेभी आगे कैसी चौकडी भरते हैं । जिस पुराणका

निरूपण इस समझसे किया गया है, कि महाभारतमें, और फलत गीतामेंभी भक्तिका जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा नही हुआ, उसमें यदि उक्त वचनोंके समान औरभी कुछ बाते मिले, तो कोई आश्चर्य नही। पर हमें तो गीताका तात्पर्य देखना है, न कि भागवतका कथन। दोनोका प्रयोजन और समयभी भिन्न भिन्न हैं, इस कारण बात-बातमें उनकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। अस्तु, कर्मयोगकी साम्य-बुद्धि प्राप्त करनेके लिये जिन साधनोकी आवश्यकता है, उनमेंसे पातजलयोगके साधनोका इस अध्यायमें निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति ये अन्य साधन है, और अगले अध्यायसे उनके निरूपणका आरंभ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके, सवादमें, ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय

[पहले यह प्रतिपादन किया गया, कि कर्मयोग सांख्य-मार्गके समानही मोक्षप्रद है, परतु स्वतत्र है और उससे श्रेष्ठ है, और यदि इस मार्गका थोडाभी आचरण किया जाय, तो वह व्यर्थ नही जाता। अनतर इस मार्गकी सिद्धिके लिये आवश्यक इद्रियनिग्रह करनेकी रीतिका वर्णन किया गया है। किंतु इद्रियनिग्रहसे मतलब निरी बाह्यक्रियासे है, और जिसके लिये इद्रियोकी यह कसरत करनी है, उसका अबतक विचार नही हुआ। तीसरेही अध्यायमें भगवाननेही अर्जुनको इद्रियनिग्रहका यह प्रयोजन बतलाया है कि "काम-क्रोध आदि शत्रु इद्रियोमें अपना घर बनाकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करते हैं, इसलिये पहले तू इद्रियनिग्रह करके इन शत्रुओको मार डाल" (गीता ३ ४०, ४१)। और पिछले अध्यायमेंभी योगयुक्त पुरुषका यो वर्णन किया है, कि इद्रियनिग्रहके द्वारा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त हुआ" (गीता ६ ८) योगयुक्त पुरुष "समस्त प्राणियोमें परमेश्वरको और परमेश्वरमें समस्त प्राणियोको देखता है" (गीता ६ २९)। अत जब इद्रियनिग्रह करनेकी विधि बतला चुके, तब अब यह बतलाना आवश्यक हो गया, कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसे कहते हैं, और परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होकर कर्मोको न छोडते हुएभी कर्मयोग-मार्गकी किन विधियोसे अतमें नि सदिग्ध मोक्ष मिलता है ? सातवे अध्यायसे लेकर सत्रहवे अध्यायके अतपर्यंत ग्यारह अध्यायोमें, इसी विषयका वर्णन है, और अतके अर्थात् अठारहवे अध्यायमें सब कर्मयोगका उपसहार किया गया है। सृष्टिके अनेक प्रकारके अनेक विनाशवान् पदार्थोमें एकही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है— इस समझका नाम है 'ज्ञान', और एकही नित्य परमेश्वरसे विविध नाशवान् पदार्थोकी उत्पत्तिको समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है" (गीता १३ ३०), एव इसीको क्षर-अक्षरका विचार कहते हैं। परतु इसके सिवा अपने शरीरमें अर्थात् क्षेत्रमें जिसे आत्मा कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूपको जान लेनेसेभी परमेश्वरके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस प्रकारके विचारको क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार कहते हैं। इनमेंसे क्षर-अक्षरके विचारका पहले वर्णन करके फिर तेरहवे अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारका वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है, तथापि उपासनाकी दृष्टिसे तो उसके दो भेद होते हैं। उसका अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्यहै, व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अत इन दोनो मार्गों या विधियोको इसी निरूपणमें बतलाना पडा, कि बुद्धिसे परमेश्वरको कैसे पहचानें, और श्रद्धा या भक्तिसे व्यक्त स्वरूपकी उपासना करनेसे उसके द्वारा अव्यक्तका ज्ञान कैसे होता है ? तब इस समूचे विवेचनमें यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कोई आश्चर्य नही है। इसके सिवा, इन दो मार्गोंसे परमेश्वरके ज्ञानके साथही इद्रियनिग्रहभी आप-ही-आप हो

सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

जाता है, अतः केवल इन्द्रियनिग्रह प्राप्त करा देनेवाले पातञ्जलयोग-मार्गकी अपेक्षा मोक्ष-धर्ममें ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गकी योग्यताभी अधिक मानी जाती है। तोभी स्मरण रहे, कि यह सारा विवेचन कर्मयोग-मार्गके उपपादनका एक अंश है, वह स्वतन्त्र नही है। अर्थात् गीताके पहले छः अध्यायोंमें कर्म, दूसरे षट्कमें भक्ति और तीसरी षडध्यायीमें ज्ञान, इस प्रकार गीताके जो तीन स्वतन्त्र विभाग किये जाते हैं, वे तत्त्वतः ठीक नही हैं। इस विषयका प्रतिपादन गीतारहस्यके चौदहवे प्रकरणमें (पृ. ४५३–४५८) किया गया है। स्थूलमानसे देखनेसे ये तीनों विषय गीतामें आये हैं सही, परन्तु वे स्वतंत्र नही हैं, किन्तु कर्मयोगके रूपसेही उनका विवेचन किया गया है, इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नही करते। अब देखना चाहिये, कि सातवे अध्यायका आरंभ भगवान् किस प्रकार करते हैं —]

श्रीभगवानने कहा —(१) हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगाकर, और मेराही आश्रय करके (कर्म-)योगका आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकारसे या जिस विधिसे मेरा पूर्ण और संशयविहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। (२) विज्ञानसमेत इस पूरे ज्ञानको मैं तुझसे कहता हूँ कि जिसके जान लेनेसे इस लोकमें फिर और कुछभी जाननेके लिये शेष नही रह जाता।

[पहले श्लोकके 'मेराही आश्रय करके' इन शब्दोंसे और विशेषकर 'योग' शब्दसे प्रकट होता है, कि पहलेके अध्यायोंमें वर्णित कर्मयोगकी सिद्धिके लियेही अगला ज्ञान-विज्ञान कहा है, स्वतंत्र रूपसे नहीं बतलाया है (गीतार. प्र. १४, पृ. ४५९)। न केवल इसी श्लोकमें, प्रत्युत गीतामें अन्यत्रभी कर्मयोगको लक्ष्य कर ये शब्द आये हैं – 'मद्योगमाश्रितः' (गीता १२. ११), 'मत्परः' (गीता १८. ५७, ११. ५५), अतः इस विषयमें कोई शंका नहीं रहती, कि परमेश्वरका आश्रय करके जिस योगका आचरण करनेके लिये यहाँ कहते हैं वह पीछेके छः अध्यायोंमें प्रतिपादित कर्मयोगही है। कुछ लोग विज्ञानका अर्थ अनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं,

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
§ § भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

परतु ऊपरके कथनानुसार हमें ज्ञात होता है, कि परमेश्वरी ज्ञानकेही समष्टि-रूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान), ये दो भेद हैं, इस कारण ज्ञानविज्ञान शब्दसेभी उन्हीका अभिप्राय है (गीता १३ ३०, १८ २०) । दूसरे श्लोकके ये शब्द " फिर और कुछभी जाननेके लिये शेष नही रह जाता " – उपनिषदके आधारसे लिये गये हैं । छादोग्य उपनिषद्में श्वेतकेतुसे उसके पिताने यह प्रश्न किया है, कि " येन अविज्ञात विज्ञात भवति " – वह क्या है, कि जिस एकके जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है ? और फिर आगे उसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है । " यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृण्मय विज्ञात स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम् । " (छा ६. १ ४) । – हे तात ! जिस प्रकार मिट्टीके एक गोलेके भीतरी भेदको जान लेनेसे ज्ञात हो जाता है, कि शेष मिट्टीके पदार्थ उसी मृत्तिकाके विभिन्न नामरूप धारण करनेवाले विकार हैं, और कुछ नही है, उसी प्रकार ब्रह्मको जान लेनेसे दूसरा कुछभी जाननेके लिये नही रहता । मुडक उपनिषदमेंभी (मु १ १ ३) आरभमेंही यह प्रश्न है, कि " कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति " – किसका ज्ञान हो जानेसे अन्य सब वस्तुओका ज्ञान हो जाता है ? इससे व्यक्त होता है, कि अद्वैत वेदान्तका यही तत्त्व यहांभी अभिप्रेत है, कि एक परमेश्वरका ज्ञान-विज्ञान हो जानेसे इस जगतमें और कुछभी जाननेके लिये नही रह जाता, क्योकि जगतका मूल तत्त्व तो एक-ही है, नाम और रूपके भेदसे वही सर्वत्र समाया हुआ है, । सिवा उसके और कोई दूसरी वस्तु दुनियामें हैही नही, यदि ऐसा न हो तो दूसरे श्लोककी प्रतिज्ञा सार्थक नही होती ।]

(३) हजारो मनुष्योमें कोई एक-आधही सिद्धि पानेका यत्न करता है, और प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषोमेंसे एक-आधकोही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है ।

[ध्यान रहे, कि प्रयत्न करनेवालोको यद्यपि यहाँ सिद्ध पुरुष कह दिया है, तथापि परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपरही उन्हे सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नही । इस परमेश्वर-ज्ञानके क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ये जो दोन भाग है, उनमेंसे क्षर-अक्षर-विचारका अब आरभ करते हैं –]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पांच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

और अहकार, इन आठ प्रकारोमे मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणीकी (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन ! यह जान कि इससे भिन्न, इसे जगतको धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणीकी जीवस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रख, कि इन दोनोंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगतका प्रभव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अत मैंही हूँ।(७) हे धनजय ! मुझसे परे और कुछभी नही है। धागेमें पिरोयी हुई मणियोंके समान, मुझमें यह सब गुथा हुआ है।

[इन चारो श्लोकोमें सब क्षर-अक्षर-ज्ञानका सार आ गया है, और अगले श्लोकोमें इसीका विस्तार किया है। साख्यशास्त्रमें सब सृष्टिके अचेतन अर्थात् जड प्रकृति और सचेतन पुरुष, ये दो स्वतत्र तत्त्व बतलाकर प्रतिपादन किया है, कि आगे इन दोनो तत्त्वोसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए, इन दोनोंसे परे तीसरा तत्त्व नही है। परतु गीताको यह द्वैत मजूर नही, अत प्रकृति और पुरुषको एक-ही परमेश्वरकी दो विभूतियाँ मानकर, चौथे और पाँचवे श्लोकमें वर्णन किया है, कि उनमें जड प्रकृति निम्न श्रेणीकी विभूति है, और जीव अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रेणीकी विभूति है, और कहा है, कि इन दोनोसे समस्त स्थावर-जगम सृष्टि उत्पन्न होती है (गीता १३ २६) इनमेंसे जीवभूत श्रेष्ठ प्रकृतिका विस्तारसहित विचार क्षेत्रज्ञकी दृष्टिसे आगे तेहरवे अध्यायमें किया है। अब रह गई जड प्रकृति। सो गीताका सिद्धान्त है (गीता ९ १०), कि वह स्वतत्र नही, परमेश्वरकी अध्यक्षतामें उससे समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि गीतामें प्रकृतिको स्वतत्र नही माना है, तथापि साख्य-शास्त्रमें प्रकृतिके जो भेद है, उन्हीको कुछ हेरफेरसे गीतामें ग्राह्य कर लिया है। (गीतार प्र ८, पृ १८०–१८४) और परमेश्वरसे मायाके द्वारा जड प्रकृति उत्पन्न हो चुकनेपर (गीता ७ १४) साख्योका किया हुआ यह वर्णन कि आगे प्रकृतिसे सब पदार्थ कैसे निर्मित हुए अर्थात् गुणोत्कर्षका तत्त्वभी गीताको मान्य है (गीतार प्र ९, पृ २४४)। साख्योका कथन है, कि प्रकृति और पुरुष मिलकर कुल पच्चीस तत्त्व है। इनमेंसे प्रकृतिसेही तेईस तत्त्व उपजते

§ § रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

| है । इन तेईस तत्त्वोमेंसे पाँच स्थूल भूत, दस इंद्रियाँ और मन, ये सोलह तत्त्व, शेष सात तत्त्वोंसे निकले हुए अर्थात् उनके विकार हैं। अतएव यह विचार करते समय कि 'मूल तत्त्व' कितने है, इन सोलह तत्त्वोको छोड देते हैं, और इन्हे छोड देनेसे बुद्धि (महान्), अहकार और पचतन्मात्राएँ (सूक्ष्म भूत) मिलकर सातही मूल तत्त्व बचे रहते हैं । साख्यशास्त्रमें इन्ही सातोको 'प्रकृति-विकृतियाँ' कहते हैं। ये सात प्रकृति-विकृतियाँ और मूल प्रकृति मिलकर अब आठही प्रकारकी प्रकृति हुई, और महाभारत (शा ३१० १०–१५)में इसीको अष्टधा प्रकृति कहा है। परतु सात प्रकृति-विकृतियोंके साथही मूल प्रकृतिकी गिनती कर लेना गीताको योग्य नही जँचा। क्योकि ऐसा करनेसे यह भेद नही दिखलाया जाता, कि एक मूल है और उसके सात विकार हैं। इसीसे गीताके इस वर्गीकरणमें, कि सात प्रकृति-विकृतियाँ और मन मिलकर अष्टधा मूल प्रकृति है, और महाभारतके वर्गीकरणमें थोडा भेद किया गया है (गीतार प्र ८, पृ १८४)। साराश, यद्यपि गीताको साख्यवालोकी स्वतन्त्र प्रकृति स्वीकृत नही, तथापि स्मरण रहे, कि उसके अगले विस्तारका निरूपण दोनोंने वस्तुत समानही किया है। गीताके समान उपनिषद्में वर्णन है, कि सामान्यत परब्रह्मसे ही –

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
ख वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इससे (पर पुरुष) प्राण, मन, सब इंद्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी – ये (सब) उत्पन्न होते हैं (मुड २ १ ३, कै १ १५, प्रश्न ६ ४)। अधिक जानना हो, तो गीतारहस्यका ८ वाँ प्रकरण देखो । चौथे श्लोकमें कहा है, कि पृथ्वी, आप प्रभृति पचतत्त्व मैंही हूँ, और अब यह कहकर, कि इन तत्त्वोमें जो गुण हैं, वेभी मैंही हूँ, ऊपरके इस कथनकाही स्पष्टीकरण करते हैं, कि ये सब पदार्थ एकही धागेमें मणियोंके समान पिरोये हुए हैं –]

(८) हे कौन्तेय ! जलमें रस मैं हूँ, चद्र-सूर्यकी प्रभा मैं हूँ, सब वेदोका प्रणव अर्थात् ॐकार मैं हूँ। आकाशमें शब्द मैं हूँ, और सब पुरुषोका पौरुषभी मैं हूँ। (९) पृथ्वीमें पुण्यगध अर्थात् सुगधि, एव अग्निका तेज मैं हूँ। सब प्राणि-

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

§§ **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

योकी जीवनशक्ति, और तपस्वियोका तप मै हूँ। (१०) हे पार्थ ! मुझको सब प्राणियोका सनातन बीज समझ। बुद्धिमानोकी बुद्धि और तेजस्वियोका तेजभी मै हूँ। (११) काम (वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनोको) घटाकर बलवान् लोगोका बल मै हूँ, और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियोमें, धर्मके विरुद्ध न जानेवाला कामभी मैं हूँ। (१२) और यह समझ, कि जो जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ है, वे सब मुझसेही हुए है। परतु वे मुझमे है, मैं उनमें नही हूँ।

[" वे मुझमें हैं, मै उनमें नही हूँ इसका अर्थ बडाही गभीर है। " पहला अर्थात् प्रकट अर्थ यह है, कि सभी पदार्थ परमेश्वरसे उत्पन्न हुए है, इसलिये मणियोके धागेके समान इन पदार्थोका गुणधर्मभी यद्यपि परमेश्वरही है, तथापि परमेश्वरकी व्याप्ति इसीमें नही चुक जाती, और समझना चाहिये, कि इनको व्याप्त कर इनके परेभी वही परमेश्वर है, और यही अर्थ आगे " इस समस्त जगतको मै एकाशसे व्याप्त कर रहा हूँ " (गीता १० ४२) इस श्लोकमें वर्णित है। परतु इसअर्थके अतिरिक्त दूसराभी अर्थ सदैव विवक्षित रहता है। वह यह, कि त्रिगुणात्मक जगतका नानात्व यद्यपि मुझसे निर्माण हुआ दीख पडता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूपमें नही रहता, और इस दूसरे अर्थको मनमें रखकर " भूतभृत् न च भूतस्थ " (९ ४, ५) इत्यादि परमेश्वरकी अलौकिक शक्तियोके वर्णन किये गये है (गीता १३ १४–१६)। इस प्रकार यदि परमेश्वरकी व्याप्ति समस्त जगतसेभी अधिक है, तो प्रकट है, कि परमेश्वरके सच्चे स्वरूपको पहचाननेके लिये इस मायिक जगतसेभी परे जाना चाहिये, और अब उसी अर्थको स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं –]

(१३) (सत्त्व, रज और तम इन) तीन गुणात्मक भावोंसे अर्थात् पदार्थोंसे

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

§§ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

मोहित होकर यह सारा ससार, इनसे परेके (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्ययको (परमेश्वर) नही जानता।

[मायाके सबधमें गीतारहस्यके ९ वे प्रकरणमे यह जो सिद्धान्त है, कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेंद्रियका धर्म है, न कि आत्माका, आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है, इद्रियाँ उसको भ्रममें डालती है, वही अद्वैती सिद्धान्त ऊपरके श्लोकमें वतलाया है (गीता ७ २४, गीतार प्र ९, पृ २३८–२४८)।

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अत इस मायाको वे पारकर जाते है, जो मेरीही शरणमें आते हैं।

[इससे प्रकट होता है, कि साख्यशास्त्रकी त्रिगुणात्मक प्रकृतिकोही गीतामें भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें कहा है, कि नारदको विश्वरूप दिखलाकर अतमें भगवान् बोले, कि –

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्त नैव त्व ज्ञातुमर्हसि॥

"हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तू मुझे सव प्राणियोंके गुणोसे युक्त मत समझ" (शा ३३९ ४४)। वही सिद्धान्त अव यहाँभी वतलाया गया है। गीतारहस्यके ९ वे और १० वे प्रकरणमें वतला दिया है, कि माया क्या चीज है]

(१५) मायाने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी वुद्धिमें पडकर मेरी शरणमें नही आते।

[यह वतला दिया, कि मायामें डूवे रहनेवाले लोग परमेश्वरको भूल जाते है और नष्ट हो जाते है। अव ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वरकी शरणमें जाकर उसकी भक्ति करनेवाले लोगोका वर्णन करते है।]

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकारके पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं – १ आर्त अर्थात् रोगसे पीडित, २ जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त-कर लेनेकी इच्छा करनेवाले, ३ अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओको

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

मनमें रखनेवाले, और ४ ज्ञानी अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जानेसे आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तोभी निष्काम बुद्धिसे भक्ति करनेवाले। (१७) इसमेंसे एक भक्ति अर्थात् अनन्यभावसे मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धिसे बर्तनेवाले ज्ञानीकी योग्यता विशेष है, ज्ञानीको मै अत्यत प्रिय हूँ, और ज्ञानी मुझे (अत्यत) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे है, पर मेरा मत है, कि ज्ञानी तो आत्माही है। क्योकि, वह युक्तचित्त होकर (सबकी) उत्तमोत्तम गतिस्वरूप मुझमेंही (उनमें) ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मोंके अनन्तर यह अनुभव हो जानेसे कि जो कुछ है, वह सब वासुदेवही है, ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यत दुर्लभ है।

[क्षर-अक्षरकी दृष्टिसे भगवानने अपने स्वरूपका यह ज्ञान बतला दिया, कि प्रकृति और पुरुष, दोनो मेरेही स्वरूप है, और चारो ओर मैंही एकतासे भरा हूँ, इसके साथही भगवानने ऊपर जो यह बतलाया है, कि इस स्वरूपकी भक्ति करनेसे परमेश्वरकी पहचान हो जाती है, उसके तात्पर्यको भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभीको चाहिये, फिरे चाहे व्यक्तकी करो, चाहे अव्यक्तकी, परतु इन दोनोमें व्यक्तकी उपासना सुलभ होनेके कारण यहाँ उसीका वर्णन है, और उसीका नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थ-बुद्धिको मनमे रखकर किसी विशेष हेतुके लिये परमेश्वरकी भक्ति करना निम्न-श्रेणीकी भक्ति है और परमेश्वरका ज्ञान पानेके हेतुसे भक्ति करनेवालेकोभी (जिज्ञासु) कच्चाही समझना चाहिये, क्योकि उसकी जिज्ञासुत्व – अवस्थासेही व्यक्त होता है, कि अभीतक उसको परिपूर्ण ज्ञान नही हुआ। तथापि कहा है, कि ये सब भक्ति करनेवाले होनेके कारण सभी उदार अर्थात् अच्छे मार्गसे जानेवाले है (श्लो १८)। परतु पहले तीन श्लोकोका तात्पर्य है, कि इसकेभी आगे जाकर अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिसे कृतार्थ हो करके जिन्हे इस जगतमें करने अथवा पानेके लिये कुछभी शेष नही रह जाता (गीता ३ १७–१९), ऐसे ज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धिसे जो भक्ति करते है (भाग १ ७ १०) वही सब श्रेष्ठ है। प्रल्हाद-नारद आदिकी भक्ति इसी श्रेष्ठ श्रेणीकी है, और

§ § कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

| इसीसे भागवतमें भक्तिका लक्षण भक्तियोग अर्थात् परमेश्वरकी निर्हेतुक और
| निरतर भक्ति माना है, (भाग ३ २९ १२, गीतार प्र १३, पृ ४११–४१२)।
| १७ वे और १९ वे श्लोकके 'एकभक्ति' और 'वासुदेव' पद भागवत धर्मके हैं,
| और यहक हनेमें कोई क्षति नही, ।क भक्तोका उक्त सभी वर्णन भागवत धर्म-
| काही है। क्योकि महाभारतमें (मभा शा ३४१ ३३–३५) इस धर्मके वर्णनमें
| चतुर्विध भक्तोका पहले उल्लेख करके फिर कहा है, कि –

| चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ।
| तेषामेकान्तिन. श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवता. ।।
| अहमेव गतिस्तेषां निराशी.कर्मकारिणाम् ।।
| ये च शिष्टास्त्रयो भक्ता फलकामा हि ते मताः ।
| सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ।।

| अनन्यदैवत और एकान्तिक भक्त जिस प्रकार 'निराशी' अर्थात् फलाशारहित
| कर्म करता है, उस प्रकार अन्य तीन भक्त नही करते, वे कुछ-न-कुछ हेतु मनमें
| रखकर भक्ति करते है, इसीसे वे तीनो च्यवनशील है, और एकान्ती प्रति-
| बुद्ध (अर्थात् जानकार) श्रेष्ट हैं। एव आगे 'वासुदेव' शब्दकी आध्यात्मिक
| व्युत्पत्तियोकी है – "सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्" – मैं प्राणिमात्रमें
| वास करता हूँ, इसीसे मुझको वासुदेव कहते है (मभा शा ३४१ ४०)।
| अस्तु, अब यह वर्णन करते है, कि यदि सर्वत्र एकही परमेश्वर है, तो लोग
| भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासना क्यो करते हैं, और ऐसे उपासकोको क्या फल
| मिलता है –]

(२०) अपनी-अपनी प्रकृतिके नियमानुसार भिन्न भिन्न (स्वर्ग आदि फलोकी) कामवासनाओंसे पागल हुए लोग, भिन्न भिन्न (उपासनाओंके) नियमोको पालकर दूसरे (भिन्नभिन्न) देवताओको भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूपकी अर्थात् देवताकी श्रद्धासे उपासना करना चाहता है, उसकी उसी श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूं। (२२) फिर उस श्रद्धासे युक्त होकर, वह

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

उस देवताकी आराधना करने लगता है, एव उसको मेरेही निर्माण किये हुए काम-फल मिलते हैं। (२३) परतु (इन) अल्प-बुद्धि लोगोको मिलनेवाला यह फल नाशवान् है (मोक्षके समान स्थिर रहनेवाला नही है)। देवताओको भजनेवाले उनके पास जाते है, और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते है।

[साधारण मनुष्योकी समझ होती है, कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है तथापि ससारके लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओको देनेकी शक्ति देवताओ, मेंही है, और इसीलिये इन्ही देवताओकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जव यह समझ दृढ हो गई, कि देवताओकी उपासना करनी चाहिये, तव अपनी अपनी स्वाभाविक श्रद्धाके अनुसार (गीता १७ १–६) कोई पीपल पूजते हैं, कोई किसी चवूतरेकी पूजा करते है और कोई किसी वडी भारी शिलाको सिदूरमे रँगकर पूजते रहते हैं। इस वातका वर्णन उक्त श्लोकोमें सुदर रीतिमे किया गया है। इसमे ध्यान देनेयोग्य पहली वात यह है, कि भिन्न भिन्न देवताओकी आराधनासे जो फल मिलता है, आराधक समझते है, कि उसके देनेवाले वेही देवता है, परतु पर्यायसे वह परमेश्वरकी पूजा हो जाती है (गीता ९ २३) और तात्त्विक दृष्टिसे वह फलभी परमेश्वरही दिया करता है (श्लो २२), यही नही, तो इस देवताकी आराधना करनेकी वुद्धिभी मनुष्यके पूर्वकर्मानुसार परमेश्वरही देता है (श्लोक २१)। क्योकि इस जगतमे परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ नही है। वेदान्तसूत्र (३ २ ३८–४१) और उपनिपदमेभी (कौपी ३ ८) यही सिद्धान्त है। इन भिन्न भिन्न देवताओकी भक्ति करते करते वुद्धि स्थिर और शुद्ध हो जाती है, तथा अतमे एक एव नित्य परमेश्वरका ज्ञान होता है – यही इन भिन्न भिन्न उपासनाओका उपयोग है। परतु इससे पहले जो फल मिलते हैं, वे सभी अनित्य होते हैं। अत भगवानका उपदेश है, कि इन फलोकी आशामें न उलझकर 'ज्ञानी' भक्त होनेकी उमग प्रत्येक मनुष्यको रखनी चाहिये। यद्यपि भगवान् सव वातोके करनेवाले और सव फलोके दाता है, तोभी वे जिसके जैसे कर्म होगे, तदनुसारही तो फल देगे (गीता ४ ११), अत तात्त्विक दृष्टिसे यहभी कहा जाता है, कि वे स्वय कुछभी नही करते (गीता ५ १४)। गीतारहस्यके १० वे (पृ २६९) और १३ वे प्रकरणमें (पृ ४२८–४२९) इस विषयका अधिक विवेचन है, उसे देखो। कुछ लोग यह भूल जाते है, कि देवताओकी आराधनाका फलभी परमेश्वरही देता है। और वे प्रकृति-स्वभावके अनुसार इन देवताओकी धुनमे लग जाते है, अव ऊपरके इसी वर्णनका स्पष्टी-करण करते हैं –]

§ § अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ लोग, मेरे पर अर्थात् श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यक्त रूपको न जानकर मुझ अव्यक्तको व्यक्त हुआ मानते हैं। (२५) अपनी योगरूप मायासे आच्छादित रहनेके कारण मैं सबको (अपने स्वरूपसे) प्रकट नही दीखता । मूढ लोग नही जानते, कि मैं अज और अव्यय हूँ ।

[अव्यक्त स्वरूपको छोडकर व्यक्त स्वरूप धारणकर लेनेकी युक्तिको योग कहते हैं (गीता ४ ६, ७ १५, ९ ७) । वेदान्ती लोग इसीको माया कहते हैं, और इस योगमायासे ढँका हुआ परमेश्वर व्यक्त-स्वरूपधारी होता है । साराश, इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि व्यक्त सृष्टि मायिक अथवा अनित्य है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है। परतु कुछ लोग इस स्थानपर और अन्य स्थानोपरभी 'माया' शब्दका 'अलौकिक' अथवा ' विलक्षण शक्ति ' अर्थ मानकर प्रतिपादन करते हैं, कि यह माया मिथ्या नही है, परमेश्वरके समानही नित्य है। गीतारहस्यके नवे प्रकरणमें मायाके स्वरूपका विस्तारसहित विचार किया है, इस कारण यहाँ इतनाही कह देते हैं, कि यह बात अद्वैत वेदान्त-कोभी मान्य है, कि माया परमेश्वरकीही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योकि, माया यद्यपि इद्रियोका उत्पन्न किया हुआ है, तथापि इद्रियाँभी परमेश्वरकी सत्तासेही यह काम करती है, अतएव अतमें इस मायाको परमेश्वरकीही लीला कहना पडता है । वाद है केवल इसके तत्त्वत सत्य या मिथ्या होनेमें, सो उक्त श्लोकसे प्रकट होता है, कि विषयमें अद्वैत वेदान्तके समानही गीताकाभी यही सिद्धान्त है, कि जिस नामरूपात्मक मायासे अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया, – फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ कहो – 'अज्ञानसे' उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या 'मोह' है, और सत्य परमेश्वर-तत्त्व इससे पृथक् है । यदि ऐसा न हो, तो 'अबुद्धि' 'मूढ' शब्दोंके प्रयोग करनेका कोई कारण नही दीख पडता । साराश, माया सत्य नही है, सत्य है एक परमेश्वरही । किंतु गीताका कथन है, कि इस मायासे भूले रहनेसे लोग अनेक देवताओंके फदेमें पडे रहते है। बृहदारण्यक उपनिषदमे (बृ १ ४ १०) इसी प्रकारका वर्णन है, वहाँ कहा है, कि जो लोक आत्मा और ब्रह्मको एकही न जान कर भेदभावसे भिन्न भिन्न देवताओके फदेमें पडे रहते है, वे ' देवताओंके पशु ' हैं, अर्थात् गाय आदि पशुओमे जैसे मनुष्यको फायदा होता है, वैसेही इन अज्ञानी भक्तोसे सिर्फ

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥
§ § जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

[देवताओंकाही फायदा है, उनके भक्तोंको मोक्ष नहीं मिलता। मायामें उलझ कर भेदभावसे अनेक देवताओंकी उपासना करनेवालोंका वर्णन हो चुका, अब बतलाते हैं, कि इस मायासे धीरे धीरे छुटकारा क्योंकर होता है –]

(२६) हे अर्जुन! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (कालमें जो हो चुके हैं उन्हें, मौजूदा और आगे होनेवाले) सभी प्राणियोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझे कोईभी नहीं जानता। (२७) क्योंकि हे भारत! (इंद्रियोंकी) इच्छाओं और द्वेषसे उपजनेवाले (सुख-दुःख आदि) द्वंद्वोंके मोहसे समस्त प्राणी, हे परंतप! इस सृष्टिमें भ्रममें फँस जाते हैं। (२८) परंतु जिन पुण्यात्माओंके पापका अंत हो गया है, वे (सुख-दुःख आदि) द्वंद्वोंके मोहसे छूट कर दृढव्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

[इस प्रकार मायासे छुटकारा हो चुकनेपर, आगे उनकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हैं –]

(२९) जो (इस प्रकार) मेरा आश्रयकर जरा-मरणसे अर्थात् पुनर्जन्मके चक्करसे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे (सब) ब्रह्म, (सब) अध्यात्म और सब कर्मको जान लेते हैं। (३०) और अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञसहित (अर्थात् यह इस प्रकार, कि मैंही यह सब हूँ) जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त (होनेके कारण) मरण-कालमेंभी मुझे जानते हैं।

[अगले अध्यायमें अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका निरूपण किया है। धर्मशास्त्रका और उपनिषदोंका सिद्धान्त है, कि मरण-कालमें मनुष्यके

| मनमें जो बुद्धि प्रबल रहती है, उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है, इस सिद्धान्तको लक्ष्य करके अंतिम श्लोकमें 'मरण-कालमेंभी' शब्द हैं, तथापि उक्त श्लोकके 'भी' पदसे स्पष्ट होता है, कि मरनेसे पहले परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान हुए विना केवल अंतकालमेंही यह ज्ञान नहीं हो सकता (गीता २ ७२)। विशेष विवरण अगले अध्यायमें है। कह सकते हैं, कि इन दो श्लोकोंमें अधिभूत आदि शब्दोंसे आगेके अध्यायकी प्रस्तावनाही की गई है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

आठवाँ अध्याय

[इस अध्यायमे कर्मयोगके अतर्गत ज्ञान-विज्ञानका निरूपणही हो रहा है, और पिछले अध्यायमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वरके स्वरूपके विविध भेद कहे है, पहले उनका अर्थ बतलाकर विवेचन किया है, कि उनमें क्या तथ्य है। परतु यह विवेचन उन शब्दोकी केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यत सक्षिप्त रीतिसे किया है, अत यहांपर उक्त विषयका कुछ अधिक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। बाह्य सृष्टिके अवलोकनसे उसके वार्ताकी कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियोंसे किया करते है। १ कोई कहते है, कि सृष्टिके सब पदार्थ पचमहाभूतोंकेही विकार है और इन पचमहाभूतोको छोड मूलमें दूसरा कोईभी तत्त्व नही है। २ दूसरे कई लोग यह प्रतिपादन करते है, कि गीताके चौथे अध्यायके वर्णनके अनुसार समस्त जगत यज्ञसे हुआ है, इसलिये यह परमेश्वर यज्ञनारायणरूपी है और यज्ञसेही उसकी पूजा होती है। ३ और कुछ लोगोका कहना है, कि जड पदार्थ स्वय सृष्टिके व्यापार नही करते, किंतु उनमेंसे प्रत्येकमें कोई-न-कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते है, जो कि इन व्यवहारोको किया करते है, और इसीलिये हमें उन देवताओकी आराधना करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, जड पाचभौतिक सूर्यके गोलेमें सूर्य नामका जो पुरुष है, वही प्रकाश देने वगैरेहका काम किया करता है, अतएव वही उपास्य है। ४ चौथे पक्षका कथन है, कि प्रत्येक पदार्थमे उस पदार्थसे भिन्न किसी देवताका निवास मानना ठीक नही है। जैसे मनुष्यके शरीरमें आत्मा है, वैसेही प्रत्येक वस्तुमें उसी वस्तुका कुछ-न-कुछ सूक्ष्म रूप अर्थात् आत्माके समान सूक्ष्म शक्ति वास करती है और वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, पच स्थूल महाभूतोमे पच-सूक्ष्म-तन्मात्राएँ, और हाथ-पैर आदि स्थूल इद्रियोमे सूक्ष्म इद्रियाँ मूलभूत रहती हैं। इसी चौथे तत्त्वपर साख्योका यह मतभी अवलबित है, कि प्रत्येक मनुष्यका आत्माभी पृथक् पृथक् है और पुरुष असख्य हैं, परतु जान पडता है, कि यहाँ इस साख्य मतका 'अधिदेह' वर्गमें समावेश किया गया है। उक्त चार पक्षोकोही क्रमसे अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म कहते हैं। किसीभी शब्दके पीछे 'अधि' उपसर्ग रहनेसे यह अर्थ होता है – 'तमधिकृत्य', 'तद्विषयक', 'उस सबधका' या 'उसमे रहनेवाला'। इस अर्थके अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओमे रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म उस शास्त्रको कहते है, जो यह प्रतिपादन करता है, कि सर्वत्र एकही आत्मा है। किंतु यह अर्थ सिद्धान्त पक्षका है। अर्थात् पूर्वपक्षके इस कथनकी जाँच करके, कि "अनेक वस्तुओ या मनुष्योंमेंभी अनेक आत्मा हैं", वेदान्तशास्त्रने आत्माकी एकताके इस सिद्धान्तको निश्चित

कर दिया है। अत पूर्वपक्षका जब विचार करना होता है, तब माना जाता है, कि प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक् पृथक् है, और यहांपर अध्यात्म शब्दसे यही अर्थ अभिप्रेत है। महाभारतमें मनुष्यकी इंद्रियोका उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है, कि अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टिसे एकही विवेचनके इस प्रकार भिन्न भिन्न भेद क्योंकर होते हैं ? (मभा. शा ३१३, अश्व ४१)। महाभारतकार कहते हैं, कि मनुष्यकी इंद्रियोंका विवेचन तीन तरहसे किया जा सकता है, जैसे – अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत। इन इंद्रियोंके द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं – उदाहरणार्थ, हाथोंसे जो लिया जाता है, कानोंसे जो सुना जाता है, आंखोंसे जो देखा जाता है या मनसे जिसका चिंतन किया जाता है, – वे सब अधिभूत हैं, और हाथ-पैर आदिके (सांख्यशास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव अर्थात् सूक्ष्म इंद्रियां, इन इंद्रियोंके अध्यात्म हैं। परंतु इन दोनो दृष्टियोंको छोडकर अधिदैवत-दृष्टिसे विचार करनेपर – अर्थात् यह मान करके, कि हाथोंके देवता इंद्र, पैरोंके विष्णु, गुदके मित्र, उपस्थके प्रजापति, वाणीके अग्नि, आंखोंके सूर्य, कानोंके आकाश अथवा दिशा, जीभके जल, नाकके पृथ्वी, त्वचाके वायु, मनके चंद्रमा, अहंकारके बुद्धि, और बुद्धिके देवता पुरुष हैं। – कहा जाता है, कि येही देवता अपनी अपनी इंद्रियोंके व्यापार किया करते हैं, उपनिषदोंमेंभी उपासनाके लिये ब्रह्मस्वरूपके जो प्रतीक वर्णित हैं, उनमें मनको अध्यात्म और सूर्य अथवा आकाशको अधिदैवत प्रतीक कहा है (छा ३ १८ १)। अध्यात्म और अधिदैवतका यह भेद केवल उपासनाके लियेही नही किया गया है, बल्कि जब इस प्रश्नका निर्णय करना पडा, कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इंद्रियो एव प्राणोमें श्रेष्ठ कौन है ? तब उपनिषदोमे (बृ १ ५ २१–२३, छा १ २–३, कौषी ४ १२–१३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इंद्रियोको लेकर अध्यात्म-दृष्टिसे विचार किया गया है, तथा दूसरी बार उन्ही इंद्रियोंके देवता अग्नि, सूर्य और आकाशको लेकर अधिदैवत-दृष्टिसे विचार किया गया है। साराश यह है, कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं, और यह प्रश्नभी उसी जमानेका है, कि परमेश्वरके स्वरूपकी इन भिन्न भिन्न कल्पनाओंमेंसे सच्ची कौन है अथवा उसका तथ्य क्या है ? बृहदारण्यक उपनिषद्में (बृ ३ ७) याज्ञवल्क्यने उद्दालक आरुणिसे कहा है, कि सब प्राणियोमें, सब देवताओंमें, समग्र अध्यात्ममें, सब लोगोमें, सब यज्ञोमें और सब देहोमे व्याप्त होकर, उनके न समझनेपरभी, उनको नचानेवाला एक-ही परमात्मा है। उपनिषदोका यही सिद्धान्त वेदान्त-सूत्रके अतर्यामी अधिकरणमें है (वे सू १ २ १८–२०), और वही यह सिद्ध किया है, कि सबके अत करणमें रहनेवाला यह तत्त्व साख्योकी प्रकृति या जीवात्मा नही है, किंतु परमात्मा है। इसी सिद्धान्तके अनुरोधसे भगवान् अब अर्जुनसे कहते हैं, कि मनुष्यकी देहमें, सब प्राणियोमें (अधिभूत), सब यज्ञोमें (अधियज्ञ), सब देवताओमें

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

(अधिदैवत), सब कर्मोंमें, और सब वस्तुओंके सूक्ष्म (अर्थात् अध्यात्म) स्वरूपोंमें एकही परमेश्वर समाया हुआ है, और देवता यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नही है। सातवे अध्यायके अतमें भगवानने अधिभूत आदि जिन शब्दोका उच्चारण किया है, उनका अर्थ जाननेकी अर्जुनको इच्छा हुई, अत वह पहले पूछता है –]

अर्जुनने कहा – (१) हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्मके माने क्या है ? अधिभूत किसे कहना चाहिये ? और अधिदैवत किसको कहते हैं ? (२) अधियज्ञ कैसा होता है ? हे मधुसूदन ! इस देहमें (अधिदेह) कौन है ? और (मुझे यह बतलाओ, कि) अतकालमें इद्रियनिग्रह करनेवाले (लोग) तुमको कैसे पहचानते हैं ?

[ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधियज्ञ शब्द पिछले अध्यायमें आ चुके हैं, इनके सिवा अब अर्जुनने यह नया प्रश्न किया है, कि अधिदेह कौन है ? इसपर ध्यान देनेसे आगेके उत्तरका अर्थ समझनेमें कोई अडचन न होगी ।]

श्रीभगवानने कहा – (३) (सबसे) परम अक्षर अर्थात् कभीभी नष्ट न होनेवाला तत्त्व **ब्रह्म** है, (और) प्रत्येक वस्तुका अपना मूल भाव (स्वभाव) **अध्यात्म** कहलाता है। (अक्षर-ब्रह्मसे) भूतमात्रादि (चर-अचर) पदार्थोंकी उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टि-व्यापार **कर्म** है। (४) (उपजे हुए सब प्राणियोकी) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक या नाशवान् स्थिति **अधिभूत** है, और (इस पदार्थमें)

जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्टाता है, वह **अधिदैवत** है, हे देहधारियोमे श्रेष्ठ ! (जिसे) **अधियज्ञ** (अर्थात् सब यज्ञोका अधिपति कहते है, वह) मैंही इस देहमें (**अधिदेह**) हूँ।

[तीसरे श्लोकका 'परम' शब्द ब्रह्मका विशेपण नही है, किंतु अक्षरका विशेषण है। साख्यशास्त्रमें अव्यक्त प्रकृतिकोभी 'अक्षर' कहा है (गीता १५ १६)। परतु वेदान्तियोका ब्रह्म इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृतिकेभी परेका है (इसी अध्यायका २० वाँ और ३१ वाँ श्लोक देखो), और इसी कारण केवल **'अक्षर'** शब्दके प्रयोगसे साख्योकी प्रकृति अथवा ब्रह्म, ये दोनो अर्थ हो सकते है। इस सदेहको मिटानेके लिये 'अक्षर' शब्दके आगे 'परम' विशेपण रख कर ब्रह्मकी व्याख्या की है (गीतार प्र ९, पृ २०२ – २०३)। हमने 'स्वभाव' शब्दका अर्थ, ऊपर दिये हुए महाभारतके उदाहरणोके अनुसार, किसीभी पदार्थका '**सूक्ष्म स्वरूप**' किया है। नासदीय सूक्तमें दृश्य जगतको परब्रह्मकी विसृष्टि (विसर्ग) कहा है (गीतार प्र ९, पृ २५६), और विसर्ग शब्दका वही अर्थ यहाँ लेना चाहिये। विसर्गका अर्थ 'यज्ञका हविरुत्सर्ग' करनेकी कोई जरूरत नही है। गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमे (पृ २६४) इस बातका विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इस दृश्य-सृष्टिकोही कर्म क्यो कहते है ? पदार्थमात्रके नामरूपात्मक विनाशी स्वरूपको 'क्षर' कहते है, और इसमे परे जो अक्षर तत्त्व है उसको ब्रह्म समझना चाहिये। 'पुरुष' शब्दमे सूर्यका पुरुष, जलके देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित है और हिरण्यगर्भ काभी उसमें समावेश होता है। यहाँ भगवानने 'अधियज्ञ' शब्दकी व्याख्या नही की। क्योकि, यज्ञके विषयमें पीछे तीसरे और चौथे अध्यायोंमें विस्तारसहित वर्णन हो चुका है और फिर आगेभी कहा है, कि 'सब यज्ञोका प्रभु और भोक्ता मैंही हूँ (गीता ९ २४, ५ २९, मभा शा ३४०)। इस प्रकार अध्यात्म आदिके लक्षण बतलाकर अतमे सक्षेपसे कह दिया है, कि इस देहमे 'अधियज्ञ' (जिसे कहते है) वही मै हूँ, अर्थात् मनुष्यदेहमें अधिदेह और अधियज्ञभी मैंही हूँ। प्रत्येक देहमें पृथक् पृथक् आत्मा (पुरुष) मानकर साख्यवादी कहते हैं, कि वे असख्य है। परतु वेदान्तशास्त्रको यह मत मान्य नही है, उसने निश्चय किया है, कि यद्यपि देह अनेक है, तथापि सबमे आत्मा एकही है (गीतार प्र ७, पृ १६६)। 'अधिदेह मैंही हूँ' इस वाक्यमे यही सिद्धान्त दर्शाया है, तोभी इस वाक्यके 'मैंही हूँ' शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेहकोही उद्देश्य करके प्रयुक्त नही है, उनका सबध अध्यात्म आदि पूर्वपदोंसेभी है। अत समग्र अर्थ ऐसा होता है, कि अनेक प्रकारके यज्ञ, अनेक पदार्थोके अनेक देवता, विनाशवान् पचमहाभूत, पदार्थमात्रके सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा, ब्रह्म, कर्म अथवा

§§ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

भिन्न भिन्न मनुष्योकी देह – इन सबमें ' मैही हूँ ', अर्थात् सबमे एकही परमेश्वर-तत्त्व है। कई लोगोका कथन है, कि यहाँ 'अधिदेह' स्वरूपका स्वतत्र वर्णन नही है, अधियज्ञकी व्याख्या करते समय अधिदेहका उसमें पर्यायसे उल्लेख हो गया है। किंतु हमें यह अर्थ ठीक नही जान पडता। क्योकि, न केवल गीतामेही, प्रत्युत उपनिषदो और वेदान्त-सूत्रोमेभी (बृ ३ ७, वे सू १ २ २०) जहाँ यह विषय आया है, वहाँ अधिभूत आदि स्वरूपोंके साथही शरीर आत्माकाभी विचार किया है, और सिद्धान्त किया है, कि सर्वत्र एकही परमात्मा है। ऐसेही गीतामें जव कि अधिदेहके विषयमें पहलेभी प्रश्न हो चुका है, तव यहाँ उसके पृथक् उल्लेखकोही विवक्षित मानना युक्तिसगत है। यदि यह सच है, कि सव कुछ परब्रह्मही है, तो पहले पहल ऐसा वोध होना सभव है, कि उसके अधिभूत आदि स्वरूपोका वर्णन करते समय उसमे परब्रह्मकोभी शामिल कर लेनेकी कोई जरूरत न थी। परतु नानात्वदर्शक यह वर्णन उन लोगोको लक्ष्य करके किया गया है, कि जो ब्रह्म, आत्मा, देवता और यज्ञनारायण आदि अनेक भेद करके नाना प्रकारकी उपासनाओमे उलझे रहते है, अतएव पहले उन लक्षण वतलाये गये है, कि जो उन लोगोकी समझके अनुसार होते है, और फिर यह भेदोके सिद्धान्त किया गया है, कि " यह सव मैही हूँ "। उक्त वातपर ध्यान देनेसे कोईभी शका नही रह जाती। अस्तु, इस भेदका तत्त्व वतला दिया गया, कि उपासनाके लिये अधिभूत, अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदेह प्रभृति अनेक भेद करनेपरभी यह नानात्व सच्चा नही है, और वास्तवमे एकही परमेश्वर सवमें व्याप्त है। अव अर्जुनके इस अतिम प्रश्नका उत्तर देते है, कि अतकालमें यह सर्वव्यापी भगवान् कैसे पहचाना जाता है –]

(५) और इसमे सदेह नही है, कि अतकालमें जो मेराही स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है। (६) अथवा हे कौन्तेय। सदा अर्थात् जन्मभर उसीमें रँगे रहनेसे मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ अतमें शरीर त्यागता है, (आगे) उसीमें (भाव) वह जा मिलता है।

[पाँचवे श्लोकमे मरण-समयमे परमेश्वरके स्मरण करनेकी आवश्यकता और फल वतलाया है। परतु सभव है, कि इससे कोई यह समझ ले, कि केवल मरण-कालमें यह स्मरण करनेसेही काम चल जाता है, इसीलिये छठे श्लोकमें

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

[यह बतलाया है, कि जो बात जन्मभर मनमें रहती है, वह मरण-कालमेंभी नही छूटती, अतएव न केवल मरण-कालमेंभी प्रत्युत जन्मभरभी परमेश्वरका स्मरण और उपासना करनेकी आवश्यकता सिद्ध हुई है (गीतार प्र १०, पृ २९०) । इस सिद्धान्तको मान लेनेसे आपही सिद्ध हो जाता है, कि अतकालमें परमेश्वरको भजनेवाले परमेश्वरको पाते हैं और देवताओका स्मरण करनेवाले देवताओको पाते है (गीता ७ २३, ८ १३, ९ २५)। क्योकि छादोग्य उपनिषदके कथनानुसार "यथा ऋतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति" (छा॰ ३ १४ १) – इस लोकमें मनुष्यका जैसा ऋतु अर्थात् सकल्प होता है, मरनेपर उसे वैसीही गति मिलती है। छादोग्यके समान अन्य उपनिषदोमेंभी ऐसेही वाक्य हैं (प्रश्न ३ १०, मैत्र्यु ४ ६) । परतु गीता अब यह कहती है, कि जन्मभर एकही भावनासे मनको रंगे विना, अतकालकी यातनाके समय वही भावना स्थिर नही रह सकती । अतएव आमरण अर्थात् आजीवन परमेश्वरका ध्यान करना आवश्यक है (वे सू ४ १ १२) – इस सिद्धान्तके अनुसार अर्जुनसे भगवान् कहते है, कि –]

(७) इसलिये सर्वकाल अर्थात् सदैवही मेरा स्मरण करता रह, और युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करनेसे (युद्ध करनेपरभी) मुझमेंही नि सदेह आ मिलेगा। (८) हे पार्थ ! चित्तको दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यासकी सहायतासे उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुषका ध्यान करते रहनेसे मनुष्य उसी पुरुषमें जा मिलता है।

[जो लोग भगवद्गीतामें इस विषयका प्रतिपादन बतलाते हैं, कि ससारको छोड दो और केवल भक्तिकाही अवलब करो, उन्हे सातवे श्लोकके सिद्धान्तकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। मोक्ष तो परमेश्वरकी ज्ञानयुक्त भक्तिसे मिलता है, और यह निर्विवाद है, कि मरण-समयमेंभी उसी भावनाको स्थिर रहनेके लिये जन्मभर वही अभ्यास करना चाहिये। किंतु गीताका यह अभिप्राय नही, कि उसके लिये कर्मोंको छोड देना चाहिये, इसके विरुद्ध गीताशास्त्रका सिद्धान्त है, कि स्वधर्मके अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, भगवद्भक्तको उन सबको निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये, और इसी सिद्धान्तको इन शब्दोंसे व्यक्त किया है, कि "मेरा सदैव चितन कर, और युद्ध कर।" अस्तु, अब

§§ **कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।**
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

| बतलाते है, कि परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे जन्मभर निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी
| अतकालमेंभी दिव्य परम पुरुषका चितन किस प्रकारसे करते है।]

(९) कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता अणुसेभी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्ता, अचित्यस्वरूप, और अधकारसे परेके सूर्यके समान देदीप्यमान पुरुषका स्मरण (जो पुरुष), करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुषमें जा मिलता है। (१०) अतकालमे (इद्रियनिग्रहरूप) योगकी सामर्थ्यसे और भक्तियुक्त होकर मनको स्थिर करके और दोनो भौहोके बीचमें प्राणको भली भाँति रखकर, (११) वेदके जाननेवाले जिसे अक्षर कहते है, वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते है, वह पद अर्थात् ॐकारब्रह्म तुझे सक्षेपसे बतलाता हूँ। (१२) सब (इद्रियरूपी) द्वारोका सयमकर और मनका हृदयमे निरोध करके (एव) मस्तकमें, अपना प्राण ले जाकर समाधियोगमें स्थिर होनेवाला, (१३) इस एकाक्षर ब्रह्म ॐका जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) देह छोड कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

| [श्लोक ९–११ मे परमेश्वरके स्वरूपका जो वर्णन है, वह उपनिषदोसे
| लिया गया है। नवे श्लोकका 'अणोरणीयान्' पद और अतका चरण श्वेताश्वतर
| उपनिषदका है (श्वे ३ ८, ९), एव ग्यारहवे श्लोकका पूर्वार्ध अर्थत और
| उत्तरार्ध शब्दश कठ उपनिषदका है (कठ २ १५)। कठ उपनिषदमें "तत्ते
| पद सग्रहेण ब्रवीमि" इस चरणके आगे 'ओमित्येतत्' स्पष्ट कहा गया है, इससे
| प्रकट होता है, कि ११ वे श्लोकके 'अक्षर' और 'पद' शब्दोका अर्थ ॐ
| वर्णाक्षररूपी ब्रह्म अथवा ॐ शब्द लेना चाहिये, और १३ वे श्लोकसेभी प्रकट

§§ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

| होता है, कि यहाँ ॐकारोपासनाही उद्दिष्ट है (प्रश्न ५)। तथापि यह नहीं कह सकते, कि भगवानके मनमें 'अक्षर = अविनाशी ब्रह्म, और 'पद' = परम स्थान, ये अर्थभी न होंगे। क्योंकि, वर्णमालाका ॐ एक अक्षर है, और इसके सिवा यह कहा जा सकेगा, कि वह ब्रह्मके प्रतीकके नाते अविनाशीभी है (२१ वाँ श्लोक देखो)। इसलिये ११ वे श्लोकके अनुवादमें 'अक्षर' और 'पद' ये दुहरे अर्थवाले मूल शब्दही हमने रख लिये हैं। अब इस उपासनासे मिलनेवाली उत्तर गतिकाही अधिक निरूपण करते हैं -]

(१४) हे पार्थ! अनन्यभावसे सदा-सर्वदा जो मेरा नित्य स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त (कर्म-)योगीको मैं अर्थात् मेरी प्राप्ति सुलभ रीतिसे होती है। (१५) मुझमें मिल जानेपर, परमसिद्धि पाये हुए महात्मा उस पुनर्जन्मको नहीं पाते, कि जो दुःखोंका घर है और अशाश्वत है। (१६) हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक (स्वर्ग आदि) जितने लोक हैं वहाँसे (कभी न कभी इस लोकमें) पुनरावर्तन अर्थात् लौटना (पडता) है। परंतु हे कौन्तेय! मुझमें मिल जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता।

| [सोलहवे श्लोकके 'पुनरावर्तन' शब्दका अर्थ पुण्य चुक जानेपर भूलोकमें लौट आना है (गीता ९. २१, मभा वन २६०)। यज्ञ, देवताराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मोंसे यद्यपि इन्द्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और कदाचित् ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे, तथापि पुण्यांशके समाप्त होतेही वहाँसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेना पडता है (बृ. ४. ४. ६), अथवा अंतत ब्रह्मलोकका नाश हो जानेपर पुनर्जन्मचक्रमें तो जरूरही गिरना पडता है। अतएव, उक्त १६ वे श्लोकका भावार्थ यह है, कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जेकी हैं और परमेश्वरके ज्ञानसेही पुनर्जन्म नष्ट होता है, इस कारण वही गति सर्वश्रेष्ठ है (गीता ९. २०, २१)। अंतमें जो कहा है, कि ब्रह्मलोककी प्राप्तिभी अनित्य है, उसके समर्थनमें अब बतलाते हैं, कि ब्रह्मलोकसहित समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति और लय बारबार कैसे होता रहता है -]

§§ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

(१७) अहोरात्रको (तत्त्वत) जाननेवाले पुरुष समझते है, कि (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चारो युगोका एक महायुग होता है, और ऐसे) हजार (महा-)युगोका समय ब्रह्मदेवका एक दिन है, और (ऐसेही) हजार युगोकी (उसकी) एक रात्रि है ।

[यह श्लोक इससे पहलेके युगमानका हिसाव न देकर गीतामें आया है, और इसका अर्थ अन्यत्र वतलाये हुए हिसावसे करना चाहिये । यह हिसाव और गीताका यह श्लोकभी भारत (शा २३१ ३१) और मनुस्मृतिमें (मनु १ ७३) है, तथा यास्कके निरुक्तमेंभी यही अर्थ वर्णित है (निरुक्त १४ ९) । ब्रह्मदेवके दिनकोही कल्प कहते हैं । अगले श्लोकमें अव्यक्तका अर्थ साख्य-शास्त्रकी अव्यक्त प्रकृति है, अव्यक्तका अर्थ परब्रह्म नही है, क्योकि २० वे श्लोकमें स्पष्ट वतला दिया है, कि ब्रह्मरूपी अव्यक्त, १८ वे श्लोकमें वर्णित अव्यक्तसे परेका और भिन्न है । गीतारहस्यके आठवे प्रकरणमें (पृ १९४) इसका पूरा स्पष्टीकरण है, कि अव्यक्तसे व्यक्त-सृष्टि कैसे होती है और कल्पके कालमानका हिसावभी वही लिखा है ।]

(१८) (ब्रह्मदेवके) दिनका आरभ होनेपर अव्यक्तसे सव व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते है और रात्रि होनेपर उसी पूर्वोक्त अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं । (१९) हे पार्थ ! भूतोका वही समुदाय (इस प्रकार) वार वार उत्पन्न होकर अवश होता हुआ, अर्थात् इच्छा हो या न हो – रात होतेही लीन हो जाता है, और दिन होनेपर (फिर) जन्म लेता है ।

[अर्थात् पुण्यकर्मोसे नित्य ब्रह्मलोकवास प्राप्तभी हो जाय, तोभी प्रलय-कालमें ब्रह्मलोककाभी नाश हो जानेसे फिर नये कल्पके आरभमें प्राणियोका जन्म लेना नही छूटता । इससे वचनेके लिये जो एकही मार्ग है, उसे अब वतलाते हैं –]

§ § परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

(२०) किंतु इस ऊपर बतलाये हुए अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है, कि जो सब भूतोंके नाश होनेपरभी नष्ट नहीं होता, (२१) जिस अव्यक्तको 'अक्षर' (भी) कहते हैं, वही परम अर्थात् उत्कृष्ट या अतकी गति कहा जाता है, (और) जिसे पाकर फिर (जन्ममें) लौटते नही है, (वही) मेरा परम स्थान (भी) है। (२२) हे पार्थ ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने इन सबको फैलाया अथवा व्याप्तकर रखा है, वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्यभक्तिसेही प्राप्त होता है।

[बीसवां और इक्कीसवां श्लोक मिलकर एक वाक्य बना है। इनमेंसे २० वे श्लोकका 'अव्यक्त' शब्द पहले साख्योकी प्रकृतिको, अर्थात् १८ वे श्लोकके अव्यक्त द्रव्यको लक्ष्य करके प्रयुक्त है और आगे वही शब्द साख्योकी प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके लियेभी उपयुक्त हुआ है, तथा २१ वे श्लोकमें कहा है, कि इसी दूसरे अव्यक्तको 'अक्षर'भी कहते है, ऐसेही अध्यायके आरभमेंभी " अक्षर ब्रह्म परमम् " यह वर्णन है। साराश, 'अव्यक्त' शब्दके समानही गीतामे 'अक्षर' शब्दकाभी दो प्रकारसे उपयोग किया गया है। यह नही, कि साख्योकी प्रकृति ही अव्यक्त और अक्षर है, किंतु परमेश्वर या ब्रह्मभी, कि जो " सब भूतोका नाश हो जानेपरभी नष्ट नही होता ", अव्यक्त तथा अक्षर है। पद्रहवे अध्यायमे पुरुषोत्तमके लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है, कि वह क्षर और अक्षरसे परेका है, उससे प्रकट है, कि वहांका 'अक्षर' शब्द साख्योकी प्रकृतिके लिये उद्दिष्ट है (गीता १५ १६–१८)। ध्यान रहे, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' इन दोनो विशेषणोका प्रयोग गीतामें कभी साख्योकी प्रकृतिके लिये, और कभी इस प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके लिये किया गया है (गीतार प्र ९, पृ २०२–२०३)। व्यक्त और अव्यक्तसे परे जो परब्रह्म है, उसका स्वरूप गीतारहस्यके नवे प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया गया है। जिस स्थानमे पहुँच जानेसे मनुष्य पुनर्जन्मकी चपेटसे छूट जाता है, उस 'अक्षर-ब्रह्म'का वर्णन हो चुका, अब मरनेपर जिन्हे लौटना नही पडता (अनावृत्ति), और जिन्हें स्वर्गसे लौटकर फिर जन्म लेना पडता है (आवृत्ति), उनके बीचके समयका और गतिका भेद बतलाते है –]

§§ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
§§ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस कालमें मरनेपर (कर्म-)योगी (इस लोकमें जन्मनेके लिये) लौट नही आते, और (जिस कालमें मरनेपर) लौट आते है। (२४) अग्नि, ज्योति, अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छ महीनोमें मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मको पाते हैं (लौटकर नही आते)। (२५) (अग्नि), धुआ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायनके छ महीनोमें मरा हुआ (कर्म-)योगी चद्रके तेजमे अर्थात् चद्रलोकमें जा कर (पुण्याश घटनेपर) लौट आता है। (२६) इस प्रकार जगतकी शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अधकारमय, ये दो शाश्वत गतियाँ याने स्थिर मार्ग माने जाते हैं। एक मार्गसे जानेपर लौटना नही पडता, और दूसरेसे फिर लौटना पडता है।

[उपनिषदोमें इन दोनो गतियोको देवयान (शुक्ल) और पितृयाण (कृष्ण), अथवा अर्चिरादि मार्ग और धूम्र-आदि मार्ग कहा है, तथा ऋग्वेदमेंभी इन मार्गोका उल्लेख है। मरे हुए मनुष्यकी देहको अग्निमें जला देनेपर अर्थात् अग्निसेही इन दोनो मार्गोका आरभ हो जाता है, अतएव पच्चीसवे श्लोकमें 'अग्नि' पदका पहले श्लोकसे अध्याहार कर लेना चाहिये। पच्चीसवे श्लोकका हेतु यही बतलाना है, कि प्रथम श्लोकोमें वर्णित मार्गमें और दूसरे मार्गमें भेद कहाँ होता है, इसीसे 'अग्नि शब्दकी पुनरावृत्ति उसमें नही की गई। गीतारहस्यके दसवे प्रकरणके अतमें (पृ २९७–२९८) इस सबधकी अधिक बाते हैं। उनसे उल्लिखित श्लोकका भावार्थ खुल जावेगा। अब बतलाते हैं, कि इन दोनो मार्गोका तत्त्व जान लेनेसे क्या फल मिलता है –]

(२७) हे पार्थ! इन दोनो सृतियोको अर्थात् मार्गोको (तत्त्वत) जाननेवाला

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

कोईभी (कर्म-)योगी मोहमें नही फँसता, अतएव हे अर्जुन ! तू सदासर्वदा (कर्म-) योगयुक्त हो । (२८) इसे (उक्त तत्त्वको) जान लेनेसे वेद, यज्ञ, तप और दानमें जो पुण्यफल बतलाया है, (कर्म-)योगी उस सबको छोड जाता है और उसके परेके आद्यस्थानको पा लेता है ।

[जिस मनुष्यने देवयान और पितृयाण, इन दोनो मार्गोंके तत्त्वको जान लिया, अर्थात् यह ज्ञात कर लिया, कि देवयान-मार्गसे मोक्ष मिल जानेपर पुनर्जन्म नही मिलता और पितृयाण-मार्ग स्वर्गप्रद हो, तोभी मोक्षप्रद नही है, वह इनमेंसे अपने सच्चे कल्याणके मार्गकाही स्वीकार करेगा, मोहसे निम्न श्रेणीके मार्गको स्वीकार न करेगा – इसी बातको लक्ष्य कर पहले श्लोकमें "इन दोनो सृतियोको अर्थात् मार्गोंको (तत्त्वतः) जाननेवाला" ये शब्द आये है । इन श्लोकोका भावार्थ यो है – कर्मयोगी जानता है, कि देवयान और पितृयाण, इन दोनो मार्गोंमेंसे कौन मार्ग कहाँ जाता है, इसीसे उनमेंसे जो मार्ग उत्तम है, उसेही वह स्वभावतः स्वीकार करता है, एवं स्वर्गके आवागमनसे बचकर उससे परेके मोक्षप्रदकी प्राप्ति कर लेता है । २७ वे श्लोकमें तदनुसार व्यवहार करनेका अर्जुनको उपदेशभी किया गया है ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवाद में, अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

नवाँ अध्याय

[सातवे अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका निरूपण यह दिखलानेके लिये किया गया है, कि कर्मयोगका आचरण करनेवाले पुरुषको परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होकर मनकी शाति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? फिर अक्षर और अव्यक्त पुरुषका स्वरूपभी वतला दिया गया है, और पिछले अध्यायमे कहा गया है, कि अतकाल मेंभी उस स्वरूपको मनमे स्थिर रखनेके लिये पातजलयोगसे समाधि लगाकर, अतमें ॐकारकी उपासना की जावे। परतु पहले तो अक्षर-ब्रह्मका ज्ञान होनाही कठिन है, और फिर उसमेभी समाधिकी आवश्यकता होनेसे साधारण लोगोको तो यह मार्ग छोडही देना पडेगा। इस कठिनाईपर ध्यान देकर अव भगवान् ऐसा राजमार्ग वतलाते है, कि जिससे सव लोगोको परमेश्वरका ज्ञान सुलभ हो जावे। इसीको भक्तिमार्ग कहते है,और गीतारहस्यके तेहरवे प्रकरणमें हमने उसका विस्तारसहित विवेचन किया है। इस मार्गमें परमेश्वरका स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जाननेयोग्य रहता है, और उसी व्यक्त स्वरूपका विस्तृत निरूपण नवे, दसवे, ग्यारहवे और वारहवे अध्यायोमें किया गया है। तथापि स्मरण रहे, कि यह भक्ति-मार्गभी स्वतन्त्र नही है, कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवे अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानका आरभ किया गया है, उसीका यह भाग है, और इस अध्यायका आरभभी पिछले ज्ञान-विज्ञानके अगकी दृष्टिसेही किया गया है।]

श्रीभगवानने कहा –(१) अव तू दोषदर्शी नही है, इसलिये गुह्यसेभी गुह्य विज्ञानसहित ज्ञान तुझे वतलाता हूँ, जिसके जान लेनेसे पापसे मुक्त होगा। (२) यह (ज्ञान) समस्त गुह्योमें राजा अर्थात् श्रेष्ठ, राजविद्या अर्थात् सव विद्याओमें श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष वोध देनेवाला, आचरण करनेमें सुखकारक, अव्यक्त और धर्म्य है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

§§ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

(३) हे परन्तप ! इस धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नही पाते वे मृत्यु-युक्त ससारके मार्गमें लौट आते है, (अर्थात् उन्हे मोक्ष नही मिलता)।

[गीतारहस्यके तेरहवे प्रकरणमें (पृ ४१३ ते ४१९) दूसरे श्लोकके 'राजविद्या', 'राजगुह्य', और 'प्रत्यक्षावगम' पदोंके अर्थोका विचार किया गया है। ईश्वर-प्राप्तिके साधनोको उपनिषदोमें 'विद्याएँ' कहा है और ये विद्या गुप्त रखी जाती थी। कहा है, कि भक्ति-मार्ग अथवा व्यक्तकी उपासनारूपी विद्या इन सब गुह्य विद्याओमें श्रेष्ठ अथवा राजा है, इसके अतिरिक्त यह धर्म आंखोंसे प्रत्यक्ष दीख पडनेवाला और इसीसे आचरण करनेमें सुलभ है। तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओकी परपरासेही इस योगका प्रचार हुआ है (गीता ४ २), इसलिये इस मार्गको राजाओ अर्थात् बडे आदमियोकी विद्या – राजविद्या – कह सकेंगे। कोईभी अर्थ क्यो न ले, प्रकट है कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्मके ज्ञानको लक्ष्य करके यह वर्णन नही किया गया है, किंतु राजविद्या शब्दसे यहाँपर भक्ति-मार्गही विवक्षित है। इस प्रकार आरभमेंही इस मार्गकी प्रशसाकर भगवान् अव विस्तारसे उसका वर्णन करते हैं –]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूपसे इस समग्र जगतको फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सव भूत है, (परतु) मैं उनमें नही हूँ। (५) और मुझमें सव भूतभी नही है ! देखो, (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है ! भूतोको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा, भूतोका धारण करकेभी (फिर) भूतोंमें नही है ! (६) सर्वत्र वहनेवाला महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाशमें रहता है उसी प्रकार सव भूतोको मुझमें समझ।

[यह विरोधाभास इसलिये होता है, कि परमेश्वर निर्गुण है और सगुणभी है (सातवे अध्यायके १२ वे श्लोककी टिप्पणी, और गीतारहस्य प्र ९, पृ. २०६, २०९, २१० देखो)। इस प्रकार अपने स्वरूपका आश्चर्यकारक वर्णन

§§ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

[करके अर्जुनकी जिज्ञासाको जागृतकर चुकनेपर अब भगवान् फिर कुछ फेरफारसे वही वर्णन प्रसंगानुसार करते हैं, कि जो सातवे और आठवे अध्यायमें पहले किया जा चुका है – अर्थात् मुझसे व्यक्त-सृष्टि किस प्रकार होती है और मेरे व्यक्त रूप कौन-से हैं (गीता ७ ४–१८, ८ १७–२०)। 'योग' शब्दका अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य या युक्ति किया जाय, तथापि स्मरण रहे, कि अव्यक्तसे व्यक्त होनेके इस योग अथवा युक्तिकोही माया कहते हैं । इस विषयका प्रतिपादन गीता ७ २५ की टिप्पणीमें और रहस्यके नवे प्रकरणमें (पृ २३८–२४१) हो चुका है। परमेश्वरको यह 'योग' अत्यंत सुलभ है, कदाचित् यह परमेश्वरका दासही है, इसलिये परमेश्वरको योगेश्वर (गीता १८ ७५) कहते हैं । अब बतलाते हैं, कि इस योगसामर्थ्यसे जगतकी उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं –]

(७) हे कौन्तेय ! कल्पके अंतमे सब भूत मेरी प्रकृतिमे आ मिलते हैं, और कल्पके आरंभमें (अर्थात् ब्रह्माके दिनके आरंभमे) उनको मैंही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृतिको हाथमें लेकर, (अपने अपने कर्मोसे बँधे हुए) भूतके इस समस्त समुदायको पुन पुन निर्माण करता हूँ, कि जो (उस) प्रकृतिके जोरमें रहनेसे अवश अर्थात् परतंत्र है। (९) (परंतु) हे धनंजय ! इस (सृष्टि-निर्माण करनेके) काममें मेरी आसक्ति नहीं है, मैं उदासीनसा रहता हूँ, इस कारण मुझे वे कर्म बंधक नहीं होते । (१०) मैं अध्यक्ष होकर प्रकृतिसे सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौन्तेय ! इस कारण जगतका यह बनना – बिगडना हुआ करता है।

[पिछले अध्यायमें बतला चुके हैं, कि ब्रह्मदेवके दिनका (कल्पका) आरंभ होतेही अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त-सृष्टि बनने लगती है (गी ८ १८)। यहाँ इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, कि परमेश्वर प्रत्येकके कर्मानुसार

§ § अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

§ § महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

| उसे भला-बुरा जन्म देता है, अतएव वह स्वय इन कर्मोसे अलिप्त है। शास्त्रीय प्रतिपादनमे ये सभी तत्त्व एकही स्थानमें बतला दिये जाते, परतु गीताकी पद्धति सवादात्मक है, इस कारण प्रसगके अनुसार एकही विषय, थोडा-सा यहाँ और थोडा-सा वहाँ, इस प्रकार वर्णित है। कुछ लोगोकी दलील है, कि दसवे श्लोकके 'जगद्विपरिवर्तते' पद विवर्तवादको सूचित करते है। परतु " जगतका बननाविगडना हुआ करता है " अर्थात् " व्यक्तका अव्यक्त और फिर अव्यक्तका व्यक्त होता रहता है, " हम नही समझते, कि इसकी अपेक्षा 'विपरिवर्तते' पदका कुछ अधिक अर्थ हो सकता है, और शाकरभाष्यमेंभी कोई विशेष अर्थ नही बतलाया गया है। गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें विवेचन किया गया है, कि मनुष्य कर्मसे अवश कैसे होता है –]

(११) मूढ लोग मेरे उस परम स्वरूपको नही जानते, कि जो सब भूतोका महान् ईश्वर है। मनुष्यकी देह धारण करनेसे (वे मुझ) मानव-तनुधारी समझ कर, मेरी अवहेलना करते है। (१२) उनकी आशाएँ व्यर्थ, कर्म फिजूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट है और वे मोहात्मक राक्षसी तथा आसुरी स्वभावका आश्रय किये रहते है।

| यह आसुरी पुरुषका वर्णन है। अब दैवी स्वभावका वर्णन करते हैं –]

(१३) परतु हे पार्थ ! दैवी प्रकृतिका आश्रय करनेवाले महात्मा लोग सब भूतोंके अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान कर अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, (१४) और यत्नशील, दृढव्रत एव नित्य योगयुक्त होकर सदा मेरा कीर्तनकर और वदना करते हुए भक्तिसे मेरी उपासना किया करते है। (१५) ऐसेही और

§§ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

कुछ लोग एकत्वसे अर्थात् अभेदभावसे, पृथक्त्वसे अर्थात् भेदभावसे, या अनेक भाँतिके ज्ञानयज्ञसे यजनकर सर्वतोमुख मेरी उपासना किया करते हैं।

[ससारमे पाये जानेवाले दैवी और राक्षसी स्वभावोके पुरुषोका यहाँ जो सक्षिप्त वर्णन है, उसका विस्तार आगे सोलहवे अध्यायमें किया गया है। पहले बतलाही चुके हैं, कि ज्ञान-यज्ञका अर्थ "परमेश्वरके स्वरुपका ज्ञानसेही आकलन करके, उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना है" (गीता ४ ३३ की टिप्पणी देखो)। किंतु परमेश्वरका यह ज्ञानभी द्वैत-अद्वैत आदि भेदोसे अनेक प्रकारका हो सकता है, इस कारण ज्ञानयज्ञभी भिन्न भिन्न प्रकारोसे हो सकते हैं इस प्रकार यद्यपि ज्ञानयज्ञ अनेक हो, तोभी पद्रहवे श्लोकका तात्पर्य यह है, कि परमेश्वरके विश्वतोमुख होनेके कारण ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्वसे', 'पृथक्त्व' आदि पदोसे प्रकट है, कि द्वैत-अद्वैतसे, विशिष्टाद्वैत आदि सप्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं, तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन हैं। इस श्लोकमें परमेश्वरका जो एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है, उसीका अब अधिक निरूपण कर बतलाते हैं, कि पृथक्त्वमे एकत्व क्या है –]

(१६) क्रतु अर्थात् श्रौतयज्ञ मै हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तयज्ञ मै हूँ, स्वधा अर्थात् श्राद्धमें पितरोको अर्पण किया हुआ अन्न मै हूँ, औषध अर्थात् वनस्पतिसे (यज्ञके अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मै हूँ, (यज्ञमें हवन करतेसमय पढे जानेवाले) मन्त्र मै हूँ, घृत, मै हूँ, अग्नि मै हूँ और (अग्निमें छोडी हुई) आहुति मैही हूँ।

[मूलमें क्रतु और यज्ञ, दोनो शब्द समानार्थकही हैं। परतु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्दका अर्थ आगे व्यापक हो गया और देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथि-सत्कार, प्राणायाम एव जप इत्यादि कर्मोकोभी 'यज्ञ'ही कहने लगे (गीता ४ २३–३०), उस प्रकार 'क्रतु' शब्दका अर्थ बढने नही पाया। श्रौत-धर्ममे अश्वमेध आदि जिन यज्ञोके लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका वही अर्थ आगेभी स्थिर रहा है। अतएव शाकरभाष्यमें कहा है, कि इस स्थलपर 'क्रतु' शब्दसे 'श्रौत', यज्ञ और 'यज्ञ' शब्दसे 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये, और ऊपर हमने यही अर्थ किया है। क्योकि ऐसा भेद न करें, तो 'क्रतु' और 'यज्ञ' शब्द समानार्थक होकर इस श्लोकमें उनकी अकारण द्विरुक्ति करनेका दोष लगता है।]

(१७) इस जगतका पिता, माता, धाता, '(आधार), पितामह (बाबा) मै हूँ, जो

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है, वह और ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेदभी मैं हूँ, (१८) (सबकी) गति, (सबका) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीजभी मैं हूँ। (१९) हे अर्जुन ! मैं उष्णता देता हूँ, मैं पानीको रोकता और बरसाता हूँ, अमृत और मृत्यु, (ऐसेही) सत् और असत्भी मैं हूँ।

[परमेश्वरके स्वरूपका ऐसाही वर्णन फिर विस्तारसहित १०, ११ और १२, अध्यायोंमे है। तथापि वहाँ केवल विभूति न बतलाकर यह विशेषता दिखलाई है, कि परमेश्वरका और जगतके भूतोका सबध माँ-बाप, मित्र इत्यादिके समान है, इन दो स्थानोके वर्णनोमे यही भेद है। ध्यान रहे, कि पानीको बरसाने और रोकनेमेंसे एक क्रिया चाहे हमारी दृष्टिसे फायदेकी और नुकसानकी हो, तथापि तात्त्विक दृष्टिसे दोनोको परमेश्वरही करता है। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवानने पहले (गीता ७ १२) कहा है, कि सात्त्विक, राजस और तामस, ये सब पदार्थ मैंही उत्पन्न करता हूँ, और आगे चौदहवे अध्यायमें इस बातका विस्तारसहित वर्णन किया है, कि गुणत्रय-विभागसे सृष्टिमें नानात्व कैसे उत्पन्न होता है। इस दृष्टिसे देखनेपर कैसे १९ वे श्लोकके सत् और असत् पदोका क्रमसे 'भला' और 'बुरा' कैसे अर्थ किया जा सकेगा, और आगे गीतामें (गीता १७ २६–२८) एक बार ऐसा अर्थ कियाभी गया है परतु जान पडता है, कि इन शब्दोके, सत् = अविनाशी और असत् = विनाशी या नाशवान्, ये जो सामान्य अर्थ है, (गीता २ १६), वेही इस स्थानमें अभीष्ट होगे, और 'मृत्यु और अमृत' के समान 'सत् और असत्' ये द्वद्वात्मक शब्द ऋग्वेदके नासदीय सूक्तसे सूझ पडे होगे। तथापि दोनोमें यह भेद है, कि नासदीय सूक्तमें 'सत्' शब्दका उपयोग दृश्यसृष्टिके लिये किया गया है और गीता 'सत्' शब्दका उपयोग परब्रह्मके लिये करती है, एव दृश्य-सृष्टिको असत् कहती है (गीतार प्र ९, पृ २४५–२४७)। किंतु इस प्रकार परिभाषाका यदि भेद हो, तोभी 'सत्' और 'असत्' इन दोनो शब्दोकी एक साथ योजनासे प्रकट हो जाता है, कि उनमे दृश्य-सृष्टि और परब्रह्म इन दोनोकाभी एकत्र समावेश होता है। अत उक्त वर्णनसे यह भावार्थभी निकाला जा सकेगा, कि पारिभाषाके भेद किसीकोभी 'सत्' और 'असत्' कहा जाय,

§ § त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

| किंतु यह दिखलानेके लिये, कि दोनो परमेश्वरकेही रूप है, भगवानने 'सत्' और 'असत्' शव्दोकी व्याख्या न देकर सिर्फ यह वर्णन कर दिया है, कि 'सत्' और 'असत्' मैही हूँ (गीता ११ ३७, १३ १२) । इस प्रकार यद्यपि परमेश्वरके रूप अनेक हो, तथापि अव वतलाते है, कि उनकी एकत्वसे उपासना करने और अनेकत्वसे उपासना करनेमें क्या भेद है –]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदोंके कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले अर्थात् सोमयाजी, तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञसे मेरी पूजा करके स्वर्गलोक-प्राप्तिकी इच्छा करते है, वे इद्रके पुण्यलोकमे पहुँचकर स्वर्गमें देवताओंके अनेक दिव्य भोग भोगते है । (२१) और उस विशाल स्वर्गलोकका उपभोग करके पुण्यका क्षय हो जानेपर, वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोकमें आते है । इस प्रकार त्रयी-धर्म अर्थात् तीनो वेदोके यज्ञयाग आदि श्रौत-धर्मके पालनेवाले और काम्य उपभोगकी इच्छा करनेवाले लोगोको (स्वर्गका) आवागमन प्राप्त होता है ।

| [यह सिद्धान्त पहले कई वार आ चुका है, कि यज्ञयाग आदि धर्मसे या नाना प्रकारके देवताओकी आराधनासे कुछ समयतक स्वर्गवास मिल जाय, तोभी पुण्याश चूक जानेपर फिर जन्म लेकरके भलोकमें आना पडता है (गीता २ ४२–४४, ४ ३४, ६ ४१, ७ २३, ८ १६, २५) । परतु मोक्षमें वह झझट नही है, वह नित्य है, अर्थात् एक वार परमेश्वरको पा लेनेपर फिर जन्म-मरणके चक्करमे नही आना पडता । महाभारतमे (वन २६०) स्वर्ग-सुखका जो वर्णन है, वहभी ऐसाही है । परतु यज्ञयाग आदिसेही पर्जन्य प्रभृतिकी उत्पत्ति होती है, अतएव शका होती है, कि उनको छोड देनेसे इस जगतका योगक्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा ? (गीता २ ४५ की टिप्पणी, गीतार प्र १०, पृ २९४) इसलिये अव ऊपरके श्लोकोसे मिला करही उसका उत्तर देते है –]

(२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिंतनकर मुझे भजते है, उन नित्य योगयुक्त पुरुषोका योगक्षेम मै किया करता हूँ ।

§§ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

[न मिली हुई वस्तुका मिलना योग है, और मिली हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम है, शाश्वतकोशमेंभी (श्लोक १००, २९२) योगक्षेमकी ऐसीही व्याख्या है, और उसका पूरा अर्थ 'सासारिक नित्य निर्वाह' है। गीतारहस्यके बारहवे प्रकरणमे (पृ ३८४–३८५) इसका विचार किया गया है, कि कर्मयोग-मार्गमें इस श्लोकका क्या अथ होता है, इसी प्रकार नारायणीय धर्ममेंभी (मभा शा ३४८ ७२) कहा है, कि –

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिण ।
तेषा विच्छिन्नतृष्णाना योगक्षेमवहो हरि. ॥

वहां यह वर्णन है, कि ये पुरुष एकान्तभक्त हो, तोभी प्रवृत्ति-मार्गके है, अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाले है। अब बतलाते है, कि परमेश्वरकी बहुत्वसे सेवा करनेवालोकी अतमें कौन गति होती है –]

(२३) हे कौन्तेय ! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओंके भक्त बन करके जो लोग यजन करते है, वेभी विधिपूर्वक न हो, तोभी (पर्यायसे) मेराही यजन करते हैं, (२४) क्योकि सब यज्ञोका भोक्ता और स्वामी मैंही हूँ। किंतु वे तत्त्वत मुझे नही जानते इसलिये वे गिर जाया करते हैं।

[गीतारहस्यके तेरहवे प्रकरणमें (पृ ४२२–४२६) यह विवेचन है, कि इन दोनो श्लोकोके सिद्धान्तका महत्त्व क्या है। वैदिक धर्ममें यह तत्त्व बहुत पुराने समयसे चला आ रहा है, कि कोईभी देवता हो, वह भगवानकाही एक स्वरूप है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेदमेंही कहा है, कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहु "। (ऋ १ १६४ ४६) – परमेश्वर एक है, परतु पडित लोग उसको अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहा करते है, और इसके अनुसारही आगेके अध्यायमें परमेश्वरके एक होनेपरभी उसकीही अनेक विभूतियोका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार महाभारतके अतर्गत नारायणीयोपाख्यानमें चार प्रकारके भक्तोमें कर्म करनेवाले एकातिक भक्तको श्रेष्ठ (गीता ७ १९ की टिप्पणी) बतलाकर कहा है –

ब्रह्माण शितिकण्ठ च याश्चान्या देवता स्मृता ।
प्रबुद्धचर्या सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

"ब्रह्माको, शिवको, अथवा अन्य देवताओंको भजनेवाले साधु पुरुषभी मुझमेंही आ मिलते हैं" (मभा शा ३४१ ३५), और गीताके उक्त श्लोकोंका अनुवाद भागवतपुराणमेंभी किया गया है (भाग १०, पू ४० ८–१०)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यानमें आगे फिर कहा है –

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्याश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।

"देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृतिकी सेवा करनेवाले पर्यायसे विष्णुकाही यजन करते हैं" (मभा शा ३४५ २६, २७)। इस प्रकार भागवत धर्मके स्पष्ट कहनेपरभी, कि भक्तिको मुख्य मानो। देवतारूप प्रतीक गौण है, अथवा यद्यपि विधिभेद हो, तथापि उपासना तो एकही परमेश्वरकी होती है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है, कि भागवत धर्मवालेभी शैवोंसे झगडा किया करें! अब बतलाते हैं, कि यद्यपि यह सिद्धान्त सत्य है, कि किसीभी देवताकी उपासना क्यो न करें, पर वह पहुँचती है, भगवानकोही, तथापि यह ज्ञान न होनेसे, कि सभी देवता एकही हैं, मोक्षकी राह छूट जाती है, और भिन्न भिन्न देवताओंके उपासकोंको उनकी भावनाके अनुसार भगवानही भिन्न भिन्न फल देते हैं –]

(२५) देवताओंका व्रत करनेवाले देवताओंके पास, पितरोंका व्रत करनेवाले पितरोंके पास, (भिन्न-भिन्न) भूतोंको पूजनेवाले (उन) भूतोंके पास जाते हैं, और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[साराश, यद्यपि एकही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है, तथापि उपासनाका फल प्रत्येकके भावके अनुरूप न्यूनाधिक योग्यताका मिला करता है। फिरभी इस पूर्व-कथनको भूल न जाना चाहिये, कि फल-दानका कार्यभी देवता नही करते, परमेश्वरही करता है, (गीता ७ २०–२३)। ऊपर २४ वे श्लोकमें भगवानने यह कहा है, कि "सब यज्ञोंका भोक्ता मैंही हूँ", उसका तात्पर्य यही है। महाभारतमेंभी कहा है –

यस्मिन् यस्मिश्च विषये योयो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

"जो पुरुष जिस भावमें निश्चय रखता है, वह उस भावके अनुरूपही फल पाता है" (शा ३५२ ३), और यह श्रुतिभी है "य यथा यथोपासते तदेव

§§ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

§§ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

| भवति " (गीता ८ ६ की टिप्पणी देखो) नानात्वने अर्थात् अनेक देवताओंकी
| उपासना करनेवालोंको जो फल मिलता है, उसे पहले चरणमें वतलाकर दूसरे
| चरणमें यह अर्थ वर्णन किया है, कि अनन्यभावसे भगवानकी भक्ति करनेवालो-
| कोही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है। अब भक्ति-मार्गका यह महत्त्वका तत्त्व
| वतलाते हैं, कि भगवान् इस ओर न देखकर कि मेरा भक्त, मुझे क्या समर्पण
| करता है ? केवल उसके भावकीही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति स्वीकार
| करते हैं –]

(२६) जो मुझे भक्तिसे एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोडासा जलभी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुषकी भक्तिकी उस भेंटको मैं (आनंदसे) ग्रहण करता हूँ।

| [कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २ ४९) – कर्मयोगके इस तत्त्व
| केही भक्ति-मार्गके रूपांतरका वर्णन उक्त श्लोकमें है (गीतार प्र १५, पृ
| ४७५–४७७)। इस विषयमें सुदामाके तंदुलोंकी कथा प्रसिद्ध है, और यह
| श्लोक भागवत-पुराणके सुदामा-चरित्रके उपाख्यानमेंही आया है (भाग १०
| उ ८१ ४)। इसमें संदेह नही, कि पूजाके द्रव्य अथवा समग्रीका न्यूनाधिक
| होना सर्वथा और सर्वदा मनुष्यके वसकी वात नही होती। इसीसे शास्त्रमें
| कहा है, कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजा-द्रव्यसेही नही, प्रत्युत शुद्ध
| भावसे समर्पण किये गये मानसिक पूजा-द्रव्योंसेभी भगवान् संतुष्ट हो जाते हैं।
| देवता है भावका भूखा, न कि पूजाकी सामग्रीका। मीमांसक-मार्गकी अपेक्षा
| भक्ति-मार्गमें जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यज्ञयाग करनेके लिये वहुत-सी
| सामग्री जुटानी पडती है और उद्योगभी वहुत करना पडता है, परंतु भक्ति-यज्ञ
| एक तुलसीदलसेभी हो जाता है। महाभारतमें कथा है, कि जव दुर्वासा ऋषि
| घरपर आये, तव द्रौपदीने इसी प्रकारके यज्ञसे भगवानको संतुष्ट किया था।
| भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुनको उसी प्रकार करनेका
| उपदेश देकर अव वतलाते हैं, कि उससे क्या फल मिलता है –]

(२७) हे कौंतेय ! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, जो होम-हवन करता है, जो दान करता है, (और) जो तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण किया

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

§§ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

कर। (२८) इस प्रकार वर्तनेसे (कर्म करकेभी) कर्मोंके शुभ-अशुभ फलरूप वधनोसे तू मुक्त रहेगा, और (कर्मफलोंके) सन्यास करनेके इस योगसे युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अत करण हो कर मुक्त हो जायगा, एव मुझमें मिल जायगा।

[इससे प्रकट होता है, कि भगवद्भक्तभी कृष्णार्पण-वुद्धिसे समस्त कर्म करे, उन्हे छोड न दे, और इस दृष्टिसे ये दोनो श्लोक महत्त्वके हैं। " ब्रह्मार्पण ब्रह्म हवि "(गीता ४ २४) यह ज्ञान-यज्ञका तत्त्वही अव भक्तिकी परिभाषाके अनुसार २७ वे श्लोकमे वतलाया है (गीतार प्र १३, पृ ४३२, ४३३)। तीसरेही अध्यायमें अर्जुनसे कह दिया है, कि " मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यास " (गीता ३ ३०) – मुझमें सव कर्मोका सन्यास करके – युद्ध कर, और पाँचवे अध्यायमें फिर कहा है, कि " ब्रह्ममें कर्मोंको अर्पण करके सगरहित कर्म करनेवालेको कर्मका लेप नही लगता ' (५ १०)। गीताके मतानुसार यही यथार्थ सन्यास है (गीता १८ २), और इस प्रकार अर्थात् कर्मफलाशा छोडकर (सन्यस्य) सव कर्मोको करनेवाला पुरुषही 'नित्यसन्यासी' है (गीता ५ ३), कर्मत्यागरूप सन्यास गीताको समत नही है। पीछे अनेक स्थलोपर कह चुके हैं, कि इस रीतिसे किये हुए कर्म मोक्षके लिये प्रतिबधक नही होते (गीता २ ६४, ३ १९, ४ २३, ५ १२, ६ १, ८ ७), और इस २८ वे श्लोकमें उसी वातको फिर कहा है। भागवत-पुराणमेंही नृसिहरूपी भगवानने प्रल्हादको यह उपदेश किया है कि " मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्पर "– मुझमें चित्त लगाकर सव काम किया कर (भाग ७ १० २३), और आगे एकादश स्कन्धमें भक्तियोगका यह तत्त्व वतलाया है, कि भगवद्भक्त सव कर्मोको नारायणार्पण कर दे (भाग ११ २ २६, ११ ११ २४)। इस अध्यायके आरभमें वर्णन किया है, कि भक्तिका मार्ग सुखकारक और सुलभ है। अव उसके समत्वरूपी दूसरे वडे और विशेष गुणका वर्णन करते हैं –]

(२९) मैं सव भूतोको एक-सा हूँ। न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है, और न (कोई) प्यारा। भक्तिसे जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें है, और मैंभी उनमे हूँ। (३०) वडा दुराचारीही क्यो न हो, यदि वह मुझे अनन्यभावसे भजता है,

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

तो उसे साधुही समझना चाहिये । क्योंकि उसकी बुद्धिका निश्चय अच्छी तरह हुआ है। (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। हे कौंतेय ! तू भली भाँति समझे रह, कि मेरा भक्त (कभीभी) नष्ट नही होता।

[तीसवे श्लोकका भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये, कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हो, तोभी वे भगवानको प्यारेही रहते है । भगवान् इतनाही कहते है, कि पहले कोई मनुष्य दुराचारीभी रहा हो, परतु जब एक बार उसकी बुद्धि निश्चयसे परमेश्वराभिमुखका भजन करनेमें हो जाती है, तब आगे उसके हाथसे कोईभी दुष्कर्म नही हो सकता, और फिर वह धीरे धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है, तथा अतमें इस सिद्धिसे उसके पापका बिलकुल नाश हो जाता है। साराश, छठे अध्यायमें (६ ४४) जो यह सिद्धान्त किया है, कि कर्मयोगके जाननेकी सिर्फ इच्छा होनेसेही कोल्हूमें अवश होकर मनुष्य शब्द-ब्रह्मसे परे चला जाता है, अब उसेही भक्ति-मार्गके लिये लागू कर दिखलाया है । अब इस बातकोही अधिक स्पष्ट करते है, कि परमेश्वर सब भूतोको एक-सा कैसे है –]

(३२) क्योकि, हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके स्त्रियां, वैश्य और शूद्र, (अथवा) अन्त्यज आदि जो पापयोनि हो, वेभी परम गति पाते है। (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणोकी, मेरे भक्तोकी, और राजर्षियो, (क्षत्रियो)की बात क्या कहनी है ? तू इस अनित्य और असुख अर्थात् दु खकारक मृत्युलोकमें है, इस कारण मेरा भजन कर।

[३२ वे श्लोकके 'पापयोनि' शब्दको स्वतत्र न मानकर कुछ टीकाकार कहते है, कि वह स्त्रियो, वैश्यो और शूद्रोकोभी लागू है, क्योकि पहले कुछ-न-कुछ पाप किये बिना कोईभी स्त्री, वैश्य या शूद्रका जन्म नही पाता । उनके मतमें पापयोनि शब्द साधारण है और ये स्त्री, वैश्य तथा शूद्र उसके भेद उदाहरणार्थ दिये गये है । परतु हमारी रायमें यह अर्थ ठीक नही है । आजकल राजदरबारमें जिन्हे ' गुन्हेगार जाति ' कहते है, पापयोनि शब्दसे उस प्रकारका अर्थ विवक्षित है । इस श्लोकका सिद्धान्त यह है, कि उस जातिके लोगोकोभी भगवद्भक्तिसे

§§ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्भगवत्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमो ध्याय ॥ ९ ॥

सिद्धि मिलती है। स्त्री, वैश्य और शूद्र इस वर्गके नही है, उन्हे मोक्ष मिलनेमें इतनीही बाधा है, कि वे वेद सुननेके अधिकारी नही है। इसीसे भागवत-पुराणमे कहा है, कि –

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढाना श्रेय एव भवेदिह।
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम् ॥

"स्त्रियो, शूद्रो अथवा कलियुगके नामधारी ब्राह्मणोके कानोमें वेद नही पहुँचते, इस कारण उन्हे मर्खतामे बचनेके लिये व्यासमुनिने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थही महाभारतकी – अर्थात् गीताकीभी – रचना की" (भाग १ ४ २५)। भगवद्गीताके उक्त श्लोक कुछ पाठभेदसे अनुगीतामेंभी पाये जाते है (मभा अश्व १९ ६१, ६२)। जातिका, वर्णका, स्त्री-पुरुष आदिका अथवा काले-गोरे रग प्रभृतिका कोईभी भेद न रखकर सबको एकही सद्गति देनेवाले भगवद्भक्तिके इस राजमार्गका ठीक ठीक बडप्पन इस देशकी – और विशेषत महाराष्ट्की – सतमडलीके इतिहाससे किसीकोभी ज्ञात हो सकेगा। उल्लिखित श्लोकका अधिक स्पष्टीकरण गीतारहस्यके प्र १३, पृ ४३८–४४२ मे किया है। इस प्रकारके धर्मका आचरण करनेके विषयमे ३३ वे श्लोकके उत्तरार्धमें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, अगले श्लोकमेंभी वही प्रचलित है।]

(३४) मुझमें मन लगाकर, मेरा भक्त हो, मेरा यजन-पूजन कर और मुझे नमस्कार कर, इस प्रकार मत्परायण होकर, योगका अभ्यास करनेसे मुझेही पावेगा।

[वास्तवमें इस उपदेशका आरभ ३३ वे श्लोकमेही हो गया है। ३३ वे श्लोकमे 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्रके इस सिद्धान्तके अनुसार आया है, कि प्रकृतिका फैलाव अथवा नामरूपात्मक दृश्य-सृष्टि अनित्य है और एक परमात्माही नित्य है, और 'असुख' पदसे इस सिद्धान्तका अनुवाद किया गया है कि इस ससारमें सुखकी अपेक्षा दु ख अधिक है। तथापि यह वर्णन अध्यात्मका नही है, भक्ति-मार्गका है। अतएव भगवानने परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्दका प्रयोग न करके "मुझे भज, मुझमें मन लगा, मुझे नमस्कार कर", ऐसे व्यक्त-स्वरूपके दर्शनेवाले प्रथम पुरुषका निर्देश किया है। भगवानका अतिम कथन है,

| कि हे अर्जुन ! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग अर्थात् कर्म-
| योगका अभ्यास करता रहेगा, (गीता ७ १) तो तू कर्मबंधनसे मुक्त हो करके
| नि सदेह मुझे पा लेगा। इसी उपदेशकी पुनरावृत्ति ग्यारहवे अध्यायके अंतमें की
| गई है। समस्त गीताका रहस्यभी यही है। भेद इतनाही है, कि इस रहस्यको
| एक वार अध्यात्म-दृष्टिसे और एक वार भक्ति-दृष्टिसे वतला दिया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके सवादमें, राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ।

दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

§§ बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

दसवाँ अध्याय

[पिछले अध्यायमे कर्मयोगकी सिद्धिके लिये परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपकी उपासनाका जो राजमार्ग बतलाया गया है, उसीका वर्णन इस अध्यायमे हो रहा है, और अर्जुनके पूछनेपर, अतमें परमेश्वरके अनेक व्यक्त रूपो अथवा विभूतियोका, अतमें वर्णन किया गया है। इस वर्णनको सुनकर अर्जुनके मनमे भगवानके प्रत्यक्ष स्वरूपको देखनेकी इच्छा हुई, अत ११ वे अध्यायमें भगवानने उसे विश्वरूप दिखलाकर कृतार्थ किया है।]

श्रीभगवानने कहा – (१) हे महाबाहु ! (मेरे भाषणसे) सतुष्ट होनेवाले तुझसे, अब तेरे हितार्थ मैं फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ, उसे सुन। (२) देवताओंके गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्तिको नही जानते, क्योंकि देवताओ और महर्षिओका सब प्रकारसे मैंही आदिकरण (हूँ)। (३) जो जानता है, कि मैं (पृथ्वी आदि सब) लोगोंका बडा ईश्वर हूँ और मेरे जन्म तथा आदि नही है, मनुष्योमें वही मोहविरहित हो कर सब पापोसे मुक्त होता है।

[ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमे यह विचार पाया जाता है, कि भगवान् या परब्रह्म देवताओंसेभी पहलेका है, देवता पीछेसे हुए (गीतार प्र ९, पृ २५६)। इस प्रकार प्रस्तावना हो गई। अब भगवान् इसका निरूपण करते हैं, कि मैं सबका महेश्वर कैसे हूँ :–]

(४) बुद्धि, ज्ञान, असमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय,

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

(५) अहिंसा, समता, तुष्टि (संतोष), तप, दान, यश, अयशके आदि अनेक प्रकारके प्राणिमात्रके भाव मुझसेही उत्पन्न होते हैं।

['भाव' शब्दका अर्थ है 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्य-शास्त्रमें उनका ' बुद्धिके भाव ' एवं ' शारीरिक भाव ' ऐसा भेद किया गया है। सांख्यशास्त्री पुरुषको अकर्ता और बुद्धिको प्रकृतिका एक विकार मानते हैं, इस-लिये वे कहते हैं, कि लिंग-शरीरको पशु-पक्षी आदिके भिन्न भिन्न जन्म मिलनेका कारण लिंग-शरीरमें रहनेवाली बुद्धिकी विभिन्न अवस्थाएँ अथवा भावही हैं (गीतार प्र ८, पृ १८९, सा का ४०–५५), और ऊपरके दो श्लोकोंमें उन्ही भावोका वर्णन है। परंतु वेदान्तियोका सिद्धान्त है, कि प्रकृति और पुरुषसेभी परे परमात्मारूपी एक नित्य तत्त्व है और नासदीय सूक्तके वर्णनानुसार उसीके मनमे सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा उत्पन्न होकर आगेपर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है, इस कारण वेदान्तशास्त्रमेंभी कहा है, कि सृष्टिके मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्मके मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो), तप, दान और यज्ञ आदि शब्दोसे तन्निष्ठक बुद्धिके भावही उद्दिष्ट हैं। भगवान् और कहते हैं, कि –]

(६) सात महर्षि, पहलेके चार, और मनु, ये मेरेही मानस अर्थात् मनसे निर्माण किये हुए भाव हैं, कि जिनसे (इस) लोकमें यह प्रजा हुई है।

[यद्यपि इस श्लोकके शब्द सरल हैं, तथापि जिन पौराणिक पुरुषोंको उद्देश्य करके यह श्लोक कहा गया है, उनके संबधमें टीकाकारोमें बहुतही मतभेद है। विशेषत अनेकोंने इसका निर्णय कई प्रकारसे किया है, कि 'पहलेके' (पूर्व) और 'चार' (चत्वार) पदोका अन्वय किन पदोसे लगाना चाहिये। सात महर्षि प्रसिद्ध हैं, परंतु ब्रह्माके एक कल्पमें चौदह मन्वंतर (गीतार प्र ८, पृ १९४) होते है और प्रत्येक मन्वंतरके मनु, देवता एवं सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं (हरिवंश १, ७, विष्णु ३ १, मत्स्य ९)। इसीसे 'पहलेके' शब्दको सात महर्षियोका विशेषण मान कई लोगोंने ऐसा अर्थ किया है, कि आजकलके, अर्थात् वैवस्वत मन्वंतरसे पहलेके, चाक्षुष मन्वंतरवाले सप्तर्षि यहाँ विवक्षित है। भृगु आदि इन सप्तर्षियोंके नाम हैं – भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु। किंतु हमारे मतमें यह अर्थ ठीक नही है। क्योंकि, आजकलके अर्थात् वैवस्वत अथवा जिस मन्वन्तरमें गीता कही गई, उससे, पहलेके मन्वंतर-

वाले सप्तर्षि यहाँ बतलानेकी कोई आवश्यकता नही है, अत वर्तमान मन्वतर-केही सप्तर्षि लेने चाहिये। महाभारतके शातिपर्वके नारायणीयोपाख्यानमे इनके ये नाम हैं – मरीचि, अगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ (मभा शा ३३५ २८, २९, ३४० ६४, ६५), और हमारे मतसे येही यहाँपर विवक्षित हैं। क्योकि गीतामें नारायणीय अथवा भागवत धर्मही विधिसहित प्रतिपाद्य है (गीतार पृ ८–९)। तथापि यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि मरीचि आदि सप्तर्षियोके उक्त नाम कही कही अगिरसके बदले भृगुसे दिये हुए पाये जाते है, और कुछ स्थानोपर तो ऐसा वर्णन है, कि कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जगदग्नि और वसिष्ठ वर्तमान युगके सप्तर्षि है (विष्णु ३ १ ३२, ३३, मत्स्य ९ २७, २८, मभा अनु ९३ २१)। मरीचि आदि ऊपर लिखे हुए सात ऋषियोमेंही भृगु और दक्षको मिलाकर विष्णु-पुराणमें (विष्णु १ ७ ५, ६) नौ मानसपुत्रोका और इन्होमे फिर नारदकोभी जोड कर मनुस्मृतिमे ब्रह्मदेवके दस मानसपुत्रोका वर्णन है (मनु १ ३४, ३५), और इस मरीचि आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति भारतमे की गई है (मभा अनु ८५)। परतु हमे अभी इतनाही देखना है, कि सात महर्षि कौन कौन है, इस कारण इन नौ-दस मानसपुत्रोका अथवा इनके नामोकी व्युत्पत्तिका यहाँ विचार करनेकी आवश्यकता नही है। प्रकट है कि, 'पहलेके' इस पदका अर्थ 'पूर्व मन्वन्तरके सात महर्षि' लगा नहीं सकते। अब देखना है, कि 'पहलेके चार' इन शब्दोको मनुका विशेषण मानकर कई एकोंने जो अर्थ किया है, वह कहाँ तक युक्तिसगत है? कुल चौदह मन्वतर है और इनके चौदह मनु हैं, उनमें सात-सातके दो वर्ग हैं। पहले सातोके नाम स्वायभुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत हैं, तथा ये स्वायभुव आदि मनु कहे जाते है (मनु १ ६२, ६३)। इनमेंसे छ मनु हो चुके और आजकल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त होनेपर आगे सात मनु आवेगे (भाग ८ १३ ७), उनको सावर्णि मनु कहते है, उनके नाम है – सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, दैवसावर्णि और इद्रसावर्णि (विष्णु ३ २, भाग ८ १३, हरिवश १ ७)। इस प्रकार प्रत्येक मनुके सात सात होनेपर इस बातका कोई कारण नही बतलाया जा सकता, कि किसीभी वर्गके 'पहलेके' अर्थात् पहले 'चार'ही गीतामें क्यो विवक्षित हो? ब्रह्माड-पुराणमें (४ १) कथा है, कि सावर्णि मनुओमेंसे पहले मनुको छोडकर अगले चार अर्थात् – दक्ष–, ब्रह्म–, धर्म– और रुद्रसावर्णि एकही समयमें उत्पन्न हुए, और इसी आधारसे कुछ लोग कहते है, कि, ये चार सावर्णि मनुही गीतामे विवक्षित है। किंतु इस-पर दूसरा आक्षेप यह है, कि ये सब सावर्णि मनु भविष्यमें होनेवाले है, इस कारण "जिनसे इस लोकमें यह प्रजा हुई" यह भूतकालदर्शक अगला वाक्य भावी

सावर्णि मनुओको लागू नही हो सकता। इसी प्रकार 'पहलेके चार' शब्दोका सबध 'मनु' पदसे जोड देना ठीक नही है। अतएव कहना पडता है, कि 'पहलेके चार' ये दोनो शब्द स्वतन्त्र रीतिसे प्राचीन कालके किन्ही चार ऋषियो अथवा पुरुषोका बोध कराते है। और ऐसा मान लेनेसे यह प्रश्न सहजही होता है, कि ये पहलेके चार ऋषि या पुरुष कौन है? जिन टीकाकारोने इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया है, उनके मतमें सनक, सनद, सनातन और सनत्कुमार (भाग ३ १२ ४) येही वे चार ऋषि है। किंतु इस अर्थपर आक्षेप यह है, कि यद्यपि ये चारो ऋषि ब्रह्माके मानसपुत्र है, तथापि ये सभी जन्मसेही सन्यासी होनेके कारण प्रजावृद्धि नही करते थे, इससे ब्रह्मा इनपर क्रुद्ध हो गये थे (भाग ३ १२, विष्णु १ ७)। अर्थात् जिनसे इस लोकमें यह प्रजा हुई" – "येपा लोक इमा प्रजा" यह वाक्य इन चार ऋषियोको बिलकुलही उपयुक्त नही होता। इसके अतिरिक्त पुराणोमें यद्यपि यह वर्णन है, कि ये ऋषि चार थे, तथापि भारतके नारायणीय अर्थात् भागवत धर्ममें कहा है, कि इन चारोमें सन, कपिल और सनत्सुजातको मिला लेनेसे जो सात ऋषि होते हैं, वे सातो ब्रह्माके मानस-पुत्र है और पहलेसेही वे निवृत्ति-धर्मके थे (मभा शा ३४० ६७, ६८)। इस प्रकार सनक आदि ऋषियोको सात मान लेनेसे कोई कारण नही दीख पडता, कि उनमेंसे चारही यहाँ क्यो लिये जायँ। फिर 'पहलेके चार' हैं कौन? हमारे मतमें इस प्रश्नका उत्तर नारायणीय अथवा भावगत धर्मकी पौराणिक कथाओसेही दिया जाना चाहिये। क्योकि यह निर्विवाद है, कि गीतामें भागवत धर्महीका प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखे, कि भागवत धर्ममें सृष्टिकी उत्पत्तिकी कल्पना किस प्रकारकी थी, तो पता लगेगा, कि मरीचि आदि सात ऋषियोके पहले वासुदेव (आत्मा), सकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), और अनिरुद्ध (अहकार) ये चार मूर्तियां उत्पन्न हो गई थी, और कहा है, कि आगे इनमेंसे पिछले अनिरुद्धसे अर्थात् ब्रह्मदेवसे मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (मभा शा ३३९ ३४–४०, ६०–७२, ३४० २७–३१)। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्ही चार मूर्तियोको 'चतुर्व्यूह' कहते है और भागवत धर्मके एक पथका मत है, कि ये चारो मूर्तियां स्वतन्त्र थी, तथा दूसरे कुछ लोग इनमेंसे तीन अथवा दोकोही प्रधान मानते है। किंतु भगवद्गीताको ये कल्पनाएँ मान्य नहीं है, और हमने गीतारहस्य प्र ८, पृ १९६ और परि ५३९–५४० में दिखलाया है, कि गीता एकव्यूह-पथकी है, अर्थात् एकही परमेश्वरसे चतुर्व्यूह आदि सब कुछकी उत्पत्ति मानती है। अत व्यूहात्मक वासुदेव आदि मूर्तियोको स्वतत्र न मानकर इस श्लोकमें दर्शाया है, कि ये चारो व्यूह एकही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेवके (गीता ७ १९) 'भाव' है। इस दृष्टिसे देखनेपर विदित होगा, कि भागवत धर्मके अनुसार 'पहलेके चार' इन शब्दोका उपयोग वासुदेव

§§ एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

आदि चतुर्व्यूहके लिये किया गया है, कि जो सप्तर्षियोंके पूर्व उत्पन्न हुए थे। भारतमेंही लिखा है, कि भागवत धर्मके चतुर्व्यूह आदि भेद पहलेसेही प्रचलित थे (मभा शां ३४८. ५७)। यह कल्पना कुछ हमारीही नई नहीं है। सारांश, भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यानके अनुसार हमने इस श्लोकका अर्थ यों लगाया है – 'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि, 'पहलेके चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह, और 'मनु' अर्थात् जो उस समयसे पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिला कर स्वायंभुव आदि सात मनु। अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार आदि चार मूर्तियोंको परमेश्वरके पुत्र माननेकी कल्पना भारतके अन्य स्थानोंमेंभी पाई जाती है (मभा शां ३११. ७, ८)। परमेश्वरके भावोंका वर्णन हो चुका, अब बतलाते हैं, कि इन्हें जानकर उपासना करनेसे क्या फल मिलता है –]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तारको, और योग अर्थात् इस विस्तार करनेकी युक्ति या सामर्थ्यके तत्त्वको जानता है, उसे निस्सन्देह स्थिर (कर्म-)योग प्राप्त होता है। (८) यह जानकर, कि मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ, और मुझसे सब वस्तुओंकी प्रवृत्ति होती है, ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते रहते हैं। (९) (वे) मुझमें मन जमाकर और प्राणोंको लगाकर, परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथाएँ कहते हुए, (उसीमें) सदा सन्तुष्ट और रममाण रहते हैं। (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधानसे रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको मैं ही ऐसी (समत्व-)बुद्धिका योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेवें। (११) और उनपर अनुग्रह करनेके लियेही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरणमें पैठकर तेजस्वी ज्ञानदीपसे (उनके मनके) अज्ञानमूलक अंधकारका नाश करता हूँ।

अर्जुन उवाच।

§§ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

[सातवे अध्यायमें कहा है, कि भिन्न भिन्न देवताओकी श्रद्धाभी परमेश्वरही देता है (७ २१)। उसी प्रकार अब ऊपरके दसवे श्लोकमेंभी वर्णन है, कि भक्ति-मार्गमें लगे हुए मनुष्यकी समत्व-बुद्धिको उन्नत करनेका कामभी परमेश्वरही करता है, और पहले (गीता ६ ४४) यह जो वर्णन आया है, कि जब मनुष्यके मनमें एक वार कर्मयोगकी जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब कोल्हूमें धरे हुएके समान वह आप-ही-आप पूर्ण सिद्धिकी ओर खीचा चला जाता है, उसके साथ भक्ति-मार्गका यह सिद्धान्त समानार्थक है। ज्ञानकी दृष्टिसे अर्थात् कर्मविपाक-प्रक्रियाके अनुसार कहा जाता है, कि यह कर्तृत्व आत्माकी स्वतन्त्रतासे मिलता है। पर आत्माभी तो परमेश्वरही है, इस कारण भक्ति-मार्गमें ऐसा वर्णन हुआ करता है कि ये फल अथवा बुद्धि परमेश्वरही प्रत्येक मनुष्यके पूर्व-कर्मोके अनुसार देता है (गीता ७ २०, गीतार प्र १३, पृ ४२८)। इस प्रकार भगवानके भक्ति-मार्गका तत्त्व बतला चुकने पर –]

अर्जुनने कहा – (१२–१३) तुमही परम ब्रह्म, श्रेष्ट स्थान और परम पवित्र वस्तु (हो), सब ऋषि, ऐसेही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यासभी तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्म, सर्वविभु अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं, और स्वयं तुमभी मुझसे वही कहते हो। (१४) हे केशव! तुम मुझसे यह जो कहते हो, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! तुम्हारी व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओंको विदित नहीं और दानवोको विदित नहीं। (१५) सब भूतोंके उत्पन्न करनेवाले हे भूतेश! हे देवदेव जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयंही अपने आपको जानते हो। (१६) अत तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं,

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

जिन विभूतियोंसे इन सब लोकोको तुम व्याप्तकर रहे हो, उन्हें आप-ही (कृपा कर) मुझे पूर्णतासे बतलावे। (१७) हे योगिन्! (मुझे यह बतलाइये, कि) सदा तुम्हारा चिंतन करता हुआ मैं तुम्हे कैसे पहचानूं, और हे भगवन्! मैं किन किन पदार्थोंमें तुम्हारा चिंतन करूँ? (१८) हे जनार्दन! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तारसे बतलाओ, क्योकि अमृततुल्य (तुम्हारे इस भाषणको) सुनते सुनते मेरी तृप्ति नही होती।

[विभूति और योग, ये दोनो शब्द इसी अध्यायके सातवे श्लोकमें आये हैं। और यहाँ अर्जुनने उन्हीको दुहरा दिया है। 'योग' शब्दका अर्थ पहले (गीता ७ २५) दिया जा चुका है, उसे देखो। भगवानकी विभूतियोको अर्जुन इसलिये नही पूछता, कि भिन्न भिन्न विभूतियोका ध्यान देवता समझ कर किया जावे, किंतु सत्रहवे श्लोकके इस कथनको स्मरण रखना चाहिये, कि उक्त विभूतियोमें सर्वव्यापी परमेश्वरकीही भावना रखनेके लिये पूछता है। क्योकि भगवान् यह पहलेही बतला चुके हैं (गीता ७ २०–२५, ९ २२–२८), कि एकही परमेश्वरको सब स्थानोमें विद्यमान जानना एक बात है, और परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न विभूतियोको भिन्न-भिन्न देवता मानना दूसरी बात है, इन दोनोमें भक्ति-मार्गकी दृष्टिसे महान् अंतर है।]

श्रीभगवानने कहा – (१९) अच्छा, तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियोंमेंसे तुम्हे मुख्य मुख्य बतलाता हूँ, क्योकि मेरे विस्तारका अंत नही है।

[इस विभूति-वर्णनके समानही महाभारतके अनुशासनपर्वमें (अनु १४ ३११–३३१) और अनुगीतामें (अश्व ४३, ४४) परमेश्वरके रूपका वर्णन है। परंतु गीताका वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है, इस कारण उसीकी पुनरुक्ति और स्थलोमेंभी मिलती है। उदाहरणार्थ, भागवत-पुराणके एकादश स्कंधके सोलहवे अध्यायमें इसी प्रकारका विभूति-वर्णन भगवानने उद्धवको

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

| समझाया है, और वही (भाग ११ १६ ६–८) प्रारभमें कह दिया है, कि यह
| वर्णन गीताके इस अध्यायवाले वर्णनके अनुसार है।]

(२०) हे गुडाकेश ! सब भूतोंके भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, और (सब) भूतोका आदि, मध्य और अतभी मैं हूँ। (२१) (बारह) आदित्योंमेंसे विष्णु मैं हूँ, तेजस्वियोमें किरणमाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतोमें मरीचि और नक्षत्रोमें चद्रमा मैं हूँ। (२२) मैं वेदोमें सामवेद हूँ, देवताओमें इद्र हूँ, और इद्रियोमें मन हूँ, भूतोमें चेतना अर्थात् प्राणकी चलन-शक्ति मैं हूँ।

| [यहाँ वर्णन है, कि मैं वेदोमें सामवेद हूँ, अर्थात् सामवेद मुख्य है, ठीक
| ऐसाही महाभारतके अनुशासनपर्वमेंभी (१४ ३१७) "सामवेदश्च वेदाना
| यजुषा शतरुद्रियम्" कहा है। पर अनुगीतामें "ॐकार सर्ववेदाना०" (अश्व
| ४४ ६) इस प्रकार सब वेदोमें ॐकारकोही श्रेष्ठता दी है, तथा गीतामेंभी
| (गीता ७ ८) पहले "प्रणव सर्ववेदेषु" कहा है। ऐसेही गीता ९.१७ के
| "ऋक्सामयजुरेव च" इस वाक्यमें सामवेदकी अपेक्षा ऋग्वेदको अग्रस्थान
| दिया गया है और साधारण लोगोकी समझभी ऐसीही है। इन परस्पर-विरोधी
| वर्णनोपर कुछ लोगोंने अपनी कल्पनाओको खूब सरपट दौडाया है। छादोग्य
| उपनिषदमें ॐकारहीका नाम 'उद्गीथ' है, और लिखा है, कि यह उद्गीथ साम-
| वेदका सार है और सामवेद ऋग्वेदका सार है" (छा १ १ २)। इस विषयके
| भिन्न भिन्न उक्त विधानोका मेल छादोग्यके इस वाक्यसे, सब वेदोमें कौन वेद
| श्रेष्ठ है, हो सकता है। क्योकि सामवेदके मत्रभी मूल ऋग्वेदसेही लिये गये हैं।
| पर इतनेसे सतुष्ट न हो कर कुछ लोग कहते हैं, कि गीतामें सामवेदको यहाँ पर
| जो प्रधानता दी गयी है, उसका कुछ-न-कुछ गूढ कारण होना चाहिये। यद्यपि
| छादोग्य उपनिषदमें सामवेदको प्रधानता दी है, तथापि मनुने कहा है, कि
| "सामवेदकी ध्वनि अशुचि है" (मनु ४ १२४)। अत एकने अनुमान किया
| है, कि सामवेदको प्रधानता देनेवाली गीता मनुसे पहलेकी होगी, और दूसरा
| कहता है, कि गीता बनानेवाला सामवेदी होगा, इसीसे उसने यहाँपर सामवेदको
| प्रधानता दी होगी। परतु हमारी समझमें 'मैं वेदोमें सामवेद हूँ' इसकी

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उपपत्ति लगानेके लिये इतनी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति-मार्गमें परमेश्वरकी गानयुक्त स्तुतिको सदैव प्रधानता दी जाती है। उदाहरणार्थ नारायणीय धर्ममें नारदने भगवानका वर्णन किया है, कि "वेदेषु सपुराणेषु सांगोपांगेषु गीयसे" (मभा शां ३३८ २३), और वसु राजा ''जप्यं जगौ" – जप्य गाता था (शां ३३७ २७,, ३४२ ७०, ८१) – इस प्रकार 'गै' धातुकाही प्रयोग फिर किया गया है। अतएव भक्ति-प्रधान धर्ममें, यज्ञयाग आदि क्रियात्मक वेदोंकी अपेक्षा, गान-प्रधान वेद अर्थात् सामवेदको अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं, और "मैं वेदोंमें सामवेद हूँ" इस कथनका हमारे मतमें सीधा और सहज कारण यही है।]

(२३) (ग्यारह) रुद्रोंमें शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ, (आठ) वसुओंमें पावक मैं हूँ, (और सात) पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ। (२४) हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य, बृहस्पति मुझको समझ। मैं सेनानायकोंमें स्कन्द (कार्तिकेय), और जलाशयोंमें समुद्र हूँ। (२५) महर्षियोंमें भृगु हूँ, वाणीमें एकाक्षर अर्थात् ॐकार मैं हूँ। यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूँ; स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थोंमें हिमालय मैं हूँ।

['यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूँ' यह वाक्य महत्त्वका है। अनुगीतामें (मभा अश्व ४४ ८) कहा है, कि "यज्ञानां हुतमुत्तमम्" अर्थात् यज्ञोंमें (अग्निमें) हवि समर्पण करके सिद्ध होनेवाला यज्ञ उत्तम है, और वैदिक कर्मकांडवालोंका यही मत है। पर भक्ति-मार्गमें हविर्यज्ञकी अपेक्षा नाम-यज्ञ या जप-यज्ञका विशेष महत्त्व है, इसीसे गीतामें "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" कहा है। मनुनेभी एक स्थानपर (मनु २ ८७) कहा है, कि "और कुछ करे या न करे, केवल जपसेही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" भागवतमें "यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं" पाठ है।]

(२६) मैं सब वृक्षोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपल, और देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ, गन्धर्वोंमें

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

चित्ररथ, और सिद्धोमें कपिल मुनि हूँ। (२७) घोडोमें, अमृतमथनके समय निकला हुआ, उच्चैःश्रवा मुझे समझ। मैं गजेंद्रोमें ऐरावत, और मनुष्योमें राजा हूँ। (२८) मैं आयुधोमें वज्र, गौओमें कामधेनु, और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम हूँ, सर्पोमें वासुकि मैं हूँ। (२९) नागोमे अनत मैं हूँ, यादस् अर्थात् जलचर प्राणियोमें वरुण, और पितरोमें अर्यमा मैं हूँ, मैं नियमन करनेवालोमें यम हूँ।

[वासुकि = सर्पोका राजा और अनत = 'शेष' ये अर्थ निश्चित हैं, और अमरकोश तथा महाभारतमेंभी ये अर्थ दिये गये हैं (सभा आदि ३५-३९ ३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नही बतलाया जा सकता, कि नाग और सर्पमें क्या भेद है। महाभारतके अस्ति उपाख्यानमें इन शब्दोका प्रयोग समानार्थकही है। तथापि जान पडता है, कि यहाँपर सर्प और नाग शब्दोसे सर्पके साधारण वर्गकी दो भिन्न-भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधर-टीकामे सर्पको विषैला और नागको विषहीन कहा है, एव रामानुज-भाष्यमें सर्पको एक सिरवाला और नागको अनेक सिरोवाला कहा है। परतु ये दोनो भेद ठीक नही जँचते। क्योकि कुछ स्थलोपर नागोंकेही प्रमुख कुल बतलाते हुए उनमें अनत और वासुकिको पहले गिनाया है, और वर्णन किया है, कि दोनोभी अनेक सिरोवाले एव विषधर हैं, किंतु अनत है अग्निवर्णका और वासुकि है पीला। भागवतका पाठ गीताके समानही है।]

(३०) दैत्योमें प्रल्हाद मैं हूँ, मैं ग्रसनेवालोमें काल, पशुओमे मृगेन्द्र अर्थात् सिंह, और पक्षियोमें गरुड हूँ। (३१) मैं वेगवानोमें वायु हूँ, मैं शस्त्रधारियोमे राम, मछलियोमें मगर, और नदियोमें भागीरथी हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

(३२) हे अर्जुन ! सृष्टिमात्रका आदि, अन्त और मध्यभी मैं हूँ, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या, और वाद करनेवालोका वाद मैं हूँ।

[पीछे २० वे श्लोकमें बतला दिया है, कि सचेतन भूतोका आदि, मध्य और अंत मैं हूँ, तथा अब कहते है, कि सब चराचर सृष्टिका आदि, मध्य और अंत मैं हूँ, यही भेद है।]

(३३) मैं अक्षरोमें अकार, और समासोमें (उभयपदप्रधान) द्वंद्व हूँ, (निमेष, मुहूर्त आदि) अक्षय काल मैंही हूँ और सर्वतोमुख अर्थात् चारो ओरसे मुखोवाला धाता याने ब्रह्मा मैं हूँ, (३४) सबको क्षय करनेवाली मृत्यु, और आगे जन्म लेनेवालोका उत्पत्तिस्थान मैं हूँ, स्त्रियोमें कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, तथा क्षमा मैं हूँ।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दोंसेही देवियाँ, विवक्षित है। महाभारतमें (आदि ६६ १३, १४) वर्णन है, कि इनमेंसे वाणी और क्षमाको छोड शेष पाँच और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) दोनो मिलकर कुल दशो दक्षकी कन्याएँ है, और धर्मके साथ व्याही जानेके कारण उन्हे धर्मपत्नी कहते है।]

(३५) साम अर्थात् गानेके योग्य वैदिक स्तोत्रोमें बृहत्साम, (और) छदोमें गायत्री छद मैं हूँ, महीनोमें मार्गशीर्ष और ऋतुओमें वसत मैं हूँ।

[महीनोमें मार्गशीर्षको प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है, कि उन दिनोमें बारह महीनोको मार्गशीर्षसेही गिननेकी रीति थी। जैसे कि आजकल चैत्रसे है (मभा अनु १०६, १०९, एव वाल्मीकिरामायण ३ १६)। भागवत ११ १६ २७ मेंभी ऐसाही उल्लेख है। हमने अपने 'ओरायन' ग्रथमें लिखा है, कि मृगशीर्ष नक्षत्रको अग्रहायणी अथवा वर्षारभका नक्षत्र कहते थे, जब मृगादि नक्षत्रगणनाका प्रचार था, तब मृगनक्षत्रको प्रथम अग्रस्थान मिला।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
§ § यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय ॥ १० ॥

| और उसीसे आगे मार्गशीर्ष महीनेकोभी श्रेष्ठता मिली होगी। इस विषयको
| यहाँ विस्तारके भयसे अधिक वढाना उचित नही है।]

(३६) मैं छलियोका द्यूत हूँ, तेजस्वियोका तेज, (विजयशाली पुरुषोकी) विजय, (निश्चयी पुरुषोका) निश्चय और, सत्त्वशीलोका सत्त्व मैं हूँ। (३७) मैं यादवोमें वासुदेव, पाडवोमें धनजय, मुनियोमें व्यास, और कवियोमें शुक्राचार्य कवि हूँ। (३८) मैं शासन करनेवालोका दड, जयकी इच्छा करनेवालोकी नीति, और गुह्योमें मौनभी हूँ। ज्ञानियोका ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन ! सब भूतोका जो कुछ बीज है, वह मैं हूँ, ऐसा कोई चर-अचर भूत नही है, जो मुझे छोडे हो। (४०) हे परतप ! मेरी दिव्य विभूतियोका अत नही है। विभूतियोका यह विस्तार मैंने (केवल) दिग्दर्शनार्थ बतलाया है।

| [इस प्रकार मुख्य मुख्य विभूतियाँ बतलाकर, अब इस प्रकरणका
| उपसहार करते हैं –]

(४१) जो जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी, या प्रभावसे युक्त है, उसको तू मेरे तेजके अशसे उपजी हुई समझ। (४२) अथवा हे अर्जुन ! तुझे इस फैलावको

जानकर करना क्या है? (संक्षेपमें बतलाये देता हूँ, कि) मैं अपने एक (ही) अंशसे इस सारे जगतको व्याप्त कर रहा हूँ।

[अंतका श्लोक पुरुषसूक्तकी इस ऋचाके आधारपर कहा गया है – "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ १० ९० ३), और यह मंत्र छांदोग्य उपनिषदमेंभी (छां ३, १२ ६) है। 'अंश' शब्दके अर्थका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके नवे प्रकरणके अंतमें (पृ २४७, २४८) किया गया है। प्रकट है, कि जब भगवान् अपने एकही अंशसे इस जगतमें व्याप्त हो गये हैं, तब इसकी अपेक्षा भगवानकी पूरी महिमा बहुतही अधिक होगी, और उसे बतलानेके हेतुसेही अंतिम श्लोक कहा गया है। पुरुषसूक्तमें तो स्पष्टही कह दिया है, कि "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुष " इतनी इसकी वह महिमा हुई, पुरुष तो इसकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग अर्थात् कर्मयोगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

[जब पिछले अध्यायमें भगवानने अपनी विभूतियोका वर्णन किया, तब उसे सुनकर अर्जुनको परमेश्वरका वह विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई। भगवानने उसे जिस विश्वरूपका दर्शन कराया, उसका वर्णन इस अध्यायमें है। यह वर्णन इतना सरस है, कि गीताके उत्तम भागोमें इसकी गिनती होती है और अन्यान्य गीताओकी रचना करनेवालोंने इसीका अनुकरण किया है। अर्जुन प्रथम पूछता है, कि –]

अर्जुनने कहा –(१) मुझपर अनुग्रह करनेके लिये तुमने अध्यात्मसज्ञक जो परम गुप्त बात बतलायी, उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (२) इसी प्रकार हे कमलपत्राक्ष! भूतोकी उत्पत्ति, लय और, (तुम्हारा) अक्षय माहात्म्यभी मैंने तुमसे विस्तारसहित सुन लिया। (३) अब, हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे उस प्रकारके ईश्वरी स्वरूपको (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। (४) हे प्रभो! यदि तुम समझते हो, कि उस प्रकारका रूप मैं देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ!

| [सातवे अध्यायमें ज्ञानविज्ञानके निरूपण आरभकर सातवे और आठवेमें | परमेश्वरके अक्षर अथवा अव्यक्त रूपका, तथा नवे एव दसवेमें अनेक व्यक्त | रूपोका जो ज्ञान बतलाया है, उसेही अर्जुनने पहले श्लोकमें 'अध्यात्म' कहा | है। एक अव्यक्तसे अनेक व्यक्त पदार्थोके निर्मित होनेका जो वर्णन सातवे | (७ ४–१५), आठवे (८ १६–२१), और नवे (९ ४–८) अध्यायोमें

श्रीभगवानुवाच ।

§§ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

है, वही "भूतोकी उत्पत्ति और लय" इन शब्दोसे दूसरे श्लोकमें अभिप्रेत है। तीसरे श्लोकके दोनो अर्धांशोको दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानकर कुछ लोग उनका ऐसा अर्थ करते है, कि "हे परमेश्वर ! तुमने अपना जैसा (स्वरूप-वर्णन किया, वह सत्य है (अर्थात् मैं समझ गया), अब हे पुरुषोत्तम !" मैं तुम्हारे ईश्वरी स्वरूपको देखना चाहता हूँ।" (गीता १० १४)। परतु दोनो पक्तियोको मिलाकर एकही वाक्य मानना ठीक जान पडता है, और परमार्थप्रपा टीकामे ऐसा कियाभी गया है। चौथे श्लोकमे जो 'योगेश्वर' शब्द है, उसका अर्थ (योगियोका नही) ईश्वर है (१८ ७५)। योगका अर्थ (गीता ७ २५, ९ ५) अव्यक्त रूपसे व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेको सामर्थ्य अथवा युक्ति पहले की जा चुकी है, अब उस सामर्थ्यसेही विश्वरूप दिखलाना है, इस कारण यहाँ 'योगेश्वर' सबोधनका प्रयोग सहेतुक है।]

श्रीभगवानने कहा – (५) हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकारके, अनेक रगोंके और आकारोंके (इन) सैकडो अथवा हजारो दिव्य रूपोको देख। (६) ये देख, (बारह) आदित्य, (आठ), वसु, (ग्यारह) रुद्र, (दो) अश्विनीकुमार और (उनचास) मरुद्गण ! हे भारत ! ये अनेक आश्चर्य देख, कि जो पहले कभी न देखे होंगे।

[नारायणीय धर्ममें नारदको जो विश्वरूप दिखलाया गया है, उसमे यह विशेष वर्णन है, कि बाई ओर बारह आदित्य, सन्मुख आठ वसु, दाहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शा ३३९ ५०–५२)। परतु यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित नही दिखाई देता (सभा उ १३०)। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण ये वैदिक देवता है, और महाभारतमें (शा २०८ २३, २४) देवताओके चातुर्वर्ण्यका भेद यो बतलाया है, कि इनमेंसे आदित्य क्षत्रिय है, मरुद्गण वैश्य है, और अश्विनीकुमार रुद्र है, शतपथब्राह्मण १४ ४ २ २३)।]

(७) हे गुडाकेश ! मेरी (इस) देहमें सब चर-अचर जगतको आज यहाँपर

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

§ § एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

एकत्रित देख ले, और दूसराभी जो कुछ तुझ देखनेकी लालसा हो, उसेभी उसमें देख ले ।

(८) परतु तू अपनी इसी दृष्टिसे मुझे देख न सकेगा, तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हू, (उससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात् योगसामर्थ्यको देख ।

सजयने कहा –(९) हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कह करके फिर योगोंके बडे ईश्वर हरिने अर्जुनको (अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् उस विश्वरूपके अनेक मुख और नेत्र थे और उसमें अनेक अद्‌भुत दृश्य दीख पडते थे, (और) उसपर अनेक प्रकारके दिव्य अलकार थे और उसमें नाना प्रकारके दिव्य आयुध सज्जित थे। (११) उस अनत, सर्वतोमुख और सब आश्चर्योंसे भरे हुए देवताके दिव्य सुगधित उवटन लगा हुआ था, और वह दिव्य पुष्प एव वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाशमें एक हजार सूर्योंकी प्रभा एकसाथ हो, तो वह उस महात्माकी कांतिके समान (कुछ कुछ) दीख पडे ! (१३) तब अर्जुनको देवधिदेवके इस शरीरमें नाना प्रकारसे बँटा हुआ सारा जगत् एकत्रित दिखाई दिया। (१४) फिर आश्चर्यसे चकित होकर उसके शरीरपर रोमाच खडे हो

अर्जुन उवाच ।

§§ पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

आये, और मस्तक नमाकर नमस्कार करके एव हाथ जोडकर उस अर्जुनने देवतासे कहा –

अर्जुनने कहा – (१५) हे देव ! तुम्हारी इस देहमें सब देवताओको और नाना प्रकारके प्राणियोंके समुदायोको, ऐसेही कमलासनपर बैठे हुए (सब देवताओंके) स्वामी ब्रह्मदेवको, सब ऋषियोको, और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पोंकोभी मैं देख रहा हूँ। (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी, अनतरूपी तुम्हीको मैं चारो आर देखता हूँ, परतु हे विश्वेश्वर विश्वरूप ! तुम्हाग न तो अत, न मध्य या न आदिभी मुझे (कही) दीख पडता है। (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, चारो ओर प्रभा फैलाये हुए, तेज पुज, दमकते हुए अग्नि और सूर्यके समान देदीप्यमान्, आंखोंसे देखनेमेंभी अशक्य और अपरपार (भरे हुए) तुम्ही मुझें जहाँ-तहाँ दीख पडते हो। (१८) तुम्ही अतिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्ही इस विश्वके अतिम आधार, तुम्ही अव्यय और तुम्ही शाश्वत धर्मके रक्षक हो, और मुझे सनातन पुरुष तुम्ही जान पडते हो। (१९) मैं देख रहा हूँ, कि जिसके न आदि है, न मध्य या न अत, अनत जिसके बाहु है, चद्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनत शक्तिमान् तुमही अपने तेजसे इस समस्त जगतको तपा रहे हो। (२०) क्योकि आकाश और

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४

पृथ्वीके बीचका यह (सब) अतर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हीने व्याप्तकर डाली है, और हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूपको देखकर त्रैलोक्य (डरसे) व्यथित हो रहा है। (२१) यह देखो, देवताओके ये समूह तुममे प्रवेश कर रहे है, (और) कुछ भयसे हाथ जोडकर प्रार्थना कर रहे हैं, (एव) 'स्वस्ति, स्वस्ति' कहकर महर्षियो और सिद्धोंके समुदाय अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे तुम्हारी स्तुति कर रहे है। (२२) (ऐसेही) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनो) अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपा अर्थात् पितर, और गधर्व, यक्ष, राक्षस, एव सिद्धोके झुडके झुड सर्वत्र विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहे है।

[श्राद्धमें पितरोको जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभीतक ग्रहण करते है, जब तक कि वह गरमागरम रहे, इसीसे उनको 'उष्मपा' कहते हैं (मनु ३ २३७)। मनुस्मृतिमें (३, ९४–२००) इन्ही पितरोंके सोमसद् अग्निष्वात्त, वर्हिषद्, सोमपा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकलिन् ये सात प्रकारके गण बतलाये है। आदित्य आदि देवता वैदिक है (ऊपरका छठा श्लोक देखो)। बृहदारण्यक उपनिषदमें (३ ९ २) यह वर्णन है, कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इद्र तथा प्रजापतिको मिलाकर ३३ देवता होते है, और महाभारतके आदिपर्व अ ६५ एव ६६में तथा शातिपर्व अ २०८मे उनके नाम और उत्पत्ति बतला गयी है।]

(२३) हे महाबाहु! तुम्हारे इस विराट् अनेक मुखोंके, अनेक आँखोंके, अनेक भुजाओके, अनेक जघाओके, अनेक पैरोके, अनेक उदरोंके, और अनेक डाढोंके कारण विकराल दिखनेवाले रूपको देखकर सब लोगोको और मुझेभी भय हो रहा है। (२४) आकाशसे भिडे हुए, प्रकाशमान्, अनेक रगोके, जबडे फैलाये हुए, और बडे चमकीले नेत्रोसे युक्त तुमको देखकर अतरात्मा घबडा गया है, इससे हे

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥ २७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

विष्णो! मेरा धीरज छूट गया और शातिभी जाती रही! (२५) और यह अवस्था हुई है, कि डाढोंसे विकराल तथा प्रत्ययकालीन अग्नीके समान तुम्हारे (इन) मुखोको देखतेही मुझे दिशाएँ नही सूझती, और समाधानभी नही होता। हे जगन्निवास, देवाधिदेव!! प्रसन्न हो जाओ (२६) यह देखो, राजाओंके झुडासमेत धृतराष्ट्रके सब पुत्त, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी ओरकेभी मुख्य मुख्य योद्धाओके साथ, (२७) तुम्हारी विकराल डाढोवाले इन अनेक भयकर मुखोमे धडाधड घुस रहे हैं, और कुछ लोग तो दाँतोमें दवकर ऐसे दिखाई दे रहे हैं, कि उनकी खोपडियाँ चूर हुई हैं। (२८) तुम्हारे अनेक प्रज्वलित मुखोंमें मनुष्यलोकके ये वीर वैंदेही घुस रहे हैं, जैसे कि नदियोंके बडे बडे प्रवाह समुद्रकीही ओर चले जाते है। (२९) जलती हुई अग्निमें मरनेके लिये पतग जिस प्रकार वडे वेगसे कूदते हैं, वैसेही तुम्हारेभी अनेक जवडोमें मरनेके लिये (ये) लोग वडे वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। (३०) हे विष्णो! चारो ओरसे सव लोगोको अपने प्रज्वलित मुखोसे निगलकर तुम जीभें चाट रहे हो! और तुम्हारी उग्र प्रभाएँ तेजसे समूचे जगतको व्याप्तकर (चारो ओर) चमक रही है। (३१) मुझे वतलाओ, कि इस उग्र रूपको धारण करनेवाले तुम कौन हो? हे देव देवश्रेठ! तुम्हे नमस्कार करता

श्रीभगवानुवाच ।

§§ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति वर्से येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

संजय उवाच ।

§§ एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

हूँ ! प्रसन्न हो जाओ ! मैं जानना चाहता हूँ, कि तुम आदि पुरुष कौन हो ? क्योकि मै तुम्हारी इस करनीको (बिलकुल) नही जानता ।

श्रीभगवानने कहा — (३२) मै लोकोका क्षय करनेवाला और बढा हुआ 'काल' हूँ, लोगोका सहार करने यहाँ आया हूँ । तू न हो, तोभी, अर्थात् तू कुछ करे, तोभी, सेनाओमें खडे हुए ये सब योद्धा नष्ट होनेवाले (मरनेवाले) हैं, (३३) अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर, और शत्रुओको जीत करके समृद्ध राज्यका उपभोग कर । मैने उन्हे पहलेही मार डाला है, (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन) ! तू केवल निमित्तके लिये (आगे) हो ! (३४) मै द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसेही अन्यान्य वीर योद्धाओको (पहलेही) मार चुका हूँ, उन्हे तू मार । घबडाना नही ! युद्ध कर ! युद्धमें तू शत्रुओको जीतेगा ।

[साराश, जब श्रीकृष्ण सधिके लिये गये थे, तब दुर्योधनको मेलकी कोईभी बात सुनते न देख भीष्मने श्रीकृष्णसे केवल शब्दोमें कहा था, कि 'कालपक्वमिद मन्ये सर्व क्षत्र जनार्दन' (मभा उ १२७ ३२) — ये सब क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं, उसी कथनका यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपसे अर्जुनको दिखला दिया है (ऊपरके २६–३१ श्लोक देखो) कर्म-विपाक-प्रक्रियाका यह सिद्धान्तभी ३३वे श्लोकमें आ गया है, कि दुष्ट मनुष्य अपने कर्मोसेही मरते हैं, उनको मारनेवाला तो सिर्फ निमित्त है, इसलिये मारनेवालेको उसका दोष नहीं लगता ।]

सजयने कहा — (३५) केशवके इस भाषणको सुनकर अर्जुन अत्यन्त भय-भीत हो गया, गला रुँधकर, काँपते हुए, हाथ जोड नमस्कार करके उसने श्रीकृष्णसे

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांक प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नम्र होकर फिर कहा – अर्जुनने कहा – (३६) हे हृषीकेश! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण-)कीर्तनसे प्रसन्न होता है, और (उसमें) अनुरक्त रहता है, राक्षस तुमसे डरकर (दशों) दिशाओंमें भाग जाते हैं, और सिद्ध पुरुषोंके संघ तुम्हींको नमस्कार करते हैं, यह (सब) उचितही है। (३७) हे महात्मन्! तुम ब्रह्मदेवकेभी आदिकारण और उससेभी श्रेष्ठ हो, तुम्हारी वंदना वे कैसे न करेंगे? हे अनन्त! हे देव देव! हे जगन्निवास! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनोंसे परे जो अक्षर है, वहभी तुम्हीं हो।

[गीता ७. २४, ८. २० या १५. १६ से दीख पड़ेगा, कि सत् और असत् शब्दोंके अर्थ यहांपर क्रमसे व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दोंके अर्थोंके समान हैं। सत् और असत्से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर ब्रह्म है, इसी कारण गीता १३. १२ में स्पष्ट वर्णन है, कि "मैं न तो सत् हूँ, और न असत्।" गीतामें 'अक्षर' शब्द कभी प्रकृतिकेलिये और कभी ब्रह्मके लिये उपयुक्त होता है। गीता ८. १९; १३. १२, और १५. १६ की टिप्पणी देखो।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम्हीं इस जगत्के परम आधार हो, तुम ज्ञाता और ज्ञेय, तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो, और हे अनन्तरूप! तुम्हींने (इस) विश्वको विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९) वायु, यम, अग्नि वरुण, चन्द्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा, और परदादाभी तुम्हीं हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है! और फिरसे तुम्हींको नमस्कार है!

[ब्रह्मासे मरीचि आदि सात मानसपुत्र उत्पन्न हुए और मरीचिसे कश्यप, तथा कश्यपसे सब प्रजा उत्पन्न हुई है (मभा आदि ६५. ११), इसलिये इन मरीचि आदिकोंही प्रजापति कहते हैं (शां ३४०. ६५)। इसीसे कोई कोई प्रजापति शब्दका अर्थ कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परन्तु यहाँ

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥४३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

| प्रजापति शब्द एकवचनान्त है, इस कारण प्रजापतिका अर्थ ब्रह्मदेवही अधिक
| ग्राह्य दीख पडता है । इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, मरीचि आदिके पिता अर्थात् सबके
| पितामह (दादा) हैं, अत आगेका 'प्रपितामह' (परदादा) पदभी आपही-
| आप प्रकट होता है और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है ।]

(४०) हे सर्वात्मक ! तुम्हे सामनेसे नमस्कार है, पीछेसे नमस्कार है और सभी ओरसे तुमको नमस्कार है । तुम्हारा वीर्य अनत है और तुम्हारा पराक्रम अतुल है । सबका समापन करनेवाले हो, इसलिये तुम्ही 'सर्व' हो ।

| [सामनेसे नमस्कार, पीछेसे नमस्कार, ये शब्द परमेश्वरकी सर्वव्यापकता
| दिखलाते हैं । उपनिषदोमें ब्रह्मका ऐसा वर्णन है, कि " ब्रह्मैवेद अमृत पुरस्तात्
| ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृत ब्रह्मैवेद विश्वमिद
| वरिष्ठम् " (मु २ २ २११, छा ७ २५), उसीके अनुसार भक्ति-मार्गकी यह
| नमनात्मक स्तुति है ।]

(४१) तुम्हारी इस महिमाको विना जाने, मित्र समझकर प्यारसे या भूलसे, 'अरे कृष्ण', 'ओ यादव' 'हे सखा' इत्यादि जो कुछ मैंने अनादरसे कह डाला हो, (४२) और हे अच्युत ! आहार-विहारमें अथवा सोने-बैठनेमें, अकेलेमे या दस मनुष्योके समक्ष, मैंने हँसी-दिल्लगीमे तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसकेलिये मैं तुम अप्रमेय अर्थात् अनतसे प्रार्थना करता हूँ, कि आप मुझे क्षमा करें । (४३) इस चराचर जगत्के पिता तुम्ही हो, तुम पूज्य हो, और गुरुकेभी गुरु हो ! त्रैलोक्यभरमे तुम्हारी बराबरीका कोई नही है । फिर हे अतुलप्रभाव ! अधिक कहाँसे होगा ? (४४) तुम स्तुत्य और समर्थ हो, इसलिये शरीर झुकाकर नमस्कार करके मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि 'प्रसन्न हो जाओ'। जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके, अथवा सखा अपने सखाके, अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव ! प्रेमी

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

आपको प्रियके अर्थात् अपने प्रेमपात्रके (अर्थात मेरे सब) अपराध क्षमा करने चाहिये।

[कुछ लोग "प्रिय प्रियायार्हसि" इन शब्दोंका "प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी प्रिय स्त्रीके' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु हमारे मतमें यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याकरणकी रीतिसे 'प्रियायार्हसि'के प्रियाया + अर्हसि अथवा प्रियायै + अर्हसि ऐसे पद नहीं किये जा सकते, और उपमाद्योतक 'इव' शब्दभी इस श्लोकमें दो बारही आया है। "अत प्रिय प्रियायार्हसि" को तीसरी उपमा न समझकर उपमेय माननाही अधिक प्रशस्त है। 'पुत्रके' (पुत्रस्य), 'सखाके' (सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षष्ठ्यन्त शब्दोंके समान आदि उपमेयमेंभी 'प्रियस्य' (प्रियके) यह षष्ठ्यन्त पद होता, तो बहुत अच्छा होता। परंतु अब 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्यायके अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिये। हमारी समझमे यह बात बिलकुल युक्तिसंगत नहीं दीख पडती, कि 'प्रियस्य' इस षष्ठ्यन्त पुंलिंग, पदके अभावमें, व्याकरणके विरुद्ध 'प्रियाया' यह षष्ठ्यन्त स्त्रीलिंगका पद किया जावे, और जब वह अर्जुनके लिये लागू न हो सके तब, 'इव' शब्दको अध्याहार मानकर प्रिय प्रियाया " – प्रेमी अपनी प्यारी स्त्रीके – ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे, और वहभी शृंगारिक अतएव अप्रासंगिक हो। इसके सिवा एक और बात है, कि पुत्रस्य सख्युः, प्रियाया, इन तीनों पदोंके उपमानमें चले जानेसे उपमेयमें षष्ठ्यन्त पद बिलकुलही नहीं रह जाता, और 'मे' अथवा 'मम' पदका फिरभी अध्याहार करना पडता है, एवं इतनी माथा-पच्ची करनेपर उपमान और उपमेयमें जैसे तैसे विभक्तिकी समता हो गई, तोभी दोनोंमें लिंगकी विषमताका नया दोष बनाही रहता है। दूसरे पक्षमे – अर्थात् प्रियाय + अर्हसि ऐसे व्याकरणकी रीतिसे शुद्ध और सरल पद किये जावे, तो उपमेयमें – जहाँ षष्ठी होनी चाहिये, वहाँ 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है, – बस, इतनाही दोष रहता है और यह दोषभी विशेष महत्त्वका नहीं है। क्योंकि षष्ठीका अर्थ यहाँ चतुर्थीका-सा है और अन्यत्रभी कई बार ऐसा होता है। परमार्थप्रपा टीकामें इस श्लोकका अर्थ वैसाही है, जैसा कि हमने किया है।]

(४५) कभी न देखे हुए रूपको देखकर मुझे हर्ष हुआ है और भयसे मेरा मन व्याकुलभी हो गया है। हे जगन्निवास, देवाधिदेव! प्रसन्न हो जाओ! और हे देव! अपना वह पहलेका स्वरूप दिखलाओ। (४६) मैं पहलेके समानही किरीट और गदा धारण

श्रीभगवानुवाच ।

§§ मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

करनेवाले, हाथमें चक्र लिये हुए तुमको देखना चाहता हूँ, (अतएव) हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति ! उसी चतुर्भुज रूपसे प्रकट हो जाओ ।

श्रीभगवानने कहा –(४७) हे अर्जुन ! (तुझपर) प्रसन्न होकर यह तेजोमय, अनत, आद्य, और परम विश्वरूप अपनी योग-सामर्थ्यसे मैंने तुझे दिखलाया है, इसे तेरे सिवा और किसीने पहले नही देखा है। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ ! मनुष्यलोकमे मेरा इस प्रकारका स्वरूप कोईभी वेदसे, यज्ञोंसे, स्वाध्यायसे, दानसे, कर्मोंसे, अथवा उग्र तपसे नही देख सकता, कि जिसे तू ने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूपको देखकर अपने चित्तमें व्यथा न होने दे, और मूढभी मत हो जा। डर छोडकर सतुष्ट मनसे मेरे उसी स्वरूपको फिर देख ले। सजयने कहा – (५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेवने अर्जुनको फिर अपना (पहलेका) स्वरूप दिखलाया, और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्माने डरे हुए अर्जुनको धीरज बँधाया ।

[गीताके द्वितीय अध्यायके ५ वे से ८ वे, २० वे, २२ वे, २९ वे और ७० वे श्लोक, आठवे अध्यायके ९ वे, १० वे, ११ वे और २८ वे श्लोक, नवे अध्यायके २० और २१ वे श्लोक, पन्द्रहवे अध्यायके २ रे से ५ वे और १५ वे श्लोकका छद विश्वरूपवर्णनके उक्त ३६ श्लोकोके छदके समानही है, अर्थात् इसके प्रत्येक चरणमे ग्यारह अक्षर है। परतु उनमें गणोका कोई एक नियम नही है, इससे कालिदास प्रभृतिके काव्योंके इद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी आदि छदोकी चाल पर ये श्लोक नही कहे जा सकते। अर्थात् यह वृत्तरचना आर्ष याने वेदसहिताके त्रिष्टुप् वृत्तके नमूनेपर की गई है, इस

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

§§ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

| कारण यह सिद्धान्त औरभी सुदृढ हो जाता है, कि गीता बहुत प्राचीन होगी ।
| गीतारहस्य परिशिष्ट प्रकरण पृ ५१७ देखो ।]

अर्जुनने कहा – (५१) हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य और मनुष्यदेहधारी रूपको देखकर अब मन ठिकाने आ गया और मैं पहलेकी भाँति सावधान हो गया हूँ ।

श्रीभगवानने कहा – (५२) मेरे जिस रूपको तूने देखा है, उसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है । देवताभी इस रूपको देखनेकी सदैव इच्छा किये रहते हैं । (५३) जैसा तूने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदोंसे, तपसे, दानसे, अथवा यज्ञसेभी (कोई) देख नही सकता । (५४) हे अर्जुन ! केवल अनन्यभक्तिसेही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और हे परतप ! मुझमें तत्त्वसे प्रवेश करना सभव है ।

| [भक्ति करनेसे परमेश्वरका पहले ज्ञान होता है, और फिर अतमें
| परमेश्वरके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है, यही सिद्धान्त पहले ४ ३
| श्लोकमें और आगे १८ ५५ श्लोकमें फिर आया है और उसका स्पष्टीक
| हमने गीतारहस्यके तेरहवे प्रकरणमें (पृ ४२८–४२९) किया है । अब अ
| पूरी गीताके अर्थका सार सक्षेपमें वतलाते है –]

(५५) हे पाडव ! जो इस वुद्धिसे कर्म करता है, कि सव कर्म

परमेश्वरके हैं, जो मत्परायण और संगविरहित है, और जो सब प्राणियोंके विषयमें निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है।

[उक्त श्लोकका आशय यह है, कि जगत्‌के सब व्यवहार भगवद्भक्तको परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करने चाहिये (ऊपर ३३ वाँ श्लोक देखो)। अर्थात् उसे सारे व्यवहार इस निरभिमान-बुद्धिसे करने चाहिये, कि जगत्‌के सभी कर्म परमेश्वरके हैं और सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है, किंतु हमें निमित्त बनाकर वह ये कर्म हमसे करवा रहा है, ऐसा करनेसे वे कर्म शांति अथवा मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक नही होते। शांकरभाष्यमेंभी यही कहा है, कि उक्त श्लोकमें पूरे गीताशास्त्रका तात्पर्य आ गया है। इससे प्रकट है, कि गीताका भक्ति-मार्ग यह नही कहता, कि आरामसे 'राम राम' जपा करो, प्रत्युत उसका कथन है, कि उत्कट भक्तिके साथ-ही-साथ उत्साहसे सब निष्काम कर्म करते रहो। संन्यासमार्गवाले कहते हैं, कि 'निर्वैर'का अर्थ निष्क्रिय है, परंतु वह अर्थ यहाँ विवक्षित नही है, इसी बातको प्रकट करनेके लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् "सब कर्मोंको परमेश्वरके (अपने नहीं) समझकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे उन्हे करनेवाला" विशेषण लगाया गया है। इस विषयका विस्तृत विचार गीता-रहस्यके बारहवे प्रकरणमें (पृ ३९४–४०१) किया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद्‌में, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अथवा कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

बारहवाँ अध्याय

[कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवे अध्यायमे ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरभ कर आठवेमें अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्मका स्वरूप वतलाया है, और फिर नवे अध्यायमे भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्गके निरूपणका प्रारभ करके दसवे और ग्यारहवेमें तदतर्गत 'विभूतिवर्णन' एव 'विश्वरूपदर्शन' इन दो उपाख्यानोका वर्णन किया है, और ग्यारहवे अध्यायके अतमें साररूपसे अर्जुनको उपदेश किया है, कि भक्तिसे एव नि.सग-बुद्धिसे समस्त कर्म करते रहो। अब इसपर अर्जुनका प्रश्न है, कि कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवे और आठवे अध्यायोमें क्षर-अक्षर-विचारपूर्वक परमेश्वरके अव्यक्त रूपकोही श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्तकी अथवा अक्षरकी उपासना (७ १९, २४, ८, २१) वतलाई है, और उपदेश किया है, कि युक्तचित्तसे युद्ध कर (८ ७), एव नवे अध्यायमे व्यक्त-उपासनारूप प्रत्यक्ष धर्म वतलाकर कहा है, कि परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सभी कर्म करने चाहिये (९ २७, ३४, ११ ५५), तो अव इन दोनोमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है, इस प्रश्नमें व्यक्तोपासनाका अर्थ भक्ति है। परतु यहाँ भक्तिसे भिन्न भिन्न अनेक उपास्योका अर्थ विवक्षित नही है, उपास्य अथवा प्रतीक कोईभी हो, उसमें एकही सर्वव्यापी परमेश्वरकी भावना रखकर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त उपासना है, और इस अध्यायमें वही उद्दिष्ट है।]

अर्जुनने कहा – (१) इस प्रकार सदा युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अक्षर अर्थात् ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उनमें उत्तम (कर्म-)योगवेत्ता कौन है ?

श्रीभगवानने कहा – (२) मुझमें मन लगाकर सदा युक्तचित्त हो करके, परम श्रद्धासे जो मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सबसे उत्तम युक्त अर्थात् योगी

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

हैं (३) परंतु जो अनिर्देश्य अर्थात् सबके मूलमें रहनेवाले अचल, प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिंत्य और कूटस्थ अर्थात् नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्मकी उपासना (४) सब इंद्रियोंको रोककर सर्वत्र सम-बुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतोंके हितमें निमग्न (लोगभी) मुझेही पाते हैं, (५) (तथापि) उनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त रहनेके कारण उनको अधिक क्लेश होते हैं। क्योंकि (व्यक्त देहधारी मनुष्योंको) अव्यक्त उपासनाका मार्ग कष्टसे सिद्ध होता है। (६) परंतु जो मुझमें सब कर्मोंका संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए अनन्य-योगसे मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं, (७) हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंका, मैं इस मृत्युमय संसार-सागरसे बिना विलंब किये, उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमेंही मन लगा, मुझमें बुद्धिको स्थिर कर। जिससे तू आगे निःसंदेह मुझमेंही निवास करेगा।

[इसमें भक्तिमार्गकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन है। दूसरे श्लोकमें पहले यह सिद्धान्त किया है, कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है, फिर तीसरे श्लोकमें पक्षांतर-बोधक 'तु' अव्ययका प्रयोग कर, उसमें और चौथे श्लोकमें कहा है, कि अव्यक्तकी उपासना करनेवालेभी मुझेही पाते हैं। परंतु इसके सत्य होनेपर-भी पाँचवें श्लोकमें यह बतलाया है, कि अव्यक्त-उपासकोंका मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है, छठे और सातवें श्लोकमें वर्णन किया है, कि अव्यक्तकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना सुलभ होती है, और अंतमें आठवें श्लोकमें उसके

§§ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

| अनुसार व्यवहार करनेका अर्जुनको उपदेश किया है। साराश, ग्यारहवे अध्या-
| यके अतमें (गीता ११ ५५) जो उपदेश कर चुके है, यहाँ अर्जुनके प्रश्न करनेपर
| उसीको दृढ कर दिया है। भक्ति-मार्गमें सुलभता क्या है ? — इसका विस्तारपूर्वक
| विचार गीतारहस्यके तेहरवे प्रकरणमें कर चुके है, इस कारण यहाँ हम उसकी
| पुनरुक्ति नही करते। इतनाही कह देते है, कि अव्यक्तकी उपासना कष्टमय
| होनेपरभी मोक्षदायकही है, और भक्ति-मार्गवालोको स्मरण रखना चाहिये,
| कि भक्ति-मार्गमेंभी कर्मोको न छोडकर उन्हेही ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना
| पडता है। और इसी हेतुसे छठे श्लोकमें ही सब कर्मोका सन्यास करके 'मुझमे
| ये शब्द रखे गये है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि भक्ति-मार्गमेंभी कर्मोको
| स्वरूपत न छोडे, किंतु परमेश्वरमें उन्हे, अर्थात् उनके फलोको, अर्पण कर दें।
| इससे प्रकट होता है, कि भगवानने इस अध्यायके अतमें जिस भक्तिमान्
| पुरुषको अपना प्यारा वतलाया है, उसेभी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोग-मार्ग-
| काही समझना चाहिये, स्वरूपत कर्म-सन्यासीको नही। इस प्रकार भक्ति-मार्गकी
| श्रेष्ठता और सुलभता वतला कर अव परमेश्वरकी ऐसी भक्ति करनेके उपाय
| अथवा साधन वतलाते हुए उनके तारतम्यकाभी अतमें स्पष्टीकरण करते है —]

(९) अव (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्तको स्थिर करते तुझसे न वन पडे, तो हे धनजय ! अभ्यासकी सहायतासे अर्थात् वार-वार प्रयत्न करके [illegible] प्राप्ति कर लेनेकी आशा रख। (१०) यदि अभ्यास करनेमेंभी तू असमर्थ हो, तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्तिके अर्थ (शास्त्रोमें वतलाये हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-पाठ आदि) कर्म करता जा, मदर्थ (ये) कर्म करनेसेभी तू सिद्धि पावेगा। (११) परतु यदि इसके करनेमभी तू असमर्थ हो, तो मद्योग अर्थात् मदर्पणपूर्वक योग, याने कर्मयोगका आश्रय करके यतात्मा होकर अर्थात् धीरे धीरे चित्तको रोकता हुआ, (अतमें) सव कर्मोके फलोका त्याग कर दे। (१२) [illegible] अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान

अधिक अच्छा है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानकी योग्यता अधिक है, ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग (श्रेष्ठ है) और (इस कर्मफलके) त्यागसे तुरन्तही शांति (प्राप्त होती है) है।

[कर्मयोगकी दृष्टिसे ये श्लोक अत्यंत महत्त्वके हैं। इन श्लोकोंमें भक्ति-युक्त कर्मयोगके सिद्ध होनेके लिये अभ्यास, ज्ञान-भजन आदि साधन बतलाकर, उनके और अन्य साधनोंके तारतम्यका विचार करके अंतमें – अर्थात् १२ वे श्लोकमें – कर्मफलके त्यागकी, अर्थात् निष्काम कर्मयोगकी, श्रेष्ठता वर्णित है। निष्काम कर्मयोगकी श्रेष्ठताका वर्णन कुछ यही नही है, किंतु तीसरे (३ ८), पाँचवे (५ २), छठे (६ ४६) अध्यायोंमेंभी यही अर्थ स्पष्ट रीतिसे वर्णित है, और उसके अनुसार फलत्यागरूप कर्मयोगका आचरण करनेके लियेभी स्थान-स्थानपर अर्जुनको उपदेश किया है (गीतार प्र ११, पृ ३०९–३१०)। परतु जिनका सप्रदाय गीता-धर्मसे जुदा है, उनके लिये यह बात प्रतिकूल है, इसलिये उन्होंने ऊपरके श्लोकोंका और विशेषतया १२ वे श्लोकके पदोंका अर्थ बदलनेका प्रयत्न किया है। निरे ज्ञान-मार्गी अर्थात् सान्य-टीकाकारोंको यह पसद नही है, कि ज्ञानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ बतलाया जावे, इसलिये उन्होंने कहा है, कि या तो ज्ञान शब्दसे 'पुस्तकोंका ज्ञान' लेना चाहिये, अथवा कर्मफलत्यागकी इस प्रशसाको अर्थवादात्मक याने कोरी प्रशसा समझनी चाहिये। इसी प्रकार पातजलयोगमार्गवालोको अभ्यासकी अपेक्षा कर्मफलत्यागका बडप्पन नही सुहाता, और कोरे भक्ति-मार्गवालोको – अर्थात् जो कहते है, कि भक्तिको छोड दूसरे कोईभी कर्म न करो, उनको – ध्यानकी अपेक्षा अर्थात् भक्तिकी अपेक्षा कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता मान्य नही है। वर्तमान समयमे लुप्त-सा हो गया है, पातजलयोग, ज्ञान और भक्ति, गीताका भक्तियुक्त कर्म योग-सप्रदाय इन तीनो सप्रदायोंसे भिन्न, है और इसीसे उस सप्रदायका कोई टीकाकारभी नही पाया जाता है। अतएव आजकल गीतापर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परतु हमारी रायमें यह भूल है। गीतामें निष्काम कर्म योगकोही प्रतिपाद्य मान लेनेसे इस श्लोकके अर्थके विषयमें कोईभी अडचन नही रहती। यदि मान लिया जाय, कि कर्म छोडनेसे निर्वाह नही होता, निष्काम कर्म करनाही चाहिये, तो स्वरूपत कर्मोको त्यागनेवाला ज्ञान-मार्ग कर्मयोगसे हलका जँचने लगता है, और इंद्रियोकी कोरी कसरत करनेवाला पातजलयोग, अथवा सभी कर्मोंको छोड देनेवाला भक्ति-मार्गभी कर्मयोगकी अपेक्षा कम योग्यताका सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोगकी श्रेष्ठता प्रमाणित हो जानेपर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोगमें आवश्यक भक्तियुक्त साम्य-बुद्धिको प्राप्त करनेके लिये उपाय क्या है ? ये उपाय तीन है – अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमेंसे यदि किसीसे अभ्यास न सधे, तो

| वह ज्ञान अथवा ध्यानमेंसे किसीभी उपायको स्वीकार कर ले। गीताका कथन
| है, कि इन उपायोंका आचरण करना यथोक्त क्रमसे सुलभ है। १२ वे श्लोकमे
| कहा है, कि यदि इनमेंसे एकभी उपाय न सधे, तो मनुष्यको चाहिये, कि वह
| कर्मयोगके आचरण करनेकाही एकदम आरभ कर दे। अब यहाँ एक शका
| यह होती है, कि जिससे अभ्यास नही सधता, और जिससे ज्ञान-ध्यानभी नही
| होता, वह कर्मयोग करेगाही कैसे ? अत कई एकोने निश्चय किया है, कि कर्म-
| योगको सबकी अपेक्षा सुलभ कहनाही निरर्थक है। परतु विचार करनेसे दीख
| पडेगा, कि इस आक्षेपमें कुछभी जान नही है। १२ वे श्लोकमें यह नही कहा है,
| कि सब कर्मोके फलोका 'एकदम' त्याग कर दे, वरन् यह कहा है, कि पहले
| भगवानके बतलाये हुए कर्मयोगका आश्रय करके, अर्थात् तत , तदनतर धीरे
| धीरे इस बातको अतमें सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करनेसे कुछभी विसगति
| नही रह जाती। पिछले अध्यायोमें कह चुके है, कि कर्मफलके स्वल्प आचरणसेही
| नही (गीता २ ४०), किंतु जिज्ञासा (गीता ६ ४४ और टिप्पणी) हो जानेसेभी
| मनुष्य, कोल्हूमें धरे जैसे आप-ही-आप अतमें सिद्धिकी ओर खीचा चला जाता
| है। अतएव उस मार्गकी सिद्धि पानेका पहला साधन या सीढी यही है, कि कर्म-
| योगका आश्रय करना चाहिये – अर्थात् इस मार्गसे जानेकी मनमें इच्छा होनी
| चाहिये। कौन कह सकता है, कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यानकी
| अपेक्षा सुलभ नही है १२ वे श्लोकका भावार्थभी यही है। न केवल
| भगवदगीताहीमें, किंतु सूर्य-गीतामेंभी कहा है –

| ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात् ।
| इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तम ॥

| "जो इस वेदान्त तत्त्वको जानता है, कि ज्ञानकी अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान
| या भक्ति उत्कृष्ट है, एव उपासनाकी अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ
| है, वही पुरुषोत्तम है" (सूर्यगी ४ ७७)। साराश, भगवद्गीताका निश्चित मत
| यह है, कि कर्मफल-त्यागरूपी योग अर्थात् ज्ञान-भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगही
| सब मार्गोमें श्रेष्ठ है, और इसके अनुकूलही नही, प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वे
| श्लोकमें है। यदि दूसरे किसी सप्रदायको वह न रुचे, तो वे उसे छोड दें, परतु
| अर्थकी व्यर्थ खीचातानी न करे। इस प्रकार कर्मफल-त्यागको श्रेष्ठ सिद्ध करके,
| उस मार्गसे जानेवालेको (स्वरूपत कर्म छोडनेवालेको नही) जो सम और
| शात स्थिति अतमें प्राप्त होती है, उसका वर्णन करके अब भगवान् बतलाते है,
| कि ऐसाही भक्त मुझे अत्यत प्रिय है –]

§ § अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

(१३) जो किसीसे द्वेष नही करता, जो सब भूतोंके साथ मित्रतासे वर्तता है, जो कृपालू है, जो ममत्व-बुद्धि और अहकारसे रहित है, जो दु ख और सुखमें समान है, एव जो क्षमाशील है, (१४) जो सदा सतुष्ट, सयमी तथा दृढ निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पणकर दिया है, वह मेरा (कर्म-)योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगोको क्लेश होता है और न जो लोगोसेभी क्लेश पाता है, ऐसेही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषादसे अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है, कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है, अर्थात् किसीभी कामको आलस्य छोडकर करता है, जो (फलके विषयमें) उदासीन है, जिसे कोईभी विकार डिगा नही सकता, और जिसने (काम्य फलके) सब आरभ याने उद्योग छोड दिये है। (१७) जो न (किसीभी बातका) आनद मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छाभी रखता है, जिसने (कर्मके) शुभ और अशुभ (फल) छोड दिये है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दु ख समान हैं, और जिसे (किसीमेंभी) आसक्ति नही है, (१९) जिसे निंदा और स्तुति दोनो एकसी हैं, जो मितभाषी है, एव जो कुछ मिल जावे उसीमें सतुष्ट है, जिसका चित्त स्थिर है, और जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्म-फलाशारूप) ठिकाना कहीभी नही रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

['अनिकेत' शब्द उन यतियोके वर्णनोमेभी अनेक वार आया करता है, कि जो गृहस्थाश्रम छोड, सन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए जगलोमे घूमते रहते हैं (मनु ६ २५) और इसका धात्वर्थ 'विना घरवाला' है। अत इस अध्यायके 'निर्मम', 'सर्वारभपरित्यागी' और 'अनिकेत' शब्दोसे, तथा गीतामे अन्यत्र 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' (गीता ४ २१), अथवा 'विविक्तसेवी', (गीता १८ ५२) इत्यादि जो शब्द हैं, उनके आधारसे सन्यास-मार्गवाले टीकाकार कहते हैं, कि सन्यासाश्रम मार्गका यह परम ध्येय – "घर-द्वार छोड कर बिना किसी इच्छाके जगलोमें आयुके दिन विताना)" – ही गीतामें प्रतिपाद्य है, और इसके लिये वे स्मृति-ग्रथोके सन्यास-आश्रम प्रकरणके श्लोकोका प्रमाण दिया करते हैं। गीता-वाक्योंके ये निरे सन्यास-प्रतिपादक अर्थ सन्यास-सप्रदायकी दृष्टिसे महत्त्वके हो सकते है, किंतु वे सच्चे नही हैं। क्योकि गीताके अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना 'सच्चा' सन्यास नही है, और पीछे कई बार गीताका यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (गीता ५ २, ६ १, २), कि केवल फलाशाको छोडना चाहिये, न कि कर्मको। अत 'अनिकेत' पदका 'घर-द्वार छोडना' अर्थ न करके, ऐसा करना चाहिये कि जिसका गीताके कर्मयोगके साथ मेल मिल सके। गीताके ४ २० वे श्लोकमे कर्मफलकी आशा न रखनेवाले पुरुषकोही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है, और गीता ६ १ में उसी अर्थमें 'अनाश्रित कर्मफल' शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनो शब्दोका अर्थ एकही है। अतएव अनिकेतका गृहत्यागी अर्थ न करके, ऐसा करना चाहिये, कि आदिमें जिसके मनका स्थान फँसा नही है। इसी प्रकार ऊपर १६ वे श्लोकमें जो 'सर्वारभपरित्यागी' शब्द है, उसका अर्थभी "सारे कर्म या उद्योगोको छोडनेवाला" नही करना चाहिये, किंतु गीता ४ १९ में जो यह कहा है, कि "जिसके समारभ फलाशा-विरहित है, उसके कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं" वैसाही अर्थ याने "काम्य आरभ अर्थात् कर्म छोडनेवाला" करना चाहिये, – यह बात गीता १८ २, ८१ ४९ से सिद्ध होती है। साराश, जिसका चित्त घर-गृहस्थीमे, बाल-बच्चोमे अथवा ससारके अन्यान्य कामोमें उलझा रहता है, उसको आगे उससे दुःख होता है। अतएव गीताका इतनाही कहना है, कि इन सब बातोमे चित्तको फँसने न दे, और मनकी इसी विरक्त स्थितिको प्रकट करनेके लिये गीताके 'अनिकेत' और 'सर्वारभपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञके वर्णनमें आया करते है। येही शब्द यतियोंके अर्थात् कर्म त्यागनेवाले सन्यासियोके वर्णनोमेंभी स्मृतिग्रथोमें आये हैं। पर सिर्फ इसी बुनियादपर यह नही कहा जा सकता, कि कर्मत्यागरूप सन्यासही गीतामें प्रतिपाद्य है। क्योकि, इसके साथही गीताका यह दूसराभी निश्चित सिद्धान्त है, कि जिसकी बुद्धिमें वैराग्य पूर्णत भिद गया

§§ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सुउपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

| हो, उस ज्ञानी पुरुषकोभी इसी विरक्त-बुद्धिसे फलाशा छोडकर शास्त्रत प्राप्त
| होनेवाले सब कर्म करतेही रहना चाहिये। इस समूचे पूर्वापर संबंधको बिना
| समझे, गीतामें जहाँ कही 'अनिकेत' को जोडके वैराग्यबोधक शब्द मिल जावे,
| तो उन्हींपर सारा दारामदार रख कर यह कह देना ठीक नही है, कि गीतामें
| कर्मसन्यास-प्रधान मार्गही प्रतिपाद्य है।]

(२०) ऊपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्मका जो मत्परायण होते हुए श्रद्धासे आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

| [यह वर्णन पहले हो चुका है (गीता ६ ४७, ७ १८), कि भक्ति-
| मान् ज्ञानी पुरुष सबसे श्रेष्ठ है, उस वर्णनके अनुसार भगवानने इस श्लोकमें
| बतलाया है, कि उनका अत्यंत प्रिय कौन है, अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त
| कर्मयोगीका वर्णन किया है। पर भगवानही गीता ९ २९ वे श्लोकमें कहते है,
| कि " मुझे सब एकसे है, कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नही। " देखनेमें यह विरोध
| प्रतीत होता है सही, पर यह जान लेनेसे कोई विरोध नही रह जाता, कि एक
| वर्णन सगुण उपासनाका अथवा भक्ति-मार्गका है, और दूसरा अध्यात्म-दृष्टि
| अथवा कर्मविपाक-दृष्टिसे किया गया है। गीतारहस्यके तेरहवे प्रकरणके अंतमें
| (पृ ४३०-४३१) इस विषयका विवेचन है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग, शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

तेरहवाँ अध्याय

[पिछले अध्यायमें यह बात सिद्ध की गई, कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वरका (बुद्धिसे) चिंतन करनेपर अंतमें मोक्ष तो मिलता है, परंतु उसकी अपेक्षा श्रद्धासे परमेश्वरके प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूपकी भक्ति करके, परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सब कर्मोंको करते रहनेपर, वही मोक्ष सुलभ रीतिसे मिल जाता है। परंतु इतनेहीसे ज्ञान-विज्ञानका वह निरूपण समाप्त नही हो जाता, कि जिसका आरंभ सातवे अध्यायमें किया गया है। परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होनेके लिये बाहरी सृष्टिके क्षर-अक्षर-विचारके साथही साथ मनुष्यके शरीर और आत्माका, अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकाभी, विचार करना पडता है। ऐसेही यदि सामान्य रीतिसे जान लिया, कि सब व्यक्त पदार्थ जड प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, तोभी यह बतलाये बिना ज्ञान-विज्ञानका निरूपण पूरा नही होता, कि प्रकृतिके किस गुणसे यह विस्तार होता है ? और उसका क्रम कौन-सा है ? अतएव तेरहवे अध्यायमें पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार, और फिर आगे चार अध्यायोंमें गुणत्रयका विचार बतलाकर अठारहवे अध्यायमें समग्र विषयका उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षडध्यायी स्वतंत्र नही है, तथा कर्मयोगकी सिद्धीके लिये जिस ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका सातवे अध्यायमें आरंभ हो चुका है, उसीकी पूर्ति इस षडध्यायीमें की गई है (गीतारहस्य प्र १४, पृ ४५४–४५६)। गीताकी कई प्रतियोंमें इस तेरहवे अध्यायमेंके आरंभमें, यह श्लोक पाया जाता है। अर्जुन उवाच –"प्रकृति पुरुष चैव क्षेत्र क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञान ज्ञेय च केशव ॥" और उसका अर्थ यह है। अर्जुनने कहा – "मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेयके जाननेकी इच्छा है, सो बतलाओ।" परंतु स्पष्ट दीख पडता है, कि यह न जानकर, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार गीतामें आया कैसे है, किसीने पीछेसे यह श्लोक गीतामें घुसेड दिया है। टीकाकार इस श्लोकको क्षेपक मानते है, और क्षेपक न माननेमें गीताके श्लोकोंकी संख्याभी सात सौसे एक अधिक बढ जाती है। अत इस श्लोकको हमनेभी प्रक्षिप्तही मानकर शांकरभाष्यके अनुसार इस अध्यायका आरंभ किया है।]

श्रीभगवानने कहा – (१) हे कौन्तेय ! इस शरीरकोही क्षेत्र कहते है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥
§§ तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

इसे (शरीरको) जो जानता है, उसे तद्विद् अर्थात् इस शास्त्रके जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (२) हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञभी मुझेही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वरका) ज्ञान माना गया है।

[पहले श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दोंका अर्थ दिया है, और दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञका यह स्वरूप बतलाया है, कि क्षेत्रज्ञ मैं परमेश्वर हूँ, अथवा जो पिंडमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। दूसरे श्लोकके चापि = भी शब्दोंका अर्थ यह है - न केवल क्षेत्रज्ञही, प्रत्युत क्षेत्रभी मैंही हूँ। क्योंकि, जिन सातवें तथा आठवें अध्यायमें बतला चुके हैं, कि पंचमहाभूतोंसे क्षेत्र या शरीर बनता है, वे प्रकृतिसे बने हैं, और यह प्रकृति परमेश्वरकी ही कनिष्ठ विभूति है (गीता ७.४, ८.४, ९.८)। इस रीतिसे क्षेत्र या शरीरके पंच महाभूतोंसे बने रहनेके कारण क्षेत्रका समावेश उस वर्गमें होता है, जिसे क्षर-अक्षर-विचारमें 'क्षर' कहते हैं, और क्षेत्रज्ञही परमेश्वर है। इस प्रकार क्षराक्षर-विचारके समान क्षेत्रज्ञका विचारभी परमेश्वरके ज्ञानका एक भाग बन जाता है (गीतार. प्र. ६, पृ. १४३-१४९), और इसी अभिप्रायको मनमें लाकर दूसरे श्लोकके अंतमें यह वाक्य आया है, कि "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरा अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान है" जो लोग अद्वैत वेदान्तको नही मानते, उन्हे 'क्षेत्रज्ञभी मैंही हूँ' इस वाक्यकी खींचातानी करनी पडती है और प्रतिपादन करना पडता है, कि इस वाक्यसे 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मैं परमेश्वर'का अभेदभाव नही दिखलाया जाता, और दूसरे कई लोग 'मेरी' (मम) पदका अन्वय 'ज्ञान' शब्दके साथ न लगा 'मत' अर्थात् 'माना गया है' शब्दके साथ लगाकर यों अर्थ करते है, कि "इनके ज्ञानको मैं ज्ञान समझता हूँ।" पर ये अर्थ सहज नही हैं। आठवे अध्यायके आरंभमेंही वर्णन है, कि देहमे निवास करनेवाला आत्मा (अधिदेव) मैंही हूँ, अथवा "जो पिंडमें है, वही ब्रह्माडमे है", और सातवेमेंभी भगवानने 'जीव'को अपनीही परा प्रकृति कहा है (७.५) इसी अध्यायके २२ वे और ३१ वे श्लोकमेंभी ऐसाही वर्णन है। अब बतलाते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार कहां पर और किसने किया है -]

(३) क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकारका है, उसके और कौन कौन विकार है, (उसमे भी) किससे क्या होता है, ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है? - इसे मैं संक्षेपसे बतलाता हूँ, सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

§ § महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(४) ब्रह्मसूत्रके पदोसेभी, यह विषय गाया गया है, कि जिन्हे बहुत प्रकारसे, विविध छदोमें, पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियोने (कार्यकारणरूप) हेतु दिखला कर पूर्ण निश्चित किया है।

[गीतारहस्यके परिशिष्ट प्रकरणमें (गीतार पृ ५३३–५३८) हमने विस्तारपूर्वक दिखलाया है, कि इस श्लोकमें ब्रह्मसूत्र शब्दसे वर्तमानवेदान्त सूत्र उद्दिष्ट है। उपनिषद् किसी एकही ऋषिका कोई एक ग्रथ नही है, अनेक ऋषियोको भिन्न भिन्न काल या स्थानमें जिन अध्यात्म-विचारोका स्फुरण हो आया, वे विचार बिना किसी पारस्परिक सबधके भिन्न भिन्न उपनिषदोमे वर्णित है, इसलिये उपनिषद् सकीर्ण हो गये है, और कई स्थानोपर वे परस्पर-विरुद्धसे जान पडते है। ऊपरके श्लोकके पहले चरणमें जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द है, वे उपनिषदोके इस सकीर्ण स्वरूपकाही बोध कराते हैं। इस प्रकार इन उपनिषदोके सकीर्ण और परस्परविरुद्ध होनेके कारण, आचार्य बादरायणने उनके सिद्धान्तोकी एकवाक्यता करनेके लिये ब्रह्म-सूत्रो या वेदान्त-सूत्रोकी रचनाकी है, और उस सूत्रोमे उपनिषदोके सब विषयोको लेकर प्रमाणसहित अर्थात् कार्यकारण आदि हेतु दिखलाकरके, पूर्ण रीतिसे सिद्ध किया है, कि प्रत्येक विषयके सबधमें सब उपनिषदोसे एकही सिद्धान्त कैसे निकाला जाता है, फलत अर्थात् उपनिषदोका रहस्य समझनेके लिये वेदान्त-सूत्रोकी सदैव जरूरत पडती है, अत इस श्लोकमें दोनोकाभी उल्लेख किया गया है। ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके तीसरे पादके पहले १६ सूत्रोमें क्षेत्रका विचार और फिर उस पादके अततक क्षेत्रज्ञका विचार किया गया है। ब्रह्मसूत्रोमें यह विचार है, इसलिये उन्हे 'शारीरक सूत्र' अर्थात् शरीर या क्षेत्रका विचार करनेवाले सूत्रभी कहते है। यह बतला चुके, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार किसने और कहाँ किया है, अब बतलाते है, कि क्षेत्र क्या है –]

(५) (पृथिवी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहकार, बुद्धि (महान्), अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इद्रियाँ और एक (मन), तथा (पाँच) इद्रियोके पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध – ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा,

§§ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदिका व्यक्त व्यापार और धृति याने धैर्य, इस (३१ तत्त्वोंके) समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं।

[यह क्षेत्र और उसके विकारोंका लक्षण है। पांचवें श्लोकमें सांख्य-मतवालोंके पच्चीस तत्त्वोंमेंसे पुरुषको छोड शेष चौवीस तत्त्व आ गये हैं। इन्हीं चौवीस तत्त्वोंमें मनका समावेश होनेके कारण इच्छा, द्वेष आदि मनोधर्मोंको अलग बतलानेकी जरूरत न थी। परन्तु कणाद-मतानुयायियोंके मतमें ये धर्म आत्माके हैं और इस मतको मान लेनेसे शंका होती है, कि, इन गुणोंका क्षेत्रमेंही समावेश होता है या नहीं? अतः क्षेत्र शब्दकी व्याख्याको निःसंदिग्ध करनेके लिये यहाँ स्पष्ट रीतिसे क्षेत्रमेंही इच्छा-द्वेष आदि द्वंद्वोंका समावेश कर लिया है, और उसीसे भय-अभय आदि अन्य द्वंद्वोंकाभी लक्षणासे समावेश हो जाता है। यह दिखलानेके लिये, कि सबका संघात अर्थात् समूह क्षेत्रसे स्वतंत्र कर्ता नहीं है, उसकी गणना क्षेत्रमेंही की गई है। कई बार 'चेतना' शब्दकाही 'चैतन्य' अर्थ होता है। परंतु यहाँ चेतनासे "जड देहमें प्राण आदिके दीख पडनेवाले व्यापार, अथवा जीवितावस्थाकी चेष्टाएँ" इतनाही अर्थ विवक्षित है, और ऊपर दूसरे श्लोकमें कहा है, कि जड वस्तुमें यह चेतना जिससे उत्पन्न होती है, वह चिच्छक्ति अथवा चैतन्य, क्षेत्रज्ञ-रूपसे, क्षेत्रसे अलग रहता है। 'धृति' शब्दकी व्याख्या आगे गीतामेंही (१८. ३३) की है, उसे देखो। छठे श्लोकके 'समासेन' पदका अर्थ "इन सबका समुदाय" है। अधिक विवरण गीतारहस्यके आठवें प्रकरणके अंतमें (पृ. १६४, १६५) मिलेगा। पहले 'क्षेत्रज्ञ'के माने 'परमेश्वर' बतलाकर फिर स्पष्ट किया है, कि 'क्षेत्र' क्या है? अब मनुष्यके स्वभावपर ज्ञानके जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करके यह बतलाते हैं, कि ज्ञान किसको कहते हैं, और आगे ज्ञेयका स्वरूप बतलाया है। ये दोनो विषय दीखनेमें भिन्न दीख पडते हैं अवश्य, पर वास्तविक रीतिसे वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारकेही दो भाग हैं। क्योंकि, प्रारंभमेंही बतला चुके हैं, कि क्षेत्रज्ञका अर्थ परमेश्वर है। अतएव क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है, और उसीका स्वरूप अगले श्लोकोंमें वर्णित है – बीचमेंही कोई मनमाना विषय नहीं धर घुसेडा है।]

(७) मानहीनता, दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इंद्रियोंके विषयोंमें विराग, अहंकारहीनता, और

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

जन्म, मृत्यु, बुढापा, व्याधि एव दु खोको (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना, (९) कर्ममें अनासक्ति, बाल-बच्चो और घर-गृहस्ती आदिमें लपट न होना, इष्ट या अनिष्टकी प्राप्ति हो, चित्तकी सर्वदा एकहीसी वृत्ति रखना, (१०) और मुझमें अनन्य भावसे अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थानमें रहना, साधारण लोगोके जमावको पसद न करना, (११) अध्यात्म-ज्ञानको नित्य समझना, और तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोका परिशीलन – इनको ज्ञान कहते है, इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है।

[साख्योंके मतमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ज्ञानही प्रकृति-पुरुषके विवेकका ज्ञान है, और उसे इसी अध्यायमें आगे बतलाया है (गीता १३ १९–२३, १४ १९) । इसी प्रकार अठारहवे अध्यायमे (गीता १८ २०) ज्ञानके स्वरूपका यह व्यापक लक्षण बतलाया है – "अविभक्त विभक्तेषु" । परतु मोक्षशास्त्रम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानका अर्थ केवल बुद्धिसे यही जान लेना विवक्षित नही होता, कि अमुक अमुक बाते अमुक प्रकारकी है । अध्यात्म शास्त्रका सिद्धान्त यह है, कि उस ज्ञानका देहके स्वभावपर साम्य-बुद्धिरूप परिणाम होना चाहिये, अन्यथा वह ज्ञान अपूर्ण या कच्चा है। अतएव यह बतलाकर, कि बुद्धिमे अमुक अमुक जान लेनाही ज्ञान है, ऊपरके पांच श्लोकोमे ज्ञानकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि जब उक्त श्लोकोमें बतलाये हुए मान और दभका छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, समबुद्धि इत्यादि बीस गुण मनुष्यके स्वभावमे दीख पड़ने लगें, तब उसे ज्ञान कहना चाहिये, (गीतार प्र ९, पृ २४९, २५०) दसवे श्लोकमे "विविक्त-स्थानमें रहना और जमावको नापसद करना" भी ज्ञानका एक लक्षण कहा है, उसमे कुछ लोगोने यह दिखानेका प्रयत्न किया है, कि गीताको सन्यास-मार्गही अभीष्ट है। किंतु हम पहलेही बतला चुके है (गीता १२ १९ की टिप्पणी, गीतार प्र १०, पृ. २८५), कि यह मत ठीक नही है, और ऐसा अर्थ करना उचितभी नही है । यहाँ इतनाही विचार किया है, कि ज्ञान क्या है; और इस विषयमे कोई वादभी नही है, वह ज्ञान बाल-बच्चोमे, घरगृहस्तीमे अथवा लोगोके जमावमे अनासक्ति है । अब अगला प्रश्न

§§ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

| यह है, कि इस ज्ञानके हो जानेपर इसी अनासक्त-बुद्धिसे बालबच्चोंमें अथवा गृहस्तीमें रहकर प्राणिमात्रके हितार्थ जगतके व्यवहार किये जायँ अथवा न किये जायँ, और केवल ज्ञानकी व्याख्यासेही इसका निर्णय करना उचित नहीं है । क्योंकि भगवानने गीतामें अनेक स्थलोपर कहा है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मोंमें लिप्त न होकर, उन्हे अनासक्त-बुद्धिसे लोकसग्रहके निमित्त करता रहे और इसकी सिद्धिके लिये जनकके वर्तावका और अपने व्यवहारका उदाहरणभी दिया है (गीता ३ १९–२५, ४ १४) । समर्थ श्रीरामदास स्वामीके चरित्रसे यह वात प्रकट होती है, कि शहरमें रहनेकी लालसा न रहनेपरभी जगत्के व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर कैसे किये जा सकते हैं ? (दासबोध १९ ६ २९, १९ ९ ११)। यह ज्ञानका लक्षण हुआ, अब ज्ञेयका स्वरूप बतलाते हैं –]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ, (कि), जिसे जान लेनेसे 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सबसे) परेका ब्रह्म (है) । न उसे 'सत्' कहते है, और न 'असत्भी । (१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर आँखे, सिर और मुंह हैं, सब ओर कान हैं, और वही इस लोकमें सबको व्याप रहा है। (१४) (उसमे) सब इद्रियोंके गुणोका आभास है, पर उसके कोईभी इद्रिय नही है, वह (सबसे) असक्त अर्थात् अलग होकरभी सबका पालन करता है, और निर्गुण होनेपरभी गुणोका उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतोके भीतर और बाहरभी है, अचर है और चरभी है, सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है, और दूर होकरभी समीप है। (१६) वह (तत्त्वत) 'अविभक्त' अर्थात् अखडित (होकरभी) सब भूतोमें मानो (नानात्वसे) विभक्त हो रहा है,

§§ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥
§§ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

सत्य है। उदाहरणार्थ, "द्वैतमिव भवति", "य इह नानेव पश्यति" इत्यादि (बृ २ ४ १४, ४ ४ १९, ४ ३ ७)। अतएव प्रकट है, कि गीतामें यह अद्वैत सिद्धान्तही प्रतिपाद्य है, कि नाना-नामरूपात्मक माया भ्रष्ट है, और उसमें अविभक्त रहनेवाला ब्रह्मही सत्य है। गीता १८ २० में फिर बतलाया है, कि "अविभक्त विभक्तेषु" अर्थात् नानात्वमें एकत्व देखना सात्त्विक ज्ञानका लक्षण है। गीतारहस्यके अध्यात्म प्रकरणमें वर्णन है, कि यह सात्त्विक ज्ञानही ब्रह्म है। गीतार प ९, पृ २१५, २१६, (प्र ६, पृ १३२–१३३)।]

(१८) इस प्रकार सक्षेपसे बतला दिया, कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं? मेरा भक्त उसे जानकर मेरे स्वरूपको पाता है।

[अध्यात्म या वेदान्तशास्त्रके आधारसे अब तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका विचार किया गया। इनमेंसे 'ज्ञेय'ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है और–'ज्ञान', दूसरे श्लोकमे बतलाया हुआ, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है, इस कारण यही परमेश्वरके सब ज्ञानका सक्षेपमें निरूपण है। १८ वे श्लोकमें यही सिद्धान्त बतला दिया है, कि जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारही परमेश्वरका ज्ञान है, तब आगे यह आपही सिद्ध है, कि उसका फलभी मोक्षही होना चाहिये। वेदान्तशास्त्रका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार यहाँ समाप्त हो गया। परतु प्रकृतिसेही पाचभौतिक विकारवान् क्षेत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिये और साख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं, उसेही अध्यात्मशास्त्रमें 'आत्मा' कहते हैं, इसलिये, साख्यकी दृष्टिसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारही प्रकृति-पुरुषका विवेक होता है। गीताशास्त्र प्रकृति और पुरुषको साख्यके समान दो स्वतन्त्र तत्त्व नही मानता, और सातवे अध्यायमें (गीता ७ ४, ५) कहा है, कि ये एकही परमेश्वरके, कनिष्ठ और श्रेष्ठ, दो रूप हैं। परतु साख्योके द्वैतके बदले गीताशास्त्रके इस द्वैतको एकबार स्वीकारकर लेनेपर, फिर प्रकृति और पुरुषके परस्परसबधका साख्योका ज्ञान गीताको अमान्य नही है। और यहभी कह सकते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानकाही रूपातर प्रकृति-पुरुषका विवेक है (गीतार प्र ७) इसीलिये अबतक उपनिषदोके आधारसे जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान बतलाया, उसेही अब साख्योकी परिभाषामें किंतु साख्योके द्वैतको अस्वीकार करके प्रकृति-पुरुष-विवेकके रूपसे बतलाते है –

(१९) प्रकृति और पुरुष, दोनोकोही अनादि समझ। विकार और गुणोको प्रकृतिसेही उपजा हुआ जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

[सांख्यशास्त्रके मतमें प्रकृति और पुरुष, दोनो न केवल अनादिही है, प्रत्युत स्वतंत्र और स्वयंभूभी है। वेदान्ती समझते है, कि प्रकृति परमेश्वरसेही उत्पन्न हुई है, अतएव वह न स्वयंभू है, और न स्वतंत्रभी है (गीता ४ ५ ६)। परंतु यह नही बतलाया जा सकता, कि परमेश्वरसे प्रकृति कब उत्पन्न हुई और पुरुष (जीव) परमेश्वरकाही अंश है। (गीता १५ ७), इस कारण वेदान्तियोको इतना मान्य है, कि दोनो अनादि है। इस विषयका अधिक विवेचन गीतारहस्यके ७ वे प्रकरणमे और विशेषत पृ १६२–१६८ में, एव १० वे प्रकरणके पृ २६४–२६९ मे किया है।]

(२०) कार्य अर्थात् देहके और करण अर्थात् इंद्रियोंके कर्तृत्वके लिये प्रकृति कारण कही जाती है, और (कर्ता न होनेपरभी) सुखदुःखोको भोगनेके लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है।

[इस श्लोकमें 'कार्यकरण'के स्थानमें 'कार्यकारण'भी पाठ है, और तब उसका यह अर्थ होता है – सांख्योंके महत् आदि तेईस तत्त्व एकसे दूसरा, दूसरेसे तीसरा, इस कार्यकारण-क्रमसे उपजकर सारी व्यक्त-सृष्टि प्रकृतिसे बनती है। यह अर्थभी बेजा नहीं है, परंतु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारमें क्षेत्रकी उत्पत्ति बतलाना प्रसंगानुसार नही है। प्रकृतिसे जगत्के उत्पन्न होनेका वर्णन तो पहलेही सातवे और नवे अध्यायमें हो चुका है। अतएव 'कार्यकरण' पाठही यहाँ अधिक प्रशस्त दीख पडता है। शांकरभाष्यमे यही 'कार्यकरण' पाठ है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृतिमे अधिष्ठित होकर प्रकृतिके गुणोका उपभोग करता है, और (प्रकृतिके) गुणोका यह संयोग पुरुषको भली-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेके लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक संबंधका और भेदका यह वर्णन सांख्यशास्त्रका है, (गीतार प्र ७, पृ १५५–१६२)। अब यह कहकर कि वेदान्ती लोग पुरुषको परमात्मा कहते है, सांख्य और वेदान्तका मेल कर दिया गया है, और ऐसा करनेसे प्रकृति-पुरुष-विचार एव क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारकी पूरी एकवाक्यता हो जाती है।]

§ § उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

§ § ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

(२२) (प्रकृतिके गुणोके इस) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृतिके गुणोको) बढानेवाले, और उपयोग करनेवालेकोही इस देहका परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते है। (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृतिको (ही) जो गुणोसमेत जानता है, वह कैसाभी बर्ताव क्यो न किया करे, उसका पुनर्जन्म नही होता ।

[२२ वे श्लोकमें जब यह निश्चय हो चुका, कि पुरुषही देहका परमात्मा है, तब साख्यशास्त्रके अनुसार पुरुषका जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है, वही अब आत्माका अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार साख्योकी उपपत्तिसे वेदान्तकी एकवाक्यता हो जाती है। वेदान्तवाले कुछ ग्रथकारोकी समझ है, कि साख्यवादी वेदान्तके शत्रु है, अत बहुतेरे वेदान्ती साख्य-उपपत्तिको सर्वथा त्याज्य मानते है। किंतु गीतामें ऐसा न करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारका एक-ही विषय एक बार वेदान्तकी दृष्टिसे, और दूसरी बार (वेदान्तके अद्वैत मतको बिना छोडे) साख्य-दृष्टिसे, प्रतिपादन किया है, इससे गीताशास्त्रकी सम-बुद्धि प्रकट हो जाती है। यहभी कह सकते है, कि उपनिषदोके और गीताके विवेचनमें यह एक महत्त्वका भेद है (गीतार परिशिष्ट, पृ ५२८) । इससे प्रकट होता है, कि यद्यपि गीताको साख्योका द्वैतवाद मान्य नही है, तथापि उनके प्रतिपादनमें जो कुछ युक्तिसगत जान पडता है, वह गीताको अमान्य नही है। दूसरेही श्लोकमें कह दिया है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है। अब पिंडका ज्ञान और देहके परमेश्वरका ज्ञान सपादनकर मोक्ष प्राप्त करनेके मार्ग प्रसगके अनुसार सक्षेपसे बतलाते है -]

(२४) कुछ लोग ध्यानसे स्वयही अपने आपमें आत्माको देखते हैं, (कोई साख्ययोगसे देखते है और कोई कर्मयोगसे (२५) परतु इस प्रकार जिन्हे (अपने

§§ यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

आपही) ज्ञान नही होता, वे दूसरेसे सुनकर (श्रद्धासे) परमेश्वरका भजन करते हैं। सुनी हुई बातको प्रमाण मान वर्तनेवाले ये पुरुषभी मृत्युको पारकर जाते है।

[इन दो श्लोकोमें पातजलयोगके अनुसार ध्यान, साख्य-मार्गके अनुसार ज्ञानोत्तर कर्मसन्यास, कर्मयोग-मार्गके अनुसार निष्काम बुद्धि परमेश्वरार्पण-पूर्वक कर्म करना और ज्ञान न हो, तोभी श्रद्धासे आप्तोंके वचनोका विश्वास-कर परमेश्वरकी भक्ति करना (गीता ४ ३९), ये आत्मज्ञानके भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये है। कोई किसीभी मार्गसे जावे, अतमें उसे भगवानका ज्ञान होकर मोक्ष मिलही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है, कि लोकसग्रहकी दृष्टिसे कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खडित नही होता। इस प्रकार साधन बतलाकर अगले श्लोकमें समग्र विषयका सामान्य रीतिसे उपसहार किया है, और उसमेंभी वेदान्तसे कापिल-साख्यका मेल मिला दिया है।]

(२६) हे भरतश्रेष्ठ ! स्मरण रख, कि स्थावर या जगम, किसीभी वस्तुका निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सयोगसे होता है। (२७) सब भूतोमें एक-सा रहनेवाला, और सब भूतोका नाश हो जानेपरभी जिसका नाश नही होता, ऐसे परमेश्वरको जिसने देख लिया, कहना होगा, कि उसीने (सच्चे तत्त्वको) पहचाना। (२८) ईश्वरको सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझकर (जो पुरुष) अपने आपकाही घात नही करता, अर्थात् अपने आप अच्छे मार्गमें लग जाता है, उस कारणसे वह उत्तम गतिही पाता है।

[२७ वे श्लोकमें परमेश्वरका जो लक्षण बतलाया है, वह पीछे गीताके ८ २० वे श्लोकमें आ चुका है, और उसका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके नवे प्रकरणमें किया गया है, (गीतार प्र ९, पृ २१९, २५७)। ऐसेही २८ वे श्लोकमें फिर वही बात कही है, जो पीछे (गीता ६ ५–७) कही जा चुकी है, कि आत्मा अपना बधु है, और वही अपना शत्रु है। इस प्रकार २६, २७ और २८ वे श्लोकोमें सब प्राणियोंके विषयमें साम्य-बुद्धिरूप भावका वर्णन कर चुकनेपर बतलाते है, कि इसके जान लेनेसे क्या होता है –]

§§ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

§§ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

§§ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीसु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योबशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

---

(२९) जिसने यह जान लिया, कि (सब) कर्म सब प्रकारसे केवल प्रकृति-सेही किये जाते हैं, और आत्मा अकर्ता है, अर्थात् कुछभी नही करता, कहना चाहिये कि उसने (सच्चे तत्त्वको) पहचान लिया। (३०) जब सब भूतोका पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकतासे (दीखने लगे), और इस (एकता)सेही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

[अब बतलाते है, कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है –]

(३१) हे कौंतेय ! अनादि और निर्गुण होनेके कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीरमें रह करभी कुछ करता-धरता नही है, और उसे (किसीभी कर्मका) लेप अर्थात् बधन नही लगता। (३२) जैसे आकाश चारो ओर भरा हुआ है, परतु सूक्ष्म होनेके कारण उसे (किसीकाभी) लेप नही लगता, वैसेही देहमें सर्वत्र रहने-परभी आत्माको (किसीकाभी) लेप नही लगता। (३३) हे भारत ! जैसे अकेला सूर्य इस सारे जगतको प्रकाशित करता है, वैसेही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रको अर्थात् शरीरको प्रकाशित करता है।

(३४) इस प्रकार ज्ञान-चक्षुसे अर्थात् ज्ञानरूप नेत्रसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको, एव सब भूतोकी (मूल) प्रकृतिके मोक्षको, जो जानते हैं, वे परब्रह्मको पाते हैं।

[यह पूरे प्रकरणका उपसहार है। 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्दका अर्थ हमने साख्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार किया है। साख्योका सिद्धान्त यह है, कि मोक्षका मिलना या न मिलना आत्माकी अवस्थाएँ नही है, क्योकि वह तो सदैव अकर्ता और असग है। परतु प्रकृतिके गुणोके सगसे वह अपनेमे कर्तृत्वका आरोप किया करता है, इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है, अर्थात् उसीका मोक्ष हो जाता है, और इसके पश्चात् उसका पुरुषके आगे नाचना बद हो जाता है। अतएव साख्य-मतवाले प्रतिपादन किया करते है, कि तात्त्विक दृष्टिसे बध और मोक्ष, ये दोनो अवस्थाएँ प्रकृतिकीही है (साख्यकारिका ६२, गीतारहस्य प्र ७, पृ १६५–१६६) हमें जान पड़ता है, कि साख्यके ऊपर लिखे हुए सिद्धान्तके अनुसारही इस श्लोकमें 'प्रकृतिका मोक्ष' ये शब्द आये है। परतु कुछ लोग इन शब्दोका यह अर्थभी लगाते है, कि "भूतेभ्य प्रकृतेश्च मोक्ष" – पचमहाभूतोंसे और प्रकृतिसे अर्थात् मायात्मक कर्मोसे आत्माका मोक्ष होता है। नवे, ग्यारहवे और तेरहवे अध्यायके ज्ञान-विज्ञान निरूपण का भेद ध्यान देनेयोग्य है, कि यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक ज्ञान-चक्षुसे विदित होनेवाला है (गीता १३ ३४)। तो नवे अध्यायकी राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षुसे ज्ञात होनेवाली है (गीता ९ २), और विश्वरूप-दर्शन परम भगवद्भक्तकोभी केवल दिव्य-चक्षुसेही होनेवाला है (गीता ११ ८)।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्या-न्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके सवादमें, प्रकृति-पुरुष-विवेक अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

चौदहवाँ अध्याय

[तेहरवे अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार एक बार वेदान्तकी दृष्टिसे और दूसरी बार साख्यकी दृष्टिसे बतलाया है, एव उसीमें प्रतिपादन किया है, कि सब कर्तृत्व प्रकृतिकाही है, पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है। परतु इस बातका विवेचन अब तक नही हुआ, कि प्रकृतिका यह कर्तृत्व क्यो कर चला करता है? अतएव इस अध्यायमें बतलाते है, कि एकही प्रकृतिसे विविध सृष्टि, विशेषत सजीव सृष्टि, कैसे उत्पन्न होती है? केवल मानवी सृष्टिकाही विचार करें, तो यह विषय क्षेत्रसबधी अर्थात् शरीरका होता है, इसलिये उसका समावेश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें हो सकता है। परतु जब स्थावर सृष्टिभी त्रिगुणात्मक प्रकृतिकाही फैलाव है, तब प्रकृतिके गुणभेदका यह विवेचन क्षर-अक्षर-विचारकाभी भाग हो सकता है। अतएव 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' इस सकुचित नामको छोडकर सातवे अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानके बतलानेका आरभ किया था, उसी ज्ञान-विज्ञानको अधिक स्पष्ट रीतिसे फिरभी बतलानेका आरभ भगवानने अब इस अध्यायमें किया है। साख्यशास्त्रकी दृष्टिसे इस विषयका विस्तृत निरूपण गीतारहस्यके आठवे प्रकरणमें किया गया है। त्रिगुणके विस्तारका यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृतिके बारहवे अध्यायमेंभी है।]

श्रीभगवानने कहा – (१) और फिर सब ज्ञानोंसे उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जानकर सब मुनि इस लोकसे परम सिद्धि पा गये है। (२) इस ज्ञानका आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग सृष्टिके उत्पत्ति-कालमेंभी नही जन्मते और प्रलय-कालमेंभी व्यथा नही पाते, (अर्थात् जन्म-मरणसे एकदम छुटकारा पा जाते हैं।)

[यह हुई प्रस्तावना। अब पहले बतलाते है, कि प्रकृति मेराही स्वरूप है, फिर साख्योंके द्वैतको अलगकर, वेदान्तशास्त्रके अनुकूल यह निरूपण करते हैं, कि प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंसे सृष्टिके नाना प्रकारके व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते है –]

§§ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

§§ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

(३) हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरीही योनि है और मैं उसमें गर्भ रखता हूँ, फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौंतेय। (पशुपक्षी आदि) सब योनियोमें जो जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

(५) हे महाबाहु ! प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देहमें रहनेवाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्माको देहमें बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन ! इन गुणोमेंसे निर्मलताके कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञानके साथसे (प्राणीको) बाँधता है। (७) रजोगुणका स्वभाव रागात्मक है और उससे तृष्णा और आसक्तिकी उत्पत्ति होती है। हे कौंतेय ! वह प्राणीको कर्म करनेके (प्रवृत्तिरूप) सगसे बाँध डालता है। (८) किंतु तमोगुण अज्ञानसे उपजता है और वह सब प्राणियोको मोहमें डालता है। हे भारत ! वह प्रमाद, आलस्य, और निद्रासे (प्राणी)को बाँध लेता है। (९) सत्त्वगुण सुखमें, और रजोगुण कर्ममे, आसक्ति उत्पन्न करता है। परतु हे भारत ! तमोगुण ज्ञानको ढँक-कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्यमूढतामें, या कर्तव्यके विस्मरणमें, आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम, इन तीनो गुणोके ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किंतु ये गुण कभीभी पृथक् पृथक् नही रहते, तीनो सदैव एकत्र रहा करते हैं।

§§ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
§§ यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

| उदाहरणार्थ, कोईभी भला काम करना यद्यपि सत्त्वका लक्षण है, तथापि भले
| कामको करनेकी प्रवृत्ति होना रजका धर्म है, इस कारण सात्त्विक स्वभावमेंभी
| थोडे से रजका मिश्रण सदैव रहताही है। इसीसे अनुगीतामें इन गुणोका इस
| प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है, कि तमका मिथुन अर्थात् जोडा सत्त्व है, और
| सत्त्वका जोडा रज है (मभा अश्व ३६), और कहा है, कि इनके अन्योन्य
| अर्थात् पारस्परिक आश्रयसे अथवा झगडेसे सृष्टिके सब पदार्थ बनते हैं (सा का
| १२, गीतार प्र ७, पृ १५८, १५९)। अब पहले इसी तत्त्वको बतलाकर
| फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावके लक्षण बतलाते हैं –]

(१०) रज और तमको दबाकर सत्त्व (बलवान) हो जाता है, (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये), एव इसी प्रकार सत्त्व और तमको दबाकर रज, तथा सत्त्व और रजको दबाकर तम (बलवान हुआ करता है) (११) जब इस देहके सब द्वारोमें (इद्रियोमें) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होना, है, तब समझना चाहिये, कि सत्त्वगुण बढा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुणके बढनेमे लोभ, कर्मकी प्रवृत्ति और उसका आरभ अतृप्ति एव इच्छा उत्पन्न होती हैं। (१३) और हे कुरुनदन! तमोगुणकी वृद्धि होनेपर अधेरा, कुछभी न करनेकी प्रवृत्ति, प्रमाद अर्थात् कर्तव्यकी विस्मृति और मोहभी उत्पन्न होता है।

| [यह बतला दिया, कि मनुष्यकी जीवितावस्थामें त्रिगुणोके कारण
| उसके स्वभावमे कौन कौन-से फर्क पडते हैं। अब बतलाते हैं, कि इन तीन
| प्रकारके मनुष्योको कौन-सी गति मिलती है –]

(१४) सत्त्वगुणके उत्कर्ष-कालमें यदि प्राणी मर जावे, तो उत्तम तत्त्व जाननेवालोंके, अर्थात् देवता आदिके, निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उसको प्राप्त

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

होते हैं। (१५) रजोगुणकी प्रबलतामें यदि मरे, तो जो कर्मोंमें आसक्त हों, उनमें (जनोंमें) जन्म लेता है, और तमोगुणमें मरे, तो (पशुपक्षी आदि) मूढ योनियोंमे उत्पन्न होता है। (१६) कहा है, कि पुण्य कर्मका फल निर्मल और सात्त्विक होता है, परतु राजस कर्मका फल दु ख, और तामस कर्मका फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्वसे ज्ञान, तो रजोगुणसे केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुणमे न केवल प्रमाद और मोहही उपजता है, प्रत्युत अज्ञानकीभी उत्पत्ति होती है। (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपरके अर्थात् स्वर्ग आदि लोकोको जाते हैं। राजस मध्यम लोकमे अर्थात् मनुष्यलोकमें रहते हैं और कनिष्ठगुणवृत्तिके तामस अधोगति पाते हैं।

[साख्यकारिकामेंभी यह वर्णन है, कि धार्मिक और पुण्य कर्म-कर्ता होनेके कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है, और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सा का ४४)। इसी प्रकार यह १८ वाँ श्लोक अनुगीताके त्रिगुण-वर्णनमेभी ज्यो-का-त्यो आया है (मभा अश्व ३९ १०, मनु १२ ४०) सात्त्विक कर्मोंसे स्वर्ग-प्राप्ति भले हो जावे, पर स्वर्गसुख है तो अनित्य ही। इस कारण परम पुरुषार्थकी सिद्धि उससे नही होती है। साख्योका सिद्धान्त है, कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्षकी प्राप्तिके लिये उत्तम सात्त्विक स्थिति तो रहेही, उसके सिवा यह ज्ञान होनाभी आवश्यक है, कि प्रकृति अलग है और मैं (पुरुष) जुदा हूँ। साख्य इसीको त्रिगुणातीत अवस्था कहते है, और यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोसेभी परेकी है, तोभी यह सात्त्विक अवस्था-कीही पराकाष्ठा है, इस कारण इसका समावेश सामान्यत सात्त्विक वर्गमेही किया जाता है, उसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनानेकी आवश्यकता नही है (गीतार प्र ७, पृ १६८)। परतु गीताको प्रकृति-पुरुषवाला साख्योका यह द्वैत मान्य नही है, इसलिये साख्योके उक्त सिद्धान्तका गीतामें इस प्रकार रूपा-तर हो जाता है, कि प्रकृति और पुरुषसे परे जो एक आत्मस्वरूपी परमेश्वर या परब्रह्म है। यही अर्थ अब अगले श्लोकोमे वर्णित है –]

§§ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

अर्जुन उवाच।

§§ कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते॥ २३॥

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनतासे देखनेवाला पुरुष, जब जान लेता है, कि (प्रकृतिके) गुणोंके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है, और जब (तीनों) गुणोंसे परेके (तत्त्वको) पहचान लेता है, तब वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है। (२०) देहधारी मनुष्य देहकी उत्पत्तिके कारण स्वरूप उन तीनों गुणों जाकर जन्म, मृत्यु और बुढ़ापेके दुःखोंसे विमुक्त होता हुआ अमृतका अर्थात मोक्षका अनुभव करता है।

[वेदान्तमें जिसे माया कहते हैं, उसीको सांख्य-मतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, इसलिये त्रिगुणातीत होनाही मायासे छूट कर परब्रह्मको पहचान लेना है (गीतार २ ४५), और इसीको ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गीता २ ७२, १८ ५३)। अध्यात्मशास्त्रमें बतलाये हुए त्रिगुणातीतके इस लक्षणको सुनकर उसका और अधिक वृत्तान्त जाननेकी अर्जुनको इच्छा हुई, और पीछे द्वितीय अध्याय में (गीता २ ५४) जैसा उसने स्थितप्रज्ञके संबंधमें प्रश्न किया था, वैसाही यहांभी वह पूछता है —]

अर्जुनने कहा – (२१) हे प्रभो! किन लक्षणोंसे (जाना जाय कि वह) इन तीनों गुणोंके परे चला जाता है? (मुझे बतलाइये, कि) उसका (त्रिगुणातीतका) आचार क्या है और वह इन तीन गुणोंके परे कैसे जाता है?

श्रीभगवानने कहा – (२२) हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रमसे सत्त्व, रज और तम, इन गुणोंके कार्य अथवा फल) प्राप्त होनेसेभी जो उनका द्वेष नहीं करता, और प्राप्त न हो, तोभी उनकी आकांक्षा नहीं रखता, (२३) जो (कर्मफलके संबंधमें) उदासीन-सा रहता है, (सत्त्व, रज और तम ये गुण जिसे

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

एकनिष्ठ भक्तियोगसे, मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणोंसे परे जाकर ब्रह्मभूत अवस्था पा लेनेमें समर्थ हो जाता है।

[संभव है, इस श्लोकसे यह शंका हो, कि जब त्रिगुणातीत अवस्था सांख्य-मार्गकी है, तब वही अवस्था कर्म-प्रधान भक्तियोगसे कैसे प्राप्त हो जाती है? इसीसे भगवान् कहते हैं –]

(२७) क्योंकि, अमृत और अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत धर्मका, एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधिके अत्यंत सुखका अंतिम स्थान मैंही हूं।

[इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि सांख्योंके द्वैतको छोड देनेपर सर्वत्र एकही परमेश्वर रह जाता है, इस कारण उसीकी भक्तिसे त्रिगुणातीत अवस्थाभी प्राप्त होती है। तथापि एकही परमेश्वर मान लेनेसे साधनोंके संबंधमें गीताका कोईभी आग्रह नहीं है (गीता १३ २४, २५)। गीतामें भक्तिमार्गको सुलभ अतएव सब लोगोंके लिये ग्राह्य कहा है, यह कहींभी नहीं कहा है, कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीतामें केवल भक्ति, केवल ज्ञान अथवा केवल योगही प्रतिपाद्य है, – ये मत भिन्न-भिन्न संप्रदायोंके अभिमानियोंने पीछेसे गीतापर लाद दिये हैं। गीताका सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निरालाही है मार्ग कोईभी हो, गीताका मुख्य प्रश्न यही है, कि परमेश्वरका ज्ञान हो चुकनेपर संसारके कर्म लोकसंग्रहार्थ किये जावें या छोड दिये जावें? और इसका साफ साफ उत्तर पहलेही दिया जा चुका है, कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार भगवानने गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पंचदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

पंद्रहवाँ अध्याय

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञके विचारके सिलसिलेमें तेरहवे अध्यायमे उसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचारके सदृश साख्योंके प्रकृति-पुरुपका विवेक वतलाया है, और चौदहवे अध्यायमें कहा है, कि प्रकृतिके तीन गुणोसे मनुष्य-मनुष्यमें स्वभाव-भेद कैसे उत्पन्न होता है और उससे सात्त्विक आदि गति-भेद क्योकर होते हैं? फिर यह विवेचन किया है, कि त्रिगुणातीत अवस्था या अध्यात्म-दृष्टिसे ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सव निरूपण साख्योको परिभाणमे है अवश्य, परतु साख्योके द्वैतको स्वीकार न करते हुए, जिस एकही परमेश्वरकी विभूतियाँ प्रकृति और पुरुश दोनो है, उस परमेश्वरका ज्ञान-विज्ञान-दृष्टिसे निरूपण किया गया है। परमेश्वरके स्वरूपके इस वर्णनके अतिरिक्त आठवे अध्यायमे अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाये जा चुके है। और, यह पहलेही कह चुके है, कि सव स्थानोमें एकही परमात्मा व्याप्त है, एव क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञभी वही है। अव इस अध्यायमे पहले यह वतलाते हैं, कि परमेश्वरकीही रची हुई सृष्टिके विस्तारका, अथवा परमेश्वरके नामरूपात्मक विस्तारकाही, कभी कभी वृक्षरूपसे या वनरूपसे जो वर्णन पाया जाता है, उसका वीज क्या है, फिर परमेश्वरके सभी रूपोमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तमस्वरूपका वर्णन किया है।]

श्रीभगवानने कहा (१) जिस अश्वत्थ वृक्षका ऐसा वर्णन करते हैं, कि जड (एक) ऊपर है, और शाखाएँ (अनेक) नीचे है, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नही पाता, (एव) छन्दासि अर्थात् वेद जिसके पत्ते है, उसे (वृक्षको) जिसने जान लिया, वह पुरुष (सच्चा), वेदवेत्ता (है)।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्षका अर्थात् ससारवृक्षका है। यहाँपर ससारका यह सकुचित अर्थ विवक्षित नही है, कि "स्त्री-वाल-वच्चोमे रहकर नित्य व्यवहार करते रहे", परन्तु उसका यहाँ "आँखोके सामने दिखाई देनेवाला जगत् अथवा दृश्य-सृष्टि" अर्थ है। इस ससारकोही साख्य-मतवादी "प्रकृतिका विस्तार" और वेदान्ती "भगवानकी मायाका पसार" कहते है, एव अनुगीतामें इसेही "ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन" (ब्रह्मारण्य) कहा है (मभा अश्व ३५, ४७)।

यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्ममेंही है, कि प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मोमेंभी पाया जाता है, एक बिलकुल छोटे-से बीजसे जिस प्रकार बडा भारी गगनचुंबी वृक्ष निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वरसे दृश्य-सृष्टिरूप भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है। युरोपकी पुरानी भाषाओंमें इसके नाम 'विश्ववृक्ष' या 'जगत्वृक्ष' हैं। ऋग्वेदमें (१ २४ ७) वर्णन है, कि वरुण-लोकमें एक ऐसा वृक्ष है, कि जिसकी किरणोंकी जड ऊपर (ऊर्ध्वं) है और उसकी किरणें ऊपरसे नीचे (निचीना) फैलती हैं। विष्णुसहस्रनाममें 'वारुणो वृक्ष '(वरुणके वृक्ष) को परमेश्वरके हजार नामोंमेंसे एकही नाम कहा हैं। यम और पितर जिस ' सुपलाश वृक्ष 'के नीचे बैठकर सहपान करते हैं (ऋ १० १३५ १), अथवा जिसके " अग्रभागमें स्वादिष्ट पीपल है, और जिसपर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते है " (ऋ १ १६४ २२), या " जिस पिप्पलको (पीपल) वायुदेवता (मरुद्गण) हिलाते हैं " (ऋ ५ ५४ १२), वह वृक्षभी यही है, अथर्ववेदमें जो यह वर्णन है, कि " देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोकमें (वरुणलोकमें) है " (अथर्व ५ ४ ३, १९ ३९ ६), वहभी इसी वृक्षके संबंधमें जान पडता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (३ ८ १२ २) अश्वत्थ शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हैं – पितृयाण-कालमें अग्नि अथवा यज्ञप्रजापति देवलोकसे नष्ट होकर इस वृक्षमें अश्वका (घोडे) रूप धरकर एक वर्षतक छिपा रहा था, इसीसे इस वृक्षका अश्वत्थ नाम हो गया (मभा अनु ८५), और कई एक नैरुक्तिकोंका यहभी मत है, कि पितृयाणकी लंबी रात्रिमें सूर्यके घोडे यमलोकमें इस वृक्षके नीचे विश्राम किया करते हैं, इसलिये इसको अश्वत्थ (अर्थात् घोडेका स्थान) नाम प्राप्त हुआ होगा। 'अ' = नही, 'श्व' = कल और 'त्थ' = स्थिर – यह आध्यात्मिक निरुक्ति पीछेकी कल्पिता है। नामरूपात्मक मायाका स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हरघडीमें पलटनेवाला है, तब उसको " कलतक न रहनेवाला " तो कह सकेंगे, परंतु 'अव्यय', अर्थात् जिसका कभीभी व्यय नही होता, विशेषण स्पष्ट कर देता है, कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नही है। पहले पीपलके वृक्षकोही अश्वत्थ कहते थे, और कठोपनिषद्में (६ १) जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थवृक्ष कहा गया है –

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।

वहभी यही है, और 'ऊर्ध्वमूलमध शाखं' इस पद-सादृश्यसेही व्यक्त होता है, कि भगवद्गीताका वर्णन कठोपनिषदके वर्णनसेही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्गमें है, और उससे उपजा हुआ जगद्वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्य-लोकमें है, अत वर्णन किया गया है, कि इस वृक्षका मूल (अर्थात् परमेश्वर) ऊपर हैं, और इसकी अनेक शाखाएँ अर्थात् जगतका फैलाव नीचे विस्तृत है। परंतु

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

प्राचीन धर्मग्रथोमें एक और कल्पनाभी पाई जाती है, कि यह ससारवृक्ष वटवृक्ष होगा, न कि पीपल, क्योकि वडके पेडके पाये ऊपरसे नीचे को वढते जाते हैं। उदाहरणके लिये यह वर्णन है, कि अश्वत्थवृक्ष आदित्यका वृक्ष है और "न्यग्रोधो वारुणो वृक्ष"। न्यग्रोध अर्थात् नीचे (न्यक्) वढनेवाला (रोध) वटवृक्ष वरुणका वृक्ष है (गोभिलगृह्य ४ ७ २४), और महाभारतमे लिखा है, कि मार्कंडेय ऋषिने प्रलयकालमें वालरूपी परमेश्वरको एक (उस प्रलयकाल-मेंभी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् वडके पेडकी शाखापर देखा था। मभा वन १८८ ९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषदमे यह दिखलानेके लिये अव्यक्त परमेश्वरसे अपार दृश्य जगत् कैसे निर्माण होता है, जो दृष्टान्त दिया है, वहभी न्यग्रोधके वीजकाही है (छा ६ १२ १)। श्वेताश्वतर उपनिषदमेंभी विश्ववृक्षका वर्णन है (श्वे ६ ६), परतु वहाँ स्पष्ट नही वतलाया, कि यह कौन-सा वृक्ष है। मुडक उपनिषद्में (३ १) ऋग्वेदकाही यह वर्णन ले लिया है, कि, इसी वृक्षपर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) वैठे हुए है, जिनमेंसे एक पिप्पल अर्थात् पीपलके फलोको खाता है। पीपल और वडको छोड, इस ससारवृक्षके स्वरूपकी तीसरी कल्पना औदु-वरकी है, एव पुराणोमें यह दत्तात्रेयका वृक्ष माना गया है। साराश, प्राचीन ग्रथोमें ये तीनो कल्पनाएँ है, कि परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न हुआ जगत् एक वडा पीपल, वड या औदुवर है, और इसी कारणसे विष्णु सहस्रनाममें विष्णुके ये तीन वृक्षात्मक नाम दिये है – 'न्यग्रोधोदुम्वरोऽऽश्वत्थ' (मभा अनु १४९ १११), एव समाजमेभी येही तीन वृक्ष देवतात्मक और पूजनेयोग्य माने जाते है। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता, दोनोही महाभारतके भाग है, और जव कि विष्णुसहस्रनाममें औदुवर, वरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ, येही तीन पृथक् नाम दिये गये है, तव गीतामें 'अश्वत्थ' शव्दका पीपलही (औदुवर या वरगद नही) अर्थ लेना चाहिये, और मूलका अर्थभी वही है। "छदासि अर्थात् वेद जिसके पत्ते है" इस वाक्यके 'छदासि' शव्दमें छद् = ढँकना धातु मानकर (छा १ ४ २) वृक्षको ढँकनेवाले पत्तोंमे वेदोकी समता वर्णित है, और अतम कहा है, कि यह वर्णन सपूर्ण वैदिक परपराके अनुसार है, अत इसे जिसने जान लिया, उसे वेदवेत्ता कहना चाहिये। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका, अव इसी वृक्षका दूसरे प्रकारसे अर्थात् साख्यशास्त्रके अनुसार वर्णन करते है –]

(२) उसकी शाखाएँ नीचे और ऊपरभी फैली हुई है, कि जो (सत्त्व आदि तीनो) गुणोसे पली हुई है, और जिनसे (शव्द-स्पर्श-रूप-रस और गध-रूपी)

§§ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

विषयोके अकुर फूटे हुए हैं, एव अतमे कर्मका रूप पानेवाली उसकी जडें नीचेभी मनुष्यलोकमें वढती दूर चली गई हैं।

[गीतारहस्यके आठवे प्रकरणमें (पृ १८०) इस वातका विस्तार-सहित निरूपण कर दिया है, कि साख्यशास्त्रके अनुसार प्रकृति और पुरुष, ये दोही मूल तत्त्व है, और जव त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुपके आगे अपना विस्तार सजाने लगती है, तव महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और उनसे यह ब्रह्माड-वृक्ष वन जाता है। परतु वेदान्तशास्त्रकी दृष्टिसे प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह परमेश्वरकाही एक अश है, अत त्रिगुणात्मक प्रकृतिके इस विस्तारको स्वतन्त्र वृक्ष न मानकर वेदान्तशास्त्रने यह सिद्धान्त किया है, कि ये शाखाएँ 'ऊर्ध्वमूल' पीपलकेही हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार, अव कुछ निराले स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है, कि पहले श्लोकमें वर्णित वैदिक 'अध शाख' वृक्षकी 'त्रिगुणोसे पली हुई' शाखाएँ न केवल नीचेही, प्रत्युत 'ऊपर'भी फैली हुई है और उसमें कर्मविपाकप्रक्रियाका धागाभी अतमें पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्मवृक्षके वर्णनमे केवल साख्यशास्त्रके चौबीस तत्त्वोकाही ब्रह्मवृक्ष वतलाया गया है, उसमें इम वृक्षके वैदिक और साख्य वर्णनोका मेल नही मिलाया गया है (मभा अश्व ३५, २२, २३, गीतार प्र ८, पृ १८०)। परतु गीतामे ऐसा नही किया, और दृश्य-सृष्टिरूप वृक्षके नातेसे वेदोमें पाये जानेवाले परमेश्वरके वर्णनका, और साख्यशास्त्रोक्त प्रकृतिके विस्तारका या ब्रह्माड-वृक्षके वर्णनका, इन दो श्लोकोमें मेल कर दिया है। मोक्ष-प्राप्तिके लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्षके इस विस्तारसे मुक्त हो जाना चाहिये। परतु यह वृक्ष इतना वडा है, कि इसके ओर-छोरका पताही नही चलता। अतएव अव वतलाते है, कि इस विराट् वृक्षका नाश करके इसके मूलमें वर्तमान अमृत-तत्त्वको पहचाननेका कौन-सा मार्ग है –]

(३) परतु इस लोकमें (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नही होता, अथवा अन्त, आदि और आधारस्थानभी नही मिलता। अत्यन्त गहरी जडोवाले इस अश्वत्थको (वृक्ष) अनासक्तिरूप सुदृढ तलवारसे काट कर, (४) फिर उस स्थानको ढूंढ निकालना चाहिये, कि जहांसे फिर लौटना नही पडता, और यह सकल्प करना चाहिये, कि (सृष्टिक्रमकी यह) "पुरातन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुषकी ओर मैं जाता हूँ।"

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

[गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें (गीतार प्र १०, पृ २८७–२९१) विवेचन किया है, कि सृष्टिका फैलावही नामरूपात्मक कर्म है, और यह कर्म अनादि है। आसक्त-बुद्धि छोड देनेसे इसका क्षय हो जाता है, किसीभी दूसरे उपायसे इसका क्षय नही हो सकता। क्योकि यह स्वरूपत अनादि और अव्यय है। तीसरे श्लोकके " उसका स्वरुप या आदि-अत नही मिलता " इन शव्दोसे यह सिद्धान्त किया गया है, कि कर्म अनादि है; आगे और चलकर इसही कर्मवृक्षका क्षय करनेके लिये, अनासक्ति एकमेव साधन वतलाया है। ऐसेही उपासना करते समय जो भावना मनमें रहती हैं, उसके अनुसार आगे फल मिलता है (गीता ८ ६)। अतएव चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कर दिया है, कि वृक्ष-छेदनकी यह क्रिया होते समय मनमें कौन-सी भावना रहनी चाहिये ? शाकरभाष्यमें " तमेव चाद्य पुरुष प्रपद्ये " जो पाठ है, उसमे वर्तमानकालके प्रथम पुरुषके एकवचनका 'प्रपद्ये' क्रियापद है, जिससे यह अर्थ करना पडता है, और उसमें 'इति'सरीखे किसी न किसी पदका अध्याहारभी करना पडता है। इस कठिनाईको हटानेके लिये रामानुजभाष्यमे लिखित ' तमेव चाद्य पुरुष प्रपद्येयत प्रवृत्ति " पाठातरको स्वीकार कर ले, तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा, कि " जहाँ जानेपर फिर पीछे नही लौटना पडता, उस स्थानको खोजना चाहिये, (और) जिससे, सव सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है, उसीमें मिल जाना चाहिये "। किंतु 'प्रपद्' धातु है, नित्य आत्मनेपदी। इससे उसका विध्यर्थक अन्य पुरुषका रूप 'प्रपद्येत्' हो नही सकता। 'प्रपद्येत्' परस्मैपदका रूप है, और वह व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध है। प्राय इसी कारणसे शाकरभाष्यमें यह पाठ स्वीकार नही किया गया है, और यही युक्तिसगत है। छादोग्य उपनिषदके कुछ मत्रोमे 'प्रपद्ये' पदका विना 'इति'के इसी प्रकार उपयोग किया गया है (छा ८ १४ १)। 'प्रपद्ये' क्रियापद प्रथमपुरुषान्त हो तो कहना न होगा, कि वक्तासे अर्थात् उपदेशकर्ता श्रीकृष्णसे उसका सवध नही जोडा जा सकता। अव यह वतलाते है, कि इस प्रकारसे क्या फल मिलता है –]

(५) जो मान और मोहसे विरहित है, जिन्होंने आसक्ति-दोषको जीत लिया है, जो अध्यात्म-ज्ञानमें सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदु खसज्ञक द्वद्वोसे मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थानको जा पहुँचते है। (६) जहाँ

§ § ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

जाकर फिर लौटना नही पडता, (ऐसा) वह मेरा परम स्थान है। उसे न तो सूर्य, न चद्रमा (और) न अग्निभी प्रकाशित करना है।

[इनमेंसे छठा श्लोक श्वेताश्वतर (६ १४), मुडक (२ २ १०) और कठ (५ १५) इन तीनो उपनिषदोमें पाया जाता है। सूर्य, चद्र या तारे, ये सभी तो नामरूपोकी श्रेणीमें आ जाते हैं, और परब्रह्म इन सब नामरूपोंसे परे है, इस कारण सूर्य-चद्र आदिको परब्रह्मकेही तेजसे प्रकाश मिलता है, फिर यह प्रकटही है, कि परब्रह्मको प्रकाशित करनेके लिये किसी दूसरेकी अपेक्षाही नही है। ऊपरके श्लोकमें 'परम स्थान' शब्दका अर्थ 'परब्रह्म' है, और इस ब्रह्ममें मिल जानाही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है। वृक्षका रूपक लेकर अध्यात्म-शास्त्रमें परब्रह्मका जो ज्ञान बतलाया जाता है, उसका विवेचन समाप्त हो गया। अब पुरुषोत्तम-स्वरूपका वर्णन करना है, परतु अतमें जो यह कहा है, कि "जहां जाकर लौटना नही पडता" उससे सूचित होनेवाली जीवकी उत्क्राति और उसके साथही जीवके स्वरूपका पहले वर्णन करते हैं —]

(७) जीवलोकमें (कर्मभूमि) मेराही सनातन अश जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली मनसहित छ अर्थात् मन और पांच, (सूक्ष्म) इद्रियोको वह (अपनी ओर) खीच लेता है। (इसीको लिंग-शरीर कहते हैं)। (८) (यह) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है, और जब वह (स्थूल शरीरसे) निकल जाता है, तब यह (जीव) उन्हे (मन और पांच इद्रियोको) वैसेही साथ ले जाता है, जैसे कि (गधके पुष्प आदि) आश्रयसे वायु गधको ले जाता है। (९) कान, आंखें, त्वचा, जीभ, नाक और मनमेंभी ठहरकर यह (जीव) विषयोको भोगता है।

[इन तीन श्लोकोमेंसे, पहलेमें यह बतलाया है, कि सूक्ष्म या लिंग-शरीर क्या है, फिर इन तीन अवस्थाओका वर्णन किया है, कि यह लिंग-शरीर स्थूल देहमें कैसे प्रवेश करता है, उससे बाहर कैसे निकलता है, और उसमें रहकर विषयोका उपभोग कैसे करता है। साख्य-मतके अनुसार यह सूक्ष्म शरीर महान् तत्त्वसे लेकर सूक्ष्म पचतन्मात्राओतकके अठारह तत्त्वोसे बना है, और वेदान्त-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
§§ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

| सूत्रोमे (३ १ १) कहा है, कि पच सूक्ष्म भूतोका औरप्राणकाभी उसमें समावेश होता है (गीतार प्र ८, पृ १८८–१९२)। ऐसेही मैत्र्युपनिषदमें (६ १०) वर्णन है, कि सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वोका बना है। इसमे कहना पडता है, कि "मन और पाँच इद्रियाँ" इन शब्दोसे सूक्ष्म शरीरमें वर्तमान दूसरे तत्त्वोका सग्रहभी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्त-सूत्रोमेभी (वे सू २ ३ १७, ४३) 'नित्य' और 'अश' इन दो पदोका उपयोग करकेही यह सिद्धान्त बतलाया है, कि जीवात्मा परमेश्वरसे बारबार नये सिरेसे उत्पन्न नही हुआ करता, वह परमेश्वरका 'सनातन अश' है (गीता २ २४), और गीताके तेहरवे अध्यायमे (१३ ४) जो यह कहा है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ब्रह्म-सूत्रोसे लिया गया है, उसका इससे दृढीकरण हो जाता है (गीतार परिशिष्ट पृ ५३९–५४०)। गीतारहस्यके नवे प्रकरणमे (पृ २४७) दिखलाया है, कि 'अश' शब्दका अर्थ 'घटकाशादि'वत् अश समझना चाहिये, न कि खडित 'अश'। शरीरको धारणा करना, शरीरको छोड देना, एव उपभोग करना – इन तीनो क्रियाओके इस प्रकार जारी रहनेपर –]

(१०) (शरीरसे) निकल जानेवालेको अथवा रहनेवालेको, गुणोसे युक्त हो कर (आपही नही) उपभोग करनेवालेको मूर्ख लोग नही जानते। ज्ञानचक्षुसे देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते है। (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपनेमें स्थित इस आत्माको पहचानते हैं। परतु वे अज्ञ लोग, कि जिनका आत्मा अर्थात् बुद्धि सस्कृत नही है, प्रयत्न करकेभी उसे नही पहचान पाते।

| [१० वे और ११ वे श्लोकमे ज्ञानचक्षु या कर्म-योगमार्गसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन कर जीवकी उत्क्रातिका वर्णन पूरा किया है। पिछले सातवे अध्यायमे आत्माकी सर्वव्यापकताका जैसा वर्णन किया गया है (गीतार ७ ८–१२), वैसाही अब उसका फिर थोडा-सा वर्णन प्रस्तावनाके ढँगपर करके, आगे सोलहवे श्लोकमे पुरुषोत्तम-स्वरूपका वर्णन किया है।]

(१२) जो तेज सूर्यमें रहकर सारे जगतको प्रकाशित करता है, जो तेज चद्रमा और अग्निमें है, उसे मेराही तेज समझ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

§§ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

(१३) इसी प्रकार पृथ्वीमें प्रवेशकर, मैंही (सब) भूतोको अपने तेजसे धारण करता हूँ, और रसात्मक सोम (चद्रमा) हो कर सब ओषधियोका अर्थात् वनस्पतियोका पोषण करता हूँ।

[सोम शब्दके 'सोमवल्ली' और 'चद्र', दोनो अर्थ है, और वेदोमें वर्णन है, कि चद्र जिस प्रकार जलात्मक, अशुमान और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्लीभी है, और दोनोकोभी 'वनस्पतियोका राजा' कहा है। तथापि पूर्वापार सदर्भसे यहाँ चद्रही विवक्षित हैं। इस श्लोकमें यह कहकर, कि चद्रका तेज मैंही हूँ, फिर इसी श्लोकमे वतलाया है, कि वनस्पतियोका पोषण करनेका चद्रका जो गुण है, वहभी मैंही हूँ। अन्य स्थानोमेंभी ऐसे वर्णन है, कि जलमय होनेसे चद्रमें यह गुण है और इससे वनस्पतियोकी वाढ होती है।]

(१४) मैं वैश्वानररूप अग्नि होकर प्राणियोकी देहोमें रहता हूँ, और प्राण एव अपानसे युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय ऐसे) चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ। (१५) इसी प्रकार मैं सबके हृदयमें अधिष्ठित हूँ, स्मृति, और ज्ञान, एव, अपोहन अर्थात् उनका नाश, मुझसेही होता है, तथा सब वेदोसे जाननेयोग्य मैंही हूँ। वेदान्तका कर्ता और वेद जाननेवालाभी मैंही हूँ।

[इस श्लोकका दूसरा चरण कैवल्य उपनिषदमें (कै २ ३) है, और उसमें 'वेदैश्च सर्वै' के स्थानमें 'वेदैरनेकै' इतनाही पाठभेद है। तब जिन्होंने गीताकालमे 'वेदान्त' शब्दका प्रचलित होना न मानकर ऐसी दलीले की हैं, कि या तो यह श्लोकही प्रक्षिप्त होगा या इसके 'वेदान्त' शब्दका कुछ औरही अर्थ लेना चाहिये, वे सब दलीले वे-जड-वुनियादकी हो जाती है। 'वेदान्त' शब्द मुडक (३ २ ६) और श्वेताश्वतर (६ २२) उपनिषदोमे आया है, तथा श्वेताश्वतरके कुछ मत्र तो गीतामें हूबहू आ गये हैं। अब निरुक्ति-पूर्वक पुरुषोत्तमका लक्षण वतलाते हैं —]

(१६) (इस) लोकमें 'क्षर' और 'अक्षर', ये दो पुरुष है। सब (नाशवान्)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

भूतोको क्षर कहते है, और कूटस्थको, अर्थात् इन सब भूतोंके मूलमें (कूट) रहनेवाले को,(कृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) अक्षर कहते है। (१७) परतु उत्तम पुरुष (इन दोनोंसे) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते है। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्यमे व्याप्त होकर (त्रैलोक्यका) पोपण करता है। (१८) जब कि मै क्षरसेभी परेका और अक्षरसेभी उत्तम (पुरुप) हूँ, लोक-व्यवहारमे और वेदोमेंभी पुरुपोत्तम नामसे मै प्रसिद्ध हूँ।

[सोलहवे श्लोकके 'क्षर' और 'अक्षर' ये दो शब्द साख्यशास्त्रके – व्यक्त और अव्यक्त, अथवा व्यक्त-सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति – इन दो शब्दोसे समानार्थक है। प्रकट हैं, कि इनमेसे क्षरही नाशवान् पचभूतात्मक व्यक्त पदार्थ है। परतु स्मरण रहे, कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई वार जब परब्रह्मकोभी लगाया गया है (गीता ८ ३, ८ २१, ११ ३७, १२ ३), तब पुरुषोत्तमके उल्लिखित लक्षणमें 'अक्षर' शब्दका अर्थ अक्षर-ब्रह्म नही है, किंतु उसका अर्थ साख्योकी अक्षर-प्रकृति है, और इस गडबडसे बचानेके लियेही सोलहवे श्लोकमें " अक्षर अर्थात् कूटस्थ प्रकृति " यह विशेप व्याख्या की है(गीतार प्र ९, पृ २०२–२०५)। साराश, व्यक्त-सृष्टि और अव्यक्त-प्रकृतिके परेका अक्षर-ब्रह्म (गीता ८ २०–२२ पर हमारी टिप्पणी देखो), और 'क्षर' (व्यक्त-सृष्टि) एव 'अक्षर'से (प्रकृति) परेका पुरुषोत्तम, वास्तवमे ये दोनों एकही है। तेरहवे अध्यायमें (गीता १३ ३१) कहा गया है, कि इसेही परमात्मा कहते है और यही परमात्मा शरीरमें क्षेत्रज्ञरूपसे रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि क्षर- अक्षर-विचारमें जो मूल तत्त्व अतमें अक्षर-ब्रह्म निष्पन्न होता है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचारकाभी वही पर्यवसान है, अथवा 'पिंडमें और ब्रह्मांडमें' एकही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यहभी बतलाया गया है, कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृतिका अथवा प्राचीन अश्वत्थ वृक्षका भी तत्त्व यही है। इस ज्ञान-विज्ञान प्रकरणका अतिम निष्कर्ष यह है, कि जिसने जगत की इस एकताको जान लिया, और जिसके मनमें यह पहचान जिंदगी-भरके लिये स्थिर हो गई (वे सूत्र ४ १ १२, गीता ८ ६), कि " सब भूतोमें एक आत्मा है " (गीत ६ २९) वह कर्मयोगका आचरण करते करतेही परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेता है। कर्म न करनेपर केवल परमेश्वर-

§§ यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

| भक्तिसेभी मोक्ष मिल जाता है, परंतु गीताके ज्ञान-विज्ञान-निरूपणका वह
| तात्पर्य नहीं है। सातवें अध्यायके आरंभमेंही कह दिया है, कि ज्ञान-विज्ञानके
| इस निरूपणका आरंभ यह दिखलानेके लियेही किया गया है, कि ज्ञानसे
| अथवा भक्तिसे शुद्ध हुई निष्काम बुद्धिके द्वारा संसारके सभी कर्म करने
| चाहिये, और उन्हें करते हुएही मोक्ष मिलता है। अब बतलाते हैं, कि इसे जान
| लेनेसे क्या फल मिलता है –]

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोहके जो मुझेही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभावसे मुझेही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत! यह गुह्यसेभी गुह्यशास्त्र मैंने बतलाया है। इसे जानकर (मनुष्य) बुद्धिमान् अर्थात बुद्ध या जानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

| [यहाँ बुद्धिमानकाही 'बुद्ध अर्थात् जानकार' अर्थ है, क्योंकि भारत
| (शां. २४८. ११) में इसी अर्थमें 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' शब्द आये हैं। महा-
| भारतमें 'बुद्ध' शब्दका रूढार्थ 'बुद्धावतार' कहींभी नहीं आया है। (गीतार.
| परिशिष्ट पृ. ५६३)।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षोडशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

सोलहवाँ अध्याय ।

[पुरुषोत्तमयोगसे क्षर-अक्षर-ज्ञानकी परमावधि हो चुकी, और सातवे अध्यायमे जिस ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरभ यह दिखलानेके किया गया था, कि कर्मयोगका आचरण करते रहनेसे परमेश्वरका ज्ञान होता है और उसीसे मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी और अव यही उसका उपसहार करना चाहिये। परतु नवे अध्यायमे (९ १२) भगवानने जो यह विलकुल सक्षेपमे कहा था, कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूपको नही पहचानते, उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस अध्यायका आरभ किया गया है, अगले अध्यायमे इसका कारण वतलाया गया है, कि मनुष्य-मनुष्यमे भेद क्यो होते है और अठारहवे अध्यायमे पूरी गीताका उपसहार है।]

श्रीभगवानने कहा – (१) अभय (निडर), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञान-योगव्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान-(मार्ग) और (कर्म-)योगकी तारतम्यसे व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्मके अनुसार आचरण, तप, सरलता, (२) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग अर्थात् कर्मफलका त्याग, शाति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र-दृष्टि छोडकर उदार भाव रखना, सव भूतोमें दया, तृष्णा, मृदुता, न रखना (बुरे कामकी) लाज, अचापलता अर्थात् फिजूल कामोका छूट जाना, (३) तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना – हे भारत ! (ये) गुण दैवी सपत्तिमें जन्मे हुए पुरुषोको प्राप्त होते है।

[दैवी सपत्तिके ये छव्वीस गुण और तेरहवे अध्यायमें वतलाये हुए ज्ञानके लक्षण (गीता १३ ७–११) वास्तवमें एकही है, और इसीसे आगेके

§§ दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

[श्लोकमें 'अज्ञान'का समावेश आसुरी लक्षणोंमें किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि छब्बीस गुणोंकी इस सूचीके प्रत्येक शब्दका अर्थ दूसरे शब्दके अर्थसे सर्वथा भिन्न होगा, और हेतुभी ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई कोई अहिंसाकेही कायिक, वाचिक और मानसिक भेद करके, क्रोधसे किसीके दिल दुखा देनेकोभी एक प्रकारकी हिंसाही समझते हैं। इसी प्रकार शुद्धताकोभी द्विविध मान लेनेसे मनकी शुद्धिमें अक्रोध और द्रोह न करना आदि गुणभी आ सकते हैं। महाभारतके शांतिपर्वके १६० अध्यायसे लेकर १६३ अध्यायतक क्रमसे दम, तप, सत्य और लोभका विस्तृत वर्णन है, वहाँ दममेंही क्षमा, धृति, अहिंसा, सत्य, आर्जव, लज्जा आदि पच्चीस-तीस गुणोंका व्यापक अर्थमें समावेश किया है (मभा शां १६०), और सत्यके निरूपणमें (शां १६२) कहा है, कि सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, याग, ध्यान, आर्यता (लोककल्याणकी इच्छा), धृति और दया, इन तेरह गुणोंका एक सत्यमेंही समावेश होता है, और वहीं इन शब्दोंकी व्याख्याएँभी दी गई हैं। इस रीतिसे एक गुणमेंही अनेकोंका समावेश कर लेना पांडित्यका काम है, और प्रत्येक गुणका ऐसा विवेचन करने लगें, तो प्रत्येक गुणपर एक एक ग्रंथ लिखना पडेगा। ऊपरके श्लोकमें इन सब गुणोंका समुच्चय इसीलिये बतलाया गया है, कि उससे दैवी संपत्तिके सात्त्विक रूपकी पूरी कल्पना हो जावे, और यदि एक शब्दमें कोई अर्थ छूट गया हो, तो दूसरे शब्दमें उसका समावेश हो जावे। अस्तु, ऊपरकी सूचीके 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' शब्दका अर्थ हमने गीताके ४ ४१ और ४२ वे श्लोकके आधारपर कर्मयोगप्रधान किया है। त्याग और धृतिकी व्याख्याएँ स्वयं भगवाननेही १८ वे अध्यायमें कर दी है (गीता १८ ४, २९)। यह बतला चुके, कि दैवी संपत्तिमें किन गुणोंका समावेश होता है, अब इसके विपरीत आसुरी या राक्षसी संपत्तिका वर्णन करते है –]

(४) हे पार्थ ! इसी प्रकार दंभ, दर्प, अतिमान क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान, आसुरी याने राक्षसी संपत्तिमें जन्मे हुएको (प्राप्त होते हैं)।

[महाभारतके शांतिपर्वके १६४ और १६५ वे अध्यायोंमें इनमेंसे कुछ दोषोंका वर्णन है, और अंतमें यहभी बतला दिया है, कि नृशंस किसे कहना चाहिये। इस श्लोकमें 'अज्ञान'को आसुरी संपत्तिका लक्षण कह देनेसे प्रकट होता है, कि 'ज्ञान' दैवी संपत्तिका लक्षण है। जगतमें पाये जानेवाले दो प्रकारके स्वभावोंका इस प्रकार वर्णन हो जानेपर –]

§§ दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

§§ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

(५) (इनमेंसे) दैवी सपत्ति (परिणाममें) मोक्षदायक और आसुरी वधनदायक मानी जाती है। हे पाडव! तू दैवी सपत्तिमे जन्मा हुआ है। शोक मत कर।

[सक्षेपमें यह वतला दिया, कि इन दो प्रकारके पुरुषोको कौन-सी गति मिलती है। अब आसुरी पुरुषोका विस्तारसे वर्णन करते है –]

(६) इस लोकमें दो प्रकारके प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं, (एक) दैव और दूसरे आसुर। (इनमेंसे) दैव (श्रेणीका) वर्णन विस्तारसे कर दिया। (अव) हे पार्थ, मै आसुर (श्रेणीका) वर्णन करता हूँ, सुन।

[कर्मयोगी कैसा वर्ताव करे और ब्राह्मी अवस्था कैसी होती है, या स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त अथवा त्रिगुणातीत किसे कहना चाहिये, और ज्ञान क्या है, इत्यादिकोका पिछले अध्यायोमें जो वर्णन है, और इस अध्यायके पहले तीन श्लोकोमें दैवी सपत्तिका जो वर्णन है, वही दैव-प्रकृतिके पुरुषका वर्णन है, इसीसे कहा है, कि दैव श्रेणीका वर्णन पहले विस्तारसे कर चुके हैं। आसुर सपत्तिका थोडा-सा उल्लेख नवे अध्यायमें (९ ११, १२) मे आ चुका है, परतु वहांका वर्णन अधूरा रह गया है, इस कारण उस अध्यायमें इसीको पूरा करते है –]

(७) आसुर लोग नही जानते, कि प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है – अर्थात् वे यह नही जानते, कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, और उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और न सत्यही। (८) ये (आसुर लोग) कहते है, कि सारा जगत् असत्य है, अ-प्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है, अनीश्वर याने विना परमेश्वरका है, अ-परस्परसभूत अर्थात् एक दूसरेके बिनाही हुआ है, (अतएव) कामको छोड, अर्थात् मनुष्यकी विषयवासनाके अतिरिक्त, उसका और क्या हेतु हो सकता है?

[यद्यपि इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है, तथापि इसके पदोंका अर्थ करनेमें बहुत-कुछ मतभेद है। हम समझते हैं, कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकोंके मतका है, कि जो वेदान्त या कापिल इन दोनों सांख्यशास्त्रके सृष्टिरचनाविषयक सिद्धान्तोंको नहीं मानते, और यही कारण है, कि इस श्लोकके पदोंका अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्तोंके विरुद्ध है। जगतको नाशवान् समझकर वेदान्ती उसके अविनाशी सत्यकी – 'सत्यस्य सत्य' (बृ २ ३ ६) – खोज निकालता है और उसी सत्य तत्त्वको जगतका मूल आधार या प्रतिष्ठा मानता है – "सत्यपुच्छ प्रतिष्ठा" (तै २ ५)। परन्तु आसुरी लोग मानते हैं, कि यह जग अ-सत्य है, अर्थात् इसमें सत्य नहीं है, और इसीलिये वे इस जगतको अ-प्रतिष्ठभी कहते हैं, अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। परतु यहाँ यह शका हो सकती है, कि इस प्रकार अध्यात्मशास्त्रमें प्रतिपादित अव्यक्त परब्रह्म यदि आसुरी लोगोंको सम्मत न हो, तोभी उन्हें भक्तिमार्गका व्यक्त ईश्वर मान्य होगा। इसीसे अनीश्वर (अन् + ईश्वर) इस तीसरे पदका प्रयोग करके कह दिया है, कि आसुरी लोग जगतमें ईश्वरकोभी नहीं मानते। जगतका कोई मूल आधार इस प्रकार न माननेसे उपनिषदोंमें वर्णित यह सृष्ट्युत्पत्तिक्रम छोड देना पडता है, कि "आत्मन आकाश सभूत । आकाशाद्वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय । ओषधीभ्य अन्न। अन्नात्पुरुष ।" (तै २ १), अथवा साख्यशास्त्रोक्त इस सृष्ट्युत्पत्तिक्रमकोभी छोड देना पडता है, कि प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतत्र, मूल तत्त्व है, एव सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंके अन्योन्य आश्रयसे अर्थात् परस्पर मिश्रणसे सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। क्योकि यदि इस शृखला या परपराको मान ले, तो दृश्य-सृष्टिके पदार्थोंके पीछे जानेसे इस जगतका कुछ-न-कुछ मूल तत्त्व मानना पडेगा। इसीसे आसुरी लोग जगतके पदार्थोंको अ-परस्परसभूत मानते हैं, अर्थात् वे यह नही मानते, कि ये पदार्थ एक दूसरेसे किसी न किसी क्रमसे उत्पन्न हुए हैं। जगतकी रचनाके सबधमें एक वार ऐसी समझ हो जानेपर मनुष्य प्राणीही प्रधान निश्चित हो जाता है और फिर यह विचार आप-ही-आप हो जाता है, कि मनुष्यकी कामवासनाको तृप्त करनेके लियेही जगतके सारे पदार्थ बने है, उनका और कुछभी उपयोग नहीं है, और यही अर्थ इस श्लोकके अतके 'किमन्यत्कामहेतुकम्' – कामको छोड उसका और क्या हेतु होगा ? – इन शब्दोंसे, एव आगेके श्लोकमेंभी वर्णित है। कुछ टीकाकार 'अपरस्परसभूत' पदका अन्वय 'किमन्यत्' पदसे लगाकर यह अर्थ करते है, कि "क्या ऐसाभी कुछ दीख पडता है, जो परस्पर अर्थात् स्त्री-पुरुषके सयोगसे उत्पन्न न हुआ हो ? नही, और जब ऐसा पदार्थही नहीं

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दीख पडता, तब यह जगत् कामहेतुक अर्थात् स्त्री-पुरुषोकी कामेच्छासेही निर्मित हुआ है। " एव कुछ लोग 'अपरश्च परश्च' अपरस्परौ ऐसा अद्भुत विग्रह करके इन्ही पदोका यह अर्थ लगाया करते है, कि "'अपरस्पर'ही स्त्री-पुरुष है, इन्हीसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्त्री-पुरुषोका कामही इसका हेतु है, और कोई कारण नही है। " परतु यह अन्वय सरल नही है, और 'अपरश्च परश्च'का समास 'अपर-पर' होगा, बीचमें सकार न आने पावेगा। इसके अतिरिक्त असत्य, अप्रतिष्ठ आदि पहले, आये हुए पदोके देखनेसे तो यही ज्ञात होता है कि अ-परस्परसभत नञ् समासही होना चाहिये, और फिर कहना पडता है, कि साख्यशास्त्रमें 'परस्परसभूत' शब्दसे जो " गुणोसे गुणोका अन्योन्य जन " वर्णित है, वही यहाँ विवक्षित है (गीतार प्र १७, पृ १५८, १५९) 'अन्योन्य' और 'परस्पर' ये दोनो शब्द समानार्थक है और साख्यशास्त्रके गुणोके पारस्पारिक झगडेका वर्णन करते समय ये दोनो शब्द आते है (मभा शा ३०५, सा का १२, १३)। गीतापर जो माध्वभाष्य है, उसमे इसी अर्थको मानकर यह दिखलानेके लिये, कि जगतकी वस्तुएँ एक दूसरीसे कैसे उपजती है, गीताका यही श्लोक दिया गया है – " अन्नाद्भवन्ति भूतानि " इत्यादि – (अग्निमें छोडी हुई आहुति सूर्यको पहुँचती है, अत) यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (गीता ३ १४, मनु ३ ७६)। परतु तैत्तिरीय उपनिषदका वचन इसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है, इस कारण उसीको हमने ऊपर प्रमाणमें दिया है। तथापि हमारा मत है, कि गीताके इस 'अ-परस्परसभूत' पदसे उपनिषदके सृष्टयुत्पत्तिक्रमकी अपेक्षा साख्योका सृष्टयुत्पत्तिक्रमही अधिक विवक्षित है। जगतकी रचनाके विषयमे ऊपर जो आसुरी मत बतलाया गया है, उसका इन लोगोके बर्तावपर जो प्रभाव पडता है, उसका अब वर्णन करते है। ऊपरके श्लोकके अतमे जो 'कामहेतुक' पद है, उसीका यह अधिक स्पष्टीकरण है।]

(९) इस प्रकारकी दृष्टिको स्वीकार करके ये अल्पबुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगतका क्षय करनेके लिये उत्पन्न हुआ करते है, (१०) (और) कभीभी पूर्ण न होनेवाले कामका अर्थात् विषयोपभोगकी इच्छाका आश्रय करके, ये (आसुरी लोग) दभ, मान और मदसे व्याप्त होकर मोहके कारण

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

झूठमूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पनाएँ करके गंदे काम करनेके लिये प्रवृत्त होते रहते हैं। (११) इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगनेकी) अगणित चिंताओंसे ग्रसे हुए, कामोपभोगमें डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसीको सर्वस्व माननेवाले, (१२) सैकडों आशा-पाशोंसे जकडे हुए, कामक्रोधपरायण होते हुए (ये आसुरी लोग) सुख लूटने के लिये अन्यायसे बहुत-सा अर्थ-संचय करनेकी तृष्णा करते हैं। (१३) मैंने आज यह पा लिया, (कल) उस मनोरथको सिद्ध करूँगा, यह धन (मेरे पास) है, और फिर वहभी मेरा होगा, (१४) इस शत्रुको मैंने मार लिया, एवं औरोंकोभी मारूँगा, मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करनेवाला, मैं सिद्ध, बलाढ्य और सुखी हूँ, (१५) मैं संपन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और है कौन ? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा — इस प्रकार अज्ञानसे मोहित, (१६) अनेक प्रकारकी कल्पनाओंमें भूले हुए, मोहके फंदेमें फँसे हुए और विषयोपभोगमें आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरकमें गिरते हैं। (१७) आत्मप्रशंसा करनेवाले, ऐंठसे वर्तनेवाले, और धन और मानके मदसे संयुक्त, ये (आसुरी) लोग दंभसे शास्त्रविधि छोडकर केवल नामके

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

§§ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

§§ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

लिये यज्ञ किया करते हैं ' (१८) अहंकारसे, बलसे, दर्पसे, कामसे और क्रोधसे फूलकर, अपनी और पराई देहमें वर्तमान मेरा (परमेश्वरका) द्वेष करनेवाले, (और) निंदक, (१९) अशुभ कर्म करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरोंको मैं (इस) संसारकी आसुरी अर्थात् पाप-योनियोंमेंही सदैव पटकता रहता हूँ । (२०) हे कौंतेय ! (इस प्रकार) जन्म-जन्ममें आसुरी योनिकोही पाकर, ये मूर्ख लोग मुझे विना पायेही अंतमें अत्यंत अधोगतिको जा पहुँचते हैं ।

| [आसुरी लोगोंका और उनको मिलनेवाली गतियोंका वर्णन हो चुका । अब बतलाते हैं, कि इससे छुटकारा कैसे पावे —]

(२१) काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं, और ये हमारा नाशकर डालते हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये । (२२) हे कौंतेय । इन तीन तमोद्वारोंसे छूटकर, मनुष्य वही आचरण करने लगता है, जिसमें उसका कल्याण हो, और फिर उत्तम गति पा जाता है ।

| [प्रकट है, कि नरकके तीनों दरवाजे छूट जानेपर सद्गति मिलनीही चाहिये, किंतु यह नहीं वतलाया, कि कौन-सा आचरण करनेसे वे छूट जाते हैं । अतः अब उसका मार्ग वतलाते हैं —]

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोडकर मनमाना बर्ताव करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गतिभी मिलती है ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

---

(२४) इसलिये कार्य-अकार्यव्यवस्थितिका अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये, और शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है, उसको समझकर, तदनुसार इस लोकमें कर्म करना तुझे उचित है।

[इस श्लोकके 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पदसे स्पष्ट होता है, कि कर्तव्य-शास्त्रकी अर्थात् नीतिशास्त्रकी कल्पनाको दृष्टिके आगे रख कर गीताका उपदेश किया गया है। गीतारहस्यमें (प्र २, पृ. ४८–५१) स्पष्टकर दिखला दिया है, कि इसीको कर्मयोगशास्त्र कहते है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, दैवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

[यहाँतक इस बातका वर्णन हुआ, कि कर्मयोगशास्त्रके अनुसार ससारका धारण-पोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकारके होते है ? और इसके विपरीत, ससारका नाश करनेवाले मनुष्य किस ढँगके होते है ? अब यह प्रश्न सहजही होता है, कि मनुष्य-मनुष्यमे इस प्रकारके भेद होते क्यो है ? इस प्रश्नका साधारण उत्तर सातवेही अध्यायके "प्रकृत्या नियता स्वया" – अपना अपना प्रकृति-स्वभावपदोमे दिया गया है (गीता ७ २०)। परन्तु वहाँ सत्त्व, रज और तम , गुणोका विवेचन नही किया गया था, अतएव वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेदकी उपपत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णनभी न हो सका। यही कारण है जो चौदहवे अध्यायमे त्रिगुणोका विवेचन किया गया है, और अब इस अध्यायमें वर्णन किया गया है, कि त्रिगुणोसेही उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदिकेभी स्वभावभेद क्योकर होते है और फिर इसी अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका सपूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है, इसी प्रकार नवे अध्यायके भक्ति-मार्गके अनेक भेदोका कारणभी इस अध्यायकी उपपत्तिमे समझमे आ जाता है (गीता ९ २३, २४) । पहले अर्जुन यो पूछता है, कि –]

अर्जुनने कहा – (१) हे कृष्ण ! जो लोग, श्रद्धासे युक्त होकरभी, शास्त्र-निर्दिष्ट विधिको छोडकरके यजन करते है, उनकी निष्ठा अर्थात् (मनकी) स्थिति कैसी है – सात्त्विक है, या राजस है, या तामस ?

[पिछले अध्यायके अतमें जो यह कहा था, कि शास्त्रकी विधिका अथवा नियमोका पालन अवश्य करना चाहिये, उसीपर अर्जुनने यह शका की है। शास्त्रोपर श्रद्धा रखते हुएभी मनुष्य अज्ञानमे भूल कर बैठता है। उदाहरणार्थ, शास्त्रविधि यह है, कि सर्वव्यापी परमेश्वरका भजन-पूजन करना चाहिये, परतु वह इसे छोडकर देवताओकीही धुनमें लग जाता है (गीता ९ २३) । अत अर्जुनका प्रश्न है, कि ऐसे पुरुषकी निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौनसी समझी जावे। यह प्रश्न उन आसुरी लोगोके विषयमे नही है, कि जो शास्त्रका और धर्मका अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते है। तोभी इस अध्यायमे प्रसगानुसार उनके कर्मोके फलोकाभी वर्णन किया गया है।]

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानने कहा – (२) प्राणिमात्रकी यह श्रद्धा स्वभावत तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विक, राजस और तामस । उनका वर्णन सुन । (३) हे भारत ! सब लोगोकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुसार अर्थात् प्रकृतिस्वभावके अनुसार होती है । मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा (रहती) है, वैसाही वह होता है ।

[दूसरे श्लोकके 'सत्त्व' शब्दका अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अत - करण है । कठोपनिषदमें 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थमे आया है (कठ ६ ७), और वेदान्त-सूत्रके शाकरभाष्यमेंभी 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' पदके स्थानमे 'सत्त्व-क्षेत्रज्ञ' पदका उपयोग किया गया है (वे सू शा भा १ २ १२) । तात्पर्य यह है, कि दूसरे श्लोकका 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोकका 'सत्त्व' शब्द दोनो यहाँ, समानार्थक है । क्योकि साख्य और वेदान्त इन दोनोकोभी यह सिद्धान्त मान्य है, कि स्वभावका अर्थ प्रकृति है और इस प्रकृतिसे बुद्धि एव अत करण उत्पन्न होते हैं । "यो यच्छ्रद्ध स एव स" – यह तत्त्व "देवताओकी भक्ति करनेवाले देवताओको पाते है" प्रभृति पूर्व-वर्णित सिद्धान्तोकाही साधारण अनुवाद है (गीता ७ २०– २३, ९ २५), और इस विषयका विवेचन हमने गीतारहस्यके तेरहवे प्रकरणमें किया है (गीतार पृ ४२३–४२९) । तथापि जब यह कहा, कि जिसकी जैसी बुद्धि हो, उसे वैसा फल मिलता है, और इस बुद्धिका होना या न होना प्रकृति-स्वभावके अधीन है, तब प्रश्न होता है, कि फिर इस बुद्धि क्योकर सुधर सकती है ? इसका यह उत्तर है, कि आत्मा स्वतत्र है, अत देहका यह स्वभाव क्रमश अभ्यास और वैराग्यके द्वारा धीरे धीरे बदला जा सकता है । इस बातका विवेचन गीतारहस्यके दसवे प्रकरणमें किया गया है (पृ २८०–२८१) । अभी तो यही देखना है, कि श्रद्धाके भेद क्यो और कैसे होते हैं ? इसीसे कहा गया है, कि प्रकृति-स्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है । अब बतलाते है, कि जब प्रकृतिभी सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोसे युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्यमें श्रद्धाकेभी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते है, और उनके परिणाम क्या होते है –]

(४) जो पुरुष सात्त्विक है, अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण-प्रधान है, वे देवताओका

§§ अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

यजन करते है, राजस पुरुष यक्षो और राक्षसोका यजन करते है, एव इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष है, वे प्रेतो और भूतोका यजन करते है।

[इस प्रकार शास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्योकेभी सत्त्व आदि प्रकृतिके गुण-भेदोसे जो तीन भेद होते है, उनका और उनके स्वरूपोका वर्णन हुआ। अब बतलाते है, कि शास्त्रपर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दाभिक लोग किस श्रेणीमे आते है। यह तो स्पष्ट है, कि ये लोग सात्त्विक नही है, परतु ये निरे तामसभी नही कहे जा सकते, क्योकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते है, तथापि इनमे कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति रजोगुणका धर्म है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे मनुष्योको न सात्त्विक कह सकते है, न राजस और न तामसभी। अतएव, दैवी और आसुरी नामक दो भिन्नही श्रेणियाँ बनाकर उक्त दुष्ट पुरुषोका आसुरी श्रेणीमें समावेश किया जाता है। यही अर्थ अगले दो श्लोकोमें स्पष्ट किया गया है।]

(५) (परतु) जो लोग दभ और अहकारसे युक्त होकर, काम एव आसक्तिके बलपर, शास्त्रके विरुद्ध घोर तप किया करते है, (६) तथा जो न केवल शरीरके पचमहाभूतादिकोके समूहकोही, वरन् शरीरके अन्तर्गत रहनेवाले मुझकोभी कष्ट देते है, उन्हे अविवेकी आसुरी बुद्धिके जान।

[इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तर हुए। इन श्लोकोका भावार्थ यह है, कि मनुष्यकी श्रद्धा उसके प्रकृतिस्वभावानुसार सात्त्विक, राजस अथवा तामस हो सकती है, और उसके अनुसार उसके कर्मोमे अतर होता है, तथा अपने कर्मोंके अनुरूपही उसे पृथक् पृथक् गति प्राप्त होगी। परतु केवल इतनेसेही कोई आसुरी श्रेणीमें नही गिना जाता। आत्माकी स्वाधीनताका उपयोगकर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृति-स्वभावको धीरे धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। हाँ, जो ऐसा नही करते और दुष्ट प्रकृति-स्वभावकाही अभिमान रखकर शास्त्रके विरुद्ध आचरण करते है, उन्हें आसुरी बुद्धिके कहना चाहिये। अब यह वर्णन करते है, कि श्रद्धाके समानही आहार, यज्ञ, तप और दानके सत्त्व, रज, तममय प्रकृतिके गुणोंसे भिन्न-भिन्न भेद कैसे हो जाते है, एव इन भेदोंसे स्वभावकी विचित्रताके साथ-ही-साथ क्रियाकी विचित्रताभी कैसे उत्पन्न होती है —]

§§ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

§§ अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

(७) प्रत्येककी रुचिका आहारभी तीन प्रकारका होता है। और यही अवस्था यज्ञ, तप एव दानकीभी है। सुन, उनका भेद बतलाता हूँ। (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य सुख और प्रीतिकी वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीरमें भिदकर चिरकालतक रहनेवाले और मनको आनददायक आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते है। (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं।

[सस्कृतमें कटु शब्दका अर्थ चरपरा और तिक्तका अर्थ कडुआ होता है। इसीके अनुसार सस्कृतके वैद्यक ग्रथोंमें काली मिर्च कटु तथा नीब तिक्त कही गई है (वाग्भट-सूत्र, अ १०) हिंदीके कडुआ और तीखा शब्द क्रमानुसार कटु और तिक्त शब्दोकेही अपभ्रश है।]

(१०) कुछ काल रखा हुआ अर्थात् ठडा, नीरस, दुर्गंधित, बासा, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुषको रुचता है।

[सात्त्विक मनुष्यको सात्त्विक, राजसको राजस तथा तामसको तामस भोजन प्रिय होता है, इतनाही नही, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, तो मनुष्यकी वृत्तिभी क्रम-क्रमसे शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदोमें कहा है, कि "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि" (छा ७ २६ २)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृतिके विकार है, इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ, वहाँ बुद्धिभी आप-ही-आप सात्त्विक बन जाती है। ये आहारके भेद हुए। इसी प्रकार अब यज्ञके तीन भेदोकाभी वर्णन करते है —]

(११) फलाशाकी आकाक्षा छोडकर, अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्रकी

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

§ § देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

विधिके अनुसार, शात चित्तसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परतु हे भरतश्रेष्ठ ! उसको राजस यज्ञ समझ, कि जो फलकी इच्छासे अथवा दभके हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलानेके लियेभी किया जाता है। (१३) शास्त्र-विधिरहित, अन्नदानविहीन, बिना मन्त्रोका, बिना दक्षिणाका और श्रद्धासे शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

[आहार और यज्ञके समान तपकेभी तीन भेद है। पहले, तपके कायिक, वाचिक और मानसिक, ये भेद किये है, फिर इन तीनोमेंसे प्रत्येककी सत्त्व, रज और तम गुणोसे जो विविधता होती है, उसका वर्णन किया है। यहाँपर, तप शब्दसे यह सकुचित अर्थ विवक्षित नही है, कि जगलमें जाकर पातजलयोगके अनुसार शरीरको कष्ट दिया करें, किंतु मनुका किया हुआ 'तप' शब्दका यह व्यापक अर्थही गीताके निम्नलिखित श्लोकोमें अभिप्रेत है, कि यज्ञयाग आदि कर्म, वेदाध्ययन, अथवा चातुर्वर्ण्यके अनुसार जिसका जो कर्तव्य हो – जैसे क्षत्रियका कर्तव्य युद्ध करना है और वैश्यका व्यापार इत्यादि – वह सब उसका तपही है (मनु ११ २६३)।

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानोकी पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीर अर्थात् कायिक तप कहते है। (१५) (मनको) उद्विग्न न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक सभाषणको, तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्मके अभ्यासको, वाङ्मय (वाचिक) तप कहते है। (१६) मनको प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियोंके समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना – इनको मानस तप कहते है।

§ § श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
§ § दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

[जान पडता है, कि पद्रहवे श्लोकके सत्य, प्रिय और हित, तीनो शब्द मनुके इस वचनको लक्ष्यकर कहे गये है – "सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्म सनातन ।।" (मनु ४ १३८) – यह सनातन धर्म है, कि सच और मधुर बोलना चाहिये, परतु अप्रिय सच न बोलना चाहिये। तथापि महाभारतमेही विदुरने दुर्योधनसे कहा है, कि "अप्रियस्त च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ" (मभा सभा ६३ १७)। अब फिर कायिक, वाचिक और मानसिक तपोके जो भेद होते है, वे यो है –]

(१७) इन तीनो प्रकारके तपोको यदि मनुष्य फलकी आकाक्षा न रखकर उत्तम श्रद्धासे तथा योगयुक्त बुद्धिसे करे, तो वे सात्त्विक कहलाते है , (१८) और जो तप अपने सत्कार, मान या पूजाके लिये, अथवा दभसे, किया जाता है, वह चचल और अस्थिर तप शास्त्रोमें राजस कहा जाता है। (१९) मूढ आग्रहसे, स्वय कष्ट उठाकर, अथवा (जारण-मारण आदि कर्मोके द्वारा) दूसरोको सतानेके हेतुसे किया हुआ तप तामस कहलाता है ।

[ये तपके भेद हुए, अब दानके त्रिविध भेद वतलाते है –]

(२०) वह दान सात्त्विक कहलाता है, कि जो कर्तव्य-बुद्धिसे किया जाता है, जो (योग्य) स्थल, काल और पात्रका विचार करके किया जाता है, एव जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवालेको दिया जाता है। (२१) परतु (किये हुए) उपकारके वदलेमे, अथवा किसी फलकी आशा रख, वडी कठिनाईसे आगे, जो दान दिया जाता है, वह राजस दान है। (२२) अयोग्य स्थानमें, अयोग्य कालमें,

§§ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

अपात्र मनुष्यको, विना सत्कारके, अथवा अवहेलनापूर्वक, जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

[आहार, यज्ञ, तप और दानके समानही ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखकी त्रिविधताका वर्णन अगले अध्यायमे किया गया है (गीता १८ २०–३९) इस अध्यायका गुणभेद-प्रकरण यही समाप्त हो चुका। अव ब्रह्म-निर्देशके आधारपर उक्त सात्त्विक कर्मकी श्रेष्ठता और सग्राह्यता सिद्ध की जावेगी। क्योकि, उपर्युक्त सपूर्ण विवेचनपर सामान्यत यह शका हो सकती है, कि कर्म सात्त्विक हो, या राजस, या तामस, कैसाभी क्यो न हो ? है तो वह दुःखकारक और दोपमय ही, इस कारण इन सारे कर्मोका त्याग किये विना ब्रह्मप्राप्ति नही हो सकती, और यदि यह वात सत्य है, तो फिर कर्मके सात्त्विक, राजस आदि भेद करनेमे लाभही क्या है ? इन आक्षेपपर गीताका यह उत्तर है, कि कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस भेद परब्रह्मसे अलग नही है। जिस सकल्पमे ब्रह्मका निर्देश किया गया है, उसीमे सात्त्विक कर्मोका और सत्कर्मोका समावेश होता है, और इससे निर्विवाद सिद्ध है, कि ये कर्म अध्यात्म-दृष्टिसेभी त्याज्य नही है (गीतार प्र ९, पृ २४६–२४७)। परब्रह्मके स्वरूपका मनुष्यको जो कुछ ज्ञान हुआ है, वह सव 'ॐ तत्सत्' इन तीन शब्दोके निर्देशमे ग्रथित है। इनमेसे ॐ अक्षर-ब्रह्म है, और उपनिपदोमे उसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया गया है (प्रश्न ५, कठ १५–१७, तै १ ८, छा १ १, मैत्र्यु ६ ३, ४, माडूक्य १–१२)। और जव यह वर्णाक्षररूपी ब्रह्मही जगतके आरभमें था, तव सव क्रियाओका आरभ वहीमे होता है। 'तत् = वह' शब्दका अर्थ है सामान्य कर्मसे परेका कर्म, अर्थात् निष्काम बुद्धिसे फलाशा छोडकर किया हुआ सात्त्विक कर्म, और 'सत्'का अर्थ वह कर्म है, कि जो यद्यपि फलाशासहित हो, तोभी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो – यही उक्त सकल्पका अर्थ है, और इस अर्थके अनुसार निष्काम बुद्धिसे किये हुए सात्त्विक कर्मकाही नही, वरन् शास्त्रानुसार किये हुए सत् कर्मकाभी परब्रह्मके सामान्य और सर्वमान्य सकल्पमें समावेश होता है, अतएव इन कर्मोको त्याज्य कहना अनुचित है। अतमें 'तत्' और 'सत्' कर्मोके अतिरिक्त 'असत्' अर्थात् बुरा कर्म वच जाता है। परतु अतिम श्लोकमे सूचित किया है, कि वह दोनो लोकोमे गर्ह्य माना गया है, इस कारण उस कर्मका इस सकल्पमे समावेश नही होता। भगवान् कहते है कि –]

(२३) (शास्त्रमे) परब्रह्मका निर्देश 'ॐ तत्सत्' यो तीन प्रकारसे किया जाता है। इसी निर्देशसे पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए है।

§§ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभि. ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द. पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

[पहलेही कह चुके है, कि सपूर्ण सृष्टिके आरभमें ब्रह्मदेवरूपी पहला ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए हैं (गीता ३ १०) । परतु ये सब जिस परब्रह्मसे उत्पन्न हुए है, उस परब्रह्मका स्वरूप ' ॐ तत्सत् ' इन तीन शब्दोमें है । अतएव इस श्लोकका यह भावार्थ है, कि ' ॐ तत्सत् ' सकल्पही सारी सृष्टिका मूल है । अब इस सकल्पके तीनो पदोका कर्मयोगकी दृष्टिसे पृथक् निरूपण करते हैं –]

(२४) तस्मात् अर्थात् जगतका आरभ इस सकल्पसे हुआ है, इस कारण, ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्म सदा इस ॐ के उच्चारके साथ हुआ करते है (२५) 'तत्' शब्दके उच्चारणसे फलकी आशा न रखकर, मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकारकी क्रियाएँ किया करते हैं। (२६) अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाईके अर्थमें 'सत्' शब्दका उपयोग किया जाता है, और हे पार्थ ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मोके लियेभी 'तत्' शब्द प्रयुक्त होता है । (२७) यज्ञ, तप और दानमें स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखनेकोभी 'सत्' कहते हैं, तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो, उस कर्मका नामभी 'सत्' ही है ।

[यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं, तथा इनके निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसीको मीमासक लोग सामान्यत यथार्थ कर्म कहते है । इन कर्मोंको करते समय यदि फलकी आशा हो, तोभी वह धर्मके अनुकूल रहती है, इस कारण ये कर्म 'सत्'की श्रेणीमें गिने जाते हैं और सब निष्काम कर्म ' तत् = वह अर्थात् परेका ' की श्रेणीमें लेखे जाते है । प्रत्येक कर्मके आरभमें जो यह ' ॐ तत्सत् ' ब्रह्मसकल्प कहा जाता है, उसमें इस प्रकारसे इन दोनों कर्मोंका समावेश होता है, इसलिये इन दोनो कर्मोंको ब्रह्मानुकूलही समझना चाहिये । (गीतार प्र ९, पृ २५०) । अब असत् कर्म विषयमें कहते है –]

§§ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

---

(२८) अश्रद्धासे जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (कर्म) न मरनेपर (परलोकमें) और न इस लोकमे हितकारी होता है।

[तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मस्वरूपके बोधक इस सर्वमान्य संकल्पमेंही निष्काम बुद्धिसे, अथवा केवल कर्तव्य समझकर, किये हुए सात्त्विक कर्मका, और शास्त्रानुसार सद्बुद्धिसे किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्मका समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है, कि उस कर्मको छोड देनेका उपदेश करना उचित नही है, कि जिस कर्मका ब्रह्मनिर्देशमेंही समावेश होता है, और जो कर्म ब्रह्मदेवके साथही उत्पन्न हुआ है (गीता ३. १०), तथा जो किसीसेभी छूट नही सका है। 'ॐ तत्सत्' रूपी ब्रह्मनिर्देशके उक्त कर्मयोग-प्रधान अर्थको इसी अध्यायमें कर्मविभागके साथही बतलानेका हेतुभी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूपका वर्णन तो पीछे तेरहवे अध्यायमे और उसके पहलेभी हो चुका है। गीतारहस्यके नवे प्रकरणके अंतमें (पृ. २५०) बतला चुके हैं, कि " ॐ तत्सत् पदका असली अर्थ क्या होना चाहिये " आजकल 'सच्चिदानन्द' पदसे ब्रह्मनिर्देश करनेकी प्रथा है। परंतु उसको स्वीकार न करके यहाँ जब इस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देशकाही उपयोग किया गया है, तब इससे यह अनुमान निकल सकता है, कि 'सच्चिदानन्द' पदरूपी ब्रह्मनिर्देश गीता-ग्रंथके निर्मित हो चुकनेपर साधारण ब्रह्मनिर्देशके रूपसे प्रायः प्रचलित हुआ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीता-शास्त्रका उपसहार है। अत अबतक जो विवेचन हुआ है, उसका हम यहाँ सक्षेपमें सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्यके १४ वे प्रकरणमें देखिये) पहले अध्यायसे स्पष्ट होता है, कि स्वधर्मके अनुसार प्राप्त युद्धको छोड, भीख माँगनेपर उतारू होनेवाले अर्जुनको अपने कर्तव्यमें प्रवृत्त करनेकेलिये गीताका उपदेश किया गया है। अर्जुनकी शका थी, कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म करनेसे आत्मकल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषोंके स्वीकृत, आयु बितानेके दो प्रकारके मार्गोंका – साख्य (सन्यास) मार्गका और कर्मयोग (योग) मार्गका – वर्णन दूसरे अध्यायके आरभमेंही किया गया है, और अतमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि यद्यपि ये दोनो मार्ग मोक्ष देते हैं, तथापि इनमेंसे कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५ २)। फिर तीसरे अध्यायसे लेकर पाँचवे अध्यायतक इन युक्तियोका वर्णन है, कि कर्मयोगमें बुद्धि श्रेष्ट समझी जाती है, बुद्धिके स्थिर और सम होनेसे कर्मकी बाधा नही होती, कर्म किसीकेभी नही छूटते, तथा उन्हें छोड देनाभी उचित नही, केवल फलाशाको त्याग देनाही काफी है, अपनेलिये न सही, लोकसग्रहके हेतु कर्म करना आवश्यक है, बुद्धि अच्छी हो, तो ज्ञान और कर्मके बीच विरोध नही होता, तथा पूर्वपरपरा देखी जाय तो ज्ञात होगा, कि जनक आदिने इसी मार्गका आचरण किया है। अनन्तर इस बातका विवेचन किया है, कि कर्मयोगकी सिद्धिके लिये बुद्धिकी जिस समताकी आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये, और इस कर्मयोगका आचरण करते हुए अतमें उसीके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। बुद्धिकी इस समताको प्राप्त करनेके लिये इद्रियोका निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है, कि सब प्राणियोमें एक परमेश्वरही भरा हुआ है, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नही है। अत इद्रिय-निग्रहका विवेचन छठे अध्यायमें किया गया है और फिर सातवें अध्यायसे सत्रहवें अध्यायतक बतलाया है, कि कर्मयोगका आचरण करते हुएही परमेश्वरका ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, और वह ज्ञान क्या है। सातवें और आठवें अध्यायमें क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्तके ज्ञान-विज्ञानका विवरण किया गया है। नवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक इस अभिप्रायका वर्णन किया गया है, कि यद्यपि परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है, तोभी इस बुद्धिको न डिगने दे, कि परमेश्वर एकही है, और व्यक्त स्वरूपकीही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सबके लिये सुलभ है। अनन्तर तेरहवे अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यह विचार किया गया है, कि क्षर-अक्षरके विचारमें जिसे अव्यक्त कहते हैं, वही मनुष्यके शरीरका आत्मा है। इसके पश्चात् चौदहवें

अष्टादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अध्यायसे लेकर सत्रहवे अध्यायतक, चार अध्यायोमें क्षर-अक्षर विज्ञानके अतर्गत इस विषयका विस्तारसहित विचार किया गया है, कि प्रकृतिके गुणोके कारण एकही अव्यक्तसे जगतके विविध स्वभावोंके मनुष्य कैसे उपजते है, अथवा और अनेक प्रकारका विस्तार कैसे होता है, एव ज्ञान-विज्ञानका निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान-स्थानपर अर्जुनको यही उपदेश है, कि तू कर्म कर, और यह सिद्धान्त किया गया है, कि शुद्ध अत करणसे परमेश्वरकी भक्ति करके "परमेश्वरार्पणपूर्वक स्वधर्मके अनुसार केवल कर्तव्य समझकर मरणपर्यंत सब कर्म करते रह नही" कर्म-योग-प्रधान आयु वितानेका मार्ग सबसे उत्तम है, जिसमें इस प्रकार ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगका सागोपाग विवेचन कर चुकनेपर, अठारहवे अध्यायमें उसी धर्मका उपसहार करके अर्जुनको स्वेच्छासे युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त किया है। गीताके इस मार्गमें, कि जो गीतामे सर्वोत्तम कहा गया है, अर्जुनसे यह नही कहा गया, कि "तू चतुर्थ आश्रमको स्वीकार करके सन्यासी हो जा।" हाँ, यह अवश्य कहा है, कि इस मार्गके आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्यसन्यासी' है (गीता ५ ३)। अतएव अब अर्जुनका प्रश्न है, कि चतुर्थ आश्रमरूपी सन्यास लेकर किसी समय सब कर्मोंको सचमुचही त्याग देनेका तत्त्व इस कर्मयोग-मार्गमें है या नही, और नही है तो 'सन्यास', एव 'त्याग' दोनो शब्दोका अर्थ क्या है? गीता प्र ११, पृ ३४८–३५१ देखो।]

अर्जुनने कहा – (१) हे महाबाहु, हृषीकेश! मै सन्यासका तत्त्व, और हे केशिदैत्य-निषूदन! त्यागका तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ।

[सन्यास और त्याग शब्दोंके केवल उन अर्थों अथवा भेदोको जाननेके लिये यह प्रश्न नही किया गया है, कि जो कोशकारोने किये हैं। यह न समझना चाहिये, कि अर्जुन यहभी न जानता था, कि दोनोकाभी धात्वर्थ 'छोडना' है। परतु बात यह है, कि भगवान् कर्म छोड देनेकी आज्ञा कहीभी नही देते, बल्कि चौथे, पाँचवे अथवा छठे अध्यायमें (गीता ४ ४१, ५ १३, ६ १) या अन्यत्र जहाँ कही सन्यासका वर्णन है, वहाँ उन्होनें यही कहा है, कि केवल फलाशाका 'त्याग' करके (गीता १२-११) परमेश्वरमे सब कर्मोंका 'सन्यास' करो अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करो (गीता ३ ३०, १२ ६), और

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

| उपनिषदोमें देखें, तो कर्मत्याग-प्रधान सन्यास-धर्मके वचन पाये जाते हैं, कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु " (कै १ २ नारायण १२ ३), सब कर्मोका स्वरूपत 'त्याग' करनेसेही कई एकोंने मोक्ष प्राप्त किया है, अथवा "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था सन्यासयोगाद्यतय शुद्ध सत्त्वा " (मुडक ३ २ ६) कर्मत्यागरूपी 'सन्यास' योगसे शुद्ध होनेवाले 'यति', या "कि प्रजया करिष्याम " (वृ ४ ४ २२) हमें पुत्रपौत्र आदि प्रजासे क्या काम है ? अतएव अर्जुनने समझा, कि भगवान् स्मृति-ग्रथोमें प्रतिपादित चार आश्रमोमेंसे कर्मत्यागरूपी सन्यास आश्रमके लिये 'त्याग' और 'सन्यास' शब्दोका उपयोग नही करते, किंतु वे और किसी अर्थमें इन शब्दोका उपयोग करते हैं, इसीसे अर्जुनने चाहा, कि उस अर्थका स्पष्टीकरण हो जाय। इसी हेतुसे उसने उक्त प्रश्न किया है। गीतारहस्यके ग्यारहवे प्रकरण (पृ ३४८–३५१ में इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

श्रीभगवानने कहा – (२) (जितने) काम्य कर्म हैं, उनके न्यास अर्थात् छोडनेको ज्ञानी लोग सन्यास समझते हैं, (तथा) समस्त कर्मोके फलोके त्यागको पडित लोग त्याग कहते हैं।

| [इस श्लोकमें स्पष्टतया बतला दिया है, कि कर्मयोग-मार्गमें सन्यास और त्याग किसे कहते हैं ? परन्तु सन्यास-मार्गीय टीकाकारोको यह मत ग्राह्य नही, इस कारण उन्होने इस श्लोककी बहुत कुछ खीचातानी की है। श्लोकके आरभमेंही 'काम्य' शब्द आया है। अतएव इन टीकाकारोका मत है, कि यहाँ मीमासकोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध प्रभृति कर्मभेद विवक्षित हैं, और उनकी समझमें भगवानका अभिप्राय यह है, कि उनमेंसे केवल "काम्य कर्मोंहीको छोडना चाहिये।" परतु सन्यास-मार्गीय लोगोको नित्य और नैमित्तिक कर्मभी नही चाहिये, इसलिये उन्हे यो प्रतिपादन करना पडा है, कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मोका काम्य कर्मोमेंही समावेश किया गया है। इतना करने-परभी इस श्लोकके उत्तरार्धमें जो कहा गया है, कि फलाशा छोडनी चाहिये, न कि कर्म (आगे छठा श्लोक देखिये) उसका मेल मिलताही नही, अतएव अतमें इन टीकाकारोने अपनेही मनसे यो कहकर अपना समाधान कर लिया है, कि भगवानने यहाँ कर्मयोग-मार्गकी कोरी स्तुति की है, उनका सच्चा अभिप्राय तो यही है, कि कर्मोको छोडही देना चाहिये। इससे स्पष्ट होता है, कि सन्यास

आदि सप्रदायोकी दृष्टिसे इस श्लोकका ठीक ठीक अर्थ नही लगता। वास्तवमें इसका अर्थ कर्मयोग-प्रधानही करना चाहिये, अर्थात् फलाशा छोडकर मरण-पर्यंत सारे कर्म करते जानेका जो तत्त्व गीतामें पहले अनेक वार कहा गया है, उसीके अनुरोधसे यहाँभी अर्थ करना चाहिये, तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक जमताभी है। पहले इस वातपर ध्यान देना चाहिये, कि 'काम्य' शब्दसे इस स्थानमें मीमासकोका नित्य, नैमित्तिक, काम्य, और निषिद्ध कर्मविभाग अभिप्रेत नही है। कर्मयोग-मार्गमे सब कर्मोके दोही विभाग किये जाते हैं, एक 'काम्य' अर्थात् फलाशासे किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोडकर किये हुए कर्म, मनुस्मृतिमें उन्हीको क्रमसे 'प्रवृत्त' कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (मनु १२ ८८, ८९)। कर्म चाहे नित्य हो, नैमित्तिक हो, काम्य हो, कायिक हो, वाचिक हो, मानसिक हो, अथवा सात्त्विक आदि भेदके अनुसार और किसी प्रकारके हो, उन सबको 'काम्य' अथवा 'निष्काम' वर्गोमें इन दो, किसीएक विभागमें आनाही चाहिये। क्योकि काम अर्थात् फलाशाका होना अथवा न होना, इन दोनोके अतिरिक्त फलाशाकी दृष्टिसे तीसरा भेद होही नही सकता। शास्त्रमें जिस कर्मका जो फल कहा गया है, जैसे, पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि, उस फलकी प्राप्तिके लिये वह कर्म किया जाय, तो वह 'काम्य' है, तथा मनमें उस फलकी इच्छा न रखकर वही कर्म केवल कर्तव्य समझकर किया जाय, तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मोके 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनुकी परिभाषाके अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) येही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मोको सर्वथा छोड देता है, अत सिद्ध हुआ, कि कर्मयोगमेंभी काम्य कर्मोका सन्यास करना पडता है। फिर वच रहे निष्काम कर्म। सो गीतामे कर्मयोगीको निष्काम कर्म करनेका निश्चित उपदेश किया गया है सही, परतु उसमेभी 'फलाशा'का सर्वथा त्याग करना पडता है (गीता ६ २)। अतएव त्यागका तत्त्वभी गीता-धर्ममें स्थिरही रहता है। साराश अर्जुनको यही वात समझा देनेके लिये, कि सब कर्मोको न छोडनेपरभी कर्मयोग-मार्गमें 'सन्यास' और 'त्याग', दोनो तत्त्व बने रहते हैं, इस श्लोकमें सन्यास और त्याग, दोनोकी व्याख्याएँ यो की गई हैं, कि 'सन्यास'का अर्थ 'काम्य कर्मोको सर्वथा छोड देना' है, और 'त्याग'का यह मतलव है, कि "जो कर्म करना हो, उनकी फलाशा न रखें।" पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था, कि सन्यास (अथवा साख्य) और योग ये दोनो तत्त्वत एकही हैं, तब 'सन्यासी' शब्दका अर्थ (गीता ५ ३–६, ६ १,२) तथा इसी अध्यायमें आगे 'त्यागी' शब्दका अर्थभी (गीता १८ ११) इसी भाँति किया गया है, और इस स्थानमें वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तोका यह मत प्रतिपाद्य नही है, कि क्रमश ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रमका पालन करनेपर

§ § त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम ॥ ६ ॥

| "अतमें प्रत्येक मनुष्यको सर्वकर्मत्यागरूपी सन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिये विना मोक्षप्राप्तिही हो नही सकती।" इससे सिद्ध होता है, कि कर्मयोगी यद्यपि सन्यासियोका गेरुआ भेप धारणकर सब कर्मोका त्याग नही करता, तथापि वह सन्यासके सच्चे तत्त्वका पालन किया करता है, इसलिये कर्मयोगका स्मृति-ग्रथसे कोई विरोध नही है। अब सन्यास-मार्ग – और मीमासकोके कर्मसबधी वादका उल्लेख करके कर्मयोगशास्त्रका, इस विपयमें अतिम निर्णय सुनाते है –]

(३) कई पडितोका कथन है, कि कर्म दोषयुक्त है, अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये, तथा दूसरे कहते है, कि यज्ञ, दान, तप और कर्मको कभी न छोडना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! त्यागके विपयमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है। (५) यज्ञ, दान, तप और कर्मका त्याग न करना चाहिये, इनको (कर्मो) करनाही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानोंके लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक है। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मोकोभी विना आसक्ति रखे, फलोका त्याग करके (अन्य निष्काम कर्मोके समानही लोकसग्रहके हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है, और वही) उत्तम है।

| [कर्मका दोप अर्थात् वधकता कर्ममें नही, फलाशामें है, इसलिये पहले अनेक वार जो कर्मयोगका यह तत्त्व कहा गया है, कि सभी कर्म फलाशा छोड-कर निष्काम बुद्धिसे करने चाहिये, उसका यह उपसहार है। सन्यास मार्गका यह मत गीताको मान्य नही है, कि सब कर्म दोपयुक्त, अतएव त्याज्य है (गीता १८ ४८, ४९), गीता केवल काम्य-कर्मोका सन्यास करनेके लिये कहती है। परतु धर्मशास्त्रमे जिन कर्मोका प्रतिपादन है, वे सभी काम्यही है (गीता २ ४२–४४)। इसलिये अब कहना पडता है, कि उनकाभी सन्यास करना चाहिये, और यदि ऐसा करते है, तो यज्ञ-चक्र वद हुआ जाता है (३ १६) एव

§§ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

| उससे सृष्टिके उद्ध्वस्त होनेकाभी अवसर आ जाता है। प्रश्न होता है, कि फिर करना क्या चाहिये ? गीता इसका यो उत्तर देती है, कि यद्यपि शास्त्रमें कहा है, कि यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फलप्राप्तिके हेतु करो, तथापि ऐसी बात नही है, कि येही कर्म लोकसग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे न हो सकते हो, कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्तव्य है (गीता १७ ११, १७ २०)। अतएव लोकसग्रहकेनिमित्त स्वधर्मके अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते है वैसेही यज्ञ, दान आदि कर्मोकोभी फलाशा और आसक्ति छोडकर करना चाहिये। क्योकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्तशुद्धिकारक अथवा परोपकार बुद्धि बढानेवाले है। मूल श्लोकमें जो ' एतान्यपि – येभी ' शब्द है, उनका अर्थ यही है, कि " अन्य निष्काम कर्मोंके समान ये यज्ञ, दान आदि कर्मभी करने चाहिये। " इस रीतिसे ये सब कर्म फलाशा छोडकर अथवा भक्ति-दृष्टिसे केवल परमेश्वरार्पण-बुद्धिपूर्वक किये जावे, तो सृष्टिका चक्र चलता रहेगा। और कर्ताके मनकी फलाशा छूट जानेके कारण ये कर्म मोक्ष-प्राप्तिमेंभी बाधा नही डाल सकते इस प्रकार सब बातोका ठीक ठीक मेल मिल जाता है। कर्मके विषयमें कर्मयोगशास्त्रका यही अतिम और निश्चित सिद्धान्त है (गीता २ ४५ पर हमारी टिप्पणी देखो)। मीमासकोके कर्म-मार्ग और गीताके कर्मयोगका भेद गीतारहस्यमे (प्र १०, पृ २९५–२९७, प्र ११, पृ ३४५–३४८) अधिक स्पष्टतासे दिखाया गया है। अर्जुनके प्रश्न करनेपर सन्यास और त्यागके अर्थोका कर्मयोगकी दृष्टिसे इस प्रकार स्पष्टीकरण हो चुका, अब सात्त्विक आदि भेदोंके अनुसार कर्म करनेकी भिन्न-भिन्न रीतियोका वर्णन करके उसी अर्थको दृढ करते हैं।]

(७) जो कर्म (स्वधर्मके अनुसार) नियत अर्थात् स्थिरकर दिये गये है, उनका सन्यास याने त्याग करना (किसीकोभी) उचित नही है। उनका, मोहसे किया हुआ त्याग तामस कहलाता है। (८) शरीरको कष्ट होनेके डरसे, अर्थात् दुःखकारक होनेके कारणही, यदि कोई कर्म छोड दे, तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है, (तथा) त्यागका फल उसे नही मिलता। (९) हे अर्जुन ! (स्वधर्मा-

§§ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

§§ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

नुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझकर और आसक्ति एव फलको छोडकर किया जाता है, तव वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है।

[सातवे श्लोकके 'नियत' शब्दका अर्थ कुछ लोग नित्यनैमित्तिक आदि भेदोमेसे 'नित्य' कर्म समझते है, किंतु वह ठीक नही है " नियत कुरु कर्म त्वम्" (गीता ३ ८) पदमें 'नियत' शब्दका जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँपरभी करना चाहिये, और हम ऊपर कह चुके है, कि यहाँ मीमासकोकी परिभाषा विवक्षित नही है। गीता ३ १९ में 'नियत' शब्दके स्थानमे 'कार्य' शब्द आया है और यहाँ नवे श्लोकमें 'कार्य' एव 'नियत' ये दोनो शब्द एकत्र आ गये है। इस अध्यायमें आरभमें, दूसरे श्लोकमे, यह कहा गया है, कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसीभी कर्मको न छोडकर, उसीको कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये (गीता ३ १९), इसीको सात्त्विक त्याग कहते है, इतनाही नही, तो कर्मयोग-शास्त्रमें इसीको 'त्याग' अथवा 'सन्यास' कहते है, इसी सिद्धान्तका इस श्लोकमें समर्थन किया गया है। इस प्रकार त्याग या सन्यासके अर्थोंका स्पष्टीकरण हो चुका, अव इसी तत्त्वके अनुसार बतलाते हैं, कि वास्तविक त्यागी या सन्यासी कौन है –]

(१०) जो किसी अकुशल अर्थात् अकल्याणकारक कर्मका द्वेष नही करता, तथा कल्याणकारक अथवा हितकारी कर्ममें अनुषक्त नही होता, उसे सत्त्वशील, बुद्धिमान् और सदेहविरहित त्यागी अर्थात् सन्यासी कहना चाहिये। (११) क्योकि जो देहधारी है, उससे, कर्मोका नि शेष त्याग होना सभव नही है, अतएव जिसने (कर्म न छोडकर) केवल कर्मफलोका त्याग किया हो, वही (सच्चा) त्यागी अर्थात् सन्यासी है

[अब यह बतलाते हैं, कि उक्त प्रकारसे, अर्थात् कर्म न छोडकर केवल फलाशा छोडकरके, जो त्यागी हुआ हो, उसे उसके कर्मके कोईभी फल बधक नही होते –]

(१२) मृत्युके अनन्तर अत्यागी मनुष्यको अर्थात् फलाशाका त्याग न करनेवाले को तीन प्रकारके फल मिलते है – अनिष्ट, इष्ट और (कुछ इष्ट और

§§ पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
§§ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

कुछ अनिष्ट मिला हुआ) मिश्र। परतु सन्यासीको अर्थात् फलाशा छोडकर कर्म करनेवालेको (ये फल) कभी नही मिलते, अर्थात् बाधा नही कर सकते ।

[त्याग, त्यागी और सन्यासी सवधी उक्त विचार पहले (गीता ३ ४–७, ५ २–१०, ६ १) कई स्थानोमें आ चुके है, उन्हीका यहाँ उपसहार किया गया है। समस्त कर्मोका सन्यास गीताको कभीभी इष्ट नही है। फलाशाका त्याग करनेवाला पुरुषही गीताके अनुसार सच्चा अर्थात् नित्य-सन्यासी है (गीता ५ ३)। ममतायुक्त फलाशाका अर्थात् अहकार-बुद्धिका त्यागही सच्चा त्याग है। इसी सिद्धान्तको दृढ करनेके लिये अव और कारण दिखलाते हैं –]

(१३) हे महाबाहु ! सब कर्मोकी सिद्धिके लिये साख्योके सिद्धान्तमें जो पाँच कारण कहे गये है, उन्हे मै बतलाता हूँ, सुन। (१४) अधिष्ठान (स्थान), तथा कर्ता, भिन्न भिन्न करण याने साधन या हथियार, (कर्ताकी) अनेक प्रकारकी पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार, और उसके साथही साथ पाँचवाँ (करण) दैव है। (१५) शरीरसे, वाणीसे अथवा मनसे मनुष्य जो जो कर्म करता है, फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य उसके उक्त पाँच कारण हैं ।

(१६) (वास्तविक) स्थिति ऐसी होनेपरभी, जो सस्कृत बुद्धि न होनेके कारण यह समझे, कि मैही अकेला कर्ता हूँ, (समझना चाहिये, कि), वह दुर्मति कुछभी नही जानता। (१७) जिसमें यह भावना नही है, कि मै कर्ता हूँ तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगोको मार डाले, तथापि (समझना चाहिये, कि) उसने उन्हें नही मारा है, और वह (कर्म) उसे बधकभी नही होता ।

[कई टीकाकारोने तेहरवे श्लोकके 'साख्य' शब्दका अर्थ वेदान्तशास्त्र किया है। परतु अगला अर्थात् चौदहवाँ श्लोक नारायणी धर्ममें (मभा शा

३४७ ८७) अक्षरश आया है, और वहाँ उसके पूर्व कापिल-साख्यके प्रकृति और पुरुष – तत्त्वोका उल्लेख है, अत हमारा यह मत है, कि – 'साख्य' शब्दसे इस स्थानमे कापिल-साख्यशास्त्रही अभिप्रेत है। गीतामें यह सिद्धान्त पहले अनेक बार कहा गया है, कि मनुष्यको न तो कर्मफलकी आशा करनी चाहिये, और न ऐसी अहकार-बुद्धि मनमें रखनी चाहिये, कि मैं अमुक करूँगा (गीता २ १९, २ ४७, ३ २७, ५ ८–११, १३ २९), और यहाँपर वही सिद्धान्त यह कहकर दृढ किया गया है, कि "कर्मका फल होनेके लिये अकेला मनुष्यही कारण नही है" (गीतार प्र ११)। चौदहवे श्लोकका अर्थ यह है, कि मनुष्य इस जगतमें हो या न हो, प्रकृतिके स्वभावके अनुसार जगतका अखडित व्यापार सदैव चलताही रहता है, और जिस कर्मको मनुष्य अपनी करनी समझता है, वह केवल उसीके यत्नका फल नही है, वरन् उसके यत्न और ससारके अन्य व्यापारो अथवा चेष्टाओकी सहायताका परिणाम है। उदाहरणार्थ खेती केवल मनुष्यकेही यत्नपर निर्भर नही है, उसकी सफलताके लिये धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदिके गुणधर्म अथवा व्यापारोकी सहायता आवश्यक होती है। इसी प्रकार, मनुष्यके प्रयत्नकी सिद्धि होनेके लिये जगतके जिन विविध व्यापारोकी सहायता आवश्यक है, उनमेंसे कुछ व्यापारोको जानकर, उनकी अनुकूलता पाकरही मनुष्य यत्न किया करता है। परतु हमारे प्रयत्नोंके लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टिके औरभी कई व्यापार ऐसे है, कि जिनका हमें ज्ञान नही है। इसीको दैव कहते है, और कर्मकी घटनाका यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्यका यत्न सफल होनेके लिये जब इतनी सब बातोकी आवश्यकता है, तथा जब उनमेंसे कई या तो हमारे वशकी नही या हमें ज्ञातभी नही रहती, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है, कि मनुष्यका ऐसा अभिमान रखना निरी मूर्खता है, कि मै अमुक काम करूँगा, अथवा ऐसी फलाशा रखनाभी मूर्खताका लक्षण है, कि मेरे कर्मका फल अमुकही होना चाहिये (गीतार प्र ११, पृ ३१८–३१९)। तथापि सत्रहवे श्लोकका अर्थ योभी न समझ लेना चाहिये, कि जिसकी फलाशा छूट जाय, वह चाहे जो कुकर्म कर सकता है। साधारण मनुष्य जो कुछ करते है, वह स्वार्थके लोभसे करते हैं, इसलिये उनका बर्ताव अनुचित हुआ करता है। परतु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है, अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गयी है और जिसे प्राणिमात्र समानही हो गये है, उससे किसीकाभी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है, कि दोष बुद्धिमें रहता है, न कि कर्ममे। अतएव सत्रहवे श्लोकका यही तात्पर्य है, कि जिसकी बुद्धि पहलेसे शुद्ध और पवित्र हो गयी हो, उसका किया हुआ कोई कर्म यद्यपि लौकिक दृष्टिसे विपरित भलेही दिखलाई दे, तोभी न्यायत कहना पडता है, कि उसका बीज शुद्धही होगा, फलत उस कामके लिये फिर उस शुद्ध-बुद्धि-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

वाले मनुष्यको जिम्मेदार न समझना चाहिये। स्थितप्रज्ञ, अर्थात् शुद्ध-बुद्धिवाले, मनुष्यकी निष्पापताके इस तत्त्वका वर्णन उपनिषदोंमेंभी है (कौषी ३ १; पचदशी १४ १६, १६)। गीतारहस्यके बारहवे प्रकरणमेंभी (पृ ३७२–३७६) इस विषयका पूर्ण विवेचन किया गया है, इसलिये यहाँपर उसके अधिक विस्तारकी आवश्यकता नही है। इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न करनेपर सन्यास और त्याग शब्दोंके अर्थकी मीमासा-द्वारा यह सिद्ध कर दिया, कि स्वधर्मानुसार जो कर्म प्राप्त होते जायें, उन्हे अहकार-बुद्धि और फलाशा छोड-कर करते रहनाही सात्त्विक अथवा सच्चा त्याग है, कर्मोंको छोड बैठना सच्चा त्याग नही है। अब सत्रहवे अध्यायमें कर्मके सात्त्विक आदि भेदोका जो विचार आरभ किया गया था, उसीको यहाँ कर्मयोगकी दृष्टिसे पूरा करते है।]

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकारकी है – ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, तथा कर्मसग्रह तीन प्रकारका है – करण, कर्म और कर्ता। (१९) गुणसख्यानशास्त्रमें अर्थात् कापिल-साख्यशास्त्रमें कहा है, कि ज्ञान, कर्म और कर्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम इन तीन) गुणोके भेदोसे तीन-तीन प्रकारके है। उन (प्रकारो)को ज्यो-के-त्यो (तुझे बतलाता हूँ,) सुन।

[कर्मचोदना और कर्मसग्रह पारिभाषिक शब्द है। इद्रियोके द्वारा कोईभी कर्म होनेके पूर्व, मनसे उसका निश्चय करना पडता है। अतएव इस मानसिक विचारको 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करनेकी प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं, और वह स्वभावत ज्ञान, ज्ञेय एव ज्ञाताके रूपसे तीन प्रकारकी होती है। एक उदाहरण लीजिये – प्रत्यक्ष घडा बनानेके पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मनसे निश्चय करता है, कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है, और वह अमुक रीतिसे (ज्ञान) होगी। यह क्रिया कर्मचोदना हुई। इस प्रकार मनका निश्चय हो जानेपर वह कुम्हार (कर्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकठ्ठेकर प्रत्यक्ष घडा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्मसग्रह हुआ। कुम्हारका कर्म घट तो है, पर उसीको मिट्टीका कार्यभी कहते हैं। इससे मालूम होगा, कि कर्मचोदना शब्दसे मानसिक अथवा अन्त करणकी क्रियाका बोध होता है, और कर्मसग्रह शब्दसे उसी मानसिक क्रियाकी जोडकी बाह्यक्रियाओंका बोध होता है। किसीभी कर्मका पूर्ण विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'सग्रह', दोनोका विचार

§ § सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

करना चाहिये । इनमेंसे ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके (क्षेत्रज्ञ) लक्षण प्रथमही तेरहवे अध्यायमें (१३ १८) अध्यात्म-दृष्टिसे वतला चुके है । परतु क्रियारूपी ज्ञानका लक्षण कुछ पृथक् होनेके कारण अव इस त्रयीमेंसे ज्ञानकी, और दूसरी त्रयीमेंसे कर्म एव कर्ताकी, व्याख्याएँ दी जाती है –]

(२०) जिस ज्ञानसे यह मालूम होता है, कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सव प्राणियोमें एकही अविभक्त और अव्यक्त भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्त्विक ज्ञान समझ । (२१) जिस ज्ञानसे इस पृथकत्वका वोध होता है, कि समस्त प्राणिमात्रमे भिन्न भिन्न प्रकारके अनेक भाव है, उसे राजस ज्ञान समझ । (२२) परतु जो निष्कारण और तत्त्वार्थको विना जाने-वूझे एकही वातमे यह समझ कर आसक्त रहता है, कि यही सव कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है ।

[ये भिन्न भिन्न ज्ञानोंके लक्षण वहुत व्यापक है । अपने वाल-वच्चो और स्त्रीकोही सारा ससार समझना तामस ज्ञान है । इससे कुछ ऊँची सीढीपर पहुँचनेसे दृष्टि अधिक व्यापक होती जाती है और अपने गाँवका अथवा देशका मनुष्यभी अपना-सा जँचने लगता है, तोभी यह वुद्धि वनी रहती है, कि भिन्न भिन्न गाँवो अथवा देशोंके लोग भिन्न भिन्न है । यही ज्ञान राजस कहलाता है । परतु इससेभी ऊँचे जाकर प्राणिमात्रमें एकही आत्माको पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है । सार यह हुआ, कि 'विभक्तमें अविभक्त' अथवा 'अनेकतामें एकता'को पहचाननाही ज्ञानका सच्चा लक्षण है, और वृहदारण्यक एव कठोपनिषदोंके वर्णनानुसार जो यह पहचान लेता है, कि इस जगतमें नानात्व नही है – "नेह नानास्ति किंचन" – वह मुक्त हो जाता है, परतु जो इस जगतमें अनेकता देखता है, वह जन्म-मरणके चक्करमें पडा रहता है – "मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (वृ ४ ४ १९, कठ ४ ११) । इस जगतमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त करना है, वह यही है (गीता १३ १६), और ज्ञानकी यही परम सीमा है, क्योकि सभीके एक हो जानेपर फिर एकीकरणकी ज्ञानक्रियाको आगे स्थानही नही रहता (गीतार प्र ९, पृ २३२–२३३) । एकीकरण करनेकी इस ज्ञानक्रियाका निरूपण गीतारहस्यके नवे प्रकरण में (पृ २१६–२१७)

§§ मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

र प्र १२, पृ ३८२ – ३८३)। इसी प्रकार २५ वे श्लोकमे यहभी सिद्ध है, कि फलाशाके छूट जाने पर यह न समझना चाहिये, कि अगला-पिछला या सारा-सार विचार किये बिनाही चाहे जो कर्म किया जाय क्योंकि २५ वे श्लोकमें यह निश्चय किया है, कि अनुबंध और फलका विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह तामस है, न कि सात्त्विक (गीतार प्र १२, पृ ३८२–३८३)। अब इसी तत्त्वके अनुसार कर्ताके भेद बतलाते है –]

(२६) जिसे आसक्ति नही रहती, जो 'मै' और 'मेरा' नही कहता, कार्यकी सिद्धि हो या न हो, (दोनो समय) जो (मनसे) विकाररहित होकर धृति और उत्साहके साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्ता) कहते है। (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धिके समय) हर्ष (और असिद्धिके समय) शोकसे युक्त, कर्मफल पानेकी इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्ता राजस कहलाता है। (२८) अयुक्त अर्थात् चचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्वसे फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक याने दूसरोकी हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगाने-वाला या घडी भरके कामको महीने भरमें करनेवाला कर्ता तामस कहलाता है।

[२८ वे श्लोकमें नैष्कृतिक (निस् + कृत = छेदन करना, काटना) शब्दका अर्थ दूसरेके कामका छेदन करनेवाला अथवा करनेवाला है। परतु इसके बदले कई लोग 'नैष्कृतिक' पाठ मानते है। अमरकोशमें 'निकृत'का अर्थ शठ लिखा हुआ है। परन्तु इस श्लोकमें शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठको स्वीकार किया है। इन तीन प्रकारके कर्ताओमेंसे सात्त्विक कर्ताही अकर्ता, अलिप्त कर्ता अथवा कर्मयोगी है। ऊपरवाले श्लोकसे प्रकट है, कि फलाशा छोडनेपरभी कर्म करनेका विश्वास, उत्साह और सारासार विचार उस कर्मयोगीमे बनेही रहते है। जगतके त्रिविध विस्तारका यह वर्णनही अब बुद्धि, धृति और सुखके विषयमेंभी किया जाता है। इन श्लोकोमे बुद्धिका अर्थ वही व्यवसायात्मका बुद्धि अथवा निश्चय करनेवाली इद्रिय अभीष्ट है, कि जिसका वर्णन दूसरे अध्यायमें (२ ४१) हो चुका है और उसका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके छठे प्रकरणमें (पृ १३९–१४३) किया गया है।]

§§ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

§§ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

(२९) हे धनजय ! गुणोके कारण वुद्धि और धृतिकेभी जो तीन प्रकारके भिन्न भिन्न भेद होते है, उन सबको पृथक् पथक् तुझसे कहता हूँ, सुन । (३०) हे पार्थ ! जो वुद्धि प्रवृत्ति, अर्थात् किसी कर्मके करने, और निवृत्ति, अर्थात् किसी कर्मके न करनेको जानती है, एव यह जानती है, कि कार्य अर्थात् करनेके योग्य काम क्या है और अकार्य अर्थात् करनेके अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिये और किससे नही, किससे बधन होता है और किससे मोक्ष, वह (वुद्धि) सात्त्विक है। (३१) हे पार्थ ! वह वुद्धि राजसी है, कि जिससे धर्म और अधर्मका, अथवा कार्य और अकार्यका, यथार्थ निर्णय नही होता । (३२) हे पार्थ ! वह वुद्धि तामसी, है कि जो तमसे व्याप्त होकर अधर्मको धर्म समझती है, और सब वातोमे विपरीत याने उलटी समझ कर देती है ।

[इस प्रकार वुद्धिके विभाग करनेपर सदसद्विवेक-वुद्धि कोई स्वतत्र देवता नही रह जाती, किंतु सात्त्विक वुद्धिमेही उसका समावेश करना पडता है। विवेचन गीतारहस्यके प्रकरण ६, पृष्ठ १४२–१४३ में किया गया है। वुद्धिके भेद हो चुके, अव धृतिके भेद वतलाते है –]

(३३) हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृतिसे मन, प्राण और इंद्रियोके व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योगके द्वारा चलाये जाते है, वह धृति सात्त्विक है। (३४) हे अर्जुन ! जिस धृतिसे धर्म, काम और अर्थ (ये पुरुषार्थ) चलाये जाते है और जो प्रसगानुसार (धर्म-अर्थ-कामके)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

§§ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

फलकी इच्छा रखती है, वह धृति राजस है। (३५) हे पार्थ ! जिस धृतिसे मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नही छोडता, वह धृति तामस है।

['धृति' शब्दका अर्थ धैर्य है, परतु यहांपर शारीरिक धैर्यसे अभिप्राय नही है, इस प्रकरणमे धृति शब्दका अर्थ मनका दृढनिश्चय है। निर्णय करना बुद्धिका काम है सही, परतु इस बातकीभी आवश्यकता है, कि बुद्धिके योग्य निर्णय करनेपर वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धिके निर्णयको ऐसा स्थिर या दृढ करना मनका धर्म है। अतएव कहना चाहिये, कि धृति अथवा मानसिक धैर्यका गुण मन और बुद्धि, दोनोकी सहायतासे उत्पन्न होता है। परतु इतना कह देनेसे सात्त्विक धृतिका लक्षण पूर्ण नही हो जाता, कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्यके बलपर मन, प्राण और इद्रियोके व्यापार करने चाहिये। बल्कि यहभी बतलाना चाहिये, कि ये व्यापार किसपर होते है, अथवा इन व्यापारोका कर्म क्या है, और वह कर्मयोगी शब्दसे सूचित किया गया है। अत 'योग' शब्दका अर्थ केवल 'एकाग्र चित्त कर देनेसे काम नही चलता। इसीलिये पूर्वापर सदर्भके अनुसार, हमने इस शब्दका अर्थ, कर्मफल-त्यागरूपी योग किया है। सात्त्विक कर्मके और सात्त्विक कर्ता आदिके लक्षण बतलाते समय जैसे ' फलकी आसक्ति छोडने 'को प्रधान गुण माना है, वैसेही सात्त्विक धृतिका लक्षण बतलानेसमयभी उसीको प्रधान मानना चाहिये, इसके सिवा अगलेही श्लोकमें यह वर्णन है कि राजस धृति फलाकाक्षी होती है। अत उस श्लोकसेभी सिद्ध होता है, कि सात्त्विक धृति, राजस धृतिके विपरीत अफलाकाक्षी होनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि निश्चयकी दृढता तो निरी मानसिक प्रक्रिया है, और उसके भली या बुरी होनेका विचार करनेके अर्थ यह देखना चाहिये, कि जिस कार्यके लिये इस क्रियाका उपयोग किया जाता है, वह कार्य कैसा है। नीद और आलस्य आदि कामोमेंही यदि दृढनिश्चय किया गया हो, तो वह तामस है; फलाशापूर्वक नित्य व्यवहारके काम करनेमें किया गया हो तो राजस है, और फलाशा-त्यागरूपी योगमें दृढ निश्चय किया गया हो, तो वह सात्त्विक है। इस प्रकार धृतिके भेद हुए। अब बतलाते है, कि गुणभेदानुसार सुखकेभी तीन प्रकार कैसे होते है –]

(३६) अब हे भरतश्रेष्ठ ! सुखकेभी तीन भेद बतलाता हूँ, सुन। अभ्याससे

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थात् निरन्तर परिचयसे जिसमें रम जाता है और जहाँ दु खका अत होता है, (३७) जो आरभमें (तो) विषके समान जान पडता है, परतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ-बुद्धिकी प्रसन्नतासे प्राप्त होता है, उस (आध्यात्मिक) सुखको सात्त्विक कहते हैं। (३८) इद्रियो और उनके विषयोंके सयोगसे होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है, कि जो पहले तो अमृतके समान होता है पर अतमें विष-सा रहता है। (३९) और जो आरभमें एव अनुबध अर्थात् परिणाममेंभी मनुष्यको मोहमें फँसाता है, और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्तव्यकी भूलसे उपजता है, उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वे श्लोकके आत्मवुद्धि शब्दका अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठ बुद्धि' किया है, परतु 'आत्म'का अर्थ 'अपना' करके, उसी पदका अर्थ 'अपनी वुद्धि' भी हो सकेगा। क्योकि पहले (६ २१) कहा गया है, कि अत्यत सुख केवल 'बुद्धि-सेही ग्राह्य' और 'अतीद्रिय' होता है। परतु अर्थ कोईभी क्यो न किया जाय, तात्पर्य तो एकही है। यदि कहा जावे, कि सच्चा और नित्य सुख इद्रियोपभोगमें नही है, किंतु वह केवल वुद्धिग्राह्य है, तथापि जब विचार करते हैं, कि बुद्धिको यह सच्चा और अत्यत सुख प्राप्त होनेके लिये क्या करना पडता है, तब गीताके छठे अध्यायसे (गीता ६ २१, २२) प्रकट होता है, कि यह परमावधिका सुख आत्मनिष्ठ वुद्धिके हुए विना प्राप्त नही होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इद्रिय है, कि वह एक ओरसे त्रिगुणात्मक प्रकृतिके विस्तारकी ओर देखती है, और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरूपी परब्रह्मकाभी बोध हो सकता है, कि जो इस प्रकृतिके विस्तारके मूलमें अर्थात् प्राणिमात्रमें समानतासे व्याप्त है। तात्पर्य यह है, कि इद्रियनिग्रहके द्वारा वुद्धिको त्रिगुणात्मक प्रकृतिके विस्तारसे हटाकर जहाँ अतर्मुख और आत्मनिष्ठ किया – और पातजलयोगके द्वारा साधनीय विषय यही है – तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है, और मनुष्यको सत्य एव आत्यतिक सुखका अनुभव होने लगता है। गीतारहस्य के ५ वे प्रकरण (पृ ११६–११७) में आध्यात्मिक सुखकी श्रेष्ठताका विवरण किया जा चुका है। यह वतलाते हैं, कि इस जगतमें सामान्यत उक्त त्रिविध भेदही भरा पडा है –]

§§ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
§§ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(४०) इस पृथ्वीपर आकाशमें अथवा देवताओमें अर्थात् देवलोकमेंभी ऐसी कोई वस्तु नही कि जो प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे मुक्त हो।

[अठारहवे श्लोकसे यहाँतक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके भेद बतलाकर, अर्जुनकी आँखोंके सामने इस बातका एक चित्र रख दिया है, कि सपूर्ण जगतमें प्रकृतिके गुणभेदसे विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है, तथा फिर प्रतिपादन किया है, कि इन सब भेदोमें सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदोमेंभी जो सबसे श्रेष्ठ स्थिति है, उसीको गीतामें त्रिगुणातीत अवस्था कहा है। गीतारहस्यके सातवे प्रकरणमें (पृ १६८–१६९) हम कह चुके हैं, कि गीताके अनुसार त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था कोई स्वतन्त्र या चौथा भेद नही है, और इसी न्यायके अनुसार मनुस्मृतिमेंभी सात्त्विक गतिकेही फिर उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, ये तीन भेद करके कहा गया है, कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है, और मध्यम सात्त्विक गति स्वर्गप्रद है (मनु १२ ४८–५०, ८९–९१)। जगतमें जो प्रकृति है, उसकी विचित्रताका यहाँतक वर्णन किया गया। अब निरूपण किया जाता है, कि इस गुणविभागसेही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी उत्पत्ति कैसे हुई। यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है, कि (गी १८ ७–९, २३, ३ ८) प्रत्येक मनुष्यको स्वधर्मानुसार अपना 'नियत' अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोडकर, परतु धृति, उत्साह और सारासार विचारके साथ साथ करते जाना चाहिये, यही ससारमें उसका कर्तव्य है। परतु जिस बातसे यह कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अबतक कहीभी नही बतलाया गया। पीछे एक बार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका कुछ थोडा-सा उल्लेखकर (४ १३) कहा गया है, कि कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय शास्त्रके अनुसार करना चाहिये (गीता १६ २४), परतु जगतके व्यवहारोको नियमानुसार जारी रखनेके हेतु (गीतार प्र ११–१२, पृ ३३६, ३९९–४००, प्र १५, पृ ४९६–४९७) जिस गुणकर्मविभागके तत्त्वपर चातुर्वर्ण्यरूपी शास्त्र-व्यवस्था निर्मित की गयी है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थानमें नही किया गया है। अतएव जिस सस्थासे समाजमें हर एक मनुष्यका कर्तव्य नियत होता है, अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्यकी, गुणत्रयविभागके अनुसार, उपपत्ति बतलाकर उसके साथही साथ अब प्रत्येक वर्णके नियत किये हुए कर्तव्यभी कहे जाते हैं –]

(४१) हे परतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्म, उसके स्वभाव-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

§ § स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

जन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणोंके अनुसार पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मणका स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, क्षान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान याने विविध ज्ञान और आस्तिक्य-बुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान देना और (प्रजापर) शासन करना क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्षा याने पशुओंको पालनेका उद्यम, और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यका स्वभावजन्य कर्म है; और इसी प्रकार, सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

[यह न समझा जाय, कि यह उपपत्ति गीतामेंही पहले बतलायी गयी है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्वभावजन्य गुणभेदसे निर्मित हुई है, किंतु महाभारतके वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिर-संवादमें और द्विज-व्याध-संवादमें (वन १८०, २११), शांतिपर्वके भृगु-भारद्वाज-संवादमें (शां १८८), अनुशासनपर्वके उमा-महेश्वर-संवादमें (अनु १४३), और अश्वमेधपर्वकी (अश्व ३९, ११) अनुगीतामें गुणभेदकी यही उपपत्ति कुछ अंतरसे पायी जाती है। यह पहलेही कहा जा चुका है, कि जगतके विविध व्यवहार प्रकृतिके गुणभेदसे हो रहे हैं, और फिर सिद्ध किया गया है, कि जिस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थामें, यह नियत किया जाता है, कि किसे क्या करना चाहिये, वह व्यवस्थाभी प्रकृतिके गुणभेदका परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि उक्त कर्म हरएक मनुष्यको निष्काम बुद्धिसे अर्थात् परमेश्वरार्पण-बुद्धिसेही करने चाहिये, अन्यथा जगतका कारोबार नहीं चल सकता, तथा मनुष्यके इस प्रकारके आचरणसेही सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सिद्धि पानेके लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं है।]

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मोंमें नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसीसे) परम सिद्धि पाता है। सुन, अपने कर्मोंमें

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

§§ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

तत्पर रहनेसे सिद्धि कैसे मिलती है (४६) प्राणिमात्रकी जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सारे जगत्का विस्तार किया है अथवा जिससे यह सब जगत व्याप्त है उसकी अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मोंके द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलोंसे नहीं) पूजा करनेसेही मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार प्रतिपादन किया गया, कि चातुर्वर्ण्यके अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे अथवा परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करनाही विराट्-स्वरूपी परमेश्वरका एक प्रकारका यजन-पूजनही है, तथा उसीसे सिद्धि मिल जाती है (गीतार प्र १३, पृ ४३९–४४०)। अब उक्त गुण-कर्म-भेदानुसार मनुष्यको स्वभावतःही प्राप्त होनेवाला कर्तव्य किसी दूसरी दृष्टिसे कदाचित् सदोष, अश्लाघ्य, कठिन अथवा अप्रियभी हो सकता है (उदाहरणार्थ, इस अवसरपर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करनेमें हत्या होनेके कारण वह सदोष दिखायी देगा, तो ऐसे समयपर मनुष्यको क्या करना चाहिये ? क्या वह स्वधर्म छोडकर अन्य धर्म स्वीकार कर ले (गीता ३ ३५), या कुछभी हो, स्वकर्मकोही करता जावे, और यदि स्वकर्मही करना चाहिये, तो कैसे करे ? – इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर उसी न्यायके अनुरोधसे बतलाया जाता है, कि जो इस अध्यायके आरंभके (१८ ६) यज्ञयाग आदि कर्मोंके सबंधमें कहा गया है –]

(४७) यद्यपि परधर्मका आचरण सहज हो, तोभी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म, विगुण याने सदोष होनेपरभी अधिक कल्याण-कारक है, स्वभावसिद्ध अर्थात् गुणस्वभावानुसार निर्मित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करनेसे कोई पाप नहीं लगता। (४८) हे कौन्तेय ! जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्मसेही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो, तोभी उसे (कभी) न छोडना चाहिये। क्योंकि संपूर्ण आरंभ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोषसे वैसेही व्याप्त रहते है, जैसे कि धुएँसे आग घिरी रहती है। (४९), (अतएव) कहींभी आसक्ति न रखकर, मनको वशमें करके

निष्काम बुद्धिसे चलनेपर (कर्मफलके) सन्यास-द्वारा परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसहारात्मक अध्यायमे पहले वतलाये हुए उन्ही विचारोको अव फिरसे व्यक्त कर दिखलाया गया है, कि पराये धर्मकी अपेक्षा स्वधर्म भला है (गीता ३ ३५), और नैष्कर्म्य-सिद्धि पानेके लिये कर्म छोडनेकी आवश्यकता नही है (गीता ३ ४), इत्यादि। हम गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमे ऐसे प्रश्नोका स्पष्टीकरण कर चुके है, कि नैष्कर्म्य क्या है और सच्ची नैष्कर्म्य-सिद्धि किसे कहना चाहिये। उक्त सिद्धान्तकी महत्ता इस वातपर ध्यान दिये रहनेमे सहजही समझमे आ जावेगी, कि सन्यास-मार्गवालोकी दृष्टि केवल मोक्षपरही रहती है, और भगवानकी दृष्टि मोक्ष एव लोकसग्रह, दोनोपरभी समानही है। लोकसग्रहके लिये अर्थात् समाजके धारण और पोषणके निमित्त ज्ञान-विज्ञानयुक्त पुरुष, अथवा रणमे तलवारका जौहर दिखलानेवाले शूर क्षत्रिय, तथा किसान, वैश्य, रोजगारी, लुहार, बढई, कुम्हार और मास-विक्रेता व्याधतककीभी आवश्यकता है। परतु यदि कहा जाय, कि कर्म छोडे विना मोक्ष नही मिलता, तो इन सब लोगोको अपना अपना व्यवसाय छोडकर सन्यासी वन जाना चाहिये! कर्मसन्यास-मार्गके लोग इस बातकी परवाह नही करते, परतु गीताकी दृष्टि इतनी सकुचित नही है। इसलिये गीता कहती है, कि अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त हुए व्यवसायको छोडकर, दूसरेके व्यवसायको भला समझकर, करने लगना उचित नही है। कोईभी व्यवसाय लीजिये। उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य रहतीही है। जैसे ब्राह्मणके लिये विशेषत विहित जो क्षान्ति है (गीता १८ ४२), उसमेभी एक वडा दोष यह है, कि "क्षमावान् पुरुष दुर्बल समझा जाता है" (मभा शा १६० ३४), और व्याधके पेशेम मास बचनाभी एक झझटही है (मभा वन २०६)। परतु कठिनाइयोसे उकताकर इन कर्मोकोही छोड वैठना उचित नही है। किसीभी कारणसे क्या न हो, जब एक बार, किसी कर्मको अपना लिया, तो फिर उसकी कठिनाई या अप्रियताकी परवाह न करके, उसे आसक्ति छोडकर रहनाही चाहिये। क्योकि मनुष्यकी लघुता-महत्ता उसके व्यवसायपर निर्भर नही है, किंतु जिस बुद्धिसे वह अपना व्यवसाय या कर्म करता है, उसी बुद्धिपर उसकी योग्यता अध्यात्मदृष्टिसे अवलवित रहती है (गीता २ ४९)। जिसका मन शात है, और जिसने सव प्राणियोके अतर्गत एकताको पहचान लिया है, वह मनुष्य जाति या व्यवसायसे चाहे व्यापारी हो, चाहे कसाई, निष्काम बुद्धिसे उक्त व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य स्नानसध्याशील ब्राह्मण अथवा शूर क्षत्रियकी वरावरीका माननीय और मोक्षका अधिकारी है। यही नही, वरन् ४९ वे श्लोकमे स्पष्ट कहा है, कि कर्म छोडनेसे जो सिद्धि प्राप्त की जाती है, वही निष्काम

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

[बुद्धिमे अपना अपना व्यवसाय करनेवालोंकोभी मिलती है। भागवतधर्मका जो कुछ रहस्य है, वह यही है, तथा महाराष्ट्रके साधु-संतोके इतिहाससे स्पष्ट होता है, कि उक्त रीतिसे आचरण करके निष्काम बुद्धिके तत्त्वको अमलमे लाना कुछ असंभव नही है (गीतार प्र १३, पृ ४८२), अब बतलाते है कि, अपने अपने कर्मोमे तत्पर रहनेमेही अतमे मोक्ष कैसे प्राप्त होता है –]

(५०) हे कौन्तेय ! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होनेपर (उस पुरुषको) ज्ञानकी परम निष्ठा, अर्थात् ब्रह्म जिस रीतिसे प्राप्त होता है, उसका मै सक्षेपमे वर्णन करता हूँ, सुन । (५१) शुद्ध बुद्धिसे युक्त हो करके, धैर्यसे आत्मसंयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियोंके) विषयोंको छोडकरके, और प्रीति एव द्वेषको दूरकर, (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकात स्थलमे रहनेवाला, मिताहारी, काया-वाचा और मनको वशमे रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाशको छोडकर शात एव ममतासे रहित, (मनुष्य) ब्रह्मभूत होनेके लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जानेपर प्रसन्नचित्त हो कर वह न किसीकी आकाक्षा करता है, और न किसीका द्वेषभी, तथा समस्त प्राणिमात्रमे सम होकर मेरी परम भक्तिको प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्तिसे उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मै कितना हूँ और कौन हूँ, इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जानेपर वह मुझमेंही प्रवेश करता

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

है; (५६) और मेराही आश्रयकर सब कर्म सदैव करते रहनेपरभी उसे मेरे अनुग्रहसे शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[ध्यान रहे, कि सिद्धावस्थाका उक्त वर्णन कर्मयोगियोका है, कर्मसन्यास करनेवाले पुरुषोंका नही। आरभमेही, ४५ वे और ४९ वे श्लोकमे कहा है, कि उक्त वर्णन आसक्ति छोडकर कर्म करनेवालोका है, तथा अतके ५६ वे श्लोकमे "सब कर्म करते रहनेपरभी" शब्द आये है। उक्त वर्णन भक्तोके अथवा त्रिगुणातीतोके वर्णनके समानही है। यहाँतक कि, कुछ शब्दभी उसी वर्णनमे लिये गये है। उदाहरणार्थ, ५३ वे श्लोकका 'परिग्रह' शब्द छठे अध्यायमे (६ १०) योगीके वर्णनमे आया है, ५४ वे श्लोक 'न शोचति न काक्षति' पद बारहवे अध्यायके (१२ १७) भक्ति-मार्गके वर्णनमे है, और 'विविक्त' अर्थात् "चुने हुए 'एकान्त' स्थलमे रहना" शब्द १३ वे अध्यायके १०वे श्लोकमें आ चुका है। कर्मयोगीको प्राप्त होनेवाली उपर्युक्त अतिम स्थिति और कर्म-सन्यास-मार्गसे प्राप्त होनेवाली अतिम स्थिति, दोनो केवल मानसिक दृष्टिसे एकही है, इसीसे सन्यास-मार्गीय टीकाकारोको यह कहनेका अवसर मिल गया है, कि उक्त वर्णन हमारेही मार्गके है। परतु हम कई बार कह चुके है, कि यह सच्चा अर्थ नही है। अस्तु, इस अध्यायके आरभमे प्रतिपादन किया गया है, कि सन्यासका अर्थ कर्मत्याग नही है, कितु फलाशाके त्यागकोही सन्यास कहते है। जब सन्यास शब्दका इस प्रकार अर्थ हो चुका, तब यह सिद्ध है, कि यज्ञ, दान आदि कर्म चाहे काम्य हो, चाहे नित्य हो या नैमित्तिक, उनको अन्य सब कर्मोके समानही फलाशा छोडकर उत्साह और समतासे करते जाना चाहिये। तदनतर ससारके कर्म, कर्ता, बुद्धि आदि सपूर्ण विषयोकी गुणभेदसे अनेकता दिखलाकर उनमे सात्त्विकको श्रेष्ठ कहा है, और गीताशास्त्रका यह इत्यर्थ बतलाया है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके द्वारा स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले समस्त कर्मोको आसक्ति छोडकर करते जानाही परमेश्वरका यजन-पूजन करना है, एव इसीसे अतमे क्रमश परब्रह्म अथवा मोक्षकी प्राप्ति होती है, मोक्षके लिये कोई दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नही है अथवा कर्मत्यागरूपी सन्यासभी लेनेकी जरूरत नही है, केवल इस कर्मयोगसेही मोक्षसहित सब-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। अब इसी कर्मयोग-मार्गको स्वीकार कर लेनेके लिये अर्जुनको फिर एक बार अतिम उपदेश करते है –]

§§ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यासि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥
§§ यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

(५७) मनसे सब कर्मोंको मुझमे 'सन्यस्य' अर्थात् समर्पित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य) बुद्धियोगके आश्रयसे हमेशा मुझमें चित्त रख ।

['बुद्धियोग' शब्द पहले-दूसरेही अध्यायमें (२ ४९) आ चुका है, और वहाँ उसका अर्थ फलाशामे बुद्धि न रखकर कर्म करनेकी युक्ति अथवा समत्व बुद्धि है। यही अर्थ यहाँभी विवक्षित है और दूसरे अध्यायमे जो यह सिद्धान्त बतलाया था, कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, उसीका यह उपसहार है। इसीमें कर्मसन्यासका अर्थभी इन शब्दोके द्वारा व्यक्त किया गया है, कि "मनसे (अर्थात् कर्मका प्रत्यक्ष त्याग न करके, केवल बुद्धिसे) मुझमे सब कर्म समर्पित कर।" और वही अर्थ पहले गीता ३ ३० एव ५ १३ मेंभी वर्णित है।]

(५८) मुझमे चित्त रखनेपर तू मेरे अनुग्रहसे सब सकटोको अर्थात् कर्मके शुभाशुभ फलोको पार कर जावेगा। परन्तु यदि अहकारके वश होकर मेरी न सुनेगा, तो (निस्सदेह) नाश पावेगा।

[५८ वे श्लोकके अतमें अहकारका जो परिणाम बतलाया है, अब यहाँ उसीका अधिक स्पष्टीकरण करते है —]

(५९) तू अहकारसे जो यह मानता (कहता) है, कि मैं युद्ध न करूँगा, तेरा वह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे वह (युद्ध) करावेगा। (६०) हे कौन्तेय! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होनेके कारण, मोहके वश होकर तू जिसे करनेकी इच्छा करता है, पराधीन (अर्थात् प्रकृतिके अधीन) हो करके तुझे वही करना पडेगा। (६१) हे अर्जुन! सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर ईश्वर (अपनी) मायासे प्राणिमात्रको (ऐसे) घुमा रहा है, मानो सभी (किसी)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

यन्त्रपर चढ़ाये गये हों। (६२) हे भारत! तू सब भावसे उसीकी शरणमें जा। उसके अनुग्रहसे तुझे परम शांति और नित्यस्थान प्राप्त होगा। (६३) इस प्रकार मैंने यह गुह्यातिगुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

§ § सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

| उक्त श्लोकका ठीक ठीक भावार्थ यह है, कि "ज्योंही तू इस ज्ञानको समझ लेगा (विमृश्य), त्योंही तू स्वयप्रकाश हो जायगा, और फिर (पहलेसे नही) तू अपनी इच्छासे जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एव प्रमाण होगा, तथा तुझे स्थित-प्रज्ञकी ऐसी अवस्था प्राप्त हो जानेपर तेरी इच्छाको रोकनेकी आवश्यकताही न रहेगी।' अस्तु, गीतारहस्यके १४ वे प्रकरणमे हम दिखला चुके हैं, कि, गीतामें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकोही अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार अब सपूर्ण गीताशास्त्रका भक्तिप्रधान उपसहार करते हैं –]

(६४) (अब) अतकी यह और एक बात सुन, कि जो गुह्यातिगुह्य है। मेरा अत्यत प्यारा है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात करता हूँ। (६५) मुझमे अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, और मेरी वदना कर, मै तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कि (इससे) तू मुझमेही आ मिलेगा, (क्योकि) तू मेरा प्यारा (भक्त) है। (६६) सब धर्मोको छोड कर तू केवल मेरीही शरणमे आ जा। मै तुझे सब पापोसे मुक्त करूँगा, डर मत।

[कोरे ज्ञानमार्गके टीकाकारोको यह भक्ति-प्रधान उपसहार प्रिय नही लगता। इसलिये वे धर्म शब्दमेंही अधर्मका समावेश करके कहते है, कि यह श्लोक कठोपनिषदके इस उपदेशसे समानार्थक है, कि "धर्म-अधर्म, कृत-अकृत, और भूत-भव्य, सबको छोड कर उनके परे रहनेवाले परब्रह्मको पहचानो" (कठ २ १४), तथा इसमें निर्गुण ब्रह्मकी शरणमें जानेका उपदेश है निर्गुण ब्रह्मका वर्णन करते समय कठ-उपनिषदका श्लोक महाभारतमभी आया है। (शा ३२९ ४०, ३३१ ४४)। परतु इन दोनो स्थानोपर धर्म और अधर्म, ये दोनो पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते है, वैसे गीतामे नही है। यह सच है, कि गीता निर्गुण ब्रह्मको मानती है, और उसमे यह निर्णयभी किया गया है,' कि परमेश्वरका वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गीता ७ २४)। तथापि गीताका यहभी तो सिद्धान्त है, कि व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (१२ ५), और यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमेही कह रहे है, इस कारण हमारा यह दृढ मत है, कि यह उपसहार भक्तिप्रधानही है। अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नही है,

§§ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

§§ अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

| किंतु कहना चाहिये कि यहाँपर धर्म शब्दसे परमेश्वर-प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं,— जैसे अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म, मातृपितृ-सेवाधर्म, गुरुसेवा-धर्म, यज्ञयाग-धर्म, दान-धर्म, संन्यास-धर्म, आदि — वे ही अभिप्रेत हैं, और महाभारतके शांतिपर्वमें (शां. ३५४) एवं अनुगीतामें (अश्व. ४९.) जहाँ इस विषयकी चर्चा हुई है, वहाँ धर्म शब्दसे मोक्षके इन्हीं उपायोंका उल्लेख किया गया है। परंतु इस स्थानपर गीताके प्रतिपाद्य धर्मको लक्ष्य करके भगवानका यह निश्चयात्मक उपदेश है, कि उक्त नाना धर्मोंकी गड़बड़में न पड़ कर 'मुझे अकेलेकोही भज, मैं तेरा उद्धार कर दूंगा, डर मत' (गीतार. पृ. ४४३)। सार यह है, कि अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान् अंतमें सभीको आश्वासन देते हैं, कि मेरी दृढ भक्ति करके, मत्परायण-बुद्धिसे स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर, इहलोक और परलोक, दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा, डरो मत। यही कर्मयोग कहलाता है, और सब गीता-धर्मका सारभी यही है। अब बतलाते हैं, कि इस गीता-धर्मकी, अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगकी, परंपरा आगे कैसे जारी रखी जावे —]

(६७) जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुननेकी इच्छाभी नहीं रखता, तथा जो मेरी निंदा करता, है, उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाओ। (६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तोंको बतलावेगा, उसकी मुझमें परम भक्ति होगी और वह निस्संदेह मुझमेंही आ मिलेगा। (६९) और उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला संपूर्ण मनुष्योंमें दूसरा कोईभी न मिलेगा, तथा इस भूमिमें मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

| [परंपराकी रक्षाके इस उपदेशके साथही अब फल बतलाते हैं —]

(७०) हम दोनोंके इस धर्म-संवादका जो कोई अध्ययन करेगा, मैं समझूंगा,

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

§§ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

कि उसने ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा की है। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूंढ कर श्रद्धाके साथ जो कोई इसे सुनेगा, वहभी (पापोंसे) मुक्त होकर उन शुभ लोकोंमें जा पहुँचेगा, कि जो पुण्यवान् लोगोंको मिलते है।

[यहाँ उपदेश समाप्त हो चुका। अब यह जाँचनेके लिये, कि यह धर्म अर्जुनकी समझमें ठीक आ गया है या नही भगवान् उससे पूछते है –]

(७२) हे पार्थ! तूने इसे एकाग्र मनसे सुन तो लिया है न? (और) हे धनजय! तेरा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नही? अर्जुनने कहा – (७३) हे अच्युत! तुम्हारे प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया, और मुझे (कर्तव्य-धर्मकी) स्मृति हो गई। मैं (अब) नि सदेह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[जिनकी साम्प्रदायिक समझ यह है, कि गीताधर्ममेंभी ससारको छोड देनेका उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अतिम अर्थात् ७३ वे श्लोककी बहुत कुछ निराधार खीचातानी की है। यदि विचार किया जाय, कि अर्जुनको किस बातकी विस्मृति हो गयी थी, तो पता लगेगा, कि दूसरे अध्यायमे (२ ७) उसने कहा है, कि "अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझनेमे मेरा मन असमर्थ हो गया है" (धर्मसमूढ चेता), अत उक्त श्लोकका सरल अर्थ यही है कि उसी कर्तव्य-धर्मकी अब उसे स्मृति हो आयी है। अर्जुनको युद्धमे प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया गया है, और स्थान-स्थानपर कहा गया है, कि "इसलिये तू युद्ध कर" (गीता २ १८, २ ३७, ३ ३०, ८ ७, ११ ३४), अतएव "आपकी आज्ञानुसार करूँगा" का अर्थ "युद्ध करता हूँ" ही होता है। अस्तु, श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद समाप्त हुआ, अब महाभारतकी कथाके सदर्भानुसार धृतराष्ट्रको यह कथा सुनाकर सजय उपसहार करता है –]

संजय उवाच।

§§ इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

संजयने कहा – (७४) इस प्रकार शरीरको रोमांचित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत संवाद मैंने सुना। (७५) व्यासजीके अनुग्रहसे मैंने यह परम गुह्य, याने योग अर्थात् कर्मयोग, साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्णहीके मुखसे सुना है।

[पहलेही लिख चुके हैं, कि व्यासजीने संजयको दिव्य-दृष्टि दी थी, जिससे रणभूमिपर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे घर बैठेही दिखायी देती थी, और उन्हींका वृत्तान्त वह धृतराष्ट्रसे निवेदन कर देता था। श्रीकृष्णने जिस योगका प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है (गीता ४. १–३), और अर्जुनने पहले उसे 'योग' (साम्ययोग) कहा है (गीता ६. ३३), तथा अब इस श्लोकमें संजयभी श्रीकृष्णार्जुनके संवादको 'योग'ही कहता है। इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और संजय, तीनोंके मतानुसार गीताका प्रतिपाद्य विषय, 'योग' अर्थात् कर्मयोगही है, और अध्याय-समाप्तिसूचक संकल्पमेंभी वही, अर्थात् योगशास्त्र, शब्द आया है। परन्तु 'योगेश्वर' शब्दमें 'योग' शब्दका अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। योगका साधारण अर्थ कर्म करनेकी युक्ति, कुशलता या शैली है। इसी अर्थके अनुसार कहा जाता है, कि बहुरूपिया योगसे अर्थात् कुशलतासे अपने स्वाँग बना जाता है। परंतु जब कर्म करनेकी इन युक्तियोंमें श्रेष्ठ युक्तिको खोजते हैं, तब कहना पडता है, कि परमेश्वर मूलमें अव्यक्त होनेपरभी जिस युक्तिसे वह अपने आपको व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सबसे श्रेष्ठ है। इसीको गीतामें 'ईश्वरी योग' (गीता ९. ५, ११. ८) कहा है, और वेदान्तमें जिसे माया कहते हैं, वहभी यही है (गीता ७. २५)। यह अलौकिक अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय, उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथका मैल हैं। परमेश्वर इन योगोंका अथवा मायाका अधिपति है, अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगोंका स्वामी कहते हैं। 'योगेश्वर' शब्दमें योगका अर्थ पातंजलयोग नहीं है।]

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र)! केशव और अर्जुन, दोनोंके इस अद्भुत एवं पुण्य-

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

-इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्याय ॥१८॥

कारक संवादका स्मरण होकर मुझे वार वार हर्ष हो रहा है, (७७) और हे राजा ! श्रीहरिके उस अत्यंत अद्‌भुत विश्वरूपकीभी वार वार स्मृति होकर मुझे बडा विस्मय होता है, और वार-वार हर्ष होता है । (७८) मेरा मत है, कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण है और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वही श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है ।

[उक्त सिद्धान्तका सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनो एकत्रित होती है, वहाँ निश्चयही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती है, कोरी शक्तिसे अथवा केवल युक्तिसे सदैव काम नही चलता । जब जरासंधका वध करनेके लिये मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा है, कि " अन्धं बलं जडं प्राहु प्रणेतव्यं विचक्षणैः " (सभा सभा २० १६) – बल अन्धा और जड है, बुद्धिमानोको चाहिये, कि उसे मार्ग दिखलावे, तथा श्रीकृष्णनेभी यह कह कर, कि " मयि नीतिर्बलं भीमे " (सभा २० ३) – मुझमें नीति है और भीमसेनके शरीरमें बल है, भीमसेनको साथ लेकर उसके द्वारा जरासंधका वध युक्तिसे कराया है । केवल नीति बतलानेवालेको आधा चतुर समझना चाहिये । अर्थात् इस श्लोकमें योगेश्वरका अर्थ योग या युक्तिके ईश्वर है और धनुर्धरका योद्धा, और यहाँ ये दोनो विशेषण हेतुपूर्वक दिये गये है ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

[ध्यान रहे, कि " मोक्ष-संन्यासयोग 'शब्दमें' 'संन्यास' " शब्दका अर्थ 'काम्य कर्मोका संन्यास है, जैसा कि इस अध्यायके आरंभमे कहा गया है, यहाँ चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास विवक्षित नहा है । इस अध्यायमे प्रतिपादन किया गया है, कि स्वकर्मको न छोड कर उसे परमेश्वरमे मनसे संन्यास अर्थात्

[समर्पित कर देनेसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है, अतएव इस अध्यायका मोक्ष-संन्यासयोग नाम रखा गया है।]

इस प्रकार बाल गंगाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीताका रहस्य-संजीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणीसहित समाप्त हुआ।

गंगाधर-पुत्र, पूना-वासी, महाराष्ट्र विप्र,
वैदिक तिलक बाल बुध ते विधीयमान।
'गीतारहस्य' किया श्रीश को समर्पित यह,
वीर कौल योगि भूमि शकमें सुयोग जान।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

गीताके श्लोकोंकी सूचि

ग्रंथ और ग्रंथकारोंकी सूचि

इस सूचिपत्रकी स्थूलरूपसे छानबीन करनेसेभी पाठक उसकी रचनाकी कल्पना कर सकेंगे। ग्रथ और ग्रथकारोके नाम अक्षरानुक्रमसे दिये गये हैं और एकही स्वरूपके ग्रथोकी तालिका एकही दी गई है। युरोपियन ग्रथकारोकी सूचि स्वतत्र-रूपसे दी गई है। गीताके रहस्यके स्पष्टीकरणके लिये विषयविवेचनके अनुरोधसे आनेवाले व्यक्तियोका निर्देश स्वतत्र शीर्षकके नीचे किया गया है और पारिभाषिक शब्दोका समावेश व्याख्याओमें किया गया है। टि से टिप्पणी समझे।

ग्रंथ और ग्रंथकार

व्यक्तिनिर्देश

यूरोपियन ग्रंथकार

व्याख्या (पारिभाषिक शब्द)

हिंदु धर्म-ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय

हिंदु धर्मके मूलभूत ग्रथोमें, महत्त्व और कालानुक्रमकी दृष्टिसे, वेद श्रेष्ठ और आद्य ग्रथ हैं, और सहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदोका उन्हीमें समावेश किया जाता है। यज्ञयागादिके कर्मकाण्ड और परमार्थ-विचारोके ज्ञानकाण्ड, इन दोनोका मूल उक्त त्रयीमे है। तथापि ज्ञानकाण्डके मूलभूत आधार-ग्रथ उपनिषद् हैं। हिंदु-धर्मके सामाजिक व्यवहारोका नियत्रण स्मृतिग्रथोंके द्वारा किया जाता है, परतु उनका मूल आधार गृह्यसूत्र हैं। गृह्यसूत्रोके अतिरिक्त औरभी अनेक सूत्र-ग्रथ हैं, परतु उनका सबध धर्मव्यवहारोमे नही है, वल्कि केवल विश्वके रहस्यका उद्-घाटन करनेवाली विविध विचार-परपराओसे है। इन विविध विचार-परपराओ-कोही षड्दर्शन कहते हैं। गौतमके न्यायसूत्र, साख्यसूत्र, वैशेषिकसूत्र, जैमिनीके पूर्वमीमासासूत्र, वादरायणके वेदान्त अथवा ब्रह्मसूत्र, पतजलीके योगसूत्र इत्यादिका षड्दर्शनमें समावेश होता है, परतु षड्दर्शनके सिवाभी अन्य अनेक सूत्र-ग्रथ हैं। उन्हीमे पाणिनीसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र, नारदसूत्र इत्यादिकी गणना होती है। प्राचीन मूर्तिपूजारहित और निर्मल पारमार्थिक स्वरूपके वैदिक धर्ममें परिवर्तन होकर उपास्य देवताओको माननेकी प्रवृत्ति जारी होनेके बाद पुराणोका जन्म हुआ। महाभारत और रामायण पुराण नही, किंतु इतिहास हैं। पुराणोमेंही गीताओका समावेश होता है। गीतारहस्य-ग्रथमे इस विषयका प्रसगानुसार ऊहापोह किया गया है, परतु पाठकोको उसका एकत्र ज्ञान करा देनेके उद्देश्यसे तालिकाके रूपमें निम्नलिखित जानकारी दी जाती है।

(१) **वेद अथवा श्रुतिग्रथ –**

वेद – अथर्व, ऋग्वेद।

सहिता – (ऋचाओका अथवा मत्रोका सग्रह। कर्म अथवा यज्ञकाड) तैत्तिरीय, मनु, वाजसनेयी, सूत।

ब्राह्मण – (आरण्यक। कर्म अथवा यज्ञकाड) आर्षेय, ऐतरेय, कौषिक, कौषीतकी, तैत्तिरीय, शतपथ।

उपनिषद् – (ज्ञानकाड) अमृतबिंदु, ईश (ईशावास्य), ऐतरेय, कठ, केन, कैवल्य, कौषीतकी (कौ ब्राह्मण), गर्भ, गोपालतापनी, छादोग्य, छुरिका, जाबाल-सन्यास, तैत्तिरीय, ध्यानबिंदु, नारायणीय, नृसिंहोत्तरतापनीय, प्रश्न, बृहदारण्यक, महानारायण, माडूक्य, मुडक (मुड), मैत्री (मैत्रा-यणी), योगतत्त्व, रामतापनी, वज्रसूची, श्वेताश्वतर, सर्व।

(२) **शास्त्र –**

१ **धर्मग्रथ** - गृह्य-सूत्र, स्मृति-ग्रथ (मनु, याज्ञवल्क्य और हारीत)।

२ सूत्र (षड्दर्शन) – जैमिनी (मीमासा अथवा पूर्वमीमासा), ब्रह्म (वेदान्त, शारीरक अथवा उत्तर-मीमासा), न्याय (गौतम), योग (पातजल), साख्य (साख्यकारिका), वैशेषिक ।

(३) **अन्य सूत्र :–** आपस्तव, आश्वलायन, गृह्यशेष, तैत्तिरीय, नारद, नारद-पचरात्र, बौधायनधर्म, बौधायनगृह्य, शाडिल्य ।

(४) **व्याकरण :–** पाणिनी ।

(५) **इतिहास :–** रामायण, महाभारत (हरिवश) ।

(६) **पुराण** – अष्टादश-महापुराण, अष्टादश-उपपुराण और गीताएँ ।

अष्टादश-पुराण – अग्नि, कूर्म, गणेश, गरुड, गौडीय पद्मोत्तर, देवी-भागवत, नारद, नृसिह, पद्म, ब्रह्माड, भागवत, मत्स्य, मार्कंडेय, लिंग, वराह, विष्णु, स्कद, हरिवश ।

गीताएँ :– अवधूत, अष्टावक्र, ईश्वर, उत्तर, कपिल, गणेश, देवी, पराशर, पाडव, पिंगल, ब्रह्म, बोध्य, भिक्षु, मकि, यम, राम, विचिख्यु, व्यास, वृत्र, शिव, शपाक, सूत, सूर्य, हरि, हस, हारीत ।

(७) **पाली-ग्रथ :–** अमितायुसुत्त, उदान, चुल्लवग्ग, तारानाथ, तेविज्जसुत्त (त्रैविद्यसूत्र), थेरगाथा, दशरथजातक, दीपवस, धम्मपद, ब्रह्मजालसुत्त, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, महापरिनिब्बाणसुत्त, महावस, महावग्ग, मिलिंदप्रश्न, वत्थुगाथा, सद्धर्मपुडरीक, सुत्तनिपात, सेल्लसुत्त, सब्बासवसुत्त ।

शंकराचार्यका आक्षेप सरल अर्थकी अपेक्षा संन्यासनिष्ठा-प्रधान एकवाक्यताकी ओर विशेष था, एक और दूसरा कारणभी है। तैत्तिरीय उपनिषदके शांकरभाष्यमें (तै २ ११) ईशावास्य मंत्रका इतनाही भाग दिया है कि "अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते", और उसके साथही यह मनुवचन भी दे दिया है, कि "तपसा कल्मष हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" (मनु १२ १०४), और इन दोनोंही वचनोंमें 'विद्या' शब्दका एकही मुख्यार्थ अर्थात् ब्रह्मज्ञान आचार्यने स्वीकार किया है। परंतु यहाँ आचार्यका कथन है, कि "तीर्त्वा = तैरकर या पारकर", इस पदसे मृत्युलोकको तैर जानेकी क्रिया पहले पूरी हो जानेपर फिर (एक-साथही नहीं) विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होनेकी क्रिया संघटित होती है। किंतु कहना नहीं होगा, कि यह अर्थ पूर्वार्धके 'उभय सह' शब्दोंके विरुद्ध हो जाता है और प्राय इसी कारणसे ईशावास्यके शांकरभाष्यमें यह अर्थ छोड दिया गया हो। कुछभी हो, ईशावास्यके ग्यारहवे मंत्रका शांकरभाष्यमें निराला व्याख्यान करनेका जो कारण है, वह इससे व्यक्त हो जाता है। *यह कारण सांप्रदायिक है, और भाष्य-कर्ताकी सांप्रदायिक दृष्टि स्वीकार न* करनेवालोंको प्रस्तुत भाष्यका यह व्याख्यान मान्य न होगा। यह बात हमेंभी मंजूर है, कि श्रीमच्छंकराचार्य जैसे अलौकिक ज्ञानी पुरुषके प्रतिपादन किये हुए अर्थको छोड देनेका प्रसंग यदि टले, तो अच्छा है! परंतु सांप्रदायिक दृष्टि त्यागनेसे ये प्रसंग तो आयेंगेही, और इसी कारण हमसे पहलेभी ईशावास्यके मंत्र – अर्थ शांकर-भाष्यसे विभिन्न प्रकारसे अर्थात् जैसे हम कहते है, वैसेही अन्य भाष्यकारोंने लगाये हैं। उदाहरणार्थ वाजसनेयी संहितापर अर्थात् ईशावास्योपनिषदपरभी उवटाचार्यका जो भाष्य है, उसमें "विद्या चाविद्या च" इस मंत्रका व्याख्यान करते हुए ऐसा अर्थ दिया है, कि "विद्या = आत्मज्ञान और अविद्या = कर्म, इन दोनोंके एकीकरणसेही अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है।" अनंताचार्यने इस उपनिषदके अपने भाष्यमें इसी ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक अर्थको स्वीकार कर अंतमें साफ लिख दिया है, कि "इस मंत्रका सिद्धान्त और "यत्सांख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते" (गीता ५ ५), गीताके इस वचनका अर्थ एकही है, एवं गीताके इस श्लोकमें जो 'सांख्य' और 'योग' शब्द है, वे क्रमसे 'ज्ञान' और 'कर्म'के द्योतक हैं।"* इसी प्रकार अपरार्कदेवनेभी

---

* पुणेके आनंदाश्रममे ईशावास्योपनिषदकी जो पुस्तक छपी है, उसमें ये सभी भाष्य हैं और याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी अपरार्ककी टीकाभी आनंदाश्रममेंही पृथक् छपी है। प्रो मेक्समुलरने उपनिषदोंका जो अनुवाद किये है, उनमें ईशावास्यका भाषांतर शांकरभाष्यके अनुसार नही है। उन्होंने भाषांतरके अंतमें इसके कारण बतलाये हैं (Sacred Books of the East Series, Vol I pp 314-320)। अनंताचार्यका भाष्य मेक्समुलर साहबको उपलब्ध नही हुआ था, और उनके ध्यानमें यह बातभी आई हुई दीख नही पडती, कि शांकरभाष्यमें निराले अर्थ क्यो किये गये हैं?

याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी (याज्ञ ३ ५७, २०५) अपनी टीकामें ईशावास्यका ग्यारहवाँ मन्त्र देकर, अनन्ताचार्यके समानही, उसका ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक अर्थ किया है। इससे पाठकोंके ध्यानमें आ जायेगा, कि आज हम नये सिरेसेही ईशावास्योपनिषदके मन्त्रका शांकरभाष्यसे भिन्न अर्थ नही करते है।

यह तो हुआ स्वयं ईशावास्योपनिषदके मन्त्रके संबंधका विचार। अब शांकर-भाष्यमें "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" यह जो मनुका वचन दिया है, उसकाभी थोडा-सा विचार करते है। मनुस्मृतिके बारहवे अध्यायमें यह १०४ क्रमांकका श्लोक है, और मनु १२ ८६ से विदित होगा, कि वह प्रकरण वैदिक कर्मयोगका है। कर्मयोगके इस विवेचनमें –

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

पहले चरणमें यह बतलाकर, कि "तप और (च) विद्या, ये (अर्थात् दोनो) ब्राह्मणको उत्तम मोक्षदायक है," फिर उनमेंसे प्रत्येकका उपयोग दिखलानेके लिये दूसरे चरणमें कहा है, कि "तपसे दोष नष्ट हो जाते है और विद्यासे अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है।" इससे प्रकट होता है, कि इस स्थानपर ज्ञान-कर्म-समुच्चयही मनुको अभिप्रेत है, और ईशावास्यके ग्यारहवे मन्त्रकाही अर्थ मनुने इस श्लोकमें वर्णन कर दिया है। हारीत-स्मृतिके वचनसेभी यही अर्थ अधिक दृढ होता है। यह हारीत-स्मृति स्वतन्त्र तो उपलब्ध हैही, इसके सिवा नृसिंहपुराणमेंभी (नृ पु ५७–६१) आई है। इस नृसिंहपुराणमें (६१ ९–११) और हारीत-स्मृतिमें (हा स्मृ ७ ९–११) ज्ञान-कर्म-समुच्चयके संबंधमें ये श्लोक है –

यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा।
एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः ॥

यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ॥

द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥

"जिस प्रकार रथके बिना घोडे और घोडोंके बिना रथ (नहीं चलते), उसी प्रकार तपस्वीके तप और विद्याकीभी स्थिति है। जिस प्रकार अन्न शहदसे संयुक्त हो, और शहद अन्नसे संयुक्त हो, उसी प्रकार तप और विद्याके (दोनोंके) संयुक्त होनेसे एक महौषधि बनती है। जैसे पक्षियोंकी गति दोनों पंखोंके योगसेही होती है, वैसेही ज्ञान और कर्मसे (दोनों) शाश्वत ब्रह्म प्राप्त होता है।" हारीत-स्मृतिके इसरीखे वचन वृद्धात्रेय-स्मृतिके दूसरे अध्यायमेंभी पाये जाते है। इन वचनोंसे, और विशेषकर इनमें दिये गये दृष्टान्तोंसे, प्रकट हो जाता है, कि मनुस्मृतिके

वचनोका क्या अर्थ लगाना चाहिये ? यह तो पहलेही कह चुके है, कि मनु तप शब्दमेंही चातुर्वर्ण्यके कर्मोका समावेश करते है (मनु ११ २३६), और अब दीख पडेगा, कि तैत्तिरीयोपनिषदमें ' तप और स्वाध्याय-प्रवचन ' इत्यदिका जो आचरण करनेके लिये कहा गया है (तै १ ९), वहभी ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षको स्वीकार करही कहा गया है। सपूर्ण योगवासिष्ठ ग्रथका तात्पर्यभी यही है। क्योकि इस ग्रथके आरभमें सुतीक्ष्णने प्रश्न किया है, कि मुझे बतलाइये, कि मोक्ष कैसे मिलता है ? केवल ज्ञानसे, केवल कर्मसे, या दोनोके समुच्चयसे ? और उसे उत्तर देते हुए हारीत-स्मृतिके पक्षीके पखोवाला, दृष्टान्त लेकर, पहले यह बतलाया है, कि " जिस प्रकार आकाशमें पक्षीकी गति दोनो पखोमेही होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म, इन्ही दोनोसे मोक्ष मिलता है। केवल एकसेही यह सिद्धि मिल नही जाती।" और आगे इसी अर्थको विस्तारसहित सिद्धकर दिखलानेके लिये सपूर्ण योगवासिष्ठ ग्रथ कहा गया है (यो १ १ ६–९)। इसी प्रकार वसिष्ठने रामको मुख्य कथामें स्थान-स्थानपर बार-बार यही उपदेश किया है, कि " जीवन्मुक्तके समान बुद्धिको शुद्ध रखकर तुम समस्त व्यवहार करो " (यो ५ १८ १७–२६), या मरण-पर्यत कर्मोका छोडना उचित न होनेके कारण (यो ६ उ २ ४२), स्वधर्मके अनुसार प्राप्त राज्यको पालनेका काम करते रहो " (यो ५ ५ ५४, ६ उ २१३ ५०)। इस ग्रथका उपसहार और आगे श्रीरामचद्रके किये हुए कामभी इसी उपदेशके अनुसार है। परतु योगवासिष्ठके टीकाकार थे सन्यास-मार्गीय इसलिये पक्षीके दो पखोवाली उपमाके स्पष्ट होने परभी, उन्होने अतमें अपनी ओर-से यह तुर्रा लगाही दिया, कि ज्ञान और कर्म, दोनो युगपत् अर्थात् एकही समयमें विहित नही है। परतु बिना टीकाके मूल ग्रथ पढनेसे किसीकेभी ध्यानमें सहजही आ जावेगा, कि टीकाकारोका यह अर्थ खीचातानीका है, एव क्लिष्ट और साप्रदायिक है। मद्रास प्रातमें योगवासिष्ठ-सरीखाही 'गुरुज्ञान-वासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक एक ग्रथ प्रसिद्ध है और उसके ज्ञानकाड, उपासनाकाड और कर्मकाड – ये तीन भाग है। हम पहले कह चुके है, कि यह ग्रथ जितना पुराना बतलाया जाता है, उतना पुराना नही दिखता है। वह प्राचीन भलेही न हो, पर जब कि ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षही उसमें प्रतिपाद्य है, तब इस स्थानपर उसका उल्लेख करना आवश्यक है। इसमें अद्वैत वेदान्त है और निष्काम कर्मपरही बहुत जोर दिया गया है, इसलिये यह कहनेमें कोई हानि नही, कि उसका सप्रदायभी शकराचार्यके सप्रदायसे भिन्न और स्वतत्र है। मद्रासकी ओर इस सप्रदायका नाम 'अनुभवाद्वैत' है और वास्तविक देखनेसे ज्ञात होगा, कि गीताके कर्मयोगकी यह एक नकलही है। परतु केवल भगवद्गीताकेही आधारसे इस सप्रदायको सिद्ध न कर, इस ग्रथमें कहा है, कि कुल १०८ उपनिषदोसेभी वही अर्थ सिद्ध होता है। इसमें रामगीता और सूर्यगीता, ये दो नई गीताएँभी दी है। कुछ लोगोकी जो यह समझ है, कि अद्वैत मतको अगीकार करना मानो

कर्म-सन्यास-पक्षको स्वीकार करनाही है, वह इस ग्रथसे दूर हो जायगी। ऊपर दिये गये प्रमाणोंसे अब स्पष्ट हो जायगा, कि सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र, मनु-याज्ञवल्क्य-स्मृति, महाभारत, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ और अतमें तत्त्वसारायण प्रभृति ग्रथोमें जो निष्काम कर्मयोग प्रतिपादित है, उसको श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित न मान केवल सन्यास-मार्गकोही श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कहना सर्वथा निर्मूल है।

इस मृत्युलोकके व्यवहार चलनेके लिये या लोकसग्रहार्थ यथाधिकार निष्काम कर्म और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान, इन दोनोका एककालीन समुच्चयही, अथवा महाराष्ट्र कवि शिवदिन-केसरीके वर्णनानुसार –

प्रपंच साधुनि परमार्थाचा लाहो ज्याने केला।
तो नर भला भला रे भला भला॥ *

यही अर्थ गीतामें प्रतिपाद्य है। कर्मयोगका यह मार्ग प्राचीन कालसे चला आ रहा है, जनक प्रभृतिने इसी का आचरण किया है, और स्वय भगवानके द्वारा इसका प्रसार और पुनरुज्जीवन होनेके कारण इसेही भागवत-धर्म कहते हैं। ये सब बाते अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी। अब लोकसग्रहकी दृष्टिसे यह देखनाभी आवश्यक है, कि इस मार्गके ज्ञानी पुरुष परमार्थयुक्त अपना प्रपच – जगतके व्यवहार – किस रीतिसे चलाते हैं? परतु यह प्रकरण बहुत बढ गया है, इसलिये इस विषयका स्पष्टीकरण अगले प्रकरणमें करेंगे।

---

* "वही नर भला है, जिसने प्रपच साध कर (ससारके सब कर्तव्योका यथोचित पालन कर) परमार्थ याने मोक्षकी प्राप्तिभी कर ली हो।"

बारहवाँ प्रकरण

सिद्धावस्था और व्यवहार

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥ *

— महाभारत, शांति २६१ ९

जिस मार्गका यह मत है, कि ब्रह्मज्ञान हो जानेसे जब बुद्धि अत्यंत सम और निष्काम हो जावे, तब शेष मनुष्यको आगे कुछभी कर्तव्य नही रह जाता, और इसीलिये ज्ञानी पुरुषको क्षणभंगुर संसारके दु खमय और शुष्क व्यवहार विरक्त-बुद्धिसे सर्वथा छोड देने चाहिये, उस मार्गके पंडित इस बातको कदापि नही जान सकते, कि कर्मयोग अथवा गृहस्थाश्रमके वर्तावकाभी कोई विचार करने योग्य शास्त्र है। सन्यास लेनेभी पहले चित्तकी शुद्धि होकर ज्ञानप्राप्ति हो जानी चाहिये, इसीलिये उन्हे मंजूर है, कि संसार गृहस्थीके काम उस धर्मसेही करने चाहिये, कि जिससे चित्तवृत्ति शुद्ध होवे, अर्थात् वह सात्त्विक बने। इसीलिये वे समझते हैं, कि संसारमेंही सदैव बने रहना पागलपन है और जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी प्रत्येक मनुष्य सन्यास ले ले — यही इस जगतमें उसका परम कर्तव्य है। ऐसा मान लेनेसे कर्मयोगका स्वतंत्र महत्त्व कुछभी नही रह जाता, और इसीलिये सन्यासमार्गके पंडित गृहस्थीके कर्तव्योके विषयमें कुछ थोडा-सा प्रासंगिक विचार करके, गार्हस्थ्य-धर्मके, कर्म-अकर्मके विवेचनका इससे अधिक विचार कभी नही करते, कि मनु आदि शास्त्रकारोके बतलाये हुए चार आश्रमरूपी जीनेसे चढकर सन्यास आश्रमकी अंतिम सीढी पर जल्दी पहुँच जाओ। इसीलिये कलियुगके सन्यासमार्गके पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्यने अपने गीता-भाष्यमें गीताके कर्मप्रधान वचनोकी उपेक्षा की है, अथवा उन्हे केवल प्रशंसात्मक (अर्थवाद-प्रधान) कल्पित किया है, और अंतमें गीताका यह फलितार्थ निकाला है, कि कर्म-सन्यास-धर्म ही गीताभरमें प्रतिपाद्य है। और यही कारण है, कि दूसरे कितनेही टीकाकारोंने अपने अपने संप्रदायके अनुसार गीताके इस रहस्यका वर्णन किया है, कि भगवानने रणभूमिपर अर्जुनको निवृत्ति-प्रधान अर्थात् निरी भक्ति, या पातंजलयोग अथवा मोक्ष-मार्गकाही उपदेश किया है। इसमें कोई संदेह नही, कि सन्यास-मार्गका अध्यात्मज्ञान निर्दोष है। और इसके द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्य-बुद्धि अथवा निष्काम अवस्थाभी गीताको

* "हे जाजले! (कहना चाहियेकी) उसीने धर्मको जाना, कि जो कर्मसे, मनसे और वाणीसे सबका हित करनेमें लगा हुआ है, और जो सभीका नित्य स्नेही है।"

मान्य है। तथापि गीताको सन्यासमार्गका यह कर्मसबधी मत ग्राह्य नही है, कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये अतमें कर्मोका सर्वथा छोडही वैठना चाहिये। पिछले प्रकरणमें हमने विस्तारसहित गीताका यह विशेष सिद्धान्त दिखलाया है, कि ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होनेवाले वैराग्य अथवा समतासेही ज्ञानी पुरुषको ज्ञान-प्राप्ति हो चुकने परभी सारे व्यवहार करते रहना चाहिये। जगतसे ज्ञानयुक्त कर्मको निकाल डालनेसे तो दुनिया अधी हुई जाती है, और इससे उसका नाश हो जाता है, जब कि भगवानकीही इच्छा है, कि इस रीतिसे उसका नाश न हो, वह भली भाँति चलती रहे, तब ज्ञानी पुरुष-कोभी जगतके सभी कर्म निष्काम बुद्धिसे करते हुए सामान्य लोगोको अच्छे वर्तावका प्रत्यक्ष नमूना दिखला देना चाहिये। इसी मार्गको अधिक श्रेयस्कर और ग्राह्य कहे, तो यह देखनेकी जरूरत पडती है, कि इस प्रकारका ज्ञानी पुरुष जगतके व्यवहार किस प्रकार करता है ? क्योकि ऐसे ज्ञानी पुरुषका वर्तावही लोगोंके लिये आदर्श है। उसके कर्म करनेकी रीतिको परख लेनेसे धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य अथवा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय कर देनेवाला साधन या युक्ति – जिसे हम खोज रहे थे – आप-ही-आप हमारे हाथ लग जाती है। सन्यास-मार्गकी अपेक्षा कर्म-योगमार्गकी यही तो विशेषता है। इद्रियोका निग्रह करनेसे जिस पुरुषकी व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर हो कर " सब भूतोमें एक आत्मा " इस साम्यको परख लेनेमें समर्थ हो जाय, उसकी वासनाभी शुद्धही होनी चाहिये। इस प्रकार वासनात्मक बुद्धिके शुद्ध, सम, निर्मम और पवित्र हो जानेसे फिर वह कोईभी पाप या मोक्षके लिये प्रतिवधक कर्म कर ही नही सकता, क्योकि पहले वासना है, फिर तदनुकूल कर्म, जब कि क्रम ऐसा है, तब शुद्ध वासनासे होनेवाला कर्म शुद्धही होना चाहिये, और जो शुद्ध है, वही मोक्षके लिये अनुकूल है। अर्थात् हमारे आगे जो 'कर्म-अकर्म-विचिकित्सा' या 'कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति'का विकट प्रश्न था, कि पारलौकिक कल्याणके मार्गमें आडे न आकर इस ससारमें मनुष्यमात्रको कैसा बर्ताव करना चाहिये, उसका अपनी करनीसे प्रत्यक्ष उत्तर देनेवाला गुरु अब हमें मिल गया (तै १ ११ ४, गीता ३ २१)। अर्जुनके आगे ऐसा गुरु श्रीकृष्णके रूपमें प्रत्यक्ष खडा था और जब अर्जुनको यह शका हुई कि " क्या, ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि कर्मोको बधनकारक समझकर छोड दे ? " तब उसको इस गुरुने दूर बहा दिया और अध्यात्मशास्त्रके सहारे अर्जुनको भली भाँति समझा दिया, कि किस युक्तिसे जगतके व्यवहार करते रहनेपर पाप नही लगता, और उसे युद्धके लिये प्रवृत्त किया। किंतु ऐसा चोखा ज्ञान देनेवाले गुरु प्रत्येक मनुष्यको जब चाहे तब नही मिल सकते और तीसरे प्रकरणके अतमें, " महाजनो येन गत स पन्था " इस वचनका विचार करते हुए हम बतला चुके हैं, कि ऐसे महापुरुषोंके निरे ऊपरी वर्तावपर सर्वथा अवलबित रहभी नही सकते। अतएव जगतको अपने आचरणसे शिक्षा देनेवाले इन ज्ञानी पुरुषोंके वर्तावकी बडी बारीकीसे जाँचकर विचार करना चाहिये, कि इनके वर्तावका यथार्थ रहस्य या

मूल तत्त्व क्या है ? इसेही कर्मयोगशास्त्र कहते हैं, और ऊपर जो ज्ञानी पुरुष बतलाये गये हैं, उनकी स्थिति और कृतिही इस शास्त्रका आधार है। इस जगतके सभी पुरुष यदि इस प्रकारके आत्मज्ञानी और कर्मयोगी हों, तो कर्मयोगशास्त्रकी जरूरतही न पडेगी। नारायणीय धर्ममें एक स्थानपर कहा है –

> एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप।
> यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात्कुरुनन्दन ॥
> अहिंसकैरात्मविद्भि सर्वभूतहिते रतै।
> भवेत् कृतयुगप्राप्ति आशी कर्मविवर्जिता ॥

"एकांतिक अर्थात् प्रवृत्ति-प्रधान भागवत धर्मका पूर्णतया आचरण करनेवाले अनेक पुरुषोका मिलना कठिन है। आत्मज्ञानी, अहिंसक और प्राणिमात्रकी भलाईके लिये कर्म करनेवाले एकान्तधर्मके ज्ञानी पुरुषोंमे यदि यह जगतभर जावे, तो आशी कर्म – अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थ-बुद्धिसे किये हुए सारे कर्म – इस जगतसे दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावेगा" (शा ३४८ ६२, ६३)। क्योकि ऐसी स्थितिमें सभी पुरुषोके ज्ञानवान् रहनेसे कोई किसीका नुकसान तो करेगाही नही, प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सबके कल्याणपर ध्यान देकर तदनुसारही शुद्ध अत करण और निष्काम बुद्धिसे अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारोका मत है, कि बहुत पुराने समयमे एक बार समाजकी ऐसीही स्थिति थी, और वह फिर कभी-न-कभी प्राप्त होगीही (मभा शा ५९ १४)। परतु पश्चिमी पडित अर्वाचीन इतिहासके आधारसे कहते है, कि पहले कभी ऐसी स्थिति नही थी, किंतु भविष्यमे मानव जातिके सुधारोंके सहारे कभी-न-कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होनेकी सभावना है। जो हो, यहाँ इतिहासका विचार इस समय कर्तव्य नही है। हाँ, यह कहनेमे कोई हानि नही, कि समाजकी इस अत्युत्कृष्ट स्थिति अथवा पूर्णावस्थामे प्रत्येक मनुष्य परम ज्ञानी होगा, और वह जो व्यवहार करेगा, उसीको शुद्ध, पुण्यकारक, धर्म्य अथवा कर्तव्यकी पराकाष्ठा मानना चाहिये, इस मतको दोनोही मानते है। प्रसिद्ध अग्रेज सृष्टिशास्त्र-ज्ञाता स्पेन्सरने इसी मतका अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रथके अतमें प्रतिपादन किया है, और कहा है, कि प्राचीन कालमें ग्रीस देशके तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने यही सिद्धान्त किया था।* उदाहरणार्थ, यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लेटो अपने ग्रथमे लिखता है, कि तत्त्वज्ञानी पुरुषको जो कर्म प्रशस्त जँचे, वही शुभकारक और न्याय्य है, साधारण मनुष्योको ये धर्म विदित नही होते, इसलिये उन्हे तत्त्वज्ञ पुरुषकेही निर्णयको प्रमाण मान लेना चाहिये। आरिस्टॉटल नामक दूसरा ग्रीक तत्त्वज्ञ अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रथमे (३ ४) कहता है, कि ज्ञानी पुरुषका निर्णय सदैव अचूक रहता है, कि वह सच्चे तत्त्वको जाने रहता है, और ज्ञानी

---

* Spencer's *Data of Ethics*, Chap XV, pp 275-278 स्पेन्सरने इसको Absolute Ethics नाम दिया है।

पुरुषका यह निर्णय या व्यवहारही औरोको प्रमाणभूत है। एपिक्यूरस नामके एक और ग्रीक तत्त्वशास्त्रवेत्ताने इस प्रकारके प्रामाणिक परम ज्ञानी पुरुषके वर्णनमे कहा है, कि वह "शात, सम-बुद्धिवाला और परमेश्वरके समान सदा आनदमय रहता है, तथा उसको लोगोंसे अथवा उससे लोगोको जरासाभी कष्ट नही होता"।* पाठकोंके ध्यानमें आही जावेगा, कि भगवद्गीतामे वर्णित स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत अथवा परम भक्त या ब्रह्मभूत पुरुषके वर्णनमे इस वर्णनकी कितनी समता है। "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य" (गीता १२ १५) – जिससे लोक उद्विग्न नही होते अथवा जो लोगोंसे उद्विग्न नही होता, ऐसेही जो नित्य सतुष्ट है, जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दु ख आदि द्वद्वोसे मुक्त है, सदा अपने आपमेही सतुष्ट है ("आत्मन्येवात्मना तुष्ट" गीता २ ५५) त्रिगुणोसे जिसका अत करण चचल नहीं होता ("गुणैर्यो न विचाल्यते" गीता १४ २३), स्तुति या निंदा और मान या अपमान जिसे एक-से है, तथा प्राणिमात्रके अतगत आत्माकी एकताको परखकर (गीता १८ ५४), साम्य-बुद्धिसे आसक्ति छोडकर, धैर्य और उत्साहसे अपना कर्तव्य-कर्म करनेवाला अथवा सम-लोष्ट-अश्म-काचन (गीता १४ २४) – इत्यादि प्रकारसे भगवद्गीतामेभी स्थितप्रज्ञके लक्षण तीन-चार बार विस्तारपूर्वक बतलाये गये है और इसी अवस्थाको सिद्धावस्था या ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। योगवासिष्ट आदिके प्रणेता इसी स्थितिको जीवनमुक्तावस्था कहते है। इस स्थितिका प्राप्त हो जाना अत्यत दुर्घट है, अतएव जर्मन तत्त्ववेत्ता काटका कथन है, कि ग्रीक पडितोने इस स्थितिका जो वर्णन किया है, वह किसीएक वास्तविक पुरुषका वर्णन नही है, बल्कि शुद्ध नीतिके तत्त्वोको लोगोके मनमें भर देनेके लिये समस्त नीतिको मूलभत शुद्ध वासनाकोही मनुष्य-देह देकर उन्होंने परले सिरेके ज्ञानी और नीतिमान पुरुषका चित्र अपनी कल्पनासे तैयार किया है। लेकिन हमारे शास्त्रकारोका सिद्धान्त है, कि यह स्थिति काल्पनिक नही, बिलकुल सच्ची है और मनका निग्रह तथा प्रयत्न करनेसे इसी लोकमे प्राप्त हो जाती है और इस बातका प्रत्यक्ष अनुभवभी हमारे देशवालोको प्राप्त है। तथापि यह बात साधारण नही है। गीतामें (गीता ७ ३) स्पष्टही कहा है, कि हजारो मनुष्योमें कोई एक-आध मनुष्य इसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, और प्रयत्न करनेवालो इन हजारोमेंसे किसी विरलेकोही अनेक जन्मोके अनतर यह परमावधिकी स्थिति अतमें प्राप्त होती है।

---

* Epicurus held the virtuous state to be 'a tranquil, undisturbed, innocuous, non-competitive fruition, which approached most nearly to the perfect happiness of the Gods, who "neither suffered vexation in themselves, nor caused vaxation to others" Spencer's *Data of Ethics*, p. 278, Bain's *Mental and Moral Science*, Ed 1875, p 530 इसीको Ideal Wise Man कहा है।

स्थितप्रज्ञ अवस्था या जीवनमुक्त अवस्था कितनीही दुष्प्राप्य क्यों न हो, पर जिस पुरुषको यह परमावधिकी सिद्धि एक वार प्राप्त हो गयी, उसे कार्य-अकार्यके अथवा नीतिशास्त्रके नियम वतलानेकी कभी आवश्यकता नही रहती – ऊपर इसके जो लक्षण वतला दिये हैं, उन्हींसे आगे यह वात वस्तुत निष्पन्न हो जाती है। क्योंकि परमावधिकी शुद्ध, सम और पवित्र वुद्धिही नीतिका सर्वस्व है, इस कारण ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके लिये नीति-नियमोका उपयोग करना मानो स्वयप्रकाश सूर्यके समीप अधकार होनेकी कल्पना करके उसे मशाल दिखलानेके समान असमजसमें पडना है। किसी एक-आध पुरुषके इस पूर्णावस्थामे पहुँचने या न पहुँचनेके सवधमें शका हो सकेगी। परतु जव एकवार निश्चय हो जाय, कि किसीभी रीतिसे क्यो न हो, कोई पुरुष इस पूर्णावस्थामे पहुँच गया है, तव उसके पापपुण्यके सवधमें, अध्यात्मशास्त्रके उल्लिखित सिद्धान्तको छोड और कोई कल्पनाही नही की जा सकती। किंतु क पश्चिमी राजधर्म-शास्त्रियोके मतानुसार, जिस प्रकार एक स्वतत्र पुरुषमें या पुरुषसमूहमे राजसत्ता अधिष्ठित रहती है और राजनियमोसे प्रजाके वँधे रहनेपरभी, राजा उन नियमोसे मुक्त रहता है, ठीक उसी प्रकार नीतिके राज्यमें स्थितप्रज्ञ पुरुषोका अधिकार रहता है। उनके मनमें कोईभी काम्य वुद्धि नही रहती, अत केवल शास्त्रसे प्राप्त कर्तव्योको छोड और किसीभी हेतुसे कर्म करनेके लिये वे प्रवृत्त नही हुआ करते, अतएव अत्यत निर्मल और शुद्ध वासनावाले इन पुरुषोंके व्यवहारको पाप या पुण्य, नीति या अनीति शब्द कदापि लागू नही होते। वे तो पाप और पुण्यसे परे, वहुत दूर, पहुँच जाते हैं। श्रीशकराचार्यने कहा है –

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधि को निषेध ।

"जो पुरुष त्रिगुणातीत हो गये, उनको विधिनिषेधरूपी नियम वाँध नही सकते।" और बौद्ध ग्रथकारोनेभी लिखा है, कि "जिस प्रकार उत्तम हीरेको घिसना नही पडता, उसी प्रकार जो निर्वाणपदका अधिकारी हो गया, उसके कर्मको विधिनियमोका अडगा लगाना नही पडता" (मिलिंदप्रश्न ४ ५ ७)। कौषीतकी उपनिषद (कौषी ३ १)में इद्रने प्रतर्दनसे जो यह कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुषोको "मातृहत्या, पितृहत्या अथवा भ्रूणहत्या आदि पापभी नही लगते।" अथवा गीता (गी १८ १७)में जो यह वर्णन है, कि अहकार-वुद्धिसे सर्वथा विमुक्त पुरुष यदि लोगोको मारभी डाले, तोभी वह पाप-पुण्यसे सर्वदा अलिप्तही रहता है, उसका तात्पर्यभी यही है (पचदशी १४ १६, १७)। 'धम्मपद' नामक वौद्ध ग्रथमें इसी तत्त्वका अनुवाद किया गया है (धम्मपद, श्लोक २९४, २९५)।* नई वाइवलमें ईसाके शिष्य

* कौषीतकी उपनिषद्का वाक्य यह है–"यो मा विजानीयान्नास्य केनचित् कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।" और धम्मपदका श्लोक इस प्रकार है –

पौलने जो यह कहा है, कि " मुझे सभी बाते (एकही-सी) धर्म्य है (१ कारिं ६ १२, रोम ८ २), उसका आशय जानके या इस वाक्यका – कि " जो भगवानके पुत्र (पूर्ण भक्त) हो गये, उनके हाथसे कभी पाप हो नही सकता " (जा १ ३ ९)– आशयभी हमारे मतमे ऐसाही है। जो शुद्ध बुद्धिको प्रधानता न देकर केवल ऊपरी कर्मोंमेही नीतिका निर्णय करना सीखे हुए है, उन्हे यह सिद्धान्त अद्भुत-सा मालूम होता है, और " विधिनियमोसे परेका ", " मनमाना भलाबुरा करनेवाला ", ऐसा अपनेही मनका कुतर्कपूर्ण अर्थ करके कुछ लोग उल्लिखित सिद्धान्तका इस प्रकार विपर्यास करते है, कि " स्थितप्रज्ञको सभी बुरे कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है।" पर अधे-को खभा न दीख पडे, तो जिस प्रकार खभा दोपी नही है, उसी प्रकार पक्षाभिमानके अधे इन आक्षेप-कर्ताओको उल्लिखित सिद्धान्तका ठीक ठीक अर्थ अवगत न हो, तो उसका दोषभी इस सिद्धान्तके मत्थे नही थोपा जा सकता। इमे गीताभी मानती है, कि किसीकी शुद्ध बुद्धिकी परीक्षा पहले पहल उसके बाहरी आचरणसेही करनी पडती है और जो इस कसौटीपर चौकस सिद्ध होनेमें अभी कुछ कम है, उन अपूर्णावस्थाके लोगोको उक्त सिद्धान्त लागू करनेकी इच्छा अध्यात्मवादीभी नही करते। पर जब किसीकी बुद्धिके पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ और नि सीम निष्काम होनेमें तिलभरभी सदेह न रहे, तब उस पूर्णावस्थामें पहुँचे हुए सत्पुरुषकी बात निराली हो जाती है। उसका एक-आध काम यदि लौकिक दृष्टिसे विपरीत दीख पडे तोभी तत्त्वत यही कहना पडता है, कि वह काम दीखनेमें कैसाभी क्यो न हो, उसका बीज निर्दोषही होना चाहिये। अथवा वह शास्त्रकी दृष्टिसे किसी योग्य कारणसे ही हुआ होगा, साधारण मनुष्योंके कामोंके समान उसका लोभमूलक या अनीतिका होना सभव नही है, क्योकि उस सत्पुरुषकी बुद्धिकी पूरी शुद्धता और समता पहलेसेही निश्चित रहती है। बाइबलमे लिखा है, कि

मातर पितर हत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रठ्ठ सानुचर हत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।।
मातर पितर हत्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चम हत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।।

प्रकट है, कि धम्मपदमे यह कल्पना कौषीतकी उपनिषदसे ली गई है। किंतु बौद्ध ग्रथकार प्रत्यक्ष मातृवध या पितृवध अर्थ न करके 'माता'का तृष्णा और 'पिता'का अभिमान अर्थ करते है। लेकिन हमारे मतमे इस श्लोकका नीतितत्त्व बौद्ध ग्रथ कारोको भली भाँति ज्ञात नही हो पाया, इसीसे उन्होंने यह औपचारिक अर्थ लगाया है। कौषीतकी उपनिषदमें 'मातृवधेन पितृवधेन' इत्यादि मत्रके पहले इन्द्रने कहा है, कि "यद्यपि मैने वृत्त अर्थात् ब्राह्मणका वध किया है, तोभी मुझे उसमे पाप नही लगता।" इससे स्पष्ट होता है, कि यहांपर प्रत्यक्ष वधही विवक्षित है। धम्मपदके अंग्रेजी अनुवादमें (S B E Vol X pp 70, 71) मेक्समूलर साहबने श्लोकोकी जो टीका की है, हमारे मतमें वहभी ठीक नही है।

अब्राहम अपने पुत्रका बलिदान देना चाहता था, तोभी उसे पुत्रहत्या कर डालनेके प्रयत्नका पाप नहीं लगा, या बुद्धके शापसे उसका ससुर मर गया, तोभी उसे मनुष्य-हत्याका पातक छूता नहीं गया, अथवा माताको मार डालनेपरभी परशुरामके हाथसे मातृहत्या नहीं हुई, उसका कारणभी यही (तत्त्व) है (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है)। गीतामें अर्जुनको जो यह उपदेश किया है, कि "तेरी बुद्धि यदि पवित्र और निर्मल हो, तो फलाशा छोडकर केवल क्षात्रधर्मके अनुसार युद्धमें भीष्म और द्रोणको मार डालनेसेभी न तो तुझे पितामहके वधका पातक लगेगा और न गुरुहत्याका दोषही। क्योंकि ऐसे समय ईश्वरी संकेतकी सिद्धिके लिये तू तो केवल निमित्त हो गया है" (गीता ११. ३३) उसमेंभी यही तत्त्व भरा है। व्यवहारमेंभी हम यही देखते हैं, कि यदि किसी लखपतिने किसी भीखमंगेसे दो पैसे छीन लिये हों, तो उस लखपतिको तो कोई चोर कहता नहीं, उलटे यही समझ लिया जाता है, कि भिखारीनेही कुछ अपराध किया होगा, कि जिसका लखपतिने उसको दंड दिया हो। यही न्याय इससेभी अधिक समर्पक रीतिसे या पूर्णतासे स्थितप्रज्ञ, अर्हत और भगवद्भक्तके बर्तावको उपयोगी होता है। क्योंकि लखपतिकी बुद्धि एक बार भलेही डिग जाय, परन्तु यह जानीबूझी बात है, कि स्थितप्रज्ञकी बुद्धिको ये विकार कभी स्पर्श तक नहीं कर सकते। सृष्टिकर्ता परमेश्वर सब कर्म करनेपरभी जिस प्रकार पापपुण्यसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इन ब्रह्मभूत साधु-पुरुषोंकी स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप रहती है। और तो क्या, समय समय पर ऐसे पुरुष स्वेच्छा अर्थात् अपनी मर्जीसे जो व्यवहार करते हैं, उन्हींसे आगे चलकर विधि-नियमोंके निर्बंध बन जाते हैं, और इसीसे कहते हैं, कि ये सत्पुरुष इन विधि नियमोंके जनक (उपजानेवाले) हैं—वे इनके दास कभी नहीं हो सकते। न केवल वैदिक धर्ममें, प्रत्युत बौद्ध और ईसाई धर्ममेंभी यही सिद्धान्त पाया जाता है, तथा प्राचीन ग्रीक तत्त्वज्ञानियोंकोभी यह तत्त्व मान्य हो गया था, और अर्वाचीन कालमें काटने* अपने नीतिशास्त्रके ग्रंथमें उपपत्तिसहित यही सिद्ध कर दिखलाया है। इस प्रकार नीतिनियमोंके कभीभी गँदले न होनेवाले मूल झरने या निर्दोष पाठका (आदर्श) निश्चय हो चुकनेपर आपही सिद्ध हो जाता है, कि नीतिशास्त्र या कर्मयोगशास्त्रके मूल तत्त्व देखनेकी जिसे अभिलाषा

---

* "A perfectly good will would therefore be equally subject to objective laws (viz. laws of good), but could not be conceived as *obliged* thereby to act lawfully, because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of good. Therefore *no imperatives* hold for the Divine will, or in general for *a holy* will; *ought* is here out of place, because the volition is already of itself necessarily in unison with the law." *Kant's Metaphysic of Morals* p. 31 (Abbott's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, 6th Ed.) नित्शे किसीभी आध्यात्मिक उपपत्तिको स्वीकार नहीं करता,

हो, उसे इन उदार और निष्कलक सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंकाही सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे भगवद्गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे ये प्रश्न पूछे है, कि "स्थितधि किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्" (गीता २ ५४) – स्थितप्रज्ञ पुरुषका बोलना, बैठना और चलना कैसे होता है? अथवा चौदहवे अध्यायमें, "कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो, किमाचार" (गीता १४ २१) – पुरुष त्रिगुणातीत कैसे होता है? उसका आचार क्या है? और उसको किस प्रकार पहचानना चाहिये? किसी सराफके पास सोनेका जेवर जँचवानेके लिये ले जानेपर अपनी दूकानमें रखी कसौटीपर उसको परख कर, फिर वह जिस प्रकार उसका खरा-खोटापन बतलाता है, उसी प्रकार कार्य-अकार्य या धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये स्थितप्रज्ञका बर्ताव एक कसौटी है। अत गीताके उक्त प्रश्नोमें यही अर्थ गर्भित है, कि मुझे उस कसौटीका ज्ञान करा दीजिये। अर्जुनके उपरोक्त प्रश्नोका उत्तर देते हुए भगवानने स्थितप्रज्ञ अथवा त्रिगुणातीतकी स्थितिके जो वर्णन किये है, उन्हे कुछ लोग सन्यास-मार्गवाले ज्ञानी पुरुषोंके बतलाते है, उन्हे वे कर्मयोगियोंके नही मानते। क्योकि सन्यासियोको उद्देश्यकरही 'निराश्रय' (गीता ४ २०) विशेषणका गीतामें प्रयोग हुआ है, और बारहवे अध्यायमे स्थितप्रज्ञ भगवद्भक्तोका वर्णन करते समय 'सर्वारंभपरित्यागी' (गीता १२ १६) एव 'अनिकेत' (गीता १२ १९), इन स्पष्ट पदोका प्रयोग किया गया है। परतु निराश्रय अथवा अनिकेत पदोका अर्थ "घरबार छोडकर जगलोंमें भटकनेवाला" विवक्षित नही है, किंतु इसका अर्थ "अनाश्रित कर्मफल"के (गीता ६ १) समानार्थकही करना चाहिये – अर्थात् "कर्मफलका आश्रय न करनेवाला" अथवा "जिसके मनमे फलके लिये ठौर नही" इस ढँगका हो जायगा। गीताके अनुवादमें इन श्लोकोंके नीचे जो टिप्पणियाँ दी है, उनसे यह बात स्पष्ट दीख पडेगी। इसके अतिरिक्त स्थितप्रज्ञके वर्णनमेही कहा है, कि "इंद्रियोंको अपने वशमें रख कर व्यवहार करनेवाला" अर्थात् वह निष्काम कर्म करनेवाला होता है (गीता २ ६४)। और जिस श्लोकमें उक्त 'निराश्रय' पद आया है, वहाँ यह वर्णन है, कि "कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स" अर्थात् समस्त कर्म करकेभी वह अलिप्त रहता है। बारहवे अध्यायके अनिकेत आदि पदोंके लिये इसी न्यायका उपयोग करना चाहिये। क्योकि इस अध्यायमें पहले कर्मफलके त्यागकी (कर्मत्यागकी नही) प्रशसा कर चुकनेपर (गीता १२ १२) फलाशा त्यागकर कर्म करनेसे मिलनेवाली शातिका दिग्दर्शन करनेके लिये आगे भगवद्भक्तके लक्षण बतलाये ह, और ऐसेही अठारहवे अध्यायमेंभी यह दिखलानेके

तथापि उसने अपने ग्रथमें उत्तम पुरुषका (Superman) जो वर्णन किया है, उसमें कहा है, कि उल्लिखित पुरुष भले और बुरेसे परे रहता है। उसके एक ग्रथका नामभी *Beyond Good and Evil* है।

लिये – कि आसक्तिविरहित कर्म करनेसे शांति कैसे मिलती है – ब्रह्मभूत पुरुषका पुन वर्णन आया है (गीता १८ ५०)। अतएव यह मानना पडता है, कि ये सब वर्णन सन्यासमार्गवालोंके नही हैं, किंतु कर्मयोगी पुरुषोकेही हैं। कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और सन्यासी स्थितप्रज्ञ, दोनोका ब्रह्मज्ञान, शाति, आत्मौपम्य और निष्काम बुद्धि अथवा नीतितत्त्व पृथक् पृथक् नही हैं। दोनो, पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हैं, इस कारण दोनोकी मानसिक स्थिति और शाति एक-सी होती हैं। परतु इन दोनोमें कर्म-दृष्टिसे महत्त्वका भेद यह है, कि पहला निरी शातिमें डूबा रहता है, और किसीकीभी चिता नही करता, तथा दूसरा अपनी शाति एव आत्मौपम्य बुद्धिका व्यवहारमें यथासभव नित्य उपयोग किया करता है। अत यह न्यायसे सिद्ध है, कि व्यावहारिक धर्म-अधर्म-विवेचनके काममें, जिसके प्रत्यक्ष व्यवहारको प्रमाण मानना है, वह स्थितप्रज्ञ कर्म करनेवालाही होना चाहिये, यहाँ कर्मत्यागी साधु अथवा भिक्षुका विवक्षित होना सभव नही है। गीतामें अर्जुनको किये गये समग्र उपदेशका सार यह है, कि कर्मोंके छोड देनेकी न तो जरूरत है और न वे छूटभी सकते हैं ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान प्राप्त कर कर्मयोगीके समान व्यवसायात्मका बुद्धिको साम्यावस्थामें रखना चाहिये, जिससे उसके साथ-ही-साथ वासनात्मक बुद्धिभी सर्वदा शुद्ध, निर्मम और पवित्र रहेगी, एव कर्मका बधन न होगा। यही कारण, है, कि इस प्रकरणके आरभके श्लोकमें यह धर्मतत्त्व बतलाया गया है, कि "केवल वाणी और मनसेही नही, किंतु प्रत्यक्ष कर्मसे जो सबका स्नेही और हितकर्ता हो गया, उसेही धर्मज्ञ कहना चाहिये।" जाजलिको यह धर्मतत्त्व बतलाते समय तुलाधारने वाणी और मनके साथही – बल्कि उससेभी पहले – उसमें कर्मकाभी प्रधानतामे निर्देश किया है।

कर्मयोगी स्थितप्रज्ञकी अथवा जीवन्मुक्तकी बुद्धिके अनुसार सब प्राणियोंमें जिसकी साम्यबुद्धि हो गई, और जिसके स्वार्थका परार्थमें सर्वथा लय हो गया, उसको आगे विस्तृत नीतिशास्त्र सुनानेकी जरूरत नही। वह तो आप ही स्वयप्रकाश अथवा 'बुद्ध' हो गया। अर्जुनका अधिकार इसी प्रकारका था। अत उसे इससे अधिक उपदेश करनेकी जरूरतही न थी, कि "तू अपनी बुद्धिको सम और स्थिर कर," तथा "कर्मको त्याग देनेके व्यर्थ भ्रममें न पडकर स्थितप्रज्ञकी-सी बुद्धि रख और स्वधर्मके अनुसार प्राप्त सभी सासरिक कर्म किया कर।" तथापि यह साम्य बुद्धि-रूप योग सभीको एकही जन्ममें प्राप्त नही हो सकता; इसीसे साधारण लोगोंके लिये स्थितप्रज्ञके वर्तावका और थोडा-सा विवेचन करना चाहिये। परतु यह विवेचन करते समय भली भाँति स्मरण रहे, कि हम जिस स्थितप्रज्ञका विचार करेंगे, वह कृतयुगके पूर्णावस्थामें पहुँचे हुए समाजमें रहनेवाला नही है, बल्कि जिस समाजके बहुतेरे लोग स्वार्थमेंही डूबे रहते हैं, उसी कलियुगी समाजमें उसे वर्ताव करना है। क्योकि मनुष्यका ज्ञान कितनाही पूर्ण क्यो न हो गया हो और उसकी बुद्धि साम्या-

वस्थामें कितनीही क्यो न पहुँच गई हो, तोभी उसे ऐसे लोगोके साथ वर्ताव करना है, जो काम-क्रोध आदिके चक्करमे पडे हुए है, और जिनकी बुद्धि अशुद्ध है। अतएव इन लोगोंके साथ व्यवहार करते समय यदि वह अहिंसा, दया, शाति और क्षमा आदि नित्य एव परमावधिके सद्‌गुणोकोही सब प्रकारसे मर्वदा स्वीकार करे, तो उसका निर्वाह न होगा।* अर्थात् जहाँ सभी स्थितप्रज्ञ है, उस समाजकी उन्नत नीति या धर्म-अधर्मसे, उस समाजके धर्म-अधर्म कुछ कुछ भिन्न तो रहेंगेही – कि जिसमें लोभी पुरुषोकीही भरमार अधिक होगी – वरना साधु पुरुषोको यह जगत् छोड देना पडेगा, और सर्वत्र दुष्टोकाही बोलबाला हो जावेगा। इसका अर्थ यह नहीं है, कि साधु पुरुषको अपनी समता-बुद्धि छोड देनी चाहिये। फिरभी समता-समतामेभी भेद है। गीतामें कहा है, कि "ब्राह्मणे गवि हस्तिनि" (गीता ५ १८) – ब्राह्मण, गाय और हाथीमें पडितोकी सम-बुद्धि होती है, इसलिये यदि कोई गायके लिये लाया हुआ चारा ब्राह्मणको और ब्राह्मणके लिये बनाई गई रसोई गायको खिलाने लगे, तो क्या उसे पडित कहेंगे? सन्यास-मार्गवाले इस प्रश्नका महत्त्व भले न माने, पर कर्मयोगशास्त्रकी वात ऐसी नही है। दूसरे प्रकरणके विवेचनसे पाठक यह जान गयेही होंगे, कि कृतयुगी समाजके पूर्णावस्थावाले धर्म-अधर्मके स्वरूपपर ध्यान रखकर स्वार्थपरायण लोगोंके समाजमे स्थितप्रज्ञ यह निश्चय करके वर्ताव है, कि देशकालके अनुसार उसमे कौन कौन फर्क कर देने चाहिये। और कर्मयोगशास्त्रका यही तो विकट प्रश्न है। साधु पुरुष स्वार्थपरायण लोगोपर नाराज नहीं होते अथवा उनकी लोभ-बुद्धि देखकर वे अपने मनकी समता डिगने नही देते, उलटे इन्ही लोगोके कल्याणके लियेही अपने उद्योग केवल कर्तव्य समझ कर वैराग्यसे जारी रखते हैं। इसी तत्त्वको मनमें रखकर श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने दासबोधके पूर्वार्धमें पहले ब्रह्मज्ञान वतलाया है, और फिर ग्यारहमें दशकमें (दास ११ १०, १२ ८–१०, १५ २) इसका वर्णन आरभ किया है, कि स्थितप्रज्ञ या उत्तम

---

* "In the second place, ideal conduct such as ethical theory is concerned with, is not possible for the ideal man in the midst of men otherwise constituted An absolutely just or perfectly sympathetic person, could not live and act according to his nature in a tribe of cannibals Among people who are treacherous and utterly without scruple, entire truthfulness and openness must bring ruin" 'Spencer's *Data of Ethics*, Chap XV, p 280 स्पेन्सरने इसे Relative Ethics कहा है, और वह कहता है, कि On the evolution-hypothesis, the two (Abosolute and Relative Ethics) presuppose one another and only when they co-exist, can there exist that ideal conduct which Absolute Ethics has to formulate, and which Relative Ethics has to take as the standard by which to estimate divergencies from right, or degrees of wrong"

पुरुप साधारण लोगोको चतुर वनानेके लिये वैराग्यसे अर्थात् नि स्पृहतासे लोक-सग्रहके निमित्त उद्योग किस प्रकार किया करते है, और आगे अठारहवे दशकमें (दास १८ २) कहा है, कि सभीको ज्ञानी पुरुप अर्थात् जानकारके ये गुण – कथा, वातचीत, युक्ति, दाव-पेंच, प्रसग, साक्षेप, तर्क, चतुराई, राजनीति, सहन-शीलता, तीक्ष्णता, उदारता, अध्यात्मज्ञान, भक्ति, अलिप्तता, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, कठोरता, निग्रह, समता और विवेक आदि – सिखने चाहिये। परतु इस नि स्पृह साधुको लोभी मनुष्योमेंही वर्तना है, इसलिये अतमें (दास १९ ९ ३०) श्रीसमर्थका यह उपदेश है, कि " लठ्ठका सामना लठ्ठहीसे करा देना चाहिये। उजड्डके लिये उजड्डही चाहिये, और नटखटके सामने नटखटकीही आवश्यकता है।" तात्पर्य, यह निर्विवाद है, कि पूर्णावस्थासे व्यवहारमें उतरनेपर अत्युच्च श्रेणीके धर्म-अधर्ममें थोडा-वहुत अतर कर देना पडता है।

इसपर आधिभौतिकवादियोकी शका है, कि पूर्णावस्थाके समाजसे नीचे उतरनेपर अनेक वातोंके सार-असारका विचार करके परमावधिके नीति-धर्ममें यदि थोडा-वहुत फर्क करनाही पडता है, तो नीति-धर्मकी नित्यता कहाँ रह गई ? और भारतसावित्रीमें व्यासने जो यह ' धर्मो नित्य ' तत्त्व वतलाया है, उसकी क्या दशा होगी ? वे कहते है, कि अध्यात्म-दृष्टिसे सिद्ध होनेवाला धर्मका नित्यत्व केवल कल्पनाप्रसूत है और प्रत्येक समाजकी स्थितिके अनुसार उस समयमे " अधिकाश लोगोंके अधिक सुख "-वाले तत्त्वसे जो नीतिधर्म प्राप्त होगे, वेही चोखे नीति-नियम है। परतु यह युक्तिवाद ठीक नही है। भूमितिशास्त्रके नियमानुसार यदि कोई विना चौडाईके सरल रेखा अथवा सर्वांशमें निर्दोप गोलाकार न खीच सके, तो जिस प्रकार इतनेहीसे सरल रेखाकी अथवा शुद्ध गोलाकारकी शास्त्रीय व्याख्या गलत या निरर्थक नही हो जाती, उसी प्रकार सरल और शुद्ध नियमोकी वात है। जवतक किसी वातके परमावधिके शुद्ध स्वरूपका निश्चय पहले न कर लिया जावे, तवतक व्यवहारमें दीख पडनेवाली उस वातकी अनेक सूरतोमें सुधार करना अथवा सार-असारका विचार करके अतमें उसके तारतम्यको पहचान लेनाभी सभव नही है। और यही कारण है, कि जो सराफ पहलेही निर्णय करता है, कि पूर्ण शुद्ध सोना कौन-सा है ? दिशाप्रदर्शक ध्रुवमत्स्य यत्र अथवा ध्रुव नक्षत्रकी ओर दुर्लक्षकर अपार महोदधिकी लहरो और वायुकेही तारतम्यको देखकर यदि जहाजके खलासी वरावर अपने जहाजकी पतवार घुमाने लगें, तो उनकी जो स्थिति होगी, वही स्थिति नीति-नियमोंके परमावधिके स्वरूपपर ध्यान न देकर केवल देशकालके अनुसार वर्तनेवाले मनुष्योकी होनी चाहिये। अतएव यदि निरी आधिभौतिक-दृष्टिसेही विचार करें, तोभी यह पहले अवश्य निश्चित कर लेना पडता है, कि ध्रुव जैसा अटल और नित्य नीति-तत्त्व कौन-सा है ? और इस आवश्यकताको एक वार मान लेनेसेही सारा आधिभौतिक पक्ष लँगडा हो जाता है। क्योंकि सुखदु ख

आदि सभी विषयोपभोग नामरूपात्मक है। अतएव ये अनित्य और विनाशवान् मायाकोही सीमामें रह जाते है। इसलिये केवल इन्ही वाह्य प्रमाणोके आधारसे सिद्ध होनेवाला कोईभी नीति-नियम नित्य नही हो सकता। आधिभौतिक वाह्य सुखदु खकी कल्पना जैसे जैसे वदलती जावेगी, वैसेही वैसे उसकी वुनियादपर रचे हुए नीतिधर्मोकोभी वदलते रहना चाहिये। अत नित्य वदलती रहनेवाली नीति-धर्मकी इस स्थितिको टालनेके लिये माया-सृष्टिके विषयोपभोग छोडकर नीति-धर्मकी इमारत इस "सव भूतोमें एक आतमा"-वाले अध्यात्मज्ञानके मजवूत आधार-परही खडी करनी पडती है। क्योकि पीछे नवे प्रकरणमें कह चुके है, कि आत्माको छोड जगतमें दूसरी कोईभी वस्तु नित्य नही है। यही तात्पर्य व्यासजीके इस वचनका है, कि "धर्मो नित्य सुखदु ख त्वनित्ये" – नीति अथवा सदाचरणके धर्म नित्य है, और सुखदु ख अनित्य है। यह मच है, कि दुष्ट और लोभियोके समाजमे अहिमा एव सत्य प्रभृति नित्य नीति-धर्म पूर्णतासे पाले नही जा सकते, पर उसका दोप इन नित्य नीति-धर्मोको देना उचित नही है। मूर्यकी किरणोसे किसी पदार्थकी परछाई चौरस मैदानपर सपाट और ऊँचे-नीच स्थानपर ऊँची-नीची पडती देख जैसे यह अनुमान नही किया जा सकता, कि वह परछाई मूलमेंही ऊँची-नीची होगी, उसी प्रकार जव कि दुष्टोंके समाजमें नीति-धर्मका पराकाष्ठाका शुद्ध स्वरूप नही पाया जाता, तव यह नही कह सकते, कि अपूर्णावस्थाके समाजमें पाया जानेवाला नीति-धर्मका अपूर्ण स्वरूपही मुख्य अथवा मूलका है। यह दोष समाजका है, नीतिका नही। इसीसे चतुर पुरुष शुद्ध और नित्य नीति-धर्मोसे झगडा न मचा कर ऐसे प्रयत्न किया करते है, कि जिनसे समाज ऊँचा उठता हुआ पूर्णावस्थामें जा पहुँचे। लोभी मनुष्योके समाजमें इस प्रकार वर्तते समय नित्य नीति-धर्मोके कुछ अपवाद यद्यपि अपरिहार्य मानकर हमारे शास्त्रकारोंने वतलाये है, तथापि उसके लिये वे प्राय-श्चित्तभी वतलाते है। परतु पश्चिमी आधिभौतिक नीतिशास्त्र इन्ही अपवादोको मूछोपर ताव देकर प्रतिपादन करते है, एव इन प्रतिवादोका निश्चय करते समय, वे उपयोगमें आनेवाले वाह्य फलोंके तारतम्यके तत्त्वकोही भ्रमसे नीतिका मूल तत्त्व मानते हैं। अव पाठक समझ जायेगे, कि पिछले प्रकरणोमें हमने ऐसा भेद क्यो दिखलाया है?

यह वतला दिया, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुषकी वुद्धि और उसका वर्तावही नीतिशास्त्रका आधार है। एव यहभी वतला दिया, कि उससे निकलनेवाले नीति-नियमोको – उनके नित्य होनेपरभी – समाजकी अपूर्णावस्थामें थोडा-वहुत वदलना पडता है, तथा इस रीतिसे वदले जाने परभी नीतिनियमोकी नित्यतामें उस परि-वर्तनसे कोई वाधा क्यो और कैसे नही आती। अव उस पहले प्रश्नका विचार करते हैं, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष अपूर्णावस्थाके समाजमें जो वर्ताव करता है, उसका मूल अथवा वीज-तत्त्व क्या है? चौथे प्रकरणमें कह चुके है, कि यह विचार दो प्रकारसे

किया जा सकता है। एक तो कर्ताकी बुद्धिको प्रधान मानकर और दूसरा उसके बाहरी वर्तावसे। इनमेंसे यदि केवल दूसरीही दृष्टिसे विचार करें, तो विदित होगा कि, स्थितप्रज्ञ जो जो व्यवहार करते है, वे प्राय सब लोगोंके हितकेही होते हैं। गीतामें दो बार कहा गया है, कि परम ज्ञानी सत्पुरुष "सर्वभूतहिते रता" – प्राणिमात्रके कल्याणमे निमग्न रहते हैं (गीता ५. २५, १२.४), और महाभारतमेंभी यही अर्थ अन्य कई स्थानोमें आया है। हम ऊपर कह चुके हैं, कि स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुष अहिंसा आदि जिन नियमोका पालन करते है, वही धर्म अथवा सदाचारका नमुना है। इन अहिंसा आदि नियमोका प्रयोजन अथवा इस धर्मका लक्षण बतलाते हुए महाभारतमें धर्मका बाहरी उपयोग दिखलानेवाले ऐसे अनेक वचन है – "अहिंसा सत्यवचन सर्वभूतहित परम्" (वन २०६ ७३) – अहिंसा और सत्य भाषण, ये नीति-धर्म प्राणिमात्रके हितके लिये है। "धारणाद्धर्ममित्याहु" (शा १०९ १२) – जगतका धारण करनेसे धर्म है। "धर्म हि श्रेय इत्याहु" (अनु १०५ १४) – कल्याणही धर्म है। "प्रभवार्थाय भूताना धर्मप्रवचन कृतम्" (शा १०९ १०) – लोगोंके अभ्युदयके लियेही धर्म-अधर्मशास्त्र बना है, अथवा "लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियम कृत । उभयत्र सुखोदर्क" (शा २५८ ४) – धर्म-अधर्मके नियम इसलिये रचे गये है, कि उनसे लोकव्यवहार चले, और दोनो लोकोमें कल्याण हो। इसी प्रकार कहा है, कि धर्म-अधर्म-सशयके समय ज्ञानी पुरुषकोभी

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।

"लोकव्यवहार, नीतिधर्म और अपना कल्याण – इन बाहरी बातोंका तारतम्यसे विचार करके" (अनु ३७ १६, वन २०६ ९०) फिर जो कुछ करना हो, उसका निश्चय करना चाहिये, और वनपर्वमें राजा शिबीने धर्म-अधर्मके निर्णयार्थ इसी युक्तिका उपयोग किया है (वन १३१ ११, १२)। इन वचनोंसे प्रकट होता है, कि समाजका उत्कर्षही स्थितप्रज्ञके व्यवहारकी 'बाह्य नीति' होती है। और यदि यह ठीक है, तो आगे सहजही यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि आधिभौतिकवादियोके इस "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख अथवा (सुख शब्द को व्यापक करके) हित या कल्याण"वाले नीति-तत्त्वको अध्यात्मवादीभी क्यो नही स्वीकार कर लेते ? चौथे प्रकरणमे हमने दिखला दिया है, कि इस "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख" सूत्रमे बुद्धिके आत्मप्रसादसे होनेवाले सुखका अथवा उन्नतिका और पारलौकिक कल्याणका अतर्भाव नही होता, – इसमे यह बडा भारी दोष है। किंतु 'सुख' शब्दका अर्थ अधिक व्यापक करके यह दोष अनेक अशोमे निकाल टाला जा सकेगा, और नीति-धर्मकी नित्यताके सबधमें ऊपरही दी हुई आध्यात्मिक उपपत्तिभी कई लोगोंको विशेष महत्त्वकी जँचेगी। इसलिये नीतिशास्त्रके आध्यात्मिक और आधिभौतिक मार्गोंमें जो महत्त्वका भेद है, उसका यहाँ और थोडासा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

नीतिकी दृष्टिसे किसी कर्मकी योग्यता अथवा अयोग्यताका विचार दो प्रकारोसे किया जाता है – (१) उस कर्मका केवल बाह्य फल देख कर अर्थात् यह देख कर कि उसका दृश्य परिणाम जगत्पर क्या हुआ है या होगा ? (२) यह देख कर, कि उस कर्मको करनेवालेकी बुद्धि अर्थात् वासना कैसी है ? पहलेको आधिभौतिक मार्ग कहते है । दूसरेके फिर दो पक्ष होते है, और इन दोनोके पृथक् पृथक् नाम है । ये सिद्धान्त पिछले प्रकरणोमें बतलाये जा चुके है, कि शुद्ध कर्म होनेके लिये वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनी पडती है और वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनेके लिये व्यवसायात्मका अर्थात् कार्य-अकार्यका निर्णय करनेवाली बुद्धिभी स्थिर, सम और शुद्ध रहनी चाहिये । इन सिद्धान्तोके अनुसार किसीकेभी कर्मोकी शुद्धता जाँचनेके लिये देखना पडता है, कि उसकी वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है या नही ? और वासनात्मक बुद्धिकी शुद्धता जाँचने लगे, तो अतमें देखनाही पडता है, कि व्यवसायात्मका बुद्धि शुद्ध है या अशुद्ध ? साराश, कर्ताकी बुद्धि अर्थात् वासनाकी शुद्धताका निर्णय अतमें व्यवसायात्मका बुद्धिकी शुद्धतासे करना पडता है (गीता २ ४१) । इसी व्यवसायात्मक बुद्धिको सदसद्विवेचन-शक्तिके रूपमे स्वतत्र देवता मान लेनेमे वह आधिदैविक मार्ग हो जाता है । परतु यह बुद्धि स्वतत्र दैवत नही है, किंतु आत्माका एक अतरिंद्रिय है, अत बुद्धिको प्रधानता न देकर, आत्माको प्रधान मान करके वासनाकी शुद्धताका विचार करनेसे यह नीतिके निर्णयका आध्यात्मिक मार्ग हो जाता है । हमारे शास्त्रकारोका मत है, कि इन सब मार्गोमें आध्यात्मिक मार्ग श्रेष्ठ है, और प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता काटने यद्यपि ब्रह्मात्मैक्यका सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे नही दिया है, तथापि उसने अपने नीतिशास्त्रके विवेचनका आरभ शुद्ध-बुद्धिसे अर्थात् एक प्रकारसे अध्यात्म-दृष्टिसेही किया है, एव उसने इसकी पूर्ण उपपत्तिभी दी है, कि ऐसा क्यो करना चाहिये ।* ग्रीनका अभिप्रायभी ऐसाही है, परतु इस विषयका पूरा विवेचन इस छोटे-से ग्रथमे नही किया जा सकता । हम चौथे प्रकरणमें दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट दिखला चुके है, कि नीति-तत्त्वोका पूरा निर्णय करनेके लिये कर्मके बाहरी फलकी अपेक्षा कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिपर विशेष ध्यान क्यो देना पडता है, और इस सबधमें अधिक विचार आगे – पद्रहवे प्रकरणमें पाश्चात्य और पौरस्त्य नीति-मार्गोकी तुलना करते समय – किया जावेगा । अभी इतनाही कहते है, कि कोईभी कर्म तभी होता है, जब कि पहले उस कर्मको करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो, इसलिये कर्मकी योग्यता-अयोग्यताका विचारभी सभी अशोमें बुद्धिकी शुद्धता-अशुद्धताके विचारपरही अवलवित रहता है । बुद्धि बुरी होगी, तो कर्मभी बुरा होगा, परतु केवल बाह्य कर्मके बुरे होनेसेही यह अनुमान नही किया जा सकता,

---

* Kant's *Theory of Ethics*, trans. by Abbott 6th Ed especially *Metaphysics of Morals* therein

कि बुद्धिभी बुरी होनीही चाहिये। क्योकि मूलसे, कुछ-का-कुछ समझ लेनेसे अथवा अज्ञानसेभी वैसा कर्म हो सकता है, और फिर उसे नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे बुरा नही कह सकते। "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख"-वाला नीतिशास्त्र-तत्त्व केवल बाहरी परिणामोके लियेही उपयोगी होता है, और जब कि इन सुखदु खात्मक बाहरी परिणामोको निश्चित रीतिसे मापनेका बाहरी साधन अब तक नही मिला है, तब नीति-तत्त्वोकी इस कसौटीसे सदैव यथार्थ निर्णय होनेका भरोसाभी नही किया जा सकता। इसी प्रकार मनुष्य कितनाही सयाना क्यो न हो जाय, यदि उसकी बुद्धि पूर्ण शुद्ध न हो गई हो, तो यह नही कह सकते, कि वह प्रत्येक अवसरपर धर्मसेही बर्तेगा। विशेषत जहाँ उसका स्वार्थ आ डटा, वहाँ तो फिर कहनाही क्या है? – "स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जना" (मभा वि ५१ ४)। साराश, मनुष्य कितनाही बडा ज्ञानी, धर्मवेत्ता और सयाना क्यो न हो, किन्तु यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्रमें सम न हो गई हो, तो यह नही कह सकते, कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीतिकी दृष्टिसे निर्दोषही रहेगा। अतएव हमारे शास्त्रकारोंने निश्चित कर दिया है, कि नीतिका विचार करते समय कर्मके बाह्य फलकी अपेक्षा कर्ताकी बुद्धिकाही प्रधानतासे विचार करना चाहिये। साम्य-बुद्धिही अच्छे वर्तावका चोखा बीज है। यही भावार्थ भगवद्गीताके इस उपदेशमेंभी है (गीता २ ४९) –

दूरेन ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतव.॥

कुछ लोग, इस श्लोकमें, बुद्धिका अर्थ ज्ञान समझकर कहते है, कि इसमें कर्म और ज्ञान, इन दोनोमेंसे ज्ञानकोही श्रेष्ठता दी है। पर हमारे मतमें यह अर्थ ठीक नही है। इस स्थलपर शाकरभाष्यमेंभी 'बुद्धियोग'का अर्थ 'समत्व बुद्धियोग' दिया हुआ है, और यह श्लोक कर्मयोगके प्रकरणमें आया है। अतएव वास्तवमें इसका अर्थ कर्मप्रधानही करना चाहिये, और वही सरल रीतिसेही है। कर्म करनेवाले लोग दो प्रकारके होते हैं। पहले प्रकारके फलपर – उदाहरणार्थ, उससे कितने लोगोको कितना सुख होगा, इसपर – दृष्टि जमा कर कर्म करते हैं, और दूसरे बुद्धिको सम और निष्काम रखकर कर्म करते हैं – फिर कर्मधर्म-सयोगसे उससे जो परिणाम होना हो, सो हुआ करे। इनमेंसे 'फलहेतव' अर्थात् "फलपर दृष्टि रखकर कर्म करनेवाले" लोगोको नैतिक दृष्टिसे कृपण अर्थात् कनिष्ट श्रेणीके बतलाकर, समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेवालोको इस श्लोकमें श्रेष्ठता दी है। इस श्लोकके पहले दो चरणोमें जो यह कहा है, कि "दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनजय" – हे धनजय!

---

* इस श्लोकका सरल अर्थ यह है – "हे धनजय! (सम-) बुद्धिके योगकी अपेक्षा (कोरा) कर्म बिलकुलही निकृष्ट है। अतएव (सम-) बुद्धिकाही आश्रय कर। फलपर दृष्टि रखकर कर्म करनेवाले (पुरुष) कृपण अर्थात् ओछे दर्जेके है।"

समत्व बुद्धियोगकी अपेक्षा (कोरा) कर्म अत्यत निकृष्ट है – उसका तात्पर्य यही है, और जब अर्जुनने यह प्रश्न किया, कि "भीष्म-द्रोणको कैसे मारू ?", तब उसको यही उत्तर दिया गया। इसका भावार्थ यह है, कि मरने या मारनेकी निरी क्रियाकी ओर ध्यान न देकर, देखना चाहिये, कि "मनुष्य किस बुद्धिसे उस कर्मको करता है?" अतएव इस श्लोकके तीसरे चरणमें उपदेश है,कि "तू बुद्धि अर्थात् सम-बुद्धिकी शरण जा," और आगे उपसहारात्मक अठारहवे अध्यायमेंभी भगवानने फिर कहा है, कि "बुद्धियोगका आश्रय करके तू अपने कर्म कर।" गीताके दूसरे एक श्लोकसेभी व्यक्त होता है, कि गीता निरे कर्मके विचारको कनिष्ठ समझकर, उस कर्मकी प्रेरक बुद्धिकेही विचारको श्रेष्ठ मानती है। अठारहवे अध्यायमें कर्मके भले बुरे – अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस – भेद बतलाये गये है। यदि केवल कर्मफलकी ओरही गीताकी दृष्टि होती, तो भगवानने यह कहा होता, कि जो कर्म बहुतेरोको सुखदायक हो, वही सात्त्विक है। परतु ऐसा न बतलाकर, अठारहवे अध्यायमें कहा है, कि "फलाशा छोडकर निस्सग-बुद्धिसे किया हुआ कर्म सात्त्विक अथवा उत्तम है" (गीता १८ २३)। अर्थात् इससे प्रकट होता है, कि कर्मके बाह्य फलकी अपेक्षा कर्ताकी निष्काम, सम और निस्सग-बुद्धिकोही कर्म-अकर्मका विवेचन करनेमें गीता अधिक महत्त्व देती है। यही न्याय स्थितप्रज्ञके व्यवहारके लिये उपयुक्त करनेसे होता है, कि स्थितप्रज्ञ जिस साम्य-बुद्धिसे अपनी बराबरीवाले, छोटे और साधारण लोगोके साथ बर्तता है, वह साम्य-बुद्धिही उसके आचरणका मुख्य तत्त्व है, और इस आचरणसे जो प्राणिमात्रका मगल होता है, वह इस साम्य-बुद्धिका निरा बाहरी और आनुषगिक परिणाम है। ऐसेही जिसकी बुद्धि पूर्णावस्थामें पहुँच गई हो, वह लोगोको केवल आधिभौतिक सुख प्राप्त करा देनेके लियेही अपने सब व्यवहार न करेगा। यह ठीक है, कि वह दूसरोका नुकसान न करेगा, पर यह उसका मुख्य ध्येय नही है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है, जिनसे समाजके लोगोकी बुद्धि अधिकाधिक शुद्ध होती जावे, और अतमें वे लोग अपने समानही आध्यात्मिक पूर्णावस्थामे जा पहुँचे। मनुष्यके कर्तव्योमेंसे यही श्रेष्ठ और सात्त्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुख-वृद्धिके प्रयत्नोको हम गौण अथवा राजस समझते है।

गीताका सिद्धान्त है, कि कर्म-अकर्मके निर्णयार्थ कर्मके बाह्य फलपर ध्यान न देकर, कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिकोही प्रधानतता देनी चाहिये। इसपर कुछ लोगोका यह तर्कपूर्ण मिथ्या आक्षेप है, कि यदि कर्मफलको न देखकर केवल शुद्ध-बुद्धिकाही इस प्रकार विचार करे, तो मानना होगा, कि शुद्ध-बुद्धिवाला मनुष्य कोईभी बुरा काम कर सकता है! और तब तो वह सभी बुरे कर्म करनेके लिये स्वतत्र हो जायगा। इस आक्षेपको हमने केवल अपनीही कल्पनाके बलसे नही घर घसीटा है, किन्तु गीता-धर्मपर कुछ पादडी बहादुरोंके किये हुए इस ढगके आक्षेप हमारे देखनेमेंभी

आये है।* किंतु हमें यह कहनेमें कोईभी दिक्कत नही जान पडती, कि ये आरोप या आक्षेप विलकुल मूर्खताके अथवा दुराग्रहके है। और यह कहनेमेंभी कोई हानि नही है, कि आफ्रीकाका कोई काला-कलूटा जगली मनुष्य सुधरे हुए राष्ट्रके नीति-तत्त्वोका आकलन करनेमें जिस प्रकार अपात्र और असमर्थ होता है, उसी प्रकार इन भले पादडी मानवोकी वुद्धि वैदिक धर्मके स्थितप्रज्ञकी आध्यात्मिक पूर्णावस्थाका निरा आकलन करनेमेंभी, स्वधर्मके व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एव दुष्ट मनोविकारोसे, असमर्थ हो गई है। उन्नीसवी सदीके प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी काटने अपने नीतिशास्त्रविपयक ग्रथमें अनेक स्थलोपर लिखा है, कि कर्मके वाहरी फलको न देखकर नीतिके निर्णयार्थ कर्ताकी वुद्धिकाही विचार करना उचित है।§ किंतु हमने नही देखा, कि काटपर किसीने ऐसा आक्षेप किया हो। फिर वह गीताके नीति-तत्त्वकोही उपयुक्त कैसे होगा? प्राणिमात्रमें समवुद्धि होतेही परोपकार करना तो देहका स्वभावही वन जाता है, और ऐसा हो जानेपर परम ज्ञानी एव परम शुद्ध-वुद्धि-वाले मनुष्यके हाथसे कुकर्म होना उतनाही असभव है, जितना कि अमृतसे मृत्यु हो जाना। कर्मके वाह्य फलका विचार न करनेके लिये जब गीता कहती है, तब उसका यह अर्थ नही है, कि जो दिलमें आ जाय, सो किया करो। प्रत्युत गीता कहती है, कि वाहरी परोपकार करनेका स्वाँग पाखडसे या लोभसे वना सकता है किंतु प्राणिमात्रमें एक आत्माको पहचाननेसे वुद्धिमें जो स्थिरता और समता आ जाती है, उसका स्वाँग कोई नही वना सकता, तब किसीभी कामकी योग्यता-अयोग्यताका विचार करते समय कर्मके वाह्य परिणामकी अपेक्षा कर्ताकी वुद्धिपर योग्य दृष्टि रखनी चाहिये। गीताका सक्षेपमें यह सिद्धान्त कहा जा सकता है, कि कोरे जड कर्मोमेंही नीति-तत्त्व नही, किंतु कर्ताकी बुद्धिपर वह सर्वथा अवलवित रहता है। आगे गीतामेंही (गीता १८ २५) कहा है, कि इस आध्यात्मिक सिद्धान्तके ठीक तत्त्वको न समझकर यदि

---

* कलकत्तेके एक पादडीकी ऐसी करतूतका उत्तर मिस्टर ब्रुक्सने दिया है, जो कि उनके *Kurukshetra* (कुरुक्षेत्र) नामक छपे हुए निवधके अतमें है, उसे देखिये (*Kurukshetra* – Vyasasharma, Adyar, Madras, pp 48-52)

§ "The second proposition is That an action done from duty derives its moral worth *not from the purpose* which is to be attained by it, but from the maxim by which it is determined" The moral worth of an action "cannot lie anywhere but in the *principle of the will*, without regard to the ends which can be attained by action" Kant's *Metaphysics of Morals* (trans by Abbott in Kant's *Theory of Ethics*, p 16 (The italics are author's and not our own) And again "When the question is of moral worth, it is not with the action, which we see that we are concerned, but with those inward principles of them which we do not see" p 24 – *Ibid*

कोई मनमानी करने लगे, तो उस पुरुषको राक्षस या तामसी बुद्धिवाला कहना चाहिये। एक वार सम-बुद्धि हो जानेसे, फिर उस पुरुषको कर्तव्य-अकर्तव्यका और अधिक उपदेश नही करना पडता – इसी तत्त्वपर ध्यान देकर साधु तुकारामने शिवाजी महाराजको जो यह उपदेश किया, कि "इसका एकही कल्याणकारक अर्थ है, कि प्राणिमात्रमे एक आत्माको देखो", उसमेंभी भगवद्गीताके अनुसार कर्मयोगका एकही तत्त्व बतलाया गया है (तु गा ४४२८ ९१)। यहाँ फिरभी कह देना उचित है, कि यद्यपि पूर्ण साम्य-बुद्धिही सदाचारका बीज हो, तथापि इससे यहभी अनुमान न करना चाहिये, कि जबतक इस प्रकारकी पूर्ण शुद्ध-बुद्धि न हो जावे, तब-तक कर्म करनेवाला चुपचाप हाथपर हाथ धरे बैठा रहे। स्थितप्रज्ञके समान बुद्धि करलेना तो परम ध्येय है। परतु गीताके आरभमेंही (गीता २ ४०) यह उपदेश किया है, कि इस परम ध्येयके पूर्णतया सिद्ध होनेतक प्रतीक्षा न करके जितना हो सके उतनाही, निष्काम बुद्धिसे प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म करता रहे, इसीसे बुद्धि अधिक शुद्ध होती चली जायगी, और अतमे पूर्ण सिद्धि हो जायगी। ऐसा आग्रह करके समयको मुक्त न गँवा दे, कि जबतक पूर्ण सिद्धि पा न जाऊँगा, तबतक कर्म करूँगाही नही।

'सर्वभूतहित' अथवा "अधिकाश लोगोके अधिक कल्याण"वाला नीति-तत्त्व केवल बाह्य कर्म उपयुक्त होनेके कारण शाखाग्राही और कृपण है, परतु "प्राणिमात्रमे एक आत्मा"वाली – स्थितप्रज्ञकी 'साम्यबुद्धि' मूलग्राही है, और उसीको नीति-निर्णयके काममें श्रेष्ठ मानना चाहिये – इस प्रकार यद्यपि यह बात सिद्ध हो चुकी, तथापि इसपर अनेकोके आक्षेप हैं, कि इस सिद्धान्तसे व्यावहारिक बर्तावकी उपपत्ति ठीक ठीक नही लगती। ये आक्षेप प्राय सन्यास-मार्गी स्थितप्रज्ञके संसारी व्यवहारको देखकरही इन लोगोको सूझे है। किंतु थोडासा विचार करनेसे किसीकोभी सहजही दीख पडेगा, कि ये आक्षेप स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीके बर्तावको उपयुक्त नही होते। और तो क्या? यहभी कह सकते है, कि प्राणिमात्रमें एक आत्मा अथवा आत्मौपम्य बुद्धिके तत्त्वसे व्यावहारिक नीति-धर्मकी जैसी अच्छी उपपत्ति लगती है, वैसी और किसीभी तत्त्वसे नही लगती। उदाहरणके लिये सब देशोमे और सब नीतिशास्त्रोमे प्रधान माने गये परोपकार धर्मकोही लीजिये। "दूसरेका आत्माही मेरा आत्मा है" इस अध्यात्म-तत्त्वसे परोपकार-धर्मकी जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी किसीभी आधि-भौतिक वादसे नही लगती। बहुत हुआ तो, आधिभौतिकशास्त्र इतनाही कह सकते है, कि परोपकार-बुद्धि एक नैसर्गिक गुण है, और वह उत्क्रातिवादके अनुसार बढ रहा है। किंतु इतनेसेही परोपकारकी नित्यता सिद्ध नही हो जाती। यही नही, बल्कि स्वार्थ और परार्थके झगडेमें, इन दोनो घोडोपर सवार होनेके लालची चतुर स्वार्थियो-कोभी अपना मतलब गाँठनेमे इसके कारण अवसर मिल जाता है, यह बात हम चौथे प्रकरणमें बतला चुके है। इसपरभी कुछ लोग कहते है, कि परोपकार-बुद्धिकी नित्यता

सिद्ध करनेसे लाभही क्या है? प्राणिमात्रमें एकही आत्मा मानकर यदि प्रत्येक पुरुष सदैव प्राणिमात्रकाही हित करने लग जाय, तो उसका जीवन-निर्वाह कैसे होगा? और जब वह इस प्रकार अपनाही योगक्षेम नही चला सकेगा तब वह और लोगोका कल्याण करही कैसे सकेगा? लेकिन ये शकाएँ न तो नईही है, और न ऐसी है, कि जो टाली न जा सके। भगवानने गीतामेंही इस प्रश्नका यो उत्तर दिया है – "तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्" (गीता ९ २२) और अध्यात्मशास्त्रकी युक्तियोसेभी यही अर्थ निष्पन्न होता है। जिसे लोककल्याण करनेकी बुद्धि हो गई उसे खाना-पीना नही छोडना पडता, परन्तु उसकी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि मैं लोकोपकारके लियेही देह धारण करता हूँ। जनकने कहा है (मभा अश्व ३२) कि जब ऐसी बुद्धि रहेगी, तभी इद्रियाँ वशमे रहेगी और लोककल्याण होगा। और मीमासकोके इस सिद्धान्तका तत्त्वभी यही है, कि यज्ञ करके शेष बचा हुआ अन्न ग्रहण करनेवालेको 'अमृताशी' कहना चाहिये (गीता ४ ३१)। क्योकि उनकी दृष्टिसे जगतका धारण-पोषण करनेवाला कर्मही यज्ञ है। अतएव यह लोककल्याण-कारक कर्म करते समय उसीसे अपना निर्वाह होता है, और करनाभी चाहिये। उनका निश्चय है, कि अपने स्वार्थके लिये यज्ञचक्रको डुबा देना अच्छा नही है। दासबोधमें (१९ ४ १०) श्रीसमर्थ रामदास स्वामीनेभी वर्णन किया है, कि "वह परोपकार करताही रहता है, जिसकी सबको जरूरत बनी रहती है। ऐसी दशामें उसे भूमडलमे किस बातकी कम रह सकती है?" व्यवहारकी दृष्टिसे देखे, तोभी यही ज्ञात होता है, कि यह उपदेश बिलकुल यथार्थ है। साराश, जगतमें देखा जाता है, कि लोककल्याणमें जुटे रहनेवाले पुरुषका योगक्षेम कभी अटकता नही है। केवल परोपकार करनेके लिये उसे निष्काम बुद्धिसे तैयार रहना चाहिये। एक बार इस भावनाके दृढ हो जानेपर, कि "सभी लोग मुझमें है और मै सब लोगोमें हूँ", फिर यह प्रश्नही नही हो सकता, कि परार्थ स्वार्थ भिन्न है या नही। 'मैं' पृथक् और 'लोग' पृथक् इस आधिभौतिक द्वैत-बुद्धिसे "अधिकाश लोगोके अधिक सुख" करनेके लिये जो प्रवृत्त होता है उसके मनमें ऊपर लिखी हुई भ्रामक शकाएँ उत्पन्न हुआ करती है। परन्तु जो "सर्व खल्विद ब्रह्म" इस अद्वैत-बुद्धिसे परोपकार करनेके लिये प्रवृत्त हो जाय, उसे यह शकाही नही रहती। सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धिसे निष्पन्न होनेवाले सर्वभूतहितके इस आध्यात्मिक तत्त्वमें, और स्वार्थ एव परार्थरूपी द्वैतके अर्थात् अधिकाश लोगोंके सुखके तारतम्यसे निकलनेवाले लोककल्याणके आधिभौतिक तत्त्वमें इतनाही भेद है, जो ध्यान देने योग्य है। साधु पुरुष मनमे लोककल्याण करनेका हेतु रखकर, लोककल्याण नही किया करते। जिस प्रकार प्रकाश फैलाना सूर्यका स्वभाव है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसे मनमें सर्वभूतात्मैक्यका पूर्ण परिचय हो जानेपर लोककल्याण करना तो इन साधु-पुरुषोका सहज स्वभाव हो जाता है। और ऐसा स्वभाव बन जानेपर सूर्य जैसे दूसरोको प्रकाश देता हुआ अपने आपको प्रकाशित

कर लेता है, वैसेही साधुपुरुषोके परार्थ उद्योगसेही उनका योगक्षेमभी आपही-आप सिद्ध होता है। परोपकार करनेके इस देह-स्वभाव और अनासक्त बुद्धिके एकत्र हो जानेपर कितनेही सकट क्यो न चले आवे, तोभी उनकी बिल्कुल परवाह न कर और यह न सोच कर, कि सकटोको सहना भला है, या लोककल्याणको छोड देना भला है, ब्रह्मात्मैक्य बुद्धिवाले साधुपुरुष, अपना कार्य सदा जारी रखते है। तथा यदि प्रसग आ जाय तो आत्मबलिभी दे देनेके लिये तैयार रहते है, उन्हे उसकी कुछभी चिंता नही होती। किंतु जो लोग स्वार्थ और परार्थको दो भिन्न वस्तुएँ समझ, उन्हें तराजूके दो पलडोमें डाल काँटेका झुकाव देखकर धर्म-अधर्मका निर्णय करना सीखे हुए हैं, उनकी लोककल्याण करनेकी इच्छाका इतना तीव्र हो जाना कदापि सभव नही है। अतएव प्राणिमात्रके हितका तत्त्व यद्यपि भगवद्गीताको समत हैं, तथापि उसकी उपपत्ति अधिकाश लोगोके अधिक बाहरी सुखोके तारतम्यसे नही लगाई है, किंतु लोगोकी सख्या अथवा उनके सुखोकी न्यूनाधिकताके विचारोको आगतुक अतएव कृपण कहा है, तथा शुद्ध व्यवहारकी मूलभूत साम्य-बुद्धिकी उपपत्ति गीतामें अध्यात्मशास्त्रके नित्य ब्रह्मज्ञानके आधारपर बतलाई है।

इसमे दीख पडेगा, कि प्राणिमात्रके हितार्थ उद्योग करने या लोककल्याण अथवा परोपकार करनेकी युक्तिसगत उपपत्ति अध्यात्म-दृष्टिसे क्योकर लगती है? अब समाजमें एक दूसरेके साथ वर्तनके सबधमें साम्य-बुद्धिकी दृष्टिसे हमारे शास्त्रोमें जो मूल नियम बतलाये गये, है, उनका विचार करते है। "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवा भूत्" (बृह २ ४ १४) – जिसे सर्व आत्ममय हो गया, वह साम्य-बुद्धिसेही सबके साथ बर्तता है, यह तत्त्व बृहदारण्यकके सिवा ईशावास्य (ईश ६) और कैवल्य (कै १ १०) उपनिषदोमें तथा मनुस्मृतिमेभी (मनु १२ ९१, १२५) है। एव इसी तत्त्वका गीताके छठे अध्यायमे (गीता ६ २९) "सर्वभूतस्य-मात्मान सर्वभूतानि चात्मनि"के रूपमें अक्षरश उल्लेख है। सर्वभूतात्मैक्य अथव-साम्य-बुद्धिके इसी तत्त्वका रूपातर आत्मौपम्य-दृष्टि है। क्योकि इससे सहजही यह अनुमान निकलता है, कि जब मै प्राणिमात्रमें हूँ और मुझमें सभी प्राणि है, तब मै अपने साथ जैसे बर्तता हूँ वैसेही अन्य प्राणियोके साथभी मुझे बर्ताव करना चाहिये। अतएव भगवानने कहा है, कि इस "आत्मौपम्य-दृष्टि अर्थात् समतासे जो सबके साथ बर्तता है, वही उत्तम कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ है" और फिर अर्जुनको इसी प्रकार बर्ताव करनेका उपदेश दिया है (गीता ६ ३०–३२)। अर्जुन अधिकारी था, इस कारण गीतामें इस तत्त्वको खोलकर समझानेकी कोई जरूरत न थी। किंतु साधारण लोगोको नीतिका और धर्मका बोध करानेके लिये रचे हुए महाभारतमें अनेक स्थानोपर यह बतलाकर (मभा शा २३८ २१, २६१ ३३) व्यासदेवने इसका गभीर और व्यापक अर्थ स्पष्ट कर दिखलाया है। उदाहरण लीजिये, गीता

और उपनिषदोंमें सक्षेपसे वतलाये हुए आत्मौपम्यके इसी तत्त्वको पहले इस प्रकार समझाया है –

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुष' ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोध स प्रेत्य सुखमेधते ।।

"जो पुरुष अपनेही ममान दूसरेको मानता है, और जिसने क्रोधको जीत लिया है, वह परलोकमें सुख पाता है" (मभा अनु ११२ ६)। परस्पर एक दूसरेके साथ वर्ताव करनेके वर्णनको यही समाप्त न करके आगे कहा है –

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूल यदात्मनः ।
एष सक्षेपतो धर्म कामादन्य प्रवर्तते ।।

"ऐसा वर्ताव औरोंके साथ न करे, कि जो स्वय अपनेको प्रतिकूल अर्थात् दु ख-कारक जँचे। यही सव धर्मों और नीतियोका सार है, और वाकी सभी व्यवहार लोभमूलक है" (मभा अनु ११३ ८) और अतमें बृहस्पतिने युधिष्ठिरसे कहा है –

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदु.खे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुष प्रमाणमधिगच्छति ।।
यथापर प्रक्रमते परेषु तथा परे प्रक्रमन्तेऽपरस्मिन् ।
तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्ट. ।।

"मुख या दु ख, प्रिय या अप्रिय, दान अथवा निषेध – इन सव वातोका दूसरोंके विपयमें वैसाही अनुमान करे, जैसा कि अपने विषयमें जान पडे। दूसरोंके साथ मनुष्य जैसा वर्ताव करता है, दूसरेभी उसके साथ वैसाही व्यवहार करते हैं। अतएव यही उपमा लेकर इस जगतमे आत्मौपम्यकी दृष्टिमे वर्ताव करनेको सयाने लोगोंने धर्म कहा है (मभा अनु ११३ ९, १०)" "न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूल यदात्मन" यह श्लोक विदुरनीतिमेंभी (मभा उद्यो ३८ ७२) है, और आगे शातिपर्वमें (मभा शा १६७ ९) विदुरने फिर यही तत्त्व युधिष्ठिरको वतलाया है। परतु आत्मौपम्यनियमका यह एक भाग हुआ, कि दूसरोको दु ख न दो, क्योंकि जो तुम्हे दु खदायी है, वही और लोगोकोभी दु खदायी होता है। अव इसपर कदाचित् किसीको यह दीर्घशका हो, कि इससे यह निश्चयात्मक अनुमान कहाँ निकलता है, कि तुम्हे जो सुखदायक जँचे, वही औरोकोभी सुखदायक है, और इसलिये ऐसे ढँगका वर्ताव करो, जो औरोकोभी सुखदायक हो ? इस शकाके निरसनार्थ भीष्मने युधिष्ठिरको धर्मके लक्षण वतलाते समय इससेभी अधिक स्पष्टीकरण करके इस नियमके दोनो भागोका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है –

यदन्यैर्विहित नेच्छेदात्मन कर्म पूरुष ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन. ।।
जीवित य स्वय चेच्छेत्कथ सोऽन्य प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।

"हम दूसरोंसे अपने साथ जैसे वर्तावका किया जाना पसद नही करते वैसा अर्थात् अपनी रुचिके अनुकूल बर्ताव हमेंभी दूसरोके साथ न करना चाहिये। जो स्वय जीवित रहनेकी इच्छा करता है, वह दूसरोको कैसे मारेगा ? ऐसी इच्छा रखें, कि जो हम चाहते हैं, वही और लोगभी चाहते हैं।"(ममा शा २५८ १९,२१)। और दूसरे स्थानपर इसी नियमको वतलाते हुए इन 'अनुकूल' अथवा 'प्रतिकूल' विशेषणोका प्रयोग न करके किसीभी प्रकारके आचरणके विषयमें विदुरने कहा है, कि मामान्यत –

तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्य यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्य यथात्मनि ॥

"इद्रियनिग्रह करके धर्मसे वर्तना चाहिये, और अपने समानही सब प्राणियोसे वर्ताव करे" (मभा शा १६७ ९)। क्योकि शुकानुप्रश्नमें व्यास कहते हैं –

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एव सतत वेद सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥

"जो सदैव यह जानता है, कि अपने शरीरमें जितना आत्मा है, उतनाही दूसरेके शरीरमेंभी है, वही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेनेमें समर्थ होता है" (मभा शां २३८ २२)। बुद्धको आत्माका अस्तित्व मान्य न था। कमसे-कम उसने यह तो स्पष्टही कह दिया है, कि आत्मविचारकी व्यर्थ उलझनमें न पडना चाहिये। तथापि उसनेभी यह बतलाते हुए, कि बौद्ध भिक्षु लोग औरोंके साथ कैसा वर्ताव करें ? – आत्मौपम्यदृष्टिका यह उपदेश किया है –

यथा अह तथा एते यथा एते तथा अहम्।
अत्तान (आत्मान) उपम कत्वा (कृत्वा) न हनेय्य न घातये ॥

"जैसे मैं, वैसे ये, जैसे ये, वैसे मैं, (इस प्रकार) अपनी उपमा समझकर न तो (किसीकोभी) मारे, और न मरवावे" (सुत्तनिपात, नालकसुत्त २७)। धम्मपद नामके दूसरे पाली बौद्ध ग्रथमेंभी (धम्मपद १२९, १३०)मेंभी इसी श्लोकका दूसरा चरण दो बार ज्यो का-त्यो आया है, और आगे तुरतही मनुस्मृति (५ ४५)। एव महाभारत (अनु ११३ ५) इन दोनो ग्रथोमें पाये जानेवाले श्लोकोका पाली भाषामें इस प्रकार अनुवाद किया गया है –

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो (इच्छन्) पेच्च सो न लभते सुखम् ॥

"(अपने समानही) सुखकी इच्छा करनेवाले दूसरे प्राणियोकी जो अपने (अत्तनो) सुखके लिये दडसे हिंसा करता है, उसे मरनेपर (पेच्च = प्रेत्य) सुख नही मिलता" (धम्मपद १३१)। आत्माके अस्तित्वको न माननेपरभी आत्मौपम्यकी यह भाषा जब कि बौद्ध ग्रथोमें पाई जाती है, तब यह प्रकटही है, कि बौद्ध ग्रथकारोंने ये विचार वैदिक धर्म-ग्रथोंसेही लिये है। अस्तु, इसका अधिक विचार

आगे चलकर करेंगे। ऊपरके विवेचनमे स्पष्ट दीख पडेगा, कि जिसकी "सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि" ऐसी स्थिति हो गई, वह औरोंसे वर्तते समय आत्मौपम्य-बुद्धिसेही सदैव काम लिया करता है, और हम प्राचीन कालसे समझते चले आ रहे हैं, कि ऐसे वर्तावका यही एक मुख्य नीति-तत्त्व है। इसे कोईभी स्वीकार कर लेगा, कि समाजमे मनुष्योंके पारपरिक व्यवहारका निर्णय करनेके लिये आत्मौपम्य-बुद्धिका यह सूत्र "अधिकाश लोगोंके अधिक हित" वाले आधिभौतिक तत्त्वकी अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण, निर्दोप, निम्सदिग्ध, व्यापक स्वरूप और बिलकुल अन-पढोंकोभी समझमे जल्दी आ जानेयोग्य है।* धर्म-अधर्मशास्त्रके इस रहस्य ("एप सक्षेपतो धर्म") अथवा मूल तत्त्वकी अध्यात्म-दृष्टिसे जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी कर्मके बाहरी परिणामपरही नजर देनेवाले आधिभौतिकवादसे नही लगती, और इसीसे धर्म-अधर्मशास्त्रके इस प्रधान नियमको उन पश्चिमी पडितोके ग्रथोमे प्राय प्रमुख स्थान नही दिया जाता, कि जो आधिभौतिक-दृष्टिसे कर्मयोगका विचार करते हैं। और तो क्या, आत्मौपम्य दृष्टिके सूत्रको ताकमे रखकर, वे समाजबधनकी उपपत्ति "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख" प्रभृति केवल दृश्य तत्त्वसेही लगानेका प्रयत्न किया करते है। परतु उपनिषदोमे, मनुस्मृतिमें, गीतामे महाभारतके अन्यान्य प्रकरणोमें और केवल बौद्ध धर्ममेंही नही, प्रत्युत अन्यान्य देशो एव धर्मोमेभी आत्मौपम्यके इस सरल नीति-तत्त्वकोही सर्वत्र अग्रस्थान दिया हुआ पाया जाता है। यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोंमें जो यह आज्ञा है, कि "तू अपने पडोसियोंसे अपनेही समान प्रीति कर" (लेव्हि १९ १८, मेथ्यू २२ ३९), वह इसी नियमका रूपातर है। ईसाई लोग इसे सोनेका अर्थात् सोनेमरीखा मूल्यवान् नियम कहते है, परतु आत्मैक्यकी उपपत्ति उनके धर्ममे नही है। ईसाका यह उपदेशभी आत्मौपम्य-सूत्रका एक भाग है, कि "लोगोसे तुम अपने साथ जैसा वर्ताव कराना पसद करते हो, उनके साथ तुम्हे स्वयभी वैसाही वर्ताव करना चाहिये" (मा ७ १२, ल्यू ६ ३१), और यूनानी तत्त्ववेत्ता आरिस्टॉटलके ग्रथमे मनुष्योंके परस्पर वर्ताव करनेका यही तत्त्व अक्षरश बतलाया गया है। आरिस्टॉटल ईसासे कोई तीन सौ वर्ष पहले हो गया, परतु उससेभी लगभग दो सौ वर्ष पहले चीनी तत्त्ववेत्ता खुं-फू-त्से (अग्रेजी अपभ्रश कानफ्यूशियस) उत्पन्न हुआ था। उसने आत्मौपम्य दृष्टिका उल्लिखित नियम चीनी भाषाकी प्रणालीके अनुसार एकही शब्दमे बतला दिया है। परतु यह तत्त्व हमारे यहाँ कानफ्यूशियससेभी बहुत पहलेसे उपनिषदोंमें (ईश ६ केन १३) और फिर महाभारतमें,

---

* सूत्र शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है – "अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु ॥" गानेके सुभीतेके लिये किसीभी मन्त्रमें जिन अनर्थक अक्षरोका प्रयोग दिया जाता है, उन्हे स्तोभाक्षर कहते हैं। सूत्रमें ऐसे अनर्थक अक्षर नही होते। इसीसे इस लक्षणमे यह 'अस्तोभ' पद आया है।

गीतामें, एव परायेकोभी आत्मवत् मानना चाहिये" (दास १२ १० २२) इस रीतिसे मराठा साधु-सतोंके ग्रथोमें विद्यमान् है, तथा इस लोकोक्तिकाभी प्रचार है कि "आप वीती सो जग वीती।" यही नही, वल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्तिभी हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने दे दी है। जव हम इस वातपर ध्यान देते है, कि यद्यपि नीति-धर्मका यह सर्वमान्य सूत्र वैदिक धर्मसे भिन्न अन्य धर्मोंमे दिया गया हो, तो भी इसकी उपपत्ति नही वतलाई गई है। और जव हम इस वातपरभी ध्यान देते हैं, कि इस सूत्रकी उपपत्ति ब्रह्मात्मैक्यरूप अध्यात्मज्ञानको छोड और दूसरे किसीसेभी ठीक ठीक नही लगती, तव गीताके आध्यात्मिक नीतिशास्त्रका अथवा कर्मयोगका महत्त्व पूरा पूरा व्यक्त हो जाता है।

समाजमें मनुष्योंके पारस्परिक व्यवहारके विषयमें 'आत्मौपम्य'-वुद्धिका नियम इतना सुलभ, व्यापक, सुवोध और विश्वतोमुख है, कि जव एक वार यह वतला दिया, कि प्राणिमात्रमे रहनेवाले आत्माकी एकताको पहचान कर, "आत्मवत् सम-वुद्धिसे दूसरोके साथ वर्तते जाओ", तव फिर ऐसे पृथक् पृथक् उपदेश करनेकी जरूरतही नही रह जाती, कि लोगोपर दया करो, उनकी यथाशक्ति मदद करो, उनका कल्याण करो, उन्हें अभ्युदयके मार्गमें लगाओ, उनसे प्रीति करो, उनसे ममता न छोडो, उनके साथ न्याय और समताका वर्ताव करो, किसीको धोखा मत दो, किसीका द्रव्यहरण अथवा हिंसा न करो, किसीसे झूठ न् वोलो, अधिकाश लोगोंके अधिक कल्याण करनेकी वुद्धिको मनमें रखो, सदैव यह समझकर भाईचारेसे वर्ताव करो, कि हम सब एकही पिताकी सतान हैं। प्रत्येक मनुष्यको स्वभावसे यह सहजही मालूम रहता है, कि उसका अपना सुखदु ख और कल्याण किसमें है? और सासारिक व्यवहार करते समय गृहस्थीकी व्यवस्थासे इस वातका अनुभवभी उसको होता रहता है, कि 'आत्मा वै पुत्रनामासि।" अथवा "अर्ध भार्या शरीरस्य"का भाव समझकर अपनेही समान अपने स्त्री-पुत्रोंसेभी हमें प्रेम करना चाहिये। किंतु घरवालोंसे प्रेम करना आत्मौपम्य-वुद्धि सीखनेका पहलाही पाठ है। सदैव इसीमे न लिपटे रहकर घरवालोंके वाद इष्टमित्रो, आप्तो, गोत्रजो, ग्रामवासियो, जातिभाइयो, धर्मवधुओं और अतमे सव मनुष्यो अथवा प्राणिमात्रके विषयमें आत्मौपम्य-वुद्धिका उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यको अपनी आत्मौपम्य-वुद्धि अधिका-धिक व्यापक वनाकर पहचानना चाहिये, कि जो आत्मा अपनेमें है, वही सब प्राणियोमें है, और अतमें इसीके अनुसार वर्तावभी करना चाहिये – यही ज्ञानकी तथा आश्रम-व्यवस्थाकी परमा[illegible]धि अथवा मनुष्यमात्रके साध्यकी सीमा है। आत्मौपम्य-वुद्धिरूप सूत्रका अतिम और व्यापक अर्थ यही है। फिर आपही आप सिद्ध हो जाता है, कि इस परमावधिकी स्थितिको प्राप्तकर लेनेकी योग्यता जिन जिन यज्ञदान आदि कर्मोंसे वढती जाती है, वे सभी कर्म चित्तशुद्धिकारक, धर्म्य, अतएव गृहस्थाश्रमके कर्तव्य हैं। यह पहलेही कह चुके है, कि चित्तशुद्धिका ठीक ठीक अर्थ स्वार्थ-वुद्धिका

छूट जाना और ब्रह्मात्मैक्यको पहचानना है, एव इसीलिये स्मृतिकारोंने गृहस्थाश्रमके गर्म विहित माने है। याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको जो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" आदि उपदेश किया है, उसका मर्मभी यही है। अध्यात्मज्ञानकी नीवपर रचा हुआ कर्मयोगशास्त्र सबसे कहता है, कि "आत्मा वै पुत्रनामासि" मेंही आत्माकी व्यापकताको सकुचित न करके उसकी इस स्वाभाविक व्याप्तिको पहचानो, कि "लोको वै अयमात्मा", और इस समझसे बर्ताव किया करो, कि "उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्" – यह सारी पृथ्वीही बडे लोगोकी घरगृहस्थी है, प्राणिमात्रही उनका परिवार है। हमें विश्वास है, कि इस विषयमें हमारा कर्मयोगशास्त्र अन्यान्य देशोंके पुराने अथवा नये, किसीभी कर्मयोगशास्त्रसे हारनेवाला नहीं है, यही नही, तो उन सबको अपने पेटमें रखकर परमेश्वरके समान 'दश अगुल' बचा रहेगा।

इसपरभी कुछ लोग कहते हैं, कि आत्मौपम्य-भावसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूपी वदान्ती और व्यापक दृष्टि हो जानेपर हम सिर्फ उन सद्गुणोंकोही न खो बैठेंगे, कि जिन देशाभिमान, कुलाभिमान और धर्माभिमान आदि सद्गुणोंसे कुछ वश अथवा राष्ट्र आजकल उन्नत अवस्थामें है, प्रत्युत यदि कोई हमें मारने या कष्ट देने आवेगा, तो "निर्वैर, सर्वभूतेषु" (गीता ११ ५५), गीताके इस वाक्यानुसार उसको दुष्ट-बुद्धिसे उलटकर न मारना हमारा धर्म हो जायगा (धम्मपद ३३८)। अत दुष्टोका प्रतिकार न होगा, और इस कारण उनके बुरे कर्मोंसे साधु-पुरुषोंकी जान जोखिममें पड जायेगी और दुष्टोका दबदबा हो जानेसे पूरे समाज अथवा सारे राष्ट्रका उससे नाशभी हो जावेगा। महाभारतमें स्पष्टही कहा है, कि "न पापे प्रतिपाप स्यात्साधुरेव सदा भवेत्" (मभा वन २०६ ४४) दुष्टोंके साथ दुष्ट न हो जावे, साधुतासे वर्ते, क्योंकि दुष्टतासे अथवा वैर निकालनेसे वैर कभी नष्ट नही होता – "न चापि वैर वैरेण केशव व्युपशाम्यति।" इसके विपरीत जिसकी हम पराजय करते है, वह स्वभावसेही दुष्ट होनेके कारण पराजित होनेपर औरभी अधिक उपद्रव मचाता रहता है, तथा वह फिर बदला लेनेका मौका खोजता रहता है – "जयो वैर प्रसृजति।" अतएव महाभारतमे स्पष्ट कहा है कि, शातिसेही दुष्टोका निवारण कर देना चाहिये (मभा उद्यो ७१ ५९ ६३)। महाभारतके येही श्लोक बौद्ध ग्रथोमें है (धम्मपद ५, २०१, महावग्ग १० २, ३), और ऐसेही ईसानेभी इसी तत्त्वका अनुवाद इस प्रकार किया है, कि "तू अपने शत्रुओसे प्रीति कर।" (मेथ्यु ५ ४४), और "कोई एक कनपटीमें मारे, तो तू दूसरीभी आगे कर दे" (मेथ्यू ५ ३९, ल्यू ६ २९)। ईसामसीहसे पहलेके चीनी तत्त्वज्ञ ला-ओ-त्सेकाभी ऐसाही कथन है, और महाराष्ट्रकी सत-मडलीमें तो एकनाथ महाराज जैसे साधुओंके इस प्रकार आचरण करनेकी बहुतेरी कथाएँभी है। क्षमा अथवा शातिकी पराकाष्ठाका उत्कर्ष दिखलानेवाले इन उदाहरणोकी पुनीत योग्यताको घटानेका हमारा कदापि हेतु नही है। इसमें कोई सदेह नही, कि सत्यसमानही यह क्षमा-धर्मभी अतमे –

अर्थात् समाजकी पूर्णावस्थामे – अपवादरहित और नित्यरूपसे वना रहेगा। और वहुत क्या कहे, समाजकी वर्तमान अपूर्णावस्थामेंभी अनेक अवसरोपर देखा जाता है, कि जो काम शातिमे हो जाता है, वह क्रोधमे नही होता। जव अर्जुन देखने लगा, कि दुष्ट दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये कौन कौन योद्धा आये है, तव उनमें पितामह और गुरु जैसे पूज्य मनुष्योपर दृष्टि पडतेही उसके ध्यानमें यह वात आ गई, कि दुर्योधनकी दुष्टताका प्रतिकार करनेके लिये मुझे केवल कर्मही नही करना पडेगा, तो अर्थासक्त गुरुजनोको शस्त्रोंसे मारनेका दुष्कर कामभी करना पडेगा, (गीता २. ५)। और इसीसे वह कहने लगा, कि यद्यपि दुर्योधन दुष्ट हो गया है, तथापि "न पापे प्रतिपाप स्यात्" वाले न्यायसे मुझेभी उसके साथ दुष्ट न हो जाना चाहिये। "यदि वे मेरी जानभी ले ले, तोभी (गीता १ ४६) मेरा 'निर्वैर' अत करणमे चुपचाप वैठ रहनाही उचित है।" अर्जुनकी इस शकाको दूर भगा देनेके लियेही गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है, और यही कारण है, कि गीतामे इस विषयका जैसा स्पष्टीकरण किया गया है, वैसा और किसीभी धर्मग्रथमें नही पाया जाता। उदाहरणार्थ, वौद्ध और ईसाई धर्म निर्वैरत्वके तत्त्वको वैदिक धर्मके समानही स्वीकार तो करते है, परतु उनके धर्म-ग्रंथोमे यह वात स्पष्टतया कहीभी नही वतलाई है, कि लोकसग्रहकी अथवा आत्मसरक्षणकीभी चिंता न करनेवाले सर्व कर्मत्यागी सन्यासी पुरुषका व्यवहार और वुद्धिके अनासक्त एव निर्वैर हो जानेपरभी उसी अनासक्त और निर्वैरवुद्धिमे सारे वर्ताव करनेवाले कर्मयोगीका व्यवहार, ये दोनो सर्वांशमे एक नही हो सकते। इसके विपरीत पश्चिमी नीतिशास्त्रवेत्ताओंके आगे यह समस्या है, कि ईसाने जो उपरोक्त निर्वैरत्वका उपदेश किया है, उसका जगतकी नीतिसे समुचित मेल कैसे मिलावे ?* और नित्शे नामक आधुनिक जर्मन पडितने जो अपने ग्रथोमें यह मत लिखा है, कि निर्वैरत्वका यह धर्म-तत्त्व गुलामीका और घातक है, एव इसीको श्रेष्ठ माननेवाले ईसाई धर्मने यूरोप खडको नामर्द कर डाला है। परतु हमारे धर्मग्रथोको देखनेसे ज्ञात होगा, कि न केवल गीताको, प्रत्युत मनुकोभी यह बात पूर्णतया अवगत और समत थी, कि सन्यास और कर्मयोग इन दोनो धर्म-मार्गोसे इस विषयमें भेद करना चाहिये। क्योकि मनुने यह नियम, "क्रुध्यन्त न प्रतिक्रुध्येत्" – क्रोधित होनेवालेपर फिर क्रोध न करो (मनु ६ ४८), न गृहस्थ-धर्ममे वतलाया है, और न राज-धर्ममें, वतलाया है केवल यति-धर्ममेंही। परतु आजकलके टीकाकार इस वातपर ध्यान नही देते, कि इन वचनोमेंसे कौन वचन किस मार्गका है अथवा उसका कहाँ उपयोग करना चाहिये ? उन लोगोंने सन्यास और कर्ममार्ग इन दोनो मार्गोके परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोको गड्डमड्डुकर एकत्र कह डालनेकी जो प्रणाली अपनायी है, उस प्रणालीसे प्राय कर्मयोगके सच्चे सिद्धान्तोंके सवधमें कैसे भ्रम

---

* See Paulsen's *System of Ethics*, Book III, chap X (Eng. Trans) and Nietzsche's *Anti-Christ*

उत्पन्न हो जाता है, उसका वर्णन हम पाँचवे प्रकरणमे कर चुके है । गीताके टीका-कारोकी इस भ्रामक पद्धतिको छोड देनेमे सहजही ज्ञात हो जाता है, कि भागवत-धर्मी कर्मयोगी 'निर्वैर' शव्दका क्या अर्थ करते है, क्योकि ऐसे अवसरपर दुष्टोंके साथ कर्मयोगी गृहस्थको कैसे वर्ताव करना चाहिये, उमके विपयमे परम भगवद्-भक्त प्रल्हादनेही कहा है, कि "तस्मान्नित्य क्षमा तात पडितैरपवादिता" (मभा वन २८ ८) – हे तात ! इसी हेतु चतुर पुरुषोंने क्षमाके लिये सदा अपवाद वतलाये है । जो कर्म हमें दु खदायी हो, वही कर्म करके दूसरोको दु ख न देनेका, आत्मौपम्य-दृष्टिका सामान्य धर्म है तो ठीक, परतु महाभारतमें निर्णय किया गया है, कि जिस समाजमे इसी आत्मौपम्य-दृष्टिवाले सामान्य धर्मकी पडतालके इस दूसरे धर्मके, कि हमेंभी दूसरे लोग दु ख न दें, पालनेवाले न हो, उस समाजमें किसी एकके इस धर्मको पालनेसे कोई लाभ न होगा । यह समता शव्दही दो व्यक्तियोंसे सवद्ध अर्थात् सापेक्ष है । अतएव आततायी पुरुपको मार डालनेसे जैसे अहिसा धर्ममें वट्टा नही लगता, वैसेही दुष्टोको उचित शासन कर देनेसे साधुओकी आत्मौपम्य-वुद्धि या निर्वैरतामेभी कुछ न्यूनता नही आती, वल्कि दुष्टोंके अन्यायका प्रतिकारकर दूसरोको वचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकोभी वुद्धि अधिक सम नही है, वह परमेश्वरभी जव साधुओंकी रक्षा और दुष्टोका विनाश करनेके लिये समय समयपर-अवतार लेकर लोकसग्रह किया करता है (गीता ४ ७, ८), तव और पुरुषोकी तो वातही क्या है ! यह कहना भ्रममूलक है, कि 'वसुधैव कुटुवकम्' रूपी दृष्टि हो जानेसे अथवा फलाशा छोड देनेसे पात्रता-अपात्रताका अथवा योग्यता-अयोग्यताका भेदभी मिट जाना चाहिये। गीताका सिद्धान्त यह है, कि फलकी आशामें ममत्व-वुद्धि प्रधान होती है, और उसे छोडेबिना पाप-पुण्यसे छुटकारा नही मिलता । किंतु यदि किसी सिद्ध पुरुषको अपना स्वार्थ साधनेकी आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमीको कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे, कि जो उसके योग्य नही, तो उस सिद्ध पुरुषको अयोग्य आद-मियोकी सहायता करनेका तथा योग्य साधुओ एव समाजकीभी हानि करनेका पाप लगे विना न रहेगा । कुवेरसे टक्कर लेनेवाला करोडपति साहूकार यदि वाजारमें तरकारी लेने जावे, तो जिस प्रकार वह हरी धनियांकी गड्डी की कीमत लाख रुपये नही दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचा हुआ पुरुप किसीकी पात्रता-अपात्रताका तारतम्य भूल नही जाता । उसकी वुद्धि सम तो रहती है, पर समताका यह अर्थ नही है, कि गायका चारा मनुष्यको और मनुष्यका भोजन गायको खिला दे । तथा भगवानने गीता (गीता १७ २०)मेंभी कहा है, कि 'दातव्य' समझकर जो सात्त्विक दान करना है, वहभी इसी " देशे काले च पात्रे च " अर्थात् देश, काल और पात्रताका विचारकर देना चाहिये । साधु-पुरुषोकी साम्य-वुद्धिके वर्णनमें ज्ञानेश्वर महाराजने उन्हें पृथ्वीकी उपमा दी है । इसी पृथ्वीका दूसरा नाम 'सर्वंसहा' है, किंतु

यह 'सर्वंसहा' भी, यदि इसे कोई लात मारे, तो मारनेवालेके तलवेमें उतनेही जोरका प्रत्याघात कर अपनी समता-बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली भाँति समझा जा सकता है, कि मनमें वैर न रहनेपरभी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है? कर्मविपाक प्रक्रियामें कह चुके हैं, कि इसी कारणसे भगवानभी "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (गीता ४ ११) – जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें वैसेही फल देता हूँ – इस प्रकार व्यवहार तो करते हैं, परतु फिरभी 'वैषम्य-नैर्घृण्य' दोषोंसे अलिप्त रहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार अथवा कानून-कायदेमेंभी खूनी आदमीको फाँसीकी सजा देनेवाले न्यायाधीशको, कोई उसका दुश्मन नही कहता। अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है, कि जब किसीकी बुद्धि निष्काम होकर साम्यावस्थामें पहुँच जावे, तब वह मनुष्य अपनी इच्छासे किसी दूसरेका नुकसान नही करता, उससे यदि किसी दूसरेका नुकसान होभी जाय, तो समझना चाहिये, कि वह दूसरेके कर्मका फल है, अथवा निष्काम बुद्धिवाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समयपर जो काम करता है – फिर देखनेमें वह मातृ-वध या गुरु-वध-सरीखा कितनाही भयकर क्यो न हो – उसके शुभ-अशुभ फलका बधन अथवा लेप उसको नही लगता (गीता ४ १४, ९ २८, १८ १७)। फौजदारी कानूनमें आत्मसरक्षाके जो नियम है वे इसी तत्त्वपर रचे गये हैं। कहते है, कि जब लोगोंने मनुसे राजा होनेकी प्रार्थना की, तब उन्होंने पहले यह उत्तर दिया, कि "अनाचारसे चलनेवालोका शासन करनेके लिये राज्यको स्वीकार करके मैं पापमें नही पडना चाहता।" परतु जब लोगोंने यह वचन दिया, कि "तमब्रुवन् प्रजा मा भी कर्तृनेनो गमिष्यति" (मभा शा ६७ २३) – डरिये नही, जिसका पाप उसीको लगेगा, आपको तो रक्षा करनेका पुण्यही मिलेगा, और प्रतिज्ञा की, कि "प्रजाकी रक्षा करनेमें जो खर्च लगेगा, उसे हम लोग 'कर' देकर पूरा करेंगे", तब मनुने प्रथम राजा होना स्वीकार किया। साराश, जैसे अचेतन सृष्टिका कभीभी न बदलनेवाला यह नियम है, कि "आघातके बराबरही प्रत्याघात" हुआ करता है, वैसेही सचेतन सृष्टिमें उस नियमका यह रूपातर है, कि "जैसेको तैसा" होना चाहिये। वे साधारण लोग, कि जिनकी बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँच नही गई है, इस कर्मविपाकके नियमके विषयमें अपनी ममत्व-बुद्धि उत्पन्न कर लेते है, और क्रोधसे अथवा द्वेषसे आघातकी अपेक्षा अधिक प्रत्याघात करके आघातका बदला लिया करते है, अथवा अपनेसे दुबले मनुष्यके साधारण या काल्पनिक अपराधके लिये प्रतिकार-बुद्धिके निमित्तसे उसको लूट कर अपना फायदा कर लेनेके लिये सदा प्रवृत्त होते हैं। किंतु साधारण मनुष्योंके समान बदला लेनेकी, वैरकी, अभिमानकी, क्रोधसे – लोभसे, या द्वेषसे दुर्बलोको लूटनेकी अथवा टेकसे अपने अभिमान, शेखी, सत्ता और शक्तिकी प्रदर्शिनी दिखलानेकी बुद्धि जिसके मनमें न रहे, उसकी शात, निर्वैर और सम-बुद्धि वैसेही नही बिगडती है, जैसे कि अपने ऊपर गिरी हुई गेंदको सिर्फ पीछे लौटा देनेसे बुद्धिमें कोईभी विकार नही उपजता, और

लोकसग्रहकी दृष्टिसे ऐसे प्रत्याघातस्वरूप कर्म करना उसका धर्म अर्थात् कर्तव्य हो जाता है, कि जिससे दुष्टोका दवदवा वढ कर कही गरीवोपर अत्याचार न होने पावे (गीता ३ २५) । गीताकेरे सा उपदेशका सार यही है, कि ऐसे प्रसगपर सम-वुद्धिसे किया हुआ घोर युद्धभी धर्म्य और श्रेयस्कर है । वैरभाव न रखकर सवसे वर्तना, दुष्टोके साथ दुष्ट न वन जाना, क्रोध करनेवालेपर क्रुद्ध न होना आदि धर्म-तत्त्व स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीको मान्य तो हैही, परतु सन्यासमार्गका यह मत कर्मयोग नही मानता, कि 'निर्वैर' शव्दका अर्थ केवल निष्क्रिय अथवा प्रतिकारशून्य है, किंतु वह निर्वैर शव्दका सिर्फ इतनाही अर्थ मानता है, कि वैर अर्थात् मनकी दुष्ट वुद्धि छोड देनी चाहिये, और जव कि कर्म किसीके छूटते हैही नही, तव उसका कथन है, कि सिर्फ लोकसग्रहके लिये अथवा प्रतिकारार्थ जितने कर्म आवश्यक और शक्य हो, उतने कर्म मनमें दुष्ट वुद्धिको स्थान न देकर – केवल कर्तव्य समझ – वैराग्य और नि सग-वुद्धिसे करते रहना चाहिये (गीता ३ १९) । अत इस श्लोकमें (गीता ११ ५५) सिर्फ 'निर्वैर' पदका प्रयोग न करते हुए –

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्त सगवर्जित ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु य स मामेति पाडव ।।

उसके पूर्व इस दूसरे महत्त्वके विशेषणकाभी प्रयोग करके – कि 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् "मेरे याने परमेश्वरके प्रीत्यर्थ अर्थात् परमेश्वरार्पण-वुद्धिसे सारे कर्म करनेवाला" – भगवानने गीतामें निर्वैरत्व और निष्काम कर्मका, भक्तिकी दृष्टिसे, मेल मिला दिया है । इसीसे शाकरभाष्य तथा अन्य टीकाओमेभी कहा है, कि इस श्लोकमे पुरे गीता-शास्त्रका निचोड आ गया है । गीतामें यह कहीभी नही वतलाया, कि वुद्धिको निर्वैर करनेके लिये या उसके निर्वैर हो चुकने परभी, सभी प्रकारके कर्म छोड देने चाहिये । इस प्रकार प्रतिकारका कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण-वुद्धिसे करनेपर कर्ताको उसका कोईभी पाप या दोप तो लगताही नही, उलटे, प्रतिकारका काम हो चुकनेपर, जिन दुष्टोका प्रतिकार किया गया है, उन्हीका आत्मौपम्य-दृष्टिसे कल्याण करनेकी वुद्धिभी मनसे नष्ट नही होती । एक उदाहरण लीजिये, दुष्ट कर्मके कारण रावणको, निर्वैर और निष्पाप रामचद्रने युद्धमें मार तो डाला, पर उसकी उत्तरक्रिया करनेमे जव विभीपण हिचकने लगा, तव रामचद्रने उसको समझाया कि –

मरणान्तानि वैराणि निवृत्त न प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य सस्कारो ममाप्येष यथा तव ।।

" (रावणके मनका) वैर मरणके साथ चुकही गया । हमारा (दुष्टोका नाश करनेका) काम हो चुका । अव यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसाही मेराभी है । इसलिये इसका अग्निसस्कार कर " (वाल्मीकि रा ६ १०९ २५) रामायणका

यह तत्त्व भागवतमेंभी (भाग ८ १९ १३) एक स्थानपर वतलाया गया है, और अन्यान्य पुराणोमें जो ये कथाएँ है – कि भगवानने जिन दुष्टोका सहार किया, उन्हीको फिर दयालु होकर सद्गति दे डाली – उनका रहस्यभी यही है। इन्ही सव विचारोंको मनमे लाकर श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने कहा है, कि "उद्धतके लिये उद्धत होना चाहिये।" और महाभारतमें भीष्मने परशुरामसे कहा है –

यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेव प्रवर्तयन्।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥

"अपने साथ जो जैसा वर्ताव करता है, उसके साथ वैसेही वर्तनेसे न तो अधर्म (अनीति) होता है; और न अकल्याणभी' (मभा उद्यो १७९ ३०)। फिर आगे चलकर शातिपर्वके सत्यानृत अध्यायमें फिर वही उपदेश युधिष्ठिरको किया है –

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य तस्मिन् तथा वर्तितव्य स धर्म ।
मायाचारो मायया बाधितव्य. साध्वाचार साधुना प्रत्युपेय ॥

"अपने साथ जो जैसा वर्ताव है, उसके साथ वैसाही वर्तवा करना धर्मनीति है। मायावी पुरुषके साथ मायावीपनमे और साधु पुरुषके साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये" (मभा शा १०९ २९, उद्यो ३६ ७)। ऐसेही ऋग्वेदमें इद्रको उसके मायावीपनका दोष न देकर उसकी स्तुतिहीकी गई है, कि – "त्व मायाभिरनवद्य मायिन वृत्र अर्दय ।" (ऋ १० १४७ २, १ ८० ७) – हे निष्पाप इद्र! मायावी वृत्रको तूने मायासेही मारा है। और भारवि कविने अपने 'किरातार्जुनीय' काव्यमेंभी ऋग्वेदके तत्त्वकाही अनुवाद इस प्रकार किया है –

व्रजन्ति ते मूढधिय॰ पराभव ।
भवन्ति मायाविषु ये न मायिन॰ ॥

"मायावियोके साथ जो मायावी नही वनते, वे नष्ट हो जाते है" (किरा १ ३०)। परतु यहाँ और एक वातपर ध्यान देना चाहिये, कि दुष्ट पुरुषका प्रतिकार यदि साधुतासे हो सकता हो, तो पहले साधुतासेही करे। क्योकि दूसरा यदि दुष्ट हो जाय, तो उसके साथ हमेंभी दुष्ट न हो जाना चाहिये, कोई एक यदि नकटा हो जाय तो सारा गाँवका गाँव अपनी नाक नही कटा लेता! और क्या कहे, यह धर्म हैभी नही। इस "न पापे प्रतिपाप स्यात्" सूत्रका ठीक भावार्थ यही है, और इसी कारणसे विदुरनीतिमे धृतराष्ट्रको पहले यही नीतितत्त्व वतलाया गया है, कि "न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूल यदात्मन" – जो व्यवहार स्वय अपने लिये प्रतिकूल मालूम हो, वैसा वर्ताव दूसरोके साथ न करे। इसके पश्चातही विदुरने कहा है –

अक्रोधेन जयेत्क्रोध असाधु साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥

" (दूसरेके) क्रोधको (अपनी) शातिसे जीते । दुष्टको साधुतासे जीते । कृपणको दानसे जीते, और अनृतको सत्यसे जीते " (मभा उद्यो ३८ ७३, ७४) । पाली भाषामे बौद्धोका जो 'धम्मपद' नामक नीतिग्रथ है, उसमे '(धम्म २२३) इसी श्लोकका ज्यो का त्यो अनुवाद है –

अक्कोधेन जिने कोध असाधु साधुना जिने ।
जिने कदरिय दानेन सच्चेनालीकवादिनम् ।।

शातिपर्वमें युधिष्ठिरको उपदेश करते हुए भीष्मनेभी इसी नीति-तत्त्वके गौरवका वर्णन इस प्रकार किया है –

कर्म चैतदसाधूना असाधु साधुना जयेत् ।
धर्मेण निधन श्रेयो न जय. पापकर्मणा ।।

" दुष्टकी असाधुता अर्थात् दुष्ट कर्मका साधुतासे निवारण करना चाहिये । क्योंकि पापकर्मसे प्राप्त जीतकी अपेक्षा धर्मसे अर्थात् नीतिसे मर जानाभी श्रेयस्कर है " (मभा ९५ १६) । किंतु ऐसी साधुतासे यदि दुष्टके दुष्कर्मोका निवारण न होता हो, अथवा साम-उपचार और मेल-जोलकी बात इन दुष्टोको नापसद हो, तो ' कण्टकेनैव कण्टकम् 'के न्यायसे जो काँटा इन युक्तिससे बाहर न निकलता हो, उसको साधारण काँटेसे अथवा लोहके काँटे (सुई)सेही बाहर निकाल डालना आवश्यक है (दास १९ ९ १२–३१) । क्योकि, प्रत्येक समय लोकसग्रहके लिये दुष्टोका निग्रह करना, भगवानके समान, साधु-पुरुषोकाभी धर्मकी दृष्टिसे पहला कर्तव्य है । ' साधुतासे दुष्टताको जीते ' इस वाक्यमेंही पहले यही बात मानी गई है, कि दुष्टताको जीत लेना अथवा उसका निवारण करना साधु-पुरुषका पहला कर्तव्य है । फिर उसकी सिद्धिके लिये बतलाया है, कि पहले किस उपायकी योजना करे । यदि साधुतासे उसका निवारण न हो सकता हो – सीधी अँगुलीसे घी न निकले – तो ' जैसेको तैसे ' बन कर दुष्टताका निवारण करनेमेंसे हमें हमारे धर्म-ग्रथकार कभीभी नही रोकते । वे यह कहीभी प्रतिपादन नही करते, कि दुष्टताके आगे साधुपुरुष अपना बलिदान खुशीसे किया करें । सदा ध्यान रहे, कि जो पुरुष अपने बुरे कामोंसे पराई गर्दने काटनेपर उतारू हो गया, उसे यह कहनेका कोईभी नैतिकहक नही रह जाता, कि और लोग मेरे साथ साधुताका बर्ताव करे । धर्मशास्त्रमें स्पष्ट आज्ञा है (मनु ८ १९, ३५१), कि इस प्रकार जब साधु-पुरुषोको कोई असाधु काम लाचारीसे करना पडे, तो उसकी जिम्मेदारी शुद्ध बुद्धिवाले साधु-पुरुषोपर नही रहती, किंतु उसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है, कि जिसके दुष्ट कर्मोकाही वह नतीजा है । स्वय बुद्धने देवदत्तका जो शासन किया, उसकी उपपत्ति बौद्ध ग्रथकारोनेभी इसी तत्त्वपर लगाई है (मिलिंद प्र ४ १ ३०–३४) । जड सृष्टिके व्यवहारमें ये आघात-प्रत्याघातरूपी कर्म नित्य और

बिलकुल ठीक होते है। परतु मनुष्यके व्यवहार उसके इच्छाधीन है, और ऊपर जिस त्रैलोक्य-चितामणिकी मात्राका उल्लेख किया है, उसके दुष्टोपर प्रयोग करनेका निश्चित विचार जिस धर्मज्ञानसे होता है, वह धर्मज्ञानभी अत्यत सूक्ष्म है, इस कारण विशेष अवसरपर बडे बडे लोगभी सचमुच इस दुविधामे पड जाते है, कि जो हम करना चाहते है, वह योग्य है या अयोग्य ? अथवा धर्म्य है या अधर्म्य ? — "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता" (गीता ४ १६)। ऐसे अवसर-पर कोरे विद्वान किंतु सदैव थोडे-बहुत स्वार्थके पजेमे फँसे हुए, पुरुषोकी पडिताई-पर या केवल अपने सार-असार-विचारके भरोसेपरही कोई काम न कर बैठे, बल्कि पूर्ण साम्यावस्थामे पहुँचे हुए परमावधिके साधु-पुरुषकी शुद्ध बुद्धिकीही शरणमे जा कर उसी गुरुके निर्णयको प्रमाण माने। क्योकि निरा तार्किक पाडित्य जितना अधिक होगा, युक्तियाँभी उतनीही अधिक निकलेगी। इसी कारण बिना शुद्धबुद्धिके कोरे पाडित्यमे ऐसे विकट प्रश्नोका कभी सच्चा और समाधानकारक निर्णय नही होने पाता, अतएव उसको शुद्ध और निष्कामबुद्धिवाला गुरुही करना चाहिये। जो शास्त्रकार अत्यत सर्वमान्य हो चुके है, उनकी बुद्धि इस प्रकारकी शुद्ध रहती है, और यही कारण है, जो भगवानने अर्जुनसे कहा है — "तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" (गीता १६ २४) — कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिये। तथापि यह न भूल जाना चाहिये, कि कालमानके अनुसार श्वेतकेतु जैसे आगेके साधुपुरुषोको इन शास्त्रोमेंभी फर्क करनेका अधिकार प्राप्त होता रहता है।

निर्वैर और शात साधु-पुरुषोके आचरणके सबधमे लोगोकी आजकल जो गैर-समझ देखी जाती है, उसका कारण यह है, कि कर्मयोगमार्ग प्राय लुप्त हो गया है, और सारे ससारहीको त्याज्य माननेवाले सन्यास-मार्गका चारो ओर दौर-दौरा हो गया है। गीताका यह उपदेश अथवा उद्देश्यभी नही है, कि निर्वैर होनेसे निष्प्रतिकार-भी होना चाहिये। जिसे लोकसग्रहकी चिताही नही है, उसे जगतमे दुष्टोकी प्रबलता फैले तो — और न फैले तो — करनाही क्या है ? उसकी जान रहे, चाहे चली जाय, सब एकही-सा है। किंतु पूर्णावस्थामे पहुँचे हुए कर्मयोगी प्राणिमात्रमे आत्माकी एकताको पहचान कर यद्यपि सभीके साथ निर्वैरताका व्यवहार किया करते है तथापि अनासक्त-बुद्धिसे पात्रता-अपात्रताका, सार-असार-विचार करके स्वधर्मानु-सार प्राप्त हुए कर्म करनेमे वे कभी नही चूकते, और कर्मयोग कहता है, कि इस रीतिसे किये हुए कर्म कर्ताकी साम्य-बुद्धिमेंभी कुछ न्यूनता नही आने देते। गीता-धर्म-प्रतिपादित कर्मयोगके इस तत्त्वको मान लेनेपर कुलाभिमान और देशाभिमान आदि कर्तव्य-धर्मोकीभी कर्मयोगशास्त्रके अनुसार योग्य उपपत्ति लगाई जा सकती है। यद्यपि यह अतिम सिद्धान्त है कि समग्र मानव जातिका — प्राणिमात्रका — जिससे हित होता हो, वही धर्म है, तथापि परमावधिकी इस स्थितिको प्राप्त करनेके

लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढती हुई सीढियोकी आवश्यकता तो कभीभी नष्ट होनेकी नही। निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार – 'वसुधैव कुटुवकम्' – की ऐसी वृद्धि पानेके लिये कुलाभिमान, जात्याभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदिकी आवश्यकता है, एव समाजकी प्रत्येक पीढी इसी जीनेसे ऊपर चढती है, इस कारण इसी जीनेको सदैवही स्थिर रखना पडता है। ऐसेही जब अपने आसपासके लोग अथवा अन्य राष्ट्र नीचेकी सीढीपर हो, तव यदि कोई एक-आध मनुष्य अथवा राष्ट्र चाहे, कि मै अकेलेही ऊपरकी सीढीपर बना रहूँ, तो वह कदापि सिद्ध हो नही सकता। क्योकि ऊपर कहाही जा चुका है, कि परस्पर व्यवहारमे 'जैसेको तैसे' न्यायसे ऊपर – ऊपरकी श्रेणीवालोको नीचे – नीचेकी श्रेणीवाले लोगोंके अन्यायका प्रतिकार करना विशेष प्रसगपर आवश्यक रहता है। इसमे कोई शका नही कि सुधरते सुधारते जगतके सभी मनुष्योकी स्थिति एक दिन ऐसी जरूर हो जावेगी, कि वे प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताको पहचाने लगें। अतत मनुष्यमात्रको ऐसी स्थिति प्राप्त कर देनेकी आशा रखना कुछ अनुचितभी नही है। परन्तु यह न्यायतःही सिद्ध है, कि आत्मोन्नतिकी परमावधिकी यह स्थिति जबतक सबको प्राप्त हो नही गई है, तबतक अन्यान्य राष्ट्रो अथवा समाजोकी स्थितिपर ध्यान देकर साधु-पुरुष अपने समाजोको उन उन समयोमें श्रेयस्कर देशाभिमान आदि धर्मोकाही उपदेश देते रहे। इसके अतिरिक्त इस दूसरी बातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि मजिल दर मजिल तैयार करके, इमारत बन जानेपर, जिस प्रकार नीचेके हिस्से निकाल डाले नही जा सकते अथवा जिस प्रकार तलवार हाथमे आ जानेसे कुदालीकी, या सूर्य होनेसे, अग्निकीभी आवश्यकता बनीही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूतहितकी अतिम सीमापर पहुँच जानेपरभी न केवल देशाभिमानकीही, वरन् कुलाभिमानकीभी आवश्यकता बनी ही रहती है। क्योंकि समाजसुधारकी दृष्टिसे देखें तो कुलाभिमान जो विशेष काम करता है, वह निरे देशाभिमानसे नही होता, और देशाभिमानका कार्य निरी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टिमे सिद्ध नही होता। अर्थात समाजकी पूर्णावस्थामेंभी साम्यवुद्धिकेही समान देशाभिमान और कुलाभिमान आदि धर्मोकीभी सदैव जरूरत रहतीही है। किंतु केवल अपनेही देशके अभिमानको परम साध्य मान लेनेसे जैसे एक राष्ट्र अपने लाभके लिये दूसरे राष्ट्रका मन-माना नुकसान करनेके लिये तैयार रहता है, वैसी बात सर्वभूतहितको परम साध्य माननेसे नही होती। कुलाभिमान, देशाभिमान और अतमें पूरी मनुष्य जातिके हितमें यदि विरोध आने लगे, तो साम्यबुद्धिसे परिपूर्ण नीति-धर्मका यह महत्त्वपूर्ण और विशेष कथन है, कि उच्च श्रेणीके धर्मोकी सिद्धिके लिये निम्न श्रेणीके धर्मोको छोडदे। विदुरने धृतराष्ट्रको उपदेश करते हुए कहा है, कि युद्धमें कुलका क्षय हो जावेगा, अत दुर्योधनके हठके लिये पाडवोको राज्यका भाग न देनेकी अपेक्षा यदि दुर्योधन न माने तो

(अपना लडका भलेही हो) – उसे अकेलेको छोड देनाही उचित है, और इस समर्थनमे यह श्लोक कहा है –

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

"कुलके (वचावके) लिये एक व्यक्तिको, गाँवके लिये कुलको, और पूरे लोक-समूहके लिये गाँवको, एव आत्माके लिये पृथ्वीको छोड दे" (मभा आदि ११५ ३६, सभा ६१ ११)। इस श्लोकके पहले तीन चरणोका तात्पर्य वही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, और चौथे चरणमें आत्मरक्षाका तत्त्व वतलाया गया है। 'आत्म' शव्द सामान्य सर्वनाम है, इससे यह आत्मरक्षाका तत्त्व जैसे एक व्यक्तिको उपयुक्त होता है, वैसेही एकत्रित लोकसमूहको, जातिको, देशको अथवा राष्ट्रकोभी उपयुक्त होता है, और कुलके लिये एक पुरुषको, ग्रामके लिये कुलको, एव देशके लिये ग्रामको छोड देनेकी क्रमश चढती हुई इस प्राचीन प्रणालीपर जव हम ध्यान देते है, तव स्पष्ट दीख पडता है, कि 'आत्म' शव्दका अर्थ इन सबकी अपेक्षा इस स्थलपर अधिक महत्त्वका है। फिरभी कुछ स्वार्थी या शास्त्र न जानने-वाले लोग इस चरणका कभी कभी विपरीत अर्थात् निरा स्वार्थ-प्रधान अर्थ किया करते हैं। अतएव यहाँ कह देना चाहिये, कि आत्मरक्षाका यह तत्त्व स्वार्थपरायणता नही है। क्योकि जिन शास्त्रकारोंने निरे स्वार्थसाधु चार्वाक-पथको राक्षसी वतलाया है (गीता अ १६), सभव नही है, कि वेही स्वार्थके लिये किसीसेभी जगत्को डुवानेके लिये कहे। ऊपरके श्लोकमें 'अर्थे' शव्दका अर्थ सिर्फ स्वार्थ-प्रधान नही है किंतु "सकट आनेपर उसके निवारणार्थ" ऐसा करना चाहिये, और कोशकारोनेभी यही अर्थ किया है। स्वार्थपरायणता और आत्मरक्षामे वडा भारी अतर है। कामो-पभोगकी इच्छा अथवा लोभसे अपना स्वार्थ साधनेके लिये दुनियाका नुकसान करना स्वार्थपरायणता है। यह अमानुषी और निंद्य है। उक्त श्लोकके प्रथम तीन चरणोमें कहा है, कि एकके हितकी अपेक्षा अनेकोंके हितपर सदैव ध्यान देना चाहिये। तथापि प्राणिमात्रमें एकही आत्मा रहनेके कारण प्रत्येक मनुष्यको इस जगतमें सुख-से रहनेका एकही-सा नैसर्गिक अधिकार है। और इस सर्वमान्य महत्त्वके नैसर्गिक स्वत्वकी ओर दुर्लक्ष्य कर जगतके किसीभी एक व्यक्तिकी या समाजकी हानि करनेका अधिकार, दूसरे किसी व्यक्ति या समाजको नीतिकी दृष्टिसे कदापि प्राप्त नही हो सकता – फिर चाहे वह समाज वल और सख्यामें कितनाही चढा-वढा क्यो न हो ! अथवा उसके पास छीना-झपटी करनेके साधन दूसरोंसे अधिक क्यो न हो ! यदि कोई इस युक्तिका अवलवन करे, कि एककी अपेक्षा अथवा थोडोकी अपेक्षा वहुतोका हित अधिक योग्यताका है। और इस युक्तिमे, सख्यामें अधिक वडे हुए समाजके स्वार्थी वर्तावका समर्थन करे, तो वह युक्तिवाद केवल राक्षसी समझा जावेगा। इस

प्रकार दूसरे लोग यदि अन्यायसे वर्तने लगें, तो बहुतेरोंके तो क्या, सारी पृथ्वीके हितकी अपेक्षाभी आत्मरक्षा अर्थात् अपने बचावका नैतिक अधिकार औरभी अधिक सबल हो जाता है, यही उक्त चौथे चरणका भावार्थ है और पहले तीन चरणोंमें जिस अर्थका वर्णन है, उसके लिये महत्त्वपूर्ण अपवादके नाते उसे साथही बतला दिया है। इसके सिवा यहभी देखना चाहिये, कि यदि हम स्वय जीवित रहेंगे, तो लोककल्याण कर सकेंगे। *अतएव लोकहितकी दृष्टिसे विचार करें, तोभी विश्वामित्र*-के समान यही कहना पडता है, कि "जीवन् धर्ममवाप्नुयात्" – जीयेंगे तो धर्म करेंगे, अथवा कालिदासके अनुसार यही कहना पडता है, कि "शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्" (कुमा ५ ३३) – शरीरही सब धर्मोंका मूलभूत साधन है, या मनुके कथनानुसार कहना पडता है, कि "आत्मान सततत रक्षेत्" – स्वय अपनी रक्षा सदासर्वदा करनी चाहिये। यद्यपि आत्मरक्षाका अधिकार सारे जगतके हितकी अपेक्षा इस प्रकार श्रेष्ठ है, तथापि दूसरे प्रकरणमें कह चुके हैं, कि कई अवसरोंपर कुलके लिये, देशके लिये, धर्मके लिये अथवा परोपकारके लिये स्वय अपनीही इच्छासे साधु लोग अपनी जानपर खेल जाते हैं। उक्त श्लोकके पहले तीन चरणोंमें यही तत्त्व वर्णित है। ऐसे प्रसगपर मनुष्य आत्मरक्षाके अपने श्रेष्ठ स्वत्वपरभी स्वेच्छासे पानी फेर दिया करता है, अत ऐसे कामकी नैतिक योग्यताभी सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है। तथापि इस बातका अचूक निश्चय कर देनेके लिये, कि ऐसे अवसर कब उत्पन्न होते हैं, निरा पाडित्य या तर्कशक्ति पूर्ण समर्थ नही है। इसलिये धृतराष्ट्रके उल्लिखित कथानकसे यह बात प्रकट होती है, कि विचार करनेवाले मनुष्यका अत करण पहलेसेही शुद्ध और सम रहना चाहिये। महाभारतमेंही कहा है, कि धृतराष्ट्रकी बुद्धि इतनी मद न थी, कि वे विदुरके उपदेशको समझ न सके, परन्तु पुत्रप्रेम उनकी बुद्धिको सम होने कहाँ देता था? कुबेरको जिस प्रकार लाख रुपयेकी कभी कमी नही पडती, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि एक बार सम हो चुकी, उसे कुलात्मैक्य, देशात्मैक्य या धर्मात्मैक्य आदि निम्न श्रेणीकी एकताओका कभी टोटा पडताही नही है। ब्रह्मात्मैक्यमें इन सबका अतर्भाव हो जाता है। फिर देश-धर्म, कुलधर्म आदि सकुचित धर्मोका अथवा सर्वभूतहितके व्यापक धर्मका – अर्थात् इनमेंसे जिस-तिसकी स्थितिके अनुसार, अथवा आत्मरक्षाके निमित्त जिस समयमें जिसे जो धर्म श्रेयस्कर हो, उसको उसी धर्मका – उपदेश करके जगतके धारण-पोषणका काम साधु लोग करते हैं। इसमे सदेह नही कि मानव जातिकी वर्तमान स्थितिमें देशाभिमानही मुख्य सद्‌गुण हो गया है, और सुधरे हुए राष्ट्रभी इन विचारो और तैयारियोमें अपने ज्ञानका, कुशलताका और द्रव्यका उपयोग किया करते हैं, कि पास-पडोसके शत्रुदेशीय बहुत-से लोगोको प्रसग पडनेपर थोडेही समय हम क्यो कर जानसे मार सकेंगे। किंतु स्पेन्सर और कोट प्रभृति पडितोंने अपने ग्रथोमें स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि केवल इसी एक कारणसे देशाभिमानकोही नीतिकी

दृष्टिसे मानवजातिका परम साध्य मान नही सकते, और जो आक्षेप इन लोगोके प्रतिपादित तत्त्वपर हो नही सकता, वही आक्षेप, हम नही समझते, कि अध्यात्म-दृष्टया प्राप्त सर्वभूतात्मैक्यरूप तत्त्वपरही कैसे हो सकता है? छोटे बच्चेके कपडे उसके शरीरकेही अनुसार – बहुत हुआ तो जरा ढीले अर्थात् बाढके लिये गुजाईश रख कर – जैसे ब्योताने पडते है, वैसेही सर्वभूतात्मैक्य बुद्धिकीभी बात है। समाज हो या व्यक्ति, सर्वभूतात्मैक्य बुद्धिसे उसके आगे जो साध्य रखना है, वह उसके अधिकारके अनुरूप अथवा उसकी अपेक्षा जरा-सा और आगेका होगा, तभी वह उसको श्रेयस्कर हो सकता है, उसकी सामर्थ्यकी अपेक्षा बहुत अच्छी बात उसको एकदम करनेके लिये बतलाई जाय, तो उससे उसका कल्याण कभी नही हो सकता। परब्रह्मकी कोई सीमा न होनेपरभी उपनिषदोमें उसकी उपासनाकी क्रम-क्रमसे बढती हुई सीढ़ियाँ बतलानेका यही कारण है, और जिस समाजमें सभी स्थितप्रज्ञ हो, वहाँ क्षात्र-धर्मकी जरूरत न भी हो, तोभी जगतके अन्यान्य समाजोकी तत्कालीन स्थितिपर ध्यान दे करके "आत्मान सतत रक्षेत्"के ढगपर हमारे धर्मशास्त्रकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थामें क्षात्र-धर्मका सग्रह किया गया है। यूनानके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटोने अपने ग्रथमें जिस समाज-व्यवस्थाको अत्यत उत्तम बतलाया है, उसमेंभी निरतरके अभ्याससे युद्धकालामें प्रवीण वर्गको समाजरक्षकके नाते प्रमुखता दी है। इसमे स्पष्टही दीख पडेगा कि तत्त्वज्ञानी लोग परमावधिकी शुद्ध और उच्च स्थितिके विचारोमेंही डूब क्यो न रहा करें, परतु वे तत्कालीन अपूर्ण समाज व्यवस्थाका विचार करनेसेभी कभी नही चूकते।

ऊपरकी सब बातोका इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञानी पुरुषके सबधमें यह सिद्ध होता है, कि वह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अपनी बुद्धिको निर्विषय, शात और प्राणि-मात्रमें निर्वैर तथा सम रखे और इस स्थितिको पा जानेसे सामान्य अज्ञानी लोगोसे उकतावे नही अथवा स्वय सारे ससारी कामोका त्याग कर याने कर्म-सन्यास आश्रमको स्वीकार करके इन लोगोकी बुद्धिको न बिगाडे। परतु देश-काल और परिस्थितिके अनुसार जिन्हे जो योग्य हो, उसीका उन्हे उपदेश देवे, अपने निष्काम कर्तव्य-आचरणसे सद्व्यवहारका अधिकारानुसार प्रत्यक्ष आदर्श दिखला कर, सबको धीरे धीरे यथासभव शातिमे किंतु उत्साहपूर्वक उन्नतिके मार्गमें लगावे, बस, यही ज्ञानी पुरुषका सच्चा धर्म है। समय-समयपर अवतार ले कर भगवानभी यही काम किया करते है, और ज्ञानी पुरुषकोभी यही आदर्श मान, फलपर ध्यान न देते हुए, इस जगतका अपना कर्तव्य शुद्ध अर्थात् निष्काम बुद्धिसे सदैव यथाशक्ति करते रहना चाहिये। सारे गीताशास्त्रका साराश यही है, कि इस प्रकारके कर्तव्य-पालनमें यदि मृत्युभी आ जावे, तो बडे आनदसे उसे स्वीकार कर लेना चाहिये (गीता ३ ३५), अपने कर्तव्य अर्थात् धर्मको न छोडना चाहिये। इसेही लोकसग्रह अथवा कर्मयोग कहते है। न केवल वेदान्तही, वरन् उसके आधारपर साथ-ही-साथ कर्म-

अकर्मका ऊपर लिखा हुआ ज्ञानभी जब गीतामें बतलाया गया, तभी तो पहले युद्ध छोडकर भीख मांगनेकी तैयारी करनेवाला अर्जुन आगे चलकर स्वधर्मके अनुसार भयानक युद्ध करनेके लिये – सिर्फ इसीलिये नही, कि भगवान् कहते हैं, वरन् अपनी इच्छासे – प्रवृत्त हो गया। स्थितप्रज्ञकी साम्य-बुद्धिका यही तत्त्व, कि जिसका अर्जुनको उपदेश हुआ है, कर्मयोगशास्त्रका मूल आधार है। अत उसीको प्रमाण मान, उसके आधारसे हमने बतलाया है, कि पराकाष्ठाकी नीतिमत्ताकी उपपत्ति क्योकर लगती है। हमने इस प्रकरणमे कर्मयोगशास्त्रकी इन मोटी-मोटी वातोका सक्षिप्त निरूपण किया है, कि आत्मौपम्य-दृष्टिसे समाजमें परस्पर एक-दूसरेके साथ कैसा वर्ताव करना चाहिये, 'जैसेको तैसे 'वाले न्यायमे अथवा पात्रता-अपात्रताके कारण पराकाष्ठाके नीतिधर्ममें कौन-से भेद होते है, अथवा अपूर्णा-वस्थाके समाजमें वर्तनेवाले साधुपुरषकोभी अपवादात्मक नीतिधर्म कैसे स्वीकार करने पडते हैं। इन्ही युक्तियोका उपयोग न्याय, परोपकार, दान, दया, अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि नित्य धर्मोके विषयमें किया जा सकता है। आजकलकी अपूर्ण समाज-व्यवस्थामें यह दिखलानेके लिये, कि प्रसगके अनुसार इन नीति-धर्मोमें कहाँ और कौन-सा फर्क करना ठीक होगा, यदि इन धर्मोमेंसे प्रत्येकपर एक एक स्वतत्र ग्रथ लिखा जाय, तोभी यह विषय समाप्त न होगा, और यह भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्यभी नही है। इस ग्रथके दूसरेही प्रकरणमें हम इसका दिग्दर्शन कर चुके है, कि अहिंसा और सत्य, सत्य और आत्मरक्षा, आत्मरक्षा और शाति आदिमें परस्पर विरोध होकर विशेष प्रसगपर कर्तव्य-अकर्तव्यका सदेह कैसे उत्पन्न हो जाता है। यह निर्विवाद है, कि ऐसे अवसरपर साधुपुरुष "नीतिधर्म, लोकयात्रा-व्यवहार, स्वार्थ और सर्वभूतहित" आदि वातोका तारतम्य-विचार करके फिर कार्य-अकार्यका निर्णय किया करते हैं, और महाभारतमें श्येनने शिवि राजाको यह बात स्पष्टही बतला दी है। सिज्विक नामक अग्रेज ग्रथकारने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रथमें इसी अर्थका विस्तारसहित वर्णन अनेक उदाहरण लेकर किया है। किंतु कुछ पश्चिमी पडित इतनेहीसे यह जो अनुमान करते हैं, कि स्वार्थ और परार्थके सार-असारका विचार करनाही नीति-निर्णयका तत्त्व है, उसे हमारे शास्त्रकारोंने कभी मान्य नही किया है। क्योकि हमारे शास्त्रकारोका कथन हैं, कि यह सार-असारका विचार अनेक बार इतना सूक्ष्म और अनैकातिक अर्थात् अनेक अनुमान निष्पन्न कर देनेवाला होता है, कि यदि यह साम्य-बुद्धि – "जैसा मैं, वैसा दूसरा" – पहलेसेही मनमें सोलहो आने जमी हुई न हो, तो कोरे तार्किक सार-असारके विचारसे कर्तव्य-अकर्तव्यका सदैव अचूक निर्णय होना सभव नही है, और फिर ऐसी घटना हो जानेकीभी सभावना रहती है, जैसे कि "मोर नाचता है, इसलिये मोरनीभी नाचने लगती है?" अर्थात् "देखादेखी साधै जोग, छीजै काया, बाढै रोग" इस लोकोक्तिके अनुसार ढोग फैल सकेगा, और समाजकी हानि होगी। मिल प्रभृति उपयुक्ततावादी पश्चिमी नीति-

शास्त्रज्ञोके उपपादनमें यही तो मुख्य अपूर्णता है। गरुड झपटकर अपने पजेसे मेमनेको आकाशमें उठा ले गया, इसलिये उसकी देखादेखी यदि कौवाभी ऐसाही करने लगे, तो धोखा खाये विना न रहेगा। इसीलिये गीता कहती है, कि साधु-पुरुषोकी वाहरी युक्तियोपरही अवलवित मत रहो। अत करणमें सदैव जागृत रहनेवाली साम्य-बुद्धिकीही अतमें शरण लेनी चाहिये। क्योकि कर्मयोगशास्त्रकी सच्ची जड साम्य-वुद्धिही है। अर्वाचीन आधिभौतिक पडितोमेंसे कोई **स्वार्थको**, तो कोई **परार्थ** अर्थात् "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख"को नीतिका मूल तत्त्व वतलाते है। परतु हम चौथे प्रकरणमें यह दिखला चुके है, कि कर्मके केवल वाहरी परिणामोको उपयोगी होनेवाले इन तत्त्वोंसे सर्वत्र निर्वाह नही होता, इसका विचारभी अवश्य करना पडता है, कि कर्ताकी बुद्धि कहाँ तक शुद्ध है। कर्मके वाह्य परिणामोंके सार-असारका विचार करना चतुराईका और दूरदर्शिताका लक्षण है सही, परतु दूरदर्शिता और नीति, ये शब्द समानार्थक नही है। इसीसे हमारे शास्त्रकार कहते है, कि निरे वाह्य कर्मके सार असार विचारकी इस कोरी व्यापारी क्रियामें सद्वर्तावका सच्चा बीज नही है, किंतु साम्यवुद्धिरूप **परमार्थही** नीतिका मूल आधार है। मनुष्यकी अर्थात् जीवात्माकी पूर्णावस्थाका योग्य विचार करें, तोभी उक्त सिद्धान्तही करना पडता है। लोभसे एक-दूसरेको लूटनेमें वहुतेरे आदमी होशियार होते हैं परतु इस वातके जाननेयोग्य कोरे व्रह्मज्ञानकोही – कि यह होशियारी, अथवा अधिकाश लोगोंके अधिक सुख, काहेमें है – इस जगतमे प्रत्येक मनुष्यका परम साध्य कोईभी नही कहता। जिसका मन या अत करण शुद्ध है, वही पुरुष उत्तम कहलाने योग्य है। और तो क्या, यहभी कह सकते है, कि जिसका अत करण निर्मल, निर्वैर और शुद्ध नही है, वह यदि बाह्य कर्मोके हिसावी तारतम्यमें फँसकर तदनुसार वर्ते, तो उस पुरुषके ढोगी वन जानेकी सभावना है (गीता ३ ६)। परतु कर्मयोगशास्त्रम साम्य-वुद्धिको प्रमाण मान लेनेसे यह दोष नही रहता। साम्य-वुद्धिको प्रमाण मान लेनेसे कहना पडता है, कि कठिन समस्या आनेपर धर्म-अधर्मका निर्णय करानेके लिये ज्ञानी साधु-पुरुषोकीही शरणमें जाना चाहिये, कोई और उपाय नही। कोई भयकर रोग होनेपर जिस प्रकार विना वैद्यकी सहायताके उसका निदान और उसकी चिकित्सा नही हो सकती, उसी प्रकार धर्म-अधर्म-निर्णयके विकट प्रसगपर यदि कई सामान्य मनुष्य सत्पुरुषोकी मदत न ले, और यह अभिमान रखे, कि मै "अधिकाश लोगोंके अधिक सुख"वाले एकही साधनसे धर्म-अधर्मका अचूक निर्णय आपही कर लूँगा, तो उसका यह अभिमान व्यर्थ होगा। साम्य-वुद्धिको वढाते रहनेका अभ्यास प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये और इस क्रमसे ससारभरके मनुष्यकी वुद्धि जव पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँच जावेगी, तभी सत्ययुगकी प्राप्ति होगी, तथा मनुष्य-जातिका परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्णावस्था सवको प्राप्त हो जावेगी। कार्य-अकार्य-शास्त्रकी प्रवृत्तिभी इसी लिये हुई है, और इसी कारण उसकी इमारत-

कोभी साम्य-बुद्धिकीही नीवपर खडा करना चाहिये। परतु इतनी दूर न जाकर आगे पद्रहवे प्रकरणमें की गयी तुलनात्मक परीक्षासे स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि यदि नीतितत्त्वोका केवल लौकिक कसौटीकी दृष्टिसेही विचार करें, तोभी गीताका साम्य-बुद्धिवाला पक्षही पाश्चात्त्य आधिभौतिक या आधिदैवत पथकी अपेक्षा अधिक योग्यताका और मार्मिक सिद्ध होता है। परतु गीताके तात्पर्यके निरूपणका जो एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी शेप है, उसेही पहले पूराकर लेते है।

तेरहवाँ प्रकरण

भक्तिमार्ग

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ *

– गीता १८ ६६

अवतक अध्यात्म-दृष्टिसे इन वातोका विचार किया गया है, कि देहमें बनी सर्वभूतात्मैक्यरूपी निष्काम बुद्धिही कर्मयोगकी और मोक्षकीभी जड है। यह शुद्ध वुद्धि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे प्राप्त होती है, और इसी शुद्ध बुद्धिसे प्रत्येक मनुष्यको जन्मभर स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए अपने कर्तव्य-कर्मोका पालन करना चाहिये। परतु इतनेहीसे भगवद्गीताके प्रतिपाद्य विषयका विवेचन पूरा नही होता। यद्यपि इसमें सदेह नही कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानही केवल सत्य और अतिम साध्य है, तथा "उसके समान इस ससारमें दूसरी कोईभी वस्तु पवित्र नही है" (गीता ४ ३८), तथापि अवतक उसके विषयमें जो विचार किया गया, और उसकी सहायतासे साम्य-वुद्धि प्राप्त करनेका जो मार्ग बतलाया गया है, वह सव बुद्धिगम्य है। इसलिये सामान्य जनोकी शका है, कि उस विषयको पूरी तरहसे समझनेके लिये प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है, और यदि किसी मनुष्यकी बुद्धि तीव्र न हो, तो क्या उसको ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे हाथ धो बैठना चाहिये? सच कहा जाय, तो यह शकाभी कुछ अनुचित नही दीख पडती। यदि कोई कोकहे – "जब कि वडे वडे ज्ञानी पुरुषभी विनाशी नामरूपात्मक मायासे आच्छादित तुम्हारे उस अमृतस्वरूपी परब्रह्मका वर्णन करते समय 'नेति नेति' कह कर चुप हो जाते हैं, तव हमारे समान साधारण जनोकी समझमें वह कैसे आवे? इसलिये हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग बलताओ, जिससे तुम्हारा वह गहन ब्रह्मज्ञान हमारी अल्प ग्रहणशक्तिके समझमें आ जावे," – तो इसमें उसका क्या दोष है? गीता और कठोपनिषद्में (गीता २ २९, क २ ७) कहा है, कि आश्चर्यचकित होकर आत्मा (ब्रह्म)का वर्णन करनेवाले तथा सुननेवाले वहुत हैं, तोभी किसीको उसका ज्ञान नही होता। श्रुतिग्रथोमें इस विषयपर एक वोधदायक कथाभी है। उसमें यह वर्णन है, कि जब वाष्कलिने वाहवूसे कहा – "हे महाराज! मुझे कृपाकर वतलाइये, कि ब्रह्म किसे

---

* "सव प्रकारके धर्मोको याने परमेश्वरप्राप्तिके साधनोको छोड केवल मेरीही शरणमें आ। मैं तुझे सव पापोंसे मुक्त करूँगा, डर मत।" इस श्लोकके अर्थका विवेचन इस प्रकरणके अतमें किया है।

कहते है, " तव वाह्व् कुछभी नही वोले। वाष्कलिने फिर वही प्रश्न किया, तोभी वाह्व् चुपही रहे। जव ऐसाही चार-पाँच वार हुआ, तव अतमें वाह्वने वाष्कलिसे कहा – "अरे! मै तेरे प्रश्नोका उत्तर तभीसे दे रहा हूँ, परन्तु तेरी समझमें नही आया – मै क्या करूँ? ब्रह्मस्वरूप किसी प्रकार वतलाया नही जा सकता, इसलिये शात होना अर्थात् चुप रहनाही सच्चा ब्रह्मलक्षण है। समझा?" (वे सू शा भा ३ २ १७)। साराश, जिस दृश्य-सृष्टि-विलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिंत्य परब्रह्मका यह वर्णन है – कि वह मुँह वद कर वतलाया जा सकता है, आँखोंसे दिखाई न देनेपर उसे देख सकते है और समझमें न आनेपर वह ज्ञात होने लगता है (केन २ ११) – उसको साधारण वुद्धिके मनुष्य कैसे पहचान सकेंगे और उसके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त होकर उनको सद्गति कैसे मिलेगी? जव परमेश्वर-स्वरूपका अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा होवे, कि सव चराचर सृष्टिमें एक आत्मा प्रतीत होने लगे, तभी मनुष्यकी पुरी उन्नति होगी, और ऐसी उन्नति कर लेनेके लिये तीव्र वुद्धिके अतिरिक्त कोई दुसरा मार्गही न हो, तो ससारके लाखों-करोडो मनुष्योको ब्रह्मप्राप्तिकी आशा छोड चुपचाप वैठे रहना होगा। क्योकि वुद्धिमान् मनुष्योकी सख्या हमेशा कमही रहती है। यदि यह कहे कि वुद्धिमान् लोगोंके कथनपर विश्वास रखनेसे हमारा काम चल जायगा, तो उनमेंभी कई मतभेद दिखाई देते है, और यदि यह कहे, कि विश्वास रखनेसे काम चल जाता है, तो यह वात आप-ही-आप सिद्ध हो जाती है, कि इस गहन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये "विश्वास अथवा श्रद्धा रखना" भी, वुद्धिके अतिरिक्त दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो यही दीख पडेगा, कि ज्ञानकी पूर्ति अथवा फलद्रूपता श्रद्धाके विना नही होती। यह कहना, कि सव ज्ञान केवल वुद्धिहीसे प्राप्त होता है, उसके लिये किसी अन्य मनोवृत्तिकी सहायता आवश्यक नही, उन पडितोका वृथाभिमान है, जिनकी वुद्धि केवल तर्कप्रधान शास्त्रोका जन्म भर अध्ययन करनेसे कर्कश हो गई है। उदाहरणके लिये यह सिद्धान्त लीजिये, कि कल सवेरे फिर सूर्योदय होगा। हम लोग इस सिद्धान्तके ज्ञानको अत्यत निश्चित मानते है। क्यो? उत्तर यही है, कि हमने और हमारे पूर्वजोंने इस क्रमको हमेशा अखडित देखा है। परन्तु कुछ अधिक विचार करनेसे मालूम होगा, कि "हमने अथवा हमारे पूर्वजोंने जवतक प्रतिदिन सवेरे सूर्यको निकलते देखा है", इसीसे यह वात कल सवेरे सूर्योदय होनेका कारण नही हो सकती, अथवा प्रतिदिन हमारे देखनेके लिये या हमारे देखनेसेही कुछ सूर्योदय नही होता, यथार्थमें सूर्योदय होनेके कुछ औरही कारण है। अच्छा, अव यदि "हमारा सूर्यको प्रतिदिन देखना" कल सूर्योदय होनेका कारण नही है, तो इसके लिये क्या प्रमाण है, कि कल सूर्योदय होगा? दीर्घ कालतक किसी वस्तुका क्रम एक सा अवाधित दीख पडनेपर, यह मान लेनाभी एक प्रकार विश्वास या श्रद्धाही तो है न, कि वह क्रम आगेभी वैसाही नित्य चलता रहेगा? यद्यपि हम उसको एक वहुत वडा प्रतिष्ठित नाम – 'अनुमान'

दे दिया करते है, तोभी यह ध्यानमे रखना चाहिये, कि वह अनुमान वुद्धिगम्य कार्यकारणात्मक नही है, किंतु उसका मूल-स्वरूप श्रद्धात्मकही है। मन्नूको शक्कर मीठी लगती है, इसलिये छन्नूकोभी वह मीठी लगेगी – यह जो निश्चय हम लोग किया करते है, वहभी वस्तुत इसी नमूनेका है। क्योकि जव कोई कहता है, कि मुझे शक्कर मीठी लगती है, तव इस ज्ञानका अनुभव उसकी वुद्धिको प्रत्यक्ष रूपसे होता है सही, परतु इससेभी आगे बढकर जव हम यह सकते है, कि शक्कर सव मनुष्योको मीठी लगती है, तव वुद्धिको श्रद्धाकी सहायता दिये विना काम नही चल सकता। रेखागणित या भूमितिशास्त्रका सिद्धान्त है, कि ऐसी दो रेखाएँ हो सकती है, जो चाहे जितनी बढाई जावे, तोभी आपसमें नही मिल्ती। कहना नही होगा, कि इस तत्त्वको अपने ध्यानमें लानेके लिये हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभवकेभी परे केवल श्रद्धाहीकी सहायतासे चलना पडता है। इसके सिवा यहभी ध्यानमें रखना चाहिये, कि ससारके सव व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्तियोसेही चलते है, इन वृत्तियोको रोकनेके सिवा वुद्धि दूसरा कोई कार्य नही करती। और जव बुद्धि किसी वातकी भलाई या वुराईका निश्चय कर लेती है, तव आगे उस निश्चयको अमलमें लानेका काम मनके द्वारा अर्थात् मनोवृत्तिके द्वाराही हुआ करता है। इस बातकी चर्चा पहले ' क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचारमें ' हो चुकी है। साराश यह है, कि वुद्धिगम्य ज्ञानकी पूर्ति होनेके लिये और आगे बुद्धिसे नीचे उतरकर आचरण तथा कृतिमें उसकी फलद्रूपता होनेके लियेही इस ज्ञानको हमेशा, श्रद्धा, दया, वात्सल्य, कर्तव्य-प्रेम इत्यादि अन्य नैसर्गिक मनोवृत्तियोकी आवश्यकता होती है, और जो ज्ञान इन मनोवृत्तियोको शुद्ध तथा जागृत नही करता, और जिस ज्ञानको उनकी सहायता अपेक्षित नही होती, उसे सूखा, कर्कश, अधूरा, वाँझ या कच्चा ज्ञान समझना चाहिये। जैसे विना वारुदके केवल गोलीसे वदूक नही चलती, वैसेही प्रेम, श्रद्धा आदि मनोवृत्तियोकी सहायताके विना केवल वुद्धिगम्य ज्ञान किसीको तार नही सकता, यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ऋषियोको भली भाँति मालूम था। उदाहरणके लिये छादोग्योपनिषद्मे वर्णित यह कथा लीजिये (छा ६ १२) – एक दिन श्वेतकेतुके पिताने यह सिद्धकर दिखानेके, लिये कि अव्यक्त और सूक्ष्म परब्रह्मही सव दृश्य जगतका मूल-कारण है, श्वेतकेतुसे कहा, कि वरगदका एक फल ले आओ, और देखो, कि उसके भीतर क्या है। श्वेतकेतुने वैसाही किया, उस फलको तोडकर देखा और कहा – " इसके भीतर छोटे छोटे वहुतसे बीज या दाने है।" उसके पिताने फिर कहा, कि " उन वीजोमेंसे एक वीज ले लो, उसे तोडकर देखो और वतलाओ, कि उसके भीतर क्या है ?" श्वेतकेतुने एक वीज ले लिया, उसे तोडकर देखा और कहा कि "इसके भीतर तो कुछ नही है।" तव पिताने कहा, "अरे! यह जो तुम ' कुछ नही ' कहते हो, उसीसे यह वरगदका वहुत वडा वृक्ष हुआ है," और अतमें यह उपदेश दिया, कि 'श्रद्धस्व' इसका विश्वास कर अर्थात् इस कल्पनाको केवल वुद्धिमें रख। मुंहसेही 'हाँ' मत कहा, किंतु उसकेभी आगे चल याने इस

तत्वको अपने हृदयमें अच्छी तरह जमने दे, और आचरण या कृतिमें दिखाई देने दे। साराश, यदि यह निश्चयात्मक ज्ञान होनेके लियेभी अतमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, कि सूर्यका उदय कल सवेरे होगा, तो यहभी निर्विवाद सिद्ध है, कि इस वातको पूर्णतया जान लेनेके लिये – कि सारी सृष्टिका मूल तत्त्व अनादि, अनत, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतत्र और चैतन्यरूप है – पहले हम लोगोको यथाशक्ति, बुद्धिरूपी वटोहीका अवलवन करना चाहिये, परतु उसके अनुरोधमे आगे कुछ दूर तो अवश्यही श्रद्धा तथा प्रेमकी पगडडीसेही जाना चाहिये, देखिये, मै जिसे माँ कहकर ईश्वरके समान वद्य और पूज्य मानता हूँ, उसेही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते है, या नैयायिकोंके शास्त्रीय शव्दाडवरके अनुसार "गर्भधारण-प्रसवादिस्त्रीत्वसामान्यावच्छेदकावच्छिन्नव्यक्तिविशेष समझते हैं।" इस एक छोटेसे व्यावहारिक उदाहरणसे यह वात किसीकेभी ध्यानमें सहज आ सकती है, कि जव केवल तर्कशास्त्रके सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान, श्रद्धा और प्रेमके साँचेमें ढाला जाता है, तव उसमें कैसा अंतर हो जाता है। इसी कारणसे गीतामें (गीता ६ ४७) कहा है, कि कर्मयोगियोमेंभी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है, और ऐसाही सिद्धान्त जैसे पहले कह चुकेभी है – अध्यात्मशास्त्रमें कहा गया है, कि इद्रियातीत होनेके कारण जिन पदार्थोका चितन करते नही वनता, उनके स्वरूपका निर्णय केवल तर्कसे नही करना चाहिये – "अचिन्त्या खलु ये भावा न तान्स्तर्कण चितयेत्।"

यदि यही एक अडचन हो, कि साधारण मनुष्योके लिये निर्गुण परब्रह्मका ज्ञान होना कठिन है, तो बुद्धिमान पुरुषोमें मतभेद होनेपरभी श्रद्धा या विश्वाससे उसका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है, कि इन पुरुषोमें जो अधिक विश्वसनीय होगे, उन्हीके वचनोपर विश्वास रखनेसे हमारा काम वन जावेगा (गीता १३ २५)। तर्कशास्त्रमें इस उपायको 'आप्तवचनप्रमाण' कहते है। 'आप्त'का अर्थ विश्वसनीय पुरुष है। जगतके व्यवहारपर दृष्टि डालनेसे यही दिखाई देगा कि, हजारो लोग आप्त-वाक्यपर विश्वास रखकरही अपना व्यवहार चलाते हैं। दो पचे दसके वदले सात क्यो नही होते ? अथवा एकपर एक लिखनेसे दो नही होते, ग्यारह क्यो होते हैं, इस विषयकी उपपत्ति या कारण वतलानेवाले पुरुष वहुतही कम मिलते हैं। तोभी इन सिद्धान्तोको सत्य मानकरही जगतका व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग वहुत कम मिलेगे, जिन्हे इस वातका प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि हिमालयकी ऊँचाई पाँच मील है या दस मील। परतु जव कोई यह प्रश्न पूछता है, कि हिमालयकी ऊँचाई कितनी है, तव भूगोलकी पुस्तकमें पढी हुई, 'तेईस हजार फीट' सख्या हम तुरतही वतला देते हैं। फिर यदि इसी प्रकार कोई पूछे, कि 'ब्रह्म कैसा है' तो यह उत्तर देनेमें क्या हानि है, कि वह 'निर्गुण' है। वह सचमुचही निर्गुण है या नही, इस वातकी पूरी जाँचकर उसके साधक-वाधक प्रमाणोकी मीमासा करनेके लिये सामान्य लोगोमें वुद्धिकी तीव्रता भलेही न हो, परतु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनोधर्म नहीं है,

जो केवल महाबुद्धिमान् पुरुषोमेंही पाया जाय । अज्ञ जनोमेंभी श्रद्धाकी कुछ न्यूनता नही होती । और जब कि श्रद्धासेही वे लोग अपने सैकडो सासारिक व्यवहार सदैव किया करते है, तो उसी श्रद्धासे यदि वे ब्रह्मको निर्गुण मान लेवे, तो कोई प्रत्यवाय नही दीख पडता । मोक्ष-धर्मका इतिहास पढनेसेभी मालूम होगा, कि जब ज्ञाता पुरुषोंने ब्रह्मस्वरूपकी मीमासाकर उसे निर्गुण बतलाया, उसके पहलेही मनुष्यने केवल अपनी श्रद्धासे यह जान लिया था, कि सृष्टिकी जडमेंभी सृष्टिके नाशवान् और अनित्य पदार्थोंसे भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्त्व है, जो अनाद्यन्त, अमृत, स्वतत्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है, और मनुष्य उसी समयसे उस तत्त्वकी उपासना किसी-न-किसी रूपमें करता चला आया है । यह सच है, कि वह उस समय इस ज्ञानकी उपपत्ति बतला नही सकता था, परतु आधिभौतिकशास्त्रमें यही क्रम दीख पडता है, कि पहले अनुभव होता है, और पश्चात् उसकी उपपत्ति बतलाई जाती है । उदाहरणार्थ, भास्कराचार्यको पृथ्वीके अथवा अतमें न्यूटनको सारे विश्वके, गुरुत्वाकर्षणकी कल्पना सूझनेके पहलेभी यह बात अनादि कालसे सब लोगोको मालूम थी, कि पेडसे गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वीपर गिर पडता है । अध्यात्मशास्त्रकोभी यही नियम उपयुक्त है । श्रद्धासे प्राप्त हुए ज्ञानकी जाँच करना और उसकी उपपत्तिकी खोज करना बुद्धिका काम है सही, परतु सब प्रकार योग्य उपपत्तिके न मिलनेसेही यह नही कहा जा सकता, कि श्रद्धासे प्राप्त होनेवाला ज्ञान केवल भ्रम है ।

यदि सिर्फ इतनाही जान लेनेसे हमारा काम चल जाय, कि ब्रह्म निर्गुण है, तो इसमें सदेह नही, कि वह काम उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रद्धासे चला जा सकता है (गीता १३ २५)। परतु नवे प्रकरणके अतमें कह चुके है, कि ब्राह्मी स्थिति या सिद्धावस्थाकी प्राप्ति कर लेनाही इस ससारमें मनुष्यका परम साध्य या अतिम ध्येय है, और उसके लिये केवल यह कोरा ज्ञान कि ब्रह्म निर्गुण है, किसी कामका नही । दीर्घ समयके अभ्यास और नित्यकी आदतसे इस ज्ञानका प्रवेश हृदयमें तथा देहेद्रियोमें अच्छी तरह हो जाना चाहिये, और आचरणके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-बुद्धिही हमारा देह, स्वभाव हो जाना चाहिये और ऐसा होनेके लिये परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक चितन करके मनको तदाकार करनाही एक सुलभ उपाय है । यह मार्ग अथवा साधन हमारे देशमें बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है, और इसीको उपासना या भक्ति कहते है । भक्तिका लक्षण शाडिल्यसूत्रमें (शा सू २) इस प्रकार है, कि " सा (भक्ति) परानुरक्तिरीश्वरे "– ईश्वरके प्रति 'पर' अर्थात् निरतिशय जो प्रेम है, उसे भक्ति कहते है । 'पर' शब्दका अर्थ केवल निरतिशयही नही है , किंतु भागवतपुराणमें कहा है, कि वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और निरतर हो – " अहेतुक्य व्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे " (भाग ३ २९ १२) । कारण यह है, कि जब भक्ति इस हेतुसे की जाती है, कि हे ईश्वर ! मुझे कुछ दे, तब वैदिक यज्ञयागादिक काम्य-कर्मोंके समान उसेभी कुछ-न-कुछ व्यापारका स्वरूप प्राप्त हो जाता है । ऐसी

कही गई है, वहाँ वहाँ उपास्य ब्रह्मके अव्यक्त होनेपरभी सगुण-रूपसेही उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, शाडिल्यविद्यामें जिस ब्रह्मकी उपासना कही गई है, वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है, तथापि छादोग्योपनिषदमें (छा ३ १४) कहा है, कि वह प्राणशरीर, सत्यसकल्प, सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्म, अर्थात् मनको गोचर होनेवाले सब गुणोंसे युक्त हो। स्मरण रहे, कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है, तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परतु मनुष्यके मनकी स्वाभाविक रचनाही ऐसी है, कि सगुण वस्तुओंमेंसेभी जो वस्तु अव्यक्त होती है, अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप, गध आदि नही, और इसलिये जो नेत्रादि इद्रियोको अगोचर है, उससे प्रेम करना या हमेशा उसका चिंतनकर मनको उसीमें स्थिर करके वृत्तिको तदाकार करना, मनुष्यके लिये बहुत कठिन और दु साध्यभी है। क्योकि, मन स्वभावसेही चचल है, इसलिये जबतक मनके सामने आधारके लिये कोई इद्रियगोचर स्थिर वस्तु न हो, तबतक मन बारबार भूल जाया करता है, स्थिर कहाँ होना है। चित्तकी स्थिरताका यह मानसिक कार्य बडे बडे ज्ञानी पुरुषोकोभी दुष्कर होता है, तो फिर साधारण मनुष्योके लिये कहनाही क्या? अतएव रेखा-गणितके सिद्धान्तोकी शिक्षा देते समय जिस प्रकार ऐसी रेखाकी कल्पना करनेके लिये – कि जो अनादि, अनत और बिना चौडाईकी (अव्यक्त) है, किंतु जिसमें लबाईका गुण होनेसे सगुण है – उस रेखाका एक छोटा-सा नमूना स्लेट या तख्ते-पर व्यक्त करके दिखलाना पडता है, उसी प्रकार ऐसे परमेश्वरसे प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्तिको लीन करनेके लिये, कि जो सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ अतएव सगुण है, परतु निराकार अर्थात् अव्यक्त है, मनके सामने कुछ-न-कुछ अर्थात् 'प्रत्यक्ष' नामरूपात्मक किसी व्यक्त वस्तुके रहे-बिना कमसे-कम साधारण मनुष्योका काम चल नही सकता।* यही क्यो, पहले किसी व्यक्त पदार्थको देखे बिना कमसे-कम मनुष्यके मनमें अव्यक्तकी कल्पनाही जागृत हो नही सकती। उदाहरणार्थ, जब हम लाल, हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रगोको पहले आँखोसे देख लेते हैं, तभी 'रग'की सामान्य और अव्यक्त कल्पना हमारे मनमें जागृत होती है, अन्यथा होही नही सकती। अब चाहे इसे कोई मनुष्यके मनका स्वभ व कहे या दोष, कुछभी कहा

---

* इस विषयपर एक श्लोक है, जो योगवासिष्ठका कहा जाता है –

> अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रह.।
> शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम् ॥

"अक्षरोका परिचय करानेके लिये लडकोंके सामने जिस प्रकार छोटे छोटे ककड रखकर अक्षरोका आकार दिखलाना पडता है, उसी प्रकार (नित्य) शुद्ध-बुद्ध परब्रह्मका ज्ञान होनेके लिये लकडी, मिट्टी या पत्थरकी मूर्तिका उपयोग किया जाता है।" परतु यह श्लोक बृहद्योगवासिष्ठमें नही मिलता।

दाग, पर जबतक देहधारी मनुष्य अपने मनके इस स्वभावको अलग नही कर सकता, तबतक उपासनाके लिये याने भक्तिके लिये निर्गुणसे सगुणमें — और उसमेंभी अव्यक्त सगुणकी अपेक्षा व्यक्त सगुणहीमें — आना पडता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण है, कि व्यक्त-उपासनाका मार्ग अनादि कालसे प्रचलित है, रामतापनीय आदि उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष मनुष्य-रूपधारी व्यक्त ब्रह्म-स्वरूपकी उपसनाका वर्णन है; और भगवद्गीतामेंभी यह कहा गया है, कि —

क्लेशोऽधिकतरस्तेषा अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते ॥

"अव्यक्तमें चित्तकी (मनकी) एकाग्रता करनेवालेको वहुत कष्ट होते है, क्योंकि इस अव्यक्त गतिको पाना देहेंद्रियधारी मनुष्यके लिये स्वभावत कष्टदायक है" (गीता १२ ५)। इस 'प्रत्यक्ष' मार्गहीको 'भक्ति-मार्ग' कहते हैं। इसमें कुछ सदेह नही, कि कोई वुद्धिमान् पुरुप अपनी वुद्धिसे परब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कर उसके अव्यक्त स्वरूपमें केवल अपने विचारोंके वलसे अपने मनको स्थिरकर सकता है। परतु इस रीतिसे अव्यक्तमें 'मन'को आसक्त करनेका कामभी तो अतमें श्रद्धा और प्रेमसेही सिद्ध करना होता है, इसलिये इस मार्गमेंभी श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता छूट नही सकती। सच पूछो तो तात्त्विक दृष्टिसे सच्चिदानद ब्रह्मोपासनाका समावेशभी प्रेममूलक भक्ति-मार्गमेंही किया जाना चाहिये। परतु इस मार्गमें ध्यान करनेके लिये जिस ब्रह्मस्वरूपका स्वीकार किया जाता है, वह पहलेसे अव्यक्त और केवल वुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है, और उसीको प्रधानता दी जाती है, इसलिये इस क्रियाको भक्ति-मार्ग न कहकर अध्यात्म-विचार, अव्यक्तोपासना या केवल उपासना, अथवा **ज्ञान-मार्ग** कहते हैं, और उपास्य ब्रह्मके सगुणही रहनेपरभी जव उसका अव्यक्तके वदले व्यक्त — और विशेपत मनुष्यदेहधारी — रूप स्वीकृत किया जाता है, तव वही **भक्ति-मार्ग** कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं, तथापि उन दोनोंसे एकही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, और अतमें एकही-सी साम्यवुद्धि मनमे उत्पन्न होती है, इसलिये स्पष्ट दीख पडेगा, कि जिस प्रकारकिसी छतपर जानेके लिये दो जीने होते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्योकी योग्यताके अनुसार ये दो (ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग) अनादि-सिद्ध भिन्न भिन्न मार्ग हैं, इन मार्गोंकी भिन्नतासे अतिम साध्य अथवा ध्येयमें कुछ भिन्नता नही होती। इसमेंसे एक जीनेकी पहली सीढी वुद्धि है, तो दूसरे जीनेकी पहली सीढी श्रद्धा और

और किसीभी मार्गसे जाओ, अतमें एकही परमेश्वरका एकही प्रकारका

, एव एकही-सी मुक्तिभी प्राप्त होती है। इस लिये दोनो मार्गोंमें यही

-सा स्थिर रहता है, कि "अनुभवात्मक ज्ञानके विना मोक्ष नही

यह व्यर्थ बखेडा करनेसे क्या लाभ है, कि ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ है या

भक्ति-मार्ग श्रेष्ठ है ? यद्यपि ये दोनो साधन प्रथमावस्थामें अधिकार या योग्यताके अनुसार भिन्न हो, तथापि अतमें अर्थात् परिणामरूपमें दोनोकी योग्यता समान है, और गीतामें इन दोनोको एकही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (गीता ११ १)। अब यद्यपि साधनकी दृष्टिसे ज्ञान और भक्तिकी योग्यता एकही समान है, तथापि इन दोनोमें यह महत्त्वका भेद है, कि भक्ति कदापि निष्ठा नही हो सकती, किंतु ज्ञानको निष्ठा याने सिद्धावस्थाकी अतिम स्थिति कह सकते है। इसमें सदेह नही कि, अध्यात्म-विचारसे या अव्यक्तोपासनासे परमेश्वरका जो ज्ञान होता है, वही भक्ति-सेभी हो सकता है (गीता १८ ५५), परतु इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर आगे यदि कोई मनुष्य सासारिक कार्योंको छोड दे, और ज्ञानहीमें सदा निमग्न रहने लगे, तो गीताके अनुसार वह 'ज्ञाननिष्ठ' कहलावेगा, 'भक्तिनिष्ठ' नही। इसका कारण यह है, कि जबतक भक्तिकी क्रिया जारी रहती है, तबतक उपास्य और उपासकरूपी द्वैतभावभी बना रहता है, और अतिम ब्रह्मात्मैक्य स्थितिमें तो भक्तिकी कौन कहे, अन्य किसीभी प्रकारकी उपासना शेष नही रह सकती। भक्तिका पर्यवसान या फल ज्ञान है। भक्ति ज्ञानका साधन है – वह अतिम साध्य नही है। साराश अव्यक्तोपासनाकी दृष्टिसे ज्ञान एक बार साधन हो सकता है, और दूसरी बार ब्रह्मात्मैक्यके अपरोक्षानुभवकी दृष्टिसे उसी ज्ञानको निष्ठा याने (सिद्धावस्थाकी) अतिम स्थिति कह सकते हैं। जब इस भेदको प्रकट रूपसे दिखलानेकी आवश्यकता, होती है, तब 'ज्ञान-मार्ग' और 'ज्ञाननिष्ठा' इन दोनो शब्दोका उपयोग समान अर्थमें नही किया जाता, किंतु अव्यक्तोपासनाकी साधनावस्थावाली स्थिति दिखलानेके लिये [illegible]ान-मार्ग' शब्दका उपयोग किया जाता है, और ज्ञान-प्राप्तिके अनतर सब कर्मोंको छोड ज्ञानहीमें निमग्न हो जानेकी जो सिद्धावस्थाकी स्थिति है, उसके लिये 'ज्ञाननिष्ठ' शब्दका उपयोग किया जाता है। अर्थात् अव्यक्तोपासना या अध्यात्म-विचारके अर्थमें ज्ञानको एक बार साधन (ज्ञान-मार्ग) कह सकते हैं और दूसरी बार अपरोक्षानुभवके अर्थमें उसी ज्ञानको निष्ठा याने कर्मत्यागरूपी अतिम अवस्था कह सकते है। यही बात कर्मके विषयमेंभी कही जा सकती है। शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार जो कर्म पहले चित्तकी शुद्धिके लिये किया जाता है, वह साधन कहलाता है। इस कर्मसे चित्तका शुद्धि होती है, और अतमें ज्ञान तथा शातिकी प्राप्ति होती है। परतु यदि कोई मनुष्य आगे इस ज्ञानमेंही निमग्न न रहकर शातिपूर्वक मृत्यु-पर्यंत निष्काम कर्म करता चला जावे, तो ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मकी दृष्टिसे उसके इस कर्मको निष्ठा कह सकते हैं (गीता ३ ३)। यह बात भक्तिके विषयमे नही कह सकते, क्योकि भक्ति सिर्फ एक मार्ग या उपाय अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिका साधन है, वह निष्ठा नही है। इसलिये गीताके आरभमें ज्ञान (साख्य) और योग (कर्म) येही दो निष्ठाएँ कही गई है, उनमेंसे कर्म योग-निष्ठाकी सिद्धिके उपाय, साधन, विधि या मार्गका विचार करते समय (गीता ७ १), अव्यक्तोपासना (ज्ञान-मार्ग)

और व्यक्तोपासनाका (भक्ति-मार्ग)– अर्थात् जो दो साधन प्राचीन समयसे एक साथ चले आ रहे हैं उनका – वर्णन करके, गीतामें सिर्फ इतनाही कहा है, कि " इन दोनोमेंसे अव्यक्तोपासना बहुत क्लेशमय है, और व्यक्तोपासना या भक्ति अधिक सुलभ है याने इस साधनका स्वीकार सब साधारण लोग कर सकते हैं "। प्राचीन उपनिषदोमें ज्ञान-मार्गहीका विचार किया गया है, और शांडिल्य आदि सूत्रोंमें तथा भागवत आदि ग्रथोमें भक्ति-मार्गहीकी महिमा गाई गई है। परतु साधन-दृष्टिसे ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गमें योग्यतानुसार भेद दिखलाकर, अतमें निष्काम कर्मके साथ दोनोका मेल जैसा गीताने सम-बुद्धिसे किया है, वैसा अन्य किसीभी प्राचीन धर्मग्रथने नही किया है।

ईश्वरके स्वरूपका यह यथार्थ और अनुभवात्मक ज्ञान होनेके लिये, कि " सब प्राणियोमें एकही परमेश्वर है, " देहेंद्रियधारी मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस प्रश्नका विचार उपर्युक्त रीतिसे करनेपर जान पडेगा, कि यद्यपि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप अनादि, अनत, अनिर्वाच्य, अचित्य और ' नेति नेति ' है, तथापि वह **निर्गुण, अज्ञेय और अव्यक्तभी** है, और जब उसका अनुभव होता है, तब उपास्य-उपासकरूपी द्वैतभाव शेष नही रहता, इसलिये उपासनाका आरभ वहांसे नही हो सकता। वह तो केवल अतिम साध्य है, साधन नही, और तद्रूप होनेकी अद्वैत स्थितिकी प्राप्तिके लिये उपासना केवल एक साधन या उपाय है। अतएव उस उपासनामें जिस वस्तुको स्वीकार करना पडता है, उसका सगुण होना अत्यत आवश्यक है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और निराकार ब्रह्मस्वरूप वैसा अर्थात् **सगुण** है। परतु वह केवल **बुद्धिगम्य** और **अव्यक्त** अर्थात् इद्रियोको अगोचर होनेके कारण उपासनाके लिये अत्यत क्लेशमय है। अतएव प्रत्येक धर्ममें यही दीख पडता है, कि इन दोनो परमेश्वर-स्वरूपोकी अपेक्षा जो परमेश्वर अचित्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् जगदात्मा होकरभी हमारे समान हमसे बोलेगा, हमपर प्रेम करेगा, हमको सन्मार्ग दिखावेगा और हमें सद्गति देगा, जिसे हम लोग 'अपना' कह सकेंगे, जिसे हमारे सुखदु खोंके साथ सहानुभति होगी अथवा जो हमारे अपराधोको क्षमा करेगा, जिसके साथ हम लोगोका यह प्रत्यक्ष सबध उत्पन्न हो, कि " हे परमेश्वर ! मैं तेरा हूं और तू मेरा है, " जो पिताके समान मेरी रक्षा करेगा और माताके समान प्यार करेगा, अथवा जो " गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवास शरण सुहृत् " (गीता ९ १७, १८) है – अर्थात् जिसके विषयमें मैं यह कह सकूंगा, कि " तू मेरी गति है, तू पोषणकर्ता है, तू मेरा स्वामी है, तू मेरा साक्षी है, तू मेरा विश्रामस्थान है, तू मेरा अतिम आधार है, तू मेरा सखा है," और ऐसा कहकर बच्चोकी नाई प्रेमपूर्वक तथा लाडसे जिसके स्वरूपका आकलन मैं कर सकूंगा – ऐसे सत्यसकल्प, सकलैश्वर्यसपन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परम पवित्र, परम उदार, ..., परमपूज्य, सर्वसुदर, सकलगुणनिधान अथवा सक्षेपमें कहे तो ऐसे

कारण सगुण, प्रेमगम्य और व्यक्त याने प्रत्यक्ष-रूपधारी सुलभ परमेश्वरहीके स्वरूपका सहारा मनुष्य 'भक्तिके लिये' स्वभावत लिया करता है। जो परब्रह्म मूलमें अचिंत्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है, उसके उक्त प्रकारके अंतिम दो स्वरूपोंको – अर्थात् प्रेम, श्रद्धा आदि मनोमय नेत्रोंसे मनुष्यको गोचर होनेवाले स्वरूपोंकोही – वेदान्तशास्त्रकी परिभाषामें 'ईश्वर' कहते है। परमेश्वर सर्वव्यापी होकरभी 'विठ्ठल' मर्यादित क्यो हो गया? इसका उत्तर प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु तुकारामने एक पद्यमें (तु गा ३८ ७) दिया है, जिसका आशय यह है –

रहता है सर्वत्रही व्यापक एक समान।
पर निज भक्तों के लिये छोटा है भगवान्॥

यही सिद्धान्त वेदान्त-सूत्रमेंभी दिया गया है (वे सू १ २ ७)। उपनिषदोंमेंभी जहाँ जहाँ ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन है, वहाँ वहाँ प्राण, मन इत्यादि सगुणपर केवल अव्यक्त वस्तुओंहीका निर्देश न कर, उनके साथ साथ सूर्य (आदित्य), अन्न इत्यादि सगुण व्यक्त पदार्थोंकी उपासनाभी कही गई है (तै ३ २–६, छा ७)। श्वेताश्वतरोपनिषदमें तो 'ईश्वर'का लक्षण इस प्रकार बतला कर, कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे ४ १०) – प्रकृतिहीको माया और इस मायाके अधिपतिको महेश्वर जानो; आगे गीताहीके समान (गीता १० ३) सगुण ईश्वरकी महिमाका इस प्रकार वर्णन किया है, कि "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै" – इस देवको जान लेनेसे मनुष्य सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है (श्वे ४ १६)। इस उपास्य परब्रह्मके चिन्ह, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधिके तौरपर उपासनाके लिये आवश्यक नाम-रूपात्मक वस्तुकोही वेदान्तशास्त्रमें 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) शब्दका धात्वर्थ, (प्रति) अपनी ओर झुका है। जब किसी वस्तुका कोई एक भाग पहले गोचर हो, और फिर उससे आगे उस वस्तुका ज्ञान हो, तब उस भागको प्रतीक कहते हैं। इस नियमके अनुसार, सर्वव्यापी परमेश्वरका ज्ञान होनेके लिये उसका कोईभी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारतमें ब्राह्मण और व्याधका जो संवाद है, उसमें व्याधने ब्राह्मणको पहले बहुत-सा अध्यात्मज्ञान बतलाया। फिर अंतमें "हे द्विजवर! मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है उसे अब देखो" – "प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम" (मभा वन २१३ ३) ऐसा कहकर उस ब्राह्मणको वह व्याध अपने वृद्ध माता-पिताके समीप ले गया और कहने लगा – यही मेरे 'प्रत्यक्ष' देवता हैं; और मनोभावसे ईश्वरके समान इन्हींकी सेवा करना मेरा 'प्रत्यक्ष' धर्म है। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने व्यक्त स्वरूपकी उपासना बतलानेके पहले गीतामें कहा है, कि भक्तिका यह मार्ग –

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

"सब विद्याओमें और गुह्योमें श्रेष्ठ (राजविद्या और राजगुह्य) है, यह उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष दीख पडनेवाला, धर्मानुकूल, सुखसे आचरण करने योग्य और अक्षय है" (गीता ९ २)। इस श्लोकमें राजविद्या और राजगुह्य दोनो सामासिक शब्द हैं, इनका विग्रह इस प्रकार है – 'विद्याना राजा' और 'गुह्याना राजा' (विद्याओका राजा और गुह्योका राजा)। और जब समास होता है, तब संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार 'राज' शब्द उसमे पहले आता है। परतु इनके बदले कुछ लोग 'राज्ञा विद्या' (राजाओकी विद्या) ऐसा विग्रह करते हैं, और कहते हैं, कि योगवासिष्ठमे (यो २ ११ १६–१८) जो वर्णन है, उसके अनुसार जब प्राचीन समयमें ऋषियोंने राजाओको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया, तबसे ब्रह्मविद्या या अध्यात्मज्ञानहीको राजविद्या और राजगुह्य कहने लगे हैं। इसलिये गीतामेंभी इन शब्दोका वही अर्थ याने अध्यात्मज्ञान – भक्ति नही – लिया जाना चाहिये। गीता-प्रतिपादित मार्गभी मनु, इक्ष्वाकु प्रभृति राजपरपराहीसे प्रवृत्त हुआ है (गीता ४ १), इसलिये नही कहा जा सकता, कि गीतामें 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' शब्द 'राजाओकी विद्या' और 'राजाओका गुह्य' – याने राजमान्य विद्या और गुह्य – के अर्थमे प्रयुक्त न हुए हो। परतु इन अर्थोको मान लेनेपरभी यह ध्यान देने योग्य बात है, कि इस स्थानमें ये शब्द ज्ञान-मार्गके लिये प्रयुक्त नही हुए हैं। कारण यह है, कि गीताके जिस अध्यायमें यह श्लोक आया है, उसमें भक्ति-मार्गकाही विशेष प्रतिपादन किया गया है (गीता ९ २२–३१), और यद्यपि साध्य ब्रह्म एकही है, तथापि गीतामेंही अध्यात्मविद्याका साधनात्मक ज्ञान-मार्ग केवल 'बुद्धिगम्य' अतएव 'अव्यक्त' और 'दु खकारक' कहा गया है (गीता १२ ५)। ऐसी अवस्थामें यह असभव जान पडता है, कि भगवान् अब उसके विरुद्ध उसी ज्ञान-मार्गको 'प्रत्यक्षावगम्' याने व्यक्त और 'कर्तु सुसुखम्' याने आचरण करनेमें सुखकारक कहेंगे। अतएव प्रकरणकी साम्यताके कारण और केवल भक्ति-मार्गहीके लिये सर्वथा उपयुक्त होनेवाले 'प्रत्यक्षावगम्' तथा 'कर्तुं सुसुखम्' पदोकी स्वारस्य-सत्ताके कारण, अर्थात् इन दोनो कारणोसे, यही सिद्ध होता है, कि इस श्लोकमें 'राजविद्या' शब्दसे भक्ति-मार्गही विवक्षित है। 'विद्या' शब्द केवल ब्रह्म-ज्ञानसूचक नही है, किंतु परब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर लेनेके जो साधन या मार्ग हैं उन्हेंभी उपनिषदोमें 'विद्या'ही कहा है। उदाहरणार्थ, शाण्डिल्यविद्या, प्राणविद्या, हार्दविद्या इत्यादि। वेदान्त-सूत्रके तीसरे अध्यायके तीसरे पादमें, उपनिषदोमें वर्णित सभी ऐसी विद्याओका अर्थात् साधनाओका विचार किया गया है। उपनिषदोंसे यहभी विदित होता है, कि प्राचीन समयमें ये सब विद्याएँ गुप्त रखी जाती थी, और केवल शिष्योके अतिरिक्त अन्य किसीकोभी उनका उपदेश नही किया जाता था। अतएव कोईभी विद्या हो, वह गुह्य अवश्यही होगी। परतु ब्रह्म-प्राप्तिके लिये साधनभूत होनेवाली ये जो गुह्य विद्याएँ या मार्ग हैं, वे यद्यपि अनेक हो, तथापि

उन सवमें गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गरूपी विद्या अर्थात् साधन श्रेष्ठ (गुह्याना विधाना च राजा) है। क्योंकि हमारे मतानुसार उक्त श्लोकका भावार्थ यह है, कि वह (भक्ति-मार्गरूपी साधन) ज्ञान-मार्गकी विद्याके समान 'अव्यक्त' नही है, कितु वह 'प्रत्यक्ष' आंखोसे दिखाई देनेवाला है और इसी लिये उसका आचरणभी सुखसे किया जाता है। यदि गीतामें केवल बुद्धिगम्य ज्ञान-मार्गही प्रतिपादित किया गया होता, तो वैदिक धर्मके सव सप्रदायोमें आज सैकडो वर्षसे इस ग्रथकी जैसी चाह होती चली आ रही है, वैसी हुई होती या नही इसमें सदेह है। गीतामें जो मधुरता, प्रेम या रस भरा है, वह उसमें प्रतिपादित भक्ति-मार्गहीका परिणाम है। पहले तो स्वय भगवान् श्रीकृष्णने – जो परमेश्वरके प्रत्यक्ष अवतार है – यह गीता कही है; और उसमेंभी दूसरी वात यह है, कि भगवानने अज्ञेय परब्रह्मका कोरा ज्ञानही नही कहा है, किंतु स्थान स्थानमें प्रथम पुरुषका प्रयोग करके अपने सगुण और व्यक्त स्वरूपको लक्ष्य कर कहा है, कि "मुझमें यह सव गूंथा हुआ है" (गीता ७ ७), "यह सव मेरीही माया है" (गीता ७ १४), "मुझसे भिन्न और कुछभी नही है" (गीता ७ ७), "मुझे शत्रु और मित्र दोनो वरावर है" (गीता ९ २९), "मैंने इस जगतको उत्पन्न किया है" (गीता ९ ४), "मैंही ब्रह्मका और मोक्षका मूल हूँ" (गीता १४ २७) अथवा "मुझे पुरुषोत्तम कहते है" (गीता १५ १८)। और अतमें अर्जुनको यह उपदेश किया, कि "सव धर्मोको छोड तू अकेले मेरी शरण आ, मै तुझे सव पापोसे मुक्त करूँगा, डर मत" (गीता १८ ६६)। इससे श्रोताकी यह भावना हो जाती है, कि मानो मै ऐसे साक्षात् पुरुषोत्तमके सामने खडा हूँ, जो सम-दृष्टि, परमपूज्य, और अत्यत दयालु है, और तव आत्मज्ञानके विषयमें उसकी निष्ठाभी वहुत दृढ हो जाती है। इतनाही नही, कितु गीताके अध्यायोका इस प्रकार पृथक् पृथक् विभाग न कर – कि एक वार ज्ञानका तो दूसरी वार भक्तिका प्रतिपादन हो – ज्ञानहीमें भक्ति और भक्तिहीमें ज्ञानको गूंथ दिया है, जिसका परिणाम यह होता है, कि ज्ञान और भक्तिमें अथवा वुद्धि और प्रेममें परस्पर विरोध न होकर परमेश्वरके ज्ञानके साथही प्रेमरसकाभी अनुभव होता है, और सव प्राणियोंके विषयमें आत्मौपम्य-वुद्धिकी जागृति होकर अतमें चित्तको विलक्षण शाति, समाधान और सुख प्राप्त होता है। इसीमें कर्मयोगभी आ मिला है। मानो दूधमें शक्कर मिल गई हो। फिर इसमें कोई आश्चर्य नही, जो हमारे पडितजनोंने यह सिद्धान्त किया, कि गीता-प्रतिपादित ज्ञान, ईशावास्योपनिषदके कथनानुसार, मृत्यु और अमृत अर्थात् इहलोक और परलोक दोनो जगह श्रेयस्कर है।

ऊपर किये गये विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि भक्ति-मार्ग किसे कहते है, ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्गमें समानता तथा विषमता क्या है, भक्ति-मार्गको राजमार्ग (राजविद्या) या सहज उपाय क्यों कहा है, और गीतामें

भक्तिको स्वतत्र निष्ठा क्यो नही माना है। परतु ज्ञानप्राप्तिके इस सुलभ, अनादि और प्रत्यक्ष मार्गमेंभी धोखा खा जानेकी जो एक जगह है, उसकाभी कुछ विचार किया जाना चाहिये। नही तो सभव है, कि इस मार्गसे चलनेवाला पथिक असावधानतासे गड्ढेमें गिर पडे। भगवद्गीतामें इस गड्ढेका स्पष्ट वर्णन किया गया है, और वैदिक भक्ति-मार्गमें अन्य भक्ति-मार्गोंकी अपेक्षा जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यद्यपि इस बातको सब लोग मानते हैं, कि परब्रह्ममें मनको चित्त-शुद्धि-द्वारा साम्य-बुद्धिकी प्राप्तिके लिये साधारण आसक्त कर मनुष्योंके सामने परब्रह्मके 'प्रतीक'के नातेसे कुछ-न-कुछ सगुण अथवा व्यक्त वस्तु अवश्य होनी चाहिये, नहीं तो चित्तकी स्थिरता हो नही सकती, तथापि इतिहाससे दीख पडता है, कि 'प्रतीक'के स्वरूपके विषयमें अनेक बार झगडे और बखेडे हो जाया करते हैं। अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय, तो इस ससारमें ऐसा कोई स्थान नही, कि जहाँ परमेश्वर न हो। भगवद्गीतामेभी जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा, कि "किन किन विभूतियोंके रूपसे तुम्हारा चिंतन (भजन) किया जावे, सो मुझे बतलाइये" (गीता १० १८), तब दसवे अध्यायमे भगवानने इस स्थावर और जगम-सृष्टिमें चारो ओर व्याप्त अपनी अनेक विभूतियोका वर्णन करके कहा है, कि मैं इद्रियोमें मन, स्थावरोमें हिमालय, यज्ञोमें जपयज्ञ, सर्पोमें वासुकि, दैत्योमें प्रल्हाद, पितरोमें अर्यमा, गधर्वोमें चित्ररथ, वृक्षोमें अश्वत्थ, पक्षियोमें गरूड, महर्षियोमें भृगु, अक्षरोमें अकार, और आदित्योमें विष्णु हूँ, और अतमें यह कहा –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसभवम्॥

'हे अर्जुन! यह जानो, कि जो कुछ वैभव, लक्ष्मी या प्रभावसे युक्त हो, वह मेरेही तेजके अशसे उत्पन्न हुआ है" (गीता १० ४१); और अधिक क्या कहा जाय! मैं अपने एक अशमात्रसे इस सारे जगतमें व्याप्त हूँ! इतना कहकर अगले अध्यायमें विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनको इस सिद्धान्तकी प्रत्यक्ष प्रतीतिभी करा दी है। यदि इस ससारमें दिखलाई देनेवाले सब पदार्थ या गुण परमेश्वरहीके रूप याने प्रतीक हैं तो यह कौन और कैसे कह सकता है, कि उनमेंसे किसी एकहीमें परमेश्वर है और दूसरेमें नही? न्यायत यही मानना पडता है, कि वह दूर है और समीपभी है, सत् और असत् होनेपरभी वह उन दोनोंसे परे है, अथवा गरुड और सर्प, मृत्यु और मारनेवाला, विघ्नकर्ता और विघ्नहर्ता, भयकृत और भयनाशक, घोर और अघोर, शिव और अशिव, वृष्टि करनेवाला और उसको रोकनेवालाभी (गीता ९ १९, १० ३२) वही है। अतएव भगवद्भक्त तुकाराम महाराजनेभी (तु गा २० ६५ ४) इसी भावसे कहा है –

छोटा बडा कहें जो कुछ हम।
फबता है सब तुझे महत्तम॥

इस प्रकार विचार करनेपर मालूम होता है, कि ससारकी प्रत्येक वस्तु यदि अशत परमेश्वरहीका स्वरूप है, तो फिर जिन लोगोके ध्यानमे परमेश्वरका यह सर्वव्यापी स्वरूप एकाएक नही आ सकता, वे यदि इस अव्यक्त और शुद्ध रूपको पहचाननेके लिये इन अनेक वस्तुओमेंसे किसी एकको साधन या प्रतीक समझकर उसकी उपासना करें, तो क्या हानि है ? कोई मनकी उपासना करेंगे, तो कोई द्रव्ययज्ञ या जपयज्ञ करेंगे। कोई गरुडकी भक्ति करेंगे, तो कोई ॐ मन्त्राक्षरहीका जप करेंगे, कोई विष्णुका, तो कोई शिवका, कोई गणपतिका तो कोई भवानीका भजन करेंगे। कोई अपने मातापिताके चरणोमें ईश्वरभाव रखकर उनकी सेवा करेंगे, और कोई उससेभी अधिक व्यापक सर्वभूतात्मक विराट् पुरुषकी उपासना पसद करेंगे। कोई कहेंगे, सूर्यको भजो, और कोई कहेगे, कि राम या कृष्णही सूर्यसे श्रेष्ठ हैं। परतु अज्ञानसे या मोहसे जब यह दृष्टि छूट जाती है, कि "सब विभूतियोका मूल स्थान एकही परब्रह्म है", अथवा जब किसी धर्मके मूल सिद्धान्तोमेंही यह व्यापक दृष्टि नही होती, तब अनेक प्रकारके उपास्योंके विषयमें वृथाभिमान और दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है; और कभी कभी तो लडाइयाँ हो जानेतक नौबत आ पहुँचती है। वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुहमदी धर्मोंके परस्पर-विरोधकी बात छोड दें और केवल ईसाई धर्मकोही देखें, तो यूरोपके इतिहाससे यही दीख पडता है, कि एक-ही सगुण और व्यक्त ईसा मसीहके उपासकोमेंभी विधिभेदोंके कारण एक दूसरेकी जान लेने-तककी नौबत आ चुकी थी। हमारे देशके सगुण उपासकोमेंभी अबतक यह झगडा दीख पडता है, कि हमारा देव निराकार होनेके कारण अन्य लोगोंके साकार देवसे श्रेष्ठ है। भक्ति-मार्गमें उत्पन्न होनेवाले इन झगडोका निर्णय करनेके लिये कोई उपाय है या नही ? यदि है तो वह कौन-सा उपाय है ? जब तक इसका ठीक ठीक विचार नही हो जाता, तबतक भक्तिमार्ग बेखटकेका या बगैर धोखेका नही कहा जा सकता। इसलिये अब यही विचार किया जायगा, कि गीतामें इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया गया है। कहना नही होगा, कि हिंदुस्तानकी वर्तमान दशामें इस विषयका यथोचित विचार करना विशेष महत्त्वकी बात है।

साम्य-बुद्धिकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करके परमेश्वरकी अनेक सगुण विभूतियोमेंसे किसी एक विभूतिके स्वरूपका प्रथमत चिंतन करना अथवा उसको प्रतीक समझकर प्रत्यक्ष नेत्रोके सामने रखना, इत्यादि साधनोका वर्णन प्राचीन उपनिषदोमेंभी पाया जाता है, और रामतापनी सरीखे उत्तरकालीन उपनिषदमें या गीतामेंभी मानव-रूपधारी सगुण परमेश्वरकी निस्सीम और एकातिक भक्ति-कोही परमेश्वर-प्राप्तिका मुख्य साधन माना है। परतु साधनकी दृष्टिसे यद्यपि वासुदेव-भक्तिको गीतामें प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्म-दृष्टिसे विचार करने पर, वेदान्त-सूत्रकी नाई (वे सू ४ १ ४) गीतामेंभी आगे यही स्पष्ट रीतिसे कहा है, कि 'प्रतीक' एक प्रकारका साधन है – वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य

परमेश्वर हो नही सकता। अधिक क्या कहे, नाम-रूपात्मक व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओमेंसे किसीकोभी लीजिये, वह मायाही है। जो सत्य परमेश्वरको देखना चाहता है, उसे इस सगुण रूपकेभी परे अपनी दृष्टिको ले जाना चाहिये। यह प्रकट है, कि भगवानकी जो अनेक विभूतियाँ है, उनमें अर्जुनको दिखलाये गये विश्वरूपसे अधिक व्यापक और कोईभी विभूति हो नही सकती। परतु जब यही विश्वरूप भगवानने नारदको दिखलाया, कि तब उन्होने कहा है, कि "तू मेरे जिस रूपको देख रहा है, कि वह सत्य नही है, यह माया है, मेरे सत्य स्वरूपको देखनेके लिये इसकेभी आगे तुझे जाना चाहिये" (मभा शा ३३९ ४४), और गीतामेंभी भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्पष्ट रीतिसे यही कहा है –

अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धयः।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गीता ७ २४) अर्थात् मनुष्यदेहधारी मानते हैं (गीता ९ ११), परतु यह बात सच नही है। मेरा अव्यक्त स्वरूपही सत्य है।" इसी तरह उपनिषदोमेंभी यद्यपि उपासनाके लिये मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त या अव्यक्त ब्रह्मप्रतीकोका वर्णन किया गया है, तथापि अतमें यह कहा है, कि जो वाचा, नेत्रो या कानोको गोचर हो वह ब्रह्म नही, जैसे –

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥

"मनसे जिसका मनन नही किया जा सकता, किंतु मनही जिसकी मनन-शक्तिमें आ जाता है, उसे तू सत्य ब्रह्म समझ। जिसकी (प्रतीक समझकर) उपासना की जाती है, वह (सत्य) ब्रह्म नही है" (केन १ ५–८)। 'नेति नेति' सूत्रकाभी यही अर्थ है। मन या आकाशको लीजिये अथवा व्यक्त उपासना-मार्गके अनुसार शालग्राम, शिवलिंग इत्यादिको लीजिये, या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषोकी अथवा साधु-पुरुषोकी व्यक्त मूर्तिका चिंतन कीजिये, मदिरोमें शिलामय अथवा धातुमय देवकी मूर्तिको देखिये, अथवा बिना मूर्तिका मदिर, या मसजिद लीजिये, – ये सब छोटे बच्चेकी ढकेलगाडीके समान मनको स्थिर करनेके लिये अर्थात् चित्तकी वृत्तिको परमेश्वरकी ओर झुकानेके साधन है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकारके अनुसार उपासनाके लिये किसी प्रतीकका स्वीकारकर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितनाही प्यारा हो, परतु इस बातको नही भूलना चाहिये, कि सत्य परमेश्वर इस "प्रतीकमें नही है" – "न प्रतीके न हि स" (वे सू ४ १ ४)– उसके परे है। इसी हेतुसे भगवद्गीतामेंभी सिद्धान्त किया गया है, कि "जिन्हे मेरी माया मालूम नही होती, वे मूढ जन मुझे नही जानते" (गीता ७ १३-१५)। भक्ति-मार्गमें मनुष्यका उद्धार करनेकी जो शक्ति है, वह सजीव अथवा निर्जीव

मूर्तिमें या पत्थरोकी इमारतोमें नही है, किंतु उस प्रतीकमें उपासक अपने सुभीतेके लिये जो उस प्रतीकसेभी श्रेष्ठ ईश्वरभावना रखता है, वही यथार्थमें तारक होती है। चाहे प्रतीक पत्थरका हो, मिट्टीका हो, धातुका हो या अन्य किसी पदार्थका हो, उसकी योग्यता 'प्रतीक'से अधिक कभी नही हो सकती। इस प्रतीकमें जैसा हमारा भाव होगा, ठीक उसीके अनुसार हमारी भक्तिका फल परमेश्वर — प्रतीक नही — हमें दिया करता है। फिर ऐसा बखेडा मचानेसे क्या लाभ, कि हमारा प्रतीक श्रेष्ठ है और तुम्हारा निकृष्ट ? यदी भाव शुद्ध न हो, तो केवल प्रतीककी उत्तमतासेही क्या लाभ होगा ? दिनभर लोगोको धोखा देने और फँसानेका धधा करके सुबह-शाम या किसी त्योहारके दिन देवालयमें देवदर्शनके लिये, अथवा किसी निराकार देवके मदिरमें उपासनाके लिये, जानेसे परमेश्वरकी प्राप्ति होना असभव है। कथा सुननेके बहाने देवालयमें जानेवाले कुछ मनुष्योका वर्णन रामदासस्वामीने इस प्रकार किया है — "कोई कोई विषयी लोग कथा सुननेके बहानेसे आते हैं और स्त्रियोकीही ओर घूरा करते है, चोर लोग पादत्राण (जूते) चुरा ले जाते हैं" (दास १८ १० २६)। यदि केवल देवालयमें या देवताकी मूर्तिहीमें तारक-शक्ति हो तो ऐसे लोगोकोभी मुक्ति मिल जानी चाहिये। कितेक लोगोकी समझ है, कि परमेश्वरकी भक्ति केवल मोक्षहीके लिये की जाती है, परतु जिन्हे कोई व्यावहारिक या स्वार्थकी वस्तु चाहिये, वे भिन्न भिन्न देवताओकी आराधना करें और गीतामेंभी इस बातका उल्लेख किया गया है, कि ऐसी स्वार्थ-बुद्धिसे वे लोग भिन्न भिन्न देवताओकी पूजा किया करते है (गीता ७ २०)। परतु इसके आगे गीताहीका कथन है, कि यह समझ तात्त्विक दृष्टिसे सच नही मानी जा सकती, कि इन देवताओकी आराधना करनेसे वे स्वय कुछ फल देते है (गीता ७ २१)। अध्यात्मशास्त्रका यह चिर-स्थायी सिद्धान्त है (वे सू ३ २ ३८–४१), और यही सिद्धान्त गीताकोभी मान्य है (गीता ७ २२), कि मनमे किसीभी वासना या कामनाको रखकर किसीभी देवताकी आराधना की जावे, उसका फल सर्वव्यापी परमेश्वरही दिया करता है, न कि देवता। यद्यपि फलदाता परमेश्वर इस प्रकार एकही हो, तथापि वह प्रत्येकके भले-बुरे भावोंके अनुसार भिन्न भिन्न फल दिया करता है (वे सू २ १ ३४–३७)। इसलिये यह दीख पडता है, कि भिन्न भिन्न देवता-ओकी या प्रतीकोकी उपासनाके फलभी भिन्न भिन्न होते हैं। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवानने अन्यत्रभी कहा है —

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध· स एव सः।

"मनुष्य श्रद्धामय है। प्रतीक कुछभी हो, परतु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसाही वह हो जाता है" (गीता १७ ३ मैत्र्यु ४ ६)। अथवा —

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता·।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति यद्याजिनोऽपि माम्॥

" देवताओंकी भक्ति करनेवाले देवलोकमें, पितरोंकी भक्ति करनेवाले पितृलोकमें, भूतोंकी भक्ति करनेवाले भूतोंमें जाते हैं, और मेरी भक्ति करनेवाले मेरे पास आते हैं " (गीता ९. २५)। या –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

" जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं, उसी प्रकार मैं उन्हे भजता हूँ " (गीता ४. ११)। सब लोग जानते हैं, कि शालग्राम सिर्फ एक पत्थर है। उसमें यदि विष्णुका भाव रखा जाय, तो विष्णुलोक मिलेगा, और यदि उसी प्रतीकमें यक्ष, राक्षस आदि भूतोंकी भावना रखके उसकी पूजा की जाय, तो यक्ष, राक्षस आदि भूतोंकेही लोक प्राप्त होंगे। यह सिद्धान्त हमारे सब शास्त्रकारोंको मान्य है, कि फल हमारे भावमें है; प्रतीकमें नही और लौकिक व्यवहारमेंभी किसी मूर्तिकी पूजा करनेके पहले उसकी प्राणप्रतिष्ठाभी करनेकी जो रीति है, उसकाभी रहस्य यही है। जिस देवताकी भावनासे उस मूर्तिकी पूजा करनी हो, उस देवताकी प्राणप्रतिष्ठा उस मूर्तिमें करते है। मूर्तिमें परमेश्वरकी भावना न रख कोई यह समझकर उसकी पूजा या आराधना नही करते कि वह मूर्ति केवल किसी विशिष्ट आकारकी, मिट्टी, पत्थर या धातु है, और यदि कोई ऐसा करेभी, तो गीताके उक्त सिद्धान्तके अनुसार उसको मिट्टी, पत्थर या धातुहीकी दशा निस्सदेह प्राप्त होगी। जब प्रतीकमें और स्थापित या आरोपित प्रतीकमें हमारे, आतरिक भावमें इस प्रकार भेदकर लिया जाता है, तब केवल प्रतीकके विषयमें झगडा करते रहनेका कोई कारण नही रह जाता। क्योंकि, अब तो यह भावही नहीं रहता, कि प्रतीकही देवता है। सब कर्मोंके फलदाता और सर्वसाक्षी परमेश्वरकी दृष्टि अपने भक्तजनोंके भावकी ओरही रहा करती है। इसी-लिये साधु तुकाराम कहते हैं, कि " देव भावकाही भूखा है।" – प्रतीकका नही। भक्ति-मार्गका यह तत्त्व जिसे भली भाँति मालूम हो गया है उसके मनमें यह दुराग्रह नही रहने पाता, कि " मैं जिस ईश्वरस्वरूप या प्रतीककी उपासना करता हूँ, वहीं सच्चा है, और अन्य सब मिथ्या है, " किंतु उसके अंत करणमें ऐसी उदार-बुद्धि जागृत हो जाती है, कि " किसीका प्रतीक कुछभी हो, परतु जो लोग उसके द्वारा परमेश्वरका भजन-पूजन किया करते हैं, वे सब एकही परमेश्वरमें जा मिलते हैं। " और तब उसे भगवानके इस कथनकी प्रतीति होने लगती है, कि –

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

" चाहे विधि, अर्थात् बाह्योपचार या साधन शास्त्रके अनुसार न हो; तथापि अन्य देवताओंका श्रद्धापूर्वक (याने उनमें शुद्ध परमेश्वरका भाव रखकर) यजन करने-वाले लोग (पर्यायसे) मेराही यजन करते हैं " (गीता ९ २३)। भागवतमेंभी इसी अर्थका वर्णन कुछ शब्दभेदके साथ किया गया है (भाग १० पू ४० ८–१०); शिवगीतामें तो उपर्युक्त श्लोकही ज्यों-का-त्यों पाया जाता है (शिव १२ ४);

और "एक सद्विप्रा वहुधा वदन्ति" (ऋ १ १६४ ४६) इस वेदवचनका तात्पर्यभी वही है। इससे सिद्ध होता है, कि यह तत्त्व वैदिक धर्ममें वहुत प्राचीन समयसे चला आ रहा है और यह इसी तत्त्वका फल है; कि आधुनिक कालमें श्रीशिवाजी-महाराजके समान वैदिकधर्मीय वीरपुरुषके स्वभावमें, उनके परम उत्कर्षके समयमेंभी, परधर्म-असहिष्णुता-रूपी दोष दीख नही पडता था। यह मनुष्योंकी अत्यत शोचनीय मूर्खताका लक्षण है, कि वे इस सत्य तत्त्वको तो नही पहचानते, कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और उसकेभी परे अर्थात् अचिंत्य है, किंतु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमानके अधीन हो जाते है, कि ईश्वरने अमुक समय या अमुक देशमें, अमुक माताके गर्भसे, अमुक वर्णका, नामका या आकृतिका जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है, और इस अभिमानमें फँसकर एक-दूसरेकी जान तक लेनेको उतारू हो जाते हैं। गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गको 'राजविद्या' कहा है सही, परतु यदि इस वातकी खोज की जाय, कि जिस प्रकार स्वय भगवान् श्रीकृष्णहीने "मेरा दृश्य स्वरूपभी केवल मायाही है, मेरे यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिये इस मायासेभी परे जाओ," कहकर यथार्थ उपदेश किया है, उस प्रकारका उपदेश और किसने किया है? एव "अविभक्त विभक्तेषु" इस सात्त्विक ज्ञान-दृष्टिसे सव धर्मोंकी एकताको पहचानकर, भक्ति-मार्गके थोथे झगडोकी जडहीको काट डालनेवाले धर्मगुरु पहले पहल कहाँ अवतीर्ण हुए? अथवा उनके मतानुयायी अधिक कहाँ है? तो कहना पडेगा, कि इस विषयमें हमारी पवित्र भारतभूमिकोही अग्रस्थान दिया जाना चाहिये। हमारे देशवासियोको राजविद्याका और राजगुह्यका यह साक्षात् पारस अनायासही प्राप्त हो गया है, परतु जब हम देखते हैं, कि हममेंसेही कुछ लोग अपनी आँखोपर अज्ञानरूपी चश्मा लगाकर उस पारसको चकमक पत्थर कहनेके लिये तैयार हैं, तव इसे अपने दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहे?

प्रतीक कुछभी हो, भक्ति-मार्गका फल प्रतीकमें नही है, कितु उस प्रतीकमें, जो हमारा आतरिक भाव होता है, उस भावमें है, इसलिये यह सच है, कि प्रतीकके वारेमें झगडा मचानेसे कुछ लाभ नही। परतु अव यह शका है, कि वेदान्तकी दृष्टिसे जिस शुद्ध परमेश्वर-स्वरूपकी भावना प्रतीकमें आरोपित करनी पडती है, उस शुद्ध परमेश्वर-स्वरूपकी कल्पना वहुतेरे लोग अपने प्रकृति-स्वभावके अनुसार या अज्ञानके कारण प्राय एकाएक कर नही सकते, ऐसी अस्थामें इन लोगोंके लिये प्रतीकमें शुद्ध भाव रखकर परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेका कौनसा उपाय है? यह कह देनेसे काम नही चल सकता, कि "भक्ति-मार्गमें ज्ञानका काम श्रद्धासे हो जाता है, इसलिये विश्वाससे या श्रद्धासे परमेश्वरके शुद्ध-स्वरूपको जान कर प्रतीकमेंभी वही भाव रखो – वस, तुम्हारा भाव सफल हो जायगा।" कारण यह है, कि कोईभी भाव रखना मनका अर्थात् श्रद्धाका धर्म है सही, परतु उसे वुद्धिकी थोडी-वहुत सहायता मिलेविना कभी काम नही चल सकता। क्योकि, अन्य सव मनोधर्मोंकी तरह

केवल श्रद्धा या प्रेम और एक प्रकारसे अंधे हैं और यह बात केवल श्रद्धा या प्रेमको कभी मालूम हो नही सकती, कि किसपर श्रद्धा रखनी चाहिये और किसपर नही, अथवा किससे प्रेम करना चाहिये और किससे नही। यह काम प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिसेही करना पडता है, क्योकि निर्णय करनेके लिये बुद्धिके सिवा कोई दूसरी इंद्रिय नही है। साराश यह है, कि चाहे किसी मनुष्यकी बुद्धि अत्यत तीव्र न भी हो, तथापि उसमें यह जाननेकी सामर्थ्य तो अवश्यही होना चाहिये, कि श्रद्धा, (प्रेम या विश्वास) कहाँ रखा जावे, नही तो अंध श्रद्धा और उसीके साथ अंध प्रेमभी धोखा खा जायगा, और दोनो गड्ढेमें जा गिरेंगे। विपरीत पक्षमें यहभी कहा जा सकता है, कि श्रद्धारहित केवल बुद्धिही यदि कुछ काम करने लगे, तो कोरे युक्तिवाद और तर्कज्ञानमें फँसकर, न जाने वह कहाँ कहाँ भटकती रहेगी, वह जितनीही अधिक तीव्र होगी, उतनीही अधिक भटकेगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकरणके आरभहीमें कहा जा चुका है, कि श्रद्धा आदि मनोधर्मोकी सहायताके विना केवल बुद्धिगम्य ज्ञानमें कर्तृत्व-शक्तिभी उत्पन्न नही होती। अतएव श्रद्धा और ज्ञान अथवा मन और बुद्धिका हमेशा साथ रहना आवश्यक है। परतु मन और बुद्धि, दोनो त्रिगुणात्मक प्रकृतिहीके विकार है, इसलिये उनमेंसे प्रत्येकके जन्मत तीन भेद – सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं, और यद्यपि उनका साथ हमेशा बना रहे, तोभी भिन्न भिन्न मनुष्योमें उनकी जितनी शुद्धता या अशुद्धता होगी, उसी हिसाबसे मनुष्यके स्वभाव, समझ और व्यवहारभी भिन्न भिन्न हो जावेगे। यदी बुद्धि केवल जन्मत अशुद्ध, राजस या तामस, हो तो उसका किया हुआ भले-बुरेका निर्णय गलत होगा, जिसका परिणाम यह होगा, कि अंध श्रद्धाके सात्त्विक अर्थात् शुद्ध होनेपरभी वह धोखा खा जायगी। अच्छा, यदि श्रद्धाही जन्मत अशुद्ध हो, तो बुद्धिके सात्त्विक होनेसेभी कुछ लाभ नही, क्योकि ऐसी अवस्थामें बुद्धिकी आज्ञाको माननेके लिये श्रद्धा तैयारही नही रहती। परतु साधारण अनुभव यह है कि बुद्धि और मन दोनो अलग अलग अशुद्ध नही रहते जिसकी बुद्धि जन्मत अशुद्ध होती है, उसका मन अर्थात् श्रद्धाभी प्राय न्यूनाधिक अशुद्ध अवस्थामेंही रहती है, और फिर यह अशुद्ध बुद्धि स्वभावत अशुद्ध अवस्थामें रहनेवाली श्रद्धाको अधिकाधिक भ्रममें डाल दिया करती है। ऐसी अवस्थामें रहनेवाले किसी मनुष्यको परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका चाहे जैसा उपदेश किया जाय, परतु वह उसके मनमें जमताही नही, अथवा यहभी देखा गया है, कि कभी कभी – विशेषत श्रद्धा और बुद्धि दोनोभी जन्मत अपक्व और कमजोर हो, तब – यह मनुष्य उसी उपदेशका विपरीत अर्थ किया करता है। इसका एक उदाहरण लीजिये – यह देखा गया है, कि जब ईसाई धर्मके उपदेशक आफ्रिका-निवासी नीग्रो जातिके जगली लोगोको अपने धर्मका उपदेश करने लगते है, तब उन्हें आकाशमें रहनेवाले पिताकी अथवा ईसा मसीहकी कुछभी यथार्थ कल्पना हो नही सकती। उन्हें जो कुछ बतलाया जाता है, उसे वे अपनी अपक्व

बुद्धिके अनुसार अयथार्थ भावसे ग्रहण किया करते है। इसीलिये एक अंग्रेज ग्रंथकारने लिखा है, कि उन लोगोमें सुधरे हुए धर्मको समझनेकी पात्रता लानेके लिये सबसे पहले उन्हे अर्वाचीन मनुष्योकी योग्यताको पहुँचा देना चाहिये।* भवभूतिके इस दृष्टान्तमेंभी वही अर्थ है, कि एकही गुरुके पास पढे हुए शिष्योमें भिन्नता दीख पडती है, और यद्यपि सूर्य एकही है, तथापि उसके प्रकाशसे कांचकी मणिसे आग निकलती है, लेकिन मिट्टीके ढेलेपर कुछ परिणाम नही होता (उ राम २ ४)। प्रतीत होता है, कि प्राय इसी कारणसे प्राचीन समयमें शूद्र आदि अज्ञ जन वेद-श्रवणके लिये अनधिकारी माने जाते होंगे।† गीताके अठारहवे अध्यायमेंभी इस विषयकी चर्चा की गई है और आरभमें कहा है, कि जिस प्रकार बुद्धिके स्वभावत सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं (गीता १८ ३०–३२), उसी प्रकार श्रद्धाकेभी स्वभावत सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं (गीता १७ २)। भगवान् कहते है, कि आगे प्रत्येक व्यक्तिके देहस्वभावके अनुसार उसकी श्रद्धाभी स्वभावत भिन्न हुआ करती है (गीता १७ ३) इसलिये जिन लोगोकी श्रद्धा सात्त्विक है, वे देवताओंमें; जिनकी श्रद्धा राजस है, वे यक्ष-राक्षस आदिमें और जिनकी श्रद्धा तामस है, वे भूत-पिशाच आदिमें विश्वास करते हैं (गीता १७ ४–६)। यदि मनुष्यकी श्रद्धाका अच्छापन या बुरापन इस प्रकार नैसर्गिक स्वभावपर अवलंबित है, तो अब यह प्रश्न होता है, कि पहले यथाशक्ति भक्तिभावसे इस श्रद्धामें अधिकाधिक सुधार हो सकता है, या नही और वह किसी समय पूर्ण शुद्ध अर्थात् सात्त्विक अवस्थाको पहुँच सकती है, या नही ? भक्ति-मार्गके उक्त प्रश्नका स्वरूप कर्मविपाकप्रियाके ठीक इस प्रश्नके समान है, कि ज्ञानकी प्राप्ति करलेनेके लिये मनुष्य स्वतत्र है, या नहीं ? और कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि इन दोनो प्रश्नोंका उत्तर एकही है। भगवानने अर्जुनको पहले यही उपदेश किया, कि 'मय्येव मन आधत्स्व' (गीता १२ ८) – मेरे शुद्ध स्वरूपमें तू अपने मनको स्थिर कर, और इसके बाद परमेश्वरस्वरूपको मनमें स्थिर करनेके लिये भिन्न भिन्न उपायोका इस प्रकार वर्णन किया है – "यदि तू मेरे स्वरूपमें अपने चित्तको स्थिर न कर सकता हो, तो तू अभ्यास अर्थात् बार-बार प्रयत्न कर। यदि तुझसे अभ्यासभी न हो सके, तो मेरे लिये चित्त-शुद्धिकारक कर्म

---

* " And the only way, I suppose, in which beings of so low an order of development (e g an Australian savage or a Bushman) could be raised to a civilized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations, they would have to undergo a gradual process of humanization before they could attain to the capacity of civilization " Dr Maudsley's *Body and Mind*, Ed 1873 p 57

† See Max Muller's *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*, pp 72, 73

त्रिपुटीका लय हो जाता है, तब वह व्यापार बद हो जाता है, जिसे व्यवहारमें भक्ति कहते हैं। परतु यदि उक्त आक्षेपका यह अर्थ हो, कि द्वैतमूलक भक्ति-मार्गसे अतमें अद्वैत-ज्ञान होही नही सकता, तो यह आक्षेप न केवल तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे किंतु वडे वडे भगवद्भक्तोंके अनुभवके आधारसेभी मिथ्या सिद्ध हो सकता है। तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे इस वातमें कुछ रुकावट नही दीख पडती, कि परमेश्वर-स्वरूपमें किसी भक्तका चित्त ज्यो ज्यो अधिकाधिक स्थिर होता जावे, त्यो त्यो उसके मनसे भेदभावभी छूटता चला जावे। ब्रह्म-सृष्टिमेंभी हम यही देखते हैं कि यद्यपि आरभमें पारेकी बूंदे भिन्न भिन्न होती हैं, तथापि आपसमें मिलकर उनके एकत्र होजानेमें कोई रुकावट नही आती। इसी प्रकार अन्य पदार्थोंमेंभी एकीकरणकी क्रियाका आरभ प्राथमिक भिन्नताहीसे हुआ करता है, और भृगी-कीटका दृष्टान्त तो सव लोगोको विदितही है। परतु इस विषयमें तर्कशास्त्रकी अपेक्षा साधुपुरुषोंके प्रत्यक्ष अनुभवकोही अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये। अत भगवद्भक्त-शिरोमणि तुकाराम महाराजका अनुभव हमारे लिये विशेष महत्त्वका है। सब लोग जानते हैं, कि, तुकाराम महाराजको कुछ उपनिषदादि ग्रथोंके अध्ययनसे अध्यात्मज्ञान प्राप्त नही हुआ था, तथापि उनकी गाथामें लगभग साढेतीनसौ 'अभग' अद्वैत-स्थितिके वर्णनमे कहे गये हैं, और इन सव अभगोमें "वासुदेव सर्वम्" (गीता ७ १९) का भाव प्रतिपादित किया गया है, अथवा वृहदारण्यकोपनिषदमें जैसे याज्ञवल्क्यने 'सर्वमात्मैवाभूत्' कहा है, वैसेही अर्थका प्रतिपादन स्वानुभवसे किया गया है। उदाहरणके लिये उनके एक अभगका (तु गा ३६२७) आशय देखिये –

गुड-सा मीठा है भगवान् बाहर-भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूं सविवेक ? जलतरगसे है हम एक॥

इसके आरभका उल्लेख हमने पहलेही अध्यात्म-प्रकरणमें किया है, और वहाँ यह दिखलाया है, कि उपनिषदोमें वर्णित ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे उसके अर्थकी किस तरह पूरी समता है। जब कि स्वय तुकाराम महाराज अपने अनुभवसे भक्तोकी परमावस्थाका वर्णन इस प्रकार कर रहे है, तव यदि कोई तार्किक यह कहनेका साहस करे, कि "भक्तिमार्गसे अद्वैतज्ञान हो नही सकता" अथवा देवताओका केवल अधविश्वास करनेसेही मोक्ष मिल जाता है, उसके लिये ज्ञानकी कोई आवश्यकता नही, तो इसे आश्चर्यही समझना चाहिये।

भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्गका अतिम साध्य एकही है, और "परमेश्वरके अनुभवात्मक ज्ञानसेही अतमें मोक्ष मिलता है," यह सिद्धान्त दोनो मार्गोंमे एकही-सा बना रहता है। यही क्यो, वल्कि अध्यात्म-प्रकरणमे और कर्मविपाक प्रकरणमें पहले जो और सिद्धान्त वतलाये गये हैं, वेभी सव गीताके भक्ति-मार्गमें स्थिर रहते

है। उदाहरणार्थ, भागवत धर्ममें कुछ लोग इस प्रकार चतुर्व्यूहरूपी सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाया करते हैं, कि वासुदेवरूपी परमेश्वरसे संकर्षणरूपी जीव उत्पन्न हुआ, और फिर संकर्षणसे प्रद्युम्न अर्थात् मन तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार हुआ। दूसरे कुछ लोग तो इन चार व्यूहोंमेंसे तीन, दो या एक वासुदेवहीको मानते हैं — परंतु जीवकी उत्पत्तिके विषयमें ये मत सच नहीं है। उपनिषदोंके आधारपर वेदान्त सूत्रमें (वे सू २ ३ १७, २ २ ४२–४५) निश्चय किया गया है, कि अध्यात्म-दृष्टिसे जीव सनातन परमेश्वरहीका सनातन अंश है। इसलिये भगवद्गीतामें केवल भक्ति-मार्गकी उक्त चतुर्व्यूहसंबंधी कल्पना छोड दी गई है, और जीवके विषयमें वेदान्त-सूत्रकारोंका उपर्युक्त सिद्धान्त दिया गया है (गीता २ २४, ८ २०, १३ २२, १५ ७)। इससे यही सिद्ध होता होता है, कि वासुदेवभक्ति और कर्मयोग ये दोनो तत्त्व गीतामें यद्यपि भागवत धर्मसेही लिये गये हैं, तथापि क्षेत्ररूपी जीव और परमेश्वरके स्वरूपके विषयमें अध्यात्मज्ञानसे भिन्न किन्ही और ऊटपटांग कल्पनाओंको गीतामें स्थान नही दिया गया है। अब यद्यपि गीतामें भक्ति और अध्यात्म अथवा श्रद्धा और ज्ञानका पूरा पूरा मेल रखनेका प्रयत्न किया गया है, तथापि यह स्मरण रहे, कि जब अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त भक्ति-मार्गमें लिये जाते हैं, तब उनमें कुछ-न-कुछ शब्दभेद अवश्य करना पडता है, और गीतामें ऐसा भेद किया भी गया है। ज्ञान-मार्गके और भक्ति-मार्गके इस शब्दभेदके कारण कुछ लोगोंने भूलसे समझ लिया है, कि गीतामें जो सिद्धान्त कभी भक्तिकी दृष्टिसे और कभी ज्ञानकी दृष्टिसे कहे गये है, उनमें परस्पर विरोध है, अतएव उतने भरके लिये गीता असंबद्ध है। परंतु हमारे मतसे यह विरोध वस्तुत सच नही है, और हमारे शास्त्रकारोंने अध्यात्म तथा भक्तिमें जो मेल कर दिया है, उसकी ओर ध्यान न देनेसेही ऐसे विरोध दिखाई दिया करते हैं। इसलिये यहाँ इस विषयका कुछ अधिक स्पष्टीकरण कर देना चाहिये। अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है, कि पिंड और ब्रह्मांडमें एक-ही आत्मा नाम-रूपसे आच्छादित है, इसलिये अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे हम लोग कहा करते हैं कि "जो आत्मा मुझमें है, वही प्राणियोंमेंभी है" — "सर्वभूतस्थ-मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गीता ६ २९) अथवा "यह सब आत्माही है" — "इदं सर्वमात्मैव"। परंतु भक्ति-मार्गमें अव्यक्त परमेश्वरहीको व्यक्त परमेश्वरका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, अतएव अब उक्त सिद्धान्तके बदले गीतामें यह वर्णन पाया जाता है, कि "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" — मैं (भगवान्) सब प्राणियोंमें हूँ, और सब प्राणी मुझमें है (गीता ६ २९), "अथवा वासुदेव सर्वमिति" जो कुछ है, यह सब वासुदेवमय है (गीता ७ १९), अथवा "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" — ज्ञान हो जानेपर तू सब प्राणियोंको मुझमें और स्वयं अपनेमेंभी देखेगा (गीता ४. ३५)। इसी कारणसे भागवत-पुराणमेंभी भगवद्गीताका यह लक्षण इस प्रकार कहा गया है :—

कर। यदि यहभी न हो सके, तो कर्मफलका त्याग कर, और उससे मेरी प्राप्ति कर ले" (गीता १२ ९–११, भाग ११ ११ ११–२५)। यदि मूल देह-स्वभाव अथवा प्रकृति तामस हो, तो परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपमें चित्तको स्थिर करनेका प्रयत्न एकदम या एक-ही जन्ममें नही होगा, परतु कर्मयोगके समान भक्ति-मार्गमेंभी कोई बात निष्फल नही होती। स्वय भगवान् सब लोगोको इस प्रकार भरोसा देते हैं –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेव. सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ.॥

जब कोई मनुष्य एक बार भक्ति-मार्गमे चलने लगता है, तब इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें, अगले जन्ममें नहीं तो उसके आगेके जन्ममें, कभी-न-कभी, उसको परमेश्वरके स्वरूपका ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है, कि "यह सब वासुदेवात्मकही है," और इन ज्ञानसे अतमें उसे मुक्तिभी मिल जाती है (गीता ७ १९)। छठे अध्यायमेंभी इसी प्रकार कर्मयोगका अभ्यास करनेवालेके विषयमें कहा गया है, कि "अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम्" (गीता ६ ४५) और भक्ति-मार्गके लिये यही नियम उपयुक्त होता है। भक्तको चाहिये, कि वह जिस देवका भाव प्रतीकमें रखना चाहे, उसके स्वरूपको अपने देह-स्वभावके अनुसार पहलेहीसे यथाशक्ति शुद्ध मानकर आरभ करे। कुछ समयतक इमी भावनाका फल परमेश्वर (प्रतीक नही) दिया करता है (गीता ७ २२)। परतु इसके आगे चित्त-शुद्धिके लिये किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नही रहती। यदि परमेश्वरकी यही भक्ति यथामति हमेशा जारी रहे, तो भक्तके अत करणकी भावना आप-ही-आप उन्नत हो जाती है और फिर परमेश्वरसबधी ज्ञानकी वृद्धिभी होने लगती है एव अतमें मनकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि "वासुदेव सर्वम्" – उपास्य और उपासकका भेदभाव शेष नही रह जाता, और अतमें शुद्ध ब्रह्मानदमें आत्माका लय हो जाता है। मनुष्यको चाहिये, कि वह अपने प्रयत्नकी मात्राको कभी कम न करे। साराश यह है, कि जिस प्रकार किसी मनुष्यके मनमें कर्मयोगकी केवल जिज्ञासा उत्पन्न होतेही वह धीरे धीरे पूर्ण सिद्धिकी ओर आप-ही-आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६ ४४), उसी प्रकार गीता-धर्मका यह सिद्धान्त है, कि भक्ति-मार्गमें जब कोई भक्त एक बार अपने तई ईश्वरको सौंप देता है, तो स्वय भगवानही उसकी निष्ठाको बढाते चले जाते हैं, और अतमें उसे अपने यथार्थ स्वरूपका पूर्ण ज्ञानभी करा देते हैं (गीता ७ २१, १० १०)। इसी ज्ञानसे – न कि केवल कोरी और अध श्रद्धासे – भगवद्भक्तको अतमें पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्तिमार्गसे इस प्रकार ऊपर चढते चढते अतमें जो स्थिति प्राप्त होती है, वह और ज्ञान-मार्गसे प्राप्त होनेवाली अतिम स्थिति, दोनो एकही समान हैं, इसलिये गीताको पढनेवालोंके ध्यानमें यह बात सहजही आ जायगी, कि बारहवे अध्यायमें भक्तिमान् पुरुषकी अतिम स्थितिका जो वर्णन किया गया है, वह दूसरे

अध्यायमें किये गये स्थितप्रज्ञके वर्णनहीके समान है। इससे यह बात प्रकट होती है, कि यद्यपि आरभमें ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग भिन्न हो, और यदि कोई अपने अधिकार-भेदके कारण ज्ञान-मार्गसे या भक्ति-मार्गसे चलने लगता है, तोभी अतमें ये दोनो मार्ग एकत्र मिल जाते है, और जो गति ज्ञानीको प्राप्त होती है, वही गति भक्तकोभी मिला करती है। इन दो मार्गोंमें भेद सिर्फ इतनाही है, कि ज्ञान-मार्गमें आरभहीसे बुद्धिके द्वारा परमेश्वर-स्वरूपके आकलन करना पडता है, भक्ति-मार्गमें यही तो ज्ञान श्रद्धाकी सहायतासे ग्रहणकर लिया जाता है। परतु यह प्राथमिक भेद आगे नष्ट हो जाता है, और भगवान् स्वय कहते है, कि –

श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर. सयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परा शांति अचिरेणाधिगच्छति ।।

"जब श्रद्धावान् मनुष्य इद्रियनिग्रह-द्वारा ज्ञान-प्राप्तिका प्रयत्न करने लगता है; तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप-ज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, और फिर उस ज्ञानसे उसे शीघ्रही पूर्ण शाति मिलती है" (गीता ४ ३९)। अथवा –

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।*

"मेरे (याने परमेश्वरके) स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान भक्तिसे होता है, और जब यह ज्ञान हो जाता है, तब (पहले नही), भक्त मुझमें आ मिलता है" (गीता १८ ५५; ११ ५४) परमेश्वरका पूरा ज्ञान होनेके लिये इन दो मार्गोंके सिवा कोई तीसरा मार्ग नही है। इसलिये गीतामें यह बात स्पष्ट रीतिसे कह दी गई है, कि जिसे न तो स्वय अपनी बुद्धि है और न श्रद्धाभी, उसका सर्वथा नाशही समझिये – "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति" (गीता ४ ४०)।

ऊपर कहा गया है, कि श्रद्धा और भक्तिसे अतमें पूर्ण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त होता है। इसपर कुछ तार्किकोका यह आक्षेप है, कि यदि भक्तिमार्गका प्रारभ इस द्वैतभावसेही किया जाता है, कि उपास्य भिन्न है और उपासकभी भिन्न है, तो अतमें ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैत ज्ञान कैसे होगा? परतु यह आक्षेप केवल भ्रातिमूलक है। यदि ऐसे तार्किकोंके कथनका सिर्फ इतना अर्थ हो, कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके होनेपर भक्तिका प्रवाह रुक जाता है, तो उसमें कुछ आपत्ति दीख नही पडती। क्योकि अध्यात्मशास्त्रकाभी यही सिद्धान्त है, कि जब उपास्य, उपासक और उपासनारूपी

---

* इस श्लोकके 'अभि' उपसर्गपर जोर देकर शाडिल्यसूत्रमें (सू १५) यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया है, कि भक्ति ज्ञानका साधन नही है, किंतु वह स्वतत्र साध्य या निष्ठा है। परतु यह अर्थ अन्य साप्रदायिक अर्थोंके समान आग्रहका है – सरल नही है।

सर्वभूतेषु य· पश्येद्भगवद्भावमात्मन· ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

" जो अपने मनमें यह भेदभाव नही रखता, कि मै अलग हूँ, भगवान् अलग है, और सव लोग भिन्न है, किंतु जो सव प्राणियोके विपयमें यह भाव रखता है, कि भगवान् और मैं दोनो एक हूँ, और जो यह समझता है, कि सव प्राणी भगवानमें और मुझमेंभी हैं, वही सव भागवतोमें श्रेष्ठ है "(भाग ११ २ ४५, ३ २४ ४६)। इससे दीख पडेगा, कि अध्यात्मशास्त्रके 'अव्यक्त परमात्मा' शब्दोंके वदले 'व्यक्त परमेश्वर' शब्दोका प्रयोग किया गया है – यही सव भेद हुआ है। अध्यात्मशास्त्रमें यह वात युक्तिवादसे सिद्ध हो चुकी है, कि परमात्माके अव्यक्त होनेके कारण सारा जगत् आत्ममय है। परतु भक्ति-मार्ग प्रत्यक्ष अवगम्य है, इसलिये परमेश्वरकी अनेक व्यक्त विभूतियोका वर्णन करके और अर्जुनको दिव्य-दृष्टि देकर प्रत्यक्ष विश्वरूप-दर्शनसे इस वातकी साक्षात्प्रतीति करा दी है, कि सारा परमेश्वरमय जगत् (आत्ममय) है (गीता अ १०, ११)। अध्यात्मशास्त्रमें कहा गया है, कि कर्मका क्षय ज्ञानसे होता है, परतु भक्ति-मार्गका यह तत्त्व है, कि सगुण परमेश्वरके सिवा इस जगत्में और कुछ नही है – वही ज्ञान है, वही कर्म है, वही ज्ञाता है, वही करनेवाला, करानेवाला और फल देनेवालाभी है। अतएव सचित, प्रारब्ध, क्रियमाण इत्यादि कर्मभेदोकी झझटमें न पड, भक्तिमार्गके अनुसार यह प्रतिपादन किया जाता है, किकर्म करनेकी वुद्धि देनेवाला, कर्मका फल देनेवाला और कर्मका क्षय करनेवाला एक परमेश्वरही है। उदाहरणार्थ, तुकाराम महाराज (तु गा ४९०) एकान्तमें ईश्वरकी प्रार्थना करके स्पष्टतासे पर प्रेमपूर्वक कहते हैं –

एक बात एकान्तमें सुन लो, जगदाधार ।
तारें मेरे कर्म तो प्रभुका क्या उपकार ? ॥

यही भाव अन्य शब्दोमें दूसरे स्थानपर इस प्रकार व्यक्त किया गया है, कि " प्रारब्ध, क्रियमाण और सचितका झगडा भक्तोंके लिये नही है। देखो, सव कुछ ईश्वरही है, जो भीतर-वाहर सर्व-व्याप्त है " (तु गा १०२३)। भगवद्गीताने यही कहा है, कि " ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति " (गीता १८ ६१) – ईश्वरही सव लोगोंके हृदयमें निवास करके उनसे यत्रके समान सव कर्म करवाता है। कर्म-विपाक-प्रक्रियामें सिद्ध किया गया है, कि ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनेके लिये आत्माको पूरी स्वतत्रता है, परतु उसके वदले भक्ति-मार्गमें यह कहा जाता है, कि इस बुद्धिका देनेवाला परमेश्वरही है – " तस्य तस्याचला श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम् " (गीता ७ २१), अथवा " ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्तिते " (गीता १० १०)। ऐसे वारह वर्णन किये गये हैं। इसी प्रकार ससारके सव कर्म परमेश्वरकीही सत्तासे हुआ करते है, इसलिये भक्ति-मार्गमें यह वर्णन पाया जाता है, कि वायुभी उसीके भयसे चलती है, और सूर्य तथा चद्रभी उसीकी शक्तिसे चलते है (कठ ६ ३,

वृ ३ ८ ९)। अधिक क्या कहा जाय, उसकी इच्छाके विना पेडका एक पत्तातक नही हिलता। यही कारण है, कि भक्तिमार्गमें यह कहते है, कि मनुष्य केवल निमित्तमात्रहीके लिये सामने रहता है (गीता ११ ३३), और उसके सब व्यवहार परमेश्वरही उसके हृदयमें निवास कर उससे कराया करता है। साधु तुकाराम (तु गा २३१० ४) कहते है, कि "यह प्राणी केवल निमित्तहीके लिये स्वतन्त्र है, मेरा मेरा' कहकर व्यर्थही यह अपना नाशकर लेता है।" इस जगतके व्यवहार और सुस्थितिको स्थिर रखनेके लिये सभी लोगोको कर्म करना चाहिये। परतु ईशावास्योपनिषद्का जो यह तत्त्व है – कि जिस प्रकार अज्ञानी लोक किसी कर्मको 'मेरा' कहकर किया करते है, वैसे न कर ज्ञानी पुरुषको ब्रह्मार्पणबुद्धिसे सब कर्म मृत्युपर्यंत करते रहना चाहिये, उक्त उपदेशका साराश है। यही उपदेश भगवानने अर्जुनको इस श्लोकमें किया है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

अर्थात् "जो कुछ तू करेगा, खायेगा, हवन करेगा, देगा या तप करेगा, वह सब मुझे अर्पण कर" (गीता ९ २७), इससे तुझे कर्मकी बाधा नही होगी। भगवद्गीताका यही श्लोक शिवगीतामें (१४ ४५) पाया जाता है, और भागवतके इस श्लोकमेंभी उसी अर्थका वर्णन है –

कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

"काया, वाचा, मन, इद्रिय, बुद्धि या आत्माकी प्रवृत्तिसे अथवा स्वभावके अनुसार जो कुछ हम किया करते है, वह सब परात्पर नारायणको सपर्मण कर दिया जावे" (भाग ११ २ ३६)। साराश यह है, कि अध्यात्मशास्त्रमें जिसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय पक्ष, फलाशात्याग अथवा ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म कहते है (गीता ४ २४, ५ १०, १२ १२), उसीको भक्ति-मार्गमें 'कृष्णार्पणपूर्वक कर्म' यह नया नाम मिल जाता है। भक्ति-मार्गवाले भोजनके समय 'गोविद, गोविद' कहा करते है, उसका रहस्य इस कृष्णार्पण-बुद्धिमेंही है। ज्ञानी जनकने कहा है, कि हमारे सब व्यवहार लोगोंके उपयोगके लिये निष्काम-बुद्धिसे हो रहे है, और भगवद्भक्तभी खाना, पीना, इत्यादि अपना सब व्यवहार कृष्णार्पण-बुद्धिसेही किया करते है। उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन अथवा अन्य इष्टापूर्त कर्म करनेपर अतमें 'इद कृष्णार्पणमस्तु' अथवा 'हरिर्दाता हरिर्भोक्ता' कहकर पानी छोडनेकी जो रीति है, उसका मूल तत्त्वभी भगवद्गीताके उक्त श्लोकमें है। यह सच है, कि जिस प्रकार बालियोंके न रहनेपरभी कानोंके छेद मात्र बाकी रह जाय, उसी प्रकार वर्तमान समयमें उक्त सकल्पकी दशा हो गई है, क्योकि पुरोहित उस सकल्पके सच्चे अर्थको न समझकर

सिर्फ तोतेकी नाई उसे पढा करता है, और यजमान बहिरेकी नाई पानी छोडनेकी कवायत किया करता है। परतु विचार करनेसे मालूम होता है, कि इसकी जडमें कर्म-फलाशाको छोडकर कर्म करनेका तत्त्व है, और इसकी हँसी करनेसे शास्त्रमें तो कुछ दोप न ी आता, किंतु हँसी करनेवालेका अज्ञानही प्रकट होता है। यदि सारी आयुके कर्म – यहाँतक कि जिदा रहनेकाभी कर्म – इस प्रकार कृष्णार्पण-बुद्धिसे अथवा फलाशाका त्यागकर किये जावे, तो पापवासना कैसे रह सकती है? और कुकर्म कैसे हो सकते हैं? फिर लोगोंके उपयोगके लिये कर्म करो, ससारकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करो, इत्यादि उपदेश करनेकी आवश्यकताही कहाँ रह जाती है? तब तो 'मैं' और 'लोग' इन दोनोका समावेश परमेश्वरमें और परमेश्वरका समावेश इन दोनोमें हो जाता है, इसलिये स्वार्थ और परार्थ दोनोभी कृष्णार्पणरूपी परमार्थमें डूब जाते हैं, और तुकाराम महाराज जैसे महात्माओकी यह उक्तिही चरितार्थ होती है, कि "सतोकी विभूतियाँ जगतके कल्याणहीके लिये हुआ करती हैं, वे लोग परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं।" पिछले प्रकरणमें युक्तिवादसे यह सिद्ध कर दिया गया है, कि जो मनुष्य अपने सब काम कृष्णार्पण-बुद्धिसे किया करता है, उसका 'योगक्षेम' किसी प्रकार रुक नही सकता, और भक्ति-मार्गवालोको तो स्वय भगवानने गीतामें आश्वासन दिया है, कि "तेपा निन्याभियुक्ताना योग-क्षेम वहाम्यहम्' (गीता ९ २२)। यह कहनेकी आवश्यकता नही, कि जिस प्रकार ऊँचे दर्जेके ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य है, कि वह सामान्य जनोमें बुद्धिभेद न करके उन्हे सन्मार्गमें लगावे (गीता ३ २६), उसी प्रकार परम श्रेष्ठकाभी यही कर्तव्य है, कि वह निम्न श्रेणीके भक्तोकी श्रद्धाको भ्रष्ट न कर, उनके अधिकारके अनुसारही उन्हे उन्नतिके मार्गमें लगा देवे। साराश, उक्त विवेचनसे यह मालूम हो जायगा, कि अध्यात्मशास्त्रमें और कर्म-विपाकमें जो सिद्धान्त कहे गये हैं, वे सब कुछ शब्दभेदसे भक्ति-मार्गमेंभी स्थिर रखे गये है, और ज्ञान तथा भक्तिमें इस प्रकार मेलकर देनेकी पद्धति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है।

परतु जहाँ शब्दभेदसे अर्थके अनर्थ हो जानेका भय रहता है, वहाँ इस प्रकारसे शब्दभेदभी नही किया जाता, क्योकि अर्थही प्रधान बात है। उदाहरणार्थ, कर्म-विपाक-प्रक्रियाका सिद्धान्त है, कि ज्ञान-प्राप्तिके लिये प्रत्येक मनुष्य स्वय प्रयत्न करे, और अपना उद्धार आपही कर ले। यदि इसमें शब्दोका कुछ भेद करके यह कहा जाय, कि यह कामभी परमेश्वरही करता है, तो मूढ जन आलसी हो जावेंगे। इसलिये "आत्मैव ह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन" – आप-ही अपना शत्रु और आप-ही अपना मित्र है (गीता ६ ५) – यह तत्त्व भक्ति-मार्गमेंभी प्राय ज्यो-का-त्यो अर्थात् शब्दभेद न करके बतलाया जाता है। साधु तुकारामके इस भावका उल्लेख पहले हो चुका है, कि "इससे किसीका क्या नुकसान हुआ? अपनी बुराई अपने हाथोकर ली" (तु गा ४४४८)। इससेभी अधिक स्पष्ट शब्दोमें उन्होने

कहा है, कि 'ईश्वरके पास कुछ मोक्षकी गठडी नही धरी है, कि वह किसीके हाथमें दे दे।। यहाँ तो इंद्रियोको जीतना और मनको निर्विषय करनाही मुख्य उपाय है (तु गा ४२९७)। क्या यह उपनिषदोंके इस मन्त्रके – "मन एव मनुष्याणा कारण वधमोक्षयो" के – समान नही है, जो पहले दसवे प्रकरणमें दिया जा चुका है। यह सच है, कि परमेश्वरही इस जगतकी सव घटनाओका करने-करानेवाला है। परतु उसपर निर्दयताका और पक्षपात करनेका दोप न लगाया जावे, इसलिये कर्म-विपाक-प्रक्रियामें जो यह सिद्धान्त कहा गया है, कि परमेश्वर प्रत्येक मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल दिया करता है। वह सिद्धान्त इसी कारणसे बिना किसी प्रकारका शब्दभेद कियेही भक्ति-मार्गमें ले लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि उपासनाके लिये ईश्वरको व्यक्त मानना पडता है, तथापि अध्यात्मशास्त्रका यह सिद्धान्त-भी हमारे यहाँके भक्ति-मार्गमें कभी छूट नही जाता, कि जो कुछ व्यक्त है, वह सव माया है और सत्य परमेश्वर उसके परे है। पहले कह चुके है, कि इसी कारणसे गीतामें वेदान्तसूत्र-प्रतिपादित जीवका स्वरूपही स्थिर रखा गया है। मनुष्यके मनकी प्रत्यक्षकी ओर अथवा व्यक्तकी ओर झुकनेकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, उसमें और तत्त्वज्ञानके गहन सिद्धान्तोमें मेलकर देनेकी वैदिक धर्मकी यह रीति किसीभी अन्य देशके लोगोंके भक्ति-मार्गमें दीख नही पडती। जव लोग एक वार परमेश्वरकी किसी सग़ ˜ विभूतिका स्वीकार कर व्यक्तका सहारा लेते हैं, तव उसीमें ऐसे आसक्त होकर फँस जाते हैं, कि उसके सिवा उन्हे और कुछ दीखही नही पडता, और उनके मनमें अपने अपने सगुण प्रतीकके विषयमें वृथाभिमान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्थामें वे लोग यह मिथ्या भेद करनेका यत्न करने लगते है, कि तत्त्वज्ञानका मार्ग भिन्न है, और श्रद्धाका भक्ति-मार्ग भिन्न है। परतु हमारे देशमें तत्त्वज्ञानका उदय बहुत प्राचीन कालमेंही हो चुका था, इसलिये गीता-धर्ममें श्रद्धा और ज्ञानका कुछभी विरोध नही है, वल्कि वैदिक ज्ञानमार्ग श्रद्धासे और वैदिक भक्ति-मार्ग ज्ञानसे, पुनीत हो गया है, अतएव मनुष्य किसीभी मार्गका स्वीकार क्यो न करे, अतमें उसे एकही-सी सद्गति प्राप्त होती है। इसमें कुछ आश्चर्य नही, कि अव्यक्त ज्ञान और व्यक्त भक्तिके मेलका यह महत्त्व केवल व्यक्त क्राइस्टमेंही लिपटे रहनेवाले धर्मके पडितोंके ध्यानमें नही आ सका, औ' इसलिये उनकी एक-देशीय तथा तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कोती नजरसे गीता-धर्ममें उन्हें विरोध दीख पडने लगा। परतु आश्चर्यकी वात तो यही है, कि वैदिक धर्मके इस गुणकी प्रशसा न कर हमारे देशके कुछ अनुकरणप्रेमी जन आजकल इसी गुणकी निंदा करते देखे जाते हैं। माघ काव्यका (१६ ४३) यह वचन इसी बातका एक अच्छा उदाहरण है, कि "अथ वाऽभिनिविष्टवुद्धिषु। व्रजति व्यर्थकता सुभाषितम्।" – खोटी समझसे जव एक वार मन ग्रस्त हो जाता है, तव मनुष्यको अच्छी वातेंभी ठीक नही जँचती।

स्मार्तमार्गमें चतुर्थाश्रमका जो महत्त्व है, वह भक्ति-मार्गमे अथवा भागवत धर्ममें नही है। वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन भागवत धर्ममेंभी किया जाता है, परतु उस धर्मका सारा आधार भक्तिपरही होता है, इसलिये जिसकी भक्ति उत्कट हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है – फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या वैरागी हो, इसके विषयमें भागवत धर्ममें कुछ विधिनिषेध नही है (भा ११ १८ १३, १४)। सन्यास-आश्रम स्मार्त-धर्मका एक आवश्यक भाग है, भागवत धर्मका नही। परतु ऐसा कोई नियम नही, कि भागवत धर्मके अनुयायी कभी विरक्त न हो, और गीतामेंही कहा है, कि सन्यास और कर्मयोग ये दोनो मोक्षकी दृष्टिसे समान योग्यताके है। इसलिये यद्यपि चतुर्थाश्रमका स्वीकार न किया जावे, तथापि सासारिक कर्मोको छोड वैरागी हो जानेवाले पुरुष भक्ति-मार्गमेंभी पाये जा सकते है। यह बात पूर्व समयसेही कुछ कुछ चली आ रही है। परतु उस समय इन लोगोको प्रभुता न थी, और ग्यारहवे प्रकरणमें यह बात स्पष्ट रीतिसे बतला दी गई है, कि भगवद्गीतामें कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोगहीको अधिक महत्त्व दिया गया है। कालातरसे कर्मयोगका यह महत्त्व लुप्त हो गया, और वर्तमान समयमें भागवत धर्मीय लोगोकोभी यही समझ हो गई है, कि भगवद्भक्त वही है, कि जो सासारिक कर्मोको छोड, विरक्त होकर केवल भक्तिमेंही निमग्न हो जावे। इसलिये यहाँ भक्तिकी दृष्टिसे फिरभी कुछ थोडा-सा विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, कि इस विषयमें गीताका मुख्य सिद्धान्त और सच्चा उपदेश क्या है? भक्ति-मार्गका अथवा भागवत धर्मका ब्रह्म स्वय सगुण भगवानही है। यदि येही भगवान् स्वय सारे ससारके कर्ता-धर्ता हैं, और साधुजनोकी रक्षा करने तथा दुष्टजनोको दड देनेके लिये समय समयपर अवतार लेकर इस जगतका धारण-पोषण किया करते हैं, तो यह कहनेकी आवश्यकता नही, कि भगवद्भक्तोकोभी लोकसग्रहके लिये उन्ही भगवानका अनुकरण करना चाहिये। हनुमानजी रामचद्रके बडे भक्त थे, परतु उन्होंने रावण आदि दुष्टजनोका निर्दलन करनेका काम कुछ छोड नही दिया था। भीष्मपितामहकी गणनाभी परम भगवद्भक्तोमें की जाती है, परतु यद्यपि वे स्वय मृत्युपर्यत ब्रह्मचारी रहे, तथापि उन्होंने स्वधर्मानुसार स्वकीयोकी और राज्यकी रक्षा करनेका काम अपने जीवनभर जारी रखा था। यह बात सच है, कि जब भक्तिके द्वारा परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो गया हो, तब भक्तको स्वय अपने हितके लिये कुछ प्राप्त कर लेना शेष नही रह जाता। परतु प्रेममूलक भक्ति-मार्गसे दया, करुणा, कर्तव्य-प्रीति इत्यादि श्रेष्ठ मनोवृत्तियोका नाश नही हो सकता, बल्कि वे औरभी अधिक शुद्ध हो जाती हैं। ऐसी दशामें यह प्रश्नही नही उठ सकता, कि कर्म करें या न करें? वरन् भगवद्भक्त तो वही है, कि जिसके मनमें ऐसा अभेदभाव उत्पन्न हो जाय –

जिसका कोई न हो हृदयसे उसे लगावे,
प्राणिमात्रके लिये प्रेमकी ज्योति जगावे।

सबमें विभुको व्याप्त जान सबको अपनावे,
है बस ऐसा वही भक्तको पदवी पावे।

ऐसी अवस्थामें स्वभावतः उन लोगोंकी वृत्ति लोकसंग्रहहीके अनुकूल हो जाती है जैसा कि ग्यारहवें प्रकरणमें कह चुके है – "सतोंकी विभूतियाँ जगतके कल्याणहीके लिये हुआ करती है। वे लोग परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते है।" जब यह मान लिया, कि परमेश्वरही इस सृष्टिको उत्पन्न करता है, और उसके सब व्यवहारोंकोभी किया करता है तब यह अवश्यही मानना पडेगा, कि उसी सृष्टिके व्यवहारोंको सरलतासे चलानेके लिये चातुर्वर्ण्य आदि जो व्यवस्थाएँ है, वे उसीकी इच्छासे निर्मित हुई है। गीतामेंभी भगवानने स्पष्ट रीतिसे यही कहा है, कि "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः (गीता ४ १३)। अर्थात् यह परमेश्वरहीकी इच्छा है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार समाजके इन कामोंको लोकसंग्रहके लिये करता रहे। इसीसे आगे यहभी सिद्ध होता है, कि सृष्टिके जो व्यवहार परमेश्वरकी इच्छासे चल रहे है, उनका कुछ-आध विशेष भाग किसी मनुष्यके द्वारा पूरा करानेके लियेही परमेश्वर उसको उत्पन्न किया करता है, और यदि परमेश्वर-द्वारा नियत किया गया उसका यह काम मनुष्य न करे, तो परमेश्वर हीकी अवज्ञा करनेका पाप उसे लगेगा। यदि तुम्हारे मनमें यह अहंकार-बुद्धि जागृत होगी, कि ये काम मेरे है अथवा मैं उन्हे अपने स्वार्थके लिये करता हूँ तो उन कर्मोंके भले-बुरे फल तुम्हे अवश्य भोगने पडेंगे। [illegible] यदि तुम उन्ही कामोंको केवल स्वधर्म जानकर परमेश्वरार्पणपूर्वक [illegible] करोगे कि "परमेश्वरके मनमें जो कुछ करना है उसीके [illegible] करके वह मुझसे काम कराता है" (गीता ११ ३३) तो [illegible] अनाचरण या अयोग्य नहीं। बल्कि गीताका यह कथन है, कि इस स्वधर्माचरणसेही सब भूतान्तर्गत परमेश्वरकी सात्त्विक भक्ति हो जाती है। भगवानने अपने सब उपदेशोंका तात्पर्य गीताके अंतिम अध्यायमें उपसंहाररूपसे अर्जुनको इस प्रकार बतलाया है कि "सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करके परमेश्वरही उन्हे यंत्रके समान नचाता है इसलिये ये दोनों भावनाएँ मिथ्या है, कि मैं अमुक कर्मको छोडता हूँ या अमुक कर्मको करता हूँ। फलाशाको छोड सब कर्म कृष्णार्पण-बुद्धिसे करते रहो। यदि तू ऐसा निग्रह करेगा कि मैं इन कर्मोंको नहीं करता तोभी प्रकृतिधर्मके अनुसार तुझे उन कर्मोंको करनाही होगा। अतएव परमेश्वरमें अपने सब स्वार्थोंका लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहारको परमार्थ-बुद्धिसे और वैराग्यसे लोकसंग्रहके लिये तुझे अवश्य करनाही चाहिये, मैंभी यही करता हूँ मेरे उदाहरणको देख और उसके अनुसार बर्ताव कर। जैसे ज्ञानका और निष्काम कर्मका विरोध नहीं वैसेही भक्तिका और कृष्णार्पण-बुद्धिसे किये गये कर्मोंमेंभी विरोध उत्पन्न नहीं होता। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराजभी भक्तिके द्वारा परमेश्वरके "अणोरणीयान् महतो महीयान् (कठ २ २०, गीता ८ ९) –

परमाणुसेभी छोटा और बडेसेभी बडा – ऐसे स्वरूपके साथ अपने तादात्म्यका वर्णन करके कहते है, कि "अब मै केवल परोपकारहीके लिये बचा हूँ।" उन्होंने सन्यास-मार्गके अनुयायियोंके समान यह नही कहा, कि अब मेरा कुछभी काम शेष नही है (तु गा ३५८७)। बल्कि वे कहते हैं, कि "भिक्षापात्रका अवलबन करना लज्जास्पद जीवन है, वह नष्ट हो जावे। नारायण ऐसे मनुष्यकी सर्वथा उपेक्षाही करता है।" (तु गा २५९५)। अथवा "सत्यवादी मनुष्य ससारके सब काम करता है, परतु जलमें कमलपत्रके समान उनसे अलिप्त रहता है। जो उपकार करता है और प्राणियोपर दया करता है, उसीमें आत्मस्थितिका निवास जानो" (तु गा ३७८० २, ३)। इन वचनोसे साधु तुकारामका इस विषयमें स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त हो जाता है। यद्यपि तुकाराम महाराज ससारी थे, तथापि उनके मनका झुकाव कुछ कर्मत्यागहीकी ओर था। परतु प्रवृत्तिप्रधान भागवत धर्मका लक्षण अथवा गीताका सिद्धान्त यह है, कि उत्कट भक्तिके साथ साथ मृत्युपर्यंत ईश्वरार्पणपूर्वक निष्काम कर्म करतेही रहना चाहिये, और यदि कोई इस सिद्धान्तका पूरा पूरा स्पष्टीकरण देखना चाहे, तो उसे श्रीसमर्थ रामदासस्वामीके दासबोध ग्रथको ध्यानपूर्वक पढना चाहिये (स्मरण रहे, कि साधु तुकारामनेही शिवाजी महाराजको जिन 'सद्गुरुकी शरण' मे जानेको कहा था, उन्हीका यह प्रासादिक ग्रथ है)। रामदासस्वामीने अनेक वार कहा है, कि भक्तिके द्वारा अथवा परमेश्वरके शुद्ध-स्वरूपको पहचान कर जो सिद्ध-पुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं, वे "सब लोगोको 'सयाना' बनानेके लिये" (दास १९ १० १४) जिस प्रकार नि स्पृहतासे अपना काम यथाधिकार किया करते है, उसे देखकर साधारण लोकभी अपना अपना व्यवहार करना सीखें, क्योकि "बिना किये कुछभी नही होता" (दास १९ १० २५, १२ ९ ६, १८ ७ ३), और अतिम दशकमें (दास २० ४ २६) उन्होंने कर्मकी सामर्थ्यका भक्तिकी तारक शक्तिके साथ पूरा पूरा मेल इस प्रकार कर दिया है –

हलचलमें सामर्थ्य है। जो करेगा वही पावेगा।
परतु उसमें भगवानका। अधिष्ठान चाहिये ॥

गीताके आठवे अध्यायमें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, कि "मामनुस्मर युध्य च" (गीता ८ ७) – नित्य मेरा स्मरण कर, और युद्ध कर – उसका तात्पर्य, और छठे अध्यायके अतमें जो कहा है, कि "कर्मयोगियोमें भक्तिमान् श्रेष्ठ है" (गीता ६ ४७) उसकाभी तात्पर्य वही है, कि जो रामदासस्वामीके उक्त वचनमें है। गीताके अठारहवे अध्यायमेंभी भगवानने यही कहा है –

यत. प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ॥

"जिसने इस सारे जगत्को उत्पन्न किया है, उसकी अपने स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्माचरणसे (न कि केवल वाचासे अथवा पुष्पोंसे) पूजा करके मनुष्य सिद्धि

पाता है" (गीता १८. ४६)। अधिक क्या कहें, इस श्लोकका और समस्त गीता-काभी भावार्थ यही है, कि स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्म करनेसे सर्वभूतान्तर्गत विराट-रूपी परमेश्वरकी एक प्रकारकी भक्ति, पूजा या उपासनाही हो जाती है। ऐसा कहनेसे, कि "अपने धर्मानुरूप कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करो," यह नहीं समझना चाहिये, कि "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" इत्यादि नवविधा भक्ति गीताको मान्य नहीं। परन्तु गीताका कथन है, कि कर्मोंको गौण समझकर उन्हें छोड देना और इस नव-विधा भक्तिमेंही बिल्कुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है, शास्त्रतः प्राप्त अपने सब कर्मोंको यथोचित रीतिसे अवश्य करनाही चाहिये। परतु उन्हें 'स्वयं अपने लिये' समझकर नहीं, किंतु परमेश्वरका स्मरणकर इस निर्मम बुद्धिसे करना चाहिये, कि "ईश्वरनिर्मित सृष्टिके संग्रहार्थ उसीके ये सब कर्म हैं।" ऐसा करनेसे कर्मका लोप नहीं होगा, उलटे इन कर्मोंसेही परमेश्वरकी सेवा, भक्ति वा उपासना हो जायगी, और उन कर्मोंके पाप-पुण्यके भागी हम न होकर अंतमें पूर्ण सद्गतिभी मिल जायगी। गीताके इस सिद्धान्तपर ध्यान न देकर गीताके भक्ति-प्रधान टीकाकार अपने ग्रंथोंमें यह भावार्थ बतलाया करते हैं, कि गीतामें भक्तिहीको प्रधान माना है, और कर्मको गौण। परन्तु सन्याससमार्गीय टीकाकारोंके समान भक्ति-प्रधान टीका-कारोंका यह तात्पर्यार्थभी एक-पक्षीय है। गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्ग कर्म-प्रधान है, और उसका मुख्य तत्त्व यह है, कि परमेश्वरकी पूजा न केवल पुष्पोंसे या वाचासेही होती है, किंतु वह स्वधर्मोक्त निष्काम कर्मोंसेभी होती है, और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्यको अवश्य करनी चाहिये। जब कि कर्ममय भक्तिका यह तत्त्व गीताके समान अन्य किसीभी स्थानमें प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्वको गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गका विशेष लक्षण कहना चाहिये।

इस प्रकार कर्मयोगकी दृष्टिसे ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गका पूरा पूरा मेल यद्यपि हो गया, तथापि ज्ञान-मार्गसे भक्ति-मार्गमें जो एक महत्त्वकी विशेषता है, उसकाभी अब अंतमें स्पष्ट रीतिसे वर्णन हो जाना चाहिये। यह तो पहलेही कह चुके हैं, कि ज्ञान-मार्ग केवल बुद्धिगम्य होनेके कारण अल्प बुद्धिवाले सामान्य जनोंके लिये क्लेशमय है, और भक्ति-मार्गके श्रद्धामूलक, प्रेमगम्य तथा प्रत्यक्ष होनेके कारण उसका आचरण करना सब लोगोंके लिये सुगम है। परन्तु क्लेशके सिवा ज्ञान-मार्गमें एक औरभी अडचन है। जैमिनीकी मीमांसा, या उपनिषद् और वेदान्त-सूत्रोंको देखें, तो मालूम होगा, कि उनमें श्रौत-यज्ञयाग आदिकी अथवा कर्म-सन्यासपूर्वक 'नेति नेति'-स्वरूपी परब्रह्मकीही चर्चा भरी पडी है, और अंतमें यही निर्णय किया है, कि स्वर्ग-प्राप्तिके लिये साधनभूत होनेवाले श्रौत यज्ञ-यागादिक कर्म करनेका अथवा मोक्ष-प्राप्तिके लिये आवश्यक उपनिषदादि वेदाध्ययन करनेका अधिकारभी पहले तीन वर्णोंको है (वे. सू. १. ३. ३४-३८)। इन ग्रंथोंमें इस बातका विचार नहीं किया गया है, कि उक्त तीन वर्णोंको, स्त्रियोंको अथवा चातुर्वर्ण्यके अनुसार सारे

समाजके हितके लिये खेती या अन्य व्यवसाय करनेवाले साधारण स्त्री-पुरुषाको मोक्ष कैसे मिले। अच्छा, स्त्री-शूद्रादिकोके साथ वेदोकी ऐसी अनवन होनेसे यदि यह कहा जाय, कि उन्हे मुक्ति कभी मिलही नही सकती, तो उपनिषदो और पुराणोमेंही ऐसे वर्णन पाये जाते है, कि गार्गी प्रभृति स्त्रियोको और विदुर प्रभृतिको ज्ञानकी प्राप्ति होकर सिद्धि मिल गई थी (वे सू ३ ४ ३६–३९)। ऐसी दशामें यह सिद्धान्त नही किया जा सकता, कि सिर्फ पहले तीन वर्णोंके पुरुषोहीको मुक्ति मिलती है, और यदि यह मान लिया जावे, कि स्त्री-शूद्र आदि सभी लोगोको मुक्ति मिल सकती है, तो अव वतलाना चाहिये, कि उन्हे किस साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होगी। वादरायणाचार्य कहते है, कि 'विशेपानुग्रहश्च' (वे सू ३ ४ ३८) अर्थात् परमेश्वरका विशेप अनुग्रहही उनके लिये एक साधन है, और भागवतमें (भाग १ ४ २५) कहा है, कि कर्म-प्रधान भक्ति-मार्गके रूपमे इसी विशेपानुग्रहात्मक साधनका "महाभारतमें और अतएव गीतामेंभी निरूपण किया गया है, क्योकि स्त्रियो, शूद्रो या (कलियुगके) नामधारी ब्राह्मणोंके कानोतक श्रुतिकी आवाज नही पहुँचती है।" इस मार्गमे प्राप्त होनेवाला ज्ञान और उपनिपदोका ब्रह्मज्ञान – दोनो यद्यपि एकहीसे हो, तथापि अव स्त्री-पुरुपसवधी या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रसवधी कोई भेद शेप नही रहता, और इस मार्गके विशेप गुणके वारेमें गीता कहती है, कि –

मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम् ॥

"हे पार्थ! स्त्री, वैश्य और शूद्र या अत्यज आदि जो पाप-योनियोमें उत्पन्न हुए है मेरा आश्रय करके वेभी सव उत्तम गति पा जाते है" (गीता ९ ३२)। यही श्लोक महाभारतके अनुगीतापर्वमेंभी आया है (मभा अश्व १९ ६१), और ऐसी कथाएँभी है, कि वनपर्वान्तर्गत ब्राह्मण-व्याध-सवादमें मास वेचनेवाले व्याधने किसी ब्राह्मणको, तथा शातिपर्वमें तुलाधारने अर्थात् वनियेने जाजलि नामक तपस्वी ब्राह्मणको, यह निरूपण सुनाया है, कि स्वधर्मके अनुसार निष्काम वुद्धिसे आचरण करनेही मोक्ष कैसे मिल जाता है (मभा वन २०६–२१४, शा २६०–२६३) इससे प्रकट होता है, कि जिसकी वुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह सुनार हो, वढई हो, वनिया हो या कसाई। किसी मनुष्यकी योग्यता उसके धधेपर, व्यवसायपर या जातिपर, अवलवित नही, किंतु सर्वथा उसके अत करणकी शुद्धतापर अवलवित होती है, और यही भगवानकाभी अभिप्राय है। इस प्रकार किसी समाजके सव लोगोके लिये मोक्षके दरवाजे खुल जानेसे, उस समाजमें जो एक प्रकारकी विलक्षण जागृति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप महाराष्ट्रके भागवत धर्मके इतिहाससे भली भाँति दीख पडता है। परमेश्वरको क्या स्त्री, क्या चाडाल, क्या ब्राह्मण-सभी समान है, "देव भावका भूखा है" – न प्रतीकका, न

काले-गोरे वर्णका, और न स्त्री-पुरुष आदि या ब्राह्मण-चाडाल आदि भेदोकाभी। साधु तुकारामका इस विषयका अभिप्राय, इस हिंदी पदसे प्रकट हो जायगा –

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईशको वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचोकोभी भक्तिभावमें शुचिता कब तज सकती है।
अनुभवसे कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में,
जो चाहे सो पिये प्रेमसे अमृत भरा है इस रसमें।।

अधिक क्या कहे ? गीताशास्त्रकाभी यह सिद्धान्त है, कि "मनुष्य कितनाभी दुराचारी क्यो न हो, परतु यदि अतकालमें वह अनन्य भावसे भगवानकी शरणमें जावे तो परमेश्वर उसे नही भूलता" (गीता ९ ३०, ८ ५–८)। उक्त पद्यमें 'वेश्या' शव्दको (जो साधु तुकाराम महाराजके मूल वचनके आधारसे रखा गया है) देखकर, पवित्रताका ढोग करनेवाले वहुतेरे विद्वानोको कदाचित् वुरा लगे। परतु सच वात तो यह है, कि ऐसे लोगोको सच्चा धर्म-तत्त्व मालूमही नही है। न केवल हिंदु धर्ममें, किंतु वौद्ध धर्ममेंभी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है (मिलिंदप्रश्न ३ ७ २), और उनके धर्म-ग्रथोमें ऐसी कथाएँ है, कि वुद्धने आम्रपाली नामक किसी वेश्याको और अगुलीमाल नामके चोरको दीक्षा दी थी। ईसाइयोके धर्म ग्रथमेंभी यह वर्णन है, कि ईसाके साथ जो दो चोर सूलीपर चढाये गये थे, उनमेंसे एक चोर मृत्युके समय ईसाकी शरणमे गया, और ईसाने उसे सद्‌गति दी (ल्यूक २३ ४२ ४३)। स्वय ईसानेभी एक स्थानमें कहा है, कि हमारे धर्ममें श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँभी मुक्त हो जाती है (मेथ्यु २१ ३१, ल्यूक ७ ५०)। यह वात दसवे प्रकरणमें हम वतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसेभी यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है। परतु यह धर्म-तत्त्व शास्त्रत यद्यपि निर्विवाद है, तथापि जिसका सारा जन्म दुराचरणमें व्यतीत हुआ है, उसके अत करणमें केवल मृत्युके समयही अनन्य भावसे भगवानकी शरणमें जानेकी वुद्धि कैसे जागृत रह सकती है ? ऐसी अवस्थामें अत - कालकी वेदनाओको सहते हुए केवल यत्रके समान एक बार 'रा' कहकर और कुछ देरसे 'म' कहकर, मुँह खोलने और वद करनेके परिश्रमके सिवा कुछ अधिक लाभ नही होता। इसलिये भगवानने सव लोगोसे निश्चित रीतिसे कहा है, कि "न केवल मृत्युके समयही किंतु सारे जीवनभर सदैव मेरा स्मरण मनमें रहने दो, और स्वधर्मके अनुसार अपने सव व्यवहारोको परमेश्वरार्पणवुद्धिसे करते रहो, फिर चाहे तुम किसीभी जातिके रहो, तोभी तुम कर्मोको करते हुएभी मुक्त हो जाओगे" (गीता ९ २६–२८, ३०–३४)।

इस प्रकार उपनिषदोका ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान आवालवृद्ध सभी लोगोके लिये सुलभ तो कर दिया गया है, परतु ऐसा करते समय न तो व्यवहारका लोप होने दिया है, और न वर्ण, आश्रम, जाति-पाति अथवा स्त्री-पुरुष आदिका कोईभी भेद रखा गया है। जव हम गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गकी इस शक्ति अथवा समताकी

ओर ध्यान देते हैं, तब गीताके अंतिम अध्यायमें भगवानने प्रतिज्ञापूर्वक गीताशास्त्रका जो उपसंहार किया है, उसका मर्म प्रकट हो जाता है। वह ऐसा है – "सब धर्म छोड़कर मेरे अकेलेकी शरणमें आ जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, घबराना नहीं।" यहांपर धर्म शब्दका उपयोग इसी व्यापक अर्थमें किया गया है, कि सब व्यवहारोंको करते हुएभी पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर परमेश्वर-रूपी प्राप्ति या आत्मश्रेय जिस मार्ग प्रत्यक्ष उपायके द्वारा संपादन किया जा सकता है, वही धर्म है। अनुगीताके गुरुशिष्य-संवादमें ऋषियोंने ब्रह्मासे यह प्रश्न किया (अश्व ४९), कि अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, व्रत तथा उपवास, ज्ञान, यज्ञयाग, दान, कर्म, संन्यास आदि जो जो अनेक प्रकारके मुक्तिके साधन अनेक लोग बतलाते हैं, उनमेंसे सच्चा साधन कौन है? शांतिपर्वके (मभा शां ३५४) उच्छवृत्ति उपाख्यानमेंभी यह प्रश्न है, कि गार्हस्थ्यधर्म, वानप्रस्थधर्म, राजधर्म, मातृ-पितृसेवा-धर्म, क्षत्रियोंका रणांगणमें मरण, ब्राह्मणोंका स्वाध्याय, इत्यादि जो अनेक धर्म या स्वर्ग-प्राप्तिके साधन शास्त्रोंने बतलाये हैं, उनमेंसे ग्राह्य धर्म कौन है? ये भिन्न धर्म-मार्ग या धर्म दिखनेमें तो परस्पर-विरुद्ध मालूम होते हैं, परन्तु शास्त्रकार इन सब प्रत्यक्ष मार्गोंकी योग्यताको एक-सीही समझते हैं, क्योंकि समस्त प्राणियोंमें साम्य-बुद्धि रखनेका जो अंतिम साध्य है, वह इनमेंसे किसीभी धर्मपर प्रीति और श्रद्धाके साथ मनको एकाग्र किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि, इन अनेक मार्गोंकी अथवा प्रतीक-उपासनाकी झंझटमें फँसनेसे मन घबरा जा सकता है, इसलिये अकेले अर्जुनकोही नहीं, किंतु उसे निमित्त करके सब लोगोंको भगवान् इस प्रकार निश्चित आश्वासन देते हैं, कि चित्त-शुद्धिके इन अनेक धर्म मार्गोंको छोड़कर "तू केवल मेरी शरणमें आ, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूंगा, डर मत।" साधु तुकारामभी इसी प्रकार सब धर्मोंका निरसन करके अंतमें भगवानसे यही मांगते हैं, कि –

चतुराई चेतना सभी चूल्हेमें जावें,
बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे।
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें,
उस विभु का विश्वास सदा दृढ रहे हृदयमें ॥

निश्चयपूर्वक उपदेशकी या प्रार्थनाकी अंतिम सीमा हो चुकी।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी सोनेकी थालीका यह भक्तिरूपी अंतिम कौर है, यही प्रेमग्रास है। इसे पा चुके, अब आगे चलिये।

चौदहवाँ प्रकरण

गीताध्याय-संगति

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् । *

– महाभारत, शांति २१७ २

अबतक किये गये विवेचनमें दीख पडेगा, कि भगवद्गीतामें अर्थात् भगवानके द्वारा गाये गये उपनिषदमें यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मोको करते हुएही अध्यात्मविचारसे या भक्तिसे सर्वात्मैक्यरूप साम्य-बुद्धि पूर्णतया प्राप्त कर लेना, और उसे प्राप्त कर लेनेपरभी सन्यास लेनेकी झझटमें न पड ससारमें शास्त्रत प्राप्त सब कर्मोको केवल अपना कर्तव्य समझकर करते रहनाही, इस ससारमें मनुष्यका परम पुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करनेका उत्तम मार्ग है। परतु जिस क्रमसे हमने इस ग्रथमें उक्त अर्थका वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा गीता ग्रथका क्रम भिन्न है, इसलिये अब यहभी देखना चाहिये, कि भगवद्गीतामें इस विषयका वर्णन किस प्रकार किया गया है। किसीभी विषयका निरूपण दो रीतियोसे किया जाता है एक शास्त्रीय और दूसरी पौराणिक। शास्त्रीय पद्धति वह है, कि जिसके द्वारा तर्क-शास्त्रानुसार साधकबाधक प्रमाणोको क्रमसहित उपस्थित करके यह दिखला दिया जाता है, कि सब लोगोकी समझमें सहजही आ सकनेवाली बातोसे किसी प्रतिपाद्य विषयके मूलतत्त्व किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। भूमितिशास्त्र इस पद्धतिका एक अच्छा उदाहरण है, और न्यायसूत्र या वेदान्त-सूत्रका उपपादनभी इसी वर्गका है। इसीलिये भगवद्गीतामें जहाँ ब्रह्मसूत्र याने वेदान्त-सूत्रोका उल्लेख किया है, वहाँ यहभी वर्णन है, कि उसका विषय हेतुयुक्त और निश्चयात्मक प्रमाणोसे सिद्ध किया गया है – "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै" (गीता १३ ४) परतु भगवद्गीताका निरूपण सशास्त्र भलेही हो, तथापि वह इस शास्त्रीय पद्धतिसे नही किया गया है। भगवद्गीतामे जो विषय है, उसका वर्णन अर्जुन और श्रीकृष्णके सवादरूपमें अत्यत मनोरजक और सुलभ रीतिसे किया गया है। इसीलिये प्रत्येक अध्यायके अतमें "भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" कहकर आगे गीतानिरूपणके स्वरूपके द्योतक 'श्रीकृष्णार्जुनसवादे' इन शब्दोका उपयोग किया गया

---

* "नारायण ऋषिने धर्मको प्रवृत्तिप्रधान बतलाया है।" नर और नारायण नामक ऋषियोमेंसेही ये नारायण ऋषि है। पहले बतला चुके हैं, कि इन्ही दोनोके अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुन थे। इसी प्रकार महाभारतका वह वचनभी पहले उद्धृत किया गया है, जिसमे यह मालूम होता है, कि गीतामें नारायणीय धर्मकाही प्रतिपादन किया गया है।

है। इस निरूपणमें और 'शास्त्रीय' निरूपणमें जो भेद है उसको स्पष्टतासे बतलानेके लिये हमने संवादात्मक निरूपणकोही 'पौराणिक' नाम दिया है। सात सौ श्लोकोंके इस संवादात्मक अथवा पौराणिक निरूपणमें 'धर्म' जैसे व्यापक शब्दमें शामिल होनेवाले सभी विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन कभी होही नहीं सकता। परन्तु आश्चर्यकी बात है, कि गीतामें जो अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनकाही संग्रह (संक्षेपमेंही क्यों न हो) अविरोधसे कैसे किया जा सका! इस बातसे गीताकारकी अलौकिक शक्ति व्यक्त होती है, और अनुगीताके आरंभमें जो यह कहा गया है, कि गीताका उपदेश "अत्यन्त योगयुक्त चित्तसे" बतलाया गया है उसकी सत्यताकी प्रतीतिभी हो जाती है। अर्जुनको जो विषय पहलेसेही मालूम थे, उन्हें फिरसे विस्तारपूर्वक कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। उसका मुख्य प्रश्न तो यही था, कि मैं लडाईका घोर कृत्य करूँ या न करूँ? और करूँभी तो किस प्रकार करूँ? जब श्रीकृष्ण अपने उत्तरमें एकाध युक्ति बतलाते थे तब अर्जुन उसपर कुछ-न-कुछ आक्षेप किया करता था। इस प्रकारके प्रश्नोत्तररूपी संवादमें गीताका विवेचन स्वभावहीसे कहीं संक्षिप्त और कहीं द्विरुक्त हो गया है। उदाहरणार्थ त्रिगुणात्मक प्रकृतिके फैलावका वर्णन कुछ थोडे भेदसे दो जगह है (गीता अ. ७ १४), और स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, त्रिगुणातीत, तथा ब्रह्मभूत इत्यादिकी स्थितिका वर्णन एक-सा होनेपरभी, भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे प्रत्येक प्रसंगपर बार बार किया गया है। इसके विपरीत "यदि अर्थ और काम धर्मसे विभक्त न हो तो वे ग्राह्य हैं" — इस तत्त्वका दिग्दर्शन गीतामें केवल "धर्माविरुद्ध कामोऽस्मि" (गीता ७. ११) इसी एक वाक्यमें कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि गीतामें सब विषयोंका समावेश किया गया है तथापि गीता पढते समय उन लोगोंके मन उलझनमें पड जाते हैं, जो श्रौत धर्म, स्मार्त धर्म, भागवत धर्म, सांख्यशास्त्र, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, कर्म-विपाक इत्यादिके उन प्राचीन सिद्धान्तोंसे पूर्णतया परिचित नहीं हैं कि जिनके आधारपर गीताके ज्ञानका निरूपण किया गया है। ... जब गीताके प्रतिपादनकी पद्धति ठीक ठीक ध्यानमें नहीं आती तब वे लोग कहने लगते हैं कि गीता मानो बाजीगरकी झोली है, अथवा शास्त्रीय पद्धतिके प्रचारके पूर्व गीताकी रचना हुई होगी, इसलिये उसमें स्थान-स्थानपर अधूरापन या विरोध दीख पडता है अथवा गीताका ज्ञानही हमारी बुद्धिके लिये अगम्य है! इस संशयको हटानेके लिये यदि टीकाओंका अवलोकन किया जाय तो उनसेभी कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि वे बहुधा भिन्न भिन्न संप्रदायानुसार बनी हैं! इसलिये टीकाकारोंके मतोंके परस्पर-विरोधोंकी एकवाक्यता करना असंभव-सा हो जाता है, और पढनेवालेका मन अधिकाधिक घबराने लगता है। इस प्रकारके भ्रममें पडे हुए कई सुप्रबुद्ध पाठकोंको हमने देखा है। इस अडचनको हटानेके लिये हमने अपनी बुद्धिके अनुसार गीताके प्रतिपाद्य विषयोंका शास्त्रीय क्रम बाँधकर अबतक विवेचन किया है। अब यहाँ इतना और

बतला देना चाहिये, कि येही विपय श्रीकृष्ण और अर्जुनके सभाषणमें, अर्जुनके प्रश्नो या शकाओके अनुरोधसे, कुछ न्यूनाधिक होकर कैसे उपस्थित हुए है। इससे यह विवेचन पूरा हो जायगा, और अगले प्रकरणमें सुगमतासे सव विषयोका उपसहार कर दिया जायगा।

पाठकोको प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि जव हमारा हिंदुस्थान देश ज्ञान, वैभव, यश और स्वराज्यके सुखका अनुभव ले रहा था, उस समय एक सर्वज्ञ, महापराक्रमी, यशस्वी और परमपूज्य क्षत्रियने दूसरे क्षत्रियको, जो महान् धनुर्धारी था, क्षात्र धर्मके स्वकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया है। जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रवर्तक महावीर और गौतम बुद्धभी क्षत्रियही थे। परतु इन दोनोने वैदिक धर्मके केवल सन्यास-मार्गको अगीकार कर क्षत्रिय आदि सव वर्णोंके लिये सन्यास-धर्मका दरवाजा खोल दिया था, परतु भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा नही किया, क्योकि भागवत-धर्मका यह उपदेश है, कि न केवल क्षत्रियोको परतु ब्राह्मणोकोभी निवृत्ति-मार्गकी शातिके साथ साथ निष्काम-वुद्धिसे सव कर्म आमरणान्त करते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। किसीभी प्रकारका उपदेश करनेके लिये किसी-न-किसी कारणकी आवश्यकता होती है, और उस उपदेशकी सफलताके लिये शिष्यके मनमें उस उपदेशका ज्ञान प्राप्त कर लेनेकी इच्छाभी प्रथमहीसे जागृत रहनी चाहिये। अतएव इन दोनो वातोका स्पष्टीकरण करनेके लियेही व्यासजीने, गीताके पहले अध्यायमें, इस वातका विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, कि श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश क्यो दिया है। कौरव-पाडवोकी सेनाएँ युद्धके लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्रपर खडी है, थोडीही देरमें लडाई छिडनेवालीही थी, कि इतनेमें अर्जुनके कहनेसे श्रीकृष्णने उसका रथ दोनो सेनाओके वीचमें ले जाकर खडा कर दिया, और अर्जुनसे कहा, कि "तुझे जिनसे युद्ध करना है, उन भीष्म, द्रोण आदिको देख।" तव अर्जुनने दोनो सेनाओकी ओर दृष्टि पहुँचाई और देखा, कि अपनेही वापदादा, काका, आजा, मामा, वधु, पुत्र नाती, स्नेही, आप्त, गुरु, गुरुवधु आदि दोनो सेनाओमें खडे है, और इस युद्धमें सव लोगोका नाश होनेवाला है! लडाई एकाएक उपस्थित नही हुई थी, लडाई करनेका निश्चय पहलेही हो चुका था, और वहुत दिनोसे दोनो ओरकी सेनाओका प्रवध हो रहा था। परतु इस आपसकी लडाईसे होनेवाले कुलक्षयका प्रत्यक्ष स्वरूप जव पहले पहल अर्जुनकी नजरमें आया, तव उसके समान महायोद्धाकेभी मनमे विपाद उत्पन्न हुआ, और उसके मुखसे ये शब्द निकल पडे, "ओह! आज हम लोग अपनेही कुलका भयकर क्षय इसीलिये करनेवाले है न, कि राज्य हमीको मिले, इसकी अपेक्षा भिक्षा मांगना क्या वुरा है?" और इसके वाद उसने श्रीकृष्णसे कहा, कि "शत्रु चाहे मुझे जानसे मार डाले, मुझे इसकी चिंता नही, परतु त्रैलोक्यके राज्यके लियेभी मैं पितृहत्या, गुरुहत्या, वधुहत्या या कुलक्षयके समान घोर पातक करना नही चाहता।" उसकी सारी देह थर-थर कांपने लगी, हाथ-पैर

शिथिल हो गये, मुंह सूख गया, और खिन्नवदन हो अपने हाथका धनुष्यवाण फेंककर वह बेचारा रथमें चुपचाप बैठ गया। इतनी कथा पहले अध्यायमें है। इस अध्यायको 'अर्जुन-विषादयोग' कहते हैं। क्योंकि यद्यपि पूरी गीतामें ब्रह्मविद्यान्तर्गत-(कर्म)योगशास्त्र नामक एकही विषय प्रतिपादित हुआ है, तोभी प्रत्येक अध्यायमें जिस विषयका वर्णन प्रधानतासे किया जाता है, उस विषयको इस कर्मयोग शास्त्रकाही एक भाग समझना चाहिये, और ऐसा समझकरही प्रत्येक अध्यायको उसके विषयानुसार अर्जुन-विषादयोग, साख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। इन सब 'योगो'को एकत्र करनेसे "ब्रह्मविद्याका कर्मयोग-शास्त्र" हो जाता है। पहले अध्यायकी कथाका महत्त्व हम इस ग्रथके आरभमें कह चुके हैं। इसका कारण यह है, कि (जबतक हम उपस्थित प्रश्नके स्वरूपको ठीक तौरसे जान न ले, तबतक उस प्रश्नका उत्तरभी भली भाँति हमारे ध्यानमें नही आता)। यदि कहा जाय, कि गीताका यही तात्पर्य है, कि "सासारिक कर्मोसे निवृत्त होकर भगवद्भजन करो या सन्यास ले लो," तो फिर अर्जुनको उपदेश करनेकी कुछ आवश्यकताही न थी, क्योंकि वह तो लडाईका घोर कर्म कर भिक्षा मांगनेके लिये आप-ही-आप तैयार हो गया था। पहलेही अध्यायके अतमें श्रीकृष्णके मुखसे ऐसे अर्थका एक-आध श्लोक कहलाकर वही गीताकी समाप्ति कर देनी चाहिये थी, "वाह! क्या ही अच्छा कहा! तेरी इस उपरतिको देख मुझे आनद मालूम होता है। चल, हम दोनो इस कर्ममय ससारको छोड सन्यासाश्रमके द्वारा या भक्तिके द्वारा अपने आत्माका कल्याण कर ले!" फिर, इधर लडाई हो जानेपर व्यासजी उसका वर्णन करनेमें तीन वर्षतक (मभा आ ६२ ५२) अपनी वाणीका भलेही दुरुपयोग करते रहते, परतु उसका दोष बेचारे अर्जुन और श्रीकृष्णपर तो आरोपित न हुआ होता। हाँ, यह सच है, कि कुरुक्षेत्रमें जो सैंकडो महारथी एकत्र हुए थे, वे अवश्यही अर्जुन और श्रीकृष्णका उपहास करते, परतु जिसको अपने आत्माका कल्याणकर लेना है, वह ऐसे उपहासकी चिंताही क्यो करता? ससार कुछभी कहे, उपनिषदोमें तो यही कहा है, कि "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जा ४) – जिस क्षण उपरति हो, उसी क्षण सन्यास धारण करो, विलब न करो। यदि यह कहा जाय, कि अर्जुनकी उपरति ज्ञानपूर्वक न थी, वह केवल मोहकी थी, तोभी वह थी तो उपरतिही। बस, उपरति होनेसे आधा काम हो चुका, अब मोहको हटाकर उसी उपरतिको पूर्ण ज्ञानमूलक कर देना भगवानके लिये कुछ असभव बात न थी। (भक्ति-मार्गमें या सन्यास-मार्गमेंभी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, कि जब कोई किसी कारणसे ससारसे उकता गये, तो वे दु खित हो इस ससारको छोड जगलमें चल गये, और आगे उन लोगोंने पूरी सिद्धिभी प्राप्त कर ली है)। इसी प्रकार अर्जुनकीभी यही दशा कर दी होती। ऐसा तो भी होही नही सकता था, कि कभी सन्यास लेनेके समय वस्त्रोको गेरूआ रग देनेके लिये मुट्ठीभर लाल मिट्टी, या

भक्तिसे भगवन्नाम-सकीर्तन करनेके लिये झाझ, मृदग आदि सामग्री सारे कुरु-क्षेत्रमेंभी न मिलती।

(परतु ऐसा कुछभी न करके उलटे दूसरे अध्यायके आरभमेंही श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है, कि "अरे! तुझे यह दुर्बुद्धि (कश्मल) कहाँसे सूझ पडी? यह नामर्दी (क्लैब्य) तुझे शोभा नही देती। यह तेरी कीर्तिको धूलिमें मिला देगी। इसलिये इस दुर्बलताका त्याग कर युद्धके लिये खडा हो जा।" परतु अर्जुनने किसी अबलाकी तरह अपना रोनाधोना जारी रखा और वह अत्यत दीनहीन वाणीमें बोला – "मैं भीष्म, द्रोण आदि महात्माओको कैसे मारूँ? मेरा मन इसी सशयमें चक्कर खा रहा है, कि मरना भला है, या मारना? इसलिये मुझे यह बतलाओ, कि इन दोनोमें कौन-सा धर्म श्रेयस्कर है। मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ।" अर्जुनकी इन बातोको सुनकर श्रीकृष्ण जान गये, कि अब यह मायाके चगुलमें फँस गया है, इसलिये जरा हँसकर उन्होंने उसे 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि ज्ञान बतलाना आरभ किया। अर्जुन ज्ञानी पुरुषके सदृश बर्ताव करना चाहता था, और वह कर्म-सन्यासकी बातेभी करने लग गया था। इसलिये, ससारमें ज्ञानी पुरुषके आचरणके जो दो पथ अथवा निष्ठाएँ दीख पडती है – अर्थात्, 'कर्म करना' और 'कर्म छोडना' वहीसे भगवानने उपदेशका आरभ किया है, और अर्जुनको पहली बात यही बतलाई है, कि इन दो पथो या निष्ठाओमेंसे तू किसीकोभी ले, परतु तू भूल कर रहा है। इसके बाद, जिस ज्ञान या साख्यनिष्ठाके आधारपर अर्जुन कर्म-सन्यासकी बाते करने लगा था, उसी साख्यनिष्ठाके आधारपर श्रीकृष्णने प्रथम 'एषा तेऽभिहिता बुद्धि" (गीता २ ११–३९) तक उपदेश किया है, और फिर अध्यायके अत-तक कर्मयोग-मार्गके अनुसार अर्जुनको यही बतलाया है, कि युद्धही तेरा सच्चा कर्तव्य है। यदि "एषा तेऽभिहिता साख्ये" सरीखा श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' श्लोकके पहले आता, तो यही अर्थ औरभी अधिक व्यक्त हो गया होता। परतु सभाषणके प्रवाहमें साख्य-मार्गका प्रतिपादन हो जानेपर वह इस रूपमें आया है – "यह तो साख्य-मार्गके अनुसार प्रतिपादन हुआ, अब योगमार्गके अनुसार प्रति-पादन करता हूँ।" कुछभी हो, परतु अर्थ एकही है। हमने ग्याहरवे प्रकरणमें साख्य (या सन्यास) और योगका (या कर्मयोग) भेद पहलेही स्पष्ट करके बतला दिया है। इसलिये उसकी पुनरावृत्ति न कर इतनाही कह देते हैं, कि चित्तकी शुद्धताके लिये स्वधर्मानुसार वर्णाश्रम-विहित कर्म करके ज्ञान-प्राप्ति होनेपर मोक्षके लिये अतमें सब कर्मोंको छोड़ सन्यास लेना साख्य-मार्ग है, और कर्मोंका कभी त्याग न कर अततक उन्हे निष्काम बुद्धिसे करते रहना योग अथवा कर्मयोग है। अर्जुनसे भगवान् प्रथम यह कहते हैं, कि साख्य-मार्गके अध्यात्मज्ञानानुसार आत्मा अविनाशी और अमर है, इसलिये तेरी यह समझ गलत है, कि "मैं भीष्म, द्रोण आदिको मारूँगा।" क्योकि न तो आत्मा मरता है, और न मारताही है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र

बदलता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह छोडकर दूसरी देहमें चला जाता है, परन्तु इससे उसे मृत मानकर शोक करना उचित नही। अच्छा, मान लिया, कि 'मैं मारूँगा' यह भ्रम है, तबभी तू कहेगा, कि युद्धही क्यो करना चाहिये ? तो उसका उत्तर यह है, कि शास्त्वत प्राप्त हुए युद्धसे परावृत्त न होनाही क्षत्रियोका धर्म है, और जब कि इस साख्य-मार्गमें प्रथमत वर्णाश्रम-विहित कर्म करनाही श्रेयस्कर माना जाता है, तब यदि तू वैसा न करेगा, तो लोग तेरी निंदा करेंगे – अधिक क्या कहे, युद्धमें मरनाही क्षत्रियोका धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्यो करता है ? "मैं मारूँगा और वह मरेगा" यह केवल कर्मदृष्टि है – इसे छोड दे, तू अपना प्रवाहपतित कार्य ऐसी बुद्धिसे करता चला जा, कि मैं केवल स्वधर्म कर रहा हूँ, इसमे तुझे कुछभी पाप नही लगगा। यह उपदेश साख्य मार्गानुसार हुआ ' परतु चित्तकी शुद्धताके लिये प्रथमत कर्म करके चित्तशुद्धि हो जानेपर अतमें सब कर्मोको छोड सन्यास लेनाही यदि इस मार्गके अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है, तो यह शका रहही जाती है, कि उपरति होतेही युद्धको छोड (यदि हो सके तो) एकदम सन्यास ले लेना क्या अच्छा नही है ? केवल इतना कह देनेसे काम नही चलता, कि मनु आदि स्मृतिकारोकी आज्ञा है, कि गृहस्था-श्रमके बाद फिर कही बुढापेमें सन्यास लेना चाहिये, युवावस्थामें तो गृहस्थाश्रमीही होना चाहिये। क्योकि किसीभी समय यदि सन्यास लेनाही श्रेष्ठ है, तो ज्योही ससारसे जी हटा, त्योही तनिकभी देर न कर सन्यास लेना उचित है, और इसी हेतुसे उपनिषदोमेंभी ऐसे वचन पाये जाते है, कि "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा "(जा ४)। सन्यास लेनेसे जो गति प्राप्त होगी, वही युद्धक्षेत्रमें मरनेसे क्षत्रियको प्राप्त होती है। महाभारतमें कहा है –

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमडलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत ॥

" हे पुरुष-व्याघ्र ! सूर्यमडलको पार कर ब्रह्मलोकको जानेवाले केवल दोही पुरुष है। एक तो योगयुक्त सन्यासी और दूसरा युद्धमें लडकर मर जानेवाला वीर ' (उद्यो ३२ ६५)। इसी अर्थका एक श्लोक कौटिल्यके, याने चाणक्यके अर्थ-शास्त्रमेंभी है –

यान् यज्ञसघैस्तपसा च विप्रा· स्वर्गैषिण पात्रचयैश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूरा प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्त.॥

(स्वर्गकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञोसे, यज्ञपात्रोसे और तपोसे जिस लोकमे जाते है, उस लोककेभी परे, युद्धमें प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष एक क्षणमें जा पहुँचते हैं – अर्थात् न केवल तपस्वियोको या सन्यासियोको वरन् यज्ञयाग आदि करनेवाले दीक्षितोकोभी जो गति प्राप्त होती है, वही युद्धमें मरनेवाले क्षत्रियकोभी मिलती है)(कौटि १० ३ १५०–५२, मभा शा ९८–१००)। "क्षत्रियको

स्वर्गमें जानेके लिये युद्धके समान दूसरा दरवाजा क्वचितही खुला मिलता है, युद्धमें मरनेसे स्वर्ग, और जय प्राप्त करनेसे पृथ्वीका राज्य मिलेगा" (२ ३२, ३७) गीताके इस उपदेशका तात्पर्यभी वही है। इसलिये सांख्य-मार्गके अनुसार यहभी प्रतिपादित किया जा सकता है, कि क्या सन्यास लेना और क्या युद्ध करना, दोनोंसे एकही फलकी प्राप्ति होती है। तथापि इस मार्गके युक्तिवादसे यह निश्चितार्थ पूर्ण रीतिसे सिद्ध नही होता कि "कुछभी हो, युद्ध करनाही चाहिये।" सांख्य-मार्गमें जो यह न्यूनता या दोष है, उसे ध्यानमें रख आगे भगवानने कर्मयोग-मार्गका प्रतिपादन आरंभ किया है, और गीताके अंतिम अध्यायके अंततक इसी कर्मयोगका — अर्थात् कर्मोंको करनाही चाहिये और मोक्षमे उनसे कोई बाधा नही होती, किंतु उन्हे करते रहनेसेही मोक्ष प्राप्त होता है, इसका — भिन्न भिन्न प्रमाण देकर, शंका-निवृत्तिपूर्वक समर्थन किया है। इस कर्मयोगका मुख्य तत्त्व यह है, कि किसीभी कर्मको भला या बुरा कहनेके लिये उस कर्मके बाह्य परिणामोकी अपेक्षा पहले यह देख-लेना चाहिये, कि कर्ताकी वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है अथवा अशुद्ध (गीता २ ४९)। परंतु वासनाकी शुद्धता या अशुद्धताका निर्णयभी तो आखिर व्यवसायात्मका बुद्धिही करती है, इसलिये जबतक निर्णय करनेवाली बुद्धीद्रिय स्थिर और शांत न होगी, तबतक वासनाभी शुद्ध और सम नही हो सकती। इसीलिये उसके साथ यहभी कहा है, कि वासनात्मक बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये प्रथम समाधिके योगसे व्यवसायात्मका बुद्धीद्रियकोभी स्थिर कर लेना चाहिये (गीता २ ४१)। संसारके सामान्य व्यवहारोंकी ओर देखनेसे प्रतीत होता है, कि बहुतेरे मनुष्य स्वर्गादि भिन्न भिन्न काम्य सुखोकी प्राप्तिके लियेही यज्ञयागादिक वैदिक काम्य कर्मोंकी झंझटमें पडे रहते है, इससे उनकी बुद्धि कभी एक फलकी प्राप्तिमें, तो कभी दूसरेही फलकी प्राप्तिमें, अर्थात् स्वार्थहीमें, निमग्न रहती है, और सदा बदलनेवाली याने चंचल हो जाती है। ऐसे मनुष्योको स्वर्ग-सुखादिक अनित्य फलकी अपेक्षा अधिक महत्त्वका अर्थात् मोक्षरूपी नित्य सुख कभी प्राप्त नही हो सकता। इसीलिये अब अर्जुनको कर्मयोग-मार्गका रहस्य इस प्रकार बतलाया गया है, कि वैदिक कर्मोंके काम्य झगडोको छोड दे और निष्काम बुद्धिसे कर्म करना सीखे। तेरा अधिकार केवल कर्म करने भरकाही है — कर्मके फलकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकारकी बात नही है (२ ४७)। ईश्वरकोही फलदाता मानकर जब इस सम-बुद्धिसे — कि कर्मका फल मिले अथवा न मिले, दोनो समान है — केवल स्वकर्तव्य समझकरही जो कर्म किये जाते है, उन कर्मोंके पाप-पुण्यका लेप कर्ताको नही होता। इसलिये तू इस सम-बुद्धिका आश्रय कर। इस सम-बुद्धिकोही योग — अर्थात् पापके भागी न होते हुए कर्म करनेकी युक्ति — कहते है। यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाय, तो कर्म करनेपरभी तुझे मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी, मोक्षके लिये कुछ कर्म-सन्यासहीकी आवश्यकता नही है (गीता २ ४७–५३)। जब भगवानने अर्जुनसे कहा, कि जिस मनुष्यकी बुद्धि इस प्रकार

सम हो गई हो, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (गीता २ ५३), तब अर्जुनने पूछा, कि "महाराज! कृपा कर बतलाइये, कि स्थितप्रज्ञका बर्ताव कैसा होता है?" इसलिये दूसरे अध्यायके अतमे स्थितप्रज्ञका वर्णन किया गया है, और अतमें कहा गया है, कि स्थितप्रज्ञकी स्थितिकोही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। साराश यह है, कि अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये गीतामें जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रारभ इन दो निष्ठाओंसे किया गया है, कि जिन्हे इस ससारके ज्ञानी मनुष्योंने ग्राह्य माना है, और जिन्हे 'कर्म छोडना' (साख्य) और 'कर्म करना' (योग) कहते हैं, तथा युद्ध करनेकी आवश्यकताकी उपपत्ति पहले साख्यनिष्ठाके अनुसार बतलाई गई है। परतु जब यह देखा गया, कि इस उपपत्तिसे काम नही चलता, यह अधूरी है, तब फिर तुरतही योग या कर्मयोग-मार्गके अनुसार ज्ञान बतलाना आरभ किया है, और यह बतलानेके पश्चात्, कि इस कर्मयोगका अल्प आचरणभी कितना श्रेयस्कर है, दूसरे अध्यायमें भगवानने अपने उपदेशको इस स्थानतक पहुँचा दिया है, कि कर्मयोग-मार्गमें कर्मकी अपेक्षा वह बुद्धिही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिससे कर्म करनेकी प्रेरणा हुआ करती है, तो अब स्थितप्रज्ञकी नाई तू अपनी बुद्धिको सम करके अपना कर्म कर, जिससे तू कदापि पापका भागी न होगा। अब देखना है, कि आगे कौन-कौनसे प्रश्न उपस्थित होते हैं। गीताके सारे उपपादनकी जड दूसरे अध्यायमेंही है, इसलिये इसके विषयका विवेचन यहाँ कुछ विस्तारसे किया गया है।

तीसरे अध्यायके आरभमें अर्जुनने प्रश्न किया है, कि "यदि कर्मयोग-मार्गमेंभी कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ मानी जाती है, तो मैं अभी स्थितप्रज्ञकी नाई अपनी बुद्धिको सम किये लेता हूँ, फिर आप मुझसे इस युद्धके समान घोर कर्म करनेके लिये क्यो कहते हैं?" इसका कारण यह है, कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ कह देनेसेही इन प्रश्नोका निर्णय नही हो जाता, कि "युद्ध क्यो करें? बुद्धिको सम रखकर उदासीन क्यो न बैठे रहे?" बुद्धिको सम रखनेपरभी कर्म-सन्यास किया जा सकता है। फिर जिस मनुष्यकी बुद्धि सम हो गई है, उसे साख्य-मार्गके अनुसार कर्मोका त्याग करनेमें क्या हर्ज है? इस प्रश्नका उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं, कि पहले तुझे साख्य और योग नामक दो निष्ठाएँ बतलाई हैं सही, परतु यहभी स्मरण रहे, कि किसी मनुष्यके कर्मोका सर्वथा छूट जाना असभव है। जबतक वह देहधारी है, तबतक प्रकृति स्वभावत उससे कर्म करावेगीही, और जब कि प्रकृतिके ये कर्म छूटतेही नही हैं, तब तो इंद्रियनिग्रहके द्वारा बुद्धिको स्थिर और सम करके केवल कर्मेंद्रियोसेही अपने सब कर्तव्य-कर्मोको करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिये तू कर्म कर, यदि कर्म नही करेगा, तो तुझे खानेतकको न मिलेगा (गीता ३ ३–८)। ईश्वरनेही कर्मको उत्पन्न किया है, मनुष्यने नही। जिस समय ब्रह्मदेवने सृष्टि और प्रजाको उत्पन्न किया, उसी समय उसने 'यज्ञ'कोभी उत्पन्न किया था, और उसने प्रजासे यह कह दिया था, कि यज्ञके द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर

लो। जब कि ये यज्ञ विना कर्म किये सिद्ध नही होते, तो अब यज्ञको कर्मही कहना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि मनुष्य और कर्म साथही साथ उत्पन्न हुए है। परतु ये कर्म केवल यज्ञके लियेही है, और यज्ञ करना मनुष्यका कर्तव्य है, इसलिये इन कर्मोके फल मनुष्यको वधनमे डालनेवाले नही होते। अव यह सच है, कि जो मनुष्य पूर्ण ज्ञानी हो गया, स्वय उसके लिये कोईभी कर्तव्य शेष नही रहता, और न लोगोसेभी उसका कुछ अटका रहता है। परतु इतनेहीसे यह सिद्ध नही हो जाता, कि कर्म मत करो। क्योकि कर्म करनेसे किसीकोभी छुटकारा न मिलनेके कारण यही अनुमान करना पडता है, कि यदि स्वार्थके लिये न हो, तोभी अव उसी कर्मको निष्काम बुद्धिसे लोकसग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये (गीता ३ १७-१९)। इन्ही वातोपर ध्यान देकर प्राचीन कालमे जनक आदि ज्ञानी पुरुषोने कर्म किये है, और मैभी कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त यहभी स्मरण रहे, कि ज्ञानी पुरुषोके कर्तव्योमेसेही एक मुख्य कर्तव्य है, 'लोकसग्रह करना' अर्थात् अपने वर्तावसे लोगोको सन्मार्गकी शिक्षा देना और उन्हे उन्नतिके मार्गमें लगा देना, ज्ञानी पुरुषहीका कर्तव्य है। मनुष्य कितनाही ज्ञानवान् क्यो न हो जावे, परतु प्रकृतिके व्यवहारोसे उसका छुटकारा नही है, इसलिये कर्म छोड़ना तो दूरही रहा, परतु कर्तव्य समझकर स्वधर्मानुसार कर्म करते रहना और आवश्यकता होनेपर उसीमे मर जानाभी श्रेयस्कर है (गीता ३ ३०–३५),– इस प्रकार तीसरे अध्यायमें भगवानने उपदेश दिया है। भगवानने इस प्रकार प्रकृतिको सब कामोका कर्तृत्व दे दिया, यह देख अर्जुनने प्रश्न किया, कि मनुष्य, इच्छा न रहनेपरभी पाप, क्यो करता है? तब भगवानने यह उत्तर देकर अध्याय समाप्त कर दिया है, कि काम-क्रोध आदि विकार बलात्कारसे मनको भ्रष्ट कर देते है, अतएव अपनी इद्रियोका निग्रह करके प्रत्येक मनुष्यको अपना मन अपने अधीन रखना चाहिये। साराश, स्थितप्रज्ञकी नाई बुद्धिकी समता हो जानेपरभी कर्मसे किसीका छुटकारा नही, अतएव यदि स्वार्थके लिये न हो, तोभी लोकसग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे कर्म करतेही रहना चाहिये – इस प्रकार कर्मयोगकी आवश्यकता सिद्ध की गई है, और भक्ति-मार्गके परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करनेके इस तत्त्वकाभी, "कि मुझे सब कर्म अर्पण कर" (गीता ३ ३०–३१) – इसी अध्यायमें प्रथम उल्लेख हो गया है।

परतु यह विवेचन तीसरे अध्यायमें पूरा नही हुआ, इसलिये चौथा अध्यायभी उसी विवेचनके लिये आरभ किया गया है। किसीके मनमें यह शका न आने पाये, कि अवतक किया गया प्रतिपादन केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लियेही नूतन रचा गया होगा, इसलिये चौथे अध्यायके आरभमें इस कर्मयोगकी अर्थात् भागवत या नारायणीय धर्मकी त्रेतायुगवाली परपरा वतलाई गई है। जब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, कि आदौ याने युगके आरभमे मैनेही यह कर्मयोग-मार्ग विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको वतलाया था, परतु इस वीचमें यह नष्ट हो गया

था, इसलिये मैंने वही योग (कर्मयोग-मार्ग) तुझे फिरसे वतलाया है। तव अर्जुनने पूछा, कि आप विवस्वानके पहले कैसे होगे ? इसका उत्तर देते हुए भगवानने वतलाया है, कि साधुओकी रक्षा, दुष्टोका नाश और धर्मकी सस्थापना करनाही मेरे अवतारोका प्रयोजन है, एव इस प्रकार लोकसग्रहकारक कर्मोको करते हुएभी उनमें मेरी कुछ आसक्ति नही है, इसलिये मैं उनके पापपुण्यादि फलोका भागी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोगका समर्थन करके और यह उदाहरण देकर कि प्राचीन समयमें जनक आदिनेभी इसी तत्त्वको ध्यानमें लाकर कर्मोका आचरण किया है, भगवानने अर्जुनको फिर यही उपदेश दिया है, कि "तूभी वैसेही कर्म कर।" तीसरे अध्यायमें मीमासकोका जो सिद्धान्त वतलाया गया था, कि "यज्ञके लिये किये गये कर्म वधक नही होते" उसीको अव फिरसे वतलाकर 'यज्ञ'की विस्तृत और व्यापक व्याख्या इस प्रकारकी है — केवल तिल और चावलको जलाना अथवा पशुओको मारना एक प्रकारका यज्ञ है सही, परन्तु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जेका हैं, और सयमाग्निमें कामक्रोधादि इद्रिय-वृत्तियोको जलाना अथवा 'न मम' कहकर सव कर्मोको ब्रह्ममें स्वाहा कर देना ऊँचे दर्जेका यज्ञ है। इसलिये अव अर्जुनको ऐसा उपदेश किया है, कि तू इस ऊँचे दर्जेके यज्ञके लिये फलाशाका त्याग करके कर्म कर। क्योकि मीमासकोंके न्यायके अनुसार यज्ञार्थ किये गये कर्म यदि स्वतत्र रीतिसे वधक न हो, तोभी यज्ञका कुछ-न-कुछ फल विना प्राप्त हुए नही रहता, इसलिये यज्ञभी यदि निष्काम वुद्धिसेही किया जावे, तो उसके लिये किया गया कर्म और स्वय यज्ञ दोनो वधक न होगे। अतमें कहा है, कि साम्य-वुद्धि उसे कहते हैं, जिससे यह ज्ञान हो जावे, कि सव प्राणी अपनेमें या भगवानमें हैं। जव ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी सव कर्म भस्म हो जाते है, और कर्ताको उनकी कुछ वाधा नही होती। "सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" — सव कर्मोका लय ज्ञानमें हो जाता है, कर्म स्वय वधक नहीं होते, वध केवल अज्ञानसे उत्पन्न होता है। इसलिये अर्जुनको यह उपदेश देकर, इस अध्यायको पूरा किया गया है, कि अज्ञानको छोड कर्मयोगका आश्रय कर, और लडाईके लिये खडा हो जा। साराश, इस अध्यायमें ज्ञानकी इस प्रकार प्रस्तावना की गई है, कि कर्मयोग-मार्गकी सिद्धिके लियेभी साम्य-वुद्धिरूप ज्ञानकी आवश्यकता है।

कर्मयोगकी आवश्यकता क्या है या कर्म क्यो किये जावे ? इसके कारणोका विचार तीसरे और चौथे अध्यायमें किया गया है सही, परतु दूसरे अध्यायमें साख्य-ज्ञानका वर्णन करके कर्मयोगके विवेचनमेंभी वारवार कर्मकी अपेक्षा वुद्धिही श्रेष्ठ वतलाई गयी है, इसलिये यह वतलाना अब अत्यत आवश्यक है, कि इन दो मार्गोमें कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। क्योकि यदि दोनो मार्ग एक-सी योग्यताके कहे जायें, तो परिणाम यह होगा, कि जिसे जो मार्ग अच्छा लगेगा वह उसीको अगीकार कर लेगा, केवल कर्मयोगकोही स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नही रहेगी। अर्जुनके

मनमें यही शका उत्पन्न हुई, इसलिये उसने पाँचवे अध्यायके आरभमें भगवानसे पूछा है, कि "साख्य और योग, इनदोनो निष्ठाओको एकत्र करके मुझे उपदेश कीजिये, मुझे केवल इतनाही निश्चयात्मक वतला दीजिये, कि इन दोनोमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है, जिससे कि मै सहजही उसके अनुसार वर्ताव कर सकूँ।" इसपर भगवानने स्पष्ट रीतिसे यह कहकर अर्जुनका सदेह दूर कर दिया है, कि यद्यपि दोनो मार्ग नि श्रेयस्कर है, अर्थात् एक-सेही मोक्षप्रद है, तथापि उनमें कर्मयोगकी योग्यता अधिक है – "कर्मयोगो विशिष्यते" (गीता ५ २)। इसी सिद्धान्तको दृढ करनके लिये भगवान् औरभी कहते है, कि सन्यास या साख्यनिष्ठासे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोगसेभी मिलता है। इतनाही नही, परतु कर्मयोगमे जो निष्काम वुद्धि वतलाई गई है, उसे विना प्राप्त किये सन्यास सिद्ध नही होता, और जब वह प्राप्त हो जाती है, तव योग-मार्गसे कर्म करते रहनेपरभी ब्रह्म-प्राप्ति अवश्य हो जाती है। फिर यह झगडा करनेसे क्या लाभ है, कि साख्य और योग भिन्न भिन्न है? यदि हम चलना, वोलना, देखना, सुनना, सूंघना इत्यादि सैकडो कर्मोको छाडना चाहे, तोभी वे नही छूटते, इस दशामें कर्मोको छोडनेका हठ न कर उन्हे ब्रह्मार्पण वुद्धिसे करते रहनाही वुद्धिमत्ताका मार्ग है। इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुप निष्काम वुद्धिसे कर्म करते रहते है, और अतमे उन्हीके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति कर लिया करते है। ईश्वर तुमसे न यह कहता है, कि कर्म करो, और न यह कहता है, कि उनका त्याग कर दो! यह तो सव प्रकृतिकी क्रीडा है, और वधक मनका धर्म है, इसलिये जो मनुष्य सम-वुद्धिसे अथवा, 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होकर कर्म किया करता है, उसे उन कर्मोकी वाधा नही होती। अधिक क्या कहे, इस अध्यायके अतमें यहभी कहा है, कि जिसकी वुद्धि कुत्ता, चाडाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादिके प्रति सम हो जाती है, और जो सर्वभूतान्तर्गत आत्माकी एकताको पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है, उसे वैठे-विठाये ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है – मोक्ष-प्राप्तिके लिये उसे कही भटकना नही पडता, वह सदामुक्तही है।

छठे अध्यायमें वही विषय आगे चल रहा है, और उसमें कर्मयोगकी सिद्धिके लिये आवश्यक सम-वुद्धिकी प्राप्तिके उपायोका वर्णन है। पहलेही श्लोकमें भगवानने अपना मत स्पष्ट वतला दिया है, कि जो मनुष्य कर्मफलकी आशा न रख, केवल कर्तव्य समझकर ससारके प्राप्त कर्म करता रहता है, वही सच्चा योगी और सच्चा सन्यासी है, जो मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मोका त्यागकर चुपचाप वैठा रहे, वह सच्चा सन्यासी नही है। इसके वाद भगवानने आत्मस्वतत्रताका इस प्रकार वर्णन किया है, कि कर्मयोग-मार्गमें वुद्धिको स्थिर करनेके लिये इद्रियनिग्रहरूपी जो कर्म करना पडता है, उसे स्वय आपही करे, यदि कोई ऐसा न करे, तो किसी दूसरेपर उसका दोषारोपण नही किया जा सकता। इसके आगे इस अध्यायमें इद्रियनिग्रह-रूपी योगकी साधनाका, पातजलयोगकी दृष्टिसे, मुख्यत वर्णन किया गया है।

परतु यम-नियम-आसन-प्राणायम आदि साधनोंके द्वारा यद्यपि इद्रियोका निग्रह किया जावे, तोभी उतनेसेही काम नही चलता, इसलिये आत्मैक्यज्ञानकीभी आवश्यकताके विषयमें इसी अध्यायमें कहा गया है, कि आगे उस पुरुषकी वृत्ति "सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि" अथवा "यो मा पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति" (गीता ६ २९, ३०) इस प्रकार सब प्राणियोमें सम हो जानी चाहिये। इतनेमें अर्जुनने यह शका उपस्थित की, कि यदि यह साम्यबुद्धिरूपी योग एक जन्ममें सिद्ध न हो, तो फिर दूसरे जन्ममेंभी आरभहीसे उसका अभ्यास करना होगा – और फिरभी वही दशा होगी – और इस प्रकार यदि यह चक्र हमेशा चलताही रहे, तो मनुष्यको इस मार्गके द्वारा सद्गति प्राप्त होना असभव है। इस शकाका निवारण करनेके लिये भगवानने पहले यह कहा है, कि योगमार्गमें कुछभी व्यर्थ नही जाता। पहले जन्मके सस्कार शेष रह जाते है, और उनकी सहायतासे दूसरे जन्ममें अधिक अभ्यास होता है, तथा क्रम-क्रमसे अतमें सिद्धि मिल जाती है। इतना कहकर भगवानने इस अध्यायके अतमें अर्जुनको पुन यह निश्चित और स्पष्ट उपदेश किया है, कि कर्मयोग-मार्गही श्रेष्ठ और क्रमश सुसाध्य है, इसलिये केवल (अर्थात् फलाशाको न छोडते हुए) कर्म करना, तपश्चर्या करना, ज्ञानके द्वारा कर्मसन्यास करना इत्यादि सब मार्गोंको छोड दे, और तू योगी हो जा – अर्थात् निष्काम कर्मयोगमार्गका आचरण करने लग।

कुछ लोगोका मत है, कि यहाँ अर्थात् पहले छ अध्यायोमें कर्मयोगका विवेचन पूरा हो गया और इसके आगे ज्ञान और भक्तिको 'स्वतत्र' निष्ठा मानकर भगवानने उनका वर्णन किया है – अर्थात् ये दोनो निष्ठाएँ परस्पर निरपेक्ष या कर्मयोगकी बराबरी की, परतु उससे पृथक् और उसके बदले विकल्पके नातेसे आचरणीय हैं। सातवे अध्यायसे बारहवे अध्यायतक भक्तिका और आगे शेष छ अध्यायोमें ज्ञानका वर्णन किया गया है, और इस प्रकार अठारह अध्यायोंके विभाग करनेसे कर्म, भक्ति और ज्ञानमेंसे प्रत्येकके हिस्सेमें छ छ अध्याय आते है, तथा गीताके समान भाग हो जाते हैं। परतु यह मत ठीक नही है। पाँचवे अध्यायके आरभके श्लोकोंसे स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि जब अर्जुनकी मुख्य शका यही थी, कि "मैं सांख्यनिष्ठाके अनुसार युद्ध करना छोड दूँ, या युद्धके भयकर परिणामको प्रत्यक्ष दृष्टिके सामने देखते हुएभी युद्धही करूँ? और यदि युद्धही करना पडे, तो उसके पापसे कैसे बचूँ?" – तब उसका समाधान ऐसे अधूरे और अनिश्चित उत्तरसे कभी होही न न सकता था, कि "ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, और वह कर्मसेभी प्राप्त हो जाता है, अथवा यदि तेरी इच्छा हो, तो भक्ति नामकी एक और तीसरी निष्ठाभी है।" इसके अतिरिक्त यह माननाभी ठीक न होगा, कि जब अर्जुन किसी एकही निश्चयात्मक मार्गको जानना चाहता है, तब सर्वज्ञ और चतुर श्रीकृष्ण उसके प्रश्नके मूल स्वरूपको छोडकर उसे तीन स्वतत्र और विकल्पात्मक मार्ग बतला दें। सच बात तो यह है,

कि गीतामें 'कर्मयोग' और 'सन्यास' इन्ही दो निष्ठाओंका विचार है (गीता ५ १), और यहभी साफ साफ बतला दिया है, कि इनमेंसे 'कर्मयोग'ही अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५ २)। भक्तिकी तीसरी निष्ठा तो कही बतलाईभी नही गई है। अर्था यह कल्पना साप्रदायिक टीकाकारोकी मनगढत है, कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन स्वतन्त्र निष्ठाएँ है, और उनकी यह समझ होनेके कारण, कि गीतामें केवल मोक्षके उपायोकाही वर्णन किया गया है, उन्हे ये तीन निष्ठाएँ कदाचित् भागवतसे सूझी हो (भाग ११ २० ६)। परतु टीकाकारोके ध्यानमे यह बात नही आई, कि भागवत-पुराण और भगवद्गीताका तात्पर्य एक नही है। यह सिद्धान्त भागवतकार कोभी मान्य है, कि केवल कर्मोसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती, मोक्षके लिये ज्ञानकी आवश्यकता रहती है। परतु इसके अतिरिक्त, भागवत-पुराणका यह भी कथन है, कि यद्यपि ज्ञान और नैष्कर्म्य मोक्षदायक हो, तथापि ये दोनो (अर्थात् गीता-प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग) भक्तिके विना शोभा नही देते – "नैष्कर्म्यमत्यच्युत-भाववर्जित न शोभते ज्ञानमल निरजनम्" (भाग १२ १२ ५२, १ २ १२)। इस प्रकार देखा जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है, कि भागवतकार केवल भक्तिकोही सच्ची निष्ठा अर्थात् अतिम मोक्षप्रद स्थिति मानते है। भागवतका न तो यह कहना है, कि भगवद्भक्तोको ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनाही नही चाहिये, और न यह कहना है, कि करनाही चाहिये। भागवत-पुराणका सिर्फ यह कहना है, कि निष्काम कर्म करो अथवा न करो – ये सब भक्तियोगकेही भिन्न भिन्न प्रकार है (भाग ३ २९ ७–१९)। भक्तिके अभावसे सब कर्मयोग पुन ससारमे अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हो जाते है (भाग १ ५ ३४, ३५)। साराश, यह है, कि भागवतकारका सारा विश्वास भक्तिपरही होनेके कारण उन्होंने निष्काम कर्मयोग-कोभी भक्तियोगमेही ढकेल दिया है, और यह प्रतिपादन किया है, कि अकेली भक्तिही सच्ची निष्ठा है। परतु भक्तिही कुछ गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नही है। इसलिये भागवतके उपर्युक्त सिद्धान्त या परिभाषाको गीतामें घुसेड देना वैसेही अयोग्य है, जैसे कि आममें शरीफेकी कलम लगाना। गीता इस बातको पूरी तरह मानती है, कि परमेश्वरके ज्ञानके सिवा और किसीभी अन्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती, और इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भक्ति एक सुगम मार्ग है, परतु इसी मार्गके विषयमें आग्रह न कर गीता यहभी कहती है, कि मोक्षप्राप्तिके लिये जिस ज्ञानकी आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति, जिसे जो मार्ग सुगम हो, वह उसी मार्गसे कर ले। गीताका मुख्य विषय तो यही है, कि अतमें अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिके अनतर मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। इसलिये ससारमें जीवन्मुक्त पुरुषोके जीवन व्यतीत करनेके जो दो मार्ग दीख पडते है – अर्थात् कर्म करना और कर्म छोडना – वहीसे गीताके उपदेशका आरभ किया गया है। इनमेंसे पहले मार्गको गीताने भागवतकारकी नाई 'भक्तियोग' यह नया नाम नही दिया है, किन्तु नारायणीय धर्ममे प्रचलित प्राचीन

नामही – अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करनेको 'कर्मयोग' या 'कर्मनिष्ठा' और ज्ञानोत्तर कर्मोंका त्याग करनेको 'सांख्य' या 'ज्ञाननिष्ठा', येही नाम गीतामें स्थिर रखे गये है। गीताकी इस परिभाषाको स्वीकार कर यदि विचार किया जाय, तो दीख पडेगा, कि ज्ञान और कर्मकी बराबरीकी भक्ति नामक कोई तीसरी स्वतन्त्र निष्ठा कदापि नही हो सकती। इसका कारण यह है, कि 'कर्म करना' और 'न करना' अर्थात् 'छोडना' (योग और सांख्य) ऐसे अस्तिनास्तिरूप दो पक्षोंके अतिरिक्त कर्मके विषयमें तीसरा पक्षही अब बाकी नही रहता। इसलिये यदि गीताके अनुसार किसी भक्तिमान् पुरुषकी निष्ठाके विषयमें निश्चय करना हो, तो यह निर्णय केवल इसी बातसे नही किया जा सकता, कि वह भक्तिभावमें लगा हुआ है, परतु इस बातका विचार किया जाना चाहिये, कि वह कर्म करता है या नही। भक्ति परमेश्वर-प्राप्तिका एक सुगम साधन है और साधनके नातेसे यदि भक्तिहीको 'योग' कहें (गीता १४ २६), तो वह अतिम 'निष्ठा' नही हो सकती। भक्तिके द्वारा परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर जो मनुष्य कर्म करेगा, उसे 'कर्मनिष्ठ' और जो न करेगा, उसे 'सांख्यनिष्ठ' कहना चाहिये, पाँचवे अध्यायमें भगवानने अपना यह अभिप्राय स्पष्ट बतला दिया है, कि उक्त दोनो निष्ठाओमें कर्म करनेकी निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है। परतु कर्मपर सन्यास-मार्गवालोका यह महत्त्वपूर्ण आक्षेप है, कि परमेश्वरका ज्ञान होनेमें कर्मसे प्रतिबध होता है, और परमेश्वरके ज्ञानबिना तो मोक्षकी प्राप्तिही नही हो सकती, इसलिये कर्मोंका त्यागही करना चाहिये। पाँचवे अध्यायमें सामान्यत यह बतलाया गया है, कि उपर्युक्त आक्षेप असत्य है, और सन्यास-मार्गसे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग-मार्गसेभी मिलता है (गीता ५ ५) परतु वहाँ इस सामान्य सिद्धान्तका कुछभी स्पष्टीकरण नही किया गया था, इसलिये अब भगवान् उस बचे हुए तथा महत्त्वपूर्ण विषयका विस्तृत निरूपण कर रहे हैं, कि कर्म करते रहनेहीसे परमेश्वरके ज्ञानकी प्राप्ति होकर मोक्ष किस प्रकार मिलता है। इसी हेतुसे सातवे अध्यायके आरभमें अर्जुनसे यह न कहकर, कि मैं तुझे भक्ति नामक एक स्वतन्त्र तीसरी निष्ठा बतलाता हूँ, भगवान् यह कहते हैं, कि –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युजन् मदाश्रयः।
असशय समग्रं मा यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।

" हे पार्थ ! मुझमें चित्तको स्थिर करके और मेरा आश्रय लेकर योग याने कर्म-योगका आचरण करते समय, 'यथा' अर्थात् जिस रीतिसे मुझे सदेहरहित पूर्णतया जान सकेगा, वह (रीति तुझे बतलाता हूँ) सुन " (गीता ७ १), और इसीको आगेके श्लोकमें 'ज्ञानविज्ञान' कहा है (गीता ७ २)। इनमेंसे पहले अर्थात् ऊपर दिये गये 'मय्यासक्तमना' श्लोकके 'योग युजन्' – अर्थात् " कर्मयोगका आचरण करते हुए " – ये पद अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं। परतु किसीभी टीकाकारने इनकी ओर

विशेष ध्यान नही दिया है। 'योग' अर्थात् वही कर्मयोग है, कि जिसका वर्णन पहले छ अध्यायोमें किया जा चुका है, और इस कर्मयोगका आचरण करते हुए जिस विधि या रीतिसे भगवानका पूरा ज्ञान हो जायगा, उस रीति या विधिका वर्णन अब याने सातवे अध्यायसे प्रारभ करता हूँ– यही इस श्लोकका अर्थ है। अर्थात् पहले छ अध्यायोका अगले अध्यायोसे सबध बतलानेके लिये यह श्लोक जानबूझकर सातवे अध्यायके आरभमें रखा गया है। इसलिये इस श्लोकके अर्थकी ओर ध्यान न देकर यह कहना बिलकुल अनुचित है, कि "पहले छ अध्यायोंके बाद भक्तिनिष्ठाका स्वतत्र रीतिसे वर्णन किया गया है।" केवल इतनाही नही, वरन् यहभी कहा जा सकता है, कि इस श्लोकमें 'योग युजन्' पद जानबूझकर इसी लिये रखे गये हैं, कि जिससे कोई ऐसा विपरीत अर्थ न करने पावे। गीताके पहले पाँच अध्यायोमें कर्मकी आवश्यकता बतलाकर साख्य-मार्गकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है, और इसके बाद छठे अध्यायमें पातजलयोगके साधनोका वर्णन किया गया है, जो कर्म-योगमें इद्रियनिग्रह कर्मयोगके लिये आवश्यक है। परतु इतनेहीसे कर्मयोगका वर्णन पूरा नही हो जाता। इद्रियनिग्रह मानो कर्मेंद्रियोसे एक प्रकारकी कसरत करना है। यह सच है, कि अभ्यासके द्वारा इद्रियोको हम अपने अधीन रख सकते हैं, परतु यदि मनुष्यकी वासनाही बुरी होगी, तो इद्रियोको काबूमें रखनेसे कुछभी लाभ नही होगा। क्योकि देखा जाता है, कि दुष्ट वासनाओंके कारण कुछ लोग इसी इद्रियनिहग्रहरूप सिद्धिका जारण-मारण आदि दुष्कर्मोंमें उपयोग किया करते हैं। इसलिये छठे अध्यायमें कहा है, कि इद्रियनिग्रहके साथही वासनाभी "सर्वभूतस्थ-मात्मान सर्वभूतानि चात्मनि" की नाई शुद्ध हो जानी चाहिये (गीता ६ २९), और ब्रह्मात्मैक्यरूप परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपकी पहचान हुए बिना वासनाकी इस प्रकार शुद्धता होना असभव है। तात्पर्य यह है, कि जो इद्रियनिग्रह कर्मयोगके लिये आवश्यक है, वह भलेही प्राप्त हो जाय, परतु 'रस' अर्थात् विषयोकी चाह मनमें ज्यो-की-त्यो बनीही रहती है। इस रस अथवा विषयवासनाका नाश करनेके लिये परमेश्वरसबधी पूर्ण ज्ञानीकीही आवश्यकता है–यह बात गीताके दूसरे अध्यायमें कही गई है (गीता २ ५९)। इसलिये कर्मयोगका आचरण करते हुएही जिस रीति अथवा विधिसे परमेश्वरका यह ज्ञान प्राप्त होता है, उसी विधिका अब भगवान् सातवे अध्यायसे वर्णन करते हैं। "कर्मयोगका आचरण करते हुए"–इस पदसे यहभी सिद्ध होता है, कि कर्मयोगके जारी रहतेही इस ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनी है, उसके लिये कर्मोको छोड नही बैठना है, और इसीसे यह कहनाभी निर्मूल हो जाता है, कि भक्ति और ज्ञानको कर्मयोगके बदले विकल्प मानकर इन्ही दो स्वतत्र मार्गोका वर्णन सातवे अध्यायसे आगे किया गया है। गीताका कर्मयोग भागवत धर्मसेही लिया गया है, इसलिये कर्मयोगमें ज्ञान-प्राप्तिकी विधिका जो वर्णन है, वह भागवत धर्म अथवा नारायणीय धर्ममें कही गई विधिकाही वर्णन है, और इसी

अभिप्रायसे शातिपर्वके अतमें वैशपायनने जनमेजयसे कहा है, कि " भगवद्गीतामें प्रवृत्ति-प्रधान नारायणीय धर्म और उसकी विधियोका वर्णन किया गया है। " (पहले प्रकरणके आरभमें दिये गये श्लोक देखिये)। वैशपायनके कथनानुसार इसीमें सन्यास-मार्गकी विधियोकाभी अतर्भाव होता है। क्योकि यद्यपि इन दोनो मार्गोमें " कर्म करना अथवा कर्मोको छोडना " यही भेद है, तथापि दोनोको एकही ज्ञानविज्ञानकी आवश्यकता है, इसलिये दोनो मार्गोमें ज्ञान-प्राप्तिकी विधियाँ एक-ही-सी होती है। परतु जबकि उपर्युक्त श्लोकमे " कर्मयोगका आचरण करते हुए " —ऐसे प्रत्यक्ष पद रखे गये है, तब स्पष्ट रीतिसे यही सिद्ध होता है, कि गीताके सातवे और उसके अगले अध्यायोमें ज्ञान-विज्ञानका निरूपण मुख्यत कर्मयोगहीकी पूर्तिके लिये किया है और उसकी व्यापकताके कारण उसमें सन्यासमार्गकीभी विधियोका समावेश हो जाता है, कर्मयोगको छोडकर केवल साख्यनिष्ठाके समर्थनके लिये यह ज्ञानविज्ञान नही बतलाया गया है। दूसरी यह बातभी ध्यान देने योग्य है, कि साख्य-मार्गवाले यद्यपि ज्ञानको महत्त्व दिया करते है, तथापि वे कर्मको या भक्तिको कुछभी महत्त्व नही देते, और गीतामे तो भक्ति सुगम तथा प्रधान मानी गई है, इतनाही क्यो, वरन् अध्यात्मज्ञान और भक्तिका वर्णन करते समय श्रीकृष्णने अर्जुनको जगह-जगहपर यही उपदेश दिया है, कि " तू कर्म अर्थात् युद्ध कर " (गीता ८ ७, ११ ३३, १६ २४, १८ ६)। इसलिये यही सिद्धान्त करना पडता है, गीताके सातवे और अगले अध्यायोमें ज्ञान-विज्ञानका जो निरूपण है, वह पिछले छ अध्यायोमें कहे गये कर्मयोगकी पूर्ति और समर्थनके लियेही बतलाया गया है, यहाँ केवल साख्यनिष्ठाका या केवल भक्तिका स्वतत्र समर्थन विवक्षित नही है। ऐसा सिद्धान्त करनेपर कर्म, भक्ति और ज्ञान इस प्रकार गीताके तीन परस्पर स्वतत्र विभाग नही हो सकते। इतनाही नही, परतु अब यह विदित हो जायगा, कि यह मतभी (जिसे कुछ लोग प्रकट किया करते है) केवल काल्पनिक अतएव मिथ्या है, कि 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तीनही पद है, और गीताके अध्यायभी अठारह है, इसलिये 'छ त्रिक अठारह'के हिसाबसे गीताके छ छ अध्यायोंके तीन समान विभाग करके, पहले छ अध्यायोमें 'त्वम्' पदका, दूसरे छ अध्यायोमें 'तत्' पदका और तीसरे छ अध्यायोमें 'असि' पदका विवेचन किया गया है। इस मतको काल्पनिक या मिथ्या कहनेका कारण यही है, कि अब तो यह एकदेशीय पक्षही शेष नही रहने पाता, जो यह कहे, कि सारी गीतामें केवल ब्रह्मज्ञानकाही प्रतिपादन किया गया है, तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके विवरणके सिवा गीतामें और कुछ अधिक नही है।

इस प्रकार जब मालूम हो गया, कि भगवद्गीतामे भक्ति और ज्ञानका विवेचन क्यो किया गया है, तब सातवेसे सत्रहवे अध्यायके अततक ग्यारहो अध्यायोकी सगति सहजही ध्यानमें आ जाती है। पीछे छठे प्रकरणमे बतला दिया गया है, कि

जिस परमेश्वर-स्वरूपके ज्ञानसे बुद्धि रसवर्ज्य और सम होती है, उस परमेश्वर-स्वरूपका विचार एक वार क्षराक्षर-दृष्टिसे और फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-दृष्टिसे करना पडता है, और उससे अतमें यह सिद्धान्त किया जाता है, कि जो तत्त्व पिडमे है वही ब्रह्माडमे है। इन्ही विषयोका अव गीतामे वर्णन है। परतु जव इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका विचार करने लगते है, तव दीख पडता है, कि परमेश्वरका स्वरूप कभी तो व्यक्त (इद्रियगोचर) होता है और कभी अव्यक्त। फिर ऐसे प्रश्नोकाभी विचार इस निरूपणमें करना पडता है, कि इन दोनो स्वरूपोमें श्रेष्ठ कौन-सा है, और इस श्रेष्ठ स्वरूप कैसे उत्पन्न होता है? इसी प्रकार अव इस वातकाभी निर्णय करना पडता है, कि परमेश्वरके पूर्ण ज्ञानसे बुद्धिको स्थिर, सम और आत्मनिष्ठ करनेके लिये परमेश्वरकी जो उपासना करनी पडती है, वह कैसी हो — अव्यक्तकी उपासना करना अच्छा है, अथवा व्यक्तकी? और इसीके साथ साथ इस विपयकी उपपत्ति वतलानी पडती है, कि परमेश्वर यदि एक है, तो व्यक्त सृष्टिमें यह अनेकता क्यो दीख पडती है? इन सव विषयोको व्यवस्थित रीतिसे वतलानेके लिये यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कुछ आश्चर्य नही। हम यह नही कहते, कि गीतामें भक्ति और ज्ञानका विलकुल विवेचनही नही है। हमारा केवल इतनाही कहना है, कि कर्म, भक्ति और ज्ञानको तीन स्वतत्र विषय या निष्ठाएँ अर्थात् तुल्यवलकी समझकर, इन तीनोमें गीताके अठारह अध्यायोंके जो अलग अलग और वरावर वरावर हिस्से कर दिये जाते है, वैसा करना उचित नही है, किंतु सारी गीतामे एकही निष्ठाका अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्म-योगका प्रतिपादन किया है, और साख्य-निष्ठा, ज्ञान-विज्ञान या भक्तिका जो निरूपण भगवद्गीतामें पाया जाता है, वह सिर्फ कर्मयोग-निष्ठाकीही पूर्ति और समर्थनके लिये आनुषगिक है, किसी स्वतत्र विषयका प्रतिपादन करनेके लिये नही। अव यह देखना है, कि हमारे इस सिद्धान्तके अनुसार कर्मयोगकी पूर्ति और समर्थनके लिये वतलाये गये ज्ञान-विज्ञानका विभाग गीताके अध्यायोंके क्रमानुसार किस प्रकार किया गया है।

(**सातवे अध्यायमें** क्षराक्षर-सृष्टिके अर्थात् ब्रह्माडके विचारको आरभ करके भगवानने प्रथम अव्यक्त अथवा अक्षर परब्रह्मके ज्ञानके विषयमें यह कहा है, कि जो इस सारी सृष्टिको — पुरुष और प्रकृतिको — मेरेही पर और अपर स्वरूप जानते है, और जो इस मायाके परेके अव्यक्त रूपको पहचानकर मुझे भजते है, उनकी बुद्धि सम हो जाती है, तथा उन्हे मैं सद्गति देता हूँ, और फिर उन्होंने अपने स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है, कि सव देवता, सव प्राणी, सव यज्ञ, सव कर्म और सव अध्यात्म मैंही हूँ, मेरे सिवा इस ससारमें अन्य कुछभी नही है)। इसके वाद **आठवें अध्यायके** आरभमें अर्जुनने अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दोका अर्थ पूछा है। इन शब्दोका अर्थ वतलाकर भगवानने कहा है, कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरूप पहचान लिया, उसे मैं कभी नही भूलता। इसके वाद

इन विषयोका सक्षेपमे विवेचन है, कि सारे जगतमें अविनाशी या अक्षर-तत्त्व कौन-सा है, सब ससारका सहार कैसे और कब होता है, जिस मनुष्यको परमेश्वरके स्वरूप-का ज्ञान हो जाता है, उसको कौन-सी गति प्राप्त होती है, और ज्ञानके बिना केवल काम्य-कर्म करनेवालेको कौन-सी गति मिलती है। **नवें अध्यायमेंभी** यही विषय है। इसमें भगवानने उपदेश किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारो ओर प्राप्त है, उसके व्यक्त स्वरूपकी भक्तिके द्वारा पहचान करके अनन्य भावसे उसकी शरणमें जानाही ब्रह्म-प्राप्तिका प्रत्यक्षावगम्य और सुगम मार्ग अथवा राजमार्ग है, और इसीको राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं। तथापि इन तीनो अध्यायोमें बीच बीचमें भगवान् कर्मयोग-मार्गका यह प्रधान तत्त्व बतलाना नहीं भूले हैं, कि ज्ञानवान् या भक्तिमान् पुरुषोको कर्म करतेही रहना चाहिये। उदाहरणार्थ, आठवे अध्यायमें कहा है, कि "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च" – इसलिये सदा अपने मनमें मेरा स्मरण रख और युद्ध कर (गीता ८ ७), और नवे अध्यायमें कहा है, कि "सब कर्मोको मुझे अर्पण कर देनेसे उनके शुभाशुभ फलोंसे तू मुक्त हो जायगा" (गीता ९ २७, २८)। ऊपर भगवानने जो यह कहा है, कि सारा ससार मुझसे उत्पन्न हुआ है, और वह मेराही रूप है, वही बात **दसवें अध्यायमें** ऐसे अनेक उदाहरण देकर अर्जुनको भली भाँति समझा दी है, कि "ससारकी प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु मेरीही विभूति है।" फिर अर्जुनके प्रार्थना करनेपर **ग्यारहवें अध्यायमें** भगवानने उसे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है, और उसकी दृष्टिके सन्मुख इस बातकी सत्यताका अनुभव करा दिया है, कि मैं ही (परमेश्वर) सारे ससारमें चारो ओरसे व्याप्त हूँ। परतु इस प्रकार विश्वरूप दिखला कर और अर्जुनके मनमें यह विश्वास करा के, कि "सब कर्मोंका करानेवाला मैंही हूँ" भगवाननें तुरतही कहा है, कि "सच्चा कर्ता तो मैंही हूँ, तू निमित्तमात्र है, इसलिये नि शक होकर युद्ध कर" (गीता ११ ३३)। यद्यपि इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि ससारमें एकही परमेश्वर है, तोभी अनेक स्थानोमें परमेश्वरके अव्यक्त स्वरूप कोही प्रधान मानकर यह वर्णन किया गया है, कि "मैं अव्यक्त हूँ परतु मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं" (गीता ७ २४), "यदक्षर वेदविदो वदन्ति" (गीता ८ ११)। जिसे वेदवेत्तागण अक्षर कहते हैं, "अव्यक्तको अक्षर कहते है" (गीता ८ २१), "मेरे यथार्थ स्वरूपको न पहचानकर मूर्ख लोग मुझे देहधारी मानते हैं" (गीता ९ ११), "विद्याओमें अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ" (गीता १० ३२), और अर्जुनके कथनानुसार "त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत्" (गीता ११ ३७)। इसीलिये **बारहवें** अध्यायके आरभमें अर्जुनने पूछा है, कि किस परमेश्वरकी – व्यक्तकी या अव्यक्तकी – उपासना करनी चाहिये ? तब भगवानने अपना यह मत प्रदर्शित किया है, कि जिस व्यक्त स्वरूपकी उपासनाका वर्णन नवे अध्यायमें हो चुका है,

वही सुगम है, और दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञका जैसा वर्णन है, वैसाही परम भगवद्‌भक्तोकी स्थितिका वर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है)।

कुछ लोगोकी राय है, कि यद्यपि गीताके कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन स्वतन्त्र भाग न भी किये जा सके, तथापि सातवे अध्यायसे ज्ञान-विज्ञानका जो विषय आरभ हुआ है, उसके भक्ति और ज्ञान ये दो पृथक् भाग सहजही हो जाते है, और वे लोग कहते है, कि द्वितीय पडध्यायी भक्तिप्रधान है। परतु कुछ विचार करनेके उपरान्त किसीकोभी ज्ञात हो जावेगा, कि यह मतभी ठीक नही है। कारण यह है, कि सातवे अध्यायका आरभ क्षराक्षर-सष्टिके ज्ञान-विज्ञानसे किया गया है, न कि भक्तिसे। और, यदि कहा जाय, कि बारहवे अध्यायमे भक्तिका वर्णन पूरा हो गया है, तो हम देखते हैं, कि अगले अध्यायोमें ठौर ठौरपर भक्तिके विषयमें वारबार यह उपदेश किया गया है, कि जो बुद्धिके द्वारा स्वरूपको नही जान सकते, वे श्रद्धापूर्वक दूसरोके वचनोपर विश्वास रखकर मेरा ध्यान करे" (गीता १३ २५), "जो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करता है, वही ब्रह्मभूत होता है" (१४ गीता २६), "जो मुझेही पुरुषोत्तम जानता है, वह मेरीही भक्ति करता है" (गीता १५ १९), और अतमें अठारहवे अध्यायमें पुन भक्तिकाही इस प्रकार उपदेश किया है, कि "सव धर्मोको छोडकर तू मुझको भज" (गीता १८ ६६), इसलिये हम यह नही कह सकते, कि केवल दूसरी पडध्यायीहीमे भक्तिका उपदेश है। इसी प्रकार, यदि भगवानका यह अभिप्राय होता, कि ज्ञानसे भक्ति भिन्न है, तो चौथे अध्यायमें ज्ञानकी प्रस्तावना करके (गीता ४ ३४–३७) सातवे अध्यायके अर्थात् उपर्युक्त आक्षेपकोके मतानुसार भक्ति-प्रधान षडध्यायीके आरभमें, भगवानने यह न कहा होता, कि अव मैं तुझे वही "ज्ञान और विज्ञान" वतलाता हूँ (गीता ७ २)। यह सच है, कि इससे आगेके नवे अध्यायमें राजविद्या और राजगुह्य अर्थात् प्रत्यक्षावगम्य भक्ति-मार्ग वतलाया है, परन्तु अध्यायके आरभमेंही कह दिया है, कि "तुझे विज्ञानसहित ज्ञान वतलाता हूँ (गीता ९ १)। इससे स्पष्ट होता है, कि गीतामें भक्तिका समावेश ज्ञानहीमे गया प्रकट किया है। दसवे अध्यायमे भगवानने अपनी विभूतियोका वर्णन किया है, परन्तु ग्यारहवे अध्यायके आरभमें अर्जुनने उसेही 'अध्यात्म' कहा है (गीता ११ १), और ऊपर यह वतलाही दिया गया है, कि परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय बीच-बीचमें व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूपकी श्रेष्ठताकाभी वाते आ गई है। इन्ही सव वातोंसे वारहवे अध्यायके आरभमें अर्जुनने यह प्रश्न किया है, कि उपासना व्यक्त परमेश्वरकी की जावे या अव्यक्तकी? तव यह उत्तर देकर, कि अव्यक्तकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना अर्थात् भक्ति सुगम है, भगवानने तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका 'ज्ञान' वतलाना आरभ कर दिया, और सातवे अध्यायके आरभके समान चौदहवे अध्यायके आरभमेंभी कहा है, कि "पर भूय प्रवक्ष्यामि ज्ञानाना ज्ञानमुत्तमम्" –

फिरसे मैं तुझे यही 'ज्ञानविज्ञान' पूरी तरहसे बतलाता हूँ (गीता १८. १)। इस ज्ञानका वर्णन करते समय भक्तिका सूत्र या संबंधभी टूटने नहीं पाया है। इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है, कि भगवानका उद्देश्य और ज्ञान इन दोनोंको पृथक् रीतिसे बतलानेका नहीं था, किंतु सातवें अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानका आरंभ किया गया है, उसीमें दोनों एकत्र गूंथ दिये गये हैं। भक्ति भिन्न है और ज्ञान भिन्न है – यह कहना उस संप्रदायके अभिमानियोंकी नासमझी है, वास्तवमें गीताका अभिप्राय ऐसा नहीं है। अव्यक्तोपासनामें (ज्ञानमार्गमें) अध्यात्मविचारसे परमेश्वरके स्वरूपका जो ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है, वही भक्ति-मार्गमेंभी आवश्यक है, परंतु व्यक्तोपासनामें (भक्ति-मार्गमें) आरंभमें यह ज्ञान दूसरोंसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है (गीता १३. २५), इसलिये भक्ति-मार्ग प्रत्यक्षावगम्य और सामान्यतः सभी लोगोंके लिये सुखकारक है (गीता ९. २), और ज्ञान-मार्ग (या अव्यक्तोपासना) क्लेशमय (गीता १२. ५) है – बस, इसके अतिरिक्त इन दो साधनोंमें गीताकी दृष्टिसे और कुछभी भेद नहीं है। परमेश्वर-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिको सम करनेका जो कर्मयोगका उद्देश्य या साध्य है, वह इन दोनों साधनोंके द्वारा एक-सा-ही प्राप्त होता है। इसलिये चाहे व्यक्तोपासना कीजिये या अव्यक्तोपासना, भगवानको दोनों एकही समान ग्राह्य हैं। तथापि ज्ञानी पुरुषकोभी उपासनाकी थोड़ी-बहुत आवश्यकता होतीही है, इसलिये चतुर्विध भक्तोंमें भक्तिमान् ज्ञानीको श्रेष्ठ कहकर (गीता ७. १७) भगवानने ज्ञान और भक्तिके विरोधको हटा दिया है। कुछभी हो, परन्तु जब कि ज्ञान-विज्ञानका वर्णन किया जा रहा है, तब प्रसंगानुसार एक-आध अध्यायमें व्यक्तोपासनाका और किसी दूसरे अध्यायमें अव्यक्तोपासनाका विशेष वर्णन हो जाना अपरिहार्य है। परन्तु इतनेहीसे यह संदेह न हो जावे, कि ये दोनों पृथक् पृथक् हैं, इसलिये परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्तकी श्रेष्ठता और अव्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय भक्तिकी आवश्यकता बतला देनाभी भगवान् नहीं भूले हैं। अब विश्वरूपके और विभूतियोंके वर्णनमेंही तीन-चार अध्याय लग गये हैं, इसलिये यदि उन तीन-चार अध्यायोंको (षडध्यायीको नहीं) स्थूलमानसे 'भक्ति-मार्ग' नाम देनाही किसीको पसंद हो, तो ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं। कुछभी कहिये, परन्तु यह तो निश्चित रूपसे मानना पडेगा, कि गीतामें भक्ति और ज्ञानको न तो पृथक् किया है, और न इन दोनों मार्गोंको स्वतंत्रभी कहा है। संक्षेपमें उक्त निरूपणका यही भावार्थ ध्यानमें रहे, कि कर्मयोगमें जिस साम्य-बुद्धिको प्रधानता दी जाती है, उसकी प्राप्तिके लिये परमेश्वरके सर्वव्यापी स्वरूपका ज्ञान हो जाना, चाहिये, फिर यह ज्ञान चाहे व्यक्तकी उपासनासे हो, चाहे अव्यक्तकी, सुगमताके अतिरिक्त इनमें अन्य कोई भेद नहीं है, और गीतामें सातवेंसे लगाकर सत्रहवें अध्यायतक सब विषयोंको 'ज्ञानविज्ञान'को 'अध्यात्म' यही नाम दिया गया है।

जब भगवानने अर्जुनके कर्मचक्षुओको विश्वरूप-दर्शनके द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि परमेश्वरही सारे ब्रह्माडमें या क्षराक्षर-सृष्टिमें समाया हुआ है, तब **तेरहवे अध्यायमें** ऐसा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार बतलाया है, कि यही परमेश्वर पिडमें अर्थात् मनुष्यके शरीरमे या क्षेत्रमें आत्माके रूपसे निवास करता है, और इस आत्माका अर्थात् क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही परमेश्वरकाभी (परमात्माका) ज्ञान है। प्रथम परमात्माका अर्थात् परब्रह्मका "अनादिमत्पर ब्रह्म।" इत्यादि प्रकार-से उपनिषदोके आधार-से वर्णन करके आगे बतलाया गया है, कि यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार 'प्रकृति' और 'पुरुप' नामक साख्य-विवेचनमें अतर्भूत हो गया है, और अतमें यह वर्णन किया गया है, कि जो 'प्रकृति' और 'पुरुप'के भेदको पहचान-कर अपने 'ज्ञानचक्षुओ'के द्वारा निर्गुण परमात्माको जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। परतु उसमेंभी कर्मयोगका यह सूत्र स्थिर रखा गया है, कि "सब काम प्रकृति करती है, आत्मा कर्ता नही है – यह जाननेसे कर्म बधक नही होते" (गीता १३ २९), और भक्तिका "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति" (गीता १३ २४) यह सूत्रभी स्थिर रखा है। **चौदाहवें अध्यायमें** इसी ज्ञानका वर्णन करते हुए साख्य-शास्त्रके अनुसार बतलाया गया है, कि सर्वत्र एकही आत्मा या परमेश्वरके होनेपरभी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम गुणोंके भेदोंके कारण ससारमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है। आगे कहा गया है, कि जो मनुष्य प्रकृतिके इस खेलको जानकर और अपनेको कर्ता न समझ भक्तियोगसे परमेश्वरकी सेवा करता है, वही सच्चा त्रिगुणातीत या मुक्त है। अतमे अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान् पुरुषकी स्थितिके समानही त्रिगुणातीतकी स्थितिका वर्णन किया गया है। श्रुति-ग्रथोमें परमेश्वरका कही कही वृक्षरूपसे जो वर्णन पाया जाता है, उसीका **पद्रहवें अध्यायके** आरभमें वर्णन करके भगवानने बतलाया है, कि जिसे साख्यवादी "प्रकृतिका पसारा" कहते है, वही यह अश्वत्थ वृक्ष है, और अतमे भगवानने अर्जुनको यह उपदेश किया है, कि क्षर और अक्षर दोनोके परे जो पुरुषोत्तम है, उसे पहचानकर उसकी 'भक्ति' करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, तूभी ऐसाही कर। **सोलहवें अध्यायमें** कहा गया है, कि प्रकृतिभेदके कारण ससारमें जैसे वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्योमेंभी दो भेद अर्थात् दैवी सपत्तिवाले और आसुरी सपत्तिवाले होते हैं, इसके बाद उनके कर्मोका वर्णन किया गया है, और यह बतलाया गया है, कि उन्हे कौन-सी गति प्राप्त होती हैं। अर्जुनके पूछनेपर **सत्रहवे अध्यायमें** इस बातका विवेचन किया गया है, कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके गुणोकी विषमताके कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य श्रद्धा, दान, यज्ञ, तप इत्यादिमेंभी दीख पडता है। इसके बाद यह बतलाया गया है, कि 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मनिर्देशके 'तत्' पदका अर्थ "निष्कामबुद्धिसे किया गया कर्म" और 'सत्' पदका अर्थ "अच्छा परतु काम्य-बुद्धिसे किया गया कर्म" होता है, और इस अर्थके अनुसार वह सामान्य ब्रह्म-निर्देशभी